श्रीकृष्ण प्रसन्न ।

राव बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम. ए. एल-एल. बी.,

(१) संक्षिप्त महाभारत (२) एपिक इण्डिया (३) महाभारत
ए क्रिटिसिज़म और (४) श्रीकृष्णचरित्र आदि
ग्रन्थोंके लेखक द्वारा प्रणीत

श्रीमन्महाभारतके "उपसंहार" नामक मराठी ग्रन्थका
सरल हिन्दी अनुवाद—

अथवा

महाभारत-मीमांसा ।

अनुवादक—

पण्डित माधवराव सप्रे ।

प्रकाशक—

बालकृष्ण पांडुरंग ठकार, ग० वि० चिपलूणकर मंडलीके
स्वामी, बुधवार पेठ, नं० १७१ पूना ।

मुद्रक—

गणपति कृष्ण गुर्जर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
जतनबड़, बनारस सिटी ।

सम्वत् १९७७—सन १९२०

HIS HIGHNESS RAJA RAWAT SIR BIRENDRA SINGH SAHEB, K.C.I.E.
Ruler of Rajgarh (Bawara) C.I.

Lakshmi Art, Bombay, 8

सूर्य

श्रीकृष्णप्रसन्न ।

अर्पण-पत्रिका
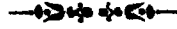
नमोस्त्वनंताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे ।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः ॥

जो षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान अपने अव्यक्त रूपसे समस्त चराचरमें व्याप्त हो रहा है, जिसमें सर्वभूत निवास कर रहे हैं, परन्तु जो मृगजलप्राय भूतमात्रमें नहीं है, जिसमें भूतमात्र नहीं भी हैं परन्तु जिसमें वास कर भी वह ऐश्वर योगरूप है, ऐसे जगदाधार भगवानकी प्रेरणासे पूर्ण होनेवाला

यह

महाभारत-मीमांसा

नामक ग्रन्थ

(श्रीमन्महाभारतका समालोचनात्मक बुद्धिसे किया हुआ तुलनात्मक भक्त्युन्मेष करनेवाला और सर्वांगीनविवरण)
श्रीभगवदंश सकल महनीय गुणनिकेतन

राजगढ़ाधीश

श्रीमन्महाराजको

उन्हींकी उदारता द्वारा प्रकाशित हो सकनेके कारण उनकी आज्ञासे अनन्य प्रेम तथा कृतज्ञतापूर्वक समर्पित किया जाता है ।

शुभं भूयात् ।

प्रकाशक

चन्द्र

श्रीकृष्ण प्रसन्न।

प्रकाशकका निवेदन।

यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक्त्वमेव मधुसूदन॥ १॥

प्रिय पाठक महाशयो! इस विराट विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करके आत्म-स्वरूपमें रममाण होनेवाले, शुद्ध सत्स्वरूप, षड्गुणैश्वर्य-सम्पन्न, मायातीत, सर्व-व्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वांतर्यामी, अघटितघटनापटु, बहुरूपी, बहुगुणी, अनाद्यनन्त, यदुकुलावतंस, भगवतिरुक्मिण्यादि-शक्तिसंघसेवित, पादपद्मपूजानिरतयोगिवृन्दहृद्गुहाशायी श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-कमलोंमें अनेक साष्टांग प्रणाम करके उस सच्चिदानन्दके अतुलनीय कृपाप्रसादसे हिन्दी भाषामें तैयार होनेवाले इस "**महाभारत-मीमांसा**" नामक ग्रन्थको हम सभी अवस्थाके अपने हिन्दी-प्रेमी भाई-बहनोंको शुद्ध सात्विक प्रेमसे आदरपूर्वक अर्पण कर उनकी प्रेम-प्राप्तिकी आशा करते हैं। प्रार्थना है कि हिन्दी भाषा-भाषी हमारे बन्धुगण हमारी इस धृष्टताको क्षमा कर हमारे स्वीकृत कार्यमें सहायता देनेकी कृपा करेंगे और हमसे अपनी यथाशक्ति सेवा करा लेंगे। हमें विश्वास है कि हमारी सब बातोंको ध्यानमें रखने पर पाठकगण तन मन धनसे हमें पूर्णतया उत्तेजित करनेके लिए सहर्ष तैयार हो जायँगे। सनातन धर्मकी रीति है कि—"रिक्तपाणिर्न पश्येच्च राजानं देवतां गुरुं।" इसी उक्तिके अनुसार हम भी हिन्दी-जनतारूपी परमेश्वरके सम्मुख अपने सद्ग्रंथ रूपी इस विनम्र भेंटको लेकर अग्रसर होते हैं और आशा करते हैं कि हमारे विनीत परिचय तथा भेंटको प्रेमपूर्वक ग्रहण कर वे हमें अपने दयामय हृदयमें स्थान देंगे।

सुविख्यात ऐतिहासिक पूना शहरमें एक कम्पनी है। उसका नाम "मेसर्स गणेश विष्णु चिपलूणकर आणि कम्पनी" है। इस संस्थाने सन् १९०२–०३से आजतक श्रीमद्भागवत, श्रीवाल्मीकि रामायण, श्रीमन्महाभारत और श्रीवाल्मीकि-प्रणीत बृहद्योगवासिष्ठ इन चार ग्रन्थोंका भाषान्तर मराठीमें प्रकाशित कर अपनी मातृभाषा तथा अपने महाराष्ट्रीय समाजकी सेवा की है और मराठी ग्रन्थभांडारको पुष्ट किया है। यह व्यवसाय लगभग १८ वर्षोंसे जारी है। संस्थाका विचार है कि भविष्यमें भी कोई ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय जो महाराष्ट्री जनताको रुचिकर हो।

उपर्युक्त चारों ग्रन्थ हमारे भारतवर्षकी राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। उन पर समस्त सनातनधर्मियोंका यथार्थमें कानूनकी दृष्टिसे पूरा पूरा अधिकार है। परन्तु काल-

गतिसे संस्कृत भाषाका प्रचार कम हो जानेके कारण उनका उपयोगमें आना भी असम्भव हो रहा था। परन्तु पूर्वकालीन महर्षियोंकी तरह वर्तमान समयके भारत-वासी विद्वानोंने इनको सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनानेके उद्देश्यसे अपनी अपनी भाषामें उनका अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया है जिससे वे उत्तरोत्तर लोकादरपात्र भी हो रहे हैं।

यह प्रश्न हो सकता है कि मराठी भाषामें ग्रन्थ प्रकाशनका काम करनेवाली यह संस्था हिन्दीकी ओर कैसे और क्यों झुक रही है। इसलिये इस प्रश्नका निराकरण पहले कर देना चाहिए कि हिन्दीकी ओर हमारी प्रवृत्ति कब और क्यों हुई।

सन् १६१२ में समस्त 'महाभारत' का मराठी भाषान्तर हरिवंशपर्व-सहित नौ भागोंमें प्रकाशित हो चुका था। अनन्तर दसवें भाग—उपसंहार—के प्रकाशनका समय आया। इस कार्यमें सहायता प्राप्त करनेके उद्देशसे हम होल्कर सरकारकी राजधानी इन्दौरमें गये। उस समय इन्दौर दरबारमें मेहरबान मेजर ल्युअर्ड एम० ए० आर० ए० प्राइवेट सेक्रेटरीके पद पर थे। हमने हिज़ हाइनेस श्रीमन्त सवाई तुकोजीराव महाराजसे भेंट कर अपना उद्दिष्ट हेतु प्रकट किया। परन्तु चाहे हमारे दुर्दैवसे हो, चाहे ईश्वरका कुछ विशेष विधान होनेके कारण हो, हमें महाराज साहबने जैसा पूर्ण आश्वासन दिया था वैसी सहायता उनसे आजतक नहीं मिली। तब हमने दैवयोगसे इन्दौर दरबारके रेविन्यू मेम्बर राय बहादुर मेजर रामप्रसादजी दुबे साहबसे प्रार्थना की। उनकी कृपासे सेन्ट्रल इण्डियाके ए० जी० जी० मेहर-बान टक्कर साहबसे भेंट करनेका अवसर मिला। हमारी प्रार्थनाको सुनकर उन्होंने कहा कि—"यदि तुम्हारा ग्रन्थ हिन्दी भाषामें होता तो मैं इधरके हिन्दी भाषाभि-मानी राजा महाराजाओंसे यथाशक्ति सहायता दिलवाता। यह ग्रन्थ मराठीमें है इसलिये सहायताका कोई उपाय नहीं है। इधरके जिन मराठी भाषावाले दरबारों-से मेरा सम्बन्ध है उनसे तो तुमने पहले ही सहायता प्राप्त कर ली है।"

पाठको! टक्कर साहबके आठ वर्ष पूर्वके उक्त भाषणका दृश्य फल आज आप लोगोंके करकमलोंमें प्रस्तुत है। इससे आप लोगोंको विदित हो जायगा कि ईश्व-रीय संयोग और घटना कैसे होती है, भविष्यकालमें होनेवाले कार्यका बीजारोपण किससे और कैसे हो जाता है और बीजारोपण हो जाने पर भी अंकुर फूटकर फल-फूलसे पूर्ण वृक्ष तैयार होनेमें कितनी अवधि लगती है। टक्कर साहबके कथनका परिणाम यह हुआ कि हमारे मनमें हिन्दी भाषाके सम्बन्धमें लकीरसी खिन्च गई; तिस पर भी अनेक अपरिहार्य अड़चनोंमें व्यग्र होनेके कारण सन् १६१८ के जून तक—हिन्दी-सेवाका दृढ़ निश्चय होने पर भी—हम कुछ भी न कर सके।

धार-दरबारके आश्रयसे ता० २०।६।१८ को मराठी महाभारतका दसवाँ भाग—उपसंहार—प्रकाशित हो गया और हम अपने कामोंसे निश्चिन्त हो गये। इसी समय, सन् १६१२ में हमारे मनमें हिन्दीसेवाका जो बीजारोपण हो चुका था उसके अंकुरित होनेके स्पष्ट चिह्न दिखाई पड़ने लगे। उसी बोधप्रद इतिहासको अपने परिचयके नाम पर हम आज आप लोगोंके सन्मुख रखते हैं।

मराठी भाषामें सम्पूर्ण महाभारतके प्रकाशित हो जाने पर हिन्दीसेवाकी शुभ भावना ज़ोरदार रीतिसे जागृत होने लगी। दसवें भागको अपने परम शुभ-

चिन्तक तथा मित्र श्रीयुत दीवान बहादुर टी छाजूरामजी साहब सी० आई० ई० (धार-दरबारके सन् १९१२।१३ से दीवानका काम करनेवाले सज्जन) को समर्पण कर हम उनसे जोधपुरमें इस अभिप्रायसे मिलने गये कि हमारे हिन्दीसेवाके निश्चयके सम्बन्धमें उनकी क्या राय है। उस समय वे जोधपुरके दीवान थे। कुशल-प्रश्न होने तथा पुस्तक अर्पण करने पर हमने अपने दिलकी बात उनके सामने प्रकट की। उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। वे कहने लगे कि हमने समस्त महाभारतका जिस तरहसे मराठीमें प्रकाशन किया है उसी तरहसे हिन्दीमें भी अवश्य कर डालें और इस कार्यके आरम्भके भागके लिए वे हमें जोधपुर दरबारसे उत्तम रीतिसे सहायता दिला देंगे। उन्होंने यह भी सूचना दी कि हम अपनी कम्पनीकी एक हिन्दी-शाखा इन्दौरमें स्थापित करें।

इस तरहसे हमारे हृदयमें कोई ६ वर्षोंसे जमे हुए विचारको छाजूरामजी सरीखे अधिकार-सम्पन्न महाशयके द्वारा प्रारम्भसे ही अच्छी सहायता मिली। उनकी आज्ञाको शिरोधार्य करके हमने शीघ्रता तथा उत्साहसे कार्यारम्भ किया। अपने ही कृत्योंके बल पर सेन्ट्रल इण्डियामें जो थोड़ेसे सत्पुरुष उन्नतिकी उच्च सीढ़ी पर बैठे हैं उनमेंसे छाजूरामजी साहब भी एक प्रधान व्यक्ति हैं। भला उनकी सूचनाको अस्वीकृत कौन करता?

परन्तु मानवी इच्छा और ईश्वरीय घटनामें बड़ा अन्तर रहता है—यह अज्ञानी जीवोंके लिए अगम है। अनुभवी जनोंका कथन है कि—स्निग्धजन संविभक्तहि दुःखं सह्यवेदनं भवति"; इसी न्यायके अनुसार हम अपनी स्थितिका वर्णन एक महाकविके निम्न श्लोकमें करेंगे:—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिंतयति कोशगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

(अर्थात्—कमलके कोषमें बन्द होकर भ्रमर अपने मनमें यह विचार कर रहा है कि जब रात्रि व्यतीत होगी और सवेरा होगा तब मैं दुर्भाग्यवश फँसे हुए इस कारागारसे मुक्त होकर स्वेच्छापूर्वक विहार करूँगा और अपनी मकरन्द-पानकी इच्छाको पुनः तृप्त करूँगा; वह इस तरहसे विचार कर ही रहा था कि सवेरा होनेके पहले एक उन्मत्त हाथी आया और उसने कमलको नाभि समेत तोड़कर फेंक दिया, जिससे भ्रमर कोषमें ही निराशापूर्वक बन्द रह गया।) इसी तरह हमारी अवस्था भी हो गई। जिस जोधपुर दरबारके भरोसे पर हमने अपना उद्योग आरम्भ किया था उन्हें उन्मत्त तथा अविचारी कालने अल्पवयमें ही संसारसे अलग कर दिया और "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" की तरह हमारे प्रारम्भ किये हुए महत्कार्यमें, आधारभूत आश्रयदाता सज्जनके अभावमें, पूर्ण निराशाका साम्राज्य फैल गया।

देखिये, इस दुर्घटनाके कारण हमारी अवस्था कैसी दुःखपूर्ण और आश्चर्यजनक हो गई। कहाँ तो पूनाकी चिपलूणकर-मण्डली और कहाँ जोधपुर राजपूतानाके अधिपति महाराज! दोनोंमें कितना अन्तर होने पर भी हमारा उनका संयोग होना असम्भव था। परन्तु दैवयोगसे यह असम्भव बात जितनी आकस्मिक रीतिसे हो पड़ी उतनी ही आकस्मिक रीतिसे नष्ट भी हो गई। यह चिर-वियोग

तथा अनुपम संयोग स्वप्नके दृश्यकी तरह लुप्त हो गया और हमारे मनमें एक स्थायी शोक उत्पन्न करनेका कारण हो गया। अस्तु।

इस घटनाके होने पर भी हमारे मनकी इच्छाने हमें इस बात पर बेचैन कर दिया कि चाहे सारा महाभारत न हो सके परन्तु तीन भागोंको—हरिवंशपर्व, पूर्वोत्तर भाग और उपसंहारको—तो हिन्दीमें अवश्य ही प्रकाशित करना चाहिए, और दूधके बदलेमें महीसे ही काम निकालना चाहिए। अतएव हमने पहले १० वें भाग—उपसंहार—का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करना निश्चित किया। परन्तु हमारे लिए अनुकूल बात एक भी नहीं दिखाई देती थी। एक ओर तो ये बातें दूसरी ओर इन्फ्लुएञ्जा तथा योरोपीय महायुद्धके कारण निस्सीम महर्घता। इस त्रयतापसे पीड़ित होने पर हमने भोपाल एजेन्सीके पोलिटिकल एजेन्ट मेहरबान कर्नल ल्युअर्ड साहबसे भेंट की और उन पर अपना मनोगत भाव प्रकट किया। (सन् १६१२ में यही सज्जन होल्कर महाराजके प्राइवेट सेक्रेटरी थे: उसी समय हमसे इनसे परिचय हो चुका था।)

यद्यपि जाति और धर्मसे कर्नल ल्युअर्ड साहब भिन्न हैं, तथापि उनके कार्यों-को देखकर कहना पड़ता है कि वे हिन्दू हैं। सेन्ट्रल इण्डियामें उनका बहुतसा समय व्यतीत हुआ है। हिन्दी, संस्कृत और मराठीका ग्रन्थ-लेखनोपयोगी अभ्यास करके उन्होंने सेन्ट्रल इण्डियाके गजैटियर आदि ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। अब तो वे होल्कर दरबारके पुराने कागजपत्रोंके आधार पर होल्करशाहीकी सुविख्यात अहिल्याबाईका विश्वसनीय तथा विस्तृत चरित्र प्रकाशित कर रहे हैं। ऐसे ग्रन्थ-प्रेमी पुरुषसे भेंट होने पर हमारा बड़ा लाभ हुआ। उनकी सिफारिशसे हम मध्य-भारतके राजगढ़ दरबार और वहाँके कर्मचारियोंसे मिल सके और हमें इस "महाभारत-मीमांसा" के प्रकाशित करनेके लिए तीन हजार रुपयोंकी सहायता मिली। इसी कारण अपने ध्येयके अनुसार इस समयकी कठिन परिस्थितिमें भी हम इस ग्रन्थको अल्प मूल्यमें दे सके हैं।

यह "महाभारत-मीमांसा" मूल पुस्तक 'उपसंहार' के नामसे मराठीमें प्रकाशित हुई है, जिसके लेखक ग्वालियरके रिटायर्ड चीफ जस्टिस तथा बम्बई विश्वविद्यालयके आनरेरी फेलो **राव बहादुर सी० व्ही० वैद्य** एम० ए० एल एल० बी० हैं। इसके हिन्दी-अनुवादक **पण्डित माधवरावजी सप्रे** बी० ए० हिन्दी संसारके एक लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। "छत्तीसगढ़-मित्र," "हिन्दी ग्रन्थमाला," "हिन्दी केसरी," "हिन्दी-दासबोध," स्वर्गीय लोकमान्य तिलकके "गीतारहस्य" के हिन्दी-अनुवाद, "आत्म-विद्या," "कर्मवीर" के वर्तमान संचालन आदि हिन्दी-सेवाके महान् कार्योंके कारण उनसे हिन्दी-जनता भली भाँति परिचित है। इसलिए अनुवादकी प्रशंसा करने-की आवश्यकता कुछ भी नहीं है। आशा है कि हिन्दी-प्रेमी सज्जन इस ग्रन्थको अपनाकर हमारे उत्साहको बढ़ावेंगे।

ग्रन्थके अन्तमें महाभारत-कालीन भारतवर्षका नकशा परिश्रमपूर्वक तैयार करके जानबूझकर दिया गया है। आशा है कि इससे हमारे पाठकोंकी, मनोरञ्जनके साथ ही, ज्ञानवृद्धि भी होगी।

यहाँतक हमने अपनी आकांक्षा और उसके कारण आदिका वर्णन करके "महाभारत-मीमांसा" को अपने हिन्दीप्रेमी भाइयोंको अर्पण किया है और सब इतिहास कह सुनाया है। इस एक ही ग्रन्थके प्रकाशित करनेमें हमें आशा और निराशाके अनेक अवसरोंका सामना करना पड़ा; तथापि हमारा यह पूर्वनिश्चय ज्योंका त्यों ही बना हुआ है कि समस्त महाभारतका हिन्दी संस्करण अवश्य ही प्रकाशित किया जाय। इस निश्चयमें विघ्नोंके कारण तो और भी प्रबल उत्साह आ गया है। कोई विघ्न न आवे इसी हेतुसे भगवान श्रीकृष्णचन्द्रकी अनुपम लीलाओंसे भरे हुए हरिवंश-पर्वके अनुवादसे ही हमने महाभारतका प्रकाशन आरम्भ किया है। हमें भरोसा है कि श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपासे सब विघ्नोंका परिहार होकर सब लोगोंके आशीर्वाद तथा सहायतासे अभिलषित कार्य शीघ्र ही सफल होगा।

बाधाओंके रहने पर तथा वर्तमान संकटपूर्ण परिस्थितिमें भी हम जिन राजगढ़ दरबार तथा वहाँके दीवान प्रभृति सज्जनोंकी उत्तम सहायतासे इस ग्रन्थका प्रकाशन कर सके हैं, उनका अभिनन्दन करना हमारा पहला नैतिक कर्त्तव्य है। इसी लिए हम महाराज साहबका यहाँ थोड़ा सचित्र चरित्र-वर्णन प्रकाशित करते हैं। इस भागके प्रकाशनमें पूर्ण आश्रय देकर उन्होंने हमें कृतकृत्य किया है, अतएव यह भाग हम उन्हींकी सेवामें समर्पित करते हैं। ग्रन्थकी छपाईका काम अल्प समयमें उत्कृष्ट रीतिसे कर देनेके लिए बनारसके श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेसके मैनेजर श्री० ग० कृ० गुर्जर भी हमारी हार्दिक कृतज्ञताके पात्र हैं। इनके अतिरिक्त हमें इन महाशयोंसे भी किसी न किसी प्रकारकी उच्च सहायता मिली है:—(१) दीवान बहादुर श्रीमान दुर्गासहाय, दीवान राजगढ़ स्टेट, सी० आई, (२) ठाकूर लीलाधरजी मिश्र, प्राइवेट सेक्रेटरी, राजगढ़ दरबार (३) रा० रा० गणेश रामचन्द्र पटवर्धन बी० ए० हेड मास्टर, राजगढ़ हाई स्कूल। इन सज्जनोंका उपकार मानकर हम अपने निवेदनको समाप्त करते हैं।

पूना।
विजयादशमी,
वि० सं० १९७७

बालकृष्ण पांडुरङ्ग ठकार,
प्रकाशक।

रियासत राजगढ़का संक्षिप्त वृत्तान्त

और उसके

वर्तमान नरेशका परिचय।

राजगढ़की रियासत उस प्रमार क्षत्रियवंशके अधीन है जिसके पूर्वज उज्ज-यिनीके राजा वीर विक्रमादित्य थे जिनका सम्वत आज दो सहस्र वर्षोंसे चला आता है। इसी वंशमें ऊमरजी भी बड़े प्रसिद्ध नरेश हुए हैं। उन्होंने सिन्धके उमर-कोटमें एक दृढ़ दुर्ग स्थापित किया था; इन्हीं प्रसिद्ध वीरने उज्जैन नगरसे पचास कोसकी दूरी पर ऊमरवाड़ीमें अपना राज्य स्थापित किया। सन १६८१ ई० में जब इस प्रान्तके राजा मोहनसिंहजी थे उस समय दीवान परशुरामजीने इस राज्यको दो भागोंमें विभाजित कराया—एककी राजधानी राजगढ़ हुई और दूसरेकी नर-सिंहगढ़। राजगढ़की गद्दी पर रावत मोतीसिंहजी साहब सातवें राजा हुए। सन् १८५७के बलवेमें आपने अंग्रेजोंकी बड़ी सहायता की; इससे प्रसन्न होकर सरकारने आपको वंशपरंपराके लिए ग्यारह तोपोंकी सलामीका सन्मान प्रदान किया। सन १८८० ई० में इनके पुत्र रावत बख्तावरसिंहजी साहब गद्दी पर बैठे। आपकी योग्यता और न्यायप्रियता उच्च कोटिकी थी। आपने केवल दो वर्ष राज्य किया। सन् १८८२ ई० में आपके पुत्र रावत बलभद्रसिंहजी साहब गद्दी पर बिराजे। सन् १८८५में जब मारकिस आफ डफरिन भारतके गवर्नर-जनरल थे, उस समय आपको सरकारने राजाकी पदवी वंशपरंपराके लिए दी। सन् १६०२में आपके पितृव्य राजा रावत सर विनयसिंह जी साहब गद्दी पर बैठे। आपने राज्यकी असाधारण उन्नति की। आपके शासनकालमें बहुतसे नये नये मकान, कोठियाँ, महल, सड़कें आदि बनीं और शिक्षाका प्रचार कर राजधानीकी उन्नति की गई। आपने बहुत अच्छा विद्याभ्यास किया था; अपने समयके आप एकही दानी थे। आपके राज्य-प्रबन्धसे सन्तुष्ट होकर सरकारने सन् १६०८में आपको के० सी० आई० ई० के पदसे विभूषित किया। आप सन् १६०३ के दिल्ली दरबारमें सम्मिलित थे और आपको एक सुवर्णपदक भी मिला था। सन् १६०५ में आप प्रिन्स और प्रिन्सेस आफ वेलससे और सन १६११में सम्राट् पंचम जार्जसे मिले। तेरह वर्ष चार महीने राज्य करने पर सन १६१६में आपका स्वर्गवास हो गया।

आपके स्वर्गवासके पश्चात् आपके सुयोग्य पुत्र राजा रावत सर बीरेन्द्रसिंह जी साहब बहादुर गद्दी पर बैठे। ता० ११ मार्च सन १६१६ को राज्याभिषेक हुआ। आपकी शिक्षा इन्दौरके राजकुमार कालेजमें हुई। परीक्षोत्तीर्ण होनेमें आपको कई प्रशंसासूचक पदक मिले। अंगरेजी, उर्दू और हिन्दीके आप अच्छे ज्ञाता हैं। अंग-रेजी खेलकूद, अंगरेजी भाष्य और अश्वारोहणमें आपकी बड़ी प्रसिद्धि है। आखेट-की ओर आपकी अत्यधिक रुचि है। केवल २६ वर्षकी अवस्थामें आपने अभीतक

१२ सिंहों, अगणित तेंदुओं और बाराहोंको मार गिराया है। आप भूमिस्थ होकर भी आखेट करते हैं। गोली चलाने, चित्रकला, पेन्टिंग आदिमें भी आप दक्ष हैं। विद्या-प्रचारकी ओर आपकी विशेष रुचि है। विद्यार्थियोंको उत्साहित करनेके लिए आप समय समय पर पारितोषिक भी दिया करते हैं। आपने अनाथ बच्चोंके लिए एक अनाथालय खोल रखा है। उनके पालन-पोषणका प्रबन्ध तो अच्छा है ही, पर उनकी शिक्षाकी भी समुचित व्यवस्था की गई है। राज्यप्रबन्धके उत्तरोत्तर सन्तोष-जनक सुधारसे प्रसन्न होकर अंगरेज सरकारने आपको सन् १६१६ में राज्यके पूर्ण अधिकार, सन् १६१८ में के. सी. आई. ई. का पद और सन् १६२० में स्टेशनके मुकदमोंका भी पूर्णाधिकार दे दिया है। गत योरोपीय महायुद्धमें आपने बृटिश सरकारको धन तथा जनसे बड़ी सहायता दी। आप बड़े उदार हैं—आपके यहाँसे कोई विमुख नहीं लौटता। एक सुयोग्य नरेन्द्रमें जिन अनेक बड़े बड़े गुणोंकी आवश्यता है वे सब आपमें पाये जाते हैं।

ईश्वर ऐसे सद्गुणी राजाको चिरकालतक सिंहासनारूढ़ रखे, यही हमारी प्रार्थना है। यह ग्रन्थ भी आपकी ही उदारतासे प्रकाशित हुआ है।

रियासत राजगढ़ मध्यभारतमें भूपाल एजेन्सीके अधीन है। इसका क्षेत्रफल ६६२ वर्ग मील, जन-संख्या १६११ के गणनानुसार १२७२६३ और जागीरी सहित वार्षिक आय सात लाख रुपये है। राजधानी राजगढ़का अक्षांश २३"—३७ और २४"—११ उत्तर तथा ७६०—३७ और ७५०—१४ पूर्व देशान्तर पर स्थित है। अधिकांश प्रजाका निर्वाह कृषि पर होता है; एक पंचमाश प्रजाका पेशा मजदूरी है। राज्यके तृतीयांशमें पर्वत और जंगल फैले हुए हैं। नेवज और पार्वती बड़ी नदियाँ हैं जो अन्तमें चंबलमें मिल जाती हैं। मृगयाके लिए अनेक स्थान हैं जहाँ कई प्रकारके हिंस्र पशु पाये जाते हैं। कोटरेके जंगलके निकट महाराज अशोक-निर्मित बौद्धोंका भग्नावशिष्ट ऐतिहासिक स्तूप है। मुख्य उपज गेहूँ, चना, जुआर, मक्का और अफ़ीम है। राज्य भरमें छात्रालय तथा पुस्तकालय-सहित एक हाई स्कूल, सत्रह ग्रामीण पाठशालाएँ, एक मिडिल स्कूल और चार औषधालय भी हैं।

श्रीमन्महाभारत-मीमांसा

अनुक्रमणिका

(विषयवार और विस्तृत)

यवनों अथवा ग्रीकोंका उल्लेख (ई० पूर्व ३२०) ४५, आदि पर्वमें ग्रीक शब्द सुरंग है ४५, (फुटनोट) महाभारत ईसासे पूर्व ३२० से ई० सन् ५० तकका है ४५, महाभारतमें राशियोंका उल्लेख नहीं है ४५, राशियाँ यूनानियोंसे ली गई हैं ४६, ग्रीकों और भारतवासियोंका पुराना परिचय ईसासे पूर्व ६०० वर्षतक ४६-४७, बैक्ट्रियन यूनानियोंने ईसासे पूर्व सन् २०० में हिन्दुस्तानमें राज्य स्थापित किये ४७, शक-यवन, मालवा उज्जयिनीमें शकोंका राज्य ४७, उज्जयिनीमें यूनानियोंकी सहायतासे ज्योतिषका अभ्यास और सिद्धान्त-रचना ४८, राशियाँ ईसासे पूर्व सन् २०० में भारतवर्षमें आईं और महाभारत उससे पहलेका है अतः उसका समय ईसासे पूर्व सन् २५० ठहरता है ४८, दीक्षितका मत भ्रमपूर्ण है ४६-५१, बौद्ध ग्रन्थोंमें राशियाँ नहीं हैं और न गर्गके ग्रन्थमें ही हैं ५१-५२, सरसरी तौर पर महाभारतका समय ईसासे पूर्व सन् २५० ठहरता है, तिलकने गीता-रहस्यमें भी इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया है ५२-५३, अन्तःप्रमाण—महाभारतमें दूसरे ग्रन्थोंका उल्लेख ५४, नाटकोंका उल्लेख है पर कर्त्ताओंका नहीं ५४, "ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव" में बादरायणके वेदान्त-सूत्रका उल्लेख नहीं है ५४, बादरायण सूत्रका समय ईसासे पूर्व सन् १५० है ५४, "ऋषिभिर्बहुधा-गीतं" आदि श्लोकका मैक्समूलर और अमलनेरकरने जो भाषान्तर किया है वह भ्रमपूर्ण है ५५, सूत्र शब्दका अर्थ बौद्ध सुत्त शब्दके समान ही है ५६, बादरायण व्यास और द्वैपायन व्यास दोनों अलग अलग हैं, एक बुद्धके बादका और दूसरा पहलेका है ५६, भगवद्गीता और वेदान्त सूत्र एक ही कर्त्ताके नहीं हैं, पहलेमें सांख्य योगका मण्डन और दूसरेमें खण्डन है ५७, आश्वलायन सूत्र महाभारतके बादका है ५७-५८, अन्य सूत्र और मनुस्मृति वर्त्तमान महाभारतके बादकी है ५८-५६, वर्त्तमान पुराण भी बादके हैं ५६, गाथा, इतिहास और आख्यान आदि पहले छोटे छोटे थे; ये सब महाभारतमें मिला लिये गये: अब महाभारत ही इतिहास है ६०, वेद पहलेके हैं ६०, मुख्य उपनिषद् भी पहलेके हैं ६१-६२, उपवेद और वेदांग पहलेके हैं, यास्कका उल्लेख ६२-६३, दर्शन, न्याय आदि पहलेके हों, परन्तु सूत्र पहलेके नहीं हैं ६४-६५, नास्तिक मत पहलेका है परन्तु बृहस्पति सूत्र नहीं मिलता ६६, "असत्यमप्रतिष्ठन्ते" आदि श्लोकमें नास्तिकोंका उल्लेख है, बौद्धोंका नहीं ६७-६८, अहिंसा मत पहलेका है ६८-६६, पाञ्चरात्र मत पहलेका है ६६-७०, परन्तु पुराना ग्रन्थ नहीं मिलता ७०, पाशुपत मतकी भी यही बात है ७०, दूसरे अन्तःप्रमाण—गद्य और पद्य, गद्य उपनिषदोंसे हीन है ७१, महाभारतके अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् आदि वृत्त और उनके प्रमाण ७१, दीर्घवृत्त पुराने हैं, आर्या छन्द बौद्धों और जैनोंके ग्रन्थोंसे लिया गया है ७२, अनुष्टुभ और त्रिष्टुभ वैदिक वृत्त हैं ७२, व्यासकी वृत्त-रचना नियमके अनुसार ठीक नहीं है ७२, यह मत भ्रमपूर्ण है कि दीर्घवृत्त ईसवी सन्के बाद उत्पन्न हुए ७४, महाभारतमें बौद्ध और जैन मतका निर्देश ७५, ज्योतिषका प्रमाण—राशियोंका उल्लेख नहीं है ७५, हाप्किन्सने जो महाभारतका समय ई० सन् ४०० निश्चित किया है वह भ्रमपूर्ण है ७६, दीनारका उल्लेख केवल हरिवंशमें है, हरिवंश सौतिका बनाया नहीं है, बादका है ७६, ताम्रपटका उल्लेख नहीं है ७६, आश्वलायन पतञ्जलिके बादके हैं ७७, एडूकोंकी निन्दा ७८, सिकन्दरका आक्रमण देखकर यह भविष्यद्वाणी की गई थी कि कलियुगमें शक यवनोंका राज्य होगा, उनका प्रत्यक्ष

तीसरा प्रकरण—क्या भारतीय युद्ध काल्पनिक है—पृ० ८१–८८

चौथा प्रकरण—भारतीय युद्धका समय—पृ० ८६–१४०

१०३, पुराणोंकी सूचनाएँ और पीढ़ियाँ असम्भवनीय हैं १०४, महाभारतसे विरोध १०५-१०६, वैदिक साहित्यका प्रमाण १०६, ऋग्वेदमें देवापीका सूक्त १०७, भारतीय युद्ध ऋग्वेदके लगभग १०० वर्ष बाद हुआ है १०७, ऋग्वेदमेंका "सोमकः साहदेव्य" पाञ्चाल द्रुपदका पूर्वज था; इससे भी वही समय निश्चित होता है १०७, मेकडानल्ड आदिका यह मत है कि भारती युद्ध यजुर्वेदसे पहलेका है; शतपथ ब्राह्मणमें जन्मेजय परीक्षितका उल्लेख है, इससे भी भारती युद्ध शतपथसे पहलेका निश्चित होता है १०८, भारतमें भी शतपथ ब्राह्मणके भारती-युद्धके बाद रचे जानेका उल्लेख है १०९, "कृत्तिका ठीक पूर्वमें उदय होती है" इस वाक्यके आधार पर दीक्षितने शतपथका समय निश्चित किया है; इससे भी गणितके द्वारा ईसासे पूर्व ३००० का समय ही निश्चित होता है १०९-११२, यह उल्लेख प्रत्यक्ष स्थिति देखकर किया गया है, केवल स्मरणके आधार पर नहीं है ११२, दूसरे प्राचीन देशोंकी अवस्था देखते हुए यह समय ठीक हो सकता है ११३, पाश्चात्य विद्वानोंने डरते हुए वैदिक साहित्यका जो समय निश्चित किया है वह और हमने विशेष युक्तिपूर्वक जो समय निश्चित किया है उसका अन्तर हजारोंकी संख्यातक पहुँचता है ११४-११५, वेदाङ्ग ज्योतिषका प्रमाण ११५, जरासन्धका यज्ञ ठीक शतपथमें बतलाया हुआ पुरुषमेध ही था ११६, तीसरा वैदिक प्रमाण—द्यूतके प्रकरणसे सिद्ध होता है कि भारतवर्षमें युद्धके समय चान्द्रवर्ष गणना प्रचलित थी ११७, भीष्मका यह निर्णय ठीक था कि पाण्डवोंने चान्द्रवर्षके अनुसार वनवासका समय पूरा किया ११८, हिन्दुस्थानमें चान्द्रवर्ष कब प्रचलित था ११९, दूसरे देशोंके वर्ष ११९, तैत्तिरीय संहिताके समय चान्द्रवर्ष चलता था और वेदाङ्ग ज्योतिषके समय वह बन्द हुआ १२०, चान्द्रमासोंके भिन्न भिन्न नाम १२१-१२२, मार्ग शीर्ष आदि महीनों-के नाम वेदाङ्गमें नहीं हैं; उनका प्रचार ईसासे लगभग दो हजार वर्ष पहले हुआ और उनके प्रचारके उपरान्त चान्द्रवर्ष आपसे आप बन्द हो गये १२२, टीकाकारने चान्द्र-वर्षकी "वर्धापनादी" जो व्यवस्था की है वह भ्रमपूर्ण है १२२, पाण्डवोंने चान्द्रमानसे वनवासकी शर्त्त पूरी की १२२-१२४, आश्विनमें जूआ हुआ और ज्येष्ठमें पाण्डव प्रकट हुए, इसी कारण सौर वर्षके मानसे दुर्योधनको शंका हुई, पाण्डव चान्द्रवर्ष ही मानते थे १२५-१२६, भारतमें बतलाई हुई ग्रहस्थितिके आधार पर युद्धका समय निकालनेका प्रयत्न व्यर्थ है १२६, भिन्न भिन्न विरोधी वचन १२७, कूट और विरोधमें-से किसको ठीक माना जाय १२८, युद्धके पहले कार्त्तिककी अमावस्याको सूर्य्यग्रहण हुआ था १२८, जयद्रथके वधके दिन सूर्य्यग्रहण नहीं था १२९, उक्त तीनों समयोंकी कार्त्तिकी अमावस्याके स्पष्ट ग्रह १२९-१३०, ईसासे पूर्व सन् ३१०१ की जनवरीमें सूर्य-ग्रहण हुआ था १३०, भिन्न भिन्न ग्रहोंके बतलाये हुए दो दो नक्षत्र १३१, गणितसे निकलनेवाले नक्षत्रोंके साथ इस ग्रहस्थितिका मेल नहीं मिलता १३२, प्रायः यह दुश्चिह्न काल्पनिक हैं और गर्गसंहितासे लिये गये हैं १३२, दो दो नक्षत्र अलग अलग दृष्टिसे ठीक हो सकते हैं १३२, मोड़कने जो सायन और निरयण नक्षत्र मानकर युद्धका समय ईसासे पूर्व सन् ५००० दिया है वह भ्रमपूर्ण है १३२-१३३, पहले लोग सायन और निरयणका भेद ही नहीं जानते थे, पहले नक्षत्र कृत्तिकादि थे, बिना भेदचिह्न दिखलाये दो दो नक्षत्रोंका उल्लेख नहीं हो सकता १३३-१३४, वेधोंके द्वारा भिन्न

पाँचवाँ प्रकरण – इतिहास किन लोगोंका है—पृ० १४१–१६७

छठा प्रकरण – वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था और शिक्षा।

(१) वर्णव्यवस्था—पृ० १६९—१९९

(२) आश्रम-व्यवस्था—१९९–२०७

सातवाँ प्रकरण–विवाह-संस्था—पृ० २१८–२४५

आठवाँ प्रकरण—सामाजिक परिस्थिति—पृ० २४६–२६३

नवाँ प्रकरण--राजकीय परिस्थिति—पृ० २९४-३४४

दसवाँ प्रकरण—सेना और युद्ध—पृ० ३४५-३६७

ग्यारहवाँ प्रकरण-व्यवहार और उद्योगधन्धे - पृ० ३६८-३८१

बारहवाँ प्रकरण—भौगोलिक ज्ञान-पृ० ३८२-४१२

तेरहवाँ प्रकरण -- ज्योतिर्विषयक ज्ञान—पृ ४१४-४३१

चौदहवाँ प्रकरण—साहित्य और शास्त्र - पृ० ४३२-४४५

पन्द्रहवाँ प्रकरण - धर्म—पृ० ४४६-४७४

सोलहवाँ प्रकरण—तत्त्वज्ञान—पृ० ४७५-५१६

सत्रहवाँ प्रकरण—भिन्न मतोंका इतिहास—५१७—५५८

अठारहवाँ प्रकरण—भगवद्गीता विचार—५५९—६०३

महाभारतमीमांसा

नारायणं नमस्कृत्य नरंचैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

अर्थ—नारायणको अर्थात् श्रीकृष्णको तथा नरोंमें श्रेष्ठ जो नर, अर्थात् अर्जुन, उसको नमस्कार करके और सरस्वती देवीको भी नमस्कार करके अनन्तर जय नामक ग्रन्थको अर्थात् महाभारतको पढ़ना चाहिये।

प्रस्ताव।

भारतवर्षके प्राचीन ग्रन्थोंमें वेदोंके उपरान्त ऐतिहासिक दृष्टिसे महाभारत-का महत्त्व बहुत अधिक है। बल्कि वेद तो प्राचीन आर्य भाषामें हैं और उनका बहुतसा अंश यज्ञोंके अनेक वर्णनों और वैदिक देवताओंकी स्तुतियोंसे भरा हुआ है, इसलिये वैदिक साहित्यमेंसे ऐतिहासिक अनुमान अस्पष्ट और कम ही निकल सकते हैं; परन्तु महाभारत ग्रन्थ लौकिक संस्कृत भाषामें और बहुत कुछ सुगम है। उसमें प्राचीन कालकी अनेक ऐतिहासिक कथाएँ एक ही स्थानमें ग्रथित की गई हैं। प्राचीन कालमें अश्वमेध आदि जो दीर्घ-सत्र अथवा बहुत दिनोंतक चलनेवाले यज्ञ हुआ करते थे उन यज्ञोंमें अवकाशके समय बहुतसी ऐतिहासिक गाथाएँ अथवा आख्यान कहने अथवा पढ़नेकी प्रथा थी। ऐसे अवसरों पर पढ़े जानेवाले अनेक ऐतिहासिक आख्यान महाभारतमें एकत्र किये गये हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत-में स्थान स्थान पर धर्म्म, तत्त्वज्ञान, व्यव-हार, राजनीति आदि बातोंके सम्बन्धमें इतना विस्तृत विवेचन किया गया है कि वह धर्म्म-ग्रन्थ अथवा राजनीति-ग्रन्थ ही बन गया है। तात्पर्य्य, महाभारतकी प्रशंसामें आरम्भमें जो यह कहा गया है—

धर्म्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

यह बिलकुल ठीक है। प्राचीन कालका सारा संस्कृत साहित्य बहुत कुछ महाभारतके ही आधारपर है। सारांश यह कि इस ग्रन्थसे हमें प्राचीन कालके भारतकी परिस्थितिके सम्बन्धमें विश्वसनीय और विस्तृत प्रमाणोंके आधारपर अनेक ऐतिहासिक बातोंका पता चलता है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों विद्वानोंने इसी दृष्टिसे महाभारतका अध्ययन करके अपने अपने ग्रन्थोंमें उसके सम्बन्धमें अपने अपने मत अथवा सिद्धान्त प्रकट किये हैं। वेबर, मेकडानल्ड, हाफमैन आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानोंने ऐतिहासिक दृष्टिसे इस ग्रन्थका बहुत अच्छा परिशीलन किया है। इसी प्रकार लोकमान्य तिलक, दीक्षित, ऐय्यर आदि अनेक प्राच्य विद्वानोंने भी ऐतिहासिक दृष्टिसे इस ग्रन्थका अध्ययन किया है। प्रत्येक भारतीय आर्य्य इस ग्रन्थपर बहुत अधिक श्रद्धा रखता है। अतः लोगोंके मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न होना बहुत ही सहज और स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थसे कौन कौनसे ऐतिहासिक अनुमान किये जा सकते हैं। प्राच्य और पाश्चात्य परीक्षाकी दृष्टिमें अन्तर पड़ना स्वाभाविक ही है। तथापि जैसा कि इस ग्रन्थके मराठी भाषान्तरके आरम्भमें उपोद्घातमें उन सबका विचार करके दिखलाया गया है, हमें इस ग्रन्थमें महाभारतका ऐतिहासिक दृष्टिसे सांगोपांग विचार करना है। भारतवर्षकी प्राचीन परिस्थितिके जिस स्वरूपका यहाँ विचार किया जानेको है उस स्वरूपका स्पष्टीकरण उस उपोद्घातमें किया जा चुका है। इस महाभारत-मीमांसा ग्रन्थमें पाठकोंके सामने जो बातें रक्खी जायँगी वे संक्षेपमें इस प्रकार हैं। (१) महाभारत ग्रन्थ किसने लिखा और उसमें किस प्रकार वृद्धि हुई। (२) इस ग्रन्थमें दिये हुए तथा बाहरी प्रमाणोंसे इसका कौनसा समय निश्चित होता है। (३) इस ग्रन्थमें जिस भारतीय युद्धका वर्णन है वह काल्पनिक है या ऐतिहासिक और (४) यदि वह युद्ध ऐतिहासिक है तो वह किस समय और किसमें किसमें हुआ। इस प्रकार इस ग्रन्थके सम्बन्धसे और इस ग्रन्थमें वर्णित प्राचीन भारती युद्धके सम्बन्धसे मुख्यतः ये चार बातें आपके सामने रक्खी जाती हैं। प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानोंने विस्तृत रीतिसे इन सब बातोंका विचार किया है। अतः आप लोगोंको यह भी देखना चाहिए कि वे पाश्चात्य विचार ग्राह्य हैं अथवा अग्राह्य। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थसे प्राचीन कालकी स्थितिके सम्बन्धमें और जो अनेक प्रकारकी सूचनाएँ आप लोगोंको मिल सकती हैं उनसे भी आप लोग और बहुतसी बातें निकाल सकते हैं। भूगोल, ज्योतिष, सेना और युद्ध, वर्णाश्रमविभाग, रीति-रवाज और आचार, शिक्षा, अन्न, वस्त्र, भूषण आदिके सम्बन्धकी बहुतसी बातें यहाँ बतलाई जायँगी। इनके अतिरिक्त राजधर्म्म, व्यवहार, नीति और मोक्षधर्मके सम्बन्धमें प्राचीन भारतीय आर्योंने जो सदा ठीक उतरनेवाले अर्थात् त्रिकालाबाधित अप्रतिम सिद्धान्त स्थिर किये थे वे सब इस लोकोत्तर ग्रन्थमें ग्रथित किये गये हैं; आप लोगोंको इन सब भिन्न भिन्न विषयोंका भी परिचय कराया जायगा। तात्पर्य्य यह कि उस मराठी उपोद्घातमें जिन अनेक मुख्य मुख्य बातोंका वर्णन है उन सबका विवेचन इस महाभारत-मीमांसा ग्रन्थमें पाठकोंके सामने उपस्थित किया जायगा।

महाभारतमें जिन परिस्थितियोंका वर्णन है उनके अनुसार एक ओर तो महाभारत ग्रन्थ वैदिक साहित्यतक जा पहुँचता है

और दूसरी ओर अर्वाचीन कालके बौद्ध और जैन ग्रन्थों तथा ग्रीक लोगोंके प्राचीन इतिहास-ग्रन्थोंसे आ मिलता है। अतः उक्त विवेचन करते समय हमें जिस प्रकार वैदिक साहित्यका आधार लेना पड़ेगा उसी प्रकार बौद्ध और जैन ग्रन्थोंकी और विशेषतः ग्रीक लोगोंके ग्रन्थोंकी बातोंके साथ उसका मेल मिलाना पड़ेगा। आगेके विवेचनमें हमने ऐसा ही प्रयत्न किया है। वास्तवमें महाभारत ग्रन्थका काल बहुत विस्तृत है; इसलिये भिन्न भिन्न समयकी परिस्थितिका वर्णन करते हुए हमें "महाभारत-काल" के अर्थमें कुछ भेद करना पड़ा है। "महाभारत-काल" से हमने महाभारतके अन्तिम स्वरूपके समयका अर्थात् साधारणतः सिकन्दरके समकालीन ग्रीक लोगोंके समयका अर्थ लिया है। और "महाभारत युद्ध-काल" शब्दका प्रयोग हमने महाभारती कालके प्रारम्भके समयके सम्बन्धमें किया है। और समस्त महाभारत-कालके सम्बन्धमें सामान्यतः "भारती-काल" शब्दका प्रयोग किया है। अस्तु, मुख्य विषयपर विचार करनेसे पहले महाभारतके विस्तारके सम्बन्धमें एक कोष्ठक दे देना बहुत आवश्यक है। वह कोष्ठक इस प्रकार है:—

अनुक्रमणिकाध्यायमें कहे अनुसार			गोपाल नारा० प्र० के अनु०		गणपत कृष्ण० प्र० के अनु०		कुंभकोणम् प्र० के अनु०	
पर्व.	अ०	श्लोक.	अ०	श्लोक.	अ०	श्लोक.	अ०	श्लोक.
१ आदिपर्व	२२७	८८८४	२३४	८६१९	२३४	८४६६	२६०	१०९९८
२ सभापर्व	७८	२५११	८१	२७१२	८१	२७०९	१०३	४३७७
३ वनपर्व	२६९	११६६४	३१५	१०४९४	३१५	११८५४	३१५	१४०८१
४ विराटपर्व	६७	२०५०	७२	२२७२	७२	२३२७	७८	३५७५
५ उद्योगपर्व	१८६	६६९८	१९६	६५५९	१९६	६६१८	१९६	६७५२
६ भीष्मपर्व	११७	५८८४	१२२	५९६९	१२२	५८१७	१२२	५९०८
७ द्रोणपर्व	१७०	८९०९	२०२	९५७२	२०२	९५९३	२०३	१०१२७
८ कर्णपर्व	६९	४९६४	९६	४९६४	९६	४९८७	१०१	४९८६
९ शल्यपर्व	५९	३२२०	६५	३६१८	६५	३६०८	६६	३५९४
१० सौप्तिकपर्व	१८	८७०	१८	८०३	१८	८१०	१८	८१५
११ स्त्रीपर्व	२७	७७५	२७	८२५	२७	८२६	२७	८०७
१२ शांतिपर्व	३२९	१४७३२	३६५	१४९३८	३६६	१३७३२	३७५	१५१५३
१३ अनुशासनपर्व	१४६	८०००	१६८	७६३९	१६९	७८३९	२७४	१०९८३
१४ आश्वमेधिपर्व	१०३	३३२०	९२	२७३६	९२	२८५२	११८	४५४३
१५ आश्रमवासिपर्व	४२	११११	३९	१०८८	३९	१०८५	४१	१०९८
१६ मौसलपर्व	८	३२०	८	२८७	८	२८७	९	३००
१७ महाप्रस्थानपर्व	३	१२३	३	११०	३	१०९	३	१११
१८ स्वर्गारोहणपर्व	५	२०९	६	३२०	६	३०७	६	३३७
कुल	१९२३	८४२४४	२१०९	८३५२५	२१११	८३८२६	२३१५	९८५४५
१९ हरिवंश		१२०००	२६३	१५४८५		१२०००		१२०००
		९६२४४	२३७२	९९०१०		९५८२६		११०५४५

हमने महाभारतके अनुक्रमणिका-अध्याय (आदिपर्व अध्याय २) में जो अध्याय-संख्या और श्लोक-संख्या पर्वक्रम-से दी है वही इस कोष्ठकमें पहले दी गई है। इसके उपरान्त जिस प्रतिका मराठी-भाषान्तर पाठकोंके सामने रखा गया है उसमेंके प्रत्यक्ष अध्यायों और श्लोकोंकी संख्या पर्वक्रमसे दी गई है। इसके उप-रान्त आगेके खानोंमें गणपत कृष्णजीके पुराने छापेखानेमें छपी हुई प्रतिकी श्लोक-संख्या जो हमें एक जगह मिल गई है, दी गई है। इसके अतिरिक्त अभी हालमें मद्रासकी ओर कुम्भकोणम्‌में एक प्रति छपकर प्रकाशित हुई है। पर्वक्रमसे उसके अध्यायों और श्लोकोंकी संख्या भी हमने पाठकोंकी जानकारीके लिये ठीक करके दे दी है। इन सबसे पाठकोंको भिन्न भिन्न प्रतियोंकी तुलना करनेमें सुगमता होगी। इस कोष्ठकसे पाठक लोग सहजमें समझ लेंगे कि महा-भारतमें दी हुई श्लोक-संख्याकी अपेक्षा मद्रासवाली प्रतिमें बहुत अधिक श्लोक हैं। परन्तु बम्बईवाली दोनों प्रतियोंमें यह बात नहीं है। उनकी श्लोक-संख्या प्रायः समान ही है और महाभारतमें दी हुई श्लोक-संख्यासे मिलती है। कुम्भकोणम्‌की प्रतिमें जो अध्याय सन्दिग्ध मानकर छोटे टाइपोंमें दिये गये हैं, उन्हें हमने उक्त कोष्ठककी गिनतीमें नहीं लिया है। तो भी प्रत्येक पर्वमें प्रायः हज़ार दो हज़ार श्लोक बढ़ गये हैं; और यदि महाभारतमें कहे अनु-सार हरिवंशके १२००० श्लोक उसमें और भी मिला दिये जायँ तो इस प्रतिकी श्लोक-संख्या एक लाख दस हज़ार तक पहुँच जाती है। अर्थात् महाभारतमें कही हुई एक लाखकी संख्यासे यह संख्या बहुत बढ़ जाती है। इस दृष्टिसे देखते हुए हमें यह कहनेमें कोई अड़चन नहीं जान पड़ती कि महाभारतकी कुम्भकोणम्-वाली प्रति ऐतिहासिक विचारमें लेने योग्य नहीं है; और इसी लिये हमने उसे अपने विचारमें लिया भी नहीं है।

यदि हरिवंशको छोड़ दिया जाय तो बम्बईवाली दोनों प्रतियाँ महाभारतमें दी हुई श्लोक-संख्याके अनुसार ही हैं। यद्यपि अध्यायोंकी संख्या बढ़ी हुई मिलती है तो भी कुल मिलाकर श्लोक-संख्या कम ही है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक विचार करनेके लिये इन प्रतियोंका उपयोग बहुत कुछ बल्कि अच्छा होगा। इसके अतिरिक्त चतुर्धर नीलकण्ठ टीकाकार बहुत ही अनुसन्धान से जहाँ जहाँ गौड़ोंका पाठ-भेद होता है वहाँ वहाँ वह पाठ-भेद देते जाते हैं और यदि कहीं कोई श्लोक गौड़ोंके पाठमें न आता हो तो वह भी टीकामें दिखला देते हैं। इसलिये नीलकण्ठकी टीका-वाली बम्बईकी प्रति महाराष्ट्र और गौड़ दोनों प्रान्तोंमें सर्वसम्मत है और ऐति-हासिक विचारमें लेने योग्य है। और आगेकी मीमांसामें हमने उसीका उप-योग किया है। बम्बईकी दोनों प्रतियोंमें बहुत ही थोड़ा भेद है; और केवल एक ही अवसर पर हमें उस भेद पर ध्यान देना पड़ा है। इस प्रस्तावमें केवल इतना ही कहकर अब हम मीमांसाके भिन्न भिन्न विषयोंमेंसे पहले महाभारतके कर्त्ताओंके सम्बन्धमें विचार करते हैं।

पहला प्रकरण

महाभारतके कर्त्ता।

यह बात सर्वत्र मानी गई है कि महाभारत ग्रन्थमें एक लाख अनुष्टुप श्लोक हैं और उसके कर्त्ता कृष्णद्वैपायन व्यास हैं। वास्तविक श्लोक-संख्या, जैसा कि महाभारतमें कहा गया है, खिल पर्व-सहित ९६२४४ है; और यदि खिल पर्वको छोड़ दें तो वह संख्या ८४२४४ होती है।* पाठकोंको यह बात पहले दिये हुए कोष्ठक-से मालूम हो गई है, कि वर्तमान समयमें उपलब्ध बम्बईके संस्करणोंमें, खिल पर्वको छोड़ देने पर, श्लोक-संख्या ८४५२५ अथवा ८३८२६ है; और हरिवंश सहित श्लोकोंकी संख्या कमसे कम ९५८२६ तथा अधिकसे अधिक १०००१० है। सारांश, इस कथन-का वस्तुस्थितिसे मेल है कि महाभारत-ग्रन्थमें करीब एक लाख श्लोक हैं। यह असम्भव जान पड़ता है कि इतने बड़े ग्रन्थकी रचना एक ही मनुष्यने की हो। इससे यही अनुमान होता है कि महाभारतके रचयिता एकसे अधिक होंगे। महाभारतके ही वर्णनानुसार ये रचयिता तीन थे—व्यास, वैशम्पायन और सौति। भारतीय-युद्धके बाद व्यासने 'जय' नामक इतिहासकी रचना की। यह इतिहास व्यास-जीके शिष्य वैशम्पायनने पाण्डवोंके पोते जन्मेजयको उस समय सुनाया था जब कि उसने सर्पसत्र किया था; और वहाँ उस कथाको सुनकर सूत लोमहर्षणके पुत्र सौति उग्रश्रवाने उन ऋषियोंको सुनाया जो नैमिषारण्यमें सत्र कर रहे थे। इस कथाका उल्लेख भारतमें ही है। इसमें सन्देह नहीं कि जो प्रश्नोत्तर वैशम्पायन और जन्मेजयके बीच हुए होंगे वे व्यास-जीके मूल ग्रन्थसे कुछ अधिक अवश्य होंगे। इसी प्रकार सौति तथा शौनक ऋषियोंके बीच जो प्रश्नोत्तर हुए होंगे वे वैशम्पायनके ग्रन्थसे कुछ अधिक अवश्य होंगे। सारांश, व्यासजीके ग्रन्थको वैशंपायनने बढ़ाया और वैशंपायनके ग्रन्थको सौतिने बढ़ाकर एक लाख श्लोकोंका कर दिया। इसके प्रमाणमें सौतिका यह स्पष्ट वचन है कि "एकम् शतसहस्रं च **मयोक्तम्** वै निबोधत" (आ०अ०१,१०६) अर्थात्, इस लोकमें "एक लाख श्लोकोंका महाभारत मैंने कहा है" यह इससे स्पष्ट है। यद्यपि सब लोग यही समझते हैं कि समस्त महाभारतकी रचना अकेले व्यासजीकी ही है, तथापि लक्षणसे ही इसका अर्थ लिया जाना चाहिये। यदि यह मान लिया जाय कि वैशंपायन अथवा सौतिने जो वर्णन किया है अथवा उन लोगोंने जो अंश बढ़ाया है, वह सब व्यासजीकी प्रेरणाका ही फल है और वह सब उन्हींके मतोंके आधारपर रचा गया है, तो व्यासजीको एक लाख श्लोकोंका कर्तृत्व देनेमें कोई हर्ज नहीं। वस्तुतः यही मानना पड़ता है कि महाभारतके कर्त्ता तीन हैं—अर्थात् व्यास, वैशंपायन और सौति। बहुतेरे विद्वानोंका कथन है कि महाभारतके रचयिता तीनसे भी अधिक थे। परन्तु यह तर्क निराधार है और इस एक ग्रन्थके लिये तीन कवियों-से अधिककी आवश्यकता भी नहीं देख पड़ती।

इस कथनके लिये और भी कुछ अनुकूल प्रमाण या बातें हैं कि तीन कर्त्ताओंने महाभारतको वर्तमान स्वरूप दिया है। पहिली बात तो यह है, कि इस ग्रन्थके

* तीसरे पृष्ठ का कोष्ठक देखो।

तीन नाम हैं और यह बात इस ग्रन्थसे ही स्पष्ट प्रकट होती है। आदि पर्वमें तथा अन्तिम पर्वमें कहा है कि **"जयो नामेतिहासोऽयम्"** अर्थात् मूल ग्रन्थ ऐतिहासिक है और उसका नाम 'जय' था। इसी ग्रन्थको आगे चलकर 'भारत' नाम प्राप्त हो गया और जब उसका विस्तार बहुत बढ़ गया तो उसे 'महा-भारत' कहने लगे। ये तीन नाम भिन्न भिन्न तीन कर्त्ताओंकी कृतिके लिये भली भाँति उपयुक्त हैं: अर्थात् व्यासजीके ग्रन्थको जय, वैशम्पायनके ग्रन्थको भारत और सौतिके ग्रन्थको महाभारत कह सकते हैं। यह मान लेना युक्ति-सङ्गत जान पड़ता है कि जयसे पाण्डवों-की विजयका अर्थ सूचित होता है और इसी नामका मूल इतिहास-ग्रन्थ होगा। इसी ग्रन्थका आदि नमन प्रसिद्ध **'नारायणं नमस्कृत्य'** श्लोकमें उल्लेख है। निस्सन्देह यह श्लोक व्यासजी-का ही है और इसी लिये हमारी राय है कि इसमें पहलेपहल व्यासजीका नाम न होगा। कुछ लोग इस श्लोकका यह पाठान्तर मानते हैं—**"देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्"** परन्तु यह पाठ पीछेसे बना हुआ जान पड़ता है। **"देवीं सरस्वतीं चैव"** यही पाठ उचित जान पड़ता है और व्याकरणकी दृष्टिसे भी 'चैव' पदकी ही आवश्यकता है। इसके सिवा, इस नमनके श्लोकमें महाकविकी कुशलता भी देख पड़ती है और इसी लिये कहना पड़ता है कि यह श्लोक व्यासजीका ही है और इसमें उन्होंने अपना नाम नमनके लिये न लिखा होगा। ग्रीक कविशिरोमणि होमरने अपने इलियड नामक महाकाव्यके आरम्भ में कहा है—"हे वाक्देवी, एकीलीजके क्रोधका तू वर्णन कर" (cf. Achilles' wrath to Greece oh! heavenly goddess sing.) इस वाक्यमें कविने तीन बातोंका उल्लेख किया है—अर्थात् काव्य-नायक एकीलीज़, काव्य-विषय उसका क्रोध, और वाक्देवीका स्मरण। इसी प्रकार हमारे प्राचीन महाकवि व्यासजीने भी अपने नमन-विषयक श्लोकमें इन तीन बातोंका ही समावेश किया है—अर्थात् काव्य-नायक नर-नारायण (अर्जुन और श्रीकृष्ण), काव्य-विषय उनकी जय, और वाक्देवीका स्मरण। इससे प्रतीत होता है कि नमनका यह श्लोक व्यास-जीका ही है और उनके ग्रन्थका नाम "जय" था। अब यह देखना चाहिये कि वैशं-पायनके ग्रन्थको "भारत" नाम कैसे प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थमें यह उल्लेख पाया जाता है कि व्यासजीने वैशंपायन आदि पाँच शिष्योंको अपना ग्रन्थ पढ़ाया और उन लोगोंने भारत-संहिताका पठन किया; यहाँ तक कि प्रत्येक शिष्यने अपनी अपनी निराली संहिता बनाई। ऐसी अवस्थामें वैशंपायनके ग्रन्थको "भारत" नाम स्व-भावतः प्राप्त होता है। अब यह बात भी स्वाभाविक और युक्ति-संगत जान पड़ती है कि सौतिके एक लाख श्लोकवाले बृहत् ग्रन्थको महाभारत नाम प्राप्त हुआ होगा। जान पड़ता है कि भारत और महाभारत नामक भिन्न भिन्न ग्रन्थ एक ही समयमें प्रचलित थे। सुमंतु, वैशं-पायन, पैल आदिका उल्लेख करते समय आश्वलायनके एक सूत्र (आ. गृ. ३. ४. ४) में भिन्न भिन्न नाम लेकर "भारत महाभारताचार्याः" कहा है। इससे अनु-मान होता है कि वैशंपायन आदि ऋषियों-के लिये भारताचार्यकी उपाधि प्रचलित थी और भारत तथा महाभारत नामक भिन्न भिन्न ग्रन्थ एकही समयमें प्रचलित थे।

महाभारतके तीन रचयिता होनेके सम्बन्धमें दूसरा प्रमाण यह है कि महाभारतका आरम्भ तीन स्थानोंसे होता है। इस बातका उल्लेख ग्रन्थमें ही पाया जाता है। "**मन्वादि भारतं केचित्**" आदि श्लोकोंमें कहा है कि मनु, आस्तिक और उपरिचर ये तीन स्थान इस ग्रन्थके आरम्भ माने जाते हैं। राजा उपरिचरके आख्यानसे (आदि पर्व अ० ६३) व्यासके ग्रन्थका आरम्भ है। आस्तिकके आख्यान (आदि० अ० १३)से वैशंपायनके ग्रन्थका आरम्भ है; क्योंकि वैशंपायनका ग्रन्थ सर्प-सत्रके समय पढ़ा गया था। इसी लिये आस्तिककी कथाका आरम्भमें कहा जाना आवश्यक था। यह समझना स्वाभाविक है कि सौतिके बृहत् महाभारत-ग्रन्थका आरम्भ मनु शब्दसे अर्थात् प्रारम्भिक शब्द "वैवस्वत" से होता है।

अब इस बातका विचार करना चाहिये कि इन तीनों ग्रन्थोंका विस्तार कितना था। यह ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता कि व्यासजीके मूल ग्रन्थ "जय" में कितने श्लोक थे। मैकडोनल्ड, वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानोंका कथन है कि उन श्लोकोंकी संख्या ८८०० थी। परन्तु यह मत हमें ग्राह्य नहीं है, क्योंकि इसका समर्थन केवल तर्कके आधार पर किया गया है। सच बात तो यह है कि महाभारतमें ८८०० संख्याका उल्लेख व्यासजीके कूट श्लोकोंके* सम्बन्धमें हुआ है। यह उल्लेख, सिर्फ खींचातानीसे ही, इस बातका प्रमाण कहा जा सकता है कि मूल ग्रन्थमें श्लोकोंकी संख्या इतनी ही (अर्थात् ८८००) होगी। इस उल्लेखके आधार पर सरल रीतिसे ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। हाँ, यह बात भी निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती कि वर्तमान महाभारत में ८८०० कूट श्लोक हैं; परन्तु जब इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि कभी कभी पूरा श्लोक तो कूट नहीं होता, किन्तु एकाध पदमें ही ऐसा गूढ़ार्थ होता है कि पूरे श्लोकका अर्थ समझमें नहीं आता, तब कहना पड़ता है कि कूट श्लोकोंकी उक्त संख्या कुछ बहुत अधिक नहीं है। हम अपने भावको स्पष्ट रूपसे प्रकट करनेके लिये यहाँ एक दो उदाहरण देते हैं। विराट पर्व में "**जित्वा वयम् नेष्याति चाद्य गावः**" यह वाक्य कूट श्लोकका प्रसिद्ध उदाहरण है। यदि इसके भिन्न भिन्न पद इस प्रकार किये जायँ— जित्वा, अव, यं, नेष्यति, च, अद्य, गाः, वः—तभी इसका कुछ अर्थ लग सकता है। ऐसे श्लोक आरम्भके पर्वोंमें बहुत हैं, फिर आगे चलकर कुछ कम देख पड़ते हैं। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि महाभारतमें गूढ़ार्थके श्लोक बहुत हैं। ऐसे श्लोकोंमें एकाध शब्द अप्रसिद्ध अर्थमें व्यवहृत किया गया है, जैसे "**नागैरिव सरस्वती**" यहाँ सरस्वती = सरस् + वती = सरोयुक्त इस अर्थमें है। महाभारतमें ऐसे अनेक श्लोक हैं जिनके शब्द तो सरल हैं परन्तु जो उक्त प्रकारसे भिन्न और गूढ़ अर्थके द्योतक हैं। ऐसी अवस्थामें यद्यपि कूट श्लोकोंकी संख्या ठीक ८८०० न हो, तथापि कहा जा सकता है कि इस संख्यामें थोड़ी अतिशयोक्ति है। कुछ भी हो, इस श्लोकसे यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि उक्त संख्या व्यासजीके मूल ग्रन्थकी ही है। इसके अतिरिक्त एक बात और है। महाभारतमें स्पष्ट उल्लेख है कि व्यासजीने रात-दिन परिश्रम करके तीन वर्षमें अपने ग्रन्थको पूरा किया। इससे यही माना

* अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च। अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा।

जा सकता है कि व्यासजीके समान प्रतिभा-सम्पन्न संस्कृत कविके लिये प्रतिदिन आठसे अधिक अनुष्टुप श्लोकोंकी रचना कर सकना बहुत सहज था। सारांश, यह बात निश्चित रूपसे नहीं बतलाई जा सकती कि व्यासजीके मूल ग्रन्थका विस्तार कितना था। वैशम्पायनके 'भारत' में श्लोकोंकी संख्या २४००० होगी। महाभारत में ही स्पष्ट कहा गया है कि "भारत-संहिता २४००० श्लोकोंकी है, और शेष ७६००० श्लोकोंमें गत कालीन लोगोंकी मनोरंजक कथाओंका वर्णन है।" इससे अनुमान होता है कि उपाख्यानोंको छोड़कर शेष २४००० श्लोकोंमें भारत-संहिताकी रचना की गई है। संहिता शब्द 'अथसे लेकर इति तक एक सूत्रसे लिखा हुआ ग्रन्थ' इस अर्थका द्योतक है। यह बात भी प्रसिद्ध है कि व्यासजीके पाँच शिष्योंने अपनी अपनी भारत-संहिताकी रचना भिन्न भिन्न की है। इससे भी संहिता शब्दका वही अर्थ प्रकट होता है जो ऊपर दिया गया है। तब, भारत-संहिताका विस्तार २४००० श्लोक-संख्याका है इस वाक्यसे यही प्रकट होता है कि वैशंपायन द्वारा रचे गये ग्रन्थमें २४००० श्लोक थे। सौतिके ग्रन्थके विषयमें यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि उसका विस्तार कितना है। सब लोग जानते हैं कि वैशम्पायनके 'भारत'में उपाख्यान आदि जोड़कर उसने एक लाख श्लोकोंका महाभारत बना डाला।

यह बात स्वाभाविक है कि वैशम्पायनके ग्रन्थके आरम्भमें आस्तिककी कथा कही गई हो। अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि उस कथाके पहिलेके अध्याय सिर्फ़ सौतिके हैं: अर्थात् अनुक्रमणिका पर्व, पर्वसंग्रह पर्व, पौष्य पर्व, पौलोम पर्व मिलाकर १२ अध्याय सौतिके हैं। इन प्रारम्भिक अध्यायोंमें, आधुनिक ग्रन्थ-रचनाकी पद्धतिके ही अनुसार, सौतिने प्रस्तावना, उपोद्घात और अनुक्रमणिकाका समावेश किया है; और इस बातकी गिनती कर दी है कि प्रत्येक पर्वमें कितने श्लोक और कितने अध्याय हैं। इससे सौतिके ग्रन्थको प्रायः स्थायी स्वरूप प्राप्त हो गया है। वर्तमान प्रचलित महाभारतमें श्लोकोंकी जो संख्या पाई जाती है वह सौतिकी बतलाई हुई संख्यासे लगभग १,००० कम है। कुछ पर्वोंमें श्लोकोंकी संख्या कम है और कुछ पर्वोंमें अधिक है: परन्तु इस न्यूनाधिकताका परिमाण अत्यन्त अल्प है। भारतके टीकाकारने भी प्रत्येक पर्वके अन्तमें इस न्यूनाधिकताका उल्लेख किया है। उसकी रायमें यह न्यूनाधिकता लेखकोंकी भूलसे हुई होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि सौतिकी बतलाई हुई संख्यासे, वर्तमान प्रचलित संस्करणोंमें, जहाँ श्लोकोंकी संख्या कुछ अधिक है वहाँ लेखकोंकी भूल कैसे मानी जाय? अर्थात् प्रकट है कि लेखकोंने जान बूझकर पीछेसे श्लोकोंकी संख्या बढ़ा दी है। ऐसे बढ़ाये हुए श्लोक मुख्यतः वन पर्व और द्रोण पर्वमें ही पाये जाते हैं। आदि पर्वमें सौतिने २२७ अध्याय बतलाये हैं और टीकाकारका कथन है कि उसमें २३७ अध्याय हैं। इन सब अध्यायोंकी श्लोक-संख्या कम है, इसलिये माना जा सकता है कि अध्यायोंकी अधिक संख्या लेखकोंकी भूलसे लिखी गई होगी। परन्तु वन पर्व और द्रोण पर्वमें अध्याय भी अधिक हैं और श्लोक भी अधिक हैं। यह बढ़ी हुई श्लोक-संख्या ज्यादा नहीं है; अर्थात् वन पर्वमें लगभग २०० श्लोक और द्रोणपर्वमें लगभग ६०० श्लोक बढ़े हैं। इस प्रकार दोनों पर्वोंको मिलाकर सिर्फ़ ८०० श्लोक, दोनों पर्वोंके कुल २१,००० श्लोकोंमें बढ़ गये हैं। समस्त महाभारतमें सौतिने

श्लोकोंकी जो संख्या गिनाई है उससे वर्तमान प्रचलित संस्करणोंमें १००० श्लोकोंकी कमी है और न्यूनाधिकताका परिमाण भी बहुत थोड़ा है। इन सब बातोंसे कहना पड़ता है कि आज २००० वर्ष बीत जाने पर भी (इस कालका निश्चय आगे चलकर किया जायगा) सौतिके ग्रन्थमें बहुत ही थोड़ा अन्तर पड़ा है।

सौतिने अपने ग्रन्थके अठारह पर्व बनाये हैं। यह पर्व-विभाग नया है और उसीका किया हुआ है। वैशम्पायनने अपने 'भारत' में जो पर्व बनाये थे वे भिन्न हैं, छोटे हैं और उनकी संख्या १०० है। यह बात महाभारतमें सौतिकी दी हुई अनुक्रमणिकासे ही प्रकट है। कोई ग्रन्थकार, अपने एक ही ग्रन्थमें, एक ही नाम के छोटे और बड़े विभाग कभी नहीं करेगा। वह अपने ग्रन्थके छोटे और बड़े विभागोंको भिन्न भिन्न नाम देगा; जैसे काण्ड और उसके अन्तर्गत अध्याय अथवा सर्ग। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि उक्त दो प्रकारके विभाग भिन्न भिन्न ग्रन्थकारोंके किये हुए हैं। अर्थात्, वैशंपायनके भारत-ग्रन्थमें पर्व नामक विभाग थे जो बहुत छोटे छोटे थे; सौतिने इन छोटे पर्वोंको एकत्र करके अपने बृहत् ग्रन्थके १८ पर्व किये और इन विभागोंका नाम भी उसने पर्व ही रखा। इसका परिणाम यह हुआ है कि एक बड़े पर्वमें उसी नामके छोटे उपपर्व भी शामिल हो गये हैं। उदाहरणार्थ, सौप्तिकपर्वमें सौप्तिकपर्व है, सभापर्वमें सभापर्व है और अश्वमेधिकपर्वमें अश्वमेधिकपर्व है। यह अनुमान भी हो सकता है कि वैशम्पायनके मूल भारतमें ठीक ठीक १०० पर्व न होंगे। कहीं कहीं सौतिने नये पर्वोंकी भी रचना की है। क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि अनुक्रमणिकापर्व, पर्वसंग्रहपर्व, पौलोमपर्व और पौष्यपर्व सौतिके बनाये हुए हैं। हरिवंश खिलपर्व समझा जाता है। 'खिल' का अर्थ है पीछेसे जोड़ा हुआ। इसकी पर्व-संख्या १८ और १०० से भिन्न है। इसे सौतिने ग्रन्थके विषयकी पूर्तिके लिये जोड़ा है और इसी लिये उसको "खिलपर्व" नाम देकर उन्नीसवाँ पर्व बनाया है। उसमें छोटे छोटे तीन पर्व हैं। मालूम होता है कि इन पर्वोंका कर्त्ता सौति नहीं है। खैर, महाभारतमें यह स्पष्ट वचन है कि "पहले व्यासजीने १०० पर्वोंकी रचना की; तदनन्तर सूत-पुत्र लोमहर्षणिने नैमिषारण्यमें सिर्फ १८ पर्वोंका ही पठन किया":—

एतत्पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना।
यथावत्सूतपुत्रेण लोमहर्षणिना ततः॥
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु॥
(आ० अ० २-८४)

इससे निर्विवाद सिद्ध है कि १८ पर्वोंके विभाग सौति-कृत हैं।

वर्तमान महाभारतके रचयिता व्यास, वैशम्पायन और सौति तीनों व्यक्ति काल्पनिक नहीं हैं किन्तु सत्य और ऐतिहासिक हैं। कृष्ण यजुर्वेदकाठकमें पाराशर्य व्यास ऋषिका नाम आया है। व्यास भारतीयुद्धके समकालीन थे। महाभारतके अनेक वर्णन प्रत्यक्ष देखे हुए जान पड़ते हैं और उनमें कई बातें ऐसी हैं जिनकी कल्पना पीछेसे कोई कवि नहीं कर सकता। कहा गया है कि वैशम्पायन व्यासजीके एक शिष्य थे। (सम्भव है कि वे प्रत्यक्ष शिष्य न होकर केवल शिष्य-परम्परामें ही हों।) इनका नाम आश्वलायन गृह्यसूत्रमें पाया जाता है। ये अर्जुनके पोते जन्मेजयके समकालीन थे। समस्त महाभारतकी भाषा ऐसी है जो प्राचीन भाषा और आधुनिक संस्कृत भाषासे भिन्न है और जो प्रत्यक्ष बोलचालमें आनेवाली

भाषाके समान देख पड़ती है। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारतके कुछ भागोंकी भाषा बहुत प्राचीन और बड़ी ज़ोरदार है। इस बातकी सत्यता भगवद्गीताके समान कुछ भागोंकी भाषासे प्रकट हो सकती है। सौतिके सम्बन्धमें विचार करते समय इस बात पर ध्यान रहे कि यद्यपि सूत प्रायः कथा बाँचनेका धन्धा किया करते थे, तथापि लोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवाको सौति कहनेका कोई कारण नहीं देख पड़ता; क्योंकि "सूत" जातिवाचक नाम है और पुराणोंमें उल्लेख है कि सूतने शौनकको अनेक कथायें सुनाई थीं। परन्तु सूत और सौतिके ऐतिहासिक व्यक्ति होनेमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। इस बातका विचार आगे चलकर किया जायगा कि सौतिने वैशम्पायनके भारतको बढ़ाकर महाभारतका स्वरूप क्यों और कैसे दिया। परन्तु ग्रन्थके काल-निर्णयसे इस बातमें बिलकुल सन्देह नहीं रह जाता कि यह सौति वैशम्पायनका समकालीन नहीं था। ऐसी अवस्थामें 'भारत' के आरम्भमें जो यह लिखा गया है कि "सर्पसत्रके समय वैशम्पायनके मुखसे मैंने भारती-कथा सुनी," उसे लाक्षणिक अथवा अतिशयोक्तिका कथन समझना चाहिये। सौति और वैशम्पायनमें हज़ारों वर्षोंका नहीं तो कमसे कम कई सौ वर्षोंका अन्तर अवश्य है। व्यासजीके मूल ग्रन्थ और वैशम्पायनके भारतमें, परिमाण तथा भाषाके सम्बन्धमें, विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु जिस समय सौतिने २४००० श्लोकोंको बढ़ाकर एक लाखका ग्रन्थ बना दिया, उस समय काल-भेदके अनुसार भाषाके सम्बन्धमें अन्तर हो जाना स्वाभाविक बात है। यद्यपि सौतिने अपने विलक्षण बुद्धि-चातुर्यसे सारे ग्रन्थमें एकता लाकर उसे पूर्व-अपर-सम्बद्ध कर दिया है, तथापि दो तीन स्थानोंमें चमत्कारिक असम्बद्धता उत्पन्न हो गई है। देखिये, (१) ग्रन्थके आरम्भमें ही यह कथा है कि जब द्वादश वार्षिक सत्र के समय सौति उग्रश्रवा कुलपति शौनक के पास आया और उससे पूछा गया कि "तू कहाँसे आया है?" तब उसने उत्तर दिया कि "मैं जनमेजयके सर्पसत्रसे आया हूँ और वहाँ वैशम्पायन-पठित व्यास-कृत महाभारत मैंने सुना है।" परन्तु आदिपर्वके चौथे अध्यायके आरम्भमें फिर वही बात गद्यमें इस प्रकार कही गई है कि सौतिने शौनकके पास जाकर पूछा—"कौनसी कथा सुननेकी तुम्हारी इच्छा है?" तब शौनकने कहा कि भृगु-वंशका वर्णन करो। इसके बाद 'सौतिरुवाच'के बदले 'सूतउवाच' कहा गया है। इस परस्पर-विरोधी वचनका कारण क्या है? टीकाकारने अपनी प्राचीन पद्धतिके अनुसार इस विरोधका परिमार्जन यह कहकर कर दिया है कि महाभारतके ये भिन्न भिन्न आरम्भ भिन्न भिन्न कल्पोंसे सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु यह कारण सन्तोषदायक नहीं जान पड़ता। सम्भव है कि वैशम्पायनके भारतको बृहत् स्वरूप देनेका प्रयत्न पिता और पुत्र दोनोंने किया हो। ये दोनों आरम्भ काल्पनिक हैं और सम्भव है कि पिता एवं पुत्रने परस्पर आदरके कारण उन दोनोंको ग्रन्थमें स्थान दे दिया हो। सौति कथा बाँचनेका व्यवसाय किया करते थे। उन्हें जो पौराणिक बातें मालूम थीं उनका उपयोग उन्होंने भारतको सर्वमान्य और धार्मिक स्वरूप देनेमें क्यों और कैसे किया, इस बातका विचार आगे किया जायगा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार उपयोग करते समय एक और असम्बद्धता उत्पन्न हो गई है। वह यह है:-(२) तीसरे अध्यायमें

किसी गद्य ग्रन्थका अवलम्ब किया गया है। उस कथाका सारांश यह है—"जब राजा जनमेजय कुरुक्षेत्रमें दीर्घ सत्र कर रहा था उस समय यज्ञ-मण्डपमें एक कुत्ता आया। उसे जनमेजयके भाइयोंने मार कर बाहर भगा दिया। तब वह रोता हुआ अपनी माता देवशुनीके पास गया। उसने यज्ञ-मण्डपमें जाकर जनमेजयको शाप दिया कि तेरे कार्यमें अकल्पित विघ्न उत्पन्न होगा। जनमेजयने अपना सत्र पूरा किया और हस्तिनापुरमें आकर वह इस बातका विचार करने लगा कि उस पाप-कृत्याका परिहार कौन करेगा। इसके बाद उसने श्रुतश्रवा नामक ऋषिके पुत्र सोम-श्रवाको अपना पुरोहित बनाया। परन्तु श्रुतश्रवाने अपने पुत्रके कठिन नियमके विषयमें जनमेजयको साफ़ साफ़ यह बतला दिया था कि, यदि कोई ब्राह्मण याचना करनेके लिये आवेगा और कुछ माँगेगा तो मेरा पुत्र उस याचकको मुँहमाँगी वस्तु दे देगा; यदि यह नियम तुझे मान्य हो तो तू इसे ले जा। जनमेजय ने स्वीकार कर लिया और सोमश्रवाको अपनी राज-धानीमें लाकर भाइयोंसे कहा कि इस पुरोहितकी जो आज्ञा हो उसे पूरा करना चाहिये। इसके बाद जनमेजय तक्षशिला देश पर विजय प्राप्त करने गया। उस देशको हस्तगत करके वह अपनी राज-धानीमें लौट आया।" यह कथा गद्यमें ही दी गई है। जान पड़ता है कि सौतिने इसे किसी दूसरे ग्रन्थसे लिया है, परन्तु उसने इस कथाका सम्बन्ध भारतीय-कथा-से मिला नहीं दिया। इसके बाद अरुणि की गुरुनिष्ठाकी लम्बी चौड़ी कथा बतला कर इस अध्यायको ऐसा ही असम्बद्ध छोड़ दिया है। सोमश्रवा पुरोहितने जन-मेजयकी पापकृत्याका परिहार किया या नहीं, सोमश्रवासे किस ब्राह्मणने क्या माँगा, उसने दिया या नहीं, और उसका परिणाम क्या हुआ, इत्यादि बातोंका कुछ भी पता नहीं चलता। आगे चौथे अध्याय में फिर भी सूत और शौनक की भेंटके प्रसङ्गका वर्णन किया गया है और भृगु-वंश-वर्णन आदि कथायें दी गई हैं। इसके बाद कई अध्यायोंमें आस्तीक पर्व और सर्प-सत्रकी कथा है। इस सर्प-सत्रकी कथाके साथ देवशुनीके शाप और सोमश्रवाके नियमका कुछ भी सम्बन्ध नहीं देख पड़ता। यहाँतक कि इस सर्प-सत्रकी कथामें सोमश्रवाका नाम भी नहीं है। आस्तीकने जनमेजयसे प्रार्थना की कि सर्प-सत्र बन्द कर दिया जाय और तक्षकको प्राणदान दिया जाय। सब ऋषियोंके कहनेसे जनमेजयने इस प्रार्थना का स्वीकार किया। ऐसी अवस्थामें यह कहना भी उचित नहीं है कि **सोमश्रवा** ने आस्तीककी प्रार्थनाका स्वीकार करके जनमेजयके मतके विरुद्ध उसके सर्प-सत्र-में विघ्न उपस्थित किया। सारांश, देवशुनीके शापका जो वर्णन और सोमश्रवा पुरोहित की जो कथा गद्यमें दी गई है वह ज्योंकी त्यों अधरमें पड़ी रही और ग्रन्थमें असम्ब-द्धता उत्पन्न हो गई। ऐसी असम्बद्धता महाभारतमें और कहीं देख नहीं पड़ती। हाँ, किसी किसी स्थानमें जहाँ सौतिने उपाख्यान जोड़ दिये हैं वहाँ किसी अंशमें **असम्भाव्यता** अवश्य देख पड़ती है; परन्तु **असम्बद्धता** अर्थात् पूर्व-अपर-विरोध बहुत कम पाया जाता है। किसी किसी स्थानमें, प्राचीन पद्धतिके अनुरूप श्लोक बनानेका प्रयत्न किया गया है। उदा-हरणार्थ, वैशम्पायनके भारतमें भारतका सारांश एक अध्यायमें है, इसलिये सौति-ने पहिले अध्यायमें 'यदाश्रौषम्' से आरम्भ करके बड़े वृत्तके ६९ श्लोक दिये हैं और इनमें धृतराष्ट्रके मुखसे महाभारत

का सारांश कहलानेका प्रयत्न किया है। वे श्लोक प्राचीन भाषाके समान बड़े वृत्तोंमें हैं और उनपर वैदिक रचनाकी छाया देख पड़ती है। परन्तु यह छाया बहुत ही कृत्रिम है और श्लोकोंमें किये हुए वर्णनसे यह भी स्पष्ट है कि वे पीछेसे जोड़ दिये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन श्लोकोंकी रचना सौतिने ही की है, क्योंकि ये सब पहिले अध्यायमें ही हैं और यह पूरा अध्याय सौतिका ही जोड़ा हुआ है। यदि कोई 'यदाश्रौषम्' आदि ६६ श्लोकोंको ध्यानपूर्वक पढ़ेगा तो उसको विश्वास हो जायगा कि ये सब सौतिके ही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थ के एक प्रधान पात्रके मुखसे ग्रन्थका सारांश कहलानेकी यह एक अच्छी युक्ति है; परन्तु यह बात असम्भव सी जान पड़ती है कि समस्त भारतके सारांशका वर्णन करते हुए इस प्रकार शोक किया गया हो। इसकी सृष्टि व्यासके समान महाकविकी बुद्धिसे कभी हो ही नहीं सकती। इस शोक-वर्णनमें सौप्तिक पर्वके भी बादके ऐषीक पर्वका भाग आ गया है। सच पूछा जाय तो जब उत्तराके पेटमें स्थित गर्भ पर अश्वत्थामाने अस्त्र-प्रहार किया, तब धृतराष्ट्रको अपने स्वभावके अनुसार प्रसन्न हो जाना चाहिये था, परन्तु ऐसा वर्णन उक्त श्लोकोंमें नहीं पाया जाता। इसके सिवा, महाभारतके जिन भागोंके सम्बन्धमें यह निश्चय हो चुका है कि वे सौतिके जोड़े हुए हैं, उनका भी उल्लेख उक्त श्लोकोंमें पाया जाता है। यह बात आगे चलकर सिद्ध की जायगी कि यक्षप्रश्नका आख्यान सौतिका जोड़ा हुआ है। इस आख्यानकी बातोंका भी उल्लेख उक्त श्लोकोंमें पाया जाता है। इसी प्रकार उद्योग-पर्वमें श्रीकृष्णके मध्यस्थ होनेके समय विश्वरूप-दर्शनका जो भाग है, और जिसे हम पीछेसे जोड़ा हुआ सिद्ध कर दिखावेंगे, उसका भी वर्णन उक्त श्लोकोंमें पाया जाता है। यह वर्णन भी इन श्लोकोंमें पाया जाता है कि भीष्म पितामहने पांडवोंको अपनी मृत्युका उपाय बतला दिया; परन्तु यह वर्णन पीछेसे जोड़ा हुआ है। सारांश, 'यदाश्रौषम्' वाले श्लोक ग्रन्थके आरम्भमें पीछेसे जोड़े गये हैं; और यद्यपि वे कथाके सारांशकी दृष्टिसे बहुत ठीक मालूम होते हैं, तथापि उनमें शोकका वर्णन किया गया है इसलिये उनका उचित स्थान युद्धके अनन्तर ही हो सकता है। यह भाग व्यास-रचित नहीं है। सौतिने इसकी रचना करके इसे अपने उपोद्घातमें पीछेसे जोड़ दिया है। इस प्रकार किसी किसी स्थानमें सौतिके कुछ दोष देख पड़ते हैं; तो भी महाभारतको वर्त्तमान बृहत् स्वरूप देनेमें उसकी विलक्षण बुद्धिमत्ता और कुशलता देख पड़ती है। सौति कुछ साधारण कथा बाँचनेवाला पुरोहित नहीं था। आजकल जिस प्रकार कथा कहनेवाला कोई प्रसिद्ध पण्डित, रामायणके किसी एक श्लोकपर, तीन तीन चार चार घण्टोंतक, अपने श्रोताओंको अच्छी वक्तृता-सहित और भक्ति-रस-प्रधान कथा सुना सकता है, उसी प्रकार सौतिमें भी कथा कहनेकी अद्भुत शक्ति थी। निस्सन्देह वह बहुत ऊँचे दर्जेका पण्डित था और उसे कुल पौराणिक बातों की जानकारी भी बहुत थी। व्यवहार, राजधर्म और तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें महाभारतकी कथाका जो उदात्त स्वरूप महर्षि व्यास द्वारा प्रकट हुआ है, वह सौतिके अत्यन्त विस्तृत ग्रन्थमें भी ज्योंका त्यों बना है। इसी लिये सौतिने इस ग्रन्थकी जो प्रशंसा की है वह यथार्थमें सच है। यह भारत-वृक्ष समस्त कविजनोंके लिये एक आधार-स्तम्भ है। इस दिव्य वृक्षकी सहा-

पतासे भूतलके रसिक और ज्ञानसम्पन्न लोगोंका अखण्डित निर्वाह होता चला आयगा और इस अलौकिक वृक्षपर धर्म-रूप तथा मोक्षरूप मधुर फल-पुष्पोंकी बहार सदैव बनी रहेगी। सारांश, अनेक कवि-कल्पना-तरङ्गोंके और नीति-शास्त्रकी उत्तम शिक्षा देनेवाले चित्ताकर्षक प्रसङ्ग, तथा असंख्य आत्माओंको शान्ति और सुख देनेवाले तत्त्वज्ञानके उदात्त विचार इस ग्रन्थमें ग्रथित हैं। इसलिये सौतिकी इस गर्वोक्तिको यथार्थ ही कहना पड़ता है कि "महाभारतमें सब कुछ है; जो इस ग्रन्थमें नहीं है, वह अन्य स्थानमें भी प्राप्त न होगा।"

ऐसे ग्रन्थका विचार विवेचक दृष्टिसे करना कहाँतक उचित होगा, इस विषय-की कुछ चर्चा करना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। इसमें कुछ शक नहीं कि जब यह प्रतिपादन किया जाता है कि महाभारतमें अमुक भाग सौतिका बढ़ाया हुआ है, तब श्रद्धालु पाठकोंके मनकी प्रवृत्तिमें रसभङ्ग हो जानेका भय होता है। परन्तु यदि यथार्थतः देखा जाय तो ऐसी प्रवृत्ति होनेके लिये कोई कारण नहीं है। पहले तो ग्रन्थके वास्तविक स्वरूपको जान लेनेसे पाठकोंको आनन्द हुए बिना कभी न रहेगा। दूसरी बात, प्रत्येक मनुष्यकी यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि असम्भाव्य कथाओंका यथार्थ और मूल स्वरूप मालूम हो जाय। इस जिज्ञा-साकी पूर्त्ति करना ही विवेचक ग्रन्थ-कारका प्रधान कर्त्तव्य है। तीसरी बात, महाभारत-ग्रन्थ और महाभारत-कथा-की विवेचक दृष्टिसे जाँच करनेपर भी, उस ग्रन्थ और उस कथाका जो स्वरूप शेष रह जाता है, वह इतना मनोहर और उदात्त है कि व्यासजी तथा महाभारत के सम्बन्धमें पाठकोंके हृदयमें रहने-वाला पूज्य भाव रत्ती भर भी घट नहीं सकता। अतएव हमारा दृढ़ विश्वास है कि विवेचक दृष्टिसे विचार करनेमें कोई हानि नहीं है। यही समझकर अब हम विस्तृत रूपसे इस बातकी चर्चा करेंगे कि सौतिने महाभारतका विस्तार क्यों और कैसे किया।

भारत क्यों बढ़ाया गया ?

हम पहले कह आये हैं कि जबसे सौतिने महाभारतको वर्तमान स्वरूप दिया है, तबसे अबतक उसमें बहुत ही कम अन्तर पड़ा है। किंबहुना यह कहा जा सकता है कि सौतिका बनाया हुआ महाभारत इस समय ज्योंका त्यों हम लोगोंके सामने मौजूद है। अब यदि यह मालूम हो जाय कि उसने अपने बृहत् महाभारतकी रचना कब की, तो इस विषयमें अनुमान करनेके लिये सुभीता हो जायगा कि उसने वैशम्पायनके भारत को महाभारतका बृहत् स्वरूप क्यों दिया। हमारा यह सिद्धान्त है कि शकके पहले तीसरी शताब्दीमें महाभारतको वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ है। हमारा सिद्धान्त सर्वमान्य भी हो गया है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। उस समय-की परिस्थिति पर यदि ध्यान दिया जाय तो मालूम हो जायगा कि महाभारतका निर्माण क्यों किया गया। उस समय हिन्दुस्तानमें दो नये धर्म उत्पन्न हुए थे और उनका प्रचार भी खूब हो रहा था। शकके लगभग ६०० वर्ष पहले तीर्थङ्कर महावीरने पहले बिहार प्रान्तमें जैन-धर्मका उपदेश किया और लगभग उसी समयके अनन्तर गौतम बुद्धने अपने बौद्धधर्मका प्रचार किया। इन दोनों धर्मोंकी वृद्धि उस समय हो रही थी। विशेषतः बौद्ध-धर्मकी विजय-पताका चारों

ओर फहरा रही थी और सम्राट् अशोकने उस धर्मको अपनी राजसत्ताका आश्रय दे दिया था। इससे लोगोंमें अनेक प्रकारके पाखण्ड-मतोंका प्रसार हो रहा था और वेदोंके सम्बन्धमें पूज्य भाव नष्ट हो रहा था। इन दोनों धर्मोंने खुल्लमखुल्ला वेदोंकी प्रामाणिकताका अस्वीकार किया था; और प्रायः सब लोग कहने लगे थे कि जो अपनी बुद्धिमें उचित जान पड़े, वही धर्म है। ब्राह्मणोंके विषयमें जो श्रद्धा पहिले थी वह भी उस समय घटने लग गई थी। प्राचीन आर्य-धर्मके बड़े बड़े सुप्रसिद्ध पुरुषोंको इन दोनों नये धर्मोंके अनुयायी अपनी अपनी ओर खींच ले जानेका प्रयत्न कर रहे थे। अपने अपने धर्मकी प्राचीनता सिद्ध करनेके लिये ही इस प्रकार प्रयत्न किया जा रहा था। जन-समूहमें जिन प्राचीन व्यक्तियोंके सम्बन्धमें बहुत आदर था, उन व्यक्तियोंको अपने ही धर्मके अनुयायी बतलाकर, जन-समूहकी अनुकूलता प्राप्त कर लेनेके लिये, यह सब उद्योग किया जा रहा था। उदाहरणार्थ, जैनोंका कथन है कि वेदोंमें वर्णित प्रथम राजर्षि ऋषभ हमारा पहिला तीर्थङ्कर है। इसी प्रकार बौद्धोंका कथन है कि दशरथ-पुत्र राम बुद्धके पूर्व-जन्मका एक अवतार है। श्रीकृष्णके विषयमें तो उन लोगोंने बहुत ही तिरस्कार प्रकट किया था। जैन धर्मके एक ग्रन्थमें यह वर्णन पाया जाता है कि अरिष्टनेमिके उपदेशसे यादव लोग जैन मतानुयायी हो गये, परन्तु श्रीकृष्ण नहीं हुए। उसी ग्रन्थमें यह भी लिखा है कि अरिष्टनेमिने श्रीकृष्णसे कहा—"तू कई युगोंतक नरकमें रहेगा; फिर तेरा जन्म मनुष्य-योनिमें होगा; और जब तुझे जैन धर्मका उपदेश प्राप्त होगा, तब तेरा उद्धार होगा।" इस कथासे भली भाँति प्रकट होता है कि श्रीकृष्णके विषयमें जैन धर्म कैसे विलक्षण अनादर-भावका प्रचार कर रहा था। इसी प्रकार इन दोनों धर्मोंने वेदोंके देवताओंकी भी बड़ी दुर्दशा कर डाली थी। इन धर्मोंमें यह प्रतिपादन किया जाने लगा कि इन्द्रादि देवता जैन अथवा बुद्धके सामने हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं; यहाँतक कि वे उनके पैरोंके तले पड़े रहते हैं। इन धर्मोंने वेदोंके यज्ञ-याग आदि कर्मोंकी मनमानी निन्दा करना आरंभ कर दिया था। वैदिक यज्ञोंमें पशुकी हिंसा हुआ करती थी और ये नये धर्म "अहिंसा परमोधर्मः" के कट्टर अभिमानी थे, इसलिये उन्हें ये सब वैदिक यज्ञ-याग आदि कर्म नापसन्द थे। सनातन धर्ममें भी अहिंसाके तत्त्वका उचित उपदेश था ही; इसलिये लोगोंको हिंसायुक्त यज्ञोंमें धीरे धीरे बहुत कठिनाई होने लग गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन दोनों नये धर्मों का प्रचार बहुत ज़ोरसे होने लगा। इन धर्मोंने प्राचीन तीर्थ-स्थानों, और व्रतों आदिके विषयमें भी अपना अनादर-भाव प्रकट किया था। बुद्धने एक समय कहा था कि यदि तीर्थों में डुबकी लगानेसे पुण्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती होगी, तो मेंढ़क भी पुण्यवान और मुक्त हो जायँगे। और ऐसा कहकर उसने काश्यप नामके एक ब्राह्मणको तीर्थ-स्नानसे परावृत्त किया था। इस प्रकार सनातनधर्मके मतों और पूज्य माने हुए व्यक्तियोंके सम्बन्धमें अनादर-भावका प्रचार करके ये नये धर्म स्वयम् अपनी वृद्धि कर रहे थे। स्मरण रहे कि सनातनधर्म पर जो यह हमला किया गया था, वह भारतवासियोंके इतिहासमें पहला ही था।

बौद्धों और जैनोंके धर्म-प्रसारके

कारण, सनातन धर्मके एक विशिष्ट भाग पर तो बहुत ही ज़ोरका हमला हुआ था। चातुर्वर्ण्यकी संस्था सनातन धर्मका एक प्रधान अङ्ग है। बौद्ध धर्मने, और जैन-धर्मने भी, इस व्यवस्थाका त्याग कर दिया। सब जातियोंमें बौद्ध संन्यासी होने लगे और सब लोग एकत्र भोजन करने लगे। काश्यप ब्राह्मण और उप्पली नाई दोनों बौद्ध भिक्षु होकर सर्व साधारणके आदर-पात्र समझे जाने लगे। चातुर्वर्ण्य-की प्राचीन संस्थाको बनाये रखकर, **मोक्ष-धर्ममें** सब लोगोंको समान अधिकार देनेकी, श्रीकृष्णकी प्रचलित की हुई, व्यवस्था बिगड़ गई और बौद्ध और जैन **उपासकों**ने चातुर्वर्ण्य-धर्मका त्याग सब बातोंसे कर दिया। इसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था भी बिगड़ गई और समाज-में गड़बड़ी होने लगी। पहले चतुर्थाश्रम-का अधिकार केवल ब्राह्मणों और अन्य आर्य-वर्णोंको ही था; परन्तु बौद्ध भिक्षुओंने इस आश्रमका अधिकार सब लोगोंको दे दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अशिक्षित और केवल पेट पालनेवाले, नीच जातिके, सैंकड़ों बौद्ध भिक्षु भीख माँगते हुए इधर उधर घूमने लगे। इन नये धर्मोंके अनुयायी यह मान बैठे थे कि धर्मका आचरण केवल नीतिके आचरणके सिवा और कुछ नहीं है। तत्त्व-विचारके सम्बन्धमें भी इन धर्मोंने अपना कदम इतना आगे बढ़ा दिया था कि लोगोंके मतोंमें एक तूफान सा उत्पन्न हो गया। इन धर्मोंमें प्रकट रूपसे यह प्रतिपादन किया जाने लगा कि परमेश्वर है ही नहीं; और कुछ नहीं तो, मनुष्यको इस बातका विचार ही नहीं करना चाहिये कि पर-मेश्वर है या नहीं। उनकी प्रवृत्ति इस सिद्धान्तको स्थापित करनेकी ओर हो गई थी कि मनुष्यमें आत्मा भी नहीं है। सारांश, ये दोनों नये धर्म सब प्रकारसे सनातन-धर्मके मतोंके विरुद्ध थे और उन्होंने उस समयके लोगोंमें निरीश्वरवाद तथा निरात्मवाद प्रचलित कर दिया था।

शकके पहले तीसरी शताब्दीमें हिन्दुस्थानकी जो धार्मिक अवस्था थी उसका वर्णन ऊपर किया गया है। उससे यह बात मालूम हो जायगी कि सनातन-धर्म पर बौद्ध और जैन-धर्मोंके कैसे ज़ोरदार हमले हो रहे थे। उस समय अशोककी राज-सत्ताके कारण बौद्ध-धर्मकी अभी पूरी पूरी विजय नहीं हुई थी; और यदि हुई भी हो तो उसका केवल आरम्भ ही हुआ था। परन्तु सनातन-धर्मकी अन्तः-स्थिति उन हमलोंको सहनेके लिये उस समय समर्थ न थी। हमारे प्राचीन सनातन-धर्ममें भी उस समय अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हो गये थे और उनमें आपस में कलह हो रहा था। शत्रुओंके हमलोंका प्रतिकार करनेके लिये जिस एकता और मेलकी आवश्यकता हुआ करती है, वह उस समय सनातन-धर्ममें बिलकुल नहीं थी। कुछ लोग तो विष्णुको प्रधान देवता मानकर पाञ्च-रात्र मतके अनुयायी हो गये थे; कुछ लोग शिवको प्रधान देवता मानकर पाशुपत-मतका अवलम्बन करने लग गये थे; और कुछ लोग देवीको प्रधान शक्ति मानकर शाक्त मतके अनुयायी हो गये थे। कोई सूर्यके उपासक थे, तो कोई गणपतिके और कोई स्कन्दके। इन सब उपासकोंमें पूरा पूरा शत्रु-भाव था। इनमें न केवल देवता-सम्बन्धी, किन्तु तत्त्व-विचारों के सम्बन्धमें भी, बहुत बड़ा विरोध था। यज्ञयागके विषयमें भी लोगोंके विचार डग-मगाने लग गये थे। तत्त्वज्ञानके विषयमें वेदान्त और सांख्यका झगड़ा हो रहा था। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि सनातन-धर्मके आद्य ग्रन्थ वेद सर्व-

साधारणके लिये दुर्बोध हो गये थे। उनकी समझमें आने योग्य कोई एक धर्म-ग्रन्थ उस समय न था। प्राचीन समयके बड़े बड़े पूर्वजों और अवतारी पुरुषोंके वर्णन इधर उधर बिखरे हुए पड़े थे और वे गाथा रूपी छोटे छोटे आख्यानोंमें प्रायः लुप्त से हो गये थे। उस समय ऐसे ग्रन्थों का बहुत बड़ा अभाव था जो नीति और धर्मकी शिक्षा देकर समाजमें धार्मिक तथा नीतिमान् होनेकी स्फूर्ति उत्पन्न कर सकते। ऋषियों और राजाओंकी बिखरी हुई वंशावली सूतों अथवा भाटोंकी जीर्ण पोथियोंमें प्रायः नष्ट सी हो गई थी और पराक्रमी पूर्वजोंका प्रायः विस्मरण ही हो गया था। ऐसी अवस्थामें उक्त दो नास्तिक धर्मोंका सामना करना, सनातन-धर्मके लिये, और भी अधिक कठिन हो गया। सनातन-धर्माभिमानी विद्वान् पण्डितोंको यह भय होने लगा कि बौद्ध और जैन धर्मोंकी ही विजय होगी।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि हमारे धर्मके प्रतिपादक जो अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, क्या उनका उस समय अस्तित्व न था? क्या उस समय रामायण और मनुस्मृति का पता नहीं था? वेदान्त, न्याय, सांख्य और मीमांसाके सूत्र उस समय कहाँ चले गये थे? क्या उस समय पुराण और इतिहास थे ही नहीं? इन सब प्रश्नोंका 'नहीं थे' यही उत्तर है। ये ग्रन्थ इस समय जिस स्वरूपमें देख पड़ते हैं, उस स्वरूपमें वे महाभारतके बाद बने हैं। इस काल-निर्णयका विचार प्रसंगानुसार आगे किया जायगा। यहाँ सिर्फ़ इतना कह देना काफी होगा कि वर्तमान समयकी रामायण शक-के पूर्व पहिली सदीकी है और वर्तमान मनुस्मृतिका भी समय वही है। वेदान्त-सूत्र और योग-सूत्र शकके पूर्व दूसरी सदीके हैं। उस समय सांख्य-सूत्रोंका तो पता भी न था। **वर्तमान स्वरूपके** पुराण उस समय न थे। ये सब ग्रन्थ उस समय बीज-रूपसे होंगे; और उनका जो विस्तार इस समय देख पड़ता है वह निस्स-न्देह महाभारतके अनन्तर हुआ है। किंबहुना इसमें सन्देह नहीं कि महाभारतके प्रत्यक्ष उदाहरणसे ही इन सब धार्मिक-ग्रन्थोंको पूर्ण स्वरूप देनेकी स्फूर्त्ति सनातन-धर्मीय आचार्योंको हुई। अर्थात्, ऐतिहासिक दृष्टिसे, इन सब ग्रन्थोंके पूर्व-स्वरूपका निश्चय करनेके लिये इस समय महाभारत ही एक मात्र साधन उपलब्ध है।

इस प्रकार अशोकके समय, अथवा उस समयके लगभग, बौद्ध और जैन-धर्मोंने सनातन धर्मपर जो हमला किया था, उसका प्रतिकार करनेके लिये सना-तनधर्मावलम्बियोंके पास कुछ भी साधन या उपाय न था और उनके धर्ममें भिन्न भिन्न मतोंकी खींचातानी हो रही थी। ऐसी अवस्थामें सौतिने भारतको महा-भारतका बृहत् स्वरूप दिया, सनातन-धर्मके अन्तस्थ विरोधोंको दूर किया, सब मतोंको एकत्र कर उनमें मेल करनेका यत्न किया, सब कथाओंका एक स्थानमें संग्रह करके उन कथाओंको उचित स्थान देकर भारत ग्रन्थ की शोभा बढ़ाई और सनातन धर्मके उदात्त स्वरूपको लोगोंके मनपर प्रतिबिम्बित करके सनातनधर्मा-वलम्बियोंमें एक नूतन शक्ति उत्पन्न कर देनेका महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कुछ लोग यह समझते हैं कि महाभारत-ग्रन्थमें अनन्त कथाओंका आडम्बर मात्र है, परन्तु यह समझना ग़लत है। निस्सन्देह महाभारत हाथीके शरीरके समान बहुत बड़ा है; परन्तु वह हाथी वैसा ही सुन्दर, सुश्लिष्ट और सुबद्ध भी है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ एक सूत्रसे बना हुआ देख पड़ता है। सनातन-धर्मका विरोधरहित उपदेश

करना ही इस सूत्रका प्रधान उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये आनुषंगिक रीतिसे तत्त्वज्ञान, इतिहास, राजधर्म, नीति आदि अनेक विषयोंका समावेश उसमें किया गया है। परिणाम यह हुआ है कि महाभारत-ग्रन्थ वर्तमान हिन्दू-धर्मकी सब शाखाओंके लिये, अर्थात् शैव, वैष्णव, वेदान्ती, योगी आदि सभी लोगोंके लिये, समान भावसे पूज्य हो गया है। इस महाभारतकी रचना व्यासजीकी अप्रतिम मूल जयरूपी नींव पर की गई है, इसलिये व्यासजीके अप्रतिम कवित्व, तत्वज्ञान और व्यवहार-निपुणताकी स्फूर्त्ति भी सौतिके लिये उत्साहजनक हो गई है। उक्त विवेचनके आधार पर अब हम इस बातका विचार करेंगे कि सौतिने अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भारतसे महाभारत कैसे बनाया।

आरंभमें यह कह देना चाहिये कि इस प्रकार विवेचन करना बहुत कठिन कार्य है। हम पहले कह आये हैं कि व्यासजीके मूल ग्रंथ और वैशम्पायनके भारतमें बहुत अंतर न होगा। परन्तु भारतमें सिर्फ २४००० श्लोक थे और महाभारतमें उनके स्थान पर एक लाख श्लोक हो गये हैं। तब हमें मानना पड़ता है कि यह अधिक संख्या सौतिकी जोड़ी हुई है। परन्तु ऐसा मानते हुए भी, जिन ऐतिहासिक प्रमाणोंका उल्लेख ऊपर किये हुए विवेचनमें है, उनके अतिरिक्त और कोई दृढ़ प्रमाण नहीं दिये जा सकते; इस विषयका विचार साधारण अनुमानसे ही किया जा सकता है। सौतिने जिन भागोंको अपने समयकी प्रचलित बातों और अनेक गाथाओंके आधार पर ग्रन्थमें सम्मिलित कर दिया है, उनके संबंधमें यही मानना चाहिये कि वे भाग व्यासजीके उदात्त मूल ग्रन्थकी स्फूर्त्तिसे ही जोड़े गये हैं। ऐसी अवस्थामें, एक दृष्टिसे, उन भागोंका कर्तृत्व भी व्यासजी को ही दिया जा सकता है। जिस प्रकार कुछ लोग अपने विशिष्ट मतोंको सिद्ध करनेके लिये एकाध प्रक्षिप्त भाग बीचमें ही असम्बद्ध रीतिसे जोड़ देते हैं, उस प्रकारका सौतिका यह कार्य नहीं है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि सौतिके महाभारत-ग्रंथमें प्राचीन-सनातनधर्मके उदात्त स्वरूपका ही विशेष-रूपसे आविष्करण किया गया है; और जो नये भाग जोड़े गये हैं वे मूल ग्रन्थ और गाथाओंके ही आधार पर हैं।

(१) धर्मकी एकता।

भारतको महाभारत बनानेमें सौतिका प्रथम उद्देश्य यह था कि धर्मकी एकता सिद्ध की जाय। यह अनुमान स्पष्ट है कि मूल भारत-ग्रन्थमें श्रीकृष्णकी प्रशंसा अर्थात् विष्णुकी स्तुति अधिक है; परंतु हिन्दू धर्ममें विष्णुके सिवा और भी अन्य देवता उपास्य माने जाते हैं। समस्त महाभारतको सनातनधर्म-ग्रन्थका सर्वमान्य स्वरूप प्राप्त करा देनेके लिये इस बातकी अत्यन्त आवश्यकता थी कि उसमें अन्य देवताओंकी भी स्तुति हो, और वह भी ऐसी हो कि भिन्न भिन्न उपासनाओंमें विरोध न बढ़ने पावे। इसी प्रधान दृष्टिसे सौतिने महाभारतको वर्तमान स्वरूप दिया है। विशेषतः वैष्णव और शैव मतोंका एकीकरण उसने बहुत अच्छी तरह किया है। प्रायः लोग प्रश्न किया करते हैं कि शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व मूल भारतमें थे या नहीं। हम पहले ही कह आये हैं कि जो पर्व बहुत बड़े हैं वे मूल भारतके नहीं हैं, इसलिये सिद्ध है कि ये पर्व सौतिके हैं। परन्तु इन पर्वोंमेंके विषय मूल भारतके ही हैं। हाँ धार्मिक दृष्टिसे सब मतोंका समावेश करनेके लिये सौतिने इन पर्वोंका

बहुत विस्तार कर दिया है। यही कारण है कि महाभारतको धर्मग्रन्थका पूरा स्वरूप प्राप्त हो गया है और उसके बाद बने हुए सब ग्रन्थ उसके वचनोंको स्मृतिके समान प्रमाण मानते हैं। खैर, सनातनधर्मके साथ शैव और वैष्णव मतोंकी एकता करनेके लिये सौतिने महाभारतमें शिवस्तुति-विषयक अनेक आख्यान दिये हैं। इसी उद्देशसे अनुशासन पर्वमें उपमन्युका आख्यान दिया गया है: और वहाँ शङ्करजी की जो स्तुति की गई है वह प्रत्यक्ष श्रीकृष्णके मुखसे ही कराई गई है। उसमें यह वर्णन है कि जांबवतीको पुत्र होनेकी इच्छासे श्रीकृष्णने शंकरकी आराधना की। जिस प्रकार भारतमें विष्णुसहस्र-नाम जोड़ा गया है, उसी प्रकार यहाँ तण्डी द्वारा बतलाये हुए शङ्करके सहस्रनामोंका उपदेश उपमन्युने श्रीकृष्णको किया है: और यह भी कहा गया है कि शिवकी आराधना करके अनेक ऋषियोंने वर प्राप्त किये हैं। जिस मतके अनुसार, सनातन-धर्मावलम्बियोंके शिव, विष्णु और ब्रह्माका एकीकरण करके, धार्मिक भेद मिटा दिये जाते हैं, उसका प्रतिपादन इसी आख्यानमें है। इसमें यह वर्णन पाया जाता है कि परमेश्वरके दाहिने अंगसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई, बायें अंगसे विष्णुकी उत्पत्ति हुई और मध्य भागसे रुद्रकी उत्पत्ति हुई। अगले और पिछले सन्दर्भसे यह बात समझमें आ जाती है कि उपमन्युका यह आख्यान सौति द्वारा नया जोड़ा गया है। इसमें यह भी कहा गया है कि श्रीकृष्णने एक हजार वर्षतक तपश्चर्या की। इससे सिद्ध होता है कि यह आख्यान मूल भारतमें न होगा। भारतमें किसी व्यक्तिकी आयुका परिमाण सौ वर्षके ऊपर नहीं बतलाया गया है, अर्थात् हजार वर्षकी कल्पना पिछले समयकी है। शङ्करकी स्तुतिके लिये, अन्य स्थानोंमें भी, सौतिने अनेक नवीन प्रसङ्गोंका वर्णन किया है। द्रोण पर्वमें, जिस समय अर्जुनने जयद्रथको मारनेकी प्रतिज्ञा की उस समय इस असम्भव कार्यको उसके द्वारा सिद्ध करानेके लिये शंकरसे वरदान प्राप्त कर लेनेकी सम्मति श्रीकृष्णने अर्जुनको दी। अर्जुनने समाधिमें शंकरको प्रसन्न करके उनसे पाशुपतास्त्र प्राप्त कर लिया (अध्याय ८०-८३)। परन्तु किरातार्जुनीयमें दिये हुए वर्णनके अनुसार भी, शंकरसे पाशुपतास्त्र पानेकी कथा वनपर्वमें ही है। इसलिये पाशुपतास्त्रके फिरसे पानेकी यह कथा कुछ चमत्कारिक जान पड़ती है और विश्वास होता है कि सौतिने जान-बूझकर इसे भी जोड़ दिया: क्योंकि इस कथामें साक्षात् श्रीकृष्णको ही शिवस्तुतिका प्रोत्साहक बतलाया है। सारांश, शिवके उपासक श्रीकृष्ण हैं और विष्णुके उपासक शिव हैं, ऐसी मेलकी कथायें जोड़कर सौतिने शैवों और वैष्णवोंके विरोधको हटा देनेका प्रशंसनीय प्रयत्न किया। ऐसे और भी कई आख्यान बतलाये जा सकते हैं। सौप्तिक पर्वमें, जब अश्वत्थामा सोते हुए वीरोंका गला दबानेके लिये जाता है, उस समयका यह वर्णन है कि उसने पहले अपना मस्तक काटकर शङ्करको सन्तुष्ट किया (सौप्तिक पर्व, अध्याय ७)। यहाँ भी शङ्करने कहा है कि—"कृष्ण मेरी भक्ति करते हैं, इसलिये वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।" इस पर्वके अन्तमें लिङ्ग-पूजाकी महिमाका वर्णन किया गया है और श्रीकृष्णके मुखसे शङ्करकी प्रशंसा कराई गई है। तात्पर्य यह है कि स्थान स्थानपर शिव और विष्णुकी एकता सिद्ध करनेका प्रयत्न सौतिने किया है (देखो सौप्तिक पर्व, अध्याय १८)। मोक्ष पर्वमें जो नारायणीय उपाख्यान है वह मूल भारतका नहीं बल्कि सौतिका

जोड़ा हुआ है (अध्याय ३३४-३४८)। इसका संग्रह पाञ्चरात्र-मतसे किया हुआ मालूम पड़ता है। स्वभावतः मूल पाञ्चरात्र-मतमें यह वर्णन होगा कि शङ्कर विष्णुसे छोटे हैं और उनके भक्त हैं; परन्तु सौतिने मतैक्य करनेके प्रयत्नके अनुसार, अपने वर्णनमें, थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया। वह यह है कि जब नारायण और शङ्करके युद्धमें किसीकी भी जय न हुई, तब ब्रह्माने शङ्करकी प्रार्थना करके उन्हें नारायणका भक्त बना दिया। उस समय नारायणने कहा—"जो तुम्हारा भक्त है वह मेरा भी भक्त है। जिसने तुम्हें पहचान लिया उसे मेरा भी ज्ञान हो गया। तुममें और मुझमें कुछ भी भेद नहीं है। तुम्हारे शूलके प्रहारका चिह्न मेरे वक्षस्थल पर अङ्कित है, इसलिये सब लोग मुझे श्रीवत्स कहेंगे; और मेरे हाथ का चिह्न तुम्हारे कण्ठ पर अङ्कित है इसलिये सब लोग तुम्हें श्रीकण्ठ कहेंगे।" इस प्रकार पाञ्चरात्रके मतको भी सौतिने शिव और विष्णुकी एकताकी ओर झुका दिया है।

सौतिने महाभारतके भीष्म पर्व (अध्याय २३) में देवीकी स्तुतिको स्थान दिया है। यथार्थमें यह स्तुति यहाँ न होती तो अच्छा होता। इसका कारण यह है कि लड़नेके लिये उत्सुक अर्जुनको जब दुर्गादेवीने यह वरदान दे दिया कि युद्धमें तेरी जीत होगी, तब आगे चलकर भगवद्गीताके लिये कोई प्रसङ्ग ही नहीं रह जाता। तब तो अर्जुनके मनमें यह शङ्का ही नहीं रह सकती थी कि "यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।" सौतिका कथन है कि श्रीकृष्णकी ही आज्ञासे अर्जुनने इस दुर्गा-स्तोत्रका जप किया था। दुर्गाकी स्तुति अन्य स्थानोंमें भी पाई जाती है। खैर; स्कन्दकी स्तुति और प्रशंसाका भाग सौतिने वन पर्वमें रखा है। इस प्रकार भिन्न भिन्न उपास्य देवताओंको एक ही ग्रन्थमें विरोध-रहित स्थान देकर सौतिने सनातन-धर्मकी एकता करनेका प्रशंसनीय कार्य किया है।

इसीके साथ भिन्न भिन्न मतों और मोक्ष-मार्गोंका एकीकरण करनेका यत्न भी सौतिको करना पड़ा है। उस समय भिन्न भिन्न उपासनाओंके साथ भिन्न भिन्न तत्त्वज्ञानोंका भी प्रचार हो रहा था। इन विषयोंके सम्बन्धमें जो ग्रन्थ इस समय प्रमाणभूत माने जाते हैं वे उस समय नहीं थे। इस बातका उल्लेख पहले किया जा चुका है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि उन विषयोंका उपदेश अन्य ग्रन्थोंके द्वारा मुखसे किया जाता था और उनमें पारस्परिक विरोध भी बहुत ज़ोर शोरसे बढ़ रहा था। सौतिके लिये इस बातकी आवश्यकता थी कि इस विरोधका नाश किया जाय। इस प्रकार वेदान्त, सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत आदि अनेक मतोंका एकीकरण करना उसके लिये आवश्यक था। यहाँ यह प्रश्न अत्यन्त महत्वका है, कि भगवद्गीता मूल भारतकी है या सौतिकी बढ़ाई हुई है। यह बात सिद्ध हो चुकी है कि कमसे कम दो ग्रन्थोंका यानी भारत और महाभारत का होना हमेशा ही मानना पड़ता है; और दो ग्रन्थकारोंका यानी व्यास-वैशम्पायन तथा सौतिका होना भी अवश्य मानना पड़ता है। इतना करने पर भी भगवद्गीता-सम्बन्धी प्रश्न ज्योंका त्यों बना रहता है। हमारी रायमें भगवद्गीता मूल महाभारतकी है। उसे सौतिने किसी दूसरे स्थानसे लेकर महाभारतमें घुसेड़ नहीं दिया है। इस विषयका विस्तृत विवेचन अन्तमें किया जायगा। पाञ्चरात्र और पाशुपत दोनों मतोंका प्रचार गीताके समय नहीं था।

उस समय वेदान्त, सांख्य और योग यही तीन तत्वज्ञान प्रचलित थे और इन्हींके एकीकरणका प्रयत्न भगवद्गीताने किया है। उसी प्रयत्नको सौतिने अपने समयमें जारी रक्खा और उक्त दो नये मतोंके विस्तार भी उसने अपने प्रयत्नमें शामिल कर लिये। इसके लिये सौतिने महाभारतमें अनेक उपाख्यान और प्रकरण जोड़ दिये हैं। पूर्वप्रचलित वेदान्त, सांख्य और योग इन तीनों मतोंका भी आविष्करण, उनकी उन्नतिके अनुसार, उसने अपने ग्रन्थमें किया है। ऐसे प्रयत्नका नमूना "अनुगीता" है। यह सौतिका बनाया हुआ नया प्रकरण है। इसके सिवा, सांख्य, योग और वेदान्त-सम्बन्धी मतोंका विस्तार-सहित प्रतिपादन करनेवाले अनेक अध्याय स्थान स्थान पर, विशेषतः शान्ति-पर्वमें, पाये जाते हैं। पूर्व कथनके अनुसार पाञ्चरात्र-मतका आविष्करण नारायणीय उपाख्यान जोड़कर किया गया है। आश्चर्यकी बात है कि महाभारतमें पाशुपत-मतका उद्घाटन सौतिने विस्तार-सहित नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं कि यह मत उस समय प्रचलित था और सौतिने उसका स्पष्ट रीतिसे उल्लेख भी किया है। सौतिके महाभारतके समय जो मत प्रचलित थे उनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है:—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥
उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः।
पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयं॥

(शां० अ० ३४९. ६४-६८)

इस प्रकार पाशुपत और पाञ्चरात्र दो भिन्न मतोंका स्पष्ट उल्लेख महाभारतमें किया गया है। परन्तु सौतिने आगे चलकर कहा है कि ये सब एक ही नारायणके उपासना-मार्ग हैं:—

सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते।
यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः॥

अर्थात्—"हे श्रेष्ठ नृप, यद्यपि इतने भिन्न भिन्न पन्थ हैं, तथापि इन सबमें एक बात समान देख पड़ती है। वह यह है कि इन सब मतोंमें आगम और ज्ञानके अनुसार जो परम-गति निश्चित है वह प्रभु नारायण ही है।"

सांख्य, योग आदि भिन्न भिन्न तत्त्वज्ञानोंमें जो विरोध था उसको हटाकर इन सब मतोंमें सौतिके महाभारतने एकता कैसे स्थापित की, इस बातकी विस्तार-सहित चर्चा करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। आगे चलकर इस विषयका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा। सनातन धर्मके अन्य और आवश्यक अङ्ग भी हैं; जैसे यज्ञ, याग, तीर्थ, उपवास, व्रत, दान इत्यादि। इनका भी विस्तृत वर्णन महाभारतमें स्थान स्थानपर सौतिने किया है। यह वर्णन विशेषतः अनुशासन पर्वमें पाया जाता है। हिंसाका विषय यज्ञके सम्बन्धमें बहुत महत्त्वका है। सनातन-धर्मावलम्बियोंमें बौद्धोंके पूर्वसे ही यह वादविवाद हो रहा था कि यज्ञमें पशुका वध किया जाय या नहीं। वैदिक मतके अभिमानी लोग पशुवधको आवश्यक मानते थे। सौतिने दोनोंके मतोंको मान्य समझकर महाभारतमें उनको स्थान दे दिया है। इस सम्बन्धमें उसने एक पूरा अध्याय ही लगा दिया है। जब युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञका पूरा पूरा वर्णन हो चुका, तब सम्भव है कि उसमें की हुई हिंसाका वर्णन सर्वसाधारणको कुछ खटकने लगा हो। "अनेक देवताओंके उद्देशसे अनेक पशु-पक्षी खम्भेसे बाँधे गये; उत्कृष्ट मुख्य अश्वरत्नके अति-

रिक तीन सौ पशु यज्ञस्तम्भ से बाँधे गये थे" इत्यादि वर्णन सुनकर अहिंसा-मत-वादी लोगोंको बहुत बुरा लगता होगा। यह प्रवृत्ति बौद्ध और जैन धर्मोंके उदय-के अनन्तर और भी अधिक बढ़ गई होगी। यहाँ जो नकुलकी कथा दी गई है उसका उद्देश हिंसायुक्त अश्वमेधकी निन्दा करना ही है। एक ऋषिने अनाजके कुछ दाने भोजनके लिये चुन लिये थे। उसी-का दान उसने एक विप्र अतिथिको कर दिया और स्वयं प्राणत्याग किया। नकुल-ने कहा—"उस सक्थु यज्ञमें मेरा मस्तक सुवर्णमय हो गया है और अब यह जानने-के लिये कि मेरा शेष अङ्ग युधिष्ठिरके यज्ञमें सुवर्णमय होता है या नहीं, मैंने यहाँ भी लोट-पोट की।" परन्तु उसका शरीर सोनेका नहीं हुआ, इसलिये अन्तमें यज्ञ-समाप्तिके समय उसने यज्ञकी निन्दा की। इस कथामें प्रत्यक्ष रीतिसे यह प्रश्न उठाया गया है कि यज्ञ हिंसायुक्त होना चाहिये या नहीं। आगे यह वर्णन है कि वैशम्पायनने वसुके शापकी कथा सुनाई और ऋषियोंने अहिंसायुक्त यज्ञके ही पक्षका स्वीकार किया। (अ० ६०) इसके बादके अध्यायमें अगस्त्यके यज्ञकी कथा है। इसमें कहा गया है कि बीजसे ही यज्ञ हुआ करता था: और जब इन्द्रने क्रोधसे वर्षा बन्द कर दी तब अगस्त्यने प्रतिज्ञा की कि मैं अपने सामर्थ्यसे बीज उत्पन्न करूँगा। इससे स्पष्ट है कि उक्त नकुल-आख्यान और अध्याय दोनों मूल भारतके अनन्तरके होंगे। भारत-कालमें अहिंसा-पक्ष कुछ इतना प्रबल न था। आगे चलकर जब यह पक्ष प्रबल होने लगा तब ये कथाएँ बनी होंगी और सौतिने उन्हें अपने महाभारतमें शामिल कर दिया होगा। यह पक्ष बहुधा दक्षिणका होगा क्योंकि अगस्त्य दक्षिणके ऋषि हैं। परन्तु इन कथाओंसे वैदिक हिंसाभिमानी पक्षको क्रोध आया। तब सौतिने अन्तिम अध्यायमें यह जोड़ दिया कि नकुलने जो निन्दा की है वह क्रोधको शाप होनेके कारण उस स्वरूपमें क्रोधके द्वारा की गई है। सारांश, यद्यपि यहाँ दोनों पक्षोंका वर्णन किया गया है, तथापि निर्णय कुछ भी देख नहीं पड़ता। मालूम होता है कि सौतिने दोनों पक्षोंको राज़ी रखनेके लिये यह यत्न किया है।

(२) कथा-संग्रह।

महाभारतका विस्तार करनेमें सौति-का दूसरा उद्देश कथाओंका संग्रह करना देख पड़ता है। अनेक राजाओं और ऋषियोंकी जो कथाएँ लोगोंमें अथवा छोटी छोटी गाथाओंमें इधर उधर बिखरी हुई थीं, उन सबका किसी एक स्थानमें संग्रह किया जाना अत्यन्त आव-श्यक था। इन कथाओंसे सनातन-धर्मको एक प्रकारका उत्तेजन मिल सकता था। इसके अतिरिक्त, यह भी आवश्यक था कि प्राचीन ऐतिहासिक बातोंको एकत्र करके सनातनधर्मियोंके पूर्वजोंके सम्बन्धमें अभिमान जाग्रत कराया जाय। सम्भव है कि भारतीय-कथाके सम्बन्धमें भी अनेक भिन्न भिन्न बातें पीछेसे प्रचलित हुई हों। इन सब बातोंको एकत्र कर सौतिने महाभारतको समस्त प्रचलित कथाओंका एक बृहत् भाण्डागार बना देनेका प्रयत्न किया है। बौद्ध और जैन लोग हिन्दुस्थानके प्राचीन प्रसिद्ध पुरुषों-की कथाओंको अपने अपने धर्मके स्वरूप में मिला देनेका जो प्रयत्न कर रहे थे, उसमें रुकावट डालनेका काम सौतिने अपने महाभारतकी कथाओं द्वारा अच्छी तरहसे किया। इस प्रकार जिन आख्यानों और उपाख्यानोंको सौतिने महाभारतमें शामिल किया है, उन सबको अलग अलग

करके यहाँ बतला देना कठिन है। यह नहीं कहा जा सकता कि उन सबकी रचना बिलकुल नये सिरसे की गई हो। ये सब कथाएँ प्राचीन हैं, उस समयके लोगोंकी समझमें वे पहलेसे ही प्रचलित थीं और राष्ट्रीय भावोंके साथ उनका घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था, इसी लिये महाभारत जैसे राष्ट्रीय ग्रन्थमें उनका संग्रह किया जाना बहुत आवश्यक था। ऐसी कथाओंके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(१) षोड़श राजीय उपाख्यान द्रोण-पर्वमें है। यह एक प्राचीन आख्यान है। इसका मूल स्वरूप शतपथ ब्राह्मणमें देख पड़ता है। आर्यावर्त्तमें अश्वमेध करनेवाले जो प्रसिद्ध राजा हो गये हैं, उनकी फेहरिस्त इसमें दी गई है और उनका उत्साहजनक वर्णन भी इसमें किया गया है। सम्भव है कि यह आख्यान मूल भारतमें भी हो; परन्तु इस बातकी अधिक सम्भावना है कि यह पीछेसे सौति द्वारा शतपथसे लेकर जोड़ा गया हो।

(२) रामायणकी पूरी कथा वन पर्वके रामोपाख्यानमें है। निस्सन्देह यह पर्व सौति द्वारा जोड़ा गया है, क्योंकि इतने बड़े उपाख्यानका मूल भारतमें होना सम्भव नहीं। इस पूरे उपाख्यानको पढ़ते समय यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इसमें किसी अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थका संक्षिप्त स्वरूप दिया गया है। महाभारतमें वाल्मीकिका स्पष्ट उल्लेख अन्य स्थानोंमें पाया जाता है; परन्तु जिस ग्रन्थका यह संक्षिप्त स्वरूप है वह ग्रन्थ वर्तमान वाल्मीकि-रामायण नहीं है, बल्कि निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसका पहलेका मूल स्वरूप होगा। इसके कुछ कारण यहाँ बतलाये जा सकते हैं। हम पहिले कह चुके हैं कि वर्तमान वाल्मीकि-रामायणका समय ई० शकके पूर्व पहिली सदी और महाभारत का समय शकके पूर्व तीसरी सदी है। इस कारणके सिवा इस उपाख्यानके आन्तरिक प्रमाणोंसे भी यही बात सिद्ध होती है। यह बात सब लोगोंकी समझमें आ सकती है, कि ज्यों ज्यों समय अधिक बीतता जाता है, त्यों त्यों किसी कथा-भागमें अधिकाधिक असम्भव दन्तकथाओं-की भर्ती होने लगती है। इसलिये यह साधारण प्रमाण माना जा सकता है, कि जिस कथाभागमें अलौकिक चमत्कारोंकी कमी है वह प्राचीन है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो मालूम होगा कि रामोपाख्यानके कथाभागमें वर्तमान रामायणके कथा-भागसे कम अलौकिक चमत्कार हैं। उदा-हरणार्थः—(१) पहिली बात यह है कि श्री-रामचन्द्रके जन्मके लिये ऋष्यश्रृङ्ग द्वारा की हुई पुत्रेष्टिका वर्णन इस आख्यानमें नहीं है। (२) रावण और कुबेरका सम्बन्ध भिन्न रीतिसे बतलाया गया है। इस आख्यानमें कहा गया है कि दुन्दुभि नामक गन्धर्व-स्त्री मन्थरा हो गई; परन्तु आश्चर्य है कि रामायणमें यह बात नहीं है। जटायुकी भेंटका वर्णन सरल और भिन्न रीतिसे दिया गया है। (३) जब श्री-रामचन्द्रजीने समुद्रके किनारे दर्भासन पर बैठकर समुद्रका चिन्तन किया, उस समय समुद्रकी भेंट स्वप्नमें हुई, साक्षात् नहीं। (४) लक्ष्मणको शक्ति लगने और हनुमान द्वारा द्रोणागिरिके लाये जानेकी कथा इस आख्यानमें नहीं है। (५) कुम्भ-कर्णको लक्ष्मणने मारा है। (६) इन्द्रजित्को भी उन्होंने मारा है; परन्तु इन्द्रजित्के अदृश्य होनेवाले रथकी कथा, अर्थात् रथ-की प्राप्तिके लिये कुम्भिलाका यज्ञ करने जानेकी कथा, इस अख्यानमें नहीं है। यहाँ सबसे अधिक महत्त्वकी बात यह है कि रामने रावणको ब्रह्मास्त्रसे मारा; यहाँ वह

वर्णन नहीं है कि रावणके मस्तक कटकर बार बार उत्पन्न हो जाया करते थे और रावणके गलेमें अमृतका कुण्ड था। अस्तु। यहाँ थोड़ा सा विषयान्तर हो गया है; परन्तु कहनेका तात्पर्य यही है कि वन पर्वका रामोपाख्यान मूल भारतका नहीं है, उसे सौतिने मूल वाल्मीकि रामायण-से लिया है।

(३) शल्यपर्वमें जो सरस्वती-आख्यान है वह तो स्पष्ट रूपसे सौतिका मिलाया हुआ है। आख्यानका वर्णन इस प्रकार है। भीम और दुर्योधन दोनों गदा-युद्धके लिये तैयार हो गये हैं और भारती युद्ध-का अत्यन्त महत्त्वका अन्तिम दृश्य आरम्भ हो रहा है। इतनेमें सरस्वती-यात्रासे लौट कर बलराम वहाँ आ पहुँचे। बस, गदा-युद्धका वर्णन एक ओर पड़ा रहा और जनमेजयके प्रश्न करने पर वैशम्पायन सरस्वती नदीके महत्त्व और यात्राका वर्णन करने लगे। इसके लिये स्थान भी कुछ थोड़ा नहीं दिया गया है। युद्ध-वर्णन-के समय किये हुए इस विषयान्तरमें लगभग १६ अध्याय (३५ से ५४ तक) लगा दिये गये हैं और इसीमें दो तीन उपकथाएँ भी आ गई हैं। यहाँ स्कन्दके अभिषेक और तारकासुरके युद्धका वर्णन है। सम्भव है कि यहाँ सौतिको इस सरस्वती-उपाख्यानकी आवश्यकता हुई हो; क्योंकि जिस सरस्वतीकी महिमा प्राचीन समयसे हिन्दुस्थानमें बहुत मानी गयी है उसका वर्णन महाभारतमें कहीं न कहीं अवश्य होना चाहिये था। परन्तु स्थान और प्रसङ्गकी दृष्टिसे देखा जाय तो कहना पड़ता है कि इस उपाख्यानको यहाँ जोड़नेमें सौतिको सफलता प्राप्त नहीं हुई।

(४) विश्वामित्रके ब्राह्मण होनेका आख्यान।

(५) पौष्य और पौलोमी उपाख्यान भी, जिन्हें सौतिने आरम्भमें जोड़ा है, इसी प्रकारके हैं। ये बहुत प्राचीन दन्त-कथाओंकी बातें हैं और इन्हें संग्रह-की दृष्टिसे सौतिने अपने ग्रन्थमें स्थान दिया है।

(६) नल और दमयन्तीका आख्यान। आर्योंकी राष्ट्रीय दन्त-कथाओंमें यह एक अत्यन्त मनोहर आख्यान है। इस बात-का निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह आख्यान मूल महाभारतका है अथवा नहीं; परन्तु जब इसकी लम्बाई पर ध्यान दिया जाता है, तब प्रतीत होता है कि यह मूल भारतका न होगा। इस आख्यानमें वर्णित कथा इतनी सुन्दर, मनोहर और सुरस है कि उसे महाकवि व्यास-कृत ही कहनेको जी चाहता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह कथा पहले छोटी होगी। इसमें ऐसा कोई वर्णन नहीं पाया जाता जो मर्यादा, शक्यता और सम्बन्धके परे हो। इस दृष्टिसे तो यही मालूम होता है कि यह कथा मूल भारतकी होगी। यही हाल सावित्री आख्यानका है। यह अत्यन्त प्राचीन आख्यान मूलभारतमें होगा। इसका विस्तार भी बहुत कम है। नल और दमयन्तीकी कथाके समान यह कथा भी अत्यन्त मोहक और उदात्त नीतिकी पोषक है। इन दोनों आख्यानोंके सम्बन्धमें निर्णयात्मक दृष्टिसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों आख्यान राष्ट्रीय हैं।

उक्त विवेचनसे प्रकट होगा कि भारत-इतिहाससे विभिन्न जो दन्तकथाएँ प्रचलित थीं उनको महाभारतमें शामिल कर देनेका यत्न सौतिने किया है। इसी प्रकार व्यास और वैशम्पायनके समयसे लेकर सौतिके समय तक, भारती इति-हासके ही सम्बन्धमें जो अनेक दन्तकथाएँ

प्रचलित हो गई थीं, उन्हें भी इस ग्रन्थमें स्थान देना आवश्यक था। इन सब कथाओं का वर्णन सौतिने स्थान स्थान पर किया है और इन्हींके आधार पर उसने अपने ग्रन्थमें भारती कथाकी रचना की है। अब इसका विचार किया जायगा कि ऐसी कथाएँ कौन सी हैं। (१) आस्तिककी कथा इसी प्रकारकी है। यह बात हर एक विवेचकके ध्यानमें आ सकती है कि यथार्थमें नाग मनुष्य-जातिके ही होंगे; परन्तु समयके हेर फेरसे लोगोंकी कल्पनामें यह अर्थ हो गया कि वे प्रत्यक्ष नाग यानी सर्प थे। परीक्षितकी हत्या करनेवाला तक्षक कोई मनुष्य रहा होगा और जनमेजयने जो सर्पसत्र किया वह कुछ सचमुच सर्पोंका सत्र नहीं था, किन्तु नाग जातिके मनुष्योंका संहार करनेका प्रयत्न था। परन्तु जब एक बार सर्प-सम्बन्धी कल्पना प्रचलित हो गई, तब उसका त्याग कर देना संभव नहीं था; इसी लिये वर्त्तमान उपाख्यानसे यह बात देख पड़ती है कि तक्षक तथा अन्य बचे हुए नागोंकी रक्षा आस्तिक ने किस प्रकार की। (२) अंशावतार-वर्णन की कथा भी इसी प्रकारकी है। इतिहाससे पता लगता है कि प्रायः सब प्राचीन लोगोंमें यह कल्पना प्रचलित हो गई थी कि प्रत्येक ऐतिहासिक व्यक्ति किसी न किसी देवताका अवतार या पुत्र है। इसी कल्पनाके अनुसार महाभारतमें भी भारती वीर पुरुषोंकी उत्पत्ति बतलाई गई है। आदिपर्वके अध्याय ५६ और ६६ में सौतिने प्रचलित विचारके अनुसार अंशावतारका वर्णन किया है। मूलग्रन्थमें कहीं कहीं इसके विरुद्ध भी कुछ विधान पाये जाते हैं। इससे जान पड़ता है कि अंशावतारकी यह कल्पना नूतन है। (३) पाँच पतिके साथ द्रौपदी के विवाहकी कथा भी ऐसी ही है। उसका समर्थन करनेके लिये प्राचीन समयमें भिन्न भिन्न कथाएँ प्रचलित हो गई होंगी और इन सब कथाओंको अपने ग्रन्थमें शामिल करना सौतिको आवश्यक प्रतीत हुआ होगा। इन सब दन्तकथाओंके लिये यह कल्पना मूल आधार है कि द्रौपदी स्वर्गलक्ष्मीका अंशावतार है। (४) दुर्योधनके विषयमें कुछ चमत्कारिक कथाओंका प्रचलित हो जाना असम्भव न था। चित्ररथ दुर्योधनको पकड़कर ले गया, यह कथा इसी प्रकारकी है। यह कल्पना कुछ विलक्षण सी जान पड़ती है कि जब दुर्योधन छूटकर आया तब वह प्रायोपवेशन करने लगा और कृत्या उसको पाताल लोकमें ले गई (वन पर्व, अध्याय २४१ और २५०)। (५) दुर्वासा ऋषि द्वारा पांडवोंके सताये जानेकी कथा भी पीछेसे बनी है और उसे सौतिने महाभारतमें स्थान दे दिया है (अध्याय २६१)। (६) युद्ध के समय सेनापतिका पहिलेसे ही यह कह देना आश्चर्यकारक प्रतीत होता है कि—"मैं अमुक अमुक काम करूँगा" और "मैं अमुक रीति से मरूँगा"। इसी प्रकार युद्ध-सम्बन्धी पराक्रमका वर्णन अतिशयोक्तिसे किया गया है। उदाहरणार्थ, यह कल्पना पीछेसे की हुई जान पड़ती है कि भीमने द्रोणके रथको सात बार उठाकर फेंक दिया। अर्जुनके रथके सम्बन्धमें जो कल्पना है वह भी इसी प्रकार पीछेसे की गई होगी। यह दन्तकथा सचमुच चमत्कारिक है कि ज्योंही श्रीकृष्ण अर्जुनके दिव्य रथसे नीचे उतरे त्योंही वह जलकर भस्म हो गया; क्योंकि श्रीकृष्ण तो प्रति दिन रथसे नीचे उतरा ही करते थे। चमत्कारयुक्त ऐसी कथाएँ महाभारतमें बहुत हैं। इस बातका निर्णय करना कठिन है कि इन सब कथाओंमें

से मूल कौनसी है और सौतिके समय कौनसी नयी कथाएँ प्रचलित हुई थीं।

(३) ज्ञान-संग्रह।

महाभारत में दन्तकथाओंके संग्रहका सौतिका उद्देश जैसे स्पष्ट देख पड़ता है, वैसेही उसने सब प्रकारके ज्ञानका भी संग्रह इस ग्रन्थमें किया है। इसमें भी संदेह नहीं कि राजनीति, धर्मशास्त्र, तत्वज्ञान, भूगोल, ज्योतिष आदि शास्त्र-विषयोंकी बातें एकत्र ग्रथित करनेका उसका उद्देश था। उदाहरणार्थ, भूगोल-सम्बन्धी जानकारी और भारतवर्षके भिन्न भिन्न देशों तथा नदियोंकी जानकारी भीष्म पर्वके आरम्भमें दी गई है। धृतराष्ट्र ने सञ्जयसे पूछा कि जब कि कौरव और पांडव भूमिके लिये युद्ध करनेवाले हैं, तब मैं जानना चाहता हूँ कि यह भूमि कितनी बड़ी है और समस्त भूलोक किस तरहका है। सचमुच यह प्रश्न ही चमत्कारिक है। क्या यह आश्चर्य नहीं है कि युद्ध सम्बन्धी बातोंकी चर्चा न कर धृतराष्ट्र कुछ और ही बातें जानना चाहते हैं? भूगोल सम्बन्धी जानकारीका कहीं न कहीं दिया जाना आवश्यक था, इसलिये सौतिने उसको यहीं शामिल कर दिया है। यहाँ पूर्वापार-सम्बन्धका विच्छेद भी हो गया है। बारहवें अध्यायके अन्तमें धृतराष्ट्र और सञ्जय परस्पर सम्भाषण कर रहे हैं; परन्तु अगले अध्यायके आरम्भमें ही सञ्जय युद्ध-भूमिसे घबराता हुआ लौट आता है और भीष्मके मारे जानेका हाल सुनाता है। परन्तु इस बातका पता भी नहीं कि सञ्जय युद्ध भूमिपर कब गया था। दूसरा उदाहरण सभापर्वके "कच्चित्" अध्यायका है। युधिष्ठिर सभामें बैठे हैं; वहाँ नारद ऋषि आये और उन्होंने राज्य-प्रबन्धके सम्बन्धमें युधिष्ठिरसे कई प्रश्न किये; जैसे—"तुम अपने सैनिकोंको समय पर वेतन देते हो न? प्रतिदिन सबेरे उठकर राज्यके आय-व्ययकी जाँच करते हो या नहीं?" इन सब प्रश्नोंसे जान पड़ता है कि मानों नारद युधिष्ठिरकी परीक्षा ही ले रहे हैं। इस अध्यायमें उत्तम राज्य-प्रबन्धके सब नियम बड़ी मार्मिकताके साथ एक स्थानमें ग्रथित किये गये हैं। इसी प्रकार ज्योतिष-सम्बन्धी बातें वनपर्व और शान्तिपर्वमें दी गई हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ इन सब बातोंकी कोई विशेष आवश्यकता थी। जब भीम और हनुमानकी भेंट हुई तब भीमने चतुर्युग सम्बन्धी बातें पूछीं और हनुमानने उनका वर्णन किया। सांख्य और योग तत्वज्ञानोंके मतोंका वर्णन स्थान स्थान पर, विशेषतः शान्ति पर्वमें, विस्तार-सहित और बार बार दिया गया है। वक्तृत्वशास्त्र (Rhetoric) सम्बन्धी कुछ तत्त्व सुलभा और जनकके सम्वादमें बतलाये गये हैं। वे सचमुच मनोरञ्जक हैं। न्यायशास्त्रके भी कुछ नियम इसी सम्वादसे निष्पन्न होते हैं। सारांश, सौतिने अपने ग्रन्थमें अनेक शास्त्र-विषयक बातोंको एकत्र करनेका प्रयत्न किया है।

(४) धर्म और नीतिकी शिक्षा।

सौतिने महाभारतमें सनातन-धर्मका पूर्ण रीतिसे उद्घाटन करनेका यत्न किया है। जैसा कि हमने पूर्वमें कहा है, इसी सबबसे, यही माना जाता है कि महाभारत एक धर्मशास्त्र अथवा स्मृति है। इसमें स्थान स्थानपर सनातन-धर्मके मुख्य तत्त्व बतलाये गये हैं। इन तत्त्वोंका विस्तार मुख्यतः अनुशासन और शान्तिपर्वमें पाया जाता है। अन्य स्थानोंमें भी इसी विषयकी चर्चा की गई है। उदाहरणार्थ, आदि पर्वमें जो उत्तर-ययाति आख्यान है (अध्याय

८६-६३), वह पीछेसे सौतिने जोड़ा है। इसमें जो श्लोक हैं वे बड़े वृत्तके हैं और समस्त आख्यान भी मुख्य कथासे सम्बद्ध नहीं है। परन्तु इसमें सनातन-धर्मके तत्त्वोंका वर्णन संक्षेपमें और मार्मिक रीतिसे किया गया है; इसलिये यह आख्यान अभ्यास करने योग्य है। नीतिके तत्त्व भी स्थान स्थानपर समझा दिये गये हैं। इस बातका उदाहरण विदुरनीति है। उद्योग पर्व (अध्याय ३२-३६) में विदुरका जो सम्भाषण है वह पूर्वापर कथासे विशेष सम्बद्ध नहीं है, तथापि विदुर-नीतिके अध्याय बहुत ही मार्मिक हैं और व्यवहार-चातुर्यसे भरे हैं। सारांश, धर्म और नीतिका उपदेश इस ग्रन्थमें बार बार अनेक स्थानोंमें किया गया है; इसलिये इस ग्रन्थको अपूर्व महत्त्व प्राप्त हो गया है।

(५) कवित्व।

महाभारत न केवल इतिहास और धर्मका ही ग्रन्थ है, किन्तु वह एक उत्तम महाकाव्य भी है। यह बात प्रसिद्ध है कि सब संस्कृत कवियोंने व्यास महर्षिको आद्य कवि वाल्मीकिकी बराबरीका स्थान दिया है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि व्यासजीके मूल भारतके रसमय कवित्वकी स्फूर्तिसे प्रेरित होकर सौतिने भी अपनी काव्य-शक्तिको प्रकट करनेके लिये अनेक अच्छे अच्छे प्रसङ्ग साध लिये हैं। सृष्टि-वर्णन, युद्ध-वर्णन और शोक-प्रसङ्गही कविकी स्फूर्तिका प्रदर्शन करनेके लिये प्रधान विषय हुआ करते हैं। सौतिने महाभारतमें युद्धके वर्णनोंको बहुत ही अधिक बढ़ा दिया है, यहाँतक कि कभी कभी इन वर्णनोंसे पाठकोंका जी ऊब जाता है। सृष्टि-सौन्दर्यके वर्णनको भी सौतिने स्थान स्थान पर बहुत बढ़ा दिया है। विशेषतः वन पर्वमें दिये हुए हिमालय पर्वतके दृश्योंके वर्णन और गन्धमादन पर्वतके वर्णन ध्यान देने योग्य हैं। शोक-वर्णनमें स्त्रीपर्व प्रायः सबका सब सौतिका होना चाहिये। इसमें कविने यह वर्णन किया है कि दिव्य-दृष्टिकी प्राप्तिसे गान्धारी भारती-युद्धकी समस्त भूमिको देख सकी और समर-भूमिमें मरे हुए वीरोंकी स्त्रियाँ अपने अपने पतिके शवको गोदमें उठाकर शोक कर रही हैं। यह चमत्कारिक वर्णन महाकविके लिये शोभादायक नहीं है। गान्धारीके मुखसे इस प्रकार शोक-वर्णन कराना अयोग्य जान पड़ता है। यह भी सम्भव नहीं कि अठारह दिनतक युद्धके जारी रहनेपर, जिन वीरोंके शव इधर उधर पड़े थे वे पहचाने जा सकें। जब इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि भारती-युद्ध-भूमि किसी साधारण युद्ध-भूमिके समान मर्यादित न होकर कई कोसोंकी दूरीतक फैली हुई थी, तब कहना पड़ता है कि यह सारा दृश्य असम्भव है। युद्ध-भूमिमें स्त्रियोंका जाना भी अनुचित जान पड़ता है। काव्यालंकार-ग्रन्थमें उदाहरणके तौर पर दिया हुआ "**अयं स रशनोत्कर्षी**" वाला प्रसिद्ध श्लोक भी इसी स्त्री-पर्वमें पाया जाता है और आधुनिक कवियोंके अश्लील वर्णनके नमूनेका है। स्पष्ट रूपसे जान पड़ता है कि यह श्लोक सौतिका ही होगा, वह महाकवि व्यासका नहीं हो सकता। युद्ध-भूमिमें पड़े हुए वीरोंके जिन मृत शरीरोंको हिंस्र पशुओं और पक्षियोंने नोचकर छिन्न भिन्न कर डाला है, वे सुन्दर और वर्णनीय कैसे हो सकते हैं? युद्धमें बालवीर अभिमन्युके काम आनेपर, चार पाँच दिनके बाद, उसका मुख मनोहर और प्रफुल्लित कैसे दिखाई दे सकता है? और उसकी बाल-स्त्री उस मुखका चुम्बन कैसे कर सकती है? सारांश, यह समूचा स्त्री पर्व सौतिने नये सिरसे रचा है और

वह अनेक अप्रयोजक दृश्यों तथा कल्पनाओंसे भरा है। इतना होनेपर भी, कवित्वकी दृष्टिसे, वह कुछ छोटे दर्जेका नहीं है। सौतिकी कवित्व-शक्ति यद्यपि व्यासजीकी शक्तिके समान न हो, तो भी वह बहुत ऊँचे दर्जेकी है। यह बात विराट पर्वमें पाये जानेवाले अनेक मनोहर वर्णनोंसे सिद्ध है। परन्तु स्त्री-पर्वके समान ही, मनुष्य-स्वभावकी दृष्टिसे वहाँके दृश्य भी असम्भव प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, उत्तर एक डरपोक बालक था; जब वह भागा चला जाता था, तब अर्जुनने उसके केश पकड़कर उसे पीछे लौटाया; परन्तु आश्चर्यकी बात है कि वही बालक आगे चलकर एक बड़ा भारी कवि बन जाता है और पाँच पांडवोंके पाँच धनुष्योंका वर्णन अत्यन्त चित्ताकर्षक रीतिसे करता है! और जब इस बातपर ध्यान दिया जाय कि इस वर्णनमें कुछ कूट श्लोक भी हैं, तो स्पष्ट कहना पड़ेगा कि यह सब रचना सौतिकी ही है। यहाँ यह प्रश्न विचार करने योग्य है कि कूट श्लोकोंकी रचना सचमुच किसने की होगी। जब हम इस बातपर ध्यान देते हैं कि केवल शब्दालंकारोंसे अपने काव्यको विभूषित करनेकी प्रवृत्ति प्रायः अत्युत्तम कविमें नहीं होती, तब कहना पड़ता है कि ये कूट श्लोक सौतिके ही होंगे। व्यासजीके मूल-भारतमें कहीं कहीं शब्द-चमत्कृतिका पाया जाना कुछ असम्भव नहीं है; परन्तु इसका परिमाण कुछ अधिक न होगा। कर्णपर्वके ९० वें अध्यायके अन्तमें शार्दूलविक्रीड़ित वृत्तका एक श्लोक है। उसमें 'गो' शब्दका भिन्न भिन्न अर्थोंमें बार बार उपयोग करके उसे कूट श्लोक बना दिया है। यह तो सौतिका भी न होगा। जान पड़ता है कि शब्द-चित्र-काव्यकी रचना करनेवाले किसी दूसरे कविने इस श्लोकको पीछेसे यहाँ घुसेड़ दिया है। यद्यपि कूट श्लोकोंकी ८८०० संख्या गर्वोक्ति और अतिशयोक्तिसे भरी देख पड़ती है, तथापि महाभारतमें ऐसे श्लोकोंकी कुछ कमी नहीं है। इसका कुछ अन्दाज़ नीचेके विवेचनसे किया जा सकता है।

महाभारतमें कहीं कहीं एकाध शब्दका प्रयोग ऐसा हुआ है कि उसका अर्थ बहुत गूढ़ है, अथवा उसका अर्थ सरल रीतिसे समझमें नहीं आता और मनमें कुछ दूसरा ही भ्रामक अर्थ उत्पन्न कर देता है। इससे यथार्थ ज्ञानमें रुकावट होती है। शान्ति पर्वका अवलोकन करते समय थोड़े ही अध्यायोंमें ऐसे श्लोक हमें देख पड़े। वे नीचे दिये जाते हैं। आशा है कि ध्यानपूर्वक पढ़नेवालोंको इनसे कुछ लाभ होगा।

१-**चतुर्थो**पनिषद्धर्मः साधारण इति स्मृतिः। संसिद्धैः साध्यते नित्यं ब्राह्मणैर्नियतात्मभिः॥ (शान्ति० अ० १७०, ३०)

२-**श्वेतानां** यतिनां चाह एकान्तगतिमव्ययाम्॥ (शान्ति० अ० ३४६)

३-**सेवाश्रितेन** मनसा वृत्तिहीनस्य शस्यते। द्विजातिहस्तान्निर्वृत्ता न तु तुल्यात्परस्परात्॥ (शान्ति० अ० २६१)

४-यः **सहस्राण्यनेकानि** पुंसामावृत्य दुर्दृशः। तिष्ठत्येकः **समुद्रान्ते** स मे गोप्तास्तु नित्यशः॥ (शान्ति० अ० २८४)

५-गृहस्थानां तु सर्वेषां **विनाश**मभिकांक्षिताम्। निधनं शोभनं तात पुलिनेषु क्रियावताम्॥ (शान्ति० अ० २६७)

६-माता पुत्रः पिता भ्राता भार्या मित्रजनस्तथा। अष्टापदपदस्थाने **दक्षमुद्रेव** लक्ष्यते॥ (शान्ति० अ० २७८)

इस प्रकार और भिन्न भिन्न स्थानोंके अनेक श्लोक बतलाये जा सकते हैं। इनके सिवा, कई आख्यानोंमें पूरे श्लोक ही कूट

हैं। उदाहरणार्थ, सनत्सुजात आख्यान देखने योग्य है। कहीं कहीं तो पाठकोंको चक्करमें डाल देनेवाला एकाध विलक्षण नाम ही मिल जाता है, जैसे आश्रमवासिक पर्वमें "इयं स्वसा राजचमूपतेश्च" वाला श्लोक है। कई स्थानोंमें ज्योतिष-सम्बन्धी और अङ्कोंके विषयमें जो उल्लेख हैं, उनमें कुछ न कुछ कूट अवश्य रहता है। उसको समझ लेनेका प्रयत्न करना कभी कभी व्यर्थ हो जाता है। हमारा यह अन्दाज़ है कि महाभारतमें कूट अथवा गूढ़ार्थ श्लोकोंकी संख्या बहुत है। प्रायः प्रत्येक अध्यायमें इस प्रकारके स्थान पाये जाते हैं और कहीं कहीं तो ऐसे स्थानोंकी संख्या बहुत ही अधिक है। महाभारतमें कुल अध्यायोंकी संख्या लगभग २००० है: ऐसी अवस्थामें कूट श्लोकोंकी संख्या कई हज़ार हो सकती है*। अस्तु: सम्भव है कि यह काव्य-चमत्कृति मूलमें व्यासजीकी ही हो और उसे सौतिने अपने चातुर्यसे बहुत अधिक बढ़ा दिया हो। इससे यही कहना पड़ता है कि सौति कोई छोटे दर्जेका कवि न था।

* कूट श्लोकों और कूट शब्दोंके कुछ और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे:—

(१) यत्र सा बदरी रम्या **ह्रदो वैहायस**स्तथा ॥ (शान्ति० १२७,३)

वैहायसः (मन्दाकिन्या) ह्रदः।

(२) न **शङ्खलिखितां** वृत्तिं शक्यमास्थाय जीवितुम् ॥ (शान्ति० १३०—२१)

शङ्खे ललाटास्थिन।

(३) नासतो विद्यते राजन्सखारण्येषु **गोपतिः** ॥ (शान्ति० १३५—२६)

(४) मासाः पक्षाः षडृतवः **कल्पः** सम्वत्सरास्तथा ॥ (शान्ति० १३७—२१)

(५) पृष्ठतः शकटानीकं **कलत्रं** मध्यतस्तथा ॥ (शान्ति० १००—४३)

(६) **स्कंध** दर्शन मात्रात्तु तिष्ठेयुर्वा समीपतः ॥ (शान्ति० १००—४६)

(७) पारावत **कुलिंगाक्षाः** सर्वे शूराः प्रमाथिनः ॥ (शान्ति० १०१—७)

'कुलिंगो भूमिकुश्मांडे मतंगजभुजंगयोः।'
कुलिंगः सर्पः

(८) विरमेच्छुष्कवैरेभ्यः **कंठायासं** च वर्जयेत् ॥ (शान्ति० १०३—१०)

कण्ठायासं मुखरत्वं

(९) स्वार्थ**मत्यन्तसन्तुष्टः** क्रूरः काल इवान्तकः ॥ (शान्ति० ११६—११)

(१०) कुलजः **प्राकृतो** राज्ञा स्वकुलीनतया सदा ॥ (शान्ति० ११८—४)

(११) अकुलीनस्तु पुरुषः **प्राकृतः** साधुसंश्रयात ॥ (शान्ति० ११८—५)

(१२) नैष्ठुर्यं जिह्मत्व**मादालभ्यं** सत्यमार्जवमेव च ॥ (शान्ति० १२०—५)

आदालभ्यं अभयं

(१३) **श्लक्ष्णाक्षरतनुः** श्रीमानभवेच्छास्त्रविशारदः ॥ (शान्ति० १२०—७)

(१४) लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा **बृहद्वृक्ष**मिवास्रवन् ॥ (शान्ति० १२०—८)

(१५) शान्ति पर्वका समस्त १२०वां अध्याय कूट श्लोकोंसे भरा हुआ है।

(१६) **काव्यानि** वदतां तेषां संयच्छामि वदामि च ॥ (शान्ति० १२४—३४)

काव्यानि शुक्रप्रोक्तानि नातिशास्त्राणि।

(१७) स तस्य सहजातस्य सप्तमीं नवमीं दशाम।
प्राप्नुवन्ति नतः पञ्च न भवन्ति गतायुषः ॥ (शान्ति० ३३१—२८)

(१८) त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ (शान्ति० ३२९—४०)

(१९) विचार्य खलु पश्यामि **तत्सुखं** यत्र निर्वृतिः ॥ (शान्ति० १११—३२)

सुखं स्वर्गः

(२०) **मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं** जनापवादे सततं निविष्टम् ॥ (शान्ति० ११४—१७)

मनुष्य शाला वृकं मनुष्येषु श्वा।

(२१) अश्वानं सोऽपि चक्राम **खचरः** खेचरान्निव ॥ (शान्ति० ३२५—१९)

इसमें सन्देह नहीं कि कवित्व-प्रदर्शनके भिन्न भिन्न प्रसङ्गोंका समावेश करके सौतिने स्थान स्थान पर महाभारतका विस्तार कर दिया है। स्त्रीपर्व और विराट पर्वमें तो यह बात स्पष्ट रूपसे दिखाई देती है। अन्य पर्वोंमें भी, विशेषतः युद्ध पर्वमें, इस प्रकार जो प्रसङ्ग सम्मिलित किये गये हैं वे कुछ कम नहीं हैं। सारांश यह है कि, (१) धर्ममतोंकी एकता, (२) कथा-संग्रह, (३) ज्ञान-संग्रह, और (४) धर्म तथा नीतिके उद्देशसे सौतिने भारतमें अनेक नये प्रसङ्गोंको सम्मिलित करके उसे बहुत अच्छा स्वरूप दे दिया है और सनातनधर्मकी रक्षा तथा दृढ़ताके लिये अत्यन्त प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। कवित्व-प्रसङ्ग साधकर सौतिने इस ग्रन्थको सर्वोत्तम काव्य बनाया है। परन्तु इसीके साथ साथ यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि सौतिने जो ऐसे उपाख्यान जोड़ कर ग्रन्थका विस्तार किया है उससे महाभारतको कुछ बातोंमें रमणीय स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि कुछ अंशोंमें उसे गौणता प्राप्त हो गई है। इसलिये उन बातोंका भी विचार आवश्यक है जो गौणता उत्पन्न करनेवाली हैं।

(६) पुनरुक्ति।

अनेक प्रसङ्गोंकी पुनरुक्तिसे ग्रन्थका विस्तार बढ़ गया है। किसी विषयको पाठकोंको बार बार समझानेके लिये जब उसकी पुनरुक्ति की जाती है, तब तो वह प्रशंसनीय हुआ करती है; परन्तु जब ऐसा नहीं होता, तब पुनरुक्तिका दोष पाठकोंके मनमें खटकने लगता है। ऐसी पुनरुक्ति इस ग्रन्थमें प्रायः सर्वत्र पाई जाती है। कहीं कहीं तो यह पुनरुक्ति, ग्रन्थका अधिकांश भाग हो जाने पर, बीचमें ही देख पड़ती है। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। आदिपर्वमें आस्तिककी कथा दो बार आई है; और जब दूसरी बार इस कथाका वर्णन किया गया है तो वह पहिलीकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गई है। काश्यप और तक्षककी कथा भी दुबारा दी गई है। वनपर्वमें तीर्थोंका वर्णन दो बार किया गया है। सम्भव है कि वैशम्पायनके समय जिन तीर्थोंकी जानकारी थी, उनकी अपेक्षा कुछ अधिक तीर्थ-स्थान सौतिके समय प्रसिद्ध हो गये होंगे, क्योंकि उसके समयमें आर्योंकी व्याप्ति दक्षिणकी ओर बहुत अधिक हो गई थी। इस पुनरुक्तिका स्वरूप प्रायः यह है—पूर्व कथाओंको कुछ अधिक विस्तारसे कहनेके लिये जनमेजय प्रार्थना करते हैं और उसके अनुसार वही कथा वैशम्पायन फिर सुनाते हैं। परन्तु कहीं कहीं तो यह स्वरूप भी नहीं देख पड़ता। उदाहरणार्थ, अभिमन्युके वध-प्रसङ्गमें शोक-सान्त्वनके लिये व्यासजीने युधिष्ठिरको षोड़शराजीय आख्यान सुनाया है और उसी आख्यान का वर्णन कृष्णने युधिष्ठिरसे शान्ति-पर्वमें फिर कराया है। ऐसी दशामें यह पुनरुक्ति अलक्ष्य है।

(७) अनुकरण।

दूसरे प्रकारका दोष अनुकरण है। किसी मनोहर प्रसङ्गको देखकर दूसरे कविकी प्रवृत्ति हुआ करती है कि मैं भी उसी प्रकार किसी अन्य प्रसङ्गका वर्णन करूँ। उदाहरणार्थ, यह बात प्रसिद्ध है कि कालिदासके सुन्दर मेघदूत काव्यके अनन्तर अन्य कवियोंने हंसदूत आदि कुछ काव्योंकी रचना की थी। इसी प्रकारके अनुकरणकी इच्छासे व्यास-वर्णित भारतके कई प्रसङ्गोंका अनुकरण सौतिने किया है। इसका मुख्य उदाहरण वन-

पर्वके अन्तमें जोड़ा हुआ यक्ष-प्रश्न नामक आख्यान है। सौतिने इस आख्यानकी रचना नहुष-प्रश्न (वनपर्व अध्याय १८५) के ढंग पर की है। इसमें भी युधिष्ठिर द्वारा उसके भाईके मुक्त किये जानेकी कथा है। ऐसा अनुमान करनेके लिये कि इस यक्ष-प्रश्न-उपाख्यानको सौतिने पीछेसे जोड़ा है, कई कारण दिये जा सकते हैं। पहला कारण—जब कि सहदेव, अर्जुन और भीमने प्रत्यक्ष देख लिया था कि उनके पूर्वके मनुष्यकी कैसी दशा हुई, और जब कि यक्ष उन लोगोंको स्पष्ट रूपसे सावधान कर रहा था, तब क्या यह सचमुच आश्चर्यकी बात नहीं है कि वे भी सरोवरका पानी पीकर मर जायँ? दूसरा कारण—यक्षके प्रश्न भी पहेलियोंके समान देख पड़ते हैं। वे किसी महाकविके लिये शोभादायक नहीं हैं। तीसरा कारण-प्रश्नोत्तरके अन्तमें यक्षने युधिष्ठिर से कहा है कि तुम अपने अज्ञातवासके दिन विराट-नगरमें बिताओ: इतना हो जानेपर भी अगले पर्वके आरम्भमें कहा गया है कि अज्ञातवासके दिन बितानेके सम्बन्धमें युधिष्ठिरको बड़ी चिन्ता हुई। चौथा कारण—कथामें कहा गया है कि युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंको विदा करके केवल धौम्यको अपने पास रख लिया। ऐसा होनेपर भी, विराटपर्वके आरम्भमें, हम देखते हैं कि युधिष्ठिरके पास सब ब्राह्मण मौजूद हैं। सारांश, यही जान पड़ता है कि यक्ष-प्रश्न-उपाख्यान मूल भारतमें न था: वह पीछेसे सौति द्वारा जोड़ दिया गया है। अनुकरणका दूसरा उदाहरण उद्योगपर्वमें वर्णित विश्वरूपदर्शन है। भगवद्गीतामें जो विश्वरूपदर्शन है वह वहाँ उचित स्थानमें दिया गया है और वह व्यासजीके मूल भारतका अंश है। परन्तु उसीके अनुकरणपर सौतिने उद्योगपर्वमें जिस विश्वरूपदर्शन को स्थान दिया है वह अप्रासङ्गिक देख पड़ता है और उसका परिणाम भी दुर्योधन तथा धृतराष्ट्रके मनपर कुछ नहीं हुआ।

(८) भविष्य-कथन।

ग्रन्थकारोंकी यह एक साधारण युक्ति है कि वे आगे होनेवाली बातोंको पहिले ही भविष्यरूपसे बतला देते हैं अथवा उनके सम्बन्धमें पहिले ही कुछ विचार सुझा देते हैं। इस प्रकारके कुछ भविष्य-कथन पीछेसे सौतिके जोड़े हुए मालूम होते हैं। उदाहरणार्थ, स्त्रीपर्वमें गान्धारीने श्रीकृष्णको यह शाप दिया है कि तुम सब यादव लोग आपसमें लड़कर मर जाओगे। ऐसे शाप प्रायः सब स्थानोंमें पाये जाते हैं। कर्णको यह शाप था कि उसके रथका पहिया युद्धके समय गड्ढेमें गिर पड़ेगा। यह कहा जा सकता है कि ये सब शाप प्रायः पीछेसे कल्पित किये गये हैं। उद्योगपर्वके आठवें अध्यायमें शल्य और युधिष्ठिरका जो संवाद है, वह इस बातका दूसरा उदाहरण है कि इन शापोंके बिना ही आगे होनेवाली बातोंकी पूर्व-कल्पना चमत्कारिक रीतिसे की गई थी। शल्यको दुर्योधनने सन्तुष्ट करके अपने पक्षमें कर लिया था। जब यह समाचार शल्यसे मालूम हुआ, तब युधिष्ठिरने विनती की कि—"जब आप कर्ण और अर्जुनके युद्धके समय कर्णके सारथी हों, उस समय कर्णका तेजोभङ्ग कर दीजिएगा।" शल्यने उत्तर दिया,—"जब मुझे कर्णका सारथ्य करना पड़ेगा तब मैं उसका उत्साह भङ्ग करूँगा और उस समय तुम उसे मार सकोगे।" इन बातोंकी कल्पना पहिले ही कैसे की जा सकती है कि भीष्म और द्रोण दोनों मर जायँगे,

कर्ण और अर्जुनका भीषण संग्राम होगा और उस समय कर्ण शल्यको ही अपना सारथी बनावेगा? इसके सिवा, इस प्रकार विश्वासघात अथवा मित्रघातका उपदेश युधिष्ठिर द्वारा किया जाना स्वयं उसके-लिये, और शल्यके लिये भी, लज्जास्पद है। सारांश, इस प्रकार आगे होनेवाली बातोंका भविष्य-कथन करनेका सौतिका यह प्रयत्न अनुचित है। इसके सिवा एक और बात है। दुर्योधनके पक्षमें शल्यके मिल जानेका कारण यह था कि वह 'अर्थस्य पुरुषो दासः' की नीतिके अनुसार दुर्योधनका आश्रित हो गया था। उसके विषयमें जो यह वर्णन किया गया है, कि युधिष्ठिरकी ओर जाते हुए बीच-में ही उसे सन्तुष्ट करके दुर्योधनने अपने पक्षमें मिला लिया, वह असम्बद्ध है। आगे यह बात भी नहीं पाई जाती कि कर्णका तेजोभङ्ग हुआ और इसी कारण वह मारा जा सका। ग्रन्थमें यह वर्णन ही नहीं है कि इस तेजोभङ्गके कारण कर्णने अपनी शूरतामें कुछ कमी की। इसके बदले शल्यने उचित समय पर कर्णको यह सुझा दिया कि निशाना ठीक न होने-के कारण तेरा बाण नहीं लगेगा इसलिये तू ठीक ठीक शरसन्धान कर। अर्थात्, यही वर्णन पाया जाता है कि शल्यने मित्रघात नहीं किया। यथार्थमें भविष्य-कथनके इस भागको सौतिने व्यर्थ बढ़ा दिया है। इसके और भी उदाहरण आगे चलकर दिये जायँगे। सारांश, अनेक अप्रबुद्ध परन्तु प्रचलित कथाओंको सौतिने महाभारतमें पीछेसे शामिल कर दिया है।

(९) कारणों का दिग्दर्शन।

अन्तिम शेष-स्थान कारणोंका दिग्द-र्शन करना है। पूर्व कालके प्रसिद्ध पुरुषों-ने सदोष आचरण क्यों और कैसे किया, इसके सम्बन्धमें कुछ कारणोंका बताना आवश्यक होता है। जैसे, पाँच पाण्डवोंने एक द्रौपदीके साथ विवाह कैसे किया, भीमने दुःशासनका रक्त कैसे पिया, इत्यादि कुछ कार्य ऐसे हैं जो दोष देने योग्य देख पड़ते हैं और जिनके सम्बन्धमें कुछ कारणोंका बताया जाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। सौतिने महाभारतमें ऐसी दन्तकथायें शामिल कर दी हैं जिनमें इन घटनाओंके कुछ कारण ग्रथित किये गये हैं। किसी किसी कथा-भागके प्रसङ्गमें यह भी देखा जाता है कि स्वयं व्यासजी वहाँ आकर भिन्न भिन्न व्यक्तियोंको उपदेश देते हैं अथवा उन्हें आगे होनेवाली कुछ बातोंकी सूचना करते हैं। जिन जिन स्थानोंमें ऐसे वर्णन पाये जाते हैं वे व्यासजीके मूल भारतमें न होकर सौति द्वारा पीछेसे शामिल किये गये हैं। जैसा कि एक प्रसङ्गमें व्यासजी आकर धृतराष्ट्रसे कहते हैं कि ज्यों ही दुर्योधन पैदा हो त्यों ही उसे गङ्गाजीमें डाल देना। यह प्रसङ्ग भी पीछेसे रचा हुआ मालूम होता है। अस्तु: इस प्रकार तीन चार कारणोंसे सौतिने महाभारतका जो विस्तार किया है वह विशेष रमणीय नहीं देख पड़ता। हम स्वीकार करते हैं कि इस बातका निर्णय करना बहुत कठिन है कि महाभारतमें वे सब स्थान कौन कौन-से हैं जो इस प्रकार पीछेसे जोड़े गये हैं। तथापि जब इस बातपर ध्यान दिया जाता है कि भारतके २४००० श्लोकोंके स्थानपर महाभारतमें एक लाख श्लोक हो गये हैं, तब इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार नया जोड़ा और बढ़ाया हुआ भाग बहुत अधिक होना चाहिये। यह बतला देना आवश्यक था कि सौतिने इस भागको क्यों बढ़ाया है अर्थात् महा-

भारतका विस्तार कैसे किया है इसलिये हमने यहाँ इस विषयका प्रतिपादन विस्तार-पूर्वक किया है। परन्तु स्मरण रहे कि सौति-कृत कुल ग्रन्थके उदात्त-स्वरूपमें इस विस्तारसे कुछ भी न्यूनता नहीं आने पाई है और इसी लिये कहना चाहिये कि इस समस्त ग्रन्थको व्यास-कृत मानना किसी प्रकार अनुचित न होगा। यद्यपि २४००० श्लोकोंके भारतका रूपान्तर एक लाख श्लोकोंके महाभारतमें हो गया है, तथापि उसमें असम्बद्धता अथवा परस्पर-विरोध प्रायः नहीं होने पाया है। इस काममें सौतिका चातुर्य निःसन्देह वर्णनीय है। सौतिका कवित्व भी किसी प्रकार छोटे दर्जेका नहीं है। उसपर व्यासजीकी कवित्व-शक्तिका प्रतिबिम्ब होनेके कारण समस्त ग्रन्थ अत्यन्त रमणीय हो गया है। संक्षेपमें यह कहना चाहिये कि सौतिके महाभारतमें दोष देने योग्य बहुत स्थान नहीं है। अलबत्ता दो स्थानोंमें उसकी भूल प्रकट रूपसे देख पड़ती है। यह सचमुच बड़े आश्चर्यकी बात है कि युधिष्ठिर भीष्मपर्वमें शल्यसे कर्णका उत्साह-भङ्ग करनेकी प्रार्थना करनेके समय कहता है कि 'उद्योग' में तुमने जो वचन दिया है उसे अब पूरा करो। जिस समय युधिष्ठिरने रणभूमिमें यह प्रार्थना की उस समय न तो व्यासजीका भारत था और न सौतिका महाभारत। ऐसी अवस्थामें युधिष्ठिर कैसे कह सकता है कि 'उद्योग' में अर्थात् उद्योगपर्वमें तुमने वचन दिया था? इसी प्रकार अश्वमेधपर्वमें कुन्ती श्रीकृष्णसे कहती है—"ऐषीकमें तुमने वचन दिया था कि यदि उत्तराके गर्भसे मृत पुत्रका ही जन्म होगा तो तुम उसे ज़िन्दा कर दोगे, इसलिये अब उस वचनको पूरा करो।" यहाँ भी ऐषीकपर्वका जो प्रमाण कुन्तीके मुखसे दिलाया गया है वह चमत्कारिक है। "हे यदुनन्दन, ऐषीक प्रकरणमें तुमने ऐसी प्रतिज्ञा की ही थी" यह कहकर कुन्तीने महाभारतके ऐषीकपर्वका जो प्रमाण दिया है वह सचमुच अतर्क्य है। परन्तु जब ग्रन्थका विस्तार बहुत अधिक हो गया, तब उसके प्रकरणोंका प्रमाण कथाके पात्रोंके द्वारा दिया जाना अपरिहार्य हो गया। अर्थात् यही कहना चाहिये कि यहाँ सौतिका पीछेका कर्तृत्व व्यक्त होता है। अन्तमें हमें महाभारतकी काव्योत्कृष्टताका विचार करना है।

महाकाव्यकी दृष्टिसे भारतकी श्रेष्ठता।

जो भाग इस प्रकार बढ़ाया गया है उसे यदि अलग कर दें, अथवा उसकी ओर ध्यान न दें, तो व्यासजीकी मूल कृति किसी अत्यन्त मनोहर मूर्तिके समान हमारी आँखोंके सामने खड़ी हो जाती है। यहाँ इस सुन्दरता और मनोहरताका कुछ विचार करना अनुचित न होगा। इस जगतमें जो चार या पाँच अत्यन्त उदात्त और रमणीय महाकाव्य हैं, उनमें व्यासजीका यह आर्ष महाकाव्य सबसे अधिक श्रेष्ठ कोटिका है। यूनानी तत्त्वज्ञ अरिस्टाटलने होमरके इलियडके आधारपर महाकाव्यका यह लक्षण बतलाया है:—"महाकाव्यका विषय एक होना चाहिये। वह विषय कोई बहुत बड़ा, अत्यन्त विस्तृत और महत्त्वका प्रसङ्ग हो। उसके प्रधान-पात्र उच्च वर्णके हों और उनका चरित्र उदात्त हो। ग्रन्थकी भाषा और वृत्त गम्भीर हो और काव्यमें विविध सम्भाषण तथा वर्णन हों।" पश्चिमी विद्वानोंका बतलाया हुआ महाकाव्यका यह लक्षण, हमारे यहाँके साहित्य शास्त्रकारोंके बतलाये हुए लक्षणसे कुछ अधिक भिन्न

नहीं है। अब इन्हीं चार बातोंके सम्बन्धमें यहाँ क्रमशः विचार किया जायगा।

हमारे महाकाव्यका प्रधान विषय भारती-युद्ध है। हिन्दुस्थानके प्राचीन इतिहासमें भारती-युद्धसे बढ़कर अधिक महत्त्वकी कोई दूसरी बात नहीं है। उस समय हिन्दुस्थानकी प्राचीन संस्कृति शिखरतक पहुँच गई थी। उस समयके बाद ही हिन्दुस्थानकी अवनतिका आरम्भ होता है। यह अवनति अबतक धीरे धीरे बढ़ती ही चली जाती है। इसलिये हम लोगोंमें भारती-युद्ध ठीक कलियुगका आरम्भ समझा जाता है। सारांश, भारती-युद्धसे अधिक महत्त्वके किसी अन्य प्रसङ्गकी कल्पना कर सकना असम्भव है। भारती युद्धके प्रसङ्गसे बढ़कर अधिक **विस्तृत** और अधिक **उलझनके** भी किसी अन्य विषयका पाया जाना बहुत कठिन है। इस प्रसङ्गके एक एक छोटेसे भाग पर, संस्कृत भाषाके पञ्च महाकाव्योंमें से, दो महाकाव्योंकी रचना की गई है। अर्जुनके पाशुपतास्त्र पानेकी कथा पर भारवीके किरातार्जुनीयकी रचना हुई है और माघकाव्य शिशुपाल-वधकी कथा पर रचा गया है। नैषध काव्य भी महाभारतके अन्तर्गत नल-दमयन्ती-आख्यान पर रचा गया है। सारांश, भारती-युद्ध-प्रसङ्ग इतना विस्तृत है कि इसकी एक एक शाखा पर एक एक संस्कृत महाकाव्य रचा जा सकता है। कुछ लोग कहेंगे कि, महाभारतमें केवल भारती-युद्ध-कथा ही नहीं किन्तु पांडवोंका पूरा चरित्र भी है। परन्तु, यद्यपि महाभारतका प्रधान विषय भारती-युद्ध ही है, तथापि यह आकांक्षा सहज ही उत्पन्न होती है कि उसमें इस युद्धके कारणों और परिणामोंका भी वर्णन हो। इसी लिये उसमें पांडवोंका पूर्व-चरित्र और उत्तर-चरित्र दिया गया है। स्मरण रहे कि ये दोनों चरित्र बहुत संक्षेपमें दिये गये हैं; अर्थात् आरम्भके आदि पर्व, सभा-पर्व और अन्तके आश्रमवासी आदि पर्व छोटे छोटे हैं और बीचके उद्योगपर्वसे आगे युद्ध-सम्बन्धी जो पर्व हैं वे बहुत विस्तार-पूर्वक लिखे गये हैं। तात्पर्य यह है कि भारती-युद्धको ही महाभारतका प्रधान विषय मानना चाहिये। यदि व्यासजीके शब्दोंमें कहना हो कि उनके महाकाव्यका विषय क्या है, तो कहना चाहिये कि वह नर-नारायणकी जय अर्थात् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी विजय ही है। यह बात नमनके श्लोकसे भली भाँति व्यक्त हो जाती है।

यद्यपि महाभारतकी कथाका स्वरूप इतना विस्तृत है, तथापि उसमें एकता और पूर्णता है और असम्बद्धता बिल्कुल नहीं होने पाई है। उसमें इतने अधिक और भिन्न स्वभावके व्यक्ति हैं कि शेक्सपियरके अनेक नाटकोंमें वर्णित सब व्यक्ति अकेले महाभारत हीमें ग्रथित कर दिये गये हैं। महाभारतकी कथा यद्यपि इतनी विस्तृत है, तो भी इसका विस्तार इससे और अधिक होने योग्य है। सच बात तो यह है कि ग्रन्थकारने अपना ध्यान अपने प्रधान विषय अर्थात् युद्धकी ओर ही रखा था और इसी लिये प्रसङ्गानुसार विषयान्तर करनेकी ओर उन्होंने अपने ध्यानको अधिक आकर्षित नहीं होने दिया। उदाहरणार्थ, दुर्योधनके विवाहका वर्णन महाभारतमें कहीं पाया नहीं जाता; यहाँतक कि उसकी स्त्रीका नाम समूचे महाभारतमें कहीं नहीं है। ऐसी दशामें उसके सम्बन्धमें अधिक उल्लेख या उसके भाषण और कार्यका पता कैसे लग सकता है? यह देखकर पाठकोंको कुछ अचरज होगा। आधुनिक कवियोंने दुर्योधनकी स्त्रीका नाम 'भानुमती' रखा है और उसके सम्बन्धमें मूर्खतासे भरी

हुई कुछ कथाओंकी रचना भी की है। परन्तु ये सब बातें झूठ हैं, क्योंकि महाभारतमें दुर्योधनकी स्त्रीका नामतक नहीं है। इलियडके प्रतिनायक हेक्टरकी स्त्रीका नाम एन्ड्रोमकी है। जिस समय हेक्टर लड़ाईके लिये बाहर जाता है, उस समय उसका स्त्रीके साथ जो करुणायुक्त सम्भाषण हुआ है, उसका वर्णन इलियडमें दिया गया है। परन्तु भारतके प्रतिनायक दुर्योधनकी पत्नीका एक भी सम्वाद भारतकारने नहीं दिया। हम समझते हैं कि इसमें ग्रन्थकारकी विशेष कुशलता देख पड़ती है। इसका कारण यह है कि व्यासजीने दुर्योधन-पात्र बहुत हठीला और मानी बतलाया है। यदि दुर्योधनके लड़ाई पर जाते समय और अपनी प्रिय-पत्नीसे बिदा होते समय, उसके नेत्रों-से आँसूकी एक भी बूँदके टपकनेका वर्णन कविने किया होता, तो उससे वह मानी पात्र कलङ्कित हो जाता। सारांश, यहाँ कविका चातुर्य ही विशेष रूपसे दृष्टि-गोचर होता है। परन्तु इससे यह अनुमान करना उचित न होगा कि दुर्योधन बड़ा क्रूर या निर्दय था और अपनी स्त्रीको प्यार नहीं करता था। जिस समय गदा-युद्धमें जाँघके फट जानेसे दुर्योधन समर-भूमिमें विह्वल हो रहा था, उस समय महाकवि व्यासजीने उसके विलापमें माता-पिताके स्मरणके साथ स्त्रीकी बात भी बड़ी चतुराईसे शामिल कर दी है और उसके मुखसे कहलाया है कि—"हे लक्ष्मण-मातः मेरे बिना तेरी कैसी गति होगी!" इस विवेचनसे पाठक समझ जायँगे कि महाभारतका विषय यद्यपि बहुत बड़ा है तो भी वह और अधिक विस्तृत होने योग्य है।

इस बातका एक और उदाहरण दिया जा सकता है कि यद्यपि महाभारतकी कथा अत्यन्त विस्तृत है, तथापि महाकवि व्यासजीने उसे सङ्कलित करके दूसरी ओर अपना ध्यान आकर्षित होने नहीं दिया। महाभारतका मुख्य विषय भारती-युद्ध है: इसलिये भारती-युद्धके अतिरिक्त अन्य बातोंका वर्णन खूब बढ़ाकर नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्णका चरित्र देखिये। श्रीकृष्णके चरित्रका जितना भाग भारती-युद्धके साथ संलग्न है, उतना ही महाभारतमें दिया गया है। इसमें उनके बाल-चरित्रका वर्णन कहीं देख नहीं पड़ता। रुक्मिणीके विवाहकी सुरस कथा और श्रीकृष्णके अन्य विवाह-सम्बन्धी वर्णन भी इसमें नहीं हैं। उनका अप्रत्यक्ष उल्लेख कहीं कहीं सम्भाषणमें पाया जाता है, परन्तु पूरा पूरा वर्णन इसमें कहीं नहीं है। सामान्य पाठकोंको मालूम होता है कि यह इस ग्रन्थकी त्रुटि है। परन्तु यह बात ऐसी नहीं है। इसमें सचमुच कविकी कुशलता है। प्रधान विषयको छोड़ कर किसी अन्य विषयके वर्णनमें लग जाना दोष है: इसलिये व्यासजीने अपने भारतमें श्रीकृष्णके चरित्रको स्थान नहीं दिया। बाहरसे देख पड़नेवाली इस त्रुटि-की पूर्त्ति सौतिने हरिवंश नामक खिलपर्व जोड़कर कर दी है। इस रीतिसे पाठकों-की जिज्ञासा भी तृप्त हो गई है। अस्तु; महाभारतका विषय अति विस्तृत और महत्त्वका है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस युद्धमें १८ अक्षौहिणी अर्थात् ५२ लाख वीर आपसमें इतनी तीव्रता और निश्चयसे लड़े थे कि एक पक्षमें सात और दूसरे पक्षमें तीन कुल मिलाकर सिर्फ दस वीर ज़िन्दा बचे, वह युद्ध होमरके इलियडके युद्धसे बहुत ही बड़ा था।

पर भारती-युद्धका महत्त्व इससे भी और अधिक है। हिन्दुस्थानके प्रायः सब राजा लोग इस युद्धमें शामिल थे। इसका

ही नहीं, किन्तु हिन्दुस्थानके वर्तमान प्रसिद्ध राज-वंश अपने अपने वंशोंकी उत्पत्ति भारती-युद्धके वीरोंसे ही बतलाया करते हैं। इससे इस युद्धको राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो गया है; अथवा कहना चाहिये कि यह महत्त्व उसे पहलेसे ही प्राप्त है। कौरवोंकी संस्कृति बहुत ऊँचे दर्जेकी थी। कुरु-का नाम ब्राह्मण-ग्रन्थोंके समयसे वैदिक साहित्यमें बार बार आया है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस संस्कृतिको सौतिने बढ़ा दिया होगा। इस युद्धके साथ श्रीकृष्णका घनिष्ट सम्बन्ध है, इस कारण भी इस युद्धको राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ है; क्योंकि धर्म, नीति और तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें श्रीकृष्ण राष्ट्रीय महत्त्वके पुरुष थे। इनके सम्बन्धमें आगे विस्तार-सहित विचार किया जायगा। जिस प्रकार ट्रोजन-युद्ध यूनानियोंको राष्ट्रीय युद्ध मालूम होता है, उसी प्रकार भारती-युद्ध भारतवासियोंको राष्ट्रीय महत्त्वका मालूम होता है। सारांश, इस महाकाव्यका विषय अत्यन्त महत्त्वका, विस्तृत और राष्ट्रीय-स्वरूपका है। अब हम महाकाव्यके दूसरे आवश्यक अङ्गका विचार करते हैं।

यह विस्तार-सहित कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि महाभारतमें वर्णित व्यक्तियोंके चरित्र अत्यन्त उदात्त हैं। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, कर्ण, द्रोण और सर्व-श्रेष्ठ भीष्मके चरित्रोंसे, धर्म और नीतिके आचरणके सम्बन्धमें यह शिक्षा मिलती है कि नीतिके आचरणके सामने जीवनकी भी कुछ परवा न होनी चाहिये। और इस शिक्षाको हिन्दुस्थान-निवासी आर्योंके हृदयों पर प्रतिबिम्बित करा देनेमें, ये चरित्र आज हजारों वर्षोंसे समर्थ हो रहे हैं। श्रीकृष्णका चरित्र तो बस अद्वितीय ही है। उसके रहस्य और महत्त्वका विस्तार-सहित वर्णन आगे किया जायगा। दुर्योधनका पात्र भी उदाहरण-स्वरूप है। यद्यपि उसके चरित्रका झुकाव बुरे मार्गकी ओर है, तथापि उसका अटल निश्चय, उसका मानी स्वभाव—जिसने सार्वभौमत्व और मृत्युके बीचकी किसी श्रेणीको स्पर्श तक नहीं किया—उसका मित्र-प्रेम और उसकी राजनीति इत्यादि सब बातें यथार्थमें वर्णन करने योग्य हैं। इस सम्बन्धमें व्यास कविने होमर अथवा मिल्टनको भी मात कर दिया है। होमरका प्रतिनायक हेक्टर अनुकम्पनीय दशामें है। यद्यपि वह अपने देशकी सेवा करनेके लिये तत्पर है, तथापि जब वह अपनी प्रिय-पत्नीसे विदा होता है और अपने बालकका चुम्बन करता है, उस समय उसके मनका धीरज टूटा हुआ देख पड़ता है। मिल्टनका प्रतिनायक इतना दुष्ट और शक्तिशाली दिखाया गया है कि वह नायकसे भी अधिक तेजस्वी मालूम होता है और कभी कभी तो जान पड़ता है कि वही काव्यका नायक है। अस्तु; महाभारतमें वर्णित स्त्रियाँ, इलियडमें वर्णित स्त्रियोंकी अपेक्षा, बहुत ही ऊँचे दर्जेकी हैं। हेलन, द्रौपदीके नखाग्रकी भी समता नहीं कर सकती। एन्ड्रोमकी भी द्रौपदीकी समकक्ष नहीं हो सकती। कविश्रेष्ठ व्यासजीने द्रौपदीके पात्रको सचमुच अद्वितीय बना दिया है। उसका धैर्य-सम्पन्न और गम्भीर स्वभाव, उसका पातिव्रत्य, उसकी गृह-दक्षता आदि सब गुण अनुपम हैं। इतना होने पर भी वह मनुष्य-स्वभावके परे नहीं है। वह अपने पति पर ऐसा क्रोध करती है जो स्त्री-जातिके लिये उचित और शोभादायक है। वह अपने पतिके साथ विवाद करती है और कभी कभी ऐसा हठ करती है जो पतिव्रता स्त्रियोंके लिये उचित है। वह यथार्थमें क्षत्रिय स्त्री है। हेक्टरकी पत्नीके

समान वह सूत कातने नहीं बैठती, किन्तु ऐसे धैर्यके काम करती है जो राजपूत स्त्रियोंके योग्य हैं। कौरवोंकी सभामें द्यूतके प्रसङ्गमें जब उस पर सङ्कट आ पड़ा था, उस समय उसके मनका धैर्य बिलकुल नहीं डिगा। उसने सभासे ऐसा प्रश्न किया कि सब सभासदोंको चुप हो जाना पड़ा। अन्तमें अपने पतियोंको दासत्वसे मुक्त करके वह उनके साथ आनन्दसे अरण्यवासके लिये चली गई। कुन्तीका पात्र भी ऐसा ही उदात्त है। पाण्डवोंका अरण्यवास पूरा हो जाने पर, जब श्रीकृष्ण विदुरके घर कुन्तीसे मिलने आये, उस समय उसने उनके हाथ अपने पुत्रोंको जो सँदेसा भिजवाया था वह क्षत्रिय-स्त्रियोंके लिये उचित ही था। विदुला-संवाद-रूप यह सँदेसा अत्यन्त उद्दीपक है। इस सँदेसेमें उसने पाण्डवोंको यह तीखा उपदेश दिया है कि क्षत्रिय-पुत्र या तो जीतकर आवें या मर जायँ, पर भिक्षा कभी न माँगें। यह उपदेश उसने स्वयं अपने लाभके लिये नहीं दिया था; क्योंकि पाण्डवोंके राज्य पाने पर वह उनके यहाँ बहुत दिनोंतक नहीं रही, किन्तु धृतराष्ट्रके साथ तपश्चर्या करनेके हेतु वनमें चली गई। जब भीमने कुन्तीसे पूछा कि—"तूने ही तो हमें लड़ाईके लिये उद्युक्त किया था; और अब तू हमारे ऐश्वर्यका उपभोग न कर वनमें क्यों जाती है?" तब उसने उत्तर दिया कि,—"मैंने अपने पतिके समय राज्यके ऐश्वर्यका बहुत उपभोग किया है। मैंने तुम्हें जो सँदेसा भेजा था वह कुछ अपने लाभके लिये नहीं, किन्तु तुम्हारे ही हितके लिये।" पाण्डवोंके प्रति उसका अन्तिम उपदेश तो सोनेके अक्षरोंसे लिख रखने योग्य है—

धर्मे वो धीयतां बुद्धिर्मनो वो महदस्तु च।

अर्थात् "तुम्हारी बुद्धि धर्माचरण पर स्थिर रहे; और तुम्हारे मन सङ्कुचित न होकर विशाल हों।" यदि समस्त महाभारतका तात्पर्य किसी एक श्लोकार्धमें कहा जाय तो वह यही है।

द्रौपदी, कुन्ती, गान्धारी, सुभद्रा, रुक्मिणी आदि महाभारतमें वर्णित स्त्रियाँ उदात्त चरित्रकी हैं और उनमें मनुष्य-स्वभावकी झलक भी महाकवि व्यासने दिखा दी है। उदाहरणार्थ, सुभद्राके विवाहके समय द्रौपदीने अपना मत्सर-भाव एक सुन्दर वाक्यसे अर्जुन पर प्रकट कर दिया—

तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा।
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबंधः श्लथायते॥
(आदि० अ० २२१। ७)

अर्थात्—"किसी गट्ठेका पहला बंधन कितना ही मज़बूत क्यों न हो, पर जब वह दूसरी बार बाँधा जाता है तब उसका पहला बन्धन कुछ न कुछ ढीला हो ही जाता है।" कर्णके सम्बन्धमें कुन्तीका पुत्र-प्रेम युद्धके बाद भी प्रकट हुआ है। उत्तराने बृहन्नड़ासे कहा है कि रणभूमिसे अच्छे अच्छे वस्त्र मेरी गुड़ियोंके लिये अवश्य ले आओ। ऐसे और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

महाभारतमें वर्णित समस्त व्यक्ति उदात्त स्वरूपके हैं। इतना ही नहीं, किन्तु उसमें कहीं कहीं जिन देवताओंका वर्णन किया गया है उनके चरित्र भी उदात्त हैं। इस सम्बन्धमें होमरके इलियडकी अपेक्षा महाभारतकी कुशलता कहीं अधिक है। इलियडमें वर्णित यूनानी देवताओंका बर्ताव मनुष्योंसे भी बुरा है। वे परस्पर लड़ाई-झगड़ा मचाते और मारकाट भी करते हैं। उनका देवता-स्वरूप प्रायः नष्ट सा जान पड़ता है। महाभारतमें देवताओंका जो वर्णन है वह ऐसा नहीं है।

वे मनुष्योंके व्यवहारोंमें योंही हस्तक्षेप नहीं करते; और जब हस्तक्षेप करनेकी आवश्यकता होती है, तो वे देवताओं-के ही समान बर्ताव करते हैं। एक उदाहरण लीजिये। कर्णके सहजकवचको अर्जुनके लिये प्राप्त कर लेनेकी इच्छासे इन्द्रने एक उपाय रचा। इन्द्रको कर्णका यह व्रत मालूम था कि यदि कोई ब्राह्मण उससे कुछ माँगे तो वह कभी नाँहीं नहीं करता था। इसलिये इन्द्रने ब्राह्मणका रूप धारण किया और कर्णके पास जाकर उसके कवच-कुण्डल माँगे। दानशूर कर्णने तुरन्त ही अपने कवच-कुण्डल उसे दे दिये। परन्तु इन्द्र किसी साधारण मनुष्यकी नाईं कवच-कुण्डलोंको बगलमें दबाकर चुपचाप वहाँसे चला नहीं गया; उसने देव-स्वभावके अनुसार बर्ताव किया। सन्तुष्ट होकर उसने कर्णसे कहा,—"तू अपनी इच्छाके अनुसार वर माँग।" कर्णने उससे अमोघशक्ति माँगी। यद्यपि इन्द्र जानता था कि कर्ण उस अमोघशक्तिका प्रयोग अर्जुन पर भी करेगा, तो भी उसने कर्णको वह शक्ति दे दी। सारांश, महाभारतमें वर्णित देव-चरित्र देवताओंके ही समान उदात्त है। इलियडकी अपेक्षा महाभारतमें यह विशेष गुण है।

अब इस बातका विचार किया जायगा कि कविने अपने पात्रोंके स्वभावका वर्णन और अपनी कथाकी रचना कैसे की है। स्वभावका उद्घाटन भिन्न भिन्न वर्णनोंसे और विशेषतः सम्भाषणोंसे हुआ करता है। इस सम्बन्धमें भी महाभारतका दर्जा सबसे श्रेष्ठ है। महाभारतकी रमणीयता उसके सम्भाषणोंमें ही है। उसमें दिये हुए सम्भाषणोंके समान प्रभावशाली भाषण अन्य स्थानोंमें बहुत ही कम देख पड़ेंगे। उन भाषणोंके द्वारा भिन्न भिन्न पात्र उत्तम रीतिसे व्यक्त हो जाते हैं। ऐसे भाषणोंके कुछ उदाहरण ये हैं:—आदि पर्वमें रङ्गके समय दुर्योधन, कर्ण, अर्जुन और भीमके सम्भाषण; वन पर्वके आरम्भ में शिशुपाल और भीष्मके सम्भाषण; वन-पर्वके आरम्भमें युधिष्ठिर, भीम और द्रौपदीके सम्भाषण; और द्रोण पर्वमें धृष्टद्युम्नने द्रोणको जब मारा उस समय, धृष्टद्युम्न, सात्यकी, अर्जुन और युधिष्ठिरके सम्भाषण। कौरव-सभामें श्रीकृष्णका जो सम्भाषण हुआ वह तो सबमें शिरोमणि है। कर्ण पर्वमें कर्णके रथ पर हमला करनेके समय अर्जुनके साथ श्रीकृष्णने जो उत्साहजनक भाषण किया है वह भी वैसा ही है। ये तथा अन्य भाषण भारतकारके उत्तम कवित्वके साक्षी हैं। भारतमें वर्णित व्यक्तियोंके भाषणमें विशेषता यह है कि वे जोरदार और निर्भय हैं। उदाहरणार्थ, दुर्योधनको उपदेश देते समय विदुर उसकी तीखी निर्भर्त्सना करनेमें कुछ भी आगा-पीछा नहीं करता। कहा जा सकता है कि विदुरके लिये उसके जेठेपनकी स्थिति अनुकूल थी। परन्तु शकुन्तलाको तो यह भी आधार न था। इतना होने पर भी उसका दुष्यन्तसे राजसभामें भाषण निर्भय है और एक सदाचार-सम्पन्न, सद्गुणी, आश्रम-वासी कन्याके लिये शोभादायक है। कालिदासकी शकुन्तलामें और व्यासकी शकुन्तलामें जमीन आसमानका अन्तर है। जब दुष्यन्तने शकुन्तलाको भरी राजसभामें यह कहा कि—"मैंने तो तुझे पहले कभी देखा ही नहीं; फिर तेरे साथ विवाह करनेकी बात कैसे हो सकती है?" उस समय कालिदासकी शकुन्तलाके समान वह मूर्च्छित नहीं होती, किन्तु यह कहती हुई सभास्थलसे बाहर जाने लगती है कि—"जबकि तुम सत्यका ही आदर नहीं करते, तब मैं तुम्हारा सहवास

भी नहीं चाहती। सत्य, पति और पुत्रसे भी अधिक मूल्यवान है।"

कर्णपर्वमें शल्य और कर्णका जो सम्भाषण है वह भी इसी प्रकार तेज़ और ज़ोरदार है। इसीमें हंसकाकीय नामक एक कथा है जो बहुत ही चित्ताकर्षक है। नीतिके तत्त्वोंको हृदयङ्गम करा देनेके लिये बतलाई हुई पशु-पक्षियोंकी कथाओंका यह सबसे प्राचीन और सुन्दर उदाहरण है। अर्थात् यह नहीं समझना चाहिये कि इस पद्धतिको ईसापने ही जारी किया है; किन्तु यह ईसापसे भी अधिक प्राचीन है और व्यासजीके काव्यमें इस प्रकारकी जो दो तीन कथायें हैं वे उदाहरण-स्वरूप मानी जा सकती हैं। व्यासजीने अपने काव्यमें जो अनेक सम्भाषण दिये हैं उनसे पाठकोंके मन पर नीति-तत्त्वका उपदेश भली भाँति प्रतिबिम्बित हो जाता है; और सत्यवादित्व, ऋजुता, स्वकार्य-दक्षता, आत्मनिग्रह, उचित अभिमान, औदार्य, इत्यादि सद्गुणोंका पोषण होता है। महाभारतमें आत्मगत भाषण नहीं है। पश्चिमी ग्रन्थोंमें आत्मगत भाषण एक महत्त्वका भाग होता है और उसे वक्तृत्वपूर्ण बनानेके लिये उन ग्रन्थकारोंका प्रयत्न भी हुआ करता है। हमारे यहाँके ग्रन्थोंमें प्रायः ऐसे भाषण नहीं होते। कमसे कम महाभारतमें तो ऐसे भाषण नहीं हैं। यदि वास्तविक स्थितिका विचार किया जाय तो मानना पड़ेगा कि आत्मगत भाषण कभी कोई नहीं करता, सिर्फ़ चिन्तन किया करता है; और इस चिन्तनमें शब्दों अथवा अन्य बातोंका विशेष विचार नहीं किया जाता। अस्तुः यह प्रश्न ही निराला है।

महाभारतकी वर्णन-शैली ऊँचे दर्जेकी है। इसमें दिये हुए वर्णन होमर अथवा मिल्टनके किसी प्रकार शक्तिमें कम नहीं हैं। वर्णन करते समय किसी प्रकारकी गड़बड़ी नहीं देख पड़ती; शब्द सरल और ज़ोरदार होते हैं; तथा दृश्योंके वर्णन, और स्त्री-पुरुषोंके स्वरूप, स्वभाव एवं पहनावेके वर्णन हूबहू और मनोहर होते हैं। प्रत्यक्ष युद्धका जो वर्णन व्यासजीने किया है वह तो बहुत ही सरस है, यहाँतक कि वह अद्वितीय भी कहा जा सकता है। हाँ, यह बात सच है कि कहीं कहीं किसी एक ही प्रसङ्गके बार बार आ जानेसे पाठकोंका मन ऊब जाता है; परन्तु स्मरण रहे कि ये प्रसङ्ग सौतिके जोड़े हुए हैं। इसके सिवा एक और बात है। जिस समय लड़ाईके प्रधान शस्त्र धनुष-बाण ही थे और जिस समय रथियोंमें प्रायः द्वन्द्व युद्ध हुआ करते थे, उस समयके युद्ध-प्रसङ्गकी कल्पना हम लोगोंको अब इस समय अपने मनमें करनी चाहिये। इधर सैंकड़ों वर्षोंसे रथ-युद्ध और गज-युद्धका अस्तित्व नष्ट हो गया है, इसलिये आज हम लोग इस बातकी ठीक ठीक कल्पना नहीं कर सकते कि उन युद्धोंमें कैसी निपुणता और शूरता आवश्यक थी। परिणाम यह होता है कि व्यास-कृत युद्ध-वर्णन कभी कभी काल्पनिक मालूम होता है। ऐसे युद्धोंमें भी जो सैंकड़ों भिन्न भिन्न प्रसङ्ग उपस्थित हुआ करते हैं, उन सबका वर्णन सूक्ष्मतासे और वक्तृत्वके साथ किया गया है। महाभारतके युद्ध-प्रसङ्गोंकी कथाओंको सुनकर वीररस उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। यह बात प्रसिद्ध है कि महाभारतके श्रवणसे ही शिवाजीके समान वीरोंके हृदयमें शूरताकी स्फूर्ति हुई थी।

सृष्टि-सौन्दर्यके वर्णन महाभारतमें बहुत नहीं हैं; और जो हैं वे भी रामायणके वर्णनके समान सरस नहीं हैं। इतना होने पर भी महाभारतका दर्जा अन्य काव्योंसे श्रेष्ठ ही है; क्योंकि इसमें दिये हुए वर्णन प्रत्यक्ष देखनेवालोंके हैं। वनपर्वमें

हिमालयका जो वर्णन है वह उसीके मुखसे हो सकता है जो उस हिमाच्छादित ऊँचे प्रदेशमें प्रत्यक्ष रहता हो। जिस प्रकारके बवन्डरमें द्रौपदी और पाण्डव फँस गये थे वैसे बवन्डर हिमालयमें ही आया करते हैं। उस बवन्डरका वर्णन वैसा ही सरस और वास्तविक है जैसा कि उस प्रदेशमें रहनेवाला कोई कवि कर सकता है। गन्धमादन-पर्वतका वर्णन अतिशयोक्ति-पूर्ण होनेके कारण कुछ काल्पनिक मालूम होगा; परन्तु सच बात तो यह है कि गन्धमादन-पर्वत भी मेरु-पर्वतके समान कुछ कुछ काल्पनिक ही है।

महाभारतमें स्त्रियों और पुरुषोंका जो वर्णन है वह अत्यन्त मनोहर और मर्यादायुक्त है। आधुनिक संस्कृत कवियोंकी नाईं इस ग्रन्थमें स्त्रियोंकी सुन्दरताका वर्णन ग्राम्य रीतिसे नहीं किया गया है। युधिष्ठिरने द्रौपदीका जो वर्णन किया है वह देखने योग्य है। "जो न तो बहुत ऊँची है और न ठिंगनी, जो न मोटी है न पतली, जिसके नेत्र और श्वास शरद् ऋतुके कमलपत्रके समान बड़े और सुगन्धयुक्त हैं; जिस प्रकार किसी मनुष्यकी इच्छा होती है कि मेरी स्त्री इतनी सुन्दर हो उतनी ही जो सुन्दर है; और जो मेरे बाद सोती तथा पहले उठती है; ऐसी अपनी स्त्री द्रौपदीको मैं दाँवपर लगाता हूँ।" अस्तु; बृहन्नड़ाके भेषमें अर्जुनका जो वर्णन है वह बड़े मज़ेका और हूबहू है। जिस समय भीष्म और द्रोण लड़ाई पर जाते हैं, उस समयका वर्णन अथवा आदिपर्वमें रंगभूमि पर बिना बुलाये जानेवाले कर्णका वर्णन अत्यन्त चित्ताकर्षक है। आशा है कि इन उदाहरणोंसे यह विषय समझमें आ जायगा। अब हम इस काव्यके चौथे अङ्ग अर्थात् वृत्त और भाषाका विचार करते हैं।

महाभारतकी रचना मुख्यतः अनुष्टुप-वृत्तमें की गई है; और अनेक स्थानोंमें उपजाति-वृत्तका भी उपयोग किया गया है। गम्भीर कथा-वर्णन और महाकाव्यके लिये ये वृत्त सब प्रकारसे योग्य हैं। अर्वाचीन संस्कृत महाकाव्योंमें इन्हीं वृत्तोंका उपयोग किया गया है। पुराणोंमें, उपपुराणोंमें तथा अन्य साधारण ग्रन्थोंमें भी अनुष्टुप-छन्दका ही उपयोग किया जाता है, इसलिये यह वृत्त साधारण सा हो गया है। परन्तु प्राचीन महाकवियोंके अनुष्टुप-छन्दके श्लोक बड़े प्रौढ़ और गम्भीर होते हैं। यह बात रघुवंशके पहले और चौथे सर्गके श्लोकोंसे हर एकके ध्यानमें आ सकती है। महाभारतकी भाषा गम्भीर और प्रौढ़ है। इसी प्रकार वह सरल और शुद्ध भी है। सरलता और प्रौढ़ताका मेल प्रायः एक स्थानमें बहुत कम देखा जाता है। आधुनिक महाकाव्योंकी भाषा प्रौढ़ तो अवश्य है, पर इस गुणकी सिद्धिके लिये उनमें सरलताका त्याग करना पड़ा है। शब्दोंकी रमणीय ध्वनि पाठकोंको अच्छी लगती है सही, परन्तु शब्दोंका अर्थ समझनेमें उन्हें ठहरना पड़ता है और विचार भी करना पड़ता है। आधुनिक पुराण-ग्रन्थोंकी दशा उलटी है। उनकी भाषा तो सरल है, परन्तु वह बहुत अशुद्ध है और उसमें प्रौढ़ताका नामतक नहीं है। महाभारतमें दोनों गुण—प्रौढ़ता और सरलता—पाये जाते हैं। बोलचालकी भाषाका कोई अधिपति और प्रतिभाशाली कवि जैसी भाषाका उपयोग करेगा, वैसी ही भाषा महाभारतकी है। आर्नल्डका कथन है कि प्रौढ़ताके सम्बन्धमें मिल्टनके काव्यकी भाषा वैसी ही है जैसी गम्भीरताके लिये होनी चाहिये; परन्तु वह शुद्ध और अमिश्रित अँगरेज़ी भाषा नहीं है। उसमें लैटिन और ग्रीक शब्दों

तथा शब्द-रचनाओंकी भी भरमार है। सारांश, भाषाकी दृष्टिसे भी महाभारतका दर्जा मिल्टनके काव्यसे ऊँचा है। महाभारतके कुछ प्रधान भागोंमें जिस भाषाका उपयोग किया गया है उससे प्रकट होता है कि जब संस्कृत भाषा हजारों लोगोंकी बोलचालकी भाषा थी, उस समय की शुद्ध और सरल संस्कृत भाषामें प्रौढ़ शब्द-रचनाका होना कहाँतक सम्भव है।

महाभारतमें व्यासकृत जो मूल भाग है उसकी भाषा अन्य भागोंकी भाषासे विशेष सरस, सरल और गम्भीर देख पड़ती है। सौति भी कुछ कम प्रतिभावान कवि न था। परन्तु उसके समयमें साधारण जनताकी बोलचालमें संस्कृत भाषा प्रचलित न थी, इसलिये उसके द्वारा रचे हुए भागकी भाषामें कुछ थोड़ा सा अन्तर हो जाना स्वाभाविक है। जो यह जानना चाहते हैं कि व्यासकृत मूल भारतकी भाषा कितनी प्रौढ़, शुद्ध, सरस और सरल है, वे भगवद्गीताकी भाषाको एक बार अवश्य देखें। जिस प्रकार यह ग्रन्थ-भाग समस्त भारतसे मन्थन करके निकाला हुआ अमृत है, उसी प्रकार उसकी भाषा भी अमृत-तुल्य है। जिस प्रकार उसमें महाभारतका सबसे श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान भरा हुआ है, उसी प्रकार संस्कृत भाषा पर व्यास जीकी प्रभुता भी शिखरतक पहुँची हुई उसी ग्रन्थमें देख पड़ती है। संस्कृत भाषाके सम्पूर्ण साहित्यमें भाषाकी दृष्टिसे भी भगवद्गीताकी समानता करनेवाला कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। सरलता, शब्द-रचनाकी शुद्धता, वाक्योंकी श्रुतिमनोहर और गम्भीर ध्वनि आदि भगवद्गीताकी भाषाके अद्वितीय गुण हैं। इस सर्वोत्तम गीता-ग्रन्थका प्रत्येक शब्द और प्रत्येक वाक्य सुवर्णमय है: क्योंकि वे सचमुच सुवर्णके समान ही छोटे, वजनदार और तेजस्वी हैं।

ऊपर बतलाये हुए गुणोंके अतिरिक्त एक और गुणके कारण भी, संसारके सब आर्ष महाकाव्योंमें, महाभारतकी श्रेष्ठता प्रस्थापित होती है। यह नहीं बतलाया जा सकता कि किसी महाकाव्यका प्राण या जीवात्मा अमुक ही है। कवि विविध भाँतिसे अपने पाठकोंका मनोरंजन करता है और भिन्न भिन्न प्रसङ्गों तथा दृश्योंका वर्णन करता है; परन्तु मनोरंजनके सिवा उसका और कुछ हेतु देख नहीं पड़ता। महाभारतका हाल ऐसा नहीं है। उसमें एक प्रधान हेतु है जो समस्त ग्रन्थमें एक सामान्य सूत्रके समान ग्रथित है और जिसके कारण इस काव्यके प्राण या जीवात्माका परिचय स्पष्ट रीतिसे हो सकता है। किसी प्रसङ्गका वर्णन करते समय व्यासजीके नेत्रोंके सामने सदैव धर्म ही एक व्यापक हेतु उपस्थित रहा करता था। उनका उपदेश है कि "मनुष्यको धर्मका आचरण करना चाहिये; ईश्वर-सम्बन्धी तथा मनुष्य-सम्बन्धी अपने कर्तव्योंका पालन करना चाहिये तथा धर्माचरणसे ही उसके सब उद्दिष्ट हेतु सिद्ध होते हैं। उस धर्माचरणसे पराङ्मुख होनेके कारण ही उसके सब उद्दिष्ट हेतु नष्ट हो जाते हैं। चाहे कितना बड़ा सङ्कट क्यों न आ जाय, दशा कितनी ही बुरी क्यों न हो जाय, पर मनुष्यको धर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिये।" इसी उपदेशके अनुसार सौतिने भी स्थान स्थान पर उपदेश किया है। समस्त महाभारत-ग्रन्थमें धर्मकी महिमा कूट कूटकर भरी गई है। किसी आख्यान अथवा पर्वको लीजिये, उसका तात्पर्य यही देख पड़ेगा, इसी तत्वकी जयध्वनि सुन पड़ेगी कि "यतो धर्मस्ततो जयः।"

इस प्रकार धर्म और नीतिको प्रधान हेतु रखनेका प्रयत्न, पूर्व अथवा पश्चिमके और किसी महाकाव्यमें नहीं किया गया है। स्वयं व्यासजीने अपने शब्दोंसे भी अपने ग्रन्थका यही तात्पर्य बतलाया है। महाभारतके अन्तमें भारत-सावित्री नामक जो चार श्लोक हैं उनमें व्यासजी-ने अपने ग्रन्थके इस रहस्यको प्रकट कर दिया है। उनमेंसे एक श्लोक यह है:—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

अर्थात् "भुजा उठाकर और ज़ोरसे चिल्लाकर मैं तुम सब लोगोंसे कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्मसे ही अर्थ और कामकी सिद्धि होती है। फिर ऐसे धर्मका पालन तुम लोग क्यों नहीं करते?" व्यासजीका यही हार्दिक उपदेश इस ग्रन्थका परम तात्पर्य है और इसीसे सारे संसारमें इस ग्रन्थकी श्रेष्ठता प्रस्थापित होती है।

यहाँतक "महाभारतके कर्त्ता" के विषय में विचार करते हुए, इन सब बातोंका विस्तारसहित विवेचन किया गया है कि महाभारत-ग्रन्थ कितना बड़ा है, उसका मूल भाग कौन सा और कितना है, मूल भागको वर्तमान स्वरूप कैसे प्राप्त हुआ और इस ग्रन्थके कर्त्ता कौन कौन हैं। अब इसी विषयका संक्षेपमें सिंहावलोकन किया जायगा। महाभारत-में लगभग एक लाख श्लोक हैं। सम्भव नहीं कि इतनी बड़ी रचना एक ही कवि-की हो। इससे यह पाया जाता है कि इस ग्रन्थकी रचना एकसे अधिक कवियों-ने की होगी। दो कर्त्ता तो ग्रन्थसे ही स्पष्ट प्रकट होते हैं। वे व्यास और सौति हैं। व्यासकृत मूल भारतको पहले पहल वैशम्पायनने प्रसिद्ध किया है, इसलिये तीन कर्त्ताओंका होना माननेमें कोई हर्ज नहीं। व्यास और वैशम्पायनके ग्रन्थोंमें कुछ बहुत न्यूनाधिकता न होगी। जान पड़ता है कि वैशम्पायनके ग्रन्थमें २४००० श्लोक थे। मूल ग्रन्थका नाम 'जय' था। वैशम्पायनने उसका नाम भारत रखा। उसीने पहलेपहल भारत-संहिताका पठन किया था। आश्वलायन सूत्रमें उसे भारताचार्य कहा गया है। कहते हैं कि भारतमें ८८०० कूट श्लोक हैं। इससे कुछ लोगोंका अनुमान है कि व्यास-कृत भारतके श्लोकोंकी यही संख्या होगी; पर यह अनुमान ठीक नहीं है। व्यास-कृत भारतके श्लोकोंकी संख्या इससे बहुत अधिक होनी चाहिये। व्यासजीने लगातार तीन वर्षतक उद्योग करके, युद्धकी समाप्तिके अनन्तर, अपने ग्रन्थकी रचना की। वैशम्पायनने उसे कुछ थोड़ा सा बढ़ा दिया और २४००० श्लोकोंका ग्रन्थ बना दिया। और अन्तमें सौतिने उसीको एक लाख श्लोकोंका ग्रन्थ कर दिया। इतने बड़े ग्रन्थकी रचना करनेके लिये सौतिके समयकी सनातन धर्मकी दशा ही प्रधान कारण है। सौतिके समय सना-तन धर्म पर बौद्ध और जैन धर्मोंके हमले हो रहे थे। सनातन धर्ममें भी उस समय अनेक मतमतान्तर प्रचलित थे और उनका परस्पर विरोध हो रहा था। अतएव उस समय इस बातकी बहुत आवश्यकता थी कि छोटी छोटी सब गाथाओंको एकत्र करके और सब मतमतान्तरोंके विरोधको हटाकर किसी एक ही ग्रन्थमें सनातन धर्मका उज्वल स्वरूप प्रकट किया जाय। इस राष्ट्रीय कार्यको सौतिने पूरा किया। ऐसा करते समय उसने सब प्रचलित दन्त-कथाओंको एकत्र किया और अन्य रीतिसे भी महाभारतमें अनेक उपयोगी बातोंका संग्रह कर दिया। सारांश, धर्म, नीति, तत्त्वज्ञान

और इतिहासका एक बृहत् ग्रन्थ ही उसने बना डाला। यद्यपि यह ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता कि उसने किन किन भागोंको बढ़ाया है, तथापि इस विषयमें स्पष्ट रीतिसे कुछ अनुमान किया जा सकता है। सौतिने किन किन बातों-का विस्तार किया है, इसका भी विचार हो चुका। अन्तमें इस बातका भी विचार किया गया है कि कवित्वकी दृष्टिसे व्यास-कृत भारतकी श्रेष्ठता कितनी अधिक है। इस भारतमें सौतिने बहुत सी नई भर्ती कर दी है। परन्तु इससे ग्रन्थकी श्रेष्ठतामें कुछ न्यूनता नहीं हुई, प्रत्युत धर्म, नीति और कथाका उचित संग्रह इस ग्रन्थमें हो जानेके कारण इसे राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त हो गया है। इससे यह भी हुआ है कि मूल ग्रन्थके समयकी परि-स्थितिके सिवा सौतिके इसे बढ़ानेके समयकी परिस्थिति भी इसमें प्रतिबिम्बित हो गई है। वह सौतिका काल कौन सा था, इस बातका विचार करना जरूरी है। यह समय, जैसा कि हमने पूर्वमें कहा है, अशोकका ही समय है या और कोई, अब यही देखना है।

दूसरा प्रकरण ।

महाभारत ग्रन्थका काल ।

महाभारतके काल-सम्बन्धी विषयमें दो प्रश्न अन्तर्भाव हैं। पहला प्रश्न यह कि, जिस रूपमें अभी हम महाभारतको देखते हैं वह रूप उसे कब प्राप्त हुआ? और दूसरा प्रश्न, मूल महाभारत कबका है? सौतिने महाभारतमें अनुक्रमणिकाको जोड़कर प्रत्येक पर्वकी अध्याय-संख्या और श्लोक-संख्या दी है। इस अनुक्रमणिकाके अनुसार जाँच करने पर मालूम होता है (और यह हम पहले देख भी चुके हैं) कि, प्रचलित महाभारतमें सौतिके समयसे कुछ भी नई भरती नहीं हुई है। इसलिये हम निश्चयपूर्वक मान सकते हैं कि प्रचलित महाभारत और सौतिका महाभारत एक ही है। इस ग्रन्थका काल-निर्णय अन्तस्थ तथा बाह्य प्रमाणोंके आधारपर निश्चयात्मक रीतिसे किया जा सकता है। पहले तो महाभारत व्यासजी-का बनाया हुआ है और फिर इसके बाद वैशम्पायनकी रचना हुई। तब प्रश्न होता है कि ये ग्रन्थ कब बने? यथार्थमें यह प्रश्न विकट है। इसका निर्णय करनेके लिये महाभारतके कुछ विशिष्ट भागोंका ही उपयोग हो सकता है। और उन भागोंका सम्बन्ध भारती-युद्धके साथ जा पहुँचता है। इस प्रश्नका विचार करनेमें अनुमानपर ही अधिक अवलम्बित होना पड़ता है और विद्वान् लोग भी इस विषयमें भिन्न भिन्न अनुमान करते हैं। अतएव इस प्रश्नको अभी अलग छोड़कर, इस भागमें पहले प्रश्नका ही विचार किया जायगा। महाभारतमें ही कहा है कि, प्रचलित महाभारतमें एक लाख श्लोक हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष जोड़ दो चार हज़ारसे कम हो, तथापि लोगोंकी यह समझ महाभारतके समयसे ही चली आती है कि महाभारत एक लाख श्लोकोंका ग्रन्थ है। ऐसी दशा-में महाभारत ग्रन्थ एक लक्षात्मक कब हुआ, यह निश्चित करनेके लिये देखना चाहिये कि बाह्य प्रमाणोंमें एक लक्षात्मक ग्रन्थका उल्लेख कहाँ कहाँ मिलता है। इस तरहका उल्लेख दो स्थानोंमें पाया जाता है। गुप्तकालीन एक लेखमें "शत साहस्र्यां संहितायां" कहा है। इस लेखका काल* ईसवी सन ४४५ है। इससे प्रकट होता है कि महाभारतको उसका वर्तमान रूप ईसवी सन् ४०० के पहिले प्राप्त हुआ था। इससे कुछ लोग समझते हैं कि महाभारतको वर्तमान स्वरूप गुप्तोंके जमानेमें प्राप्त हुआ है। परन्तु यह भूल है, क्योंकि एक लक्षात्मक ग्रन्थका उल्लेख इसके भी पहले पाया जाता है और वह यूनानियोंके लेखमें है। यह ग्रीक लेखक या वक्ता डायोन क्रायसोस्टोम है। यह ईसवी सनकी पहिली शताब्दीमें दक्षिण हिन्दुस्थानके पाण्ड्य, केरल इत्यादि भागोंमें आया था। इसने लिखा है कि हिन्दुस्थान-में एक लाख श्लोकोंका 'इलियड' है। जिस प्रकार इलियड ग्रीक लोगोंका राष्ट्रीय महाकाव्य है, उसी प्रकार महा-भारत हिन्दुस्थानका राष्ट्रीय महाकाव्य है। इस यूनानी लेखकने यद्यपि महा-भारतका नाम नहीं दिया है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उक्त उल्लेखका सम्बन्ध महाभारतसे ही है। ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती कि यह उल्लेख रामा-यणके सम्बन्धमें होगा; क्योंकि यद्यपि

* उच्चकल्पके महाराज सर्वनाथके, सम्वत १९७ के, लेख (गुप्त इन्स्क्रिपशन्स, भाग ३, पृष्ठ १३४) में कलचूरी सम्वत है। अर्थात् यह लेख १९७+१७० = ३६७ शकका, यानी सन ४४५ का है।

वर्तमान रामायण-ग्रन्थ उस प्रवासीके समयमें था, तथापि वह कुछ एक लक्षात्मक नहीं है। वह बहुत ही छोटा यानी इसके चतुर्थांशके लगभग है। तात्पर्य, यह उल्लेख महाभारतको ही लागू होता है। डायोन क्रायसोस्टोमका समय यदि ईसवी सन् ५० के लगभग माना जाय, तो यह स्पष्ट है कि उस समय दक्षिणके पांड्य देशमें महाभारत प्रचलित था और इसी लिये सौतिका महाभारत उसके अनेक वर्ष पहले बन चुका होगा। इस ग्रीक वक्ताका उल्लेख सबसे पहले वेबरने किया है और उसकी समझके अनुसार 'इलियड' शब्दसे महाभारतका ही बोध होता है। वह कहता है—"जिसकी श्लोक-संख्या इतनी बड़ी हो कि जितनी महाभारतकी है, ऐसे महाकाव्यके हिन्दुस्थानमें होनेका सबसे पहला प्रमाण डायोन क्रायसोस्टोमके लेखमें पाया जाता है।" आगे चलकर वेबर कहता है—"जब कि मेगास्थिनीजके ग्रन्थमें महाभारतका कोई उल्लेख नहीं है, महाभारतका आरम्भ मेगास्थिनीजके बाद हुआ होगा।" परन्तु यहाँ पर वेबरकी भूल है। यह बात प्रसिद्ध है कि मेगास्थिनीज नामका ग्रीक राजदूत हिन्दुस्थान देशमें चन्द्रगुप्त सम्राट्के दरबारमें था। अर्थात् उसका समय ईसवी सन् ३०० है। उस समय हिन्दुस्थानके सम्बन्धमें जो जो बातें उसे मालूम हुई उन सबको उसने इंडिका नामक ग्रन्थमें लिखा था। यद्यपि वह ग्रन्थ नष्ट हो गया है, तथापि अन्य ग्रन्थकारों द्वारा दिये हुए उसके बहुतेरे अवतरण पाये जाते हैं। यह बात सच है कि अवतरणोंमें भारत जैसे ग्रन्थका उल्लेख नहीं है; परन्तु जब कि मेगास्थिनीजका समस्त ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है, तो निश्चयपूर्वक यह भी नहीं कहा जा सकता कि उस ग्रन्थमें भारतका उल्लेख है ही नहीं। बहुत हो तो इतनाही कहा जा सकता है, कि उसके समयमें एक लक्षात्मक महाभारत नहीं था और यथार्थमें वह था भी नहीं। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय भारतका अस्तित्व ही नहीं था। इसी लिये तो हमने महाभारतके समयको अशोकका समकालीन माना है। चन्द्रगुप्तके समयमें एक लाख श्लोकोंका महाभारत नहीं होगा। चन्द्रगुप्तके नाती अशोकके समयमें वह तैयार किया गया होगा; अर्थात् ईसवी सन्के लगभग २५० वर्ष पहले वह उत्तर हिन्दुस्थानमें तैयार होकर करीब ३०० वर्षमें दक्षिणकी ओर कन्याकुमारी तक प्रचलित हो गया होगा; और वहाँ सन् ५० ई० के करीब डायोन क्रायसोस्टोमको दृष्टिगोचर हुआ होगा।

इस प्रकार महाभारतके कालकी सबसे नीचेकी मर्यादा सन् ५० ई० है। डायोन क्रायसोस्टोमकी साक्षी अत्यन्त महत्वकी और बहुत दृढ़ है। उसमें एक लक्षात्मक ग्रन्थका उल्लेख स्पष्ट रीतिसे पाया जाता है। ऐसी दशामें यह बड़ी भारी भूल है कि बहुतेरे लोग इस साक्षी अथवा प्रमाणकी ओर पूरा पूरा ध्यान नहीं देते और महाभारतके समयको सन् ५० ईसवीके इस पार घसीट लानेका प्रयत्न करते हैं। जान पड़ता है कि मानो ऐसे विद्वानोंको इस साक्षी अथवा प्रमाणका कुछ पता ही मालूम न हो। हम ऊपर कह आये हैं कि प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रोफेसर वेबरको यह प्रमाण मालूम था। इसलिये जबतक यह प्रमाण काटकर रद्द न कर दिया जाय, तबतक महाभारतका समय सन् ५० ईसवीके इस पार किसी तरह घसीटा नहीं जा सकता। अब इस सम्बन्धमें अधिक विचार न करके हम इस बातको सोचेंगे कि महाभारतके कालकी ऊँची मर्यादा

कौन सी है। प्रथम महत्त्वकी बात यह है कि महाभारतमें यवनोंका उल्लेख बार बार किया गया है। उनकी कुशलताके वर्णन* में यह भी कहा गया है कि वे बड़े योद्धा हैं। आदि पर्वमें वर्णन है कि—"जिस यवन राजाको वीर्यवान् पांडु भी न जीत सका उसे अर्जुनने जीत लिया।" यह बात प्रसिद्ध है कि यवनोंका और हमारा बहुत समीपका परिचय अलेक्ज़ेन्डर (सिकन्दर) के समय हुआ। इसके पहले यवनोंका और हमारा जो परिचय हुआ था वह समीपका न था। हम लोगोंको उनके बुद्धि-कौशल्यका परिचय या अनुभव कुछ भी न था। ऐसी अवस्थामें सिकन्दरकी चढ़ाईको, अर्थात् ईसवी सन्के पहले लगभग ३२० वर्षको, साधारण तौर पर, महाभारतके कालकी पूर्वमर्यादा कह सकते हैं। और यह बात सिद्ध मानी जा सकती है, कि ईसवी सन्के पहले ३२० वर्षसे लेकर सन् ५० ईसवीतक एक लाख श्लोकोंका वर्तमान महाभारत तैयार हुआ है।

ज्योतिष-शास्त्रके आधार पर दूसरा प्रमाण दिया जा सकता है। ज्योतिष-शास्त्रकी दो बातें—अर्थात् राशि और नक्षत्र—इस काल-निर्णयके काममें बहुत उपयोगी हुआ करती हैं। हमारे मूल आर्य-ज्योतिषकी रचना नक्षत्रों पर है और यूनानी ज्योतिषकी रचना राशियों पर है। बहुत कुछ निश्चयात्मक रीतिसे यह बतलाया जा सकता है कि हिन्दुस्थानमें राशियोंका प्रवेश कबसे हुआ। प्रमाणकी दृष्टिसे यह एक महत्त्वकी बात है कि महाभारतमें मेष, वृषभ आदि राशियोंका उल्लेख कहीं नहीं है। महाभारतमें जहाँ जहाँ काल-निर्देश किया गया है, वहाँ वहाँ यही कहा गया है कि अमुक बात अमुक नक्षत्र पर हुई। रामायणमें जहाँ रामजन्मका वर्णन है, वहाँ यही कहा गया है कि उस समय कर्क लग्न पर पाँच ग्रह उच्च स्थानमें थे। इससे निश्चय होता है कि हिन्दुस्थानमें राशियोंके प्रचलित हो जाने पर रामायणको वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ है। महाभारतमें युधिष्ठिरका जो जन्म-काल बतलाया गया है वह राशि-व्यतिरिक्त है। उसके सम्बन्धमें यह वर्णन है कि जब चन्द्र ज्येष्ठा नक्षत्र पर था, तब अभिजित् मुहूर्तमें युधिष्ठिरका जन्म हुआ*। सारांश,

* हापकिन्सका कथन है कि महाभारतमे ग्रीक (यूनानी) शब्दोंका भी प्रवेश हो गया है। जतुदाह पर्वमे जहाँ यह वर्णन है कि जमीनके अन्दर खोदकर रास्ता बनाया गया था, वहाँ सुरङ्ग शब्दका प्रयोग किया गया है; जैसे "सुरंगा विविशुस्तर्णं मात्रामार्धमरिंदमाः।" (भा० आदि० अ० १४८—१२)। हापकिन्सका कथन है कि यह सुरङ्ग शब्द ग्रीक 'सिरिंजस' शब्दसे बना है। हम भी समझते हैं कि यह शब्द ग्रीक होगा। यह भी जान पडता है कि पुरोचन यवन था। सुरङ्ग लगानेकी युक्ति यूनानियोंके युद्धकलामे होगी। इस जतुदाह पर्वमे यह वर्णन है कि म्लेच्छ भाषामें बातचीत करके विदुरने युधिष्ठिरको लाक्षागृहमें जलाये जानेके प्रयत्नकी सूचना इस प्रकार दे दी कि जो और लोगोंकी समझमे न आ सकी। परन्तु आगे चलकर विदुरका जो भाषण दिया गया है वह संस्कृतमें और कूट श्लोकोंके समान है। यह एक महत्त्वका प्रश्न है कि विदुरने किस म्लेच्छ भाषामें बातचीत की। टीकाकारने सुझाया है कि वह प्राकृत भाषामें बोला। परन्तु सच बात तो यह है कि प्राकृत कुछ म्लेच्छ भाषा नहीं है। और यदि वह वैसी हो तो भी इस देशके साधारण लोग उसी भाषामें बातचीत करते थे, इसलिये यह नहीं माना जा सकता कि वह लोगोंकी समझमें आई न हो। हमारा खयाल है कि वह भाषा यूनानी ही होगी। सिकन्दरके जमानेमें कुछ समयतक, पंजाबमे राजभाषा समझकर, कुछ लोग यूनानी भाषा बोलना सीख गये होंगे; और वर्तमान समयमें जिस प्रकार हम लोग दूसरोंको समझमें न आने देनेके लिये अँगरेजी भाषामें बोलते है, उसी प्रकार गुप्त कार्रवाइयोंके लिये यूनानी भाषाका उपयोग किया जाता होगा। सारांश, जब इस प्रकार यूनानी भाषाका कुछ प्रचार हो चुका होगा तब महाभारत बना होगा।

* महाभारतके आदि पर्वमें युधिष्ठिरके जन्मकालके सम्बन्धमे यह वाक्य है:—"ऐन्द्रे चन्द्रसमारोहे मुहूर्तेऽभिजितेऽष्टमे। दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेऽतिपूजिते।" इस श्लोकमे राशिका उल्लेख कहीं नहीं है। इस पर

महाभारतमें जहाँ तहाँ नक्षत्रोंका ही उल्लेख है, राशियोंका उल्लेख नहीं है। इससे निर्णयात्मक रीतिसे मालूम हो जाता है कि हिन्दुस्थानमें राशियोंका प्रचार महाभारतके बाद हुआ है। प्राचीन समयके अपने किसी ग्रन्थके विषयमें यदि निश्चयात्मक रीतिसे जानना हो कि वह ग्रन्थ सचमुच प्राचीन है या नया, तो राशियोंका उल्लेख एक अत्यन्त महत्त्वका ज्ञापक प्रमाण है। इस उल्लेखके आधार पर प्राचीन ग्रन्थोंके दो भाग—अर्थात् पूर्वकालीन और आधुनिक—हो जाते हैं। अब हमें इस बातका विचार करना चाहिये कि हिन्दुस्थानमें राशियाँ कबसे प्रचलित हुईं।

यह बात निश्चयात्मक रीतिसे सिद्ध है कि राशियाँ हम लोगोंने यूनानियोंसे ली हैं। शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित कृत 'भारतीय ज्योतिष शास्त्र' के १३६ वें पृष्ठमें यह निश्चय किया गया है कि ईसवी सनके लगभग ४५० वर्ष पूर्व हमारे यहाँ राशियाँ ली गईं। महाभारतमें श्रवणादि गणना है, उसका समय शक ४५० है; और भारतमें राशियाँ नहीं हैं, इससे प्रकट होता है कि शकके पहले लगभग ५०० वर्षतक मेषादि नाम हमारे देशमें नहीं थे।" दीक्षितका मत है कि शकके पहले ५०० के लगभग हमारे देशमें मेषादिका प्रचार हुआ; परन्तु इस मतमें बहुत कुछ रद्-बदल करना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देशमें मेषादि राशियोंके नाम उसी समय प्रचलित हुए हैं जब कि यूनानियोंके साथ हमारा दृढ़ परिचय हो गया था। इसलिये प्रस्तुत विवेचनमें इस बातका ऐतिहासिक विचार भी किया जाना चाहिये कि यूनानियोंके साथ हमारा दृढ़ परिचय कब हुआ।

ईसवी सनके पहिले ३२३ वें वर्षमें सिकन्दरने हिन्दुस्थान पर चढ़ाई की थी। उसी समय ग्रीक लोगोंके साथ हमारा निकटका परिचय हुआ और हमें उनकी शूरताकी पहचान हुई। परन्तु उस समय उनके ज्योतिष-शास्त्रका कुछ दृढ़ परिचय हम लोगोंको नहीं हुआ, क्योंकि सिकन्दरके लौट जाने पर पञ्जाबसे ग्रीक-सत्ताका उच्चाटन चन्द्रगुप्तने कर डाला। इसके बाद चन्द्रगुप्तके दरबारमें मेगास्थिनीज़ नामका एक यूनानी राजदूत रहता था और आगे भी कुछ दिनोंतक यूनानियोंके राजदूत यहाँ रहा करते थे। परन्तु यह सम्बन्ध पर-राष्ट्रीय सम्बन्धके ढंगका था, इसलिये इसमें विशेष दृढ़ परिचय होनेकी कोई सम्भावना न थी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सिकन्दरके पहले यूनानियोंके साथ हमारा कुछ भी परिचय न था। पारसीक (Persian) लोगोंके बादशाह दाराउस और खुसरोने पूर्वकी ओर सिन्धतकका मुल्क जीत लिया था और पश्चिमकी ओर एशिया माइनरके किनारे परकी ग्रीक रियासतोंको जीत लिया था। ग्रीक लोगोंके इतिहाससे पता चलता है इस बादशाहकी फौजमें भिन्न भिन्न देशोंकी सेनाएँ, ग्रीक लोगोंकी तथा हिन्दुस्थानके निवासियोंकी भी सेनाएँ, थीं; और हमारे हिन्दुस्थानी भाई उस बादशाहके साथ यूनान देशतक गये भी। सारांश, ईसवी सनके पहिले ५०० वर्ष तक यूनानियोंके साथ हमारे सहवासका प्रमाण मिलता है। इसके पहिले भी कई सौ वर्ष

चतुर्धरकी यह टीका है:—"ऐन्द्रे ज्येष्ठानक्षत्रे अष्टमे सम्वत्सरारम्भात् अभिजितेऽभिजिति त्रिंशन् मुहूर्तस्यान्होऽष्टमे मुहूर्ते दिवा शुक्लपक्षे मध्यगते तुलागते तिथौ पूर्णे पूर्णायां पंचम्यां अयं योगः।" इसमें 'मध्यगते' का अर्थ 'तुलायनगते' नहीं किया जा सकता। यह एक कूटार्थका ही प्रकार है। कदाचित् टीकाकारको 'दिवा मध्यगते सूर्ये' अधिक जान पड़ा होगा (क्योंकि अभिजित् मुहूर्तसे उसका बोध हो जाता है) इसलिये यह अर्थ किया गया हो। परन्तु इसका कुछ दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। कुछ भी हो, यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि मूलमें राशिका नाम नहीं है।

तक व्यापारके सम्बन्धसे उन लोगोंकी जानकारी हमको अवश्य होगी। इसके सिवा सिकन्दरके समय उसके साथ रहनेवाले ग्रीक लोगोंको मालूम हुआ कि अफगानिस्तानमें यूनानियोंकी एक प्राचीन बस्ती है। इसी यवन जातिके लोगोंका नाम कांबोज आदि म्लेच्छोंके साथ साथ महाभारतमें बार बार पाया जाता है। इन लोगोंके आचार-विचार बहुत कुछ बदल गये थे। इन सब बातोंसे जान पड़ता है कि ईसवी सनके पहिले ८००-६०० वर्षसे लेकर सिकन्दरके समयतक अर्थात् सन ३०० ईसवीतक हम लोगोंको यूनानियों-का परिचय था। ये लोग मुख्यतः अयोनि-यन जातिके थे। इसीसे हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें यूनानियोंके लिये 'यवन' शब्दका प्रयोग किया गया है। इतने विस्तारके साथ विवेचन करनेका कारण यह है कि पाणिनिके सूत्रोंमें यवन-लिपिका उल्लेख पाया जाता है। पाणिनिका समय सिकन्दर-के पहलेका होना चाहिये। तब प्रश्न है कि उसके सूत्रोंमें यवन शब्द कैसे आया? यदि सिकन्दरके पहले यवनोंका कुछ परिचय न हो, तो पाणिनिके सूत्रोंको सिक-न्दरके बादका ही समय देना चाहिये। परन्तु हम देख चुके हैं कि हमारा यह परिचय ईसवी सनके पहले ८००-६०० वर्ष तकका प्राचीन है। ऐसी अवस्थामें पाणिनि-का समय वहाँतक जा सकता है; परन्तु इतने अल्प परिचयसे ही हिन्दुस्थानमें मेषादि राशियोंका प्रचलित हो जाना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि हमारे यहाँ मेषादि राशियोंके आ जानेसे ज्योतिष शास्त्रके गणितमें बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है। इसके पहलेका वेदांग-ज्योतिष नक्षत्रादि सत्ताईस विभागों पर बना है और उसके इस पारका सब ज्योतिष-गणित १२ राशियों तथा ३० अंशोंके आधार पर रचा गया है। इतने बड़े परिवर्तनके लिये ग्रीक लोगोंका और हमारा एकत्र सहवास तथा दृढ़ परिचय अत्यन्त आव-श्यक है। अब देखना चाहिये कि यह सह-वास और परिचय कब हुआ।

जब सेल्यूकसकी अमलदारी हिन्दु-स्थानसे उठ गई, तब ईसवी सनके पहिले २०० के लगभग, बैक्ट्रियन देशमें स्थित यूनानियोंने हिन्दुस्थान पर चढ़ाई करके पंजाबमें फिर अपना राज्य स्थापित किया। उनका यह राज्य १०० वर्षतक हिन्दुस्थान-में रहा। ग्रीक लोगोंका और शक लोगों-का साहचर्य्य प्रसिद्ध है। इसीसे 'शक-यवनम' शब्द प्रचलित हुआ। उनका मशहूर राजा मिनन्डर बौद्ध इतिहासमें 'मिलिन्द' नामसे प्रसिद्ध है। उसीके प्रश्नोंके सम्बन्धमें 'मिलिन्द-प्रश्न' नामक बौद्ध ग्रन्थ बना है। इन ग्रीक लोगोंके अनन्तर अथवा लगभग उसी समय शक लोगोंने हिन्दुस्थान पर चढ़ाइयाँ कीं। उनके दो भाग होते हैं। एक भाग वह है जो पंजाबमेंसे होता हुआ मथुरातक फैल गया था; और दूसरा वह है जो सिंध-काठियावाड़से होता हुआ उज्जैन-की ओर मालवेतक चला गया था। इन शकोंके साथ यूनानी भी थे, क्योंकि उनके राज्य बैक्ट्रियामें ही थे। वे लोग यूनानियोंके सब शास्त्र और कला-कुश-लता जानते थे। ऊपर लिखे हुए दूसरे भागके शक लोगोंने उज्जैनको जीतकर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया और विक्रमके वंशजोंके बाद वहीं शक लोगोंकी राज-धानी हो गई। उन्होंने यहाँ शककाल आरम्भ किया इसी लिये उस कालको 'शक' कहते हैं। शक लोगोंका राज्य उज्जैन, मालवा और काठियावाड़में लगभग ३०० वर्षोंतक रहा। इन्हींकी अमलदारीमें यवन-ज्योतिष और भारतीय ज्योतिषके

शास्त्रवेत्ताओंने अपनी विद्या एकत्र की और राश्यंशादि-घटित ग्रह-गणितका आरम्भ किया। प्राचीन पंचसिद्धान्त यहीं बनाये गये होंगे। वे सब राश्यंश-घटित गणितके आधार पर रचे गये हैं। इसके बादके ब्रह्मसिद्धान्त, आर्यसिद्धान्त और सूर्य-सिद्धान्त भी इन्हींके आधार पर बनाये गये हैं। सारांश, यूनानी ज्योतिषकी सहायतासे उज्जैनमें आधुनिक आर्य ज्योतिषकी रचना की गई है; इसी लिये सब भारतीय ज्योतिषकार उज्जैनके रेखांशको शून्य रेखांश मानते हैं। जिस प्रकार अंग्रेज ज्योतिषी ग्रीनिचके रेखांशको शून्य मानते हैं उसी प्रकार आर्य ज्योतिषी उज्जैनके रेखांशको शून्य मानते हैं। वहाँ राजाश्रयके अधीन एक प्राचीन वेधशाला भी थी और वहीं वर्तमान आर्य ज्योतिषकी नींव डाली गई। ज्योतिष शास्त्रका यह अभ्यास कुछ एक दो वर्षका ही न होगा, क्योंकि उसे जो नया स्वरूप प्राप्त हुआ है वह केवल ग्रीक लोगोंके अनुकरणसे ही प्राप्त नहीं हुआ है। उसका विकास स्वतन्त्र रीति और स्वतन्त्र पद्धतिसे हुआ है। उसमें ग्रहगणित एक प्रधान अंग अवश्य है; परन्तु युगादिकी कल्पना और गणित ग्रीक लोगोंसे बिलकुल भिन्न है। उसमें कल्पके आरम्भका निश्चय करते समय अनेक प्रकारका गणित तैयार करना पड़ा है। सारांश यह है कि हिन्दुस्थानमें पञ्जाबसे लेकर मालवेतक सौ दो सौ वर्ष ज्योतिषशास्त्रका अभ्यास होता रहा होगा और उज्जैनमें राजाश्रयसे उसका अन्तिम स्वरूप निश्चित तथा स्थिर हो गया होगा।

इस प्रकार इतिहासकी दृष्टिसे मालूम होता है कि हिन्दुस्थानमें राश्यंशादि गणितका प्रचार ईसवी सन्के लगभग २०० वर्ष पहले हुआ है। यह बात सच है कि शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितका बतलाया हुआ ४५० वर्षका समय इससे भी दूरका है; परन्तु उसे घटाकर ईसवी सन्के पहले २०० वर्ष माननेमें कोई हर्ज नहीं, क्योंकि वह पूर्व-मर्यादा है। अतएव सिद्ध है कि उसके इस पार यह समय हो सकता है और उस पार किसी दशामें नहीं जा सकता। ऐतिहासिक प्रमाणोंके आधार पर राशि, अंश आदिके प्रचलित होनेके इस ओरके इस निश्चित समय पर यदि ध्यान दिया जाय, तो मालूम होगा कि महाभारत इस समयके पहलेका है, क्योंकि उसमें राशियोंका उल्लेख नहीं है। इस दृष्टिसे विचार करने पर पहले बतलाया हुआ हमारा समय अर्थात् ईसवी सन्के पहले २५० वर्ष ही प्रायः निश्चित सा हो जाता है। जब कि मेगास्थिनीजके ग्रन्थमें महाभारतका उल्लेख नहीं है, तब पहला अनुमान यह है कि वह ग्रन्थ ईसवी सन्के पहले ३०० वर्षके इस ओरका होगा। दूसरी बात यह है कि ग्रीक लोगोंकी शूरताका वर्णन महाभारतमें पाया जाता है। इससे भी यही निश्चय होता है कि उसका समय सिकन्दरकी चढ़ाईके बादका होना चाहिये, अर्थात् ईसवी सन्के पहले ३०० वर्षके इधरका होना चाहिये। अब तीसरा प्रमाण लीजिये: राशि आदिके प्रचलित होनेका जो समय ईसवी सन्के पहले दो सौ वर्ष है, वह इससे भी अधिक समीपका अर्थात् इस ओरका हो सकता है सही; परन्तु वह समय सौ वर्षसे अधिक इस ओर घसीटा नहीं जा सकता। स्वयं शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितका कथन है कि वे प्राचीन सिद्धान्त-ग्रन्थ, जिनमें राशि आदिका गणित है, ईसवी सन्से पहले सौ वर्षसे अधिक इस ओरके नहीं हो सकते। ऐसी दशामें बहुत हो तो, महाभारतके कालकी

इस ओरकी मर्यादा ईसवी सन्के पहले सौ वर्षकी मानी जा सकेगी।

यह विषय अत्यन्त महत्त्वका है। वह सब साधारण पढ़नेवालोंकी समझमें भली भाँति आ जाय, इसलिये कुछ अधिक विस्तारपूर्वक लिखना आवश्यक है। हमारा कथन है कि जिन ग्रन्थोंमें राशियों-का उल्लेख नहीं है, अर्थात् ऐसे उल्लेखकी आवश्यकता होने पर भी जिनमें केवल नक्षत्रोंका ही उल्लेख है, वे ग्रन्थ ईसवी सन्के लगभग दो सौ वर्ष पूर्वके उस पार-के होंगे। कारण यह है कि आरम्भमें मेषादि राशियोंका प्रचार हमारे यहाँ न था और इनका स्वीकार लगभग इसी समय (ईसवी सन्के पहले २०० वर्ष) ग्रीक लोगोंसे हमने किया। इस विषयमें शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितका और हमारा कुछ मतभेद है। उनका कथन है कि हम लोगोंने यूनानियोंसे राशियोंका स्वीकार नहीं किया, किन्तु ईसवी सन्के लगभग ४४६ वर्ष पहले हम लोगोंने इन राशियों-की कल्पना स्वतन्त्र रीतिसे की है। इस बातको वे भी मानते हैं कि इस समयके पहिले हम लोगोंमें राशियोंका प्रचार न था। अब इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि मेष, वृषभ इत्यादि राशियोंके नाम और ग्रीक लोगोंमें प्रचलित राशियोंके नाम समान हैं; और उनकी आकृतियाँ भी समान काल्पनिक हैं। ऐसी दशामें, एकही समान आकृतियोंकी कल्पनाका दो भिन्न भिन्न स्थानोंमें उत्पन्न होना असम्भव जान पड़ता है। इससे तो यही विशेष सम्भवनीय देख पड़ता है कि हमारे यहाँ राशियाँ ग्रीक लोगोंसे ली गई हैं। यदि यह मान लिया जाय कि हम लोगोंने यूनानियोंसे राशियाँ ली हैं, तो यहाँ प्रश्न उठता है कि दीक्षितने गणितसे कैसे सिद्ध कर दिया कि राशियोंके प्रचार-का समय ग्रीक लोगोंके पहलेका है? अतएव यहाँ इस प्रश्नका कुछ विचार होना चाहिये। राशियोंका आरम्भ मेषसे होता है और नक्षत्रोंके साथ उनका जो मेल मिलाया गया है वह अश्विनीसे है। इसलिये यह अनुमान होता है कि जब वसन्त-सम्पात मेषके आरम्भमें अश्विनी-नक्षत्रमें था तब यह मेल हिन्दुस्थानमें मिलाया गया होगा। वसन्त-सम्पातकी गति पीछेकी ओर होती है; अर्थात् पहले जब मेष, वृषभ इत्यादि राशियोंका आरम्भ किसी एक बिन्दुसे माना गया था, तो अब वह बिन्दु अश्विनी-नक्षत्रसे पीछेकी ओर हटता चला आया है। इस समय मेषारम्भका यह बिन्दु रेवती नक्षत्रसे भी पीछे चला गया है। यह गति लगभग ७२ वर्षोंमें एक अंशके परिमाणसे होती है। इसके अनुसार वर्तमान स्थितिके आधार पर इस बातका निश्चय किया जा सकता है कि अश्विनी नक्षत्रसे मेषारम्भ कब था। इस प्रकार हिसाब करके दीक्षितने ईसवी सन्के पहले ४४६वाँ वर्ष निश्चित किया है। पर अब हमें यहाँ नक्षत्रोंके सम्बन्धमें कुछ अधिक विचार करना चाहिये।

वेदोंमें नक्षत्रोंकी गणना कृत्तिकासे की गई है। जहाँ कहीं नक्षत्रोंका नाम आया है वहाँ कृत्तिका, रोहिणी, मृग आदि नक्षत्र-गणना पाई जाती है। इसके अनन्तर किसी समय, जान पड़ता है कि भरणी, कृत्तिका आदि गणना प्रचलित हुई होगी। ये दोनों गणनाएँ महाभारतमें बतलाई गई हैं। अनुशासन पर्वके ६४वें और ८६वें अध्यायोंमें कृत्तिकादि सब नक्षत्र बतलाये गये हैं; परन्तु एक और स्थानमें कहा गया है कि श्रवण सब नक्ष-त्रोंके आरम्भमें है। अश्वमेध पर्वके ४४वें अध्यायमें 'श्रवणादीनि ऋक्षाणि' कहा है।

इससे प्रकट होता है नक्षत्रोंका आरम्भ श्रवणसे है; अर्थात् जब श्रवण नक्षत्र पर उदगयन हो तब नक्षत्रोंका आरम्भ भरणी-से माननेमें कोई हर्ज नहीं है। कारण यह है कि वेदांग-ज्योतिषमें धनिष्ठा नक्षत्र पर उदगयन बतलाया गया है। इसका अर्थ यही होता है कि कृत्तिकाके पहले सातवें नक्षत्र पर उदगयन है। जब वह एक नक्षत्रके पहले आ जाय तब एक नक्षत्र-प्रारम्भ कृत्तिकाके पीछे हट जाता है; अर्थात् उस समय भरणीसे नक्षत्र-आरम्भ माना जाने लगा। इसके बाद अश्विनीसे नक्षत्रका आरम्भ हुआ और वही पद्धति अबतक चली आती है। अर्थात्, नक्षत्रोंके सम्बन्धमें अश्विनी, भरणी इत्यादि क्रम ही हम लोगोंमें प्रचलित है। महाभारतमें इस क्रमका कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। इससे प्रकट होता है कि महाभारत इसके पहलेका है। यह क्रम उस समयका है जब कि ज्योतिषशास्त्रको नया स्वरूप प्राप्त हुआ और राशि, अंश आदिके अनुसार गणित किया जाने लगा। यही क्रम सिद्धान्त-ग्रन्थोंसे लेकर आधुनिक सब ज्योतिष-ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। सारांश, जब मेषादि राशिका आरम्भ अश्विनी-नक्षत्रमें था तब यह पद्धति जारी हुई है।

हम पहले कह आये हैं कि मेषादि राशियों और अश्विनि आदि नक्षत्रोंकी गणनाके आरम्भका हिसाब करते समय दीक्षितने मेष राशि और अश्विनीके प्रत्यक्ष ताराका मेल करके गणित किया है। परन्तु यह माननेकी कोई आवश्यकता नहीं कि इस गणनाका आरम्भ उसी समयसे हुआ है, जब कि मेषका आरम्भ ठीक अश्विनी-नक्षत्रसे ही था। सम्भव है कि नूतन गणित-पद्धतिके जारी होनेमें बहुत सा समय लग गया हो। यह समय कुछ एक या दो वर्षोंका ही नहीं किन्तु बहुत वर्षोंका होना चाहिये। इसके सिवा यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अश्विनी-नक्षत्र १३ अंशोंका है, क्योंकि ३६० अंशोंके एक पूरे चक्रको २७ नक्षत्रोंमें विभाजित करनेपर एक नक्षत्र १३ अंशका होता है। इसी कल्पनाके अनुसार नक्षत्रोंके पाद-विभाग भी किये गये हैं। एक मेष राशि सवा दो नक्षत्रोंकी होती है। २७ नक्षत्रोंको १२ राशियोंमें विभाजित करने पर एक राशि सवा दो नक्षत्रोंके बराबर होती है। इसी लिये नक्षत्रोंके पाद यानी एक चतुर्थांश-विभाग किये गये हैं। नक्षत्र-चक्र अथवा राशिचक्रका आरम्भ किसी एक बिन्दुसे कल्पित किया जाता है। इस विषयमें भी बहुत मत-भेद है कि आर्य-ज्योतिषमें यह आरम्भ किस स्थानसे माना गया है। सारांश, यद्यपि मेषारम्भ ठीक अश्विनी नक्षत्रमें न होकर उसके पीछे कुछ अंशों पर हुआ हो, तो भी अश्विनीसे ही नक्षत्र-गणनाका आरम्भ माना जा सकता है। इस प्रकार यह माननेमें कोई हर्ज नहीं कि जिस समय इस देशमें राश्यंशादि ज्योतिष-पद्धति जारी हुई, उस समय मेषादि-राशिका आरम्भ अश्विनी नक्षत्रके कुछ अंश पीछे हुआ था। यदि यह नियम माना जाय कि सम्पात-बिन्दुको एक अंश पीछे हटनेके लिये ७२ वर्ष लग जाते हैं, तो ३०० वर्षमें लगभग ४ अंश होंगे। अर्थात्, यह भली भाँति माना जा सकता है कि जब मेषारम्भ अश्विनी-नक्षत्रके पीछे ४ अंश पर था, उस समय मेषादि गणना हमारे आर्य लोगोंमें जारी हुई। ऊपर दिये हुए ऐतिहासिक प्रमाणसे यदि यह मान लिया जाय कि ईसवी सन् के लगभग २०० वर्ष पहले राश्यंशादि पद्धतिका स्वीकार हमारे यहाँ किया गया, तो भी मेषादि राशिका अश्विनी

आदि नक्षत्रोंके ही साथ मेल मिलाना सम्भव था। इसलिये हमारे यहाँ राशियोंके प्रचारका यही समय मानना उचित होगा।

कुछ लोगोंका आग्रहपूर्वक कथन है कि हम लोगोंने ग्रीक अथवा यवन लोगोंसे कुछ भी नहीं लिया। परन्तु इस बातको शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित भी मानते हैं कि ग्रहोंके गणितकी प्रधान कुंजी हमने ग्रीक लोगोंसे ही पाई है। गणितकी सहायतासे इस बातको जान लेनेकी पद्धति, कि अमुक समय अमुक ग्रह आकाशमें किस स्थानमें प्रत्यक्ष है, पहले हमारे यहाँ न थी। भारतीय ज्योतिष-शास्त्रमें ग्रहोंकी मध्यम स्थिति जाननेकी कला ज्ञात थी; परन्तु ग्रहोंकी प्रत्यक्ष स्थिति मध्यम स्थितिसे कुछ आगे पीछे हो जाया करती है, इसलिये मध्यम स्थितिसे स्पष्ट स्थितिके निकालनेमें कुछ संस्कार करना पड़ता है। दीक्षित इस बातको मानते हैं कि हमारे यहाँ यह केन्द्रानुसारी फल-संस्कार ग्रीक लोगोंसे लिया गया है। (भा० ज्यो० पृष्ठ ५१६) जिस समय हिन्दुस्थानमें ग्रीक लोगोंका प्रवेश होकर बहुत कुछ प्रसार हो गया था और जिस समयका निश्चय करनेके लिये हमने ऊपर ऐतिहासिक प्रमाण भी दिये हैं, उसी समय हमारे यहाँ यह तत्त्व लिया गया होगा। इस बातको दीक्षित भी मानते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थके ५१६वें पृष्ठमें कहा है कि—"हिपार्कस्के पहले, यानी ईसवी सन्के पहले तीसरी अथवा दूसरी शताब्दीमें, जब इस देशमें ग्रीक लोगोंका बहुत कुछ प्रसार हो चुका था, तब इस तत्त्वका यहाँ प्रवेश हुआ होगा।" सारांश, यही मानना युक्ति-संगत जान पड़ता है, कि जब ईसवी सन्के लगभग २०० वर्ष पहले भारतीय ज्योतिषने यूनानी ज्योतिषकी सहायता पाई और हमारे यहाँ स्पष्ट ग्रह निकालनेकी नूतन पद्धति जारी हुई, उसी समय हम लोगोंने यूनानियोंसे राशि-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया है। इस बातके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं कि इससे भी लगभग २०० वर्ष पहले हम लोगोंने अपनी स्वतन्त्र कल्पनासे राशियोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया था। राशियोंके प्रचारका समय यद्यपि ईसवी सन्के लगभग २०० वर्ष पहले माना जाय, तथापि मेषारम्भ अश्विनी तारेके पीछे लगभग ४ अंश ही था, इसलिये अश्विनी-नक्षत्रके ही साथ मेषारम्भका मेल मिलाया जा सकता था। दीक्षितने ईसवी सन्के पहिले १४६वें वर्षको अश्विनी-ताराके और मेषारम्भके मेलका समय बतलाया है। उस समयसे यह समय अर्थात् ईसवी सन्के लगभग २०० वर्षके पहलेका समय, २४६ वर्ष इस पारका है। इतने समयमें मेषारम्भ ३½ अंश (७२ वर्षमें एक अंशके परिमाणसे) इस ओर चला आता है; परन्तु इस थोड़ेसे अन्तरसे ही मेषादि राशियों और अश्विनी आदि नक्षत्रोंका वियोग नहीं हो सकता। इसके सिवा यह भी है कि हिन्दुस्थानमें राशियोंके प्रचलित होनेका जो समय अर्थात् ईसवी सन्के पहले २०० वर्ष हमने निश्चित किया है, वह दीक्षितके मतसे कुछ विशेष विभिन्न नहीं है। इसका कारण यह है कि उनके मतानुसार भी इसी समय यूनानी ज्योतिषियोंके प्रधान तत्त्व (केन्द्रानुसारी फल-संस्कार) का हिन्दुस्थानके ज्योतिषियोंने स्वीकार किया है।

दीक्षितका यह मत, कि हिन्दुस्थानमें ईसवी सन्के पहले ४४५ वर्षके लगभग राशियोंका प्रचार हुआ। अन्य प्रमाणोंसे भी ठीक नहीं जँचता। बौद्ध धर्म-ग्रन्थ त्रिपिटकमें भी राशियोंका उल्लेख नहीं है।

किसी कालका निर्देश करनेके लिये उसमें नक्षत्रोंका ही उपयोग किया है। अमुक नक्षत्र पर अमुक काम किया जाय; मैं अमुक नक्षत्र पर गया; मैं अमुक नक्षत्र पर लौट आया; इत्यादि वर्णन जैसे महाभारतमें हैं वैसे ही त्रिपिटकमें भी देख पड़ते हैं।

पुष्येण संप्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः।

अर्थात् "मैं पुष्य नक्षत्र पर गया और श्रवण पर लौट आया" बलरामके इस वाक्यके समान ही नक्षत्रोंके उल्लेख त्रिपिटकमें भी पाये जाते हैं। इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि वर्तमान समयमें राशियोंका उपयोग लग्न और संक्रान्तिके समय बार बार किया जाता है। लग्न और संक्रान्ति राशियों पर ही अवलम्बित हैं। इन लग्नों और संक्रान्तियोंका उल्लेख त्रिपिटकमें नहीं है। त्रिपिटकोंका समय निश्चित है। ईसवी सन्के पहले ४७५ वें वर्षमें बुद्धकी मृत्यु हुई और उसके अनन्तर अशोकके समयतक बौद्ध ग्रन्थ बने हैं। तब यह माननेके लिये स्थान है कि राशियोंका प्रचार अशोकके बाद हुआ होगा। दूसरी बात यह है कि सरस्वती-आख्यान (अध्याय ३७, शल्य पर्व) में गर्ग ऋषिका उल्लेख इस प्रकार है:—तपश्चर्याके योगसे वृद्ध गर्ग मुनिने सरस्वतीके पवित्र तट पर काल ज्ञानगति, ताराओंकी स्थिति और दारुण तथा शुभकारक उत्पातका ज्ञान प्राप्त किया।" यह गर्ग कोई दूसरा व्यक्ति होगा। गर्ग पाराशर नामके एक ज्योतिषीका उल्लेख पाणिनिके सूत्रोंमें पाया जाता है। इस गर्गसे यह गर्ग भिन्न होगा, इसी लिये जान पड़ता है कि इसे 'वृद्ध गर्ग' कहा है। इस समय गर्गसंहिता नामका जो ग्रन्थ उपलब्ध है वह इसीका बढ़ाया हुआ होगा; अथवा ऐसा न हो। इसमें यवनोंके द्वारा साकेत (अयोध्या) के घेरे जानेका प्रमाण है, इसलिये इस ग्रन्थके अन्तिम निर्माण-कालके सम्बन्धमें निश्चय होता है कि वह ग्रीक राजा मिनण्डर (मिलिन्द) के समयका अर्थात् ईसवी सन्के १४५ वर्ष पहलेका होगा। इस संहितामें भी राशियोंका नाम नहीं है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि ईसवी सन्के पहले १४५ वर्षके अनन्तर राशियोंका प्रचार हुआ है। सारांश, ईसवी सन्के पहिले ४४५ वर्षको राशियोंके प्रचलित होनेका समय किसी प्रकार नहीं मान सकते।

उक्त विवेचनसे मालूम होगा कि सौतिके महाभारतकी अर्थात् एक लाख श्लोकोंके वर्तमान महाभारतकी दोनों ओरकी (अर्थात् उस ओरकी, यानी दूरसे दूरकी, और इस ओरकी, यानी समीपसे समीपकी) काल-मर्यादा इस प्रकार निश्चित हुई है। (१) बाह्य प्रमाण—सन् ४४५ ईसवीके महाराज "सर्वनाथ" के, शिलालेखमें "शत साहस्त्र्यां भारती संहितायां" यह उल्लेख पाया जाता है। यह इस ओरकी अर्थात् समीपसे समीपकी अन्तिम मर्यादा है। (२) इसके भी पहले हिन्दुस्थानमें आये हुए ग्रीक वक्ता डायोन क्रायसोस्टोमके लेखमें एक लाख श्लोकोंके इलियडका जो उल्लेख है वह दूसरी मर्यादा है। इस दूसरे बाह्य प्रमाणसे महाभारतका निर्माण-काल सन् ५० ईसवीके इस ओर आ ही नहीं सकता। (३) राशियोंके उल्लेखका अभाव भी एक प्रमाण है। दीक्षितके मतानुसार ईसवी सन्के पहले ४४५ के लगभग राशियोंका प्रचार हुआ है; परन्तु हमारी राय है कि यह प्रचार ईसवी सन्के पहले २०० के लगभग अथवा १५० के लगभग हुआ है। यह तीसरी मर्यादा है, अर्थात् इसके पहले महाभारतका निर्माण-काल होना चाहिये। उल्लेखका अभाव कुछ कमजोर प्रमाण है

सही, परन्तु राशियोंका उल्लेख होना अत्यन्त आवश्यक था; अतएव इस प्रमाण-का यहाँ विचार भी किया गया है। सारांश, सन् ४४५ ईसवीसे सन् ५० ईसवी तक, और फिर ईसवी सन्के पहिले २०० तक, इस ओरकी अर्थात् समीपसे समीप की काल-मर्यादाको, हम संकुचित करते चले आये हैं। अब हम उस ओरकी अर्थात् दूरसे दूरकी काल-मर्यादाका विचार करेंगे। महाभारतमें ग्रीक लोगोंकी शूरता और बुद्धिमत्ताकी प्रशंसा स्पष्ट रीतिसे की गई है। ऐसी प्रशंसा सिकन्दरकी चढ़ाईके बाद ही की जा सकती है। सिकन्दरकी चढ़ाई ईसवी सन्के पहले ३२१ में हुई थी। अतएव महाभारत उसके अनन्तर-का होना चाहिये। (इस विचारको पूरा करनेके पहले जो और भी अन्तस्थ तथा बाह्य साधक प्रमाण हैं उनका उल्लेख आगे किया जायगा।) इन सब बातोंका निचोड़ यह है कि ईसवी सनके पहले ३२० से २०० तकके समयमें वर्तमान महाभारतका निर्माण हुआ है। लोकमान्य तिलकने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "गीता रहस्य" में इसी सिद्धान्तका स्वीकार किया है। यह निर्णय अन्य कई ग्रन्थकारोंको भी मान्य है; परन्तु कुछ नामांकित पश्चिमी ग्रन्थ-कार इस सिद्धान्तका विरोध करते हैं, अतएव यहाँ उनके मतका कुछ विचार आवश्यक है।

अबतक हमने जो प्रतिपादन किया है उसकी एक विशेषता हम अपने पाठकोंको बतला देना चाहते हैं। हमारा यह सिद्धान्त है कि सौतिके कालके अनन्तर महाभारतमें कुछ भी वृद्धि नहीं हुई। सम्भव है कि लाखमें दस-पाँच श्लोक पीछे-से भी शामिल कर दिये गये हों। हमने अपने सिद्धान्तकी रचना इस बात पर की है कि महाभारतकी वर्तमान श्लोक-संख्या सौतिकी बतलाई हुई संख्यासे कम है। इस सिद्धान्तसे निश्चय होता है कि यदि महाभारतके किसी श्लोकके आधार पर कोई अनुमान किया जाय, तो वह अनुमान पूरे ग्रन्थके सम्बन्धमें लगाया जा सकता है। हम यह नहीं मानते कि वह अनुमान सिर्फ उसी श्लोकके सम्बन्धमें है। हम यह भी नहीं मानते कि सिर्फ वही श्लोक पीछेसे शामिल किया गया अथवा प्रक्षिप्त है। किसी श्लोकको प्रक्षिप्त समझकर कुछ लोग बाधक वाक्योंसे छुटकारा पानेका यत्न किया करते हैं। हम सहसा ऐसा नहीं करते*। महाभारतमें कुछ भाग प्राचीन हैं और कुछ सौतिके समयके हैं। अर्थात् ईसवी सन्के पहले २०० वर्षसे भी बहुत प्राचीन कुछ भाग महाभारतमें हैं; परन्तु हमारा यह कथन है कि उसके इधरके

* सौतिके महाभारतके अनन्तर उसमें कुछ अधिक प्रक्षेप नहीं हुआ है इसलिये हम **सहसा** यह नहीं कहेंगे कि अमुक वाक्य प्रक्षिप्त है। यहाँ **सहसा** शब्दके अर्थ-को कुछ खोल देना चाहिये। सौतिने हरिवंशकी संख्या १२००० बतलाई है, किन्तु वर्तमान हरिवंशकी संख्या १५४८५ है। अर्थात्, इसमें ३४८५ श्लोक बढ गये हैं। ऐसी दशामें यदि हरिवंशका कोई श्लोक आगे प्रमाणमें लिया जाय तो उसके सम्बन्धसे शङ्का हो सकती है। यही बात वन पर्व और द्रोण पर्वके सम्बन्धमें भी किसी अंशमे कही जा सकती है। वन पर्वमें सौतिने ११६६४ श्लोक बतलाये हैं, परन्तु इस समय उनकी संख्या ११८५४ है, अर्थात् लगभग २०० श्लोक अधिक हैं; द्रोण पर्वमें सौतिने ८९०९ श्लोक बतलाये हैं किन्तु इस समय उनकी संख्या ९५९३ है। सारांश, सबसे अधिक श्लोक-संख्या द्रोण पर्वमें बढी है। ऐसी दशामें यदि द्रोण पर्वका कोई वाक्य आगे प्रमाणमें लिया जाय तो उसके सम्बन्धमें शङ्का करनेके लिये स्थान हो सकता है। श्लोकोंके आधार पर किया हुआ यह अनुमान विचार करने योग्य है। यहाँ यह कह देना चाहिये कि सभा पर्व और विराट पर्वमें भी कुछ श्लोक अधिक पाये जाते हैं। आरम्भमें तीसरे पृष्ठ पर दिया हुआ नक्शा देखिये। इतना होने पर भी हम सहसा यह कहना नहीं चाहते कि महाभारतमें अमुक श्लोक प्रक्षिप्त है। यही हमारा सिद्धान्त है और यही सच भी है।

समयकाका एक भी भाग महाभारतमें नहीं है। इतना कहकर अब हम अपने प्रधान विषयका विचार करेंगे।

महाभारतके निर्माण-कालका निश्चय करते समय अन्तः प्रमाणोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि—"महाभारतमें जिन जिन प्राचीन ग्रन्थोंके नाम आये हैं उन सबका विवरण किया जाय। यह जानना चाहिये कि वेद, उपवेद, अङ्ग, उपाङ्ग, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्य, नाटक आदिमेंसे किन किनका उल्लेख महाभारतमें पाया जाता है: और फिर उनके नाम-निर्देशको अन्तः प्रमाणमें प्रथम स्थान देना चाहिये।" इस विषयकी चर्चा हाप्किन्सने की है। अब हम उसके ग्रन्थके तात्पर्यकी ओर ध्यान देते हुए उक्त सब प्रमाणोंका यहाँ उलटे क्रमसे विचार करेंगे। महाभारतमें काव्य-नाटकोंका सामान्य उल्लेख होगा: परन्तु नट, शैलूषी इत्यादिका उल्लेख होने पर भी किसी नाटक-ग्रन्थका नामतक नहीं है। इसके बाद अब हम यह देखेंगे कि सूत्रों, धर्मशास्त्रों और पुराणोंमेंसे किन ग्रन्थोंका उल्लेख महाभारतमें पाया जाता है।

"ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव" (गी० अ० १३-४) गीताके श्लोक-पादमें ब्रह्मसूत्रका नाम आया है। यह ब्रह्मसूत्र कौन सा है? सचमुच यह बड़े महत्त्वका प्रश्न है। यदि वह बादरायण-कृत वर्तमान 'वेदान्त-सूत्र' ही हो, तो उससे केवल महाभारतके ही समयका निश्चय नहीं हो जाता है, किन्तु उस भगवद्गीताके भी समयका निश्चय हो जाता है जिसे हमने महाभारतका अत्यन्त प्राचीन भाग माना है। ऐसा हो जानेसे भगवद्गीताके समयको बहुत इस ओर खींचना पड़ेगा। अतएव यहाँ इस प्रश्नका विस्तार-सहित विचार किया जाना चाहिये। बादरायण-कृत वेदान्त-सूत्रोंका समय प्रायः निश्चित सा है। इनका निर्माण ईसवी सनके पहले १५० से १०० तकके समयमें हुआ है। इनमें बौद्ध और जैन मतोंका खूब खण्डन किया गया है। पाशुपत और पाञ्चरात्र मतोंका भी खण्डन इन सूत्रोंमें है। ऐसी दशामें कहना चाहिये कि बौद्ध और जैन मतोंके गिर जाने पर यह ग्रन्थ बना होगा। अर्थात्, जब मौर्य वंशका उच्छेद हो गया और पुष्पमित्र तथा अग्निमित्र नामक राजाओंने, ईसवी सनके पहले १५० के लगभग, मगध राज्यको अपने अधीन कर लिया, तब यह ग्रन्थ बना होगा। ये दोनों सम्राट् पूरे सनातनधर्माभिमानी थे। इन्होंने बौद्ध धर्मको गिराकर यज्ञादि कर्मोंका फिरसे आरम्भ किया था। इन्होंने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। सारांश, इनके समयमें आर्य धर्मकी पूरी पूरी विजय हो गई थी। इनके समयमें ही वेदान्त-तत्त्वज्ञानकी प्रबलता प्रस्थापित हुई है। यह आश्चर्यकी बात है कि इन राजाओंके समयके (ईसवी सन्के पहले १०० वर्षके) इन ग्रन्थोंका उल्लेख महाभारतान्तर्गत गीताके श्लोकमें पाया जाय! इस आश्चर्यका कारण यह है कि महाभारतमें भी बौद्ध और जैन मतोंका खण्डन नहीं है: इसी प्रकार पाञ्चरात्र और पाशुपत तथा सांख्य और योग मतोंका भी खण्डन न होकर इन सबका मेल मिला गया है। ऐसी दशामें तो महाभारत वेदान्त-सूत्रोंके पहलेका होना चाहिये। और भगवद्गीता तो उससे भी पहलेकी है। यदि भगवद्गीतामें वेदान्त-सूत्रोंका उल्लेख पाया जाय तो कहना पड़ेगा कि महाभारतका, और भगवद्गीताका भी, समय ईसवी सन्के पहले १५० वर्षके इस ओर है। इस कठिन समस्याका हल करना ही यहाँ महत्त्वका विषय है।

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर और प्रोफ़ेसर

अंमलनेरकर कहते हैं कि गीतामें वेदान्त-सूत्रोंका उल्लेख है। देखना चाहिये कि इस श्लोकके सम्बन्धमें ये लोग क्या कहते हैं। पूरा श्लोक इस प्रकार है:—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

प्रोफ़ेसर साहब कहते हैं—"इस श्लोकमें 'ब्रह्मसूत्रपदैः' शब्दका प्रयोग वेदान्त-सूत्रोंके लिये किया गया है; फिर इसके विरुद्ध शङ्कराचार्यादि टीकाकार कुछ भी कहें। यदि वेदान्त-सूत्रोंमें भगवद्गीताके वचनोंका आधार स्मृति कह कर लिया गया है, तो उनके सम्बन्धमें सिर्फ़ यही कहा जा सकता है कि इन वचनोंको भगवद्गीताने भी दूसरी जगहसे लिया है। बहुत हो तो यही माना जा सकता है कि दोनों, अर्थात् भगवद्गीता और वेदान्तसूत्र, एकही समयके अथवा एकही कर्त्ताके हैं। इस श्लोकका इतना ही अर्थ है कि यह विषय वेद और स्मृतिमें **ऋषियों** तथा **आचार्यों** द्वारा प्रतिपादित किया गया है।" उक्त कथनको ग़लत सिद्ध कर देनेसे हमारी सब कठिनाई दूर हो जायगी। पहले यह देखना चाहिये कि 'ब्रह्मसूत्रपदैः' का शङ्कराचार्यने क्या अर्थ किया है। "ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि पद्यते गम्यते ज्ञायते ब्रह्मेति तानि ब्रह्मसूत्रपदेन सूच्यन्ते" अर्थात्, यहाँ आचार्यने ऐसे उपनिषद्-वाक्योंका समावेश किया है कि जिनमें ब्रह्मके विषयमें विचार किया गया हो। आचार्य शङ्करका किया हुआ यही अर्थ ठीक है। प्रोफ़ेसर मैक्समूलरका कथन उन्हींके विरुद्ध इस प्रश्नसे लगाया जा सकता है, कि भगवद्गीतामें ब्रह्मसूत्र शब्दका जो प्रयोग किया गया है, वह बादरायणके वेदान्तसूत्रको ही कैसे लगाया जा सकता है? इस सूत्रको तो "ब्रह्मसूत्र" कहीं नहीं कहा है। आचार्यने उसे वेदान्त-मीमांसा-शास्त्र कहा है। यदि प्रोफ़ेसर मैक्समूलरका यह कथन हो कि बादरायण-सूत्रोंमें भगवद्गीताके जो वाक्य स्मृति कहकर लिये गये हैं उन्हें भगवद्गीताने किसी दूसरी जगहसे लिया है, तो हम यह भी कह सकते हैं कि पहले "ब्रह्म-सूत्र" नामका भी कोई ग्रन्थ रहा होगा और वह वेदान्तसूत्रोंमें शामिल कर दिया गया होगा। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि वेदान्तसूत्रके पहले अनेक सूत्र थे। पाणिनीने **नूतन** और **प्राचीन** सूत्रोंका उल्लेख किया है। अस्तु; यह बात भी नहीं मानी जा सकती कि दोनोंके कर्त्ता एक हैं। और यदि श्लोकका सरल अर्थ किया जाय तो मालूम हो जायगा कि प्रोफ़ेसर मैक्समूलर और अंमलनेरकर-का बतलाया हुआ अर्थ भी ठीक नहीं है। इस श्लोकमें **वेद** और **स्मृति** नामक न तो किसी दो ग्रन्थोंका ही उल्लेख है और न **ऋषि** तथा **आचार्य** नामक किसी दो कर्त्ताओंका ही उल्लेख है। 'ऋषिभिः' शब्द कर्तरि तृतीया है और इसका सम्बन्ध दोनों ओर किया जाना चाहिये; अर्थात 'ऋषिभिः छन्दोभिर्गीतं' और 'ऋषिभिः ब्रह्मसूत्रपदैः गीतं' इस प्रकार अन्वय करना चाहिये। 'ब्रह्मसूत्रपदैः' करण तृतीया है। इस वाक्यमें कर्त्ता नहीं बतलाया गया है, इसलिये प्रोफ़ेसर साहब 'आचार्यैः' शब्दको श्लोकके बाहर-से कर्त्ताके स्थान पर प्रयुक्त करते हैं; परन्तु ऐसा करनेका उन्हें कोई अधिकार नहीं है। 'ऋषिभिः' को ही पिछले वाक्यमें से कर्त्ताके स्थान पर लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि इस श्लोकमें ऋषि और आचार्य नामक कोई दो कर्त्ता नहीं बतलाये गये हैं। अतएव यहाँ वेदान्त-सूत्रोंका बोध नहीं हो सकता। वेदान्त-

सूत्रोंके कर्त्ता बादरायणको 'आचार्य' कहते हैं, न कि 'ऋषि'। जिस प्रकार यहाँ किसी कर्त्ताका भेद निष्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ ग्रन्थका भी कोई भेद निष्पन्न नहीं होता। यहाँ वेद और स्मृति नामक किसी दो ग्रन्थोंका उल्लेख नहीं है। 'छन्दोभिः' शब्दसे समस्त वेदका अर्थ नहीं किया जा सकता। 'छन्दोभिः' शब्दसे कविता-बद्ध वेद-मन्त्र अर्थात् वेद-संहिताका बोध होता है; और 'ब्रह्मसूत्र-पदैः' शब्दसे वेदोंके गद्य भागका अर्थात् केवल ब्राह्मणोंका ही बोध होता है। सारांश, यहाँ ग्रन्थ-भेद कुछ भी नहीं है। ग्रन्थ केवल एक है, और वह वेद ही है। इस दृष्टिसे श्लोकका सरल अर्थ यही होता है कि—वेदके छन्दोबद्ध मन्त्र-भागमें 'विविधैः पृथक्' अर्थात् भिन्न भिन्न स्थानोंमें बिखरे हुए जो वचन हैं, उनमें और वेदके ब्राह्मण-भागमें 'विनिश्चितैः हेतुमद्भिः' यानी निश्चितार्थसे हेतु अथवा कारणोपपादन सहित समर्थन किये हुए ब्रह्मप्रतिपादक जो वचन हैं, उनमें ऋषियोंने ब्रह्मका वर्णन किया है। इस अर्थसे यही निश्चय होता है कि यहाँ ब्रह्मसूत्रपदसे बादरायणाचार्यके वेदान्त सूत्रका उल्लेख नहीं किया गया है।

सूत्र शब्दसे पाणिनि के सूत्रोंके समान ऐसे ग्रन्थोंका बोध होता है, जिनकी रचना बहुत छोटे छोटे और निश्चयार्थक वाक्योंमें की गई हो। इसलिये पाठकोंके मनमें यह संदेह हो सकता है कि उक्त श्लोकमें सूत्र शब्दसे वेदान्त सूत्रोंका ही अर्थ क्यों न लिया जाय। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि सूत्र शब्दका उपयोग गद्य-उपनिषद्-भागके लिये नहीं किया जा सकता। परन्तु स्मरण रहे कि सूत्र शब्दका यह अर्थ आधुनिक है। यह बात निश्चित रूपसे बतलाई जा सकती है कि प्राचीन समयमें सूत्र शब्दसे 'किसी एक विवक्षित विषय पर प्रतिपादित ग्रन्थ' का ही बोध हुआ करता था। बौद्ध और जैन लोगोंने सूत्र शब्दका उपयोग इसी अर्थमें किया है। उनके सूत्र अथवा सुत्त पाणिनिके सूत्रोंके समान न होकर उपनिषद्-भागके समान ही गद्यग्रन्थमय हैं। उनका स्वरूप यही है कि उनमें 'हेतुमद्भिः विनिश्चितैः' अर्थात् निश्चित रूपसे कहे हुए हेतु अथवा उपपत्ति सहित सिद्धान्त बतलाये गये हैं। इस बातका कोई नियम न था कि उनमें छोटे छोटे वाक्य ही हों। सारांश, भगवद्गीता पाणिनिसे भी पहले की है। उसमें जो सूत्र शब्द है वह उपनिषद्के उस गद्य-भागका ही द्योतक है जो ब्रह्मजाल-सुत्त आदि बौद्ध सूत्रोंके समान है। यह कल्पना भी ठीक नहीं है कि महाभारत और वेदान्त सूत्रोंका कर्त्ता एक ही है। वेदान्त सूत्रोंके बनानेवाले व्यास बादरायण-व्यास हैं और महाभारतके कर्त्ता द्वैपायन-व्यास हैं। महाभारतमें बादरायणका नाम कहीं नहीं पाया जाता। जैसे द्वैपायन-व्यास वेदोंके भी संग्रह-कर्त्ता और व्यवस्था करनेवाले हो गये हैं, वैसे बादरायण-व्यास नहीं हैं। इसके सिवा यह भी निश्चित हो गया है कि बादरायणके वेदान्त-सूत्र ईसवी सन्के पहले १५० से १०० वर्षोंतकके हैं; कमसे कम वे बौद्ध और जैन मतोंके अनन्तरके हैं। परन्तु यह कभी नहीं कहा जा सकता कि भारतके आदि कर्त्ता और वेदोंकी व्यवस्था करनेवाले भारती-युद्धकालीन व्यास (द्वैपायन) बौद्धके अनन्तर हुए हैं। ये व्यास, बौद्ध और जैन-धर्मोंके न जाने कितने वर्ष पहले हो गये हैं। भगवद्गीता, महाभारतका ही एक अत्यन्त प्राचीन भाग है। यदि कोई चाहे तो सौति-कृत महाभारतको वेदान्त-सूत्रोंके समयतक घसीट कर ला

सकता है; परन्तु द्वैपायन-व्यासको अथवा भगवद्गीताको कोई उस समयतक घसीटकर नहीं ला सकता। यह कथन भी युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकता कि गीता-का "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव" सिर्फ़ यही श्लोक पीछेके समयका अथवा वेदान्त-सूत्रोंके समयका है। संक्षेपमें यही कहना चाहिये कि ब्रह्म-सूत्रपदसे वेदान्त-सूत्रका निर्देश नहीं होता। वेदान्त सूत्रकार बादरायण-व्यास और मूल भारतकर्त्ता द्वैपायन-व्यास भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं और उन दोनोंमें हजारों वर्षका अन्तर है। यदि वर्तमान समयमें कुछ लोगोंने उन दोनोंको एक व्यक्ति मान लिया हो, तो कहा जा सकता है कि बादरायण-व्यास पूर्व समयके व्यासके अवतार हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि ये दोनों व्यक्ति भिन्न हैं।

भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तसूत्रके कर्त्ता एक नहीं हो सकते। इसका एक और बहुत बड़ा कारण यह है कि वेदान्त-सूत्रकारने सांख्य और योग दोनोंका खण्डन किया है। यहाँतक कि वेदान्त-सूत्रकारका प्रधान शत्रु सांख्य ही है जिसका खण्डन उसने बहुत मार्मिक रीतिसे और विस्तार सहित किया है। सांख्य मतके खण्डनको शङ्कराचार्यने 'प्रधान-मल्ल-निबर्हण' कहा है और इसी के साथ "एतेन योगः प्रत्युक्तः" इस प्रकार योगका भी खण्डन वेदान्तसूत्रमें है। भग-वद्गीतामें यह बात नहीं है। उसमें सांख्य और योगका स्वीकार किया गया है। यहाँतक कि सांख्यको प्रथम सम्मान दिया गया है। सारांश, भगवद्गीताने सांख्य और योगको अपनाया है, परन्तु वेदान्तसूत्रने इन दोनोंको लथेड़ा है। इससे सिद्ध होता है कि दोनोंके कर्त्ता एक नहीं हो सकते और न दोनोंका समय ही एक हो सकता है। जैसे भगवद्गीता-में वैसे ही महाभारतमें भी सांख्य और योगका खण्डन नहीं है, किन्तु स्वीकार है। स्थान स्थानमें उन दोनोंकी प्रशंसा है और बार बार उनके मतोंका विस्तार सहित विचार किया गया है। उसमें सांख्य-प्रवर्तक कपिलको विष्णुका अवतार कहा है। वेदान्तसूत्रके भाष्यकी भाँति उसे विष्णुके अवतारसे भिन्न नहीं माना है। योगका भी प्रवर्तक, हिरण्यगर्भ अथवा विष्णुका पुत्र ब्रह्मदेव माना गया है। इससे प्रकट होता है कि महाभारत और भगवद्गीताके समय दोनों मत मान्य थे। वेदान्तसूत्रोंका समय इसके अनन्तरका देख पड़ता है। वेदान्तसूत्रोंके समय ये दोनों मत त्याज्य माने गये थे। तात्पर्य यह है कि भगवद्गीता और वेदान्तसूत्र एक ही कर्त्ताके अथवा एक ही समयके नहीं हैं। यह बात सांख्य और योगके सम्बन्धमें उन दोनोंमें किये हुए विवेचन-से स्पष्ट देख पड़ती है। इसके सिवा भगवद्गीता और वेदान्तसूत्रोंके वेदान्त-विषयक मतोंमें भी अन्तर है; परन्तु इस विषयका विवेचन आगे चलकर किया जायगा।

महाभारतमें और किसी दूसरे सूत्रका नामनिर्देश नहीं है। हाप्किन्सका कथन है कि उसमें आश्वलायन-गृह्यसूत्रके एक दो वचन हैं; परन्तु उसका कथन हमें ठीक नहीं जँचता। कारण यह है कि आश्वला-यन गृह्यसूत्रमें भारत और महाभारत दोनों नाम पाये जाते हैं; अर्थात् आश्वलायन-सूत्र महाभारतके बादका है। हाप्किन्स-ने जो प्रमाण दिया है (भा० आदि० अ० ७४) उसमें आश्वलायन सूत्रका नाम नहीं है। "वेदेष्वपि वदन्तीमं" सिर्फ़ इतना ही कहा है। हाप्किन्सने स्वीकार किया है कि—

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥

यह मन्त्र कौषीतकि-ब्राह्मणमें है। उसका यह भी कथन है कि उसके आगे-का श्लोक—

जीवितं त्वदधीनं मे सन्तानमपि चाक्षयम्।
तस्मात् त्वं जीव मे पुत्र सुसुखी शरदां शतम्॥

यह मन्त्र कौषीतकिमें न होकर आश्वलायनसूत्रमें ही पाया जाता है। परन्तु इससे यह प्रकट होता है कि वह आश्वलायनका नहीं है। इन श्लोकोंको आरम्भमें ही मन्त्र कहा गया है, जैसे "वेदेष्वपि वदन्तीमं मन्त्रग्रामं द्विजातयः।" इससे प्रकट होता है कि यह श्लोक किसी अन्य स्थानमें, वेदके किसी भागमें, है। यदि वह कौषीतकिमें नहीं पाया जाता, तो वह अन्य किसी शाखामें होगा जो इस समय उपलब्ध नहीं है। सारांश, यह कभी नहीं कहा जा सकता कि यह श्लोक आश्वलायनसे लिया गया है। आश्वलायनमें तो महाभारतका नाम-प्रमाण प्रत्यक्ष है। ऐसी अवस्थामें महाभारतमें आश्वलायनके श्लोकका पाया जाना कभी सम्भव नहीं।

जब किसी एक ग्रन्थमें किसी दूसरे ग्रन्थका प्रमाण हो और उससे रचना-कालका निर्णय करना हो, तो दो बातोंका सुबूत अथवा दो बातोंकी जानकारी अवश्य चाहिये। पहली बात—दूसरा ग्रन्थ उसी स्थितिमें इस समय है या नहीं; और दूसरी बात—उस दूसरे ग्रन्थका निश्चित समय कौन सा है। यदि उस दूसरे ग्रन्थका निश्चित समय मालूम न हो तो ऐसे प्रमाणसे कुछ भी निष्पत्ति नहीं होती। यदि किसी एक व्यक्तिका नाम उसमें हो, तो सिर्फ़ इतना ही निश्चय हो सकता है कि उस व्यक्तिका समय पहलेका है। परन्तु इस बातका निश्चय नहीं हो सकता कि वह ग्रन्थ ज्योंका त्यों है। इसके सिवा उस व्यक्तिका भी समय निश्चित रूपसे मालूम हो जाना चाहिये; नहीं तो उससे कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता। इस दृष्टिसे विचार करके ऊपर जिन दो सूत्रोंका उल्लेख हमने किया है उन्हींका विस्तार-सहित निर्देश करना हमारे लिये आवश्यक था। इन दोनों ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रसिद्ध हैं, इनके ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं और इन ग्रन्थोंका समय भी मोटे हिसाबसे निश्चित सा है। आश्वलायनके गृह्यसूत्र और बादरायणके वेदान्तसूत्रका समय ईसवी सन्के पहिले १०० वर्षके लगभग है। इन दोनोंमें महाभारतका उल्लेख है; यानी आश्वलायनमें महाभारतका प्रत्यक्ष नाम है और वेदान्तसूत्रमें महाभारतके वचन स्मृति कहकर उद्धृत किये गये हैं। अतएव निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये दोनों ग्रन्थ महाभारतके अनन्तरके हैं। अब महाभारतमें भी इन ग्रन्थोंका उल्लेख देख पड़ता है; परन्तु हमने विस्तारपूर्वक विवेचन करके सिद्ध कर दिया है कि यह उल्लेख उन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें नहीं है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त दोनों ग्रन्थकर्त्ताओंके नाम महाभारतमें बिल्कुल हैं ही नहीं। (हाप्किन्सने कहा है कि अनुशासन पर्वके चौथे अध्यायमें आश्वलायनका निर्देश है। परन्तु स्मरण रहे कि यह आश्वलायन गोत्र-प्रवर्तक है, न कि सूत्रकार। विश्वामित्रके जो अनेक पुत्र हुए, उनमेंसे यह एक गोत्र-प्रवर्तक पुत्र था। अर्थात्, यह वेद-संहिता कालका ऋषि है, न कि सूत्रकार।)

अब हम उन सूत्रोंका कुछ विचार करेंगे जिनका उल्लेख सामान्य रीतिसे महाभारतमें पाया जाता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इससे महाभारतके समय-का निर्णय करनेमें कुछ भी सहायता नहीं

मिलती। तो भी जानने योग्य सब बातोंको एकत्र कर देना आवश्यक है। यदि भविष्यमें, समयका निर्णय करनेके लिये, कुछ नई बातें मालूम हो जायँ, तो इस विषयका उपयोग किया जा सकेगा। महाभारतमें अनेक सूत्रोंका निर्देश है। सभापर्वके 'कच्चित्' अध्यायमें युधिष्ठिरसे प्रश्न किया गया है कि—"गजसूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र और शतघ्नीसूत्रका अभ्यास तुम करते हो न ?" ये सूत्र कौन से हैं और किसके रचे हैं, इन बातोंका निर्देश नहीं है; परन्तु यह देख पड़ता है कि उस समय अनेक विषयों पर शास्त्र-स्वरूपके सूत्र थे और उनका अभ्यास किया जाता था। ये सूत्र केवल रटनेके लिये उपयोगी छोटे छोटे वाक्योंके समान न होकर विस्तृत स्वरूपके होंगे। सूत्रकर्ता और सूत्रकार जैसे भिन्न भिन्न नाम भी अनुशासन पर्वमें पाये जाते हैं। एक स्थानमें सूत्रकार और ग्रन्थकर्ताका भी निर्देश है। इससे मालूम होता है कि सूत्र शब्दसे सर्वमान्य ग्रन्थका विशिष्ट बोध होता होगा।

धर्मसूत्रोंके सम्बन्धमें अथवा धर्मशास्त्रोंके सम्बन्धमें बहुत सा उल्लेख पाया जाता है; क्योंकि महाभारतको धर्मग्रन्थका स्वरूप प्राप्त करा देनेके काममें उनका बहुत कुछ उपयोग हुआ होगा। नीतिशास्त्रका नाम अनेक बार आया है। उसके कर्ता भी अनेक देख पड़ते हैं; जैसे शुक्र, बृहस्पति आदि। धर्मशास्त्रोंका भी उल्लेख बार बार किया गया है। एक स्थानमें मनुके धर्मशास्त्रका उल्लेख पाया जाता है। राजधर्म आदि सब विषयोंमें मनुके वचनोंका उपयोग किया गया है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे वचन वर्तमान समयमें उपलब्ध मनुस्मृतिके हैं। इस सम्बन्धमें किसी विस्तृत अवतरणकी आवश्यकता नहीं। वह हाप्किन्सके ग्रन्थमें दिया गया है। हम पहले कह आये हैं कि वर्तमान मनुस्मृति महाभारतके अनन्तरकी है।

अब पुराणोंके सम्बन्धमें विचार किया जायगा। महाभारतमें पुराणोंका उल्लेख बहुत है। इस विषयमें किसीको कुछ भी सन्देह नहीं कि वर्तमान पुराण-ग्रन्थ महाभारतके समयके इस पारके हैं, परन्तु महाभारतमें पुराणका उल्लेख है। यह एक महत्त्वका प्रश्न है कि भारतके पहले पुराणोंकी संख्या एक थी या अठारह। स्वर्गारोहण पर्वमें यह उल्लेख पाया जाता है कि—"इस भारतमें अष्टादश पुराण, सब धर्मशास्त्र और अङ्गों सहित चारों वेद एकत्र हुए हैं। जो महात्मा व्यास ऋषि अष्टादश पुराणोंके कर्ता हैं और वेदोंके केवल महासागर हैं, उन्हींकी यह जीती जागती वाणी है। सब लोग इसका श्रवण अवश्य करें।" वर्तमान समयके लोगोंकी यह समझ है कि पुराण अठारह हैं और उन सबके कर्ता अकेले व्यास ऋषि हैं। यही समझ उक्त अवतरणमें ग्रथित है। सम्भव है कि ये श्लोक महाभारतके भी अनन्तरके हों; क्योंकि इतने बड़े और अनेक ग्रन्थोंकी रचना एक ही व्यक्तिसे नहीं हो सकती। परन्तु यदि यह श्लोक असत्य न मानकर यह माना जाय कि महाभारतके पहले ये अठारह पुराण किसी छोटे स्वरूपमें होंगे, तो आश्चर्य नहीं। और यह भी सम्भव है कि वेदोंकी व्यवस्थाके समान द्वैपायन-व्यासने इन पुराणोंकी भी व्यवस्था कर दी हो। वायुपुराणका उल्लेख वन पर्वके १६१वें अध्यायके १६वें श्लोकमें पाया जाता है। ऐसी दशामें, यदि वायुपुराणको स्वतन्त्र और पहलेका मानें, तो यह भी मानना पड़ेगा कि अठारह भिन्न भिन्न पुराण पहलेसे थे। मार्कण्डेय-समस्या-पर्वमें कलियुगके वर्णन-

के समय उक्त उल्लेख किया गया है। मार्कण्डेय कहते हैं—"वायुप्रोक्त पुराणका स्मरण करके यह भूत और भविष्य मैंने बतलाया है।" यथार्थमें मार्कण्डेयको स्वयं हज़ारों युगोंका अनुभव था, इसलिये उन्हें वायु पुराणका स्मरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। अस्तु: इसमें सन्देह नहीं कि यदि पहले अठारह पुराण होंगे तो वे वर्तमान पुराणोंसे भिन्न अवश्य होंगे।*

अब हम इतिहासका विचार करेंगे। इतिहास शब्द भी महाभारतमें अनेक बार पाया जाता है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इतिहास शब्दसे कौन सा अर्थ ग्रहण किया जाय। पुराण और इतिहासकी जोड़ी बहुधा एक ही स्थानमें पाई जाती है। उपनिषदोंमें भी 'इतिहास पुराणं' कहा गया है। यदि पुराण शब्दसे बहुत प्राचीन समयकी कथा और इतिहास शब्दसे समीपके समयकी कथाका अर्थ ग्रहण किया जाय तो कोई हर्ज नहीं। पुराणोंमें कथाओंके अतिरिक्त और भी अन्य बातोंका वर्णन हुआ करता है। देवताओं और दैत्योंकी कथाएँ पुराणोंमें पाई जाती हैं। परन्तु इतिहासमें केवल राजाओंकी ही कथाओंका समावेश हो सकता है। आख्यान शब्दसे एक विशिष्ट कथाके ग्रन्थका बोध होता है। स्वयं महाभारतके सम्बन्धमें इतिहास, पुराण और आख्यान तीनों शब्दोंका व्यवहार किया गया है। यह नहीं बतलाया जा सकता कि महाभारतके अतिरिक्त और दूसरे इतिहास-ग्रन्थ कौन से थे। द्रोणाचार्यका वर्णन करते समय कहा गया है कि वे वेद, वेदाङ्ग और इतिहासके ज्ञाता थे। इससे अनुमान होता है कि पहले और भी कई इतिहास रहे होंगे। परन्तु वे सब महाभारतमें शामिल कर दिये गये हैं; इसलिये वे भिन्न स्थितिमें नहीं देख पड़ते; और वर्तमान समयमें इतिहास शब्दसे केवल महाभारतका ही बोध होता है। सारांश, इस विषयके जो भेद देख पड़ते हैं वे ये हैं—कथा और गाथा, आख्यान और उपाख्यान। इनमेंसे गाथा उस ऐतिहासिक श्लोक-बद्ध वर्णनको कहते हैं, जिसकी रचना वंशावलीकारोंने की है। आख्यान और उपाख्यानमें विशेष अन्तर नहीं है। उपाख्यानमें दन्तकथाका विशेष अन्तर्भाव हो सकता है। इन सब ग्रन्थों मेंसे किसी ग्रन्थका नाम-निर्देश, ग्रन्थ कर्ताके नामके साथ, महाभारतमें नहीं किया गया है, इसलिये महाभारतके कालका निर्णय करनेमें इनका कुछ भी उपयोग नहीं है।

यहाँतक इस बातका विचार किया गया है कि सूत्र, पुराण और इतिहासके नाम-निर्देशसे वर्तमान महाभारतके कालका निर्णय करनेमें कैसी सहायता हो सकती है; और यह निश्चय किया गया है कि वर्तमान गृह्यसूत्र, वेदान्तसूत्र, पुराण

* एक और ग्रन्थकारने भी यही कल्पना की है कि मूल पुराण एक था और व्यासजीने उसके अठारह पुराण किये। इसमें सन्देह नहीं कि इस मूल पुराण पर तीन चार संस्करण हो चुके होंगे और तब कहीं उसे वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ होगा। बहुधा सौतिके समयमें १८ पुराण होंगे। कहते हैं कि व्यासजीने एक ही मूल पुराणके १८ पुराण बनाये और मूल आदि पुराणोंमें बारह बारह हज़ार श्लोक थे। विक्रमके समय इन पुराणोंका प्रथम संस्करण तय्यार हुआ और आगे चलकर पौराणिकोंने लगभग चार लाख श्लोकोंका ग्रन्थ बना डाला। हम पहले कह आये हैं कि सौतिके महाभारतके अनन्तर, उसीके अनुकरणपर, रामायण और पुराणोंके नये संस्करण तैयार किये गये होंगे। इसके बाद भी इन पुराणोंमें और कुछ भरती अवश्य हुई है। उसीमें भविष्यत् राज-वर्णन जोड़ा गया है। यह सन् ३०० ईसवीसे ६०० तकके समयमें जोड़ा गया है। यह बात उन राजाओंके वर्णनसे स्पष्ट देख पड़ती है जो सन् ५०० ईसवीके लगभग कैलकिल-यवन राजाके समयतक थे।

और मनुस्मृति सब महाभारतके अनन्तरके हैं। अब वेद और उपनिषद्के सम्बन्धमें विचार किया जायगा। यथार्थमें यह निश्चित है कि ये ग्रन्थ महाभारतके पहलेके हैं। ऐसी अवस्थामें यदि इनका उल्लेख महाभारतमें पाया जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं। यद्यपि इन ग्रन्थोंका समय निश्चयात्मक रीतिसे स्थिर नहीं हुआ है, तो भी कहा जा सकता है कि वह समय ईसवी सन्के पहले ३०० वर्षके इस पारका नहीं है। ऐसी दशामें यह विचार प्रायः विषयान्तरके समान ही है। परन्तु इस समालोचनात्मक ग्रन्थकी पूर्त्तिके लिये, इस विषयका भी कुछ उल्लेख किया जाना आवश्यक है। अतएव हाप्किन्सके ग्रन्थकी ही सहायतासे यहाँ संक्षेपमें कुछ विचार किया जायगा। यह प्रकट है कि श्रुतिके सब ग्रन्थ महाभारतके पहले पूरे हो गये थे। अब यह देखना चाहिये कि इन ग्रन्थोंमेंसे किन किनका नाम-निर्देश महाभारतमें है। चारों वेदोंका नाम-सहित उल्लेख किया गया है, परन्तु कहीं कहीं अथर्व वेदका नाम छूट गया है। प्रायः ऋग्वेदसे ही गणनाका आरम्भ होता है। कहीं कहीं सामवेदको भी अग्रस्थान दिया गया है। इन चारोंको मिलाकर चतुर्मूर्त्ति-वेद होता है। कहीं कहीं चातुर्विद्य नाम भी पाया जाता है; परन्तु त्रैविद्य नामका उपयोग अधिकतासे किया गया है। वेदोंके नष्ट होनेकी और उनके विभाग किये जानेकी बात प्रसिद्ध है। आरम्भमें एक ही वेद था; परन्तु कृतयुगके अनन्तर त्रिवेद, द्विवेद, एकवेद, अनृक्, आदि भेद हो गये। अपान्तरतमा ऋषिने वेदोंके भेद किये। कहा गया है कि वेद दृष्ट, कृत अथवा सृष्ट हैं। "मन्त्रब्राह्मणकर्त्तारः" इस प्रकार हरिवंशमें कहा गया है। वेदोंका कर्त्ता ईश्वर है। अग्नि और सूर्य भी वेद-कर्त्ता हैं। पहले पहल ब्रह्माने वेदका पठन किया, यथा "स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदः सृष्टः स्वयंभुवा" (शांति पर्व अध्याय ३२८)। पद और क्रमका भी उल्लेख पाया जाता है। जैसे अनुशासन पर्वके ८५ वें अध्यायमें कहा गया है,—"ऋग्वेदः पदक्रमविभूषितः"। वामदेवकी शिक्षासे बाभ्रव्य गोत्रोत्पन्न पाञ्चाल गालव बहुत अच्छा क्रमपाठी हो गया था। ऋग्वेदकी इक्कीस हज़ार, यजुर्वेदकी एक सौ एक और सामवेदकी एक हज़ार शाखायें हैं। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकका भी उल्लेख पाया जाता है। संहिताध्यायी शब्दका उपयोग आदि पर्वके १६७ वें अध्यायमें और अनुशासन पर्वके १४३ वें अध्यायमें किया गया है। ब्राह्मणोंका उल्लेख शान्ति पर्वके २६९ वें अध्यायमें और वन पर्वके २१७ वें अध्यायमें पाया जाता है। वहाँ ब्राह्मणोंमें वर्णित भिन्न भिन्न अग्नियोंका उल्लेख है। याज्ञवल्क्यके शतपथ ब्राह्मणका उल्लेख सम्पूर्ण नाम-सहित किया गया है; अर्थात् शान्तिपर्वके ३२९ वें अध्यायमें सरहस्य, ससंग्रह, सपरिशेष उल्लेख है। अन्य ब्राह्मणोंके उल्लेखमें साधारण तौर पर "गद्यानि" शब्दका उपयोग किया गया है। आरण्य का उल्लेख अनेक स्थानोंमें है; जैसे 'गायन्त्यारण्यके विप्राः', 'आरण्यक पदोद्धृताः' इत्यादि। आरण्यकको वेदोंका तत्व-भाग भी कहा है। यह भी उल्लेख है कि 'वेदवादानतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च।' उपनिषदोंका उल्लेख एक वचनमें, बहुवचनमें और समूहार्थमें किया गया है। जैसे आरण्यकका उल्लेख वेदसे भिन्न किया गया है, वैसे ही उपनिषदोंका उल्लेख भी वेदसे भिन्न किया गया है। उपनिषद्का अर्थ साधारण रीतिसे रहस्य अथवा गुह्य भी किया गया

है। महोपनिषद्का अर्थ संदिग्ध देख पड़ता है; क्योंकि द्रोण पर्वमें भूरिश्रवाके सम्बन्धमें कहा गया है कि—'ध्यायन्महोपनिषद् योगयुक्तोऽभवन्मुनिः' और वहाँ यह नहीं जान पड़ता कि किसी ग्रन्थका उल्लेख होगा, किन्तु साधारण तौर पर उपनिषद् शब्दसे ग्रन्थका उल्लेख होकर उसमें तत्वज्ञानका बोध होता है। यह बड़ी निराशाजनक बात है कि महाभारतमें किसी उपनिषद्का नाम नहीं दिया गया है। महाभारतके पहले अनेक उपनिषद् विद्यमान थे और उसके बाद भी कई उपनिषद् बने हैं। दशोपनिषदोंका भी उल्लेख महाभारतमें नहीं है। अन्य प्रमाणोंसे यद्यपि निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि दशोपनिषद् महाभारतके पहलेके हैं, तथापि यही बात अन्य उपनिषदोंके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती। उदाहरणार्थ, श्वेताश्वतर दसके बाहरका उपनिषद् है। उसके समयका निर्णय करनेके लिये साधन प्राप्त हो गया होता। इस उपनिषद्के कुछ वचन महाभारतमें पाये जाते हैं; परन्तु इस उपनिषद्में ही ये वचन किसी अन्य स्थानसे लिये हुए जान पड़ते हैं।

अब हम उपवेदों और वेदांगोंके विषयमें कुछ विचार करेंगे। उपवेद तीन हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद और गान्धर्ववेद। इनका उल्लेख महाभारतमें पाया जाता है। चौथा उपवेद स्थापत्यके नामसे प्रसिद्ध है। इसका भिन्न उल्लेख आदि पर्वमें वास्तु-विद्याके नामसे किया गया है। इन उपवेदोंमेंसे आयुर्वेदके कर्ता कृष्णात्रेय, धनुर्वेदके कर्ता भरद्वाज और गान्धर्ववेदके कर्त्ता नारद बतलाये गये हैं (शांति० अ० ३२०)। इन्हींके साथ और भी कुछ कर्ताओंका उल्लेख है; जैसे कहा गया है कि बृहस्पतिको वेदांगका ज्ञान हुआ, शुक्रने नीति-शास्त्रका कथन किया, गार्ग्यको देवर्षिका चरित्र मालूम हुआ, इत्यादि। यद्यपि आयुर्वेदके सम्बन्धमें विशेष उल्लेख नहीं है तथापि पित्त, श्लेष्मा और वायुका स्पष्ट उल्लेख है। भारतीय आयुर्वेदका यह मुख्य सिद्धान्त बहुत प्राचीन है (शांति० अ० ३४३)। सभापर्वके ५ वें और ११ वें अध्यायमें कहा गया है कि आयुर्वेदके आठ भाग हैं। वन पर्व और विराट पर्वमें शालिहोत्रका भी उल्लेख है। प्रकट है कि यह अश्व-चिकित्सका शास्त्र है। इसके कर्त्ताका उल्लेख कहीं नहीं है। धनुर्वेदका उल्लेख बहुत है। कहा गया है कि यह चार प्रकारका है और इसके दस भाग हैं। कच्चिदाख्यानसे प्रकट है कि इस विषय पर सूत्र भी थे। क्षत्रियोंका वर्णन करते समय 'धनुर्वेदे च वेदे च निष्णातः' बार बार कहा जाता है; इससे मालूम होता है कि क्षत्रिय इन दोनों विषयोंका अभ्यास किया करते थे। आदि पर्वके १३८ वें अध्यायमें वर्णन है कि क्षत्रिय वेदोंसे भी धनुर्वेदमें अधिक प्रवीण होते हैं। इस समय धनुर्वेदका एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। परन्तु उक्त सब वर्णन काल्पनिक भी नहीं है। महाभारतकालमें दस-शाखाओंका धनुर्वेद नामक ग्रन्थ अवश्य होगा और सम्भव है कि उसमें अस्त्रोंका भी वर्णन हो। गान्धर्व वेदका वर्णन वन पर्वके ९१वें अध्यायमें है। उसमें गीत, नृत्य, वादित्र (गाना, नाचना और बजाना) और सात भेद मुख्य विषय हैं। नटसूत्रका जो उल्लेख पाणिनिमें है वह इसमें नहीं है। गान्धर्व वेदमें नाटकोंका अभिनय नहीं होगा। गानके सप्त भेदोंका उल्लेख सभापर्वके ११ वें अध्यायमें है। मृदंगके तीन शब्दों और गायनके सात सुरोंका भी उल्लेख है।

यह बात प्रसिद्ध है कि वेदाङ्ग ६ हैं।

उनके नामका उल्लेख स्पष्ट है—छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा और कल्प। परन्तु यास्कको छोड़कर इन वेदांगोंमें से किसीके भी कर्ताका कुछ उल्लेख नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो वेदाङ्ग वर्त्तमान समयमें पढ़े जाते हैं, वही महाभारत-कालमें भी प्रसिद्ध थे और पढ़े जाते थे या नहीं। इससे जान पड़ता है कि यह उल्लेखाभाव होगा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वर्त्तमान वेदाङ्गोंके कर्त्ता और उनके ग्रन्थ महाभारतके पूर्व कालके हैं। इन अंगोंके उपांग भी थे, क्योंकि वन पर्वके ६४ वें अध्यायमें लिखा है 'वेदाः सांगोपांगा सविस्तराः।' इस बातका पता नहीं लगता कि ये उपाङ्ग कौन से थे और न टीकाकारने इसका कुछ हाल लिखा है। शान्ति पर्वके ३३५ वें अध्यायके २५ वें श्लोकमें यह उल्लेख है कि "वेदेषु सपुराणेषु सांगोपांगेषु गीयसे।" अङ्गोंमेंसे ज्योतिष और निरुक्तका उल्लेख अधिक पाया जाता है। यास्कके निरुक्त और निघन्टुका महत्त्व शान्ति पर्वके ३४३ वें अध्यायके ७३ वें श्लोकमें वर्णित है और यहीं कोशका भी उल्लेख है। ज्योतिषका उल्लेख उपनिषदोंमें भी नक्षत्र-विद्याके नामसे किया गया है। यह बात समझमें नहीं आती कि नक्षत्रजीवी और आयुर्वेदजीवी मनुष्य श्राद्धके निमन्त्रणके लिये अयोग्य क्यों माने गये थे। नक्षत्र-विद्या और ज्योतिषमें कुछ भेद होगा। फल-ज्योतिषकी कुछ निन्दा की हुई जान पड़ती है। वन पर्वके २०९वें अध्यायमें कहा है कि—"दो व्यक्तियोंका जन्म एक ही नक्षत्र पर होता है, पर वे दोनों एक हीसे भाग्यवान् नहीं होते, किन्तु उनके भाग्यमें बहुत अन्तर हुआ करता है।" किसी ज्योतिष-ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकर्त्ताका उल्लेख कहीं नहीं है, परन्तु गर्गका नाम सारस्वत उपाख्यानमें पाया जाता है। शान्ति पर्वके ३४०वें अध्यायके ९५वें श्लोकमें गर्गका सम्बन्ध कालयवनके साथ लगाया गया है। यह गर्ग कालज्ञानी था और ज्योतिषी अर्थात् ग्रहोंकी वक्र-गतिको जानता था। जेकोबीने यह सिद्ध कर दिया है कि महाभारतके समयकी ग्रहमाला आगे सन् ३०० ईसवीमें ज्ञात ग्रहमालासे भिन्न थी (अर्थात् यह माना गया है कि सूर्य नीचे था और चन्द्र ऊपर था)। महाभारतके समय कल्पसूत्र कौन कौन से थे इस बातका पता नहीं। सिर्फ़ कल्पवेदाङ्गका उल्लेख है। परन्तु यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि महाभारतके पूर्व कालमें वेदभेद सहित और शाखा-भेद सहित श्रौतसूत्र भिन्न भिन्न होंगे।

महाभारतमें यद्यपि चार वेदों, ब्राह्मणों, याज्ञवल्क्य शतपथ ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों, छः वेदाङ्गों और तीन उपवेदोंका उल्लेख किया गया है, तथापि इससे महाभारतके कालका निर्णय करनेके सम्बन्धमें कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि पहले तो इन ग्रन्थोंके कर्त्ताओंके नाम नहीं दिये गये हैं; और फिर इन ग्रन्थों तथा इनके कर्त्ताओंका समय भी निश्चित नहीं है, यहाँतक कि वह समय मालूम ही नहीं है। प्रायः इन ग्रन्थोंका समय बहुत प्राचीन होगा, इसलिये यदि वह मालूम भी हो तो उसका कुछ विशेष उपयोग नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, यदि यह मालूम हो गया कि महाभारत वेदान्त-ज्योतिषके अनन्तर बना, तो इस जानकारीसे कुछ भी लाभ नहीं है, क्योंकि इस ज्योतिषका समय ईसवी सन्के पहिले १४०० या १२०० माना जाता है। यदि कहा जाय कि इस

समयके अनन्तर महाभारत हुआ, तो इससे महाभारतके समयका ठीक ठीक निर्णय करनेमें क्या लाभ हो सकता है? यदि कुछ लाभ हो तो वह उन ग्रन्थोंके कालके सम्बन्धमें ही हो सकता है, जिनका उल्लेख महाभारतमें किया गया है। जैसे, आरण्यक शब्द महाभारतमें पाया जाता है; और पाणिनिके समय आरण्यक शब्द का अर्थ 'वेदका विशिष्ट भाग' नहीं था, किन्तु 'अरण्यमें रहनेवाला मनुष्य' था; इससे यही मालूम होता है कि वेदके आरण्यक भाग पाणिनिके बाद और महाभारतके पहले बने होंगे या उन्हें यह नाम दिया गया होगा। अस्तु; यदि कहा जाय कि महाभारतमें वेदके अमुक भागका अथवा उपनिषदोंका उल्लेख नहीं है, इसलिये वे भाग उस समय थे ही नहीं, तो यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता। जबतक इस बातकी आवश्यकता न हो कि उल्लेख किया ही जाना चाहिये, तब तक उल्लेखके अभावसे कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता। ऐसी दशामें निश्चयात्मक रीतिसे यह नहीं बतलाया जा सकता कि महाभारतके पहले कौन कौन से ग्रन्थ थे।

इस दृष्टिसे देखने पर यहाँ इस बातका विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि यदि वेदों अथवा उपनिषदोंके कुछ अवतरण महाभारतमें पाये जाते हों तो वे कौन से हैं। कारण यह है कि इस बातके मालूम हो जाने पर भी कोई अनुमान नहीं किया जा सकता। वेदोंके जो वचन महाभारतमें ज्योंके त्यों पाये जाये हैं, उन्हें ढूंढकर हाप्किन्सने अपने ग्रन्थमें ऐसे उदाहरणोंकी एक माला ही दे दी है। इन उदाहरणोंसे यह स्थूल अनुमान हो सकता है कि वेद, ब्राह्मण आदि सब ग्रन्थ महाभारतके पहलेके हैं; परन्तु इस स्थूल अनुमानसे विशेष लाभ क्या हुआ? ऐसे भी उदाहरण दिये गये हैं जिनसे मालूम होता है कि कठोपनिषद्के अवतरण महाभारतमें पाये जाते हैं; परन्तु इससे भी कोई विशेष लाभदायक अनुमान नहीं किया जा सकता। श्वेताश्वतर उपनिषद् और मैत्रायण उपनिषद्के जो अवतरण महाभारतमें लिये गये हैं, उनके भी उदाहरण हाप्किन्सने दिये हैं। स्मरण रहे कि ये दोनों उपनिषद् दशोपनिषदोंके बाहरके हैं और इनका समय भी कुछ मालूम नहीं। ऐसी दशामें यदि कहा जाय कि उपनिषदोंके अनन्तर महाभारतकी रचना हुई, तो इस कथनसे कुछ भी निष्पन्न नहीं होता। मैत्रायण उपनिषद्से महाभारतमें कुछ वेदान्त तत्त्व लिये गये हैं जिनका विचार वेदान्त विषयके साथ स्वतन्त्र रीतिसे आगे चलकर किया जायगा। तात्पर्य यह है कि हमें यहाँ यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि वैदिक ग्रन्थोंके कौन से अवतरण महाभारतमें लिये गये हैं। गृह्यसूत्रों, धर्मशास्त्रों और पुराणोंका आवश्यक उल्लेख पहले किया जा चुका है। अब दर्शन, अनुशासन, पन्थ अथवा मतके उल्लेखके सम्बन्धमें कुछ विचार किया जाना चाहिये।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व और उत्तर मीमांसा मिलाकर जो छः दर्शन होते हैं, उनका एकत्र उल्लेख महाभारतमें कहीं नहीं है। अकेले कपिलको छोड़ इन दर्शनोंके प्रसिद्ध कर्त्ताओंका भी उल्लेख महाभारतमें नहीं है। न्यायके सूत्रकर्त्ता गौतम, वैशेषिकके कणाद, योगके पतञ्जलि और उत्तर मीमांसाके बादरायणका भी नाम महाभारतमें नहीं है। हम पहले कह चुके हैं कि बादरायणके सूत्र महाभारतके अनन्तरके हैं। उसकल-

समय ईसवी सनके पहले १०० माना जाय तो महाभारत उसके पहलेका है। पतञ्जलिके योगसूत्रका समय भी इसीके लगभग है। पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें, पुष्पमित्रके अश्वमेधका और साकेत (अयोध्या) पर यवन-राजा मिनंडर (मिलिन्द) की चढ़ाईका उल्लेख किया है; और यह उल्लेख इस प्रकार किया गया है कि मानों ये दोनों बातें पतञ्जलिके समयमें हुई हों। इससे पतञ्जलिका समय ईसवी सन्‌के पहले १५० से १०० के बीचमें प्रायः निश्चित हो जाता है; अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान महाभारत ईसवी सन्‌के १५० वर्षके पहलेका है। यदि कोई कहे कि महाभारतमें पतञ्जलिके उल्लेखका न होना विशेष महत्त्वका प्रमाण नहीं है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। पतञ्जलिके नामका उल्लेख अवश्य होना चाहिये था; क्योंकि योग-शास्त्र अथवा योग मतका उल्लेख महाभारतमें हजारों स्थानोंमें पाया जाता है; और एक स्थानमें तो स्पष्ट कहा गया है कि योगज्ञानका प्रवर्तक हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) है। यदि उस समय पतञ्जलिके योगसूत्रोंकी रचना हुई होती, तो उनका उल्लेख अवश्य किया गया होता। बादरायणके सूत्रोंका भी यही हाल है। वर्तमान समयमें बादरायणके सूत्र सर्वमान्य और वेदतुल्य समझे जाते हैं। यदि वे महाभारतके समय होते तो उनका उल्लेख अवश्य किया जाता। ऐसा उल्लेख न करके यह कहा गया है कि वेदान्तका प्रवर्तक अपान्तरतमा अथवा प्राचीनगर्भ है। सारांश, महाभारतका समय योग और वेदान्तके सूत्रकर्ताओंके पहलेका है और इन दोनोंकी स्थिति समान है; अर्थात् दोनोंके कर्त्ता भिन्न बतलाये गये हैं। इनका समय निश्चित है; और यह प्रमाण विशेष महत्त्वका है कि महाभारत इनके समयके पहलेका है। पूर्वमीमांसाके सूत्रकर्त्ता जैमिनि और न्याय-सूत्रकर्त्ता गौतमके नाम महाभारतमें पाये जाते हैं। परन्तु ये नाम सूत्रकर्त्ताकी हैसियतसे नहीं, किन्तु साधारण ऋषियोंके तौर पर दिये गये हैं। तात्पर्य यह है कि गौतमके सूत्र और जैमिनिके सूत्र महाभारतके अनन्तरके हैं। जान पड़ता है कि न्याय और मीमांसा-शास्त्र महाभारतके पहलेके हैं; क्योंकि यद्यपि न्याय शब्दका प्रत्यक्ष उपयोग नहीं किया गया है, तथापि उस विषयका उल्लेख हेतुवाद शब्दसे किया गया है। नैयायिकोंको 'हैतुक' कहा गया है (अनुशासन अ० ३७, १२-१४)। नैयायिकोंने वेदोंके प्रमाणको नहीं माना है, इसलिये यह मत वेदबाह्य समझा गया है। महाभारतमें वैशेषिक और कणादका नाम नहीं है। उनका नाम सिर्फ़ एक बार हरिवंशमें दिया गया है। वैशेषिक शब्दका उपयोग सिर्फ़ एक बार 'गुणोंका विशेषण अर्थात् उत्तम' इस अर्थमें किया गया है। पूर्वमीमांसाका नाम शान्ति पर्वके १८ वें अध्यायमें दिया गया है। इसमें उन लोगोंकी प्रशंसा की गई है जो पाखण्डी पण्डितोंके विरुद्ध थे, जिन्हें पूर्वशास्त्रकी अच्छी जानकारी थी और जो कर्मोंका आचरण किया करते थे। इससे मालूम होता है कि महाभारत-कालमें पूर्वशास्त्र ही कर्मशास्त्र माना गया होगा और स्वभावतः उत्तरशास्त्र वेदान्तका शास्त्र माना गया होगा। परन्तु इस विषयमें सन्देहके लिये बहुत स्थान है। सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक कपिलका नाम बार बार पाया जाता है और उनके शिष्य भी अनेक बतलाये गये हैं। उन शिष्योंमें आसुरी और पञ्चशिखके नाम आये हैं। असितदेवलका भी नाम आया है। यह बात प्रसिद्ध है कि

कपिलके वर्तमान सूत्र बहुत अर्वाचीन हैं। कपिलका और कोई प्राचीन ग्रन्थ इस समय प्रसिद्ध नहीं है। महाभारतमें कपिलको अग्नि, शिव, विष्णु और प्रजापतिका अवतार माना गया है। इससे अनुमान होता है कि वह बहुत प्राचीन समयमें हुआ होगा और उसके कालके सम्बन्धमें कुछ भी निश्चय नहीं किया जा सकता। वेदोंके निन्दकके तौर पर एक स्थान (शान्तिपर्व, अ० २६६.६) में कपिलका वर्णन पाया जाता है। यह भी मालूम होता है कि कपिल अहिंसावादी था और यज्ञके विरुद्ध था। यदि कपिलका समय बौद्ध-कालके कुछ पूर्वका माना जाय, तो इस कपिलको अर्वाचीन कहना पड़ेगा। पञ्चशिखका समय निश्चय-पूर्वक नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु बौद्धमतवादियोंमें पञ्चशिखका नाम पाया जाता है। इसका काल बुद्धके समयके लगभग माना जा सकता है। इससे यह बात पाई जाती है कि बुद्ध और पञ्चशिखके अनन्तर महाभारत हुआ है। इससे महाभारतके समयका निर्णय करनेमें अच्छी सहायता मिलती है।

अब हम नास्तिक मतोंके सम्बन्धमें कुछ विचार करेंगे। न्याय और सांख्य वेदोंको नहीं मानते, अतएव ये दोनों नास्तिक मत हैं। परन्तु उनके बहुतसे सिद्धान्तोंका स्वीकार इन दोनों मतोंमें सनातन धर्मसे किया गया है इसलिये ये षड्दर्शनोंमें शामिल किये गये हैं। सच्चे नास्तिक सिर्फ़ लोकायत, बौद्ध और जैन ही हैं। देखना चाहिये कि महाभारतमें इनका कितना उल्लेख किया गया है। आश्चर्य है कि नामसे इनका उल्लेख कहीं नहीं है। सम्भव है कि इन मतोंके नास्तिक होनेके कारण इनके नामका उल्लेख किया जाना उचित न समझा गया हो। लोकायत मतके अगुआ चार्वाकका नाम महाभारतमें कहीं देख नहीं पड़ता। परन्तु युद्धके अनन्तर युधिष्ठिरने जब हस्तिनापुरमें प्रवेश किया, उस समयके वर्णनमें, प्रकट रूपसे उसका धिक्कार करनेवाले चार्वाक नामक एक ब्राह्मण परिव्राट्का नाम पाया जाता है जो दुर्योधनका मित्र था। इससे जान पड़ता है कि चार्वाक नाम बहुत निन्द्य था। बृहस्पति नास्तिक मतका प्रवर्तक माना गया है। आश्चर्यकी बात है कि बृहस्पति आसुर मतका प्रवर्तक समझा जाय; परन्तु उपनिषदोंमें यह कथा पाई जाती है कि असुरोंको कुमार्गमें प्रवृत्त करानेके लिये बृहस्पतिने एक मिथ्या शास्त्रकी रचना की थी। यद्यपि यह कथा महाभारतमें नहीं है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी रचना पीछेसे हुई होगी। लोकायतका नाम आदि पर्वके ७०वें अध्यायमें पाया जाता है, यथा—"लोकायतिक मुख्यैश्च समन्तादनुनादितम्।" ४६। यहाँ कहा गया है कि कण्वके आश्रममें लोकायत अथवा नास्तिक पन्थके मुखियोंके वादविवादकी आवाज़ गूँज रही थी। इससे प्रकट है कि लोकायत अथवा चार्वाक मत बहुत प्राचीन है। अब देखना चाहिये कि बौद्धोंका उल्लेख महाभारतमें है या नहीं। यद्यपि इनका उल्लेख नामसे न किया गया हो, तथापि इनके मतोंका उल्लेख कहीं कहीं पाया जाता है। आश्वमेधिक पर्वके ४६वें अध्याय (अनुगीता) में अनेक मत बतलाये गये हैं। वहाँ सबसे पहले चार्वाक मतका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—"कोई कोई कहते हैं कि देहका नाश हो जाने पर आत्माका भी नाश हो जाता है।" इसके बाद कहा गया है कि कुछ लोग इस जगत्को क्षणिक मानते हैं। इस वर्णनमें बौद्ध मतका उल्लेख देख पड़ता है।

किसी किसी स्थानमें निर्वाण शब्दका प्रयोग किया गया है, जैसे शान्ति पर्व अध्याय १६७ श्लोक ४६। यहाँ भी बौद्ध मतका ही बोध होता है। सारांश, महाभारतके विस्तृत भागमें बौद्ध मतका वर्णन पाया जाता है। जैन मतका उल्लेख स्पष्ट है। आदि पर्वमें नग्न-क्षपणकका उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य स्थानोंमें नग्न, दिगम्बर, पागलोंके समान घूमनेवाले, इत्यादि लोगोंका उल्लेख है। इतना होने पर भी स्पष्ट रीतिसे नामका उल्लेख नहीं किया गया है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि जैन और बौद्ध मतोंके पहले उन्हींके मतोंके समान अन्य मत प्रचलित थे। यदि यह मान लिया जाय कि महाभारतमें बौद्ध और जैन मतोंका उल्लेख है, तो कोई हर्ज नहीं। महाभारतके समयका निश्चय करनेके लिये यह एक अच्छा साधन है। इससे यह सिद्धान्त किया जा सकता है कि ईसवी सनके पहले ४०० वर्षके इस पार महाभारतकी रचना हुई है। यह सिद्धान्त हमारे निश्चित किये हुए समयके विरुद्ध नहीं है। हमने तो यही प्रतिपादित किया है कि बौद्ध और जैन धर्मके प्रसारसे ही भारतको महाभारतका स्वरूप देनेकी आवश्यकता हुई थी।

यहाँ अब एक अत्यन्त महत्त्वके प्रश्नका विचार किया जायगा। भगवद्गीता महाभारतका एक बहुत प्राचीन भाग है। कुछ लोगोंकी राय है कि इस भगवद्गीतामें बौद्ध मतका खण्डन किया गया है। अर्थात्, इससे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया जाता है कि भगवद्गीता मूल भारतमें भी न होकर बौद्ध धर्मके बादकी यानी महाभारतके समयकी है। परन्तु यह राय गलत है। इन लोगोंका कथन है कि भगवद्गीतामें आसुर स्वभावका जो वर्णन है, वह बौद्ध लोगोंका ही है: अर्थात्—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥

इस श्लोकमें बौद्ध मतका दिग्दर्शन किया गया है। परन्तु सच बात यह है कि उक्त वर्णन बौद्धोंका नहीं, चार्वाकों अथवा बार्हस्पत्योंका है। तैलङ्ग प्रभृति विद्वानोंकी यही राय है कि बौद्ध लोग 'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः' के स्वभावके नहीं थे। 'आज इस शत्रुको मार गिराया, कल उसको मारूँगा' इत्यादि गर्वोक्ति बौद्धोंके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती। 'ईश्वरोऽहं अहंभोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी' ऐसे उद्गार उनके मुखसे नहीं निकल सकते। उनका तो सबसे बड़ा पुरुषार्थ यही था कि संसारको छोड़ अरण्यमें जाकर स्वस्थ और ध्यानस्थ बैठे रहें। 'भजन्ते नाम-यज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम' यह वर्णन भी उनके विषयमें नहीं हो सकता, क्योंकि वे यज्ञके कट्टर शत्रु थे। यह वर्णन चार्वाकोंके सम्बन्धमें भली भाँति उपयुक्त होता है। जो चार्वाक और आसुर यह मानते थे कि शरीरके भस्म हो जाने पर आगे कुछ भी नहीं रह जाता, इस शरीरके रहते ही सुखका जो उपभोग हो सकता हो वह कर लेना चाहिये, उन्हींके सम्बन्धमें यह वर्णन शोभा दे सकता है। अब देखना चाहिये कि उक्त श्लोकमें बौद्ध मतोंका उल्लेख है या नहीं। 'जगत् अनीश्वर है' यह मत बौद्धोंका नहीं किन्तु चार्वाकोंका है। बौद्ध लोग इस विषयका विचार ही नहीं करते कि ईश्वर है या नहीं। वे इस बातको भी नहीं मानते कि जगत् असत्य है अथवा मिथ्या। वे लोग तो जगत्को सत्य, पर क्षणिक, मानते हैं। यह सच है कि चार्वाक् जगत्को असत्य नहीं मानते थे: परन्तु असत्य शब्दका अर्थ 'नास्ति सत्यं यस्मिन्' होना चाहिये,

यानी यह अर्थ होना चाहिये कि जगत्‌में सत्य नहीं है। 'अपरस्परसंभूतं' का अर्थ कुछ संदिग्ध सा मालूम होता है। इसका यह अर्थ हो सकता है कि जिन पदार्थोंसे यह जगत् बना है, अर्थात् पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश, वे सब एक दूसरे-से उत्पन्न नहीं हुए हैं। 'कामहैतुकम्' यह अन्तिम विशेषण तो निश्चयपूर्वक चार्वाकों-के ही लिये लगाया जा सकता है। उनका यही मत है कि जगत्‌का हेतु केवल काम है, और कुछ नहीं; इस जीवनकी इति-कर्तव्यता केवल सुखोपभोग ही है। यह प्रकट है कि इस मतका स्वीकार बौद्ध लोग नहीं करते। ऐसी दशामें स्पष्ट है कि उक्त श्लोकमें बौद्ध मतोंका दिग्दर्शन नहीं किया गया है। यद्यपि निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि चार्वाकोंका मत क्या था, तथापि माधवने सर्वदर्शन-संग्रह-में बृहस्पतिके श्लोक उद्धृत किये हैं उनसे कुछ प्रतीत होता है। परन्तु इस समय बृहस्पति-सूत्र उपलब्ध नहीं हैं। मैक्स-मूलरने हिन्दू तत्वज्ञान पर जो ग्रन्थ लिखा है, उसमें इस सूत्रके सम्बन्धमें यह वर्णन पाया जाता है—"इस समय बृहस्पति-सूत्र नष्ट हो गये हैं। कहा जाता है कि इन सूत्रोंमें उन देहात्मवादी अथवा कामचारी लोकायतिक यानी चार्वाक लोगोंके मत ग्रथित थे, जो यह माना करते थे कि जो वस्तु प्रत्यक्ष देख नहीं पड़ती वह है ही नहीं।" आश्चर्यकी बात है कि इस अनीश्वर-वादी मतका प्रवर्तक देवताओंका गुरु बृहस्पति हो। परन्तु ब्राह्मण और उपनिषद्-में कथा है कि बृहस्पतिने असुरोंको उनके नाशके लिये मिथ्या और अनर्थ-कारक तत्त्वज्ञान बतलाया था। उदाहरणार्थ, मैत्रायण उपनिषद् ७६ में यह वर्णन है कि बृहस्पतिने शुक्रका रूप धारण करके, देवताओंके लाभ और असुरोंके नाशके लिये इस मिथ्या ज्ञानका प्रतिपादन किया। जान पड़ता है कि असुर अथवा पारसी तत्त्व-ज्ञानमें भी देहको प्रधान मान-कर विचार किया गया है। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे अनीश्वरवादी मत वैदिक कालसे प्रचलित थे। इनका उल्लेख ऋग्वेदके सूत्रोंमें भी पाया जाता है, और मैक्समूलरने इनका वर्णन अपने ग्रन्थमें किया है। मैत्रायण उपनिषद्‌में कही हुई कथा बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित होगी। इस उपनिषद्‌का समय निश्चित नहीं है; तथापि इसमें सन्देह नहीं कि यह आसुरी मत वेद-कालसे ही अर्थात् बुद्धके पहले ही प्रचलित था। भगवद्गीतामें जिस-का उल्लेख किया गया है वह आसुरी मत ही है और वह बहुत प्राचीन भी है। यह वर्णन और यह मत बौद्धोंके विषयमें बिल-कुल उपयुक्त नहीं हो सकता। सारांश, यह कथन बिलकुल गलत है कि भगवद्गीतामें बौद्ध मतका उल्लेख है। गीता किसी प्रकार बुद्धके अनन्तरकी हो ही नहीं सकती।

कुछ लोगोंका कथन है कि भगवद्गीता-में अहिंसा मतका स्वीकार किया गया है और बौद्ध धर्ममें भी अहिंसा मत प्रति-पादित है। जिस प्रकार बौद्ध धर्ममें जाति-निर्बंधका अनादर है और सब जातिके लोगोंको भिक्षु होनेका समान अधि-कार दिया गया है, उसी प्रकार भगवद्गीता-में भी कहा गया है कि शूद्रोंको, यहाँतक कि श्वपचोंको भी, मोक्षका अधिकार है। इससे वे लोग अनुमान करते हैं कि भग-वद्गीता बौद्ध धर्मके प्रचारके अनन्तरकी है। परन्तु यह अनुमान गलत है। अहिंसा-तत्व हिन्दुस्तानमें बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है। उपनिषदोंमें भी इस तत्वका उपदेश पाया जाता है। उदाहरणार्थ, छांदोग्य उपनिषद् (प्रपाठक ८, कांड १४) में कहा है:—

अहिंसन्सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः ।

अर्थात्, भगवद्गीताका यह मत उपनिषद्से लिया गया है, न कि बौद्ध धर्मसे। दूसरी बात, शूद्रोंके सम्बन्धमें भी उपनिषदोंका यही अनुकूल मत है कि उन्हें ब्रह्म-विद्याका अधिकार है । उपनिषद् कालमें विद्वानोंकी कैसी समदृष्टि थी, यह बात छांदोग्य उपनिषद्में कही हुई रैक्व और जानश्रुतिकी कथासे स्पष्ट देख पड़ती है । यह तत्व उपनिषद्से गीतामें लाया गया है: यह कुछ बौद्ध कालके अनन्तरका नहीं है । इतना ही नहीं, किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि बौद्ध कालके अनन्तर सनातनधर्म मतका प्रवाह उलटी दिशामें जाने लगा और उस समय बौद्ध लोगोंके शूद्र भिक्षुओंका निषेध करनेके लिये ही यह निश्चय किया गया कि शूद्रोंको ब्रह्म विद्याका अधिकार नहीं है। यह मत बादरायणके वेदांत सूत्रमें पाया जाता है । वहाँ उपनिषद्की जानश्रुति और रैक्वकी कथाका कुछ भिन्न सम्बन्ध मानकर शूद्र शब्दका निराला ही अर्थ किया गया है । सारांश, भगवद्गीता बौद्ध मतके पहलेकी और प्राचीन उपनिषदोंके समीपकी है । बादरायणके वेदान्त सूत्र बौद्ध मतके प्रचारके अनन्तरके—बहुत समयके बादके—हैं। हमने इस ग्रन्थके एक स्वतन्त्र भागमें यह सिद्ध करनेका विचार किया है कि भगवद्गीताका समय वर्तमान महभारतके समयसे बहुत प्राचीन है। यहाँ तो सिर्फ महाभारतके वर्तमान स्वरूपके समयका ही विचार करना है । इसमें बौद्ध मतका उल्लेख प्रत्यक्ष नामसे प्रकट न हो, तो भी यह स्पष्ट देख पड़ता है: इसलिये सिद्ध है कि वर्तमान महाभारतका समय बौद्ध मतके अनन्तरका है, अर्थात् ईसवी सनके पहले ४००के अनन्तरका है: और यह सिद्धान्त हमारे पूर्वोक्त मतका विरोधी नहीं है ।

अब इस बातका विचार किया जायगा कि सनातन-धर्मके मतमतान्तरोंमेंसे किन किन मतोंका उल्लेख महाभारतमें है और उनके कौनसे ग्रन्थ उल्लिखित हैं । नारायणीयमें पञ्चमहाकल्प विशेषण विष्णुके लिये लाया गया है । टीकाकारका कथन है कि इसमें पाँच मतों और उनके आगमोंका समावेश होता है । अर्थात्, उसका कथन है कि उस शब्दमें शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त और गाणेश, ये पाँच मत शामिल हैं। परन्तु महाभारतमें प्रत्यक्ष उल्लेख केवल प्रथम तीन मतोंका ही है: शाक्त और गाणेश मतों अथवा आगमोंका उल्लेख नहीं है । शैव मतका उल्लेख पाशुपत-ज्ञानके नामसे किया गया है और प्रत्यक्ष शिवको उसका कर्ता कहा गया है । परन्तु इस मतके किसी ग्रन्थका नाम नहीं पाया जाता । यह भी नहीं बतलाया गया है कि पाशुपतोंके मत क्या थे । वैष्णवोंके मतका उल्लेख भागवत नामसे किया गया है, परन्तु यह नहीं बतलाया गया कि उनके ग्रन्थ कौन कौनसे थे । पञ्चरात्र मतके प्रवर्तक स्वयं भगवान् हैं । इस शब्दका उपयोग विष्णु अथवा श्रीकृष्णके लिये किया जा सकता है । इसीसे इस मतके लोगोंको 'सात्वत' कहते हैं । यह कहीं नहीं बतलाया गया है कि पाञ्चरात्र मतके कौन कौनसे ग्रन्थ थे । शांति पर्वमें जो नारायणीय उपाख्यान है वह सब इसी मतका है । मुख्य पञ्चरात्र अथवा नारद-पञ्चरात्रके अतिरिक्त किसी दूसरे ग्रन्थका उल्लेख नहीं है, इसलिये काल-निर्णयके सम्बन्धमें कोई विशेष सहायता नहीं मिलती । शान्ति पर्वके ३३५ वें अध्यायमें यह वर्णन है कि जो सात ऋषि 'चित्रशिखण्डी' के नामसे

विख्यात थे, उन्होंने मिलकर वेदोंके निचोड़से मेरु पर्वत पर एक उत्तम शास्त्रकी रचना की। वही यह पञ्चरात्र है। उस ग्रन्थमें श्रेष्ठ लोकधर्मका विवरण दिया गया था। मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ, यही उक्त चित्रशिखण्डी हैं। कहा गया है कि उस ग्रन्थमें एक लाख श्लोक थे। यद्यपि वह ग्रन्थ काल्पनिक न हो, तथापि ऐतिहासिक रीतिसे यह निश्चय करना असम्भव है कि वर्तमान समयके प्रसिद्ध पञ्चरात्र-ग्रन्थ कब रचे गये थे; इसलिये महाभारतके कालका निर्णय करनेके लिये कुछ साधन उत्पन्न नहीं होता। महाभारतमें पाशुपत-ग्रन्थ वर्णित न होकर पञ्चरात्र ग्रन्थ वर्णित है। इससे अनुमान होता है कि उस समय पाशुपत-ग्रन्थ न होगा। यदि होता तो जिस प्रकार सौतिने नारायणीय उपाख्यानका समावेश महाभारतमें किया है, उसी प्रकार पाशुपत-ग्रन्थका भी समावेश किया होता। सौर उपासनाका उल्लेख द्रोण पर्वके ८२ वें अध्यायमें है। इस बातका पता नहीं कि यह उपासना ठीक वैसी ही थी जैसी ब्राह्मण लोग हमेशा गायत्री-मन्त्रसे किया करते हैं, अथवा उससे भिन्न थी। यह भी समझमें नहीं आता कि सौर-उपासनाका मत कुछ भिन्न था या कैसा था। सौर मतके ग्रन्थोंका कुछ भी उल्लेख नहीं है, अतएव इस विषय पर अधिक लिखनेकी गुञ्जायश नहीं।

इस प्रकार यहाँतक इस बातका विवेचन किया गया है कि पहले अन्तःप्रमाणसे क्या सिद्ध होता है और काल-निर्णयके लिये कैसी सहायता मिलती है। इस विवेचनका सारांश यह है:—महाभारतमें वेद, उपवेद, अङ्ग, उपाङ्ग, ब्राह्मण और उपनिषदोंका उल्लेख है; परन्तु इनका काल अनिश्चित है, उसका अन्दाज केवल स्थूल मानसे किया जाता है और वह भी अत्यन्त प्राचीन समयका है। इसलिये इन ग्रन्थोंसे काल-निर्णयके लिये विशेष सहायता नहीं मिलती और इसी लिये हमने उनके अवतरण नहीं दिये हैं। महाभारतमें सूत्रों और धर्मशास्त्रोंका उल्लेख पाया जाता है, परन्तु किसीका नाम नहीं दिया गया है। मनुका नाम प्रसिद्ध है और वह बार बार देख पड़ता है। उसके बहुतेरे वचन भी पाये जाते हैं। परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि मनुस्मृति महाभारतके अनन्तरकी है। हमने आश्वलायन गृह्यसूत्रका एक वचन ऊपर उद्धृत किया है जो महाभारतमें पाया जाता है; परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह वचन उस सूत्रसे ही लिया गया है। आश्वलायन सूत्रके पहले महाभारतकी रचना हुई, क्योंकि उसमें महाभारतका उल्लेख है। 'ब्रह्मसूत्रपदैः' शब्दसे बादरायणके वेदान्तसूत्रोंका बोध नहीं होता। बादरायणके सूत्रोंमें महाभारतके वचनोंका आधार लिया गया है, इसलिये वे महाभारतके अनन्तरके हैं। महाभारतमें न तो न्याय और वैशेषिकका और न उनके सूत्रोंका ही उल्लेख है। सांख्ययोग और कपिलका नाम बार बार देख पड़ता है, परन्तु पतञ्जलिके योगसूत्रका उल्लेख नहीं है। योग-शास्त्र का कर्त्ता कोई और ही बतलाया गया है। इससे पतञ्जलिका समय महाभारतके अनन्तरका होता है। पाशुपत और पाञ्चरात्र मतोंका उल्लेख है, परन्तु उनके किसी ग्रन्थका उल्लेख नहीं है। सप्तर्षि-कृत एक लक्षात्मक पञ्चरात्र-ग्रन्थ उल्लिखित है। यद्यपि वह काल्पनिक न हो तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह किस समयका है, इसलिये उससे विशेष लाभ नहीं होता। संक्षेपमें,

इस प्रथम अन्तःप्रमाणके आधार पर, निश्चयात्मक रीतिसे सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि आश्वलायनके गृह्यसूत्र, बादरायणके वेदान्त-सूत्र और पतञ्जलिके योग-सूत्रके पहले महाभारत हुआ है। इन सूत्रोंका काल, विशेषतः पतञ्जलिका काल, ईसवी सन्‌के पहले १५०–१०० है; अर्थात् महाभारत इस समयके पहलेका निश्चित होता है।

दूसरा अन्तःप्रमाण महाभारतमें पाये जानेवाले गद्य और छन्दोंका है; इसलिये अब सोचना चाहिये कि महाभारत-छन्द् किस समयके हैं और जानना चाहिये कि उनसे महाभारतके कालका कुछ निर्णय हो सकता है या नहीं। इस दृष्टिसे पाश्चात्य ग्रन्थकारोंने बहुत विस्तारपूर्वक विचार किया है। यद्यपि यह विचार निर्णयात्मक सिद्धान्तके लिये विशेष उपयोगी नहीं है, तथापि पाठकोंको इसकी कुछ जानकारी अवश्य होनी चाहिये। इसका विवेचन करनेके पहले हम यहाँ गद्यके विषयमें कुछ विचार करेंगे। महाभारतमें अनेक स्थानोंमें गद्य पाया जाता है। विशेषतः आदि पर्व, वन पर्व और शान्ति पर्वमें यह अधिक है। इन गद्य-भागोंकी रचना सौतिने स्वयं की होगी। यह भी सम्भव है कि कहीं कहीं पहले जमानेके किसी इतिहास आदिके ग्रन्थमें-से कोई भाग ले लिया गया हो। पहले पर्वमें जनमेजय और देवशुनीकी कथाका भाग प्राचीन जान पड़ता है। परन्तु वन पर्व और शान्ति पर्वका गद्य-भाग नया एवं सौति-कृत देख पड़ता है। महाभारत-का गद्य-भाग वेदके ब्राह्मण-भाग और उपनिषद्-भागमें पाये जानेवाले गद्यसे बिलकुल भिन्न है। ब्राह्मण-भागके गद्यमें प्राचीन वैदिक-कालीन शब्द और प्राचीन प्रयोग बहुत हैं। उसकी भाषा अत्यन्त वक्तृत्वपूर्ण है और एक हीसे प्रयोग तथा वाक्योंकी पुनरावृत्ति इसके पोषणके लिये की हुई देख पड़ती है। परन्तु महाभारत-का गद्य ऐसा नहीं है। इसमें प्राचीन शब्द अथवा प्राचीन प्रयोग नहीं हैं; और वक्तृत्व-शक्ति भी वैसी नहीं है। स्पष्ट देख पड़ता है कि जिस समय संस्कृत भाषाका उपयोग साधारण लोगोंकी बातचीतमें नहीं किया जाता था, उस समय महाभारतके गद्य-भागकी रचना की गई थी। इस गद्य-भागसे इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि ब्राह्मण और उपनिषद्-कालके अनन्तर बहुत वर्षोंके बाद, जब संस्कृत भाषाका उपयोग बोलचालमें नहीं किया जाता था, तब महाभारतकी रचना हुई होगी। अर्थात्, ईसवी सन्‌के पहले २०० के लगभगका जो समय हमने निश्चित किया है, उसको स्थिर करनेके लिये इस गद्य-भागके विचारसे सहायता ही मिलती है।

अब हम पद्यके विषयमें विचार करेंगे। हाप्किन्सने अपने ग्रन्थमें इस विषयका इतना अधिक और विस्तार-पूर्वक विचार किया है कि उसके १७५ पृष्ठ इसी विषयसे भरे हैं। उसका पूरा पूरा उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता; और उससे स्थूल अनुमानके सिवा कुछ अधिक मालूम भी नहीं हो सकता। इस-लिये उसकी कुछ विशेष और प्रधान बातें यहाँ बतला देना काफ़ी होगा। महाभारत-में मुख्यतः अनुष्टुभ् श्लोक हैं और इनसे कुछ कम उपजाति-वृत्तके अर्थात् त्रिष्टुभ्-वृत्तके श्लोक हैं। सौमें ९५ अनुष्टुभ्, ५से कुछ कम त्रिष्टुभ् और ½ अन्य वृत्तोंके शेष सब श्लोक हैं। इस ½ में सब प्रकारके वृत्त शामिल हैं। अक्षर-वृत्तोंमें रथोद्धतासे शार्दूलविक्रीड़िततक ११ वृत्तोंके नमूने हैं। मात्रा-वृत्तोंमें पुष्पिताग्रा, अपरवक्त्रा,

मात्रासमका और आर्या, गीति और उपगीति, ये सब वृत्त हैं। ये भिन्न भिन्न वृत्त कब और कैसे उत्पन्न हुए इसका निश्चित इतिहास नहीं बतलाया जा सकता। यह बात प्रसिद्ध है कि कालिदासके समयसे इन सब वृत्तोंका उपयोग होता चला आया है। ये वृत्त वैदिक नहीं हैं; परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिक वृत्तोंसे ही इन वृत्तोंकी उत्पत्ति कालिदासके पहले हुई थी। आर्या-वृत्तका उपयोग बौद्ध और जैन ग्रन्थोंमें बहुत प्राचीन समयसे देख पड़ता है। सारांश, इन वृत्तोंके उपयोगसे महाभारतके कालका निर्णय करनेके लिये कुछ भी साधन नहीं मिलता। और जो काल हमने निश्चित किया है उसके विरुद्ध भी कोई बात नहीं पाई जाती। अनुमान है कि सौतिने रुचि-वैचित्र्यके लिये, अथवा इस प्रतिज्ञाकी पूर्त्तिके लिये कि—"जो महाभारतमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है," इन भिन्न भिन्न वृत्तोंके श्लोकोंका उपयोग किया होगा। अब हम महाभारतके प्रधान छन्द अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ्का विचार करेंगे।

अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् वैदिक वृत्त हैं। अनुष्टुभ्-वृत्तके प्रत्येक पादमें आठ अक्षर और त्रिष्टुभ्-वृत्तके पदमें ग्यारह अक्षर होते हैं। इन अक्षरोंका ह्रस्व-दीर्घ-क्रम निश्चित नहीं है। अनुष्टुभ्-छन्दमें प्रथम पादका पाँचवाँ अक्षर बहुधा दीर्घ होता है। यह एक ऐसी विशेषता है जो वैदिक अनुष्टुभ्की अपेक्षा व्यास और वाल्मीकिके अनुष्टुभ्में नूतन देख पड़ती है। वैदिक कालसे इस ओरके समयमें धीरे धीरे त्रिष्टुभ्का उपयोग होने लगा; तब उसके ह्रस्व-दीर्घ-क्रम पूरी तरह निश्चित हो गये और अन्तमें वे रामायणमें तथा रामायणके अनन्तरके काव्योंमें इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि वृत्तोंके स्वरूपमें देख पड़ने लगे। यद्यपि अनुष्टुभ्के ह्रस्व-दीर्घ-क्रम विशेष रीतिसे निश्चित नहीं थे, तथापि ह्रस्व-दीर्घके क्रमानुसार उसके भिन्न भिन्न भेद हो जाते हैं और उसमें भिन्न भिन्न माधुर्य प्रकट होता है। इस विषयका विचार हाप्किन्सने विस्तारपूर्वक किया है जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। अनुष्टुभ्के चार चरण और त्रिष्टुभ्के भी चार चरण सामान्यतः माने जाते हैं; परन्तु कभी कभी दो चरण और भी लगा दिये जाते हैं। अनुष्टुभ्को साधारण तौर पर श्लोक कहते हैं। जब किसी ग्रन्थकी श्लोक-संख्याका विचार किया जाता है, तब ३२ अक्षरोंका एक अनुष्टुभ् मान कर ही गणना की जाती है। गद्य ग्रन्थकी भी गणना इसी हिसाबसे, अर्थात् ३२ अक्षरोंके एक श्लोकके हिसाबसे, की जाती है। त्रिष्टुभ् वृत्तके श्लोकमें ११ अक्षर होते हैं; जैसे—

सन्ति लोका बहवस्ते नरेन्द्र।

इस वृत्तके और भी अनेक उदाहरण हैं। यह अनुमान किया जाता है कि जिन जिन स्थानोंमें इस नमूनेके श्लोक पाये जाते हैं वे बहुत प्राचीन भाग हैं। यह बतलाया जा चुका है कि भगवद्गीता अत्यन्त प्राचीन भाग है। सनत्सुजातीय भी इसी प्रकारका आख्यान है। व्यासजीको ऐसे श्लोकोंकी रचना करनेकी बार बार स्फूर्ति होती थी। कहीं कहीं तो पूरा अध्याय ही ऐसे श्लोकोंका हो गया है, और कहीं कहीं अनुष्टुभ् श्लोकोंके बीचमें ही एक दो श्लोक देख पड़ते हैं। सरल और ज़ोरदार भाषामें, सुगमतासे अर्थको प्रकट कर देनेवाले, ऐसे श्लोकोंकी रचना-शक्ति व्यासजीके भाषा-प्रभुत्वकी साक्षी है। रामायणकेसे श्लोक कुछ अधिक सुबद्ध हों तो भी वे इतने सरल और स्वाभाविक—मामूली बोल चालके

समान—नहीं हैं। कालिदासके काव्यके समयसे तो ऐसे श्लोक प्रायः कृत्रिम और दुर्बोध हुआ करते हैं। सौतिने भी ऐसे श्लोक बनाये थे और उसे इन श्लोकोंकी रचना करनेकी कला भी अच्छी तरह सध गई थी। इस बातका प्रमाण यह है कि "यदाश्रौषम्" इत्यादि ६६ श्लोक महाभारतके पहले अध्यायमें इसी वृत्तमें रचे गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह पूरा अध्याय और ये सब श्लोक सौतिके ही हैं। त्रिष्टुभ्-वृत्तके इन श्लोकोंके आधार पर महाभारतका काल कालिदास आदिके पहलेका और रामायणके भी पहलेका निश्चित होता है; क्योंकि रामायणके त्रिष्टुभ् श्लोक नियमबद्ध देख पड़ते हैं।

यह जानना चाहिये कि श्लोक और त्रिष्टुभ्की रचनाके विचारसे ग्रन्थ-काल-निर्णयमें कैसी सहायता मिलती है। इस बातका निश्चय पहले हो चुका है कि महाभारत-ग्रन्थ वैदिक कालसे लेकर अर्वाचीन संस्कृतके समयतक बना है; अर्थात् उसमें कुछ भाग अत्यन्त प्राचीन हैं और कुछ नये भी हैं। रामायण-कालमें ह्रस्व-दीर्घके अनुक्रमका जो नियम निश्चित हो गया था, महाभारतके त्रिष्टुभ्की रचना उससे भिन्न देख पड़ती है। यह बात उसके अनेक श्लोकोंसे सिद्ध है। जैसे, "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः"। इसमें ह्रस्व-दीर्घका अनुक्रम निश्चित नियमके अनुसार नहीं है। ऐसे अनेक श्लोक महाभारतमें पाये जाते हैं। इससे महाभारतका काल रामायणके पहलेका निश्चित होता है। "पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः" यह चरण भी ध्यान देने योग्य है। इसमें 'मि' और 'सम्' ये दो अक्षर दीर्घ हैं। यदि वे ह्रस्व होते तो यह चरण नियमानुसार हो जाता। अर्थात्, यदि 'पृच्छामि ते धर्मविमूढचेताः' ऐसा चरण होता, तो यह आजकलके नियमके अनुसार ठीक कहा जाता।

यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि त्रिष्टुभ् श्लोक मूल वैदिक मन्त्रोंसे लिये गये हैं। यद्यपि वैदिक त्रिष्टुभ्में ह्रस्व-दीर्घका कोई नियम नहीं होता, तथापि उसमें चाहे जहाँ ह्रस्व या दीर्घ नहीं रख दिया जाता। ह्रस्व-दीर्घकी ऐसी योजना करनी पड़ती है कि जिससे वृत्तके माधुर्यकी हानि न होने पावे। उदाहरणके लिये इस वैदिक त्रिष्टुभ् श्लोकार्ध पर विचार कीजिये—'नमस्ते विष्णवास आकृणोमि। तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम्।' इसके प्रत्येक चरणमें ग्यारह अक्षर अवश्य हैं, परन्तु इसका ह्रस्व-दीर्घ-क्रम वर्तमान त्रिष्टुभ्-वृत्तके समान नहीं है। इतना होने पर भी इसका ह्रस्व-दीर्घ-क्रम माधुर्यसे खाली नहीं है। वैदिक त्रिष्टुभ्का अनुकरण करनेके कारण महाभारतका त्रिष्टुभ् अनियन्त्रित है; और इसीसे जान पड़ता है कि उसका समय बहुत प्राचीन है। अनुष्टुभ् छन्दके प्रथम और द्वितीय पादके ह्रस्व-दीर्घका क्रम अबतक निश्चित नहीं है; तथापि माधुर्यकी दृष्टिसे उसके भी कुछ नियम हैं। इन नियमोंको ढूँढ़ निकालनेका प्रयत्न विद्वान् लोगोंने अनेक श्लोकोंकी तुलनासे किया है। एक उदाहरण लीजिये—यदि 'दमयन्त्या सह नलो विजहारामरोपमः' के स्थानमें 'विजहार देवोपम' कर दिया जाय तो यह भूल होगी अर्थात् इसका माधुर्य नष्ट हो जायगा। इस प्रकार श्लोकोंकी तुलना करके हाप्किन्सने काल-सम्बन्धी यह अनुमान निकाला है कि महाभारतमें तीन चार तरहके श्लोक देख पड़ते हैं। पहला प्रकार—बिलकुल अनियन्त्रित-उपनिषदोंके श्लोकोंके नमूनेपर; दूसरा प्रकार—महाभारतका प्राचीन भाग जो इससे कुछ

कम अनियन्त्रित है; तीसरा प्रकार—भारतके प्रधान और ज़ोरदार श्लोक; चौथा प्रकार—नया बढ़ाया हुआ भाग जो रामायणके श्लोकोंके समान है। हाप्किन्सने एक और पाँचवाँ प्रकार भी बतलाया है जो महाभारतके अनन्तरका है। परन्तु उसका जो उदाहरण दिया गया है वह अनुष्टुप् छंदका नहीं मालूम होता। जैसे,

पुरावृताऽभयंकरा मनुष्यदेहगोचराः।
अभिद्रवन्ति सर्वतो यतश्च पुण्यशीलने॥

यह श्लोक अनुष्टुप् छन्दका नहीं है। यह भिन्न अक्षर-वृत्तका श्लोक है। सारांश, हाप्किन्सके मतानुसार भी छन्दोंके विचारसे महाभारतका समय उपनिषद्-कालसे रामायण-कालतक जा पहुँचता है।

त्रिष्टुभ्से बड़े वृत्तके श्लोक साधारण तौर पर आदि पर्वके आरम्भमें, शान्ति पर्वमें, अनुशासन पर्वमें और हरिवंशमें पाये जाते हैं। वे अन्य पर्वोंमें भी हैं, पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। यह बतलाया जा चुका है कि उक्त भाग सौति द्वारा बढ़ाये गये हैं। कर्ण पर्वमें एक स्थानमें लगातार पचीस अर्धसमवृत्त पाये जाते हैं; वहीं एक शार्दूलविक्रीडित और पाँच मालिनी वृत्तके श्लोक भी हैं। अनुशासन पर्वमें आर्या वृत्तके छः श्लोक हैं। कुछ लोगोंका कथन है कि ये श्लोक नूतन छन्दःशास्त्रके नियमानुसार शुद्ध हैं और ये नियम सन् ५०० ई० के लगभगके हैं। ऐसी दशामें यह प्रश्न उठता है कि ये श्लोक सौतिके कैसे माने जायँ? इनका समय ईसवी सन् २०० वर्ष पहलेका कैसे हो सकता है? परन्तु स्मरण रहे कि सन् ५०० ईसवीका जो समय ऊपर बतलाया गया है, वह आधुनिक छन्दोग्रन्थका है, न कि स्वयं छन्दोंका ही। इन छन्दोंका अस्तित्व उस समयके सैंकड़ों वर्ष पहले था और इनका उपयोग भी हुआ करता था। रामायणमें भी इनका उपयोग किया गया है। ईसवी सन्के पहलेके अनेक काव्य-ग्रन्थ नष्ट हो गये हैं। उनमें इन वृत्तोंका उपयोग किया गया था। सारांश, आधुनिक छन्दःशास्त्रके ग्रन्थोंके रचे जानेके पहले ही भिन्न भिन्न छन्दोंकी कल्पना उत्पन्न हो गई थी और उसीके अनुसार सौतिने श्लोक बनाये हैं। यही श्लोक वर्तमान ग्रन्थकारोंके लिये प्रमाणभूत हो गये हैं। त्रिष्टुभ्-वृत्तके जो अनियमित श्लोक हैं, वे महाभारतके प्राचीन भागमेंसे हैं। सम्भव है कि इन्हींके नमूनेपर सौतिने भी नये श्लोक बनाये हों। यह बात प्रसिद्ध है कि कालिदासने शकुन्तलाके चौथे अङ्कमें वैदिक ऋचाओंके नमूनेपर, अग्निकी स्तुतिमें ऋचा बनाई है। अतएव यह कोई असम्भव बात नहीं है कि ईसवी सन्के पहले २०० के लगभग सौतिने शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दोंमें श्लोक बनाये हों। अब यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि जो आर्यावृत्त पहले प्राकृतमें उत्पन्न हुआ, वह संस्कृतमें कब लिया गया होगा? रामायणमें अक्षर-छन्दोंका बहुत कम उपयोग किया गया है, परन्तु आर्या वृत्तके श्लोक नहीं हैं। इससे कुछ लोग यह कहेंगे कि महाभारतका कुछ भाग रामायणके अनन्तरका है। परन्तु यह कोई नियम नहीं हो सकता कि रामायणमें आर्यावृत्तका उपयोग किया जाना आवश्यक ही था। यद्यपि यह वृत्त रामायणमें न हो, तथापि यह नहीं कहा जा कि वह संस्कृत भाषामें उस समयके पहले प्रचलित ही न था। महाभारत-कालमें अनेक प्राकृत-ग्रन्थोंका निर्माण हो चुका था। इनके द्वारा आर्यावृत्तका उपयोग संस्कृतमें किया जाना सम्भव है। सारांश, महाभारतका जो समय

हमने निश्चित किया है, अर्थात् ईसवी सन्के पहले २५०—३०० वर्ष, उसके विरुद्ध इन बड़े छन्दोंके विचारसे भी कोई प्रमाण नहीं पाया जाता।

अब हम तीसरे अन्तःप्रमाणका विचार करेंगे। आर्यावर्तके धार्मिक और राजकीय इतिहासकी घटनाओंमें, बुद्धके धर्म-मतका, अथवा ग्रीक लोगोंके साथ युद्ध होनेका, अथवा उनके साथ कुछ व्यवहार होनेका समय निर्णीत है। अतएव यह देखना चाहिये कि उस बातका कहीं उल्लेख है या नहीं। यह प्रमाण अत्यन्त महत्त्वका है। इस प्रमाणके आधारपर हमने मुख्यतः महाभारतके पूर्व-कालकी मर्यादा निश्चित की है। गौतम बुद्धकी मृत्युका समय ईसवी सन्के पहले ४७४ है। अर्थात्, बौद्ध-धर्मका प्रसार ईसवी सनके ४५०—४०० वर्ष पहले हुआ था। महाभारतमें बुद्धका नामतक नहीं है, परन्तु बौद्ध भिक्षुओं और बौद्ध मतोंका निर्देश है। यही हाल जैन धर्मका भी है। जैन-धर्म-प्रचारक महावीर बुद्धके समय था। उसके धर्मका प्रचार भी बौद्ध-धर्मके साथ साथ हो रहा था। महाभारतमें जिनका नाम नहीं है, परन्तु 'क्षपणक' के नामसे जैनोंका उल्लेख किया गया है। इससे भी वही काल निश्चित होता है। ग्रीक लोगोंका और आर्योंका युद्ध-प्रसङ्ग सिकन्दरके समय हुआ। अर्थात्, ईसवी सन्के लगभग ३०० वर्ष पहले हमें ग्रीक लोगोंकी युद्ध-कलाका परिचय था। यवनोंकी युद्ध-कुशलताका वर्णन महाभारतमें दो तीन स्थानोंपर पाया जाता है। यवनोंका उल्लेख भी बार बार किया गया है। अतएव यह बात निश्चित है कि महाभारत ईसवी सन्के पहले ३०० वर्षके इस पारका होना चाहिये।

अब अन्तमें हम चौथे अन्तःप्रमाणका विचार करेंगे। महाभारतमें ज्योतिष-सम्बन्धी जो बातें पाई जाती हैं, उनका उपयोग काल-निर्णयके लिये विशेष रीतिसे नहीं हो सकता। इसका विस्तार-सहित विवेचन आगे चलकर किया जायगा। महाभारतमें आकाशस्थ ग्रहों और नक्षत्रोंकी स्थितिका वर्णन किया गया है, जिसके आधारपर कुछ लोगोंने ग्रन्थके कथानकके समयका निर्णय करनेका यत्न किया है, पर वह सफल नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारतमें नक्षत्र, मास, अयन, पक्ष, इत्यादिके नाम पाये जाते हैं और इनसे प्राचीन समयका बोध होता है; तथा महाभारत ग्रन्थके काल-निर्णयमें कुछ थोड़ी सी सहायता भी मिलती है; परन्तु इस दृष्टिसे उस वर्णनका कुछ महत्त्व नहीं है। इस विषयका विचार आगे किया ही जानेको है, इसलिये यहाँ अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं। ज्योतिष-सम्बन्धी सिर्फ़ एक ही बात काल-निर्णयके काममें उपयोगी हो सकती है और उसका उल्लेख हम आरम्भमें ही कर चुके हैं। यह निषेधात्मक बात अत्यन्त महत्त्वकी है कि महाभारतमें राशियोंका उल्लेख नहीं है। हम बतला चुके हैं कि ईसवी सनके पूर्व लगभग २०० के अनन्तर इस देशमें राशियोंका प्रचार हुआ है और महाभारत इसके पहलेका है।

अब बाह्य प्रमाणोंका विचार किया जायगा। यह प्रकट है कि जिन ग्रन्थों अथवा शिला-लेखोंमें महाभारतका उल्लेख पाया जाता है, वे अत्यन्त महत्वके प्रमाण हैं। ऐसा एक प्रमाण आरम्भमें ही दिया गया है। "गुप्त इन्स्क्रिपशन्स" के तीसरे भागमें सर्वनाथका जो शिलालेख है, उसमें ईसवी सन्के ४४५ वर्ष पहलेकी एक-लक्षात्मक भारतसंहिताका स्पष्ट उल्लेख

है। इसके सिवा अन्य कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला है। बाहरके लोगोंके ग्रन्थको देखनेसे बौद्ध अथवा जैन ग्रन्थोंमें महाभारत ग्रन्थका उल्लेख हमने नहीं पाया। परन्तु ग्रीक लोगोंके ग्रन्थोंमेंसे डायन् क्रायसोस्टोम् नामक वक्ताके ग्रन्थमें एक लाख श्लोकोंके इलियडका उल्लेख है। यह वक्ता ईसवी सन्के लगभग ५० वर्ष पहले हिन्दुस्थानमें आया था। इस बातका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। यह बात जर्मन पंडित वेबरकी खोजसे मालूम हुई है। इसके आधार पर विचार करनेसे महाभारतका समय ईसवी सन्के पहले ५० वर्षके इस पार लाया ही नहीं जा सकता। उक्त दोनों प्रमाण अत्यन्त महत्वके हैं, इसलिये हमने उनका उल्लेख आरम्भमें ही कर दिया है।

इस प्रकार, अन्तःप्रमाणों और बाह्य प्रमाणोंका विचार करने पर, यह सिद्ध होता है कि ईसवी सन्के पहले ३०० में सिकन्दरके समय हिन्दुस्थानमें ग्रीक लोगोंके आने पर और ईसवी सन्के पहले ५० वर्षके लगभग डायन् क्रायसोस्टोम्के हिन्दुस्थान आनेके पहले, विशेषतः इस देशमें राशियोंके प्रचलित होनेके पहले, और पतञ्जलिके समयके पहले अर्थात् ईसवी सन्के १५० वर्ष पहले महाभारतका काल निश्चित है। सारांश, यही निर्णय होता है कि महाभारतका वर्तमान स्वरूप ईसवी सन्के लगभग २५०-२०० वर्ष पहलेके समयका है।

पश्चिमी विद्वानोंका कथन है कि महाभारतका काल बहुत ही इस पारका है। इस बातको सिद्ध करनेके लिये हाप्किन्सने कुछ कारण भी बतलाये हैं। अब हम संक्षेपमें उन्हींका विचार करेंगे। उसका कथन है कि महाभारतमें ६४ कलाएँ बतलाई गई हैं; दर्शनोंके मतोंका उल्लेख है; त्रिमूर्तिका उल्लेख है; यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ बतलाई गई हैं; ग्रीक शब्द और ग्रीक लोगोंका उल्लेख है; अठारह पुराण बतलाये गये हैं; व्याकरण, धर्मशास्त्र, ग्रन्थ, पुस्तक, लिखे हुए वेद और महाभारतकी लिखी हुई पोथीका वर्णन है; अतएव इन सब बातोंसे महाभारतका समय बहुत ही आधुनिक होना चाहिये। परन्तु सच बात तो यह है कि इन बातोंमेंसे किसीका भी काल निश्चित नहीं है। ये सब बातें ईसवी सन्के २०० वर्ष पहलेकी भी हो सकती हैं। ऐसी दशामें इन कारणोंका कुछ भी उपयोग नहीं किया जा सकता। हापकिन्सका यह भी कथन है कि "आदि पर्वके प्रथम भाग और हरिवंशको छोड़ बाकी महाभारत ईसवीसन् २०० के लगभग बना होगा। परन्तु ये भाग इसके भी अनन्तरके होंगे, क्योंकि 'दीनार' नामक रोमन सिक्केका उल्लेख हरिवंशमें है और हरिवंशका उल्लेख प्रथम भागमें है"। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि रोमन दीनार सिक्का हिन्दुस्थानमें कब आया? यदि मान लिया जाय कि वह हिन्दुस्थानमें सन् १००-२०० ईसवी के लगभग आया, तो भी यह मान लेनेसे काम चल सकता है कि हरिवंशमें जिस स्थानमें उक्त उल्लेख है, उतना ही भाग पीछेका होगा। कारण यह कि समस्त महाभारतमें—शान्तिपर्व और अनुशासन पर्वमें भी—दीनारोंका कहीं उल्लेख नहीं है। प्रत्येक स्थानमें सुवर्ण-निष्कोंका ही उल्लेख किया गया है। अर्थात्, समस्त महाभारत और ये भाग २०० के पहलेके हैं। पीछेसे हरिवंशमें एकाध श्लोकका आ जाना सम्भव है। हम पहले कह आये हैं कि महाभारतका हरिवंश नामक भाग केवल संख्याके लिये और श्रीकृष्ण-कथाकी पूर्तिके लिये पीछेसे जोड़ दिया

गया है; परन्तु हरिवंश ग्रन्थ सौतिका नहीं है, क्योंकि सौतिने उसकी जो संख्या बतलाई है वह सिर्फ अंदाजसे और स्थूल मानकी है। हरिवंशमें बारह हज़ार श्लोकोंकी संख्या अन्दाजसे और मोटे हिसाबसे बतलाई गई है। जैसे उद्योग पर्वकी ६६६८ श्लोक-संख्या सूक्ष्म हिसाबसे बतलाई गई है वैसे और दूसरे पर्वोंके श्लोकोंकी संख्याके समान निश्चित तथा ठीक ठीक श्लोक-संख्या हरिवंशकी नहीं बतलाई गई है। इससे प्रकट है कि हरिवंशके सम्बन्धमें सौतिने कोई जिम्मेदारी नहीं ली थी। इस खिलपर्वमें १५४८५ श्लोक हैं; अतएव यह मानना होगा कि सौतिके अनन्तर भी इस पर्वमें श्लोकोंकी बहुत कुछ भरती हुई है। सारांश, हरिवंशमें दीनारोंका जो उल्लेख पाया जाता है उसके आधार पर महाभारतके कालका निर्णय करना उचित न होगा।

हाप्किन्सने और भी अनेक कारण बतलाये हैं। देखना चाहिये कि उनसे कौनसी बात निश्चित होती है। (१) उसका कथन है कि—"अनुशासन पर्वमें भूदानकी प्रशंसाके श्लोकोंमें ताम्रपटका कहीं उल्लेख नहीं है। अग्रहार, परिग्रह आदिका उल्लेख तो है परन्तु ताम्रपटका नामतक नहीं है। मनुमें भी यह उल्लेख नहीं है; परन्तु नारद, विष्णु और याज्ञवल्क्यमें है। इससे महाभारतका काल ताम्रशासनके पहलेका जान पड़ता है।" परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि उक्त विवेचनसे इस बातका ठीक ठीक निश्चय नहीं होता कि महाभारतका काल ताम्रशासनके कितने समय पहलेका माना जाय। (२) हाप्किन्सका कथन है कि—"आश्वलायन सूत्रमें सुमन्तु-जैमिनी-वैशंपायन-पैल-सूत्र-भाष्य-महाभारत-धर्माचार्याः इस प्रकार उल्लेख है। परन्तु अन्य सूत्रोंमें भारत और महाभारतके बदले इतिहास और पुराण शब्दोंका उपयोग किया गया है। सांख्यायन सूत्रमें कुछ भी उल्लेख नहीं है। जब कि महाभारतका उल्लेख प्राचीन सूत्रोंमें न होकर सिर्फ़ आधुनिक सूत्रोंमें ही है, तब यह प्रकट होता है कि सूत्र-कालमें महाभारत नहीं था।" परन्तु सच बात तो यह है कि कौनसे सूत्र किस समय बने, इस बातका ठीक ठीक निर्णय ही अबतक नहीं हुआ है। ऐसी अवस्थामें महाभारतके कालके सम्बन्धमें कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता। हाँ, यह अनुमान अवश्य निकलता है कि कुछ सूत्र प्राचीन समयके हैं और कुछ उसके बादके। (३) हाप्किन्सका कथन है कि—"पतञ्जलिके महाभाष्यमें—'असि द्वितीयोऽनुससार पांडवम्' यह वाक्य है और अन्य स्थानोंमें भी महाभारतका दूरका उल्लेख है। इससे महाभारत पतञ्जलिके पहलेका सिद्ध होता है और उसका समय ईसवी सन्‌की दूसरी सदीतक पहुँच जाता है।" परन्तु यह कैसे और किसने निर्णय किया कि महाभाष्यका काल दूसरी सदीका है? हम पहले कह आये हैं कि महाभारत पतञ्जलिके पहलेका है और पतञ्जलिका काल ईसवी सन्‌के पहले १५०-१०० के लगभग है। ऐसी दशामें उक्त प्रमाण हाप्किन्सके विरुद्ध और हमारे मतके अनुकूल ही देख पड़ता है। (४) हाप्किन्सके कथनुनासार—"जिस समय महाभारत लिखा गया, उस समय बौद्धोंका प्रभुत्व नष्ट हो गया होगा, क्योंकि एडूक अथवा बौद्धोंके देवस्थानोंका निन्दापूर्वक उल्लेख किया गया है। यह वर्णन वनपर्वके उस अध्यायमें है जिसमें यह बतलाया गया है कि कलियुगमें कौन

कौनसी बातें होंगी।" परन्तु स्मरण रहे कि-'पृथ्वी पर एडूक ही एडूक हो जायँगे और देवताओंके मंदिरोंका नाश हो जायगा' इस वर्णनसे यह सिद्ध नहीं होता कि बौद्ध-धर्मके ह्रासके समय महाभारतकी रचना हुई है। इसके बदले यही कहना पड़ता है कि जिस समय बौद्ध-धर्मका बोल-बाला था, उस समयका उक्त वर्णन होना चाहिये। बौद्ध-धर्मके ह्रासके समय तो मंदिरोंकी वृद्धि होकर एडूकोंका नाश हो जाना चाहिये। (५) हापकिन्स कहता है—"इससे भी विशेष महत्वकी बात यह है कि कलियुगके उक्त वर्णनमें यह बतलाया गया है कि शक, यवन, वाह्लीक आदि म्लेच्छ राजा हिन्दुस्थानमें राज्य करेंगे। प्रकट है कि यह बात तभी कही जा सकती है जब कि इन लोगोंके राज्य हिन्दुस्थानमें स्थापित हो चुके हों। सीथियन (शक), ग्रीक (यवन), और बैक्ट्रियन (वाह्लीक) लोगोंका राज्य हिन्दुस्थानमें ईसवी सन्के पहले २०० के अनन्तर स्थापित हुआ और वह कई वर्षोंतक रहा। अर्थात्, इससे यह स्वाभाविक अनुमान हो सकता है कि ईसवी सन्के पहले २०० वर्षके बहुत समयके बाद महाभारत तैयार हुआ। परन्तु यह अनुमान नहीं किया जा सकता। कमसे कम इस बातकी आवश्यकता नहीं कि ऐसा अनुमान किया ही जाना चाहिये। कलियुगके वर्णनमें कुछ वही बातें शामिल नहीं हैं जो प्रत्यक्ष हुई हों, किन्तु जिन भयानक बातोंकी कल्पना की जा सकती थी उनका भी उल्लेख भविष्यरूपसे किया जा सकता है। इस दृष्टिसे शक-यवनोंके राज्यके पहले भी महाभारतका काल हो सकता है। इसका विचार करनेके लिये प्राचीन इतिहासकी ओर ध्यान देना चाहिये। इस बातका कहीं उल्लेख नहीं है कि पहले कभी हिन्दुस्थान पर म्लेच्छ लोगोंकी चढ़ाई हुई थी। सेमीरामीसकी चढ़ाई काल्पनिक है। प्रथम ऐतिहासिक चढ़ाई पर्शियन लोगोंकी है, पर वे सिन्धु नदीके इस पार नहीं आये। दूसरी चढ़ाई सिकन्दरकी है जिसने पंजाबमें अनर्थ करके राज्य स्थापित किया। यह समय ईसवी सन्के पहले ३२०-३०० वर्षका है। इसके बाद बैक्ट्रियाके ग्रीक लोगोंने ईसवी सन्के पहले २०० के लगभग पंजाबमें राज्य स्थापित किया। हमारा कथन यह है कि इस समयके पहले, पचीस-पचास वर्षोंके अन्दर, महाभारतका निर्माण हुआ है। उस समय लोगोंको सिकन्दरकी चढ़ाईका स्मरण अवश्य होगा। और इसीके आधार पर लोगोंने यह भविष्य-कथन किया होगा कि कलियुगमें म्लेच्छोंका राज्य होगा। यह बात निश्चित है कि म्लेच्छ लोगोंमें शक, वाह्लीक आदि शामिल किये जाते हैं। हिन्दुस्थानके बाहर रहनेवाले म्लेच्छ लोगोंका हाल इस देशके निवासियोंको बहुत प्राचीन समयसे मालूम था। यह नहीं कहा जा सकता कि शक लोगोंका हाल यहाँ उनके राज्यकी स्थापना होने पर ही मालूम हुआ। सारांश, "शक, यवन, वाह्लीक आदि म्लेच्छ राजा पृथ्वी पर राज्य करेंगे" इस कल्पनाकी सृष्टि सिकन्दरकी चढ़ाईसे हो सकती है। हिन्दुस्थानमें ग्रीक लोगोंका दूसरा राज्य अपालोडोटसने ईसवी सन्के पहले १६० में स्थापित किया था। उस समयके पहलेका भी यह भविष्य-कथन हो सकता है। कुछ लोगोंका कथन है कि महाभारतमें वर्णित भगदत्तही यह अपालोडोटस है; परन्तु यह भूल है। यह भगदत्त प्राग्ज्योतिषका राजा था। (६) हापकिन्सका

कथन है कि—"महाभारतके एकही स्थानमें रोमकका नाम पाया जाता है। इससे कह सकते हैं कि रोमक अथवा रोमन लोगोंका नाम महाभारतकारको सिर्फ सुनकर मालूम हुआ था। जैसे ग्रीक अथवा यवन लोगोंका हाल अच्छी तरहसे मालूम था, उसी प्रकार रोमन लोगोंका हाल विशेष रीतिसे मालूम न हो, तो भी उन्होंने रोमन लोगोंका नाम सुना था। इस बात पर विचार करनेसे महाभारत-का काल बहुतही आधुनिक सिद्ध होता है।" परन्तु यह भी सम्भव है कि सिक-न्दरके साथ आये हुए ग्रीक लोगोंसे रोमन लोगोंका नाम सुना गया हो, क्योंकि उस समय भी रोमन लोगोंका राज्य और दब-दबा बहुत कुछ था। अपालोडोटसके समय वह और भी बढ़ा चढ़ा था सही, परन्तु सिर्फ नाम सुनकर जानकारी होनेके लिये ग्रीक लोगोंकी पहली चढ़ाई काफ़ी है। इसके सिवा एक बात और है। हम नहीं समझते कि 'रोमक' शब्दसे रोमन लोगोंका ही बोध होता है। सभापर्वके ५१ वें अध्यायमें कहा है-"द्यच, त्र्यक्ष, ललाटाक्ष, औष्णीक, अन्तर्वास, रोमक, पुरुषादक, एकपाद इत्यादि स्थानोंसे आये हुए राजा लोग द्वार पर रुके रहनेके कारण बाहरसे दबे हुए मुझे देख पड़े।" इस वाक्यमें रोमक शब्दके आगे पीछे जो नाम दिये गये हैं, उनसे तो हमें यही मालूम होता है कि 'रोमक' शब्दका अर्थ 'बालवाले' करना चाहिये। इस शब्दका सम्बन्ध रोमन लोगोंके साथ कुछ भी नहीं है। (७) हाप्-किन्सका कथन है कि "महाभारतमें हिन्दुस्थानके साम्राज्यकी जो कल्पना है, वह वैदिक-कालीन न होकर आधुनिक है, अर्थात् बुद्ध-सम्राट् अशोकके साम्राज्यकी कल्पनासे इसकी सृष्टि हुई होगी और इस प्रकार हिन्दुस्थानका साम्राज्य पाण्डवोंके मत्थे लाद दिया गया होगा। मनुस्मृतिमें भी साम्राज्यकी कल्पना नहीं है। उसमें वर्णित राजा लोग बहुत ही छोटे छोटे राज्योंके अधिपति हैं। इससे सिद्ध होता है कि अशोकके साम्राज्यके अनन्तर महाभारतकी रचना हुई होगी।" हम नहीं समझते कि वैदिक साहित्यमें साम्राज्यकी कल्पना नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक कालसे लेकर बौद्ध काल-तक छोटे छोटे राज्य थे; परन्तु हमारी समझमें उस समय ऐसा भी राजा हुआ करता था जो सबसे अधिक बलवान् रहता था और जो सब लोगोंसे कर लिया करता था। इस विषयका विशेष विवरण आगे चलकर राजकीय परिस्थितिके प्रक-रणमें किया जायगा। यद्यपि हाप्किन्सका उक्त कथन क्षण भरके लिये मान लिया जाय, तथापि ऐतिहासिक दृष्टिसे यही मानना पड़ेगा कि पर्शियन बादशाहोंके साम्राज्यके नमूने पर अथवा सिकन्दरके साम्राज्यके नमूने पर उत्तर हिन्दुस्थानके प्रायः बहुतेरे भागोंमें चन्द्रगुप्तका साम्राज्य स्थापित हो गया था। इतना ही नहीं, किन्तु यह भी कहना चाहिये कि चन्द्र-गुप्तके पहले ही नन्दोंने हिन्दुस्थानमें मगध-का साम्राज्य स्थापित किया था। यह कथन गलत है कि अशोकके समय साम्राज्यकी कल्पना हिन्दुस्थानके निवा-सियोंमें जाग्रत हुई और यह कल्पना अशोकके पहले यहाँ न थी। सारांश, इस कथनकी सत्यतामें कोई बाधा नहीं हो सकती कि अशोकके पहले अथवा अशोक-के समयके लगभग महाभारतका निर्माण हुआ है। ऊपर दिये हुए प्रमाणोंसे हाप्-किन्सके और हमारे मतमें जो अन्तर होता है वह यद्यपि बहुत बड़ा नहीं है तथापि महत्त्वका है। हाप्किन्स द्वारा बतलाये हुए उक्त प्रमाणोंसे यह देख पड़ता

है कि ईसवी सन्के पहले १५० के अनन्तर महाभारत तैयार हुआ; परन्तु हमारे मतके अनुसार महाभारत ईसवी सन्के पहले २५० के लगभग तैयार हुआ; और हमारे इस सिद्धान्तमें उक्त प्रमाणोंसे कुछ भी बाधा नहीं होती।

परन्तु हाप्किन्सने अपने मतका जो निचोड़ दिया है वह सचमुच चमत्कारिक और असम्भवनीय है। उसने आरम्भमें ही कहा है कि भारतकी मूल कथाका समय ईसवी सनके पहले ७०० से लेकर १७०० तक हो सकता है। परन्तु महाभारतकी वृद्धिका जो समय उसने बतलाया है, वह इस प्रकार है—कुरु-भारतोंकी भिन्न भिन्न कथाओंके एकत्र होनेसे जो भारत बना, उसका समय ईसवी सन्के पहले ४०० वर्ष है। पाण्डवोंकी कथा, पुराणोंकी कथा और श्रीकृष्णके देवत्वकी कथाके एकत्र होनेसे जो महाभारत बना, उसका समय ईसवी सनके पहले ४००–२०० वर्ष है। इससे भी आगे चलकर जो वृद्धि हुई है, वह श्रीकृष्णके ईश्वरत्व, नीति और धर्मकी शिक्षा देनेवाले बड़े बड़े भागोंको, पुराणोंमें वर्णित नई और पुरानी कथाओंको, तथा पराक्रमोंकी अतिशयोक्तिके वर्णनोंको शामिल कर देनेसे हुई है; और इस वृद्धिका समय ईसवी सन्के पहले २०० से सन् २०० ईसवीतक है। अन्तिम वृद्धि आदि पर्वके प्रथम भागको और हरिवंश पर्वको जोड़नेसे तथा अनुशासन पर्वको शान्तिपर्वसे अलग करनेसे हुई है; और इसका समय सन् २०० ईसवीसे ४०० ई० तक है।

यदि इस काल्पनिक वृद्धिकी भिन्न भिन्न सीढ़ियोंको हम छोड़ दें और केवल भारत तथा महाभारतका ही विचार करें, तो हाप्किन्सका यह मत देख पड़ता है कि भारतका समय ईसवी सन्के पहले ४०० और महाभारतका समय सन् २००–४०० ईसवी है। इस मतके लिये मुख्य आधार पूर्वोक्त गुप्त-शिलालेखका लिया गया है। इसमें सन् ४४५ ईसवीके लेखमें एक लाख श्लोकोंके भारत-ग्रन्थका वर्णन है, इसलिये हाप्किन्स सहित बहुतेरे पश्चिमी पण्डित कहते हैं कि सौति-कृत एक लाख श्लोकोंका भारत सन् ४०० ईसवीतक बना है। परन्तु हमें इस बातपर आश्चर्य होता है कि हाप्किन्सके ग्रन्थमें, जो अनेक आविष्कारों और नई नई बातोंसे परिपूर्ण है, डायोन क्रायसोस्टोम् नामक ग्रीक वक्ताके उस लेखका कुछ भी पता नहीं है, जिसकी रचना सन् ५० ईसवीसे सन् ६० ईसवी तक हुई है और जिसमें हिन्दुस्थानके एक लाख श्लोकवाले इलियडका उल्लेख किया गया है। यह घटना कुछ नई नहीं है। कई वर्ष पहले वेबरने इसका पता लगाया था और तभीसे लोगोंका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। डायोन क्रायसोस्टोम्को एक लाख श्लोकके ग्रन्थकी बात मलाबार प्रान्तमें मालूम हुई, अर्थात् उस समय महाभारत सारे हिन्दुस्थानमें प्रचलित हो गया था। इस घटनासे सिद्ध है कि महाभारतके समयको ईसवी सन्के इस ओर घसीट लाना असम्भव है। हमें यह जाननेकी बड़ी अभिलाषा थी कि डायोन क्रायसोस्टोम्के प्रमाण पर पश्चिमी पण्डित कैसा विचार करते हैं; परन्तु हमारी यह अभिलाषा कहीं तृप्त नहीं हुई। अधिक क्या कहें, हाप्किन्सके बड़े ग्रन्थमें तो इस प्रमाणका नाम तक नहीं है !!!

तीसरा प्रकरण ।

क्या भारतीय युद्ध काल्पनिक है ?

महाभारतके कालका निर्णय हो जाने पर, अब हमारे मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जिस मूल भारत-ग्रन्थके आधार पर महाभारतकी रचना हुई है, वह मूल भारत-ग्रन्थ कब बना होगा। इसमें सन्देह नहीं कि भारती-युद्धके अनन्तर इस ग्रन्थका निर्माण हुआ है। तब स्वभावतः यह प्रश्न होता है, कि भारती-युद्ध कब हुआ ? इस प्रश्नका विचार करनेके पहले हमें एक और बातका विचार करना चाहिये। कुछ लोगोंका कथन है कि—"भारतीय युद्ध हुआ ही नहीं। यह तो केवल एक काल्पनिक कथा है। इसमें उपन्यासके तौर पर, सद्गुणों और दुर्गुणोंका उत्कर्ष दिखलानेवाले, अनेक काल्पनिक पात्रोंका वर्णन है।" इस भ्रमोत्पादक कल्पनाको दूर कर देनेकी बहुत आवश्यकता है। यह कल्पना कुछ ऐसे-वैसोंकी नहीं, किन्तु अनेक विद्वानों और पण्डितोंकी है। गुजराती पण्डित गोवर्धनराम त्रिपाठीका माननीय ग्रन्थ 'सरस्वतीचन्द्र' हालमें ही प्रकाशित हुआ है। उसमें भारतीय-युद्धके सम्बन्धमें रूपककी कल्पना बहुत ही अच्छी तरहसे प्रकट की गई है। परन्तु स्मरण रहे कि वह कल्पना केवल कल्पना ही है। जर्मन पण्डित वेबर और रमेशचन्द्र दत्तने भी ऐतिहासिक तत्त्वोंसे इस मतको स्वीकार किया है और इसको प्रमाण भी माना है। अतएव विचार करना चाहिये कि इन लोगोंके कथनमें सत्यका अंश कहाँ-तक है। वेबरका कथन है कि—"वैदिक साहित्यमें भारती-युद्ध अथवा भारती-योद्धाओंका कुछ भी उल्लेख नहीं है। ब्राह्मणोंमें 'अर्जुन' इन्द्रका नाम है। अर्जुनका नाती परीक्षित था और उसके पुत्र जनमेजयका उल्लेख 'पारीक्षित-जनमेजय' कहकर शतपथ ब्राह्मणमें किया गया है; परन्तु यह कहीं नहीं बतलाया गया है कि वह अर्जुनका पोता था। भारतीय-युद्ध ब्राह्मण-कालमें अथवा ब्राह्मणोंके पहले होना चाहिये। यदि ऐसा ही हुआ हो, तो यह कितने आश्चर्यकी बात है कि जिस भारतीय युद्धमें हजारों और लाखों वीर मारे गये और अर्जुन तथा श्रीकृष्णने बहुत पराक्रम दिखाया, उस युद्धका कहीं उल्लेख ही न हो ! सचमुच यह आश्चर्यकी बात है कि अर्जुनके पोतेका तो उल्लेख है, पर स्वयं अर्जुनका उल्लेख नहीं है ! इससे यही प्रकट होता है कि भारतीय युद्ध काल्पनिक है और भारतमें वर्णित व्यक्ति कवि-कल्पना द्वारा निर्मित सद्गुणोंकी मूर्तियां हैं।" अब यहाँ इसी विचार-मालापर विचार किया जाना चाहिये।

किसी व्यक्ति या घटनाके होने अथवा न होनेके सम्बन्धमें साधारण रीतिसे यह प्रमाण काफ़ी समझा जाता है कि उसका उल्लेख ऐसे ग्रन्थमें हो जिसे लोग ऐतिहासिक मानते हों। रोम शहरका स्थापन-कर्त्ता रोम्युलस नामका कोई पुरुष हो गया है, इस बातको सिद्ध करनेके लिये रोमका कोई प्राचीन इतिहास काफ़ी है। फिर चाहे उस इतिहासमें उस पुरुषकी कथा दन्तकथाके तौर पर ही क्यों न दी गई हो। इसी प्रकार होमरके इलियडसे यह बात सिद्ध मानी जाती है कि एकिलीज़ नामक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था। इसी न्यायके अनुसार जब भारतमें हो

स्पष्ट कहा है कि यह इतिहास-ग्रन्थ है, तब ऐतिहासिक साक्षी और प्रमाणके आधार पर इस बातको माननेमें कोई हर्ज नहीं कि पाण्डव हो गये हैं और भारतीय युद्ध भी हो गया है। हाँ, यदि किसी उचित कारणसे यह प्रमाण छोड़ देने योग्य सिद्ध हो सकता हो, तो उसे अवश्य छोड़ देना चाहिये। परन्तु इस बातको सिद्ध करनेके लिये वेबरने उल्लेखाभावका जो कारण बतलाया है, वह काफ़ी नहीं है।

उल्लेखाभावके प्रमाणको पेश करनेकी इच्छा स्वाभाविक होती है, क्योंकि यह प्रमाण सचमुच बड़ा मोहक है। जब कि वैदिक साहित्यमें भारती युद्धका उल्लेख ही नहीं है, तब इस बातको मान लेनेकी ओर मनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि भारती युद्ध हुआ ही नहीं। परन्तु ऐसी दशामें हमेशा इस बातका विचार किया जाना चाहिये कि उल्लेखकी आवश्यकता थी या नहीं। उदाहरणार्थ, किसी ग्रन्थमें नारायणराव पेशवाका उल्लेख है, पर उस ग्रन्थमें पानीपतकी लड़ाईका उल्लेख नहीं है जो नारायणराव पेशवाके पहले हो गई थी: तो क्या इस उल्लेखाभावसे कोई यह अनुमान कर सकेगा कि पानीपतकी लड़ाई हुई ही नहीं, अथवा सदाशिवराव भाऊ या जनकोजी सेंधिया नामके कोई वीर पुरुष हुए ही नहीं? पानीपतकी लड़ाईके बाद हज़ारों पुस्तकें लिखी गई हैं। परन्तु इस बातकी कोई आवश्यकता नहीं कि उन सब ग्रन्थोंमें पानीपतकी लड़ाईका उल्लेख किया ही जाय। हाँ, यदि उक्त ग्रन्थोंमें कोई ग्रन्थ मराठोंके इतिहासके सम्बन्धमें हो, तो यह प्रकट है कि उसमें पानीपतकी लड़ाईका नाम अवश्य आना चाहिये। इस विचार-दृष्टिसे देखने पर यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिक साहित्यके समय जो अनेक घटनाएँ हुईं, उन सबका उल्लेख उस साहित्यमें किया ही जाना चाहिये था; क्योंकि ब्राह्मणादि ग्रन्थ इतिहासके ग्रन्थ नहीं हैं, बल्कि वे धार्मिक ग्रन्थ हैं। उनमें देवताओंकी स्तुति और यज्ञादिका वर्णन है। उनमें प्रसङ्गानुसार किसी राजा अथवा व्यक्तिका नाम देख पड़ता है सही; पर इस बातकी कोई आवश्यकता नहीं कि यह उल्लेख किया ही जाय। ऐसी दशामें यदि उन ग्रन्थोंमें भारती-युद्ध अथवा भारती-योद्धाओंका नाम नहीं पाया जाता, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। सारांश, यदि भारती-युद्ध अथवा योद्धाओंका नाम शतपथ ब्राह्मण अथवा अन्य वैदिक साहित्यमें नहीं है, तो इस उल्लेखाभावके आधार पर यह अनुमान करना बड़ी भारी भूल है कि उक्त घटनाएँ हुईं ही नहीं।

एक स्थानमें रमेशचन्द्र दत्तने इतना कबूल किया है कि भारती-युद्धका होना तो सम्भव है: परन्तु पाण्डवोंका होना असम्भव है; क्योंकि पाण्डवोंकी कल्पना केवल सद्गुणोंके उत्कर्षकी कल्पना मात्र है। परन्तु यह कथन भी गलत है। यह नहीं कहा जा सकता कि महाभारतमें पाण्डवोंका जो इतिहास है वह केवल सद्गुणोंके ही वर्णनसे भरा हुआ है। उदाहरणार्थ, पाँच भाइयोंने मिलकर एक स्त्रीके साथ विवाह किया, यह वर्णन कुछ सद्गुण-वर्णन नहीं कहा जा सकता। वैदिक साहित्यके समय आर्योंमें ऐसा रिवाज न था। वैदिक ऋषियोंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार यज्ञ-स्तम्भके चारों ओर अनेक रशनाएँ बाँधी जा सकती हैं, उसी प्रकार एक पुरुषके लिये अनेक स्त्रियाँ हो सकती हैं; परन्तु जिस प्रकार एक ही रशना अनेक यूपोंसे नहीं बाँधी जा सकती,

उसी प्रकार एक स्त्रीके लिये अनेक पति नहीं हो सकते। कहनेका तात्पर्य यह है कि उस समय एक स्त्रीके अनेक पतियों-का रिवाज नहीं था। तो फिर इन काल्पनिक पाण्डवोंने ऐसा विवाह कैसे किया ? सच बात तो यह है कि पाण्डव किसी प्रकार काल्पनिक नहीं हैं। भीमने रणभूमिमें दुःशासनका लहू पिया था: यह शास्त्र-विरुद्ध भयानक कार्य उसने क्यों किया ? सारांश, पाण्डव कुछ सद्गुणों-के अवतार नहीं बनाये गये हैं, बल्कि वे साधारण मनुष्योंके समान ही चित्रित हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध है कि भारती-युद्ध और भारती-योद्धा काल्पनिक नहीं हैं।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि यदि ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भारती-युद्धके नाम अथवा उल्लेखका न पाया जाना प्रमाण न हो तो, कमसे कम आश्चर्यकारक अवश्य है। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस बृहत् स्वरूपमें भारती-कथा इस समय हमें देख पड़ती है, वह स्वरूप उस समय नहीं था। सौतिने महाभारतको जो वर्त-मान बृहत् स्वरूप दे दिया है, वह उस समय नहीं था। उस समय युधिष्ठिरका अश्वमेध बहुत प्रसिद्ध न था। युधिष्ठिरने एक ही अश्वमेध किया था, पर उसके पहले कितने ही राजाओंने अनेक अश्व-मेध किये थे। उस समय श्रीकृष्णकी भक्तिका भी बहुत कम प्रचार हुआ था। जो भागवत-पन्थ श्रीकृष्णकी भक्तिके आधार पर स्थापित है, उसका उस समय उदय भी न हुआ था: यदि उदय हुआ भी हो तो उसका प्रचार बहुत कम था। परीक्षितके पुत्र जनमेजय और उनके तीन भाइयोंने भिन्न भिन्न प्रकारके चार अश्व-मेध किये थे, इसी लिये उनका नाम उस अश्वमेध-वर्णनके प्रसङ्गमें शतपथ ब्राह्मणमें पाया जाता है। जब हम इन सब बातोंका विचार करते हैं और इस बात पर भी ध्यान देते हैं कि भारतका स्वरूप अत्यन्त अल्प था तथा श्रीकृष्ण-भक्तिका प्रायः उदय ही हुआ था, तब हमें आश्चर्य करने-की कोई आवश्यकता नहीं कि ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भारती-युद्ध अथवा युधिष्ठिर आदिका कुछ भी उल्लेख नहीं है। यहाँ यह बतला देना चाहिये कि ऐतरेय ब्राह्मण-में वैचित्रवीर्य धृतराष्ट्रका उल्लेख है। सारांश, भारती-युद्धका उल्लेख ब्राह्मणोंमें नहीं है, इससे कुछ भारती-युद्ध काल्प-निक सिद्ध नहीं होता और न भारती योद्धागण ही काल्पनिक हो सकते हैं। रमेशचन्द्रदत्त युद्धका होना तो मानते हैं, पर वे कहते हैं कि पाण्डव काल्पनिक सद्गुणोंकी मूर्ति हैं। स्मरण रहे कि दोनोंके सम्बन्धमें उल्लेखाभावके प्रमाणका समान उपयोग किया गया है। अतएव यह समझमें नहीं आता कि एक बात सच क्यों मानी जाय और दूसरी झूठ क्यों कही जाय।

कुछ लोग युद्धको सत्य मानकर यह कहते हैं कि भारती युद्धके जिस तरहसे होनेका वर्णन महाभारतमें किया गया है उस तरहसे वह युद्ध नहीं हुआ, किन्तु भिन्न प्रकारसे हुआ है। उस मतका भी उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक है। वेबर-का मत है कि उस युद्धमें जनमेजय प्रधान था और उसका नाश उसी युद्धमें हुआ। उसकी यह कल्पना बृहदारण्यमें पाये जानेवाले इस उल्लेखके आधार पर है कि उसमें किसी ऋषिने याज्ञवल्क्यसे पूछा है-"क पारिक्षिताः अभवन्। क पारि-क्षिताः अभवन्" अर्थात् पारिक्षितोंका क्या हुआ ? इस प्रश्नके आधारपर वेबरने अपने काल्पनिक विचार इस तरह प्रकट किये हैं—"इससे कहना पड़ता है कि

उस समय पारिक्षितोंका नाश हो गया होगा। परन्तु उनके ऐश्वर्य और जीवन-चरित्रकी बातें लोगोंके स्मरणमें ताजी अवश्य रही होंगी। इसमें सन्देह नहीं कि वंश सहित उनका नाश किसी विलक्षण रीतिसे हुआ है।" परन्तु उक्त प्रश्नके आधार पर यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि पारिक्षितोंका अन्त किसी भयानक रीतिसे हुआ है। बृहदारण्यमें जब यह प्रश्न किया गया कि पारिक्षित कहाँ हैं, तब यह उत्तर भी दिया गया है कि **"ते यत्राश्वमेधायाजिनो यान्ति।"** इस उत्तरसे उक्त प्रश्नका सच्चा तात्पर्य और रहस्य समझमें आ जाता है। पारिक्षित अर्थात् जनमेजय और उसके तीन भाईयोंने हालमें ही जो अश्वमेध किये थे वे लोगोंकी आँखोंके सामने थे। अतएव उक्त प्रश्नमें इस रहस्यको जाननेकी इच्छा प्रकट हुई है कि अश्वमेध करनेवालेकी कैसी गति होती है—क्या वह ब्रह्मज्ञानीकी ही गति पा सकता है? और इस रहस्यकी ओर ध्यान देकर ही याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया है कि अश्वमेध करनेवाला वही गति पाता है जो अध्यात्म विद्यासे प्राप्त होती है। यहाँ न तो पारिक्षितोंकी ब्रह्महत्याका ही उल्लेख है और न वह प्रश्न-कर्ताके ही मनमें है। शतपथ ब्राह्मणके किसी दूसरे वचनमें जनमेजय पारिक्षित द्वारा की हुई जिस ब्रह्महत्याका उल्लेख है, उसके सम्बन्धमें यह नहीं बतलाया गया कि वह ब्रह्महत्या कैसे हुई। ब्रह्महत्याका सम्बन्ध भारती-युद्धके साथ कुछ भी नहीं है, क्योंकि उस युद्धमें ब्रह्महत्या हुई ही नहीं। द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे, पर वे क्षत्रियका व्यवसाय स्वीकार कर रणभूमिमें खड़े हुए थे, इसलिये सिद्ध है कि ऐसे ब्राह्मणको युद्धमें मारना ब्रह्महत्या नहीं है। महाभारतमें भी यह कहीं नहीं कहा गया है कि द्रोणाचार्यको मारनेसे ब्रह्महत्या हुई। ऐसा न हो तो भी, जब हम देखते हैं कि ब्रह्महत्याका विस्तारपूर्वक वर्णन शतपथ ब्राह्मणमें नहीं है, तब उस ब्रह्महत्याका सम्बन्ध भारती-युद्धके साथ नहीं लगाया जा सकता। सारांश, वेबरका यह कथन बिलकुल गलत है कि भारती-युद्धमें जनमेजय प्रधान था और उस युद्धमें उसका नाश हुआ।

भारती-युद्धके सम्बन्धमें और भी लोगोंकी अनेक कल्पनाएँ हैं। एक जर्मन पण्डित कहता है कि मूल भारत-संहिता छोटी सी कथा थी; वह कथा बौद्ध-धर्मीय थी और उसका नायक कर्ण था; आगे जब ब्राह्मण धर्मकी प्रबलता हुई तब ब्राह्मण लोगोंने कृष्ण परमात्माके भक्त अर्जुन और उसके भाइयोंको प्रधानता दी; और इस प्रकार श्रीकृष्ण अथवा विष्णुकी महिमा बढ़ाई गई। टालबाइस ह्वीलरका कथन है कि पाण्डवोंके युद्धके समय श्रीकृष्ण नहीं थे; उनका नाम पीछेसे कथामें शामिल कर दिया गया है। अन्य कुछ लोग कहते हैं कि इस युद्धमें पाण्डवोंकी विजय न होकर दुर्योधनकी हुई। स्मरण रहे कि ये सब कल्पनाएँ युद्धके न होनेके विषयमें नहीं हैं, तथापि इनका खण्डन किया जाना चाहिये।

श्रीकृष्ण और पाण्डवोंका पारस्परिक सम्बन्ध किसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता। यह नहीं माना जा सकता कि उनका सम्बन्ध मूल भारतमें न होकर महाभारतमें पीछेसे शामिल कर दिया गया है। इतना ही नहीं, किन्तु यह मत ऐतिहासिक दृष्टिसे भी गलत है। श्रीकृष्ण और पाण्डवोंका परस्पर सम्बन्ध मेगास्थिनीजके ग्रन्थसे भी स्पष्ट देख पड़ता है। मेगास्थिनीजने हिन्दुस्थानके प्रसिद्ध

देवताका वर्णन हिरॅक्लीज़के नामसे किया है। वही श्रीकृष्ण है। यह बात उसके इस वर्णनसे प्रकट हो जायगी—"हिरॅक्लीज़की पूजा शौरसेनी लोग करते हैं और इन लोगोंका मिथोरा नामका मुख्य शहर है।" अर्थात् 'हिरॅक्लीज़' और 'हरि' को एकत्र करके उसने श्रीकृष्णका उक्त वर्णन किया है। उसने यह भी कहा है कि हिरॅक्लीज़के पाण्डिया नामकी एक कन्या थी; परन्तु यह वर्णन भ्रमसे किया गया है। कुछ भी हो, इससे यह प्रकट होता है कि श्रीकृष्ण और पाण्डवोंके परस्पर सम्बन्ध-की कथा मेगास्थिनीज़के समयमें भी प्रसिद्ध थी। इससे भी पहलेका प्रमाण पाणिनिके एक सूत्रमें पाया जाता है जो इस प्रकार है—"**वासुदेवार्जुनाभ्याम् कन्**।" इस सूत्रसे यह बात प्रकट होती है कि उस समय लोग वासुदेव और अर्जुनकी भक्ति किया करते थे। सारांश, श्रीकृष्ण और भारती-कथाका सम्बन्ध बहुत प्राचीन है, वह कुछ महाभारतकी रचनाके समय पीछेसे शामिल नहीं किया गया है।

श्रीकृष्ण आधुनिक व्यक्ति न होकर बहुत प्राचीन हैं। उनका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद्‌में इस प्रकार पाया जाता है—"**कृष्णाय देवकीपुत्राय** ।" जिस प्रकार जनमेजय पारिक्षितकी चर्चा बृह-दारण्यमें है, उसी प्रकार समकालीन छान्दोग्यमें श्रीकृष्णका भी उल्लेख है। अर्थात्, यह प्रकट है कि ये दोनों व्यक्ति ब्राह्मण-कालीन हैं। सारांश, भारती-युद्ध-के साथ श्रीकृष्णका सम्बन्ध काल-दृष्टिसे भी असम्भव नहीं है। नूतन पद्धतिसे विचार करनेवाले विवेचकोंकी यह मानने-की ओर साधारण प्रवृत्ति हुआ करती है, कि प्राचीन कथाएँ जैसी बतलाई गई हैं वैसी वे नहीं हैं। परन्तु यथार्थमें यह मानना ही सदैव उचित है कि जैसी कथा सुनी गई वैसी ही वह हुई होगी। यदि आवश्यकता हो तो उस कथाका वह चमत्कारिक भाग छोड़ दिया जाय, जो आधुनिक दृष्टिसे बुद्धिवादकी कसौटी पर सत्य प्रतीत न हो; परन्तु उस कथाके स्वरूपको ही उलटा-पलटा कर डालना किसी प्रकार युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे स्वीकार करना होगा कि भारती-कथाके जो रूपान्तर ऊपर बतलाये गये हैं वे निस्सन्देह मानने योग्य नहीं हैं।

यूरोपियन पण्डितोंकी राय हमेशा ऐसी ही देख पड़ती है। इस बातका एक और उदाहरण लीजिये। उनकी राय है कि महाभारतमें पहले पाण्डवोंकी कथा ही नहीं थी। आरम्भमें कुरु और भारत-की कथा थी। परन्तु बौद्ध धर्मके गिर जाने पर भारतोंके स्थानपर पाण्डवोंको रखकर ब्राह्मणोंने अपने धर्मकी दृढ़ताके लिये उसमें श्रीकृष्णकी भक्ति शामिल कर दी और महाभारत बना दिया। उनका कथन है कि—"मूल भारत लोग पञ्जाबके ही निवासी थे; परन्तु जब भारतोंके स्थानमें पाण्डव रखे गये, तब इन्द्रप्रस्थ उनकी नई राजधानी बनवाई गई।" इस मतका समर्थन करनेके लिये वे कहते हैं कि पाण्डवोंका उल्लेख वैदिक साहित्यमें बिलकुल नहीं है। यह उल्लेख पहले-पहल बौद्ध जातकोंमें देख पड़ता है। बौद्ध जातकके समय पाण्डवोंकी कथा अवश्य प्रचलित होगी। इसके बाद ही मूल भारतमें परिवर्तन करके पाण्डवोंकी कथा शामिल की गई। इस बातका पता (उन पण्डितोंके मतानुसार) एक प्राचीन श्लोकसे चलता है जो भूलसे महाभारतमें रह गया है। वन पर्वके ४३ वें अध्यायमें द्यूतका फिरसे वर्णन करते समय युधि-

छिरसे यह श्लोक दुर्योधनके वचन या आधार पर कहा है:—

> ब्रवीमि सत्यं कुरुसंसदीह
> तवैव ता भारत पंचनद्यः।

अर्थात् दुर्योधनने युधिष्ठिरसे कहा कि तुम्हारे बनवास और अज्ञातवासको पूरा कर चुकने पर—"इस कौरव सभामें मैं सत्य कहता हूँ कि, हे भारत, यह पञ्च-नद-देश तुम्हारा ही होगा।" यहाँ यूरोपियन पण्डितोंका यह प्रश्न है—जब कि पाण्डवोंका राज्य इन्द्रप्रस्थमें था, जो पञ्जाबके बाहर यमुनाके तीर पर था, और जब कि उन्होंने यही राज्य द्यूतमें खो दिया था, तब उनके वनवास और अज्ञातवासकी प्रतिज्ञाको पूरा कर चुकनेपर उन्हें पञ्जाबका राज्य लौटा देनेकी यह बात कैसे कही गई? इन्द्रप्रस्थके राज्यके लौटा देनेकी बातको छोड़कर यहाँ पञ्चनद देशकी बात क्यों कही गई? यहाँ पञ्चनद देशका क्या सम्बन्ध है? इससे उन पण्डितोंका यह अनुमान है कि—"आरम्भमें पञ्चनद देशके राजा भारत-लोगों और कुरु देशके राजाओंमें द्यूत होकर लड़ाई हुई होगी और पाण्डव बादमें शामिल कर दिये गये होंगे" (हापूकिन्स पृष्ठ ३७४)। उनका यह भी प्रश्न है कि इस ग्रन्थको महाभारत नाम कैसे दिया गया? जान पड़ता है कि मूल युद्धमें भारत लोग ही थे, इसलिये इस ग्रन्थको भारत और महाभारत नाम दिये गये होंगे।

स्वीकार करना चाहिये कि यहाँ पञ्चनद देशका जो उल्लेख है वह सौतिके कूट श्लोकोंमेंसे एक उलझनकी बात है। परन्तु इस एक ही श्लोकके आधार पर समस्त भारतकी कथाको उलट पलट देना उचित नहीं होगा। और इस बातका स्पष्टीकरण भी हो सकता है कि दुर्योधनके कथनमें पञ्चनद देशका नाम कैसे आया। प्राचीन समयमें हिन्दुस्थानका कोई स्वतन्त्र नाम नहीं था। बाहरके लोगोंने उसे हालमें हिन्दुस्थान नाम दिया है। पुराणोंमें कहा है कि प्राचीन समयमें हिन्दुस्थानको भरतखण्ड कहा करते थे, परन्तु महाभारतमें वह नाम नहीं है। यह वर्णन पाया जाता है कि पाण्डवोंने सब देश जीत लिये थे। यद्यपि यह घटना पीछेकी मानी जाय, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि पाण्डवोंने पञ्जाब देश भी जीत लिया था। भारतीकथाकी प्राचीनताको मान लेने पर कह सकते हैं कि उस समय पञ्जाब देश ही हिन्दुस्थानका मुख्य भाग था। पाण्डव उस समय सार्वभौम राजा थे। ऐसी दशामें यदि उनकी प्रतिज्ञा सिद्ध न होती तो उनका सब साम्राज्य कौरवोंको मिल जाता, अर्थात् सारा हिन्दुस्थान कौरवोंकी अधीनतामें चला जाता। इसी दृष्टिसे यहाँ पञ्चनद देशका उल्लेख किया गया है: अर्थात् मुख्य भागके निर्देशसे यहाँ समस्त साम्राज्यका निर्देश किया गया है। इन्द्रप्रस्थ राजधानी भी उसीमें शामिल हो गई। वर्तमान समयमें भी दिल्ली-राजधानी पञ्जाबमें ही शामिल है। पञ्जाबमें भिन्न भिन्न राजा थे, पर वे सब पाण्डवोंके अङ्कित थे। तात्पर्य यह है कि पञ्चनद देशसे यहाँ भरतखण्डके साम्राज्यका बोध होता है। अथवा इस कूट श्लोकका अर्थ भिन्न रीतिसे भी किया जा सकता है। 'पञ्चनद्यः' शब्दसे पञ्जाबकी पाँच नदियाँ न समझकर हिन्दुस्थानकी मुख्य पाँच नदियाँ समझी जायँ। सिन्धु, सरस्वती, यमुना, गङ्गा और सरयू, इन पाँचों नदियोंको मिलाकर उस समयका हमारा भारत देश बना था। अस्तु; यदि यह मान लिया जाय कि पहले भरत और कुरुके ही बीच झगड़ा था, तो भी यह सम्भव नहीं कि

समस्त पञ्चनद देश एक ही राजाके अधीन हो। प्राचीन समयमें हिन्दुस्थानमें बड़े बड़े राज्य नहीं थे। कुरु लोगोंके हस्तिनापुरके राज्यके समान ही भरत लोगोंका एक छोटासा राज्य पञ्जाबमें होगा, अतएव इस कल्पनामें भी पञ्जाबके साम्राज्यका ही उल्लेख स्वीकृत करना पड़ता है। सारांश यह है कि पञ्चनद शब्दके आधारपर यूरोपियन पण्डितोंने जो शङ्काएँ की हैं और उस शब्दकी सहायतासे जो कल्पनाएँ की हैं, वे युक्ति और प्रमाणकी दृष्टिसे स्थिर नहीं रह सकतीं।

इससे भी भिन्न उत्तर यह है कि भारतको महाभारतका स्वरूप देते समय पाण्डवोंकी कल्पित अथवा प्रचलित कथाको पीछेसे शामिल कर देनेका कोई प्रयोजन नहीं देख पड़ता। जिस समय महाभारतकी रचना की गई उस समय, अर्थात् ईसवी सन्‌के पहले ३०० के अनन्तर (महाभारतकी यही काल-मर्यादा पश्चिमी और पूर्वी सब विद्वानोंको मान्य है), पाण्डवोंका कोई राज्य प्रसिद्ध नहीं था। उस समयके इतिहाससे किसी पाण्डव-राज्यका अस्तित्व या प्रधानता नहीं देख पड़ती। ऐसी दशामें, जिस महाभारत-ग्रन्थकी रचना सनातन हिन्दू धर्मकी रक्षाके लिये की गई है उसमें, किसी रीतिसे समाजके नेता न माने गये और अत्यन्त अप्रसिद्ध पाण्डवोंको शामिल कर देनेकी बुद्धि किसी राष्ट्रीय कविको नहीं होगी। इसके सिवा यह भी है कि यदि प्राचीन भारत और कुरु लोगोंकी कथा होती, तो जो कथा सर्वसाधारणमें आदरणीय होकर राष्ट्रीय हो चुकी थी, उसीको कायम रखनेमें कौनसी आपत्ति थी? हर एक मनुष्य स्वीकार करेगा कि उसी कथाको कायम रखा जाना इष्ट था। इस प्रकार पाण्डवोंकी कथाका पीछेसे शामिल किया जाना सम्भव नहीं है। इसके सिवा यह भी प्रकट है कि एक स्त्रीके साथ पाँच पुरुषोंके विवाहके पक्षमें जो अनेक कारण महाभारतमें बतलाये गये हैं, वे किसी तरहसे इस बातका समर्थन करनेके लिये दिये गये हैं और यह प्रयत्न पीछेसे किया गया है। अतएव यही कहना चाहिये कि पाण्डवोंकी कथा मूल भारतकी है और उनके चमत्कारिक विवाहका समर्थन पीछेसे किया गया है। इस प्रकार विचार करनेपर यह कल्पना ठीक नहीं जँचती कि पाण्डवोंकी कथा पीछेसे शामिल की गई है।

यह कथन भी एक प्रकारसे बे-सिर-पैरका जान पड़ता है कि मूल युद्ध भारत और कुरु लोगोंमें हुआ था। इसका कारण यह है कि किसी वैदिक साहित्य-ग्रन्थमें अथवा अन्य ग्रन्थोंमें यह नहीं देख पड़ता कि भारत और कुरु, ये दो नाम भिन्न भिन्न लोगोंके हैं। भरतके वंशजोंको भारत कहते हैं और इस दृष्टिसे भारत शब्दका उपयोग कौरवोंके लिये भी किया जाता है। यह शब्द भरतके सभी वंशजोंके लिये उपयुक्त है; यहाँतक कि ब्राह्मणकालमें भारत शब्दका उपयोग समस्त आर्य वीरोंके लिये किया हुआ देख पड़ता है। उस समय यह नहीं देख पड़ता कि भरतके वंशज किसी भिन्न नामसे अर्थात् भारतके नामसे प्रसिद्ध थे। 'महाभारत' अथवा 'भारत' नाम युद्धका क्यों रखा गया, इसका एक कारण यह बतलाया जा सकता है कि कौरव और पांडव दोनों भारत-वंशके थे; इसलिये दोनोंको लक्ष्य कर भारत नाम रखा गया है। यहाँ तक कि पांडवके प्रधान सहायक 'पांचाल' भी भारत-वंशके थे। कुरु-पांचालोंकी महत्ता ब्राह्मण-भागोंमें बार

बार पाई जाती है। कुछ लोगोंका अनुमान है कि कुरु-पांचालोंका युद्ध होकर अन्तमें दोनोंका एक राज्य हो गया। यह अनुमान भी ठीक हो सकता है। परन्तु किसी वैदिक साहित्य-ग्रन्थमें आर्य लोगोंके सम्बन्धमें कुरु-भारतकी जोड़ीका उल्लेख नहीं पाया जाता। महाभारतके किसी प्राचीन वा नये भागमें कुरु-भारतोंका उल्लेख नहीं है। अर्थात् मूल ग्रन्थमें कुरु-भारतोंके युद्धके होनेकी यह कल्पना निराधार है। दोनोंके युद्धका वर्णन करनेवाले ग्रन्थका नाम, दोनोंके नामकी दृष्टिसे, चरितार्थ होना चाहिये। (जैसे फ्रांको-जर्मन वार वगैरह नाम हैं।) भारत शब्दमें युद्ध करनेवाले दोनों पक्षोंका समावेश हो जाता है; अर्थात् कुरु-पांडव अथवा कुरु-पांचाल दोनोंका समावेश हो जाता है। अतएव 'भारत' वा 'महाभारत" नाम ही इस ग्रन्थके लिये उचित जान पड़ता है।

यह बात उक्त कल्पना करनेवाले भी नहीं बतला सकते कि पांडवोंकी जो कथा पीछेसे शामिल की गई वह क्यों और कैसे की गई। पांडवोंमेंसे युधिष्ठिरका नाम पाणिनिमें पाया जाता है। इससे मानना पड़ता है कि पाणिनिके समय पांडु भारत थे। पाणिनिका समय ईसवी सन्‌के पहले ८००के लगभग है। यह प्रकट है कि इस समयसे लेकर ईसवी सन्‌के पहले ३०० तक यह कथा नई उत्पन्न नहीं हुई। ऐसी दशामें उक्त कल्पना करनेवाले भी इस चक्करमें पड़े हुए देख पड़ते हैं, कि उस समयके बाद यह कल्पना कैसे शामिल कर दी गई होगी। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि यह कल्पना ही निर्मूल तथा निराधार है, तब उसके चक्करमें पड़े रहनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकार निश्चय हो गया कि पांडव काल्पनिक नहीं हैं, उनकी कथा पीछेसे शामिल नहीं की गई है और भारती युद्ध भी काल्पनिक नहीं है। अब इस प्रश्नपर विचार किया जाना चाहिये कि भारती-युद्ध कब हुआ।

चौथा प्रकरण ।

भारतीय युद्धका समय ।

भारतीय युद्ध हिन्दुस्थानके प्राचीन इतिहासका निश्चित उद्गम-स्थान है। चाहे युद्ध किसी दो पक्षोंमें हुआ हो, परन्तु प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं कि भारतीय युद्ध हुआ अवश्य है। राम और रावणका युद्ध अनैतिहासिक होगा; परन्तु भारतीय युद्धका होना निर्विवाद है। केवल इस विषय पर भिन्न भिन्न मत प्रचलित हैं कि यह युद्ध किस समय हुआ। यह प्रश्न महत्वपूर्ण है; पर इसका पक्का निर्णय अबतक नहीं हुआ है। हम यहाँ पर उन भिन्न भिन्न मतोंका दिग्दर्शन करेंगे जो इस विषयमें प्रचलित हैं और यह भी बतलावेंगे कि हमारी दृष्टिसे उनमेंसे कौनसा मत ग्राह्य है।

समयके क्रमानुसार ये मत किसके, कौनसे और किस तरहके हैं, इसका संक्षिप्त वर्णन यह है:—(१) परलोकवासी मोड़कका मत है कि यह युद्ध ईसवी सन्के लगभग ५००० वर्ष पूर्व हुआ। उनका कथन है कि—"भारतीय-युद्धकालीन ग्रहोंकी स्थिति महाभारतमें भिन्न भिन्न दो नक्षत्रों पर बतलाई गई है। एक ही समयमें एक ग्रह दो नक्षत्रों पर नहीं रह सकता, इसलिये एक नक्षत्रको सायन और दूसरेको निरयण मानना चाहिये। इससे मालूम होता है कि उस समय वसन्त-सम्पात पुनर्वसु-नक्षत्रमें था। इस हिसाबसे गणित करके देखने पर भारतीय-युद्धका समय ईसवी सन्के पूर्व करीब ५००० वर्ष आता है।" (२) महाभारतसे यह साफ मालूम होता है कि भारतीय युद्ध कलियुगके आरम्भमें हुआ। जब भीमने दुर्योधनको लातसे मारा था, तब उसका कारण बतलाते हुए (शल्यपर्वमें) श्रीकृष्णने कहा था कि—"प्राप्तं कलियुगं विद्धि" अर्थात्—"यह समझ लो कि कलियुगका आरम्भ हो गया।" इससे यह बतलाया जाना सिद्ध होता है, कि युद्धके समाप्त होने पर शीघ्र ही यानी चैत्रमें कलियुगका आरम्भ हुआ। अर्थात् यह निश्चित है कि कलियुगके आरम्भ कालमें युद्ध हुआ था। समस्त आर्य ज्योतिषियोंके मतानुसार कलियुग ईसवी सन्के पहले ३१०१ वर्षमें लगा। इससे भारतीय युद्धका समय ईसवी सन्के पहले ३१०१ वर्ष निश्चित हो जाता है। यही मत हमको ग्राह्य मालूम होता है। (३) आर्य-समाजके कुछ विद्वान्, प्राचीन ज्योतिषी वराहमिहिर, और काश्मीरके कुछ पण्डित, विशेषतः राजतरङ्गिणी नामक इतिहासके कर्त्ता कल्हण यह मानते हैं कि कलियुगके शुरू हो जाने पर ६५३ वर्षोंके अनन्तर, अर्थात् ईसवी सन्के पूर्व २४४८ वें वर्षमें, अथवा शक-सम्वत्के पहले २५२६ वें वर्षमें भारतीय युद्ध हुआ। (४) रमेशचन्द्रदत्त आदि प्राच्य विद्वान् और कुछ पाश्चात्य पण्डित कहते हैं कि भारतीय युद्ध ईसवी सनके लगभग १४०० वर्ष पूर्व हुआ। पुराणोंमें पाण्डवोंके समकालीन बृहद्रथ-वंशीय मगध राजासे लेकर नन्द पर्यन्तका समय दिया हुआ है। उक्त विद्वानोंका कथन है कि उसके आधार पर यह समय निश्चित होता है। (५) मद्रासी विद्वान् पिलगई अय्यरने, अन्य प्रमाणोंसे, सन् ईसवी पूर्व ११९४ वें वर्षके १४ अक्टूबरको युद्धका बिलकुल निश्चयात्मक समय माना है। इस तरहसे भारतीय युद्धके भिन्न भिन्न समय माने गये हैं और हमें यहाँ उनके सम्बन्धमें विस्तारपूर्वक विवेचन

करना है। पहले हम समस्त ज्योतिषियों के मतसे तथा साधारणतः समस्त आस्तिक हिन्दुओंके मतसे निश्चित माने हुए भारतीय युद्धके समयका और उस पर किये जानेवाले आक्षेपोंका विचार करेंगे।

भारतीय युद्ध और कलियुगका आरम्भ।

हम बतला चुके हैं कि यह कल्पना महाभारतमें ही दी हुई है कि कलियुगका आरम्भ भारतीय युद्धसे हुआ। "प्राप्तं कलियुगं विद्धि" इस वचनके सिवा, महाभारतमें, और भी दो तीन वचन हैं। वनपर्वमें भीममारुति-सम्वादमें कहा गया है कि—

एतत्कलियुगं नाम अचिराद्यत् प्रवर्तते।

"शीघ्र ही जिसका प्रारम्भ होगा वह कलियुग है।"

आदिपर्वके आरम्भमें ही कहा गया है कि भारतीय युद्ध कलियुग और द्वापरकी सन्धिमें हुआ।

अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
स्यमन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः॥

तात्पर्य यह है कि कलियुगारम्भमें भारतीय-युद्धके होनेकी कल्पना महाभारतकार सौतिके समयमें, अर्थात् ईसवी सनके लगभग ३०० वर्ष पहले, पूरी पूरी प्रचलित थी; यानी यह कल्पना लगभग २२०० वर्षसे आजतक यहाँ प्रचलित है। मालूम होता है कि इस विचारकी उत्पत्ति इन कारणोंसे हुई होगी, कि भारतीय-युद्धमें नीतिधर्मरहित अनेक भयङ्कर काम हुए, पाण्डवोंके समयसे हिन्दुस्थानकी धार्मिक और साम्पत्तिक सुस्थितिमें दिनों-दिन क्षीणता आने लगी और श्रीकृष्ण परमात्माके पृथ्वीको छोड़कर चले जानेके समयसे हिन्दुस्थानकी दुर्दशा तथा अवनति होने लगी। सारांश यह है कि अत्यन्त प्राचीन कालसे, लोकमतके अनुसार, भारतीय युद्धके समयमें, कलियुगके आरम्भमें और श्रीकृष्णके समयमें दृढ़ सम्बन्ध और एकता पाई जाती है। अर्थात्, कलियुगका आरम्भ-काल और श्रीकृष्णका समय बतला देना ही भारतीय युद्धका समय बतलाना होगा। आगे दिये हुए विवेचनसे यह मालूम हो सकेगा कि इन तीनों बातोंका समय भिन्न भिन्न रीतिसे एक ही ठिकाने कैसे आता है।

श्रीकृष्णका समय।

श्रीकृष्णका समय निश्चित करनेके लिये हमें बाह्य प्रमाणका एक महत्त्वपूर्ण साधन मिलता है। हिन्दुस्थानमें आये हुए मेगास्थिनीज़ने श्रीकृष्णके सम्बन्धमें अत्यन्त महत्वकी बातें लिख रखी हैं। यह राजदूत हिन्दुस्थानमें चन्द्रगुप्तके दरबारमें सेल्यूकस नामक ग्रीक राजाकी ओरसे रहता था। उसने यह लिख रखा है कि— "संड्रकोटस् और डायानिसॉसके बीचमें १५३ पीढ़ियाँ और ६०४२ वर्ष हुए। हिराक्लीज़, डायानिसॉससे, १५ पीढ़ियोंके बाद हुआ।" उसे हिन्दुस्थानमें चन्द्रगुप्तके समयमें जो बातें मालूम हुईं उन्हींके आधार पर उसने यह बात लिखी है। ग्रीक लोगोंने भविष्यके इतिहासकारों पर यह बड़ा उपकार किया है, कि वे जिस जिस स्थानमें गये वहाँ वहाँ उस समयकी प्रचलित ऐतिहासिक बातोंको एकत्र करके उन्होंने लिख रखा है। उन्होंने इसी तरहसे इजिप्ट देशमें भी ऐतिहासिक सामग्री ढूँढ़कर राजाओंकी पीढ़ियोंका हाल लिख छोड़ा है। उन्होंने बैबिलोनकी पीढ़ियोंका भी हाल लिख रखा है। पहले कुछ दिनोंतक ये बातें स्थूल और अविश्वसनीय समझी जाती थीं; परन्तु मेसोपोटेमियाँमें आजकल जो इष्टिका-लेख, अर्थात्

खुदाई हुई ईंटों पर लिखे हुए लेख, मिल रहे हैं उनसे संसारको ये बातें सत्य मालूम होने लगी हैं। हमारे कहनेका तात्पर्य यही है, कि मेगास्थिनीज़के द्वारा सावधानीके साथ लिखी हुई बातें विश्वसनीय हैं। इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं है, कि प्राचीन कालके अन्य देशोंके समान, हिन्दुस्थानमें राजाओंकी वंशावली और प्रत्येक राजाके राज्य करनेका समय दोनों सावधानता-पूर्वक लिखकर सुरक्षित रखे जाते थे। प्राचीन समयमें कोई खास सम्वत् प्रचलित न था, अतएव राजाओंकी वंशावली और उनके शासनकाल ही समय नापनेके साधन थे। इसी लिये वंशावलियाँ सुरक्षित रखी जाती थीं। सारांश यह है कि मेगास्थिनीज़की बतलाई हुई पीढ़ियोंकी संख्या इतिहासकी दृष्टिसे मानी जाने योग्य और विश्वसनीय साधन हैं। मेगास्थिनीज़ने जिस संड्राकोटसका उल्लेख किया है वह ऐतिहासिक चन्द्रगुप्त है। हम निश्चयके साथ यह नहीं बतला सकते कि ये पीढ़ियाँ जिस डायानिसाससे गिनी गई हैं, वह कौन है। परन्तु हम पहले बतला चुके हैं कि हिराक्लीज़के मानी हरि अथवा श्रीकृष्ण ही हैं। मेगास्थिनीज़ने लिखा है कि शौरसेनी लोग हिराक्लीज़की भक्ति करते थे और उनका मुख्य शहर मथुरा था। इस वर्णनसे निश्चयके साथ यह सिद्ध होता है कि हिराक्लीज़ श्रीकृष्णका ही नाम था। डायानिसास्से हिराक्लीज़तक १५ पीढ़ियाँ हुईं। उसको घटा देने पर, मेगास्थिनीज़के दिये हुए वर्णनसे हमें ज्ञात होता है कि हिराक्लीज़से चन्द्रगुप्ततक १५३–१५ = १३८ पीढ़ियाँ हुईं। मेगास्थिनीज़ने यह नहीं बतलाया है कि इतनी पीढ़ियोंमें कितने वर्ष व्यतीत हुए। तथापि संसारके इतिहासको देखनेसे यह बतलाया जा सकता है कि मोटे हिसाबसे राजाओंकी एक पीढ़ीमें कितने वर्ष लगते हैं। यह ऐतिहासिक सिद्धान्त है कि प्रत्येक राजाकी पीढ़ीके लिये औसत २० वर्ष पड़ते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार श्रीकृष्णसे चन्द्रगुप्त तक मोटे हिसाबसे १३८ × २० = २७६० वर्ष हुए। यह निश्चित हो चुका है कि चन्द्रगुप्तका समय ईसवी सन्के पूर्व ३१२ वर्ष था। इस हिसाबसे श्रीकृष्णका समय सन् ईसवीके ३०७२ वर्ष पहले निश्चित होता है। इस समयके ऐतिहासिक होनेके विषयमें हमें यह दृढ़ प्रमाण मिलता है, कि यह समय कलियुगके आरम्भ-कालका निकटवर्ती समय है।

छान्दोग्य उपनिषद्में श्रीकृष्णका उल्लेख "कृष्णाय देवकीपुत्राय" किया गया है। भगवद्गीतामें "वेदानां सामवेदोऽस्मि" इस वाक्यसे श्रीकृष्णने सामवेदके साथ अपना तादात्म्य प्रकट किया है। इससे यह पाया जाता कि सामवेदके छान्दोग्य उपनिषद्में श्रीकृष्णका उल्लेख स्वाभाविक है। श्रीकृष्णका समय छान्दोग्य उपनिषद्के बहुत पहले होगा। यद्यपि निश्चयके साथ नहीं बतलाया जा सकता कि छान्दोग्य उपनिषद् कब बना, तथापि भाषाके प्रमाणसे मालूम होता है कि वह दशोपनिषदोंमेंसे अत्यन्त प्राचीन उपनिषद् है। यह स्पष्ट है कि साधारणतः इन उपनिषदोंके समयको वेदांगोंके समयके पहले मानना चाहिये। वेदांगोमेंसे वेदांग ज्योतिषका समय निश्चयके साथ बतलाया जा सकता है। शंकर बालकृष्ण दीक्षितने अपने भारतीय ज्योतिषशास्त्रके इतिहासमें, वेदांग ज्योतिषका समय, सन् ईसवीसे पूर्व लगभग १४१० वर्ष ठहराया है। अर्थात्, छान्दोग्योपनिषद्के समयको इसके पूर्व और श्रीकृष्णके समयको उसके भी पूर्व मानना

चाहिये। इस प्रमाणसे यह अनुमान होता है कि श्रीकृष्णका जो समय ऊपर बतलाया गया है वह ठीक है; और यह कहा जा सकता है कि भारतीय युद्ध उसी समय हुआ।

कलियुगका आरम्भ।

अब हम कलियुगके आरम्भकालका विचार करेंगे। हम पहले देख चुके हैं, कि भारतीय युद्ध और कलियुगारम्भका समय एक ही है। हम यह भी देख चुके, कि कलियुगका आरम्भ कब हुआ। हिन्दुस्थानके समस्त ज्योतिषियोंके मतानुसार कलियुगका आरम्भ सन् ईसवीसे पूर्व ३१०१ वर्षमें हुआ। आजकलके हर एक पंचांगमें यही समय दिया हुआ है। शक १८३८ के पंचांगमें यह लिखा हुआ मिलेगा कि कलियुगको ५०१७ वर्ष हो गये। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि पंचांगोंमें यह समय आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर इत्यादि ज्योतिषियोंके समयसे लिखा जाता है। इस बातमें सन्देह है कि इनके पहले यही समय लिखा जाता था या नहीं। यदि प्रति वर्ष लोगोंको यह मालूम हो जाता था कि कलियुगको इतने वर्ष हो गये, तो इन ज्योतिषियोंके पहलेके किसी ग्रन्थमें इस समयका उल्लेख अवश्य होना चाहिये। अभाग्यवश अभीतक ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिला है। तब प्रश्न है कि आर्य भट्ट आदि ज्योतिषियोंने किस आधार पर यह समय बतलाया है? इस सम्बन्धमें दो मत हो सकते हैं। एक मत यह है कि यह समय लोगोंको दन्तकथासे मालूम था: अर्थात् यह कहा जा सकता है कि उन्हें युधिष्ठिर-संवत् मालूम था। हमारा मत यह है कि सन् ईसवीके पहले, अथवा शक-संवत्के पहले युधिष्ठिर-संवत् क्या, कोई संवत् प्रचलित न था। परन्तु हम पहले बतला चुके हैं कि उस समय हिन्दुस्थानमें वंशावली रहती थी; अर्थात् यह बात लिखकर रख ली जाती थी कि अमुक वंशमें अमुक अमुक राजा अमुक वर्षतक राज्य करते थे। ऐसी दशामें कह सकते हैं कि युधिष्ठिरके बादकी वंशावली, राजाओंके शासन-काल समेत, अवश्य प्रचलित रही होगी। इस प्रकारकी वंशावलीके आधारपर सन् ईसवीके आरम्भमें, जब सिद्धान्तस्वरूप युगपद्धति स्थिर हो गई तब, आर्य ज्योतिषकारोंने यह निश्चित किया कि युधिष्ठिरको इतने वर्ष हो चुके। क्योंकि उस समयके पहले ३०० वर्षसे महाभारत स्पष्ट रीतिसे यह बतला रहा था, कि समस्त आस्तिक हिन्दुओंकी यही समझ थी, कि कलियुगका आरम्भ, भारतीय युद्ध और युधिष्ठिरका राज्यारोहण एक ही समयमें हुआ। इस प्रकार पहले नूतन सिद्धान्तकार आर्यभट्टने, कलियुगके आरम्भका समय ईसवी सन्से पूर्व ३१०१ वर्ष (शक सम्वत्से पूर्व ३१७८ वर्ष) बतलाया।

कुछ लोगोंका मत है कि कलियुगका आरम्भ इस तरहसे दन्तकथा अथवा राजाओंकी वंशावलीके आधार पर नहीं बतलाया गया है—उसे आर्यभट्टने गणितसे कायम किया है। परन्तु यह मत टिक नहीं सकता। शंकर बालकृष्ण दीक्षितका भी यही मत है; परन्तु उनका किया हुआ विवेचन उनके अन्य मतोंके विरुद्ध हो जाता है। गणितसे कलियुगका आरम्भ जाननेके लिये क्या साधन था? यह नहीं मालूम होता कि महाभारतके युद्ध-कालमें अमुक ग्रह अमुक नक्षत्र पर थे, इस प्रकारके विधानको लेकर उसके आधार पर गणितके द्वारा यह समय

स्थिर किया गया है: क्योंकि महाभारतमें जो स्थिति बतलाई गई है वह, कलियुगके आरम्भमें जो ग्रह थे उनसे, बिलकुल नहीं मिलती। इस ग्रह-स्थितिके विषयमें हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। हम इसे भी सच मान सकते हैं, कि यदि महाभारतमें बतलाई हुई ग्रह-स्थितिके आधार पर गणित करके यह समय स्थिर किया गया होता, तो वह निश्चयपूर्वक ठीक ही निकलता: परन्तु दुर्दैवसे ऐसा बिलकुल नहीं हुआ। पहले कहीं नहीं बतलाया गया है कि कलियुगके आरम्भमें ग्रहोंकी स्थिति अमुक प्रकारकी थी। फिर गणित करनेके लिये आधार कहाँसे आया? दीक्षित तथा अन्य लोगोंका कथन है कि कलियुगके आरम्भमें समस्त ग्रह मध्यम मानसे अश्विनीमें थे। इस समझके आधारपर आर्यभट्टने गणितके द्वारा यह स्थिर किया कि मध्यम मानके ग्रह एकही स्थान पर कब थे, और उसे उसने कलियुगका आरम्भ मान लिया। परन्तु यह किसने बतलाया कि कलियुगके आरम्भमें इस तरहकी ग्रह-स्थिति थी? मध्यम ग्रह आकाशमें दिखाई नहीं देते, स्पष्ट ग्रह दिखाई पड़ते हैं। अर्थात्, यह सम्भव नहीं है कि आँखोंसे देखकर किसीने इस प्रकारका विधान लिख रखा हो। तब यही मालूम होता है कि गणितके इस साधनको ज्योतिषीने अपनी कल्पनाके आधार पर स्थिर किया है। आर्यभट्ट ऐसा पागल नहीं था कि उदाहरण देते समय वह उदाहरणके उत्तरको और उदाहरणके आधारको भी काल्पनिक रखे। स्वयं दीक्षितका कथन है कि— "महाभारत, मनुस्मृति तथा पिछले विवेचनमें आये हुए किसी ग्रन्थमें, ज्योतिषग्रन्थोंका बतलाया हुआ युगारम्भका यह लक्षण नहीं दिया है कि कलियुगके और प्रत्येक युगके आरम्भमें सब ग्रह अश्विनीके आरम्भमें एकत्र रहते हैं। बल्कि महाभारतमें एक जगह कहा गया है कि सूर्य्य, चन्द्र, बृहस्पति और तिष्यके एक राशिमें आने पर कृतयुग होता है।" उनका यह भी कथन है कि—"ऊपर दिया हुआ युगका लक्षण पुराणोंमें भी कहीं बतलाया नहीं गया है।" तब तो उक्त आक्षेप करनेवालोंका अन्तिम कथन यही देख पड़ता है, कि यह कल्पना स्वयं आर्यभट्टकी है और उसने उसीके आधार पर गणित किया है। परन्तु, प्रत्यक्ष देखने पर यह बात भी सिद्ध होती नहीं मालूम होती। सूर्यसिद्धान्तके अनुसार कलियुगका आरम्भ फाल्गुन कृष्ण पक्ष अमावस्या बृहस्पतिवारकी मध्य रात्रिके समय होता है। इसके आधार पर यह निश्चित होता है कि सन् ईसवीके ३१०१ वर्ष पहले १७ फरवरी बृहस्पतिवारकी मध्य रात्रिके समय कलियुगका आरम्भ हुआ। उस समयकी ग्रह-स्थिति प्रोफेसर ह्विटने ने निश्चित की है और दीक्षितने भी मध्यम तथा स्पष्ट ग्रह-स्थितिका निश्चय किया है। इसका उल्लेख दीक्षितने अपनी पुस्तकके १४२ वें पृष्ठमें किया है। उससे मालूम होता है कि कलियुगके आरम्भमें मध्यम और स्पष्ट सब ग्रह एकत्र नहीं थे। इसे दीक्षितने भी कबूल किया है। वे कहते हैं कि—"हमारे ग्रन्थके अनुसार कलियुगके आरम्भमें सब ग्रह एकत्र थे, परन्तु वस्तुस्थिति वैसी न थी। कदाचित् सब ग्रह अस्तंगत रहे हों, परन्तु महाभारत आदि ग्रन्थोंमें ऐसा भी वर्णन नहीं है। कलियुग के अनन्तर, सूर्यसिद्धान्त आदि ग्रन्थोंके बननेतक, कमसे कम ३६०० वर्ष बीत गये: परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय इस बातका निश्चय हो चुका था कि कलियुग अमुक समयमें आरम्भ हुआ।

इससे सन्देह करनेका स्थान रह जाता है कि कदाचित् कलियुगका आरम्भ-काल पीछेसे गणितके द्वारा निकाला गया हो।" परन्तु यदि दीक्षितको यह बात मालूम होती अथवा स्मरण रहती कि उस समय राजाओंको वंशवाली प्रचलित थी, तो उन्हें ऐसा सन्देह न हुआ होता। यह बात मेगास्थिनीज़के द्वारा दी हुई पीढ़ियों और वर्षोंकी संख्यासे सिद्ध होती है। मेगास्थिनीज़का प्रमाण अत्यन्त प्राचीन अर्थात् सन् ईसवीके लगभग ३१२ वर्ष पहलेका है। यानी, वह उस समयका है जब कि आर्य ज्योतिषियोंको ग्रह-गणित करनेका ज्ञान न था। इससे यह निश्चय-पूर्वक सिद्ध होता है कि ऐसी वंशावलियाँ पूर्व कालमें थीं। यह बात निर्विवाद है कि पूर्व कालमें इतिहास भी थे और हिन्दुस्थानमें ऐतिहासिक बातें तथा वंशावलियाँ लिखकर रखी जाती थीं। चीनी यात्री हुएनसाङ्गने स्पष्ट लिख रखा है कि—"प्रत्येक राज्यमें इतिवृत्तकी पुस्तक सावधानतासे लिखकर रखी जाती है।" काश्मीरमें इस प्रकारका हाल और वंशावली लिखी हुई थी; उसीके आधार पर कल्हण कविने राजतरंगिणी नामक काश्मीरका इतिहास लिखा। आजतक भाट लोग राजपूतोंकी वंशावलियोंको सावधानीसे लिखते हैं। सारांश, यह निर्विवाद है कि मेगास्थिनीज़की लिखी हुई वंशावलीमें दिये हुए वर्णनसे पूर्व कालमें, वंशावलीका होना पाया जाता है। हमारा मत है कि ऐसी वंशावलियोंके आधार पर युधिष्ठिरके अनन्तर बीत चुकनेवाले वर्ष लोगोंको मालूम रहे होंगे और उन्हींके आधार पर कलियुगका आरम्भ-काल निश्चित किया गया होगा। ऊपर बतलाया ही जा चुका है, कि कलियुगारम्भ-काल निश्चित करनेका जो साधन दिया गया है वह काल्पनिक है और कलियुगके आरम्भ-कालमें वैसी प्रत्यक्ष स्थिति भी न थी। तब फिर यह नहीं कहा जा सकता कि कलियुगका आरम्भ-काल पीछेसे गणित-द्वारा स्थिर किया गया है।

वराहमिहिरका भ्रमपूर्ण मत।

कलियुग-कालके सम्बन्धमें कदाचित् शङ्का उपस्थित होगी; परन्तु मेगास्थिनीज़की बतलाई हुई बातोंके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं की जा सकती। इन दोनोंके सहारे भारतीय युद्धके समयको निश्चित करनेमें कठिनाई न होगी। अब हमें यहाँ वराहमिहिरके इस कथनका विचार करना चाहिये, कि भारतीय युद्ध कलियुगके आरम्भमें नहीं हुआ। वराहमिहिरने यह मत गर्गके मतके आधार पर दिया है। गर्गके मतको उन्होंने इस प्रकार लिखा है:—

षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च।

अर्थात्, युधिष्ठिरका समय बतलानेके लिये शक-सम्वत्में षड्द्विकपञ्चद्वि अर्थात् "अंकानां वामतो गतिः" के हिसाबसे २५२६ के मिलाने पर युधिष्ठिरका समय निकलता है। हमने भारतीय युद्धका समय सन् ईसवीके ३१०१ वर्ष पहले अथवा शक-सम्वत्के ३१७९ वर्ष पहले ठहराया है। इस समयमें और वराहमिहिरके समयमें ६५३ वर्षोंका अन्तर है। राजतरङ्गिणीकार कल्हणने अपने काव्यरूपी इतिहासमें इसी समयको लेकर स्पष्ट कहा है कि—

शतेषु षट्सु सार्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभूवन्कुरुपाण्डवाः॥

वहाँ उसने यह भी कहा है कि—"इस बातसे विमोहित होकर कि पांडव कलियुगके आरम्भमें हुए, काश्मीरके

कुछ इतिहासकार काश्मीरके पूर्व कालके राजाओंकी गलत फेहरिस्त देते हैं ; परन्तु कलियुगके उक्त ६५३वें वर्षमें पाण्डव थे; इस कालके अनुसार मैंने राजाओंकी फेहरिस्तको सुधार दिया है ।" इससे स्पष्ट मालूम होता है कि कल्हणके समयमें यह मत प्रचलित था, कि पाण्डव कलियुगके आरम्भमें हुए। इसको त्याग कर, वराहमिहिरका आधार लेकर, कल्हण ने कलियुगके आरम्भसे ६५३वें वर्षमें भारतीय युद्धका होना बतलाया है। परन्तु इसके कारण महाभारतके वचनोंसे स्पष्ट विरोध होता है । "प्राप्तं कलियुगं-विद्धि" इस श्लोकसे, और कलियुगके अनन्तर ६५३ वर्षोंके बाद भारतीय युद्ध हुआ, इस कथनसे मेल नहीं हो सकता। "कलिद्वापरयोः अन्तरे" इस वचनसे भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि भारतीय युद्ध कलियुगके आरम्भ होनेके पहले हुआ। ऐसी दशामें यह कथन गलत होगा कि कलियुगके ६५३ वर्षोंके बाद युद्ध हुआ। कुछ लोगोंके (विशेषतः आर्य-समाजी लोगोंके) मतानुसार, इन ६५३ वर्षोंको कलियुगका सन्धिकाल समझकर, यह मान लेना चाहिये कि सच्चा कलियुग अभीतक नहीं हुआ है और महाभारतके वचनसे मेल मिला लेना चाहिये। परन्तु इस तरहसे भी मेल नहीं मिल सकता; क्योंकि यदि इस तरहसे कलियुगका सन्धिकाल मान लें, तो द्वापरका अन्तर नहीं आ सकता। ऐसा वर्णन है कि द्वापर और कलिके अन्तरमें अर्थात् ठीक सन्धिमें युद्ध हुआ। महाभारतके वर्णनके अनुकूल यह स्थिति ठीक मालूम होती है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको कलियुग लगा और उसके पहलेके मार्गशीर्ष महीनेमें भारतीय युद्ध हुआ।

एक बड़े आश्चर्यकी बात यह है कि सब ज्योतिषियोंके मतोंके विरुद्ध और प्रत्यक्ष महाभारतके भी वचनोंके विरुद्ध, वराहमिहिरने भारतीय युद्धका यह समय कैसे बतलाया! अच्छा, यदि उन्होंने गर्गके वचनके आधार पर यह मत दिया है, तो प्रश्न है कि गर्गने ही यह समय कैसे बतलाया? गर्गका समय हमें मालूम नहीं। कुछ लोग मानते हैं कि गर्गका समय महाभारतके बाद और शक-सम्वत्के पहले होगा। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि गर्ग महाभारतके पहले हुआ होगा। महाभारतमें गर्गका नाम आया है। चाहे हम किसी समयको मानें, परन्तु यह निश्चित दिखाई पड़ता है कि गर्ग शक-सम्वत्के पहले हुआ। ऐसी दशामें गर्गके द्वारा यह नियम बना दिया जाना सम्भव ही नहीं है कि, शक-सम्वत्में अमुक वर्ष मिला देनेसे युधिष्ठिरका समय निकल आता है। यह बतलानेके लिये साधन नहीं है कि गर्गका मूल वचन क्या था। गर्ग-संहिता नामक जो एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, उसमें इस सम्बन्धका कुछ भी वर्णन नहीं है। २५२६ की संख्या गर्गने ही दी है, यह मानकर उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये श्रीयुत अय्यरने एक अद्भुत उपाय बतलाया है। वह यह है कि शक-कालका अर्थ शाक्य मुनिका काल समझना चाहिये। यदि यह मान लिया जाय कि बुद्धके मृत्यु-कालसे कहीं कहीं बुद्धकाल-गणना शुरू हो गई थी, तो यह समय हमारे मतके अनुकूल हो जाता है। (अय्यर अपना काल कैसे साधते हैं, यह आगे कहा जायगा) बौद्धोंमें आजकल जो निर्वाण-शक प्रचलित है, उसे सन् ईसवीके ५४३ वर्ष पूर्वका मान लेनेसे और उसमें २५२६ में मिला देनेसे, २५२६ + ५४३ अर्थात् सन् ईसवीके ३०६६ वर्ष पूर्वका समय, श्रीकृष्णके और कलियुगके

आरम्भके समयके निकट आ जाता है। तथापि हमारा मत है कि शक-काल शब्द-का अर्थ 'शाक्य मुनि अथवा बुद्धका समय' कभी नहीं समझा जा सकता। बुद्ध-का शक नाम कहीं नहीं लिखा गया है। शक और शाक्य शब्दोंको जबर्दस्ती एकार्थवाची समझ लेनेसे कुछ लाभ नहीं। इसकी उपपत्ति भिन्न प्रकारसे बतलानी होगी।

अब यह निश्चय कर सकना असम्भव है कि गर्गने मूल समय किस प्रकारका बतलाया था। यह बात प्रायः निर्विवाद सी है कि गर्ग महाभारतके पहले हो गया है। उसका उल्लेख शल्य पर्वके सरस्वती आख्यानमें और अनुशासन पर्वमें उप-मन्युके आख्यानमें हुआ है। उसमें उसके ६४ अङ्गोंके ग्रन्थका भी उल्लेख है। आज-कल "गर्गसंहिता" नामक जो ग्रन्थ प्रच-लित है, उसमें ४० उपाङ्ग हैं। अर्थात् यह ग्रन्थ बहुत करके वही ग्रन्थ न होगा। तथापि यह उसीकी दूसरी आवृत्ति होगी। इसमें राशियोंका उल्लेख नहीं है, इससे यह ग्रन्थ भी शक सम्वत्के पहलेका मालूम होता है। सारांश, गर्ग शकके बहुत पहले हो गया है। उसके ग्रन्थमें शक-कालका उल्लेख होना सम्भव नहीं है। इसलिये मालूम होता है कि गर्गका उक्त वचन किसी तत्कालीन राजाके सम्बन्धमें होगा। उसने यह लिखा होगा कि युधिष्ठिरको हुए अमुक राजातक २५६६ अथवा २५२६ वर्ष हुए और वह राजा गर्गका समकालीन होगा। गर्ग और वराहमिहिरके बीचमें हज़ार वर्षका अंतर दिखाई पड़ता है क्योंकि गर्ग सन् ईसवी-के ५०० वर्ष पूर्वका और वराहमिहिर सन् ईसवीके ५०० वर्षसे भी अधिक पीछेका है। ऐसी दशामें इसकी यह उपपत्ति बतलाई जा सकती है, कि गर्गके सम-कालीन राजाका नाम एक हज़ार वर्षोंमें अप्रसिद्ध हो जानेके कारण, वराहमिहिर-ने उस नामका उपयोग शक राजा अथवा शक-कालके लिये कर दिया। वराहमिहिर गर्ग-ज्योतिषके वचनको विशेष प्रमाणभूत मानता था। इस कारण उसने अन्य ज्योतिषियोंके मतके विरुद्ध भारतीय युद्ध को कलियुगके ६५३वें वर्षमें माना है। कल्हणने अपने काश्मीरके इतिहासका मेल उसीके आधार पर मिलाया। काश्मीरमें यह धारणा थी कि भारतीय युद्धके समयमें काश्मीरका राजा पहला गोनर्द था और जब दुर्योधनके लिये कर्णने दिग्विजय किया तब वह लड़ाईमें मारा गया तथा उसका लड़का गद्दी पर बैठा। कल्हणने यह लिख रखा है कि काश्मीरमें ऐसी दन्तकथा प्रचलित थी कि छोटी अवस्थाके कारण वह लड़का भारतीय युद्धमें नहीं शामिल हुआ। यदि यह मान लिया जाय कि भारतीय युद्ध कलियुगके आरम्भमें हुआ, तो शक पूर्व ३१७६ वर्षों-की व्यवस्था गोनर्दके अनन्तर होनेवाले राजाओंकी अवधितक लगनी चाहिये और वैसी व्यवस्था कल्हणके पहले लग भी चुकी थी। परन्तु भारतीय युद्धके समयको मनमाना मान लेनेके कारण कल्हणको गोनर्द आदि राजाओंकी भिन्न व्यवस्था करनी पड़ी। यह बात काश्मीरके इतिहासमें सहज ही लिखी हुई है कि गोनर्द पाण्डवोंके समयमें था। इसका कारण यह है कि हिन्दुस्थानका प्रत्येक राजवंश अपना सम्बन्ध पाण्डव-सम-कालीन योद्धाओंसे भिड़ा देनेमें भूषण समझता है। कल्हणने राजाओंकी प्रच-लित वंशावलीमें अपनी नई समझके अनुसार घटा बढ़ाकर एक और नई भूल कर डाली।

गर्गने जो २५२६ की संख्या दी है

उससे एक बात तो अवश्य सिद्ध होती है। वह यह है कि उसने इस संख्याको किसी न किसी आधारसे निश्चित किया होगा। ऐसी संख्या निश्चित करनेके लिये दन्त-कथाका और मुख्यतः वंशावलीका साधन होना चाहिये। कल्हणके ग्रन्थसे यह मालूम होता है कि इस प्रकारकी वंशावली काश्मीरमें भारतीय युद्धके समयसे प्रचलित थी। अर्थात्, निश्चित है कि यह संख्या राजवंशावलीके आधार पर स्थिर की गई; और इस दृष्टिसे इस संख्याका बड़ा भारी महत्व है। शक-पूर्व ३१७९ की जो संख्या शककालके आरम्भमें वंशावलीके आधार पर स्थिर की गई थी, वह भी इसी तरहकी वंशावलीके आधार पर स्थिर की गई होगी। गर्गके वचनमें किसी मनमाने राजाका नाम समझकर वराहमिहिरने भूल की; परन्तु सन् ईसवीके ३१०१ वर्ष पहलेका समय ही, वराहमिहिरको छोड़ अन्य सब ज्योतिषियोंके द्वारा ठहराया हुआ भारतीय युद्धका समय सर्वमान्य दिखलाई पड़ता है। हम पहले यह देख ही चुके हैं कि इसके सिवा मेगास्थिनीज़ने चन्द्रगुप्ततक मगधवंशकी जिन पीढ़ियोंका वर्णन किया है उस वर्णनसे भी इस निश्चित समयको सबल सहारा मिलता है। सारांश यह है कि सन् ईसवीके ३१०१ वर्षके पहलेका समय ही भारतीय युद्धका समय सर्वमान्य सिद्ध होता है।

यहाँ कुछ आक्षेपोंका भी उल्लेख कर देना चाहिये। कहा जाता है कि जैसे ईसवी सन्के पहले ३१०१ वर्षके समयको आर्यभट्टने केवल कल्पनासे निश्चित किया है; उसी प्रकार दीक्षितका कथन है कि शक-संवत्के पहले २५२६ वर्षके समयको गर्गने अपनी कल्पनासे निश्चित किया है। परन्तु इस आक्षेपको भी कल्पनाके सिवा दूसरा आधार नहीं है। दीक्षित (पृष्ठ ११८ में) कहते हैं:—"वराहमिहिरने सप्तर्षिचारमें कहा है कि सप्तर्षियोंमें गति है; और वे एक एक नक्षत्रमें १०० वर्षों तक रहते हैं; इसी धारणाके आधार पर यह समय निकाला गया है।" युधिष्ठिरके समयमें सप्तर्षि मघा-नक्षत्रमें थे; और आजकल भी वे मघामें ही हैं। सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्र में १०० वर्षोंतक रहते हैं, इससे यह निष्पन्न होता है कि आजतक युधिष्ठिरको २७०० वर्ष हो चुके। परन्तु सप्तर्षियोंमें तो कोई गति ही नहीं है, इससे उक्त समयका कोई अर्थ नहीं हो सकता। इसी तरह गर्ग और वराहके बतलाये हुए समयका भी कोई अर्थ नहीं है। दीक्षितका कथन है कि यह "गर्ग शककालके आरम्भ होनेके अनन्तर एक दो शताब्दियोंमें कभी हुआ होगा; उसे सप्तर्षि मघा-नक्षत्रके निकट दिखलाई पड़े, इसलिये उसने यह स्थिर किया कि शक कालके आरम्भमें युधिष्ठिरको २५२६ वर्ष हो चुके।" परन्तु यह मत मानने योग्य नहीं है। २५२६ की **निश्चित संख्या** कल्पना कैसे ठहराई जा सकती है? यह गणितका विषय है, इसलिये इसमें अन्दाज़की बातोंका बिलकुल समावेश नहीं हो सकता; और कोई ज्योतिषगणितकार निराधार तथा काल्पनिक संख्याकी सृष्टि नहीं कर सकता। यदि सप्तर्षियोंका चक्कर २७०० वर्षोंका मान लिया जाय, तो प्रश्न है कि उनमें १७४ वर्ष क्यों घटा दिये गये? दीक्षितने यह तो नहीं बतलाया है कि जब सप्तर्षि गर्गको मघा नक्षत्रमें दिखाई पड़े, *तब वे उसे शक*-संवत्के बाद १७४ वें वर्षमें दिखाई पड़े थे। और, यह भी नहीं माना जा सकता कि *यह समय शकके* १७४ वर्षों बाद निश्चित किया गया था। ऐसा कहनेका

कारण यह है, कि यदि हमें किसी दूसरी रीतिसे गर्गका समय मालूम होता, तो इस कथनका कुछ अर्थ भी हो सकता। परन्तु हमें गर्गका कुछ भी समय मालूम नहीं है, ऐसी अवस्थामें वह केवल कल्पनासे नहीं माना जा सकता। यह बात सम्भव नहीं है कि गर्ग और वराहमिहिरको सप्तर्षियोंकी गतिहीनताका ज्ञान न था। अर्थात् स्पष्ट है कि यह गति कल्पनासे मान ली गई है, प्रत्यक्ष नहीं है। अच्छा, क्षण भरके लिये मान लिया जाय कि गर्ग और वराहमिहिरको सप्तर्षियोंकी गति मालूम थी; गर्ग शक-संवत् १७४ में गणित करने बैठा, और वह युधिष्ठिरका समय गणितके द्वारा निकालने लगा। परन्तु, स्मरण रहे कि:—

आसन्मघासु मुनयः शासति
पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।

इस बातको आधार-स्वरूप माननेके लिये महाभारतमें कोई वचन नहीं है। फिर, गर्गने इसको कहाँसे लिया? अच्छा यह आधार-स्वरूप बात कहींसे लाई गई हो, परन्तु जो सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्रमें १०० वर्षतक रहते हैं वे कुछ एकही स्थानमें नहीं रहते। वे एक नक्षत्रसे दूसरे नक्षत्र में उड़कर नहीं चले जाते। तब गणित करनेके लिये यह मालूम रहना चाहिये था, कि युधिष्ठिरके समयमें सप्तर्षि मघा-नक्षत्रके किस बिंदुमें थे। फिर, यह भी मानना पड़ेगा कि शक सम्वत् १७४ में मघा-नक्षत्रमें सप्तर्षिको ठीक उसी बिंदु पर गर्गने देखा था। ऐसा माने बिना यह सिद्ध करना असम्भव है, कि शक-सम्वत्के आरम्भमें युधिष्ठिरको हुए २५२६ वर्ष बीत चुके थे। सारांश यह है कि सभी काल्पनिक बातोंको मानना पड़ता है और उन्हें माननेके लिये कोई आधार भी नहीं है। यह कहीं नहीं बतलाया गया है कि युधिष्ठिरके राज्यारोहण-कालमें सप्तर्षि मघाके अमुक बिंदुमें थे। यह नहीं माना जा सकता कि यह गर्गकी कल्पित बात होगी। इसका भी कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि गर्ग शक-सम्वत् १७४ में हुआ (बल्कि निश्चयपूर्वक मालूम है कि वह शक सम्वत्के पहले हुआ होगा)। यह बात अपने सिद्धान्तसे मिलती है इसलिये इसे भी कल्पनाके आधार पर मान लें; और यह बात हमारे मतसे मिलती है कि युधिष्ठिरके समयके बिंदुमें ही सप्तर्षि गर्गकालीन शक-सम्वत् १७४ में थे, इसलिये इसे भी कल्पनासे मान लें! तब तो सारा सिद्धान्त मान लेने पर ही रहा! इस तरह बारीकीसे विचार करने पर यह नहीं कहा जा सकता, कि गर्गने युधिष्ठिरका शक पूर्व २५२६ वर्षका जो निश्चित समय बतलाया है, उसे उसने गणितके द्वारा निकाला। अस्तु। दीक्षितका कथन है कि मघा, पूर्वा, उत्तरा, हस्त और चित्रामेंसे हर एक नक्षत्रमें सप्तर्षि दिखाई दे सकते हैं। तब, प्रश्न है कि गर्गको अपने समयमें यह कैसे दिखाई पड़ा कि सप्तर्षि मघामें ही थे? दूसरी बात यह है कि शक-सम्वत् ४४४में वराहमिहिरको भी सप्तर्षि मघामें ही दिखाई पड़े; इससे तो गर्गके समय अर्थात् शक सम्वत् १७४ में उनका मघाके पीछे होना पाया जाता है। इस दशामें यह कहना भी गलत मालूम होता है कि अपने समयमें सप्तर्षिका मघामें होना मानकर गर्गने गणित किया। सारांश, यह कहना बिलकुल झूठ होगा कि गर्गने इस समयको कल्पनाके द्वारा जाना। अर्थात्, उसे वंशावलीका अथवा किसी दूसरे प्राचीन ग्रन्थकारका पूर्व आधार अवश्य रहा होगा। अतएव, ऐसी दशामें,

पहले हमने जो कल्पना की है वही सम्भव दिखाई पड़ती है। गर्गने यह लिखा होगा कि उसके समयके (अर्थात् शक पूर्व) किसी प्रसिद्ध राजातक युधिष्ठिरको हुए २५२६ वर्ष बीत चुके। और, हज़ार वर्षके बाद वराहमिहिरको, भूलसे, यह भ्रम हो गया कि वह शक-काल ही है, जिसके कारण उसे गर्गका वर्णन समझकर उसने यह शक-कालयुक्त युधिष्ठिरका समय बतलाया होगा। चाहे बात जो हो, अन्य ज्योतिषियोंके मतके विरुद्ध और विशेषतः स्वयं महाभारतके वचनके विरुद्ध अकेले वराहमिहिरके वचनको मान्यता नहीं दी जा सकती।

पुराणोंमें दी हुई पीढ़ियाँ भ्रमपूर्ण हैं।

अब हम भारतीय-युद्धके समयके सम्बन्धमें बतलाये हुए तीसरे मत पर विचार करेंगे। महाभारतके वचनके अनुकूल कलियुगके आरम्भमें भारतीय-युद्धका होना मानकर, राजाओंकी वंशावली अथवा प्राचीन प्रचलित परम्पराके आधार पर, सब ज्योतिषियोंने सन् ईसवीके पहले ३१०१ वर्षको भारतीय-युद्धका समय बतलाया है। इस समयकी पुष्टिमें मेगास्थिनीज़ द्वारा बतलाई हुई पीढ़ियोंसे और भी अधिक दृढ़ प्रमाण मिलता है। परन्तु वर्तमान समयके बहुतेरे विद्वानोंने, उस समयके विरुद्ध, भारतीय-युद्धका समय ईसवी सन्के लगभग १४०० वर्ष पहले बतलाया है। अब हम इसीका विचार करेंगे। कुछ पाश्चात्य विद्वान् उस समयको इससे भी अर्वाचीन कालकी ओर घसीटते हैं, परन्तु दोनोंका मूल आधार एक ही है। इस समयको निश्चित करनेके लिये मुख्यतः विष्णुपुराणके आधार पर प्रयत्न किया गया है। इस पुराणमें कहा गया है कि—"महानंदिकी शूद्रा रानीसे उत्पन्न महापद्मनन्द नामक पुत्र परशुरामकी नाईं सब क्षत्रियोंका नाश करेगा। उसके सुमाली आदि नामोंके ५ लड़के होंगे और वे महापद्मके बाद राज्य करेंगे। महापद्म और उसके आठ लड़के सौ वर्षोंतक राज्य करेंगे। इन नन्दोंको कौटिल्य नामक ब्राह्मण राज्य-भ्रष्ट करेगा और चन्द्रगुप्तको राज्यपर अभिषिक्त करेगा।" इसके आगे जो श्लोक है वह यह है:—

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्॥

इसी प्रकारका श्लोक भागवतमें भी है। परन्तु उसमें "शतं पंचदशोत्तरम्" पाठ है। इस श्लोकमें यह वर्णन है कि परीक्षितके जन्मसे नन्दके अभिषेकतक १०१५ वर्ष हुए। भागवतमें कहा गया है कि १११५ वर्ष हुए। परीक्षितका जन्म भारतीय-युद्धके अनन्तर ३-४ महीनोंमें ही हुआ था; अर्थात् परीक्षितके जन्मका और भारतीय-युद्धका समय बहुत करके एक ही है। भारतीय-युद्धसे नन्दोंतक १०१५ वर्ष और नौ नन्दोंके १०० वर्ष मिलाकर चन्द्रगुप्ततक १११५ वर्ष होते हैं। चन्द्रगुप्तका समय सन् ईसवीके ३१२ वर्ष पहले निश्चित किया गया है। इससे भारतीय-युद्धका समय सन् ईसवीके १११५ + ३१२ = १४२७ वर्ष पहले आता है। भागवतके मतानुसार इसमें १०० वर्ष और जोड़ना चाहिये; यानी भागवत्के मतानुसार यह समय सन् ईसवीके १५२७ वर्ष पहले होता है। हमारा मत है कि विष्णुपुराणमें बतलाया हुआ यह समय मानने योग्य नहीं है। ऊपर दिया हुआ वचन विष्णुपुराणके चौथे अंशके २४ वें अध्यायका है। परन्तु वह २३ वें अध्यायमें बतलाई हुई बातके विरुद्ध है। मगधमें जरासंध पाण्डवकालीन राजा था। जरासंधके

बाप बृहद्रथने इस वंशकी स्थापना की थी; इसलिये उसके वंशका "बार्हद्रथ वंश" नाम पड़ा। इस वंशकी गणना जरासंध-के पुत्र सहदेवसे आरम्भ की जाती है। यह भारतीय युद्धमें पाण्डवोंकी ओरसे लड़ता था। विष्णुपुराणके चौथे अंशके २३ वें अध्यायमें कहा गया है कि ये बार्हद्रथ-वंशी राजा मगधमें एक हज़ार वर्षों तक राज्य करेंगे। इसके बाद कहा गया है कि "प्रद्योत वंश" १३८ वर्षोंतक राज्य करेगा। इसके बाद "शिशुनाग वंश" ३६२ वर्ष राज्य करेगा। अर्थात्, महापद्म-नन्द और उसके आठ पुत्रोंके पहले, सहदेवके समयसे, १०००+१३८+३६२= १५०० वर्ष होते हैं। तो फिर २४वें अध्याय-में जो यह कहा गया है कि भारतीय युद्ध-से १०१५ वर्ष होते हैं, उसका क्या अर्थ है? इसलिये विष्णुपुराणके २४ वें अध्यायका उक्त वचन बिलकुल मानने योग्य नहीं है।

दूसरी बात यह है कि पुराणोंमें भविष्यरूपसे जो बातें बतलाई गई हैं, उनमें एक बड़ा दोष है। पुराणकारोंने विस्तारपूर्वक इस प्रकारका भविष्य लिखा है कि अमुक वंशका अमुक राजा इतने वर्षोंतक राज्य करेगा। यह भविष्य उस वंशके हो जानेके बाद लिखा गया होगा। प्रायः सब पुराणोंमें इस प्रकारका भविष्य बतलाया गया है। पुराण बहुधा परीक्षित तथा जनमेजयको सुनाये गये थे। इसलिये परीक्षितके समयसे जिस समयतक पुराणोंकी रचना हुई होगी, उस समयतककी वंशावली उनमें बहुधा भविष्यरूपसे बतलाई गई होगी। इस भविष्य-वर्णनमें राजाओंकी पीढ़ियाँ, उनके नाम, उनके राज्य-कालकी वर्ष-संख्या और समग्र वंशकी वर्ष-संख्या दी गई है। इससे, कमसे कम, इतना तो निश्चयपूर्वक सिद्ध होता है, कि हमारे पूर्व-कथनानुसार प्रत्येक देशमें राजवंशावली साव-धानीसे लिखी जाती थी। पुराणोंके हाल-के स्वरूपका समय सन् ईसवीके बाद तीन चार शतकोंसे आठवें शतकतक है, क्योंकि कुछ पुराणोंमें आन्ध्रभृत्य वंशतक-की बातें और कुछमें काकटीय यवनतक-की बातें दी हुई हैं। इन वंशोंके सम्बन्ध की बातें प्रायः सब पुराणोंमें एक समान हैं। जिस समय ये पुराण आजकलके स्वरूपमें आये, उस समय ये भविष्य-सम्बन्धी अध्याय जोड़ दिये गये; परन्तु यह स्पष्ट कहना पड़ता है कि इन वंशा-ध्याय जोड़नेवालोंको इन वंशोंके सम्बन्ध-की बातें अच्छी तरहसे मालूम न थीं। मालूम होता है कि पुराणकारोंको प्रद्योत वंशसे मगधका इतिहास अच्छे विश्वस-नीय रूपसे मिल गया था; परन्तु उसके पहलेका इतिहास तथा पहलेकी वंशावली विश्वसनीय रूपसे नहीं मिली। उन्होंने प्रद्योत वंशके पहले केवल एक बार्हद्रथ वंशका उल्लेख किया है और उसकी वर्ष-संख्या १००० वर्ष रख दी है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि उत्तरकालीन पुराणकारोंको प्रद्योत वंशके पहलेकी बातें मालूम न हो सकीं। इसी कारणसे उनकी दी हुई बातोंमें और चन्द्रगुप्तके समयमें मेगास्थिनीज़के द्वारा बतलाई हुई बातोंमें आकाश-पातालका अन्तर पड़ गया है। प्रद्योत-वंशसे उत्तरकालीन वंशोंके सम्बन्धकी बातें बौद्ध-ग्रन्थोंमें भी पाई जाती थीं। बल्कि, पार्गिटर साहब-का कथन है कि, ये बातें पुराणोंमें बौद्ध-ग्रन्थोंसे ही ली गई हैं। चाहे ये बातें कहींसे ली गई हों, परन्तु प्रद्योत वंश-के पहलेकी बातें विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि उनकी वर्ष-संख्या अन्दाज़से १००० रख दी गई है। हमारा अनुमान है कि इस समयके सम्बन्धकी बातें पुराण-

कारोंके समयमें नष्ट हो गई होंगी। पहलेके राजाओंकी वंशावली, चन्द्रगुप्तके दरबारमें रहनेवाले मेगास्थिनीज़के समयमें, थी। परन्तु सन् ४०० ईसवीके लगभग, जब पुराणकारोंने पुराणोंकी पुनः रचना आरम्भ की, उस समय इन वंशावलियोंके सम्बन्धकी बातें नष्ट हो गई थीं। ऐसा क्यों हुआ ? इसका मुख्य कारण यही मालूम होता है कि चन्द्रगुप्तके समयके बाद शूद्र वंश राज्य करने लगा और सनातन धर्म क्षीण होकर अशोकके समयसे बौद्ध धर्मका भी प्रसार और विजय हो गया। आन्ध्रभृत्य भी शूद्र राजा थे। शूद्र राजाओंमें प्राचीन क्षत्रिय राजाओंकी वंशावलीको हिफ़ाजतसे रखनेकी इच्छाका न होना स्वाभाविक बात है। बौद्ध राजाओंकी दृष्टिमें तो सनातन-धर्मी क्षत्रिय राजाओंकी कुछ क़ीमत ही न रही होगी। बौद्ध और जैन लोगोंमें वर्ण-विभागका लोप हो जानेके कारण और वर्ण-विभागका द्वेष रहनेके कारण, क्षत्रियोंकी कथाओंको नष्टकर, भिन्न प्राचीन कथाओंकी सृष्टि करनेका उन लोगोंने दृढ़ प्रयत्न किया था। इस कारणसे बुद्ध और जैन महावीरके पहलेके राजवंशोंकी वंशावलियोंका महत्त्व नष्ट हो गया और उनकी ओर दुर्लक्ष किया गया। अन्तमें ये वंशावलियाँ प्रायः नष्ट हो गईं और इसी कारण पुराणकारोंने बार्हद्रथ वंशका समय अनुमानसे १००० वर्ष रख दिया है। ये पुराणकार प्रायः बुद्धिहीन थे, क्योंकि विष्णुपुराणमें भी कहा गया है कि—"परीक्षितके जन्मके समय जब सप्तर्षि मघामें थे, उस समय कलियुगका आरम्भ हुआ। इसमें १२०० दिव्य वर्ष हैं।" इससे पुराणकारोंका यही विचार पाया जाता है कि, भारतीय युद्धके समयसे ही कलियुगका आरम्भ हुआ है और कलियुगमें १२०० दिव्य वर्ष होते हैं। फिर यह आश्चर्यकी बात है कि, कलियुग लगे कितने वर्ष हुए, इस विषयमें सब ज्योतिषियोंके द्वारा निश्चित किया हुआ समय उन्हें नहीं मालूम था। यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ये नये पुराणकार और भारतीय ज्योतिषी एक ही समयमें, अर्थात् सन् ईसवीके पहले ४०० से ८०० तक, हुए। इससे मालूम होता है कि एक ही समयके इन पुराणकारोंको बहुत कम बातें मालूम थीं। अस्तु। सब बातोंको देखकर हमें यही कहना पड़ता है कि विष्णुपुराण और भागवतपुराणमें बतलाई हुई पीढ़ियों और वर्षोंका प्रमाण, मेगास्थिनीज़के प्रमाणके सामने, मानने योग्य नहीं है।

मेगास्थिनीज़ और पुराणकार।

इस विषयका अधिक विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक है कि मेगास्थिनीज़के द्वारा लिखी हुई बातें अधिक विश्वसनीय हैं। पहले हम इस बातका विचार करेंगे कि मेगास्थिनीज़ने कौन कौन सी बातें लिख छोड़ी हैं और उनपर क्या क्या आक्षेप किये जा सकते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि मेगास्थनीज़का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नष्ट हो गया है। यदि वह रहता तो हमें राजा लोगोंके नाम और वर्ष भी ब्योरेवार लिखे हुए मिलते। बैबिलोनमें बेरोससके द्वारा और ईजिप्टमें मेनेथोके द्वारा तैयार की हुई वंशावली आजतक प्रसिद्ध रहनेके कारण, जिस तरहसे उन देशोंके इतिहासको सहायता पहुँचाती है, उसी तरहसे यदि मेगास्थिनीज़के द्वारा लिखी हुई वंशावली इस समय हमारे सामने रहती तो हमें कोई शङ्का न रह जाती। उसका ग्रन्थ नष्ट हो जानेसे दो तीन इतिहास-लेखकोंने उसके ग्रन्थसे जो अवतरण लिये हैं, उन्हें हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

प्लिनीके द्वारा लिया हुआ अवतरण।

"बॅकसके समयसे अलेक्ज़ेंडरतक १५४ राजाओंकी गणना है और उनके राज्यकालकी अवधि ६४५१ वर्ष और ३ महीने है।"

अरायनके ग्रन्थमेंका अवतरण।

"हिन्दुस्थानके लोग डायानिसॉस (बकॅस) के समयसे सॅड्रकोटस (चन्द्रगुप्त) तक १५३ राजा और ६०४२ वर्षोंकी अवधिका होना मानते हैं: परन्तु इस अवधिमें तीन बार लोकसत्तात्मक राज्य स्थापित हुआ...दूसरी बार ३०० वर्षोंतक और एक बार १२० वर्षोंतक। हिन्दुस्थानके लोग कहते हैं कि डायानिसॉस हिराक्लीज़से १५ पीढ़ियोंके पहले हुआ था।"

ऊपरके अवतरणोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि ईजिप्ट और बैबिलोन देशोंमें ग्रीक लोगोंको मिली हुई बातोंकी ही तरह ये बातें भी राजाओंके राज्यकालकी वर्ष-संख्या सहित ब्योरेवार थीं। इनमें महीनोंतकका निश्चित अङ्क दिया हुआ है। ऊपरके दोनों अवतरणोंमें वर्षोंकी संख्यामें यद्यपि थोड़ा सा फरक है, तथापि वह महत्त्वका नहीं है और जो लोकसत्ताक राज्य स्थापित होनेकी बात कही गई है, उसे बहुधा अराजक-काल समझना चाहिये।

महाभारतमें अथवा अन्य पूर्वकालीन ग्रन्थोंमें प्राचीन राजाओंका राज्य वर्ष-संख्या-सहित उल्लेख कहीं नहीं है। इससे यह पाया जाता है कि चन्द्रगुप्तके समयमें प्राचीन राजाओंकी राज्य-वर्ष-संख्या-सहित अलग वंशावली रही होगी: और इन बातोंको मेगास्थिनीज़ने उसके आधारपर लिखा होगा। हम पहले बतला चुके हैं कि महाभारतको अन्तिम रूप मेगास्थिनीज़के बाद मिला। इससे यह बात ध्यानमें आ जायगी कि ये बातें कितनी पुरानी हैं। हम पहले बतला चुके हैं कि इस अवतरणमें बतलाया हुआ हिराक्लीजका श्रीकृष्ण होना सर्वमान्य है; परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता कि डायानिसॉस कौन है। तथापि यह कहा जा सकता है कि उसे दाक्षायण मनु मान लेने पर, उसके समयसे महाभारत और हरिवंशमें बतलाये हुए श्रीकृष्ण तक १५ पीढ़ियाँ होती हैं (आदि० अ० ७५)। इसलिये कहा जा सकता है कि मेगास्थिनीज़की बतलाई हुई बातके लिये यह एक और नया सहायक प्रमाण मिलता है।

श्रीकृष्णकी वंशावली हरिवंशमें तो दी ही हुई है; परन्तु वह एक जगह महाभारतमें भी दी हुई है, जिससे मालूम होता है कि दक्षसे श्रीकृष्ण १५वाँ पुरुष है। यह वंशावली अनुशासन पर्वके १४७ वें अध्यायमें दी गई है जो इस तरह है— १ दक्ष-कन्या दाक्षायणी। २ (विवस्वान्) आदित्य—३ मनु—४ इला—५ पुरूरवा—६ आयु—७ नहुष—८ ययाति—९ यदु—१० क्रोष्टा—११ वृजिनीवान्—१२ उषंगु—१३ शूर—१४ वसुदेव—१५ श्रीकृष्ण। इनमेंसे वृजिनीवान् और उषंगु ये नाम हरिवंशमें नहीं हैं। उनके बदले देवमीढुष नाम है। आदि पर्वके ७६ वें अध्यायके आरम्भमें ययाति प्रजापतिसे १०वाँ पुरुष बतलाया गया है। उसे स्वयं ब्रह्मदेवसे मानना चाहिये। ब्रह्मदेवसे प्रचेताः और उससे दक्ष प्राचेतस हुए। दक्षका प्रजापति नाम होनेके कारण यहाँ ऐसा संशय उत्पन्न होता है। इसके आधार पर भी यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि मेगास्थिनीज़को असली बातोंका ज्ञान महाभारतकालीन पण्डितोंके द्वारा हुआ था। इस कारणसे उसकी बतलाई हुई

१५३ पीढ़ियाँ, पुराणोंकी अन्तिम आवृत्तिमें दी हुई पीढ़ियोंसे, अधिक विश्वसनीय हैं।

मेगास्थिनीज़की बतलाई हुई बातोंके विरुद्ध यह आक्षेप हो सकता है कि पीढ़ियोंकी संख्याके परिणामसे वर्ष-संख्या बहुत अधिक है। हम पहले कह चुके हैं कि समस्त संसारके इतिहासके आधार पर यह हिसाब लगाया गया है कि राजाओंकी प्रत्येक पीढ़ीके लिये २० वर्ष लगते हैं। तब प्रश्न है कि १५३ पीढ़ियोंके लिये ३०६० वर्षके बदले ६०४२ वर्ष कैसे दिये गये हैं? परन्तु हमें दूसरे देशोंकी राजवंशावलियोंके उदाहरणोंके आधार पर यह देखना चाहिये कि आर्य लोगोंके सम्बन्धमें मेगास्थिनीज़की बातें कैसी विश्वसनीय हैं। हमें मालूम होगा कि प्रत्येक देशमें मानवी राजाओंके होनेके पहले थोड़े बहुत देवांश राजा मान लिये जाया करते हैं; और ऐसे राजाओंकी वर्ष-संख्या अधिक हुआ करती थी। मेनेथोके द्वारा संशोधित ईजिप्ट देशकी राजवंशावलीमें मानवी राजा मेनिससे आरम्भ होते हैं। उसके पहले देवांश राजा थे। उसने लिखा है कि इसके बाद कोई देवांश राजा नहीं हुआ। हमारे यहाँ भी श्रीकृष्णके ईश्वरी अवतारके हो जानेके बाद कलियुगका प्रारम्भ हुआ। अर्थात्, श्रीकृष्णके बाद कोई ईश्वरी अंशवाला राजा नहीं हुआ। हिराक्लीज अथवा श्रीकृष्णतक १५ पीढ़ियोंको घटाकर शेष १३८ पीढ़ियोंको मानवी राजाओंकी समझना चाहिये और इन राजाओंके राज्य-वर्षोंका समय २० वर्ष ही लेकर हमने इनका समय २७६० वर्ष ठहराया है। ६०४२ वर्षोंमें इस समयको घटा देने पर ३२८२ वर्ष बच जाते हैं। इन शेष वर्षोंको १५ पीढ़ियोंका समय मान लेने पर प्रत्येक पीढ़ीके लिये २०२ वर्ष पड़ते हैं। यह वर्ष कुछ अधिक नहीं है। महाभारतमें दिये हुए वर्णनसे मालूम हो सकता है कि वसुदेवकी उम्र कितनी थी। अन्य देशोंके इतिहासको देखनेसे भी यह वर्ष-संख्या बड़ी नहीं मालूम होती। यह वर्णन पाया जाता है कि ईजिप्ट और खाल्डिया देशोंके देवांश राजाओंने बहुत वर्षोंतक राज्य किया। ज्यू लोगोंकी वंशावलीको लीजिये। यह अधिक विश्वसनीय और सावधानतापूर्वक सुरक्षित है। इसमें भी मोजिस नामक मानवी राजाके पहलेके प्रजापति (पेट्रियार्क) की वर्ष-मर्यादा बहुत ही बड़ी है। पहले भागमें अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्तिसे जलप्रलयतक अथवा आदमसे नोआतक ११ पुरुषोंके २२६२ वर्ष बतलाये गये हैं, अर्थात् प्रत्येक पीढ़ीके लिये लगभग दो सौ वर्ष पड़ते हैं। दूसरे भागमें शेमसे अब्राहमतक ११ पुरुषोंके लिये १३१० वर्ष माने गये हैं, अर्थात् प्रत्येक पीढ़ीके लिये ११० वर्ष होते हैं। और तीसरे भागमें मोजिससे सालोमनतक १२ पीढ़ियोंके ४०८ वर्ष बतलाये गये हैं। ये मानवी प्रमाणके अनुसार हैं। सारांश, अन्य देशोंकी तुलनासे हम स्पष्ट कह सकते हैं कि मेगास्थिनीज़ने जो बात लिखी है वह बिलकुल सम्भव है। १५३ पीढ़ियोंका उल्लेख उसने तत्कालीन लेखोंके प्रमाण पर किया है और हिन्दुस्थानका ऐतिहासिक काल सन् ईसवीके पहले ३१०१ वर्ष निश्चित होता है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। ईजिप्टमें पहला मानवी राजा सन् ईसवीके पहले ३३७० वें वर्षमें राज्य करने लगा था। ईजिप्टमें सबसे बड़ा पिरामिड स्तम्भ सन् ईसवीके पहले २५०० वें वर्षमें बनाया गया। चीनका पहला मानवी राजा सन् ईसवीके पहले २०८५ वें वर्षमें गद्दी पर बैठा। इन

प्राचीन देशोंके इतिहासके उदाहरणसे सिद्ध होता है कि यदि हिन्दुस्थानमें भारतीय आर्योंके पहले ऐतिहासिक राजा पाण्डव तथा श्रीकृष्ण सन् ईसवीके पहले ३१०१ वर्षमें राज्य करते थे, तो इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है।

मेगास्थिनीज़की बातों पर दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि जिस अवधिमें श्रीकृष्णतक १५ पीढ़ियाँ होती हैं, उसी अवधिमें मनुसे पाण्डवोंतक महाभारतमें ३५ पीढ़ियाँ दी हुई हैं। परन्तु इसमें भी आश्चर्य करने योग्य कोई बात नहीं है, क्योंकि ये पीढ़ियाँ कलियुगके पहलेके राजाओंकी हैं, और उनकी वर्ष-संख्या भी बहुत बड़ी मानी गई है। ये राजा द्वापरके और उसके भी पहलेके थे; अतएव उनकी भिन्न भिन्न शाखाओंमें १५ और ३५ पीढ़ियोंका होना सम्भव है। अकेले भीष्मके सामने विचित्रवीर्य, पाण्डु और युधिष्ठिरादि पाण्डवकी तीन पीढ़ियाँ हो गई थीं। अर्थात्, बड़ी आयुर्मर्यादावालेकी शाखामें कम पीढ़ियोंका होना सम्भव है। मानवी पीढ़ियोंके शुरू होने पर हमने जो १३८ पीढ़ियाँ ली हैं, उनकी भिन्न भिन्न शाखाओंमें दीर्घायुषी और अल्पायुषी राजाओंकी एकत्र वर्ष-संख्यामें सरसरी तौरसे प्रत्येकके लिये २० वर्ष रखना ही ठीक होगा। इन सब बातोंका विचार करने पर यही मानना चाहिये कि चन्द्रगुप्तके समयमें मेगास्थिनीज़को हिन्दुस्थानमें जो बातें मालूम हुईं, वे अत्यन्त पुरानी और विश्वसनीय हैं।

पुराणोंमें बतलाई हुई पीढ़ियोंकी दशा इससे उलटी है। पहले कहे अनुसार पुराणोंकी बातें अत्यन्त अर्वाचीन अर्थात् सन् ४०० ईसवीके लगभगकी हैं, यानी मेगास्थिनीज़के सात-आठ सौ वर्षोंके बादकी हैं। इस अवधिमें शूद्र, बौद्ध और यवन राजाओंके होनेके कारण प्राचीन क्षत्रियोंकी वंशावलियाँ नष्ट हो गई होंगी। इन लोगोंका और इनके धर्मोंका, जाति-प्रथाके विरुद्ध, कटाक्ष रहनेके कारण क्षत्रियोंकी वंशावलियोंको सुरक्षित रखनेवाले सूत, पुराणिक आदिका, इस अवधिमें नाश हो गया होगा। अर्थात्, पुराणोंमें बतलाई हुई पीढ़ियों और वर्ष-संख्याकी बातें सब अंदाज़से दी गई होंगी, बल्कि बौद्ध और जैन लोगोंके मतोंके आधार पर लिखी हुई होंगी। कारण यह है कि बुद्धके समयसे अथवा जिन महावीरके समयसे और इनके थोड़े समयके पहले जो राजा हो गये, उनके नाम और वर्ष-संख्याएं पुराणोंमें अधिकांशमें सम्भव एवं मिलती हुई दी गई हैं; और इससे पूर्वकालकी बातें केवल काल्पनिक मालूम होती हैं। इसी विषयका विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक है।

पुराणोंमें ये सब वर्णन भविष्यरूपसे दिये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये वर्णन उन राजाओंके हो जानेके बादके हैं। उनमें वर्ष-संख्यातक दी हुई मिलती है। इससे भी यह निर्विवाद है कि ये उन राजाओंके बादके हैं। इस रीतिसे विचार करने पर मालूम होता है कि प्रथम आंध्रांततक स्वकीय राज्य-संख्या दी हुई है। उसके बाद यवन आदि पर-राजाओंका एकत्र समय बतला देनेसे सब गड़बड़ी हो गई है। तथापि हम बार्हद्रथ वंशका अधिक विचार करेंगे, क्योंकि इसके बाद मगधमें होनेवाले वंशोंका हाल बौद्ध ग्रन्थोंसे भी मिल सकता है। यह हाल वायु पुराणमें अधिक विस्तारपूर्वक इस तरह दिया गया है। प्रद्योत वंशके पाँच राजा हुए। विष्णुपुराणमें उनकी वर्ष संख्या १३८ है। परन्तु प्रत्येक राजाकी भी वर्ष-संख्या दी गई है जिनका

जोड़ १४८ होता है। इसी तरह इसके आगे शिशुनाग वंशके दस राजाओंके ३६२ वर्षतक राज्य करनेकी बात कही गई है। परन्तु राजाओंके नाम और भिन्न भिन्न वर्ष-संख्याएँ दी गई हैं जिनका जोड़ ३३४ होता है। इस ओर दुर्लक्ष करके हम इसके पहलेके बार्हद्रथ वंशका विचार करेंगे। पुराणोंका—प्रायः सब पुराणोंका—मत है कि यह वंश एक हजार वर्षोंतक राज्य करेगा।

द्वात्रिंशच्च नृपा ह्येते भवितारो बृहद्रथात्।
पूर्णं वर्षसहस्रं वै तेषां राज्यं भविष्यति॥

इस वर्णनमें दिया हुआ एक हजार-का स्थूल-अंक ही संशय उत्पन्न करता है। यह अनुमान होता है कि सच्चा हाल मालूम न रहने पर स्थूल अंक रख दिया गया है। दूसरी बात यह है कि एक ही वंश हजार वर्षोंतक नहीं चल सकता। यह बात ऐतिहासिक अनुभवके विरुद्ध है। इस बातको भी ध्यानमें रखना चाहिये कि ये वर्ष कलियुगके मानवी वंशोंके हैं। बार्हद्रथके बाद पांच सौ वर्षोंकी अवधिमें दो वंश हो गये। (दोनों वंशोंको मिलानेसे १३८+३६२ जोड़ ५०० ही होता है।) यह भी स्थूल अंक है। उसके बाद १०० वर्षोंमें नन्द हुए। यह अंक भी स्थूल है। अस्तु; हमें ब्योरेवार यह देखना चाहिये कि बार्हद्रथ वंशका जो विस्तृत हाल दिया गया है, वह कैसा है। बृहद्रथसे भारतीय-युद्ध-कालीन सहदेव नामक राजातक वायु पुराणमें ये दस राजा बतलाये गये हैं:—(१) बृहद्रथ (२) कुशाग्र (३) ऋषभ (४) पुण्यवान् (५) विक्रान्त (६) सुधन्वा (७) ऊर्ज (८) नभस् (९) जरासंध (१०) सहदेव। यहाँ बृहद्रथसे जरासंध नवाँ है। परन्तु "प्रथमग्रासे मक्षिका पातः" कीसी बात तो यह है, कि महाभारतमें जरासंधको बृहद्रथका अव्यवहित पुत्र बतलाया गया है। (सभा० अ० १७) इससे यह कल्पना हो सकेगी कि इन पुराणोंकी बातें कितनी भूलसे भरी हैं। बृहद्रथ और जरासंधके बीचके राजाओंके नाम काल्पनिक मालूम होते हैं। इनकी राज्य-वर्ष-संख्या नहीं दी गई है। अब हम वायुपुराणमें बतलाये हुए आगेके राजाओंके नाम और वर्षसंख्या पर विचार करेंगे। वे इस तरह हैं:—

(११) सोमापि	५८ वर्ष।
(१२) श्रुतश्रवा	६४ व०
(१३) अयुतायु	२६ व०
(१४) निरामित्र	१०० व०
(१५) सुक्षत्र	५६ व०
(१६) बृहत्कर्मा	२३ व०
(१७) सेनाजित्	२३ व०
(१८) श्रुतंजय	४० व०
(१९) महाबाहु	३५ व०
(२०) शुचि	५८ व०
(२१) क्षेम	२८ व०
(२२) भुवत	६४ व०
(२३) धर्मनेत्र	५ व०
(२४) नृपति	५८ व०
(२५) सुव्रत	३८ व०
(२६) दृढ़सेन	५८ व०
(२७) सुमति	३३ व०
(२८) सुचल	२२ व०
(२९) सुनेत्र	४० व०
(३०) सत्यजित्	८३ व०
(३१) वीरजित्	३५ व०
(३२) अरिंजय	५० व०
कुल	९९७ वर्ष।

यह तफसीलवार फेहरिस्त जान-बूझ-कर यहाँ दी गई है जिससे मालूम होगा कि भारती-युद्धके बादके ही २२ राजाओंके *समयका जोड़ ९९७ वर्ष आता है। फिर* ३२ राजाओंका जोड़ एक हज़ार वर्ष कैसे

आ सकता है ? इस फेहरिस्तमें कितने ही राजाओंके नाम काल्पनिक और १०० आदि राज्य-वर्ष-संख्या भी काल्पनिक है। किंबहुना, "छितीयग्रासेऽपि मक्षिकापातः" के न्यायसे देख पड़ेगा कि महाभारतमें सहदेवके लड़केका नाम मेघसन्धि है (अश्व० अ० ८२) सोमापि नहीं, जैसा कि ऊपर कहा गया है। कहनेका तात्पर्य यही है कि सब दृष्टियोंसे विचार करने पर प्रद्योत वंशके पहलेके बार्हद्रथ-वंश सम्बन्धी पुराणोंकी बातें केवल काल्पनिक मालूम होती हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि, यदि बार्हद्रथ-वंश सम्बन्धी दी हुई कच्ची बातोंको निराधार मान लें, तो

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्॥

इस श्लोकमें समष्टि रूपसे दी हुई बातको क्यों नहीं मानना चाहिये ? परन्तु हमारा कथन है कि बिना जाँच किये और तफसील दिये ऐसे अंकको माननेके लिये कोई आधार नहीं है। वर्षोंके हिसाब लगानेकी कोई दन्तकथा नहीं बतलाई जाती। इसका मूल आधार पीढ़ियाँ ही होनी चाहियें। ऊपर बतलाया जा चुका है कि फुटकर वंशोंका कुल जोड़ १८०० वर्ष होता है। हर एक मनुष्य कहेगा कि २२ बार्हद्रथ, ५ प्रद्योत, १० शिशुनाग और ६ नन्द मिलाकर ४६ पीढ़ियोंके लिये १११५ अथवा १००६ वर्ष कुछ अधिक नहीं होते। परन्तु, सन् ईसवीके लगभग ५०० वर्षोंके बाद, भविष्य रूपसे यह बतलानेवाले पुराणकारोंका कथन क्या सच मान लिया जाय, कि प्रद्योत वंशके पहले भारतीय युद्धतक एक ही बार्हद्रथ वंश था ? अथवा सन् ईसवीके लगभग ३०० वर्ष पहले यहाँ आकर, तत्कालीन प्रचलित वंशावलीको सावधानीसे देखकर लिखनेवाले मिगास्थिनीजका यह कथन अधिक विश्वसनीय समझा जाय, कि भारतीय-युद्धसे चन्द्रगुप्ततक १३८ पीढ़ियाँ हो गईं ? हमारा मत है कि कोई आधार-भूत बात या प्रमाण जितना अधिक प्राचीन या पूर्वकालीन हो, उतना ही अधिक विश्वसनीय वह माना जाना चाहिये। पूर्व पूर्व बातोंकी परंपरासे देखने पर पुराणोंका स्थान अन्तिम है। उनके पहले मेगास्थिनीजको और उसके भी पहले वेदांगोंको स्थान देना चाहिये। स्वयं दीक्षितने निश्चित किया है कि वेदांग ज्योतिषका समय सन् ईसवीके लगभग १४०० वर्ष पहले है। उनकी यह बात पुराणोंके विरुद्ध होती है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि भारतीय युद्ध वेदांगज्योतिषके बहुत वर्ष पहले हुआ है। परन्तु इससे भी पहलेका प्रमाण, अर्थात् सामान्यतः समस्त भरतखण्डमें मान्य समझे जानेवाले भारतीय युद्धका सन् ईसवीके ३१०१ वर्ष पहलेका समय हमें उपलब्ध हुआ है; और इससे भी मेगास्थिनीजकी बातोंकी विश्वसनीयता अधिक सिद्ध होती है। इसलिये अब उस प्रमाणकी ओर ध्यान देना चाहिये।

वैदिक साहित्यका प्रमाण।

हम यहाँ विस्तारपूर्वक बतलावेंगे कि मेगास्थिनीजकी बातोंके विशेष विश्वसनीय होनेके सम्बन्धमें वैदिक साहित्यसे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और सबल प्रमाणका साधन कैसे मिल सकता है। ऋग्वेदके मंत्रोंकी जाँच करने पर मालूम होता है कि ऋग्वेदमें भारतीय युद्धका कहीं उल्लेख नहीं है; परन्तु भाग्यवश उसमें भारतीय योद्धाओंके पूर्वजोंका एक महत्वपूर्ण उल्लेख पाया जाता है। भीष्म और विचित्रवीर्यके बाप शंतनुका देवापि नामक एक भाई था। यह देवापि शंतनुके

बड़ा था। विरक्त होनेके कारण राज्यका अपना हक छोड़कर वह जङ्गलको निकल गया था। महाभारतके आदि पर्वके ७५ वें अध्यायमें भी यह बात स्पष्ट रीतिसे बतलाई गई है।

देवापिः खलु बाल एव अरण्यं विवेश।
शंतनुस्तु महीपालो बभूव॥

ऋग्वेदके "बृहद्देवता" ग्रन्थमें यही बात बतलाई गई है। वह श्लोक इस प्रकार है:—

आर्ष्टिषेणश्च देवापिः कौरव्यश्चैवशंतनुः।
भ्रातरौ राजपुत्रौ च कौरवेषु बभूवतुः॥

"आर्ष्टिषेण देवापि, और कौरव्य शंतनु दोनों भाई, राजपुत्र थे। उनका जन्म कौरव वंशमें हुआ।" देवापिको "आर्ष्टिषेण" इसलिये कहा है कि वह ऋष्टिषेण ऋषिका शिष्य हो गया था। देवापि बड़ा तपस्वी था। ऐसी एक कथा है कि एक बार शंतनुके राज्यमें अनावृष्टि हो गई थी और उस समय शंतनुके लिये पर्जन्यकी स्तुति करके देवापिने वर्षा करवाई थी। इस अवसर पर आर्ष्टिषेण देवापिने जो सूक्त बनाया वह ऋग्वेदके दसवें मंडलमें ग्रथित किया गया है। ऐसी समझ है कि इस दसवें मंडलमें, अनेक ऋषियोंके छोटे छोटे अलग अलग सूक्त हैं। खैर, देवापिकी कथासे अनुमान होता है कि भारतीय युद्ध ऋग्वेदके अनन्तर १०० वर्षोंके भीतर हुआ। कारण यह है कि देवापिका भाई शंतनु, शंतनुके पुत्र भीष्म और विचित्रवीर्य तथा विचित्रवीर्यके पुत्र धृतराष्ट्र और पांडु थे; और युद्धके समय भीष्म बुड्ढे हो गये थे, परन्तु जीवित थे। इस तरहसे पार्गिटर साहबने इस बातको सबसे पहले संसारके सन्मुख प्रकट किया है, कि भारतीय-युद्धका मेल ऋग्वेदके समयसे होता है। हमें भी पार्गिटर साहबका यह सिद्धान्त मान्य है। यही नहीं, किन्तु इस बातका समर्थन करनेवाली एक दूसरी बात हमें मिली है। महाभारतमें पांचालोंको बार बार "सोमकाः" कहा है। द्रोणने अश्वत्थामाको "पांचालों पर आक्रमण करो" कहते समय कहा है कि:—

सोमका न प्रमोक्तव्या जीवितं परिरक्षता।

"अपने प्राणोंकी रक्षा करके सोमकोंको छोड़ मत देना।" एक स्थान पर द्रुपद राजाको भी सोमककी संज्ञा दी हुई है। बहुत दिनोंतक इस बालका पता नहीं लगता था कि ये सोमक कौन थे। परन्तु वैदिक इन्डेक्सके आधार पर मालूम हुआ कि ऋग्वेदमें "सोमकः साहदेव्यः" कह कर सहदेव-पुत्र सोमकका उल्लेख एक सूक्तमें किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मणमें भी वर्णन पाया जाता है कि सहदेव-पुत्र सोमकने एक राजसूय यज्ञ किया था; और पर्वत तथा नारद ऋषियोंके कथनानुसार, विशिष्ट रीतिसे, सोमरस निकालनेके कारण उसकी अत्यन्त कीर्ति हुई थी। यह सोमक द्रुपदका पूर्वज था। हरिवंश (अ० ३२) में सहदेव, सोमक, जन्तु, पृषत् और द्रुपद, इस प्रकार पीढ़ी बतलाई गई है। इससे इस बातका कारण मालूम होगा कि महाभारतमें धृष्टद्युम्नको पार्षत और द्रौपदीको पार्षती क्यों कहा गया है। "साहदेव्यः सोमकः" ऐसा उल्लेख ऋग्वेदमें आया है। सोमक राजसूय करनेवाला बड़ा सम्राट् था, अतएव उसके वंशजोंको "सोमकाः" नाम मिला; और यह नाम भारतमें बार बार पाया जाता है। द्रुपद भारतीय युद्धमें था, इस बातसे भी यह मान लेनेमें कोई हर्ज नहीं कि, भारतीय युद्ध ऋग्वेदके अनन्तर चार पाँच पीढ़ियोंमें अर्थात् १००—१५० वर्षोंमें हुआ।

इससे हमारे अनुमानका पहला साधक प्रमेय सिद्ध हो गया जो कि इस

तरह है। पार्गिटर साहबके कथनानुसार भारतीय युद्ध ऋग्वेदके बाद १०० वर्षोंमें हुआ। अब हम अपने अनुमानका दूसरा साधक भाग बतलावेंगे। प्रो० मैक्डानल अपने संस्कृत साहित्यके इतिहास-सम्बन्धी ग्रन्थमें कहते हैं:—"महाभारतकी मूलभूत ऐतिहासिक कथा, कुरु और पांचाल नामक पड़ोस पड़ोसमें रहनेवाले, दो राजाओंके बीचमें होनेवाला युद्ध है। इस युद्धके कारण और बाद वे लोग एक हो गये। यजुर्वेदमें इन दोनों जातियोंका सम्मिलित होना लिखा है। काठक-ब्राह्मणमें धृतराष्ट्र वैचित्रवीर्य राजाका वर्णन वैसा ही किया गया है जैसा सब लोगोंको मालूम है। इससे कहना पड़ता है कि महाभारतमें बतलाया हुआ यह युद्ध अत्यन्त प्राचीन समयमें हुआ। यह समय ईसवी सन्‌के पहले, दसवीं सदीके इस पार नहीं हो सकता।" इस अवतरणसे विदित होगा कि भारतीय युद्ध-कालके सम्बन्धमें वैदिक साहित्यके प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानोंका क्या मत है। इस विचार-प्रणालीका एक भाग हमें मान्य नहीं है, परन्तु दूसरा भाग मान्य है। प्रोफेसर मैक्डानलने यजुर्वेदका समय सन् ईसवीके १००० वर्ष पूर्व रखा है। इस भागको छोड़कर उनके शेष मतको मान्य समझना चाहिये। यजुर्वेदमें कुरु-पांचालोंका एकत्र उल्लेख है और काठक-ब्राह्मणमें वैचित्रवीर्य धृतराष्ट्रका उल्लेख है। इससे यह अनुमान निश्चयपूर्वक निकलता है कि, भारतीय युद्ध यजुर्वेदके पहले अथवा काठक-ब्राह्मणके पहले हुआ। इसी अनुमानको हमारे मतानुसार दूसरी सहायता इस बातसे मिलती है, कि शुक्ल-यजुर्वेदके शतपथ-ब्राह्मणमें जनमेजय पारीक्षितका उल्लेख है। इससे यह सिद्ध है कि भारतीय युद्ध यजुर्वेदके और उसके अन्तर्गत ब्राह्मणोंके पहले हुआ; अलबत्ता यह मालूम नहीं होता कि वह कितने वर्षोंके पहले हुआ।

इस प्रकार हमारे अनुमानका पहला प्रमेय सिद्ध हो गया। हमारा पहला प्रमेय यह है कि भारतीय युद्ध ऋग्वेद-रचना-कालके अनन्तर १०० वर्षोंमें और यजुर्वेद तथा शतपथ ब्राह्मणके कुछ वर्षोंके पहले हुआ। अब यदि ऋग्वेद अथवा यजुर्वेदका समय ठहराया जा सके, तो भारतीय युद्धका समय सहजमें ही बतलाया जा सकता है। यही हमारा दूसरा प्रमेय है। इस प्रमेयके सम्बन्धमें पाश्चात्य विद्वानोंका और हमारा तीव्र मतभेद है। पार्गिटर साहब कहते हैं कि, ऋग्वेदके अन्तिम सूक्तको देवापिका और पहले सूक्तको विश्वामित्रका मान लेनेपर, देवापि और विश्वामित्रमें पीढ़ियोंके आधार पर ७०० वर्षोंका अन्तर दिखाई पड़ता है; और भारतीय युद्धके समयको सन् ईसवीके १००० वर्ष पहले मान लेने पर ऋग्वेदका समय सन् ईसवीके पूर्व १०००–१७०० वर्षोंतक पीछे चला जाता है। मालूम होता है कि इसमें प्रोफेसर मैक्डानलके मतका ही आधार लिया गया है; इसी लिये इन्होंने यजुर्वेदकी रचनाका समय सन ईसवीसे १००० वर्ष पूर्व माना है। पाश्चात्य पण्डितोंने वेदोंका जो यह रचना-काल निश्चित किया है उसका आधार क्या है? उनका और हमारा यहीं पर मतभेद होता है। पाश्चात्य पण्डित वैदिक साहित्यको बिलकुल अर्वाचीन कालकी ओर घसीटनेका प्रयत्न करते हैं और इस तरहसे वे भारतवर्षके प्राचीन-इतिहासकी सभी बातोंको अर्वाचीन कालकी ओर घसीटके रखनेकी भूल किया करते हैं। पार्गिटर और मैक्डानल के एक मतको मान्य करके हमारा पहला

प्रमेय सिद्ध हुआ है। वह यह है कि भारतीय-युद्ध ऋग्वेदके अनन्तर और यजुर्वेदके पहले, विशेषतः शतपथ-ब्राह्मणके पहले, हुआ। अब यदि हम निश्चयके साथ बतला सकें कि ऋग्वेदका, यजुर्वेदका अथवा शतपथ-ब्राह्मणका समय कौनसा है, तो भारतीय युद्धका समय निश्चय-पूर्वक बतलाया जा सकता है। ऋग्वेद और यजुर्वेदका समय निश्चित करनेमें थोड़ीसी अड़चन है। यह एक प्रसिद्ध बात है कि ऋग्वेदके भिन्न भिन्न सूक्त भिन्न भिन्न समयमें बनाये गये हैं। इसी प्रकार यजुर्वेदकी भी रचना कई शताब्दियोंतक होती रही है, क्योंकि ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें यजुर्वेदका उल्लेख है। खैर, यह बात निर्विवाद मालूम होती है कि शतपथ-ब्राह्मणके पहले ऋग्वेद सूक्तोंकी रचना पूरी हो गई थी और ऋग्वेदका एक निश्चित पूर्वापर-सम्बद्ध ग्रन्थ तैयार हो गया था। प्रोफेसर मैकडानल अपने पूर्वोक्त ग्रन्थके ४६वें पृष्ठ में कहते हैं, कि ब्राह्मण ग्रन्थोंकी ऋग्वेद-विषयक भिन्न भिन्न चर्चाओंसे ऐसा मालूम होता है कि, उस समय ऋग्वेदकी संहिता एक विशिष्ट रीतिसे स्थिरतापूर्वक निश्चित हो चुकी थी; यजुर्वेदके गद्य वचनोंके समान उसमें अनिश्चित-पन नहीं था। शतपथ-ब्राह्मणमें एक स्थान पर स्पष्ट कहा गया है कि— "यजुर्वेदके गद्य वचनोंका पाठ बदलना सम्भव है, परन्तु ऋग्वेदकी ऋचाओंका पाठ बदलना असम्भव है।" यही नहीं; किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें यह भी उल्लेख पाया जाता है कि ऋग्वेदके अमुक सूक्तमें इतनी ऋचाएँ हैं और इस समय भी ऋग्वेदमें उतनी ही ऋचाएँ मिलती हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थोंके समय समग्र ऋग्वेद ग्रन्थ सुबद्ध, निश्चित और सर्वमान्य श्रुति-ग्रन्थ समझा जाता था। यह जो धारणा प्रचलित है कि ऋग्वेदकी व्यवस्था करनेका काम व्यासने किया और ये व्यास भारतीय युद्धके समय थे, वह उक्त विधानके अनुकूल है। अर्थात्, ऋग्वेदके बाद भारतीय युद्ध १०० वर्षोंके अन्दर हुआ और भारतीय युद्धके बाद ब्राह्मण ग्रन्थ विशेषतः शतपथ-ब्राह्मण-ग्रन्थ तैयार हो गया। महाभारतसे भी ऐसा ही मालूम होता है कि शतपथ-ब्राह्मणकी रचना भारतीय युद्धके बाद हुई। आगे इस बातका उल्लेख किया ही जायगा कि शान्ति० अ० ३१८ में बतलाये अनुसार शतपथ ब्राह्मण और शुक्ल यजुर्वेदकी रचना याज्ञवल्क्यने कब और कैसे की। उससे महाभारत कालमें भी यही विचार लोगोंमें प्रचलित होना पाया जाता है कि शतपथ-ब्राह्मण भारती युद्धके बाद तैयार हुआ। अतएव, अब यहाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या शतपथ-ब्राह्मणका समय निश्चित किया जा सकता है?

कृत्तिकाका ठीक पूर्वमें उदय होना।

प्रोफेसर मैकडानलने ब्राह्मण-ग्रन्थोंका समय सन् ईसवीके पहले ८००–५०० तक बतलाया है। परन्तु यह समय अत्यन्त भीरुतासे अर्वाचीन कालकी ओर घसीटा हुआ है। प्रोफेसर मैकडानल ऋग्वेदको सन् ईसवीके पूर्व १५००–१००० वर्ष तकका बतलाते हैं; परन्तु प्रोफेसर जेकोबी सन् ईसवीके पूर्व ४००० वर्षोंतक पीछे जाते हैं। चाहे जो हो, शतपथ-ब्राह्मणके समयको अत्यन्त निश्चित रीतिसे स्थिर करनेके लिये एक प्रमाण मिल गया है। उसके आधारसे इस ग्रन्थका समय ईसवी सन्‌से पूर्व ३००० वर्ष ठहरता है। यह खोज हमारी की हुई नहीं है। इस खोजका

अथ शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितकी है जिसे उन्होंने भारतीय ज्योतिष-शास्त्र-सम्बन्धी अपने इतिहास-ग्रन्थमें दिया है। उन्होंने अँग्रेज़ीदाँ पाठकोंके सन्मुख भी अपनी इस खोजको "इण्डियन एन्टिक्वेरी" नामक मासिकपत्रके द्वारा उपस्थित किया है, परन्तु उसका उत्तर आजतक किसीने नहीं दिया। अपनी खोजके सम्बन्धमें दीक्षित कहते हैं:—"यह बात निश्चयके साथ सिद्ध की जा सकती है कि शतपथ-ब्राह्मणके कमसे कम उस भागका समय जिसमेंसे नीचे लिखा हुआ वाक्य लिया गया है, सन् ईसवीके लगभग ३००० वर्ष पूर्व है। वह वाक्य इस प्रकार है:—

कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।

(अर्थ:—कृत्तिका-नक्षत्र पर अग्निका आधान करना चाहिये। निश्चित बात है कि कृत्तिका पूर्व दिशासे च्युत नहीं होती। बाकी सब नक्षत्र च्युत हो जाते हैं।) इस वाक्यसे, उस समयमें, कृत्तिकाका ठीक पूर्वमें उदय होना पाया जाता है। साधारणतः लोगोंकी धारणाके अनुसार सभी नक्षत्र पूर्वमें उदय होते हैं; परन्तु ऊपरके वाक्यमें कृत्तिकाके उदय होनेमें और अन्य नक्षत्रोंके उदय होनेमें अन्तर बतलाया गया है। इससे और च्यव् धातु-से, इस वाक्यका यह अर्थ मालूम पड़ता है कि उदय होते समय कृत्तिका ठीक पूर्वके बिन्दुमें और अन्य नक्षत्र इस बिन्दुके दाहिने अथवा बाएँ ओर दिखाई पड़ते थे। ज्योतिष शास्त्रके अनुसार इसका यह अर्थ है कि जिस समय यह वाक्य लिखा गया, उस समय कृत्तिका ठीक विषुववृत्त पर थी। इस वाक्यसे यह भी दिखाई पड़ता है, कि वैदिक ऋषियोंने पूर्वबिन्दुका निश्चय कर लिया था और वे नक्षत्रोंका उदय देखा करते थे। सम्पात-बिन्दुके पीछे हट जानेके कारण, आजकल कृत्तिका पूर्वमें नहीं उदय होती। कृत्तिका-की आजकलकी स्थितिसे उस समयका काल निश्चित किया जा सकता है जब कि वह विषुववृत्त पर थी। वह काल सन् ईसवीके २६६० वर्ष पूर्व आता है। इसे स्थूल रीतिसे ३००० वर्ष पूर्व मान लिया जाय तो कोई हर्ज नहीं। "गणित करके मैंने (दीक्षितने) यह भी देखा है कि उस समय सत्ताइस नक्षत्रोंमेंसे दूसरा कोई नक्षत्र विषुववृत्त पर नहीं था, अर्थात् पूर्वमें उदय नहीं होता था। यह वर्तमान-कालका प्रयोग है—भूतकालका नहीं—कि कृत्तिका पूर्व दिशासे च्युत नहीं होती। अर्थात्, इस वाक्यमें पूर्व समयकी बात नहीं बतलाई गई है। मेरी रायमें इस विधानसे निश्चयपूर्वक सिद्ध होता है, कि यह वाक्य सन् ईसवीसे पूर्व ३००० वर्षोंके इस ओर नहीं लिखा गया।" (इण्डियन एन्टिक्वेरी, भाग २४, पृष्ठ २४५)

दीक्षितके उपर्युक्त कथनका खण्डन आजतक किसीने नहीं किया। यह कथन इतने महत्त्वका है कि उसे पाठकोंको स्पष्ट समझा देना चाहिये। कृत्तिका-नक्षत्र क्रान्तिवृत्तके उत्तरमें है और वह स्थिर है; यानी उसका शर कभी न्यूनाधिक नहीं होता। जैसे आजकल कृत्तिकाका उदय पूर्व बिन्दुसे हटकर उत्तरमें होता है, वैसे पूर्व कालमें नहीं होता था जब कि सम्पात-बिन्दु किसी दूसरी जगह था। जितने तारे विषुववृत्त पर रहते हैं केवल उतने ही ठीक पूर्वमें उदय होते हैं; और सम्पात-बिन्दुके पीछे हट जानेके कारण तारागण विषुववृत्तसे छूट जाते हैं। नीचे की आकृतिसे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ जायगी कि ऐसी स्थिति क्यों हो जाती है:—
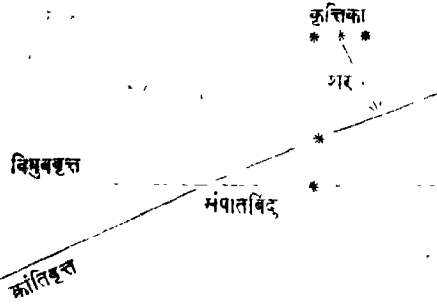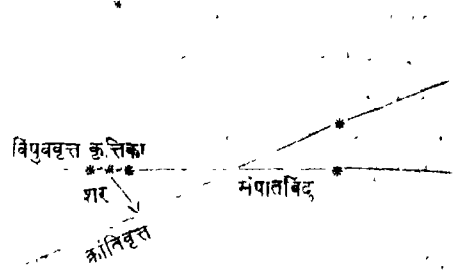
इस समय कृत्तिका विषुववृत्तके ऊपर उत्तरमें है। पहले किसी समयमें वह विषुववृत्त पर थी। क्रान्तिवृत्त और विषुववृत्तका कोण २३ अंशोंका है और कृत्तिकाका शर भी निश्चित तथा स्थिर है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि संपातविन्दु उस समय कितने पीछे था। दीक्षितने सन् १९००की स्थितिके ६८° अंश पीछे होना निश्चित किया है। अर्थात्, १९००के पहले, ६८ × ७२ (प्रति ७२ वर्षोंमें संपात एक अंश पीछे हट जाता है: इस हिसाबसे) = ४८९६ वर्ष आते हैं। इनमें १९०० घटा देनेसे, सन ईसवीके लगभग २९९६ वर्ष पहले, शतपथ-ब्राह्मणका उक्त वाक्य लिखा गया होगा। शतपथ-ब्राह्मणसे कई शताब्दियोंके पहले ऋग्वेद तैयार हो गया था। अर्थात् ऋग्वेदका अन्तिम काल सन् ईसवीके ३२०० वर्ष पूर्व मानना चाहिये। भारतीय युद्ध ऋग्वेदके अनन्तर १०० वर्षोंमें हुआ, अतएव दीक्षित द्वारा बतलाये हुए काल पर हमने अपने अनुमानकी यह नींव डाली है, कि ई० स० पू० ३१०१ ही भारतीय युद्धका समय निश्चयपूर्वक सिद्ध होता है।

हम अपने कथनका सारांश पाठकोंके सामने संक्षेपमें फिर रखते हैं। ऋग्वेदमें, अंत अंतमें, देवापिका सूक्त है। देवापि, भीष्मके पिता शंतनुके भाई थे। इसका अर्थ यह होता है कि ऋग्वेदके बाद थोड़े वर्षोंके भीतर भारतीय युद्ध हुआ। शतपथ-ब्राह्मणमें पूरे ऋग्वेदका उल्लेख है और जनमेजय पारीक्षित-पांडवोंके पोतेका भी उल्लेख है। इसलिये भारतीय युद्ध शतपथ-ब्राह्मणके पहले हुआ। दीक्षितने, शतपथ-ब्राह्मणके अन्तर्गत "कृत्तिकाका उदय ठीक पूर्वमें होता है" इस वाक्यके आधार पर, उस ग्रन्थका समय सन् ईसवीके लगभग ३००० वर्ष पूर्व ठहराया है। अतएव भारतीय युद्धका जो समय सन् ईसवीके ३१०१ वर्ष पूर्व माना गया है वह उचित है: और ऋग्वेदकी रचनाका अंतिम समय सन् ईसवीके ३२०० वर्ष पूर्व ठहरता है। बस, यही हमारी अनुमान-सरणि है। हम समझते हैं कि इस अनुमान-परम्परामें मीनमेख निकालनेके लिये स्थान नहीं है। यह बात मैकडानल आदि सब पाश्चात्य पंडितोंको मान्य है कि भारतीय युद्ध ऋग्वेदके बाद और शतपथ-ब्राह्मणके पहले हुआ। वे ऋग्वेद और शतपथ-ब्राह्मणके समय को ही इस ओर बहुत खींचते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। उसके लिये कोई दृढ़ आधार नहीं है। दीक्षितने जो समय बतलाया है वह ज्योतिषविषयक उल्लेखके आधार पर गणित करके निश्चित

किया गया है। वह कभी खंडित नहीं किया जा सकता। ऐसी दशामें हम थोड़ा इस बातका विचार करेंगे कि दीक्षित द्वारा निकाले हुए प्रमाणका क्या उत्तर दिया जा सकता है।

स्मरणकी कल्पना असम्भव है।

दीक्षितके कथनका उत्तर आजतक किसीने नहीं दिया। अतएव अपनी कल्पनाके द्वारा हम बतलावेंगे कि उसका क्या उत्तर दिया जा सकता है। कभी कभी इस तरहका उत्तर अप्रत्यक्ष रीतिसे सन्मुख आता है, इसलिये हमें उसका भी विचार करना चाहिये। कुछ लोगोंका कथन है कि इस तरहके विधान स्मरणके आधार पर किये जाते हैं। कृत्तिकाका पूर्वमें उदय होना प्राचीन कालमें ऋषियोंने देखा होगा और यह बात अद्भुत होनेके कारण लोगोंके स्मरणमें सैंकड़ों वर्षोंतक रह गई होगी। इस कारण, यद्यपि शतपथ-ब्राह्मण अर्वाचीन कालमें लिखा गया हो, तो भी उसमें इस बातका उल्लेख किया गया होगा। इस प्रकार, स्मरण-मूलक इस कल्पनाको मानकर शतपथ-ब्राह्मणके वचनका प्रमाण खण्डित किया जा सकता है।

परन्तु हमारा मत है कि यह स्मरण-सम्बन्धी कल्पना नहीं ठहर सकती। शतपथ-ब्राह्मणके वाक्यमें वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है, भूतकालका नहीं। कोई मनुष्य यह कह सकेगा कि उसे अमुक समयमें धूमकेतु दिखाई पड़ा; परन्तु धूमकेतु न दिखने पर ऐसा कोई नहीं कहेगा कि धूमकेतु दिख रहा है। कृत्तिकाका उदय ठीक पूर्व दिशामें होता था और वह करीब करीब १००-१५० वर्ष तक पूर्वमें ही होता रहा; परन्तु सम्पात-बिन्दुके पीछे हटते रहनेके कारण कुछ समयके बाद कृत्तिकाका उदय पूर्व बिंदु-में होना बन्द हुआ; और इस समय भी वह पूर्वमें नहीं होता। ऋषियोंने ईसवी सन्के करीब ३००० वर्षोंके पहले कृत्तिका-का उदय पूर्वमें देखा। २०० वर्षोंमें उसका पूर्वमें उदय होना बन्द हो गया। अब यदि पाश्चात्य विद्वानोंके मतानुसार यह मान लें कि शतपथ-ब्राह्मण ईसवी सन्के लग-भग ८०० वर्षोंके पूर्व लिखा गया, तो प्रश्न उठता है कि जो घटना सन् ईसवी-के २८०० वर्ष पहलेसे बन्द हो गई थी, अर्थात् जिस कृत्तिकाका २००० वर्षोंसे ठीक पूर्वमें उदय होना बन्द हो गया था; उसके सम्बन्धमें शतपथमें यह वाक्य कैसे लिखा जा सकता था कि उसका उदय पूर्वमें होता है? यह स्मरण भी लोगोंमें इतने समयतक कैसे रह सकता है? कृत्तिकाका ठीक पूर्व बिन्दुमें उदय होना ऋषियोंने सन् ईसवीके लगभग ३००० वर्ष पूर्व बारीकीसे देखा था। यदि उस समय उनका उतना ज्ञान था, तो सम्भव है कि आर्योंका ज्ञान इसी तरहसे आगे भी कायम रहा होगा; और यज्ञयाग आदिके करनेवाले, भविष्यमें भी आकाशकी ओर देखते रहे होंगे। तब उनके ध्यानमें यह भी आ गया होगा कि कृत्तिकाका उदय पूर्वमें नहीं होता। अतएव, स्मरण-सम्बन्धी कल्पना यहाँ ठीक नहीं मालूम होती।

लोग आक्षेप कर सकते हैं कि आज-कल हम लोग चैत्र-वैशाखको जो वसन्त ऋतु कहते हैं, वह स्मरणके आधार पर कहते हैं। यदि प्रत्यक्ष स्थिति देखी जाय तो सम्पातके पीछे चले जानेके कारण फाल्गुन-चैत्रको वसन्त कहना चाहिये। पहले किसी समयमें वसन्तका पहला महीना चैत्र था और उस समयसे चैत्र-वैशाखको वसन्त ऋतु कहनेकी परिपाटी शुरू हो गयी। आजकल स्थिति बदल गई

है; परन्तु हम पहलेकी तरह चैत्र-वैशाख-को ही वसन्त ऋतु कहते हैं और पुस्तकों-में भी लिखते हैं। धार्मिक बातोंमें भी इसी प्रकार पिछले नियम स्थिर रहते हैं और बदली हुई नई स्थिति पर दुर्लक्ष्य कर दिया जाता है। यह आक्षेप पहले तो सम्भवनीय और ठीक दिखलाई पड़ता है, परन्तु यहाँ वह प्रत्युक्त नहीं हो सकता; क्योंकि कृत्तिकाके ठीक पूर्वमें उदय होनेकी बात स्वाभाविक रीतिसे बतलाई गई है। यह बात रोज़के पाठकी अथवा धार्मिक विधिकी नहीं हो गई। दूसरी बात यह है कि जब प्रत्यक्ष स्थिति और पिछले समयकी स्थितिमें अधिक अंतर पड़ता है, तो नित्यका पाठ भी कई बार बदल जाता है। चैत्र-वैशाखको वसन्त ऋतु कहनेका पाठ, ऋतुके एक महीने पीछे हट जानेके कारण, बदल भी दिया गया है। अर्थात् पहले जब १५ दिनोंका अन्तर ध्यानमें आया, तब महीने पौर्णिमासे गिने जाने लगे और १५ दिन पीछे हटा दिये गये। जब इससे भी अधिक अन्तर देख पड़ा, तब ज्योति-षियोंने "मीनमेषयोर्वसन्तः" का पाठ शुरू कर दिया। पहले वैदिक कालमें कृत्तिका-रोहिणी ऐसा नक्षत्र-पाठ प्रच-लित था; वह अब अश्विनी-भरणी हो गया है। सारांश, हमारी राय है कि जो घटना दो हज़ार वर्षोंसे बन्द हो गई थी और बहुत बदल भी गई थी, वह शत-पथमें इस तरहसे कभी लिखी नहीं जा सकती, कि मानों वह आजकी है। यह बात स्पष्ट है कि वर्तमान समयका कोई कवि वैशाखका वर्णन वसन्तके समान नहीं करेगा—ग्रीष्मके ही समान करेगा।

इस प्रकार स्मरण-सम्बन्धी कल्पनाके द्वारा, शतपथ-ब्राह्मणके वाक्यका खण्डन नहीं किया जा सकता। इस वाक्यसे सिद्ध होता है कि कृत्तिकाके ठीक पूर्वमें उदय होनेके सम्बन्धकी, सन् ईसवीके ३००० वर्षके पहलेकी घटनाको वैदिक ऋषियोंने उस समय देखा था। इससे मालूम होता है कि उस समय आर्योंकी उन्नति बहुत हो चुकी थी। उन्होंने चारों दिशाओंके बिन्दुओंका स्थान निश्चित कर लिया था और वे ताराओंके उदय-अस्तको दृक्-प्रत्ययसे देखा करते थे। परन्तु इसमें आश्चर्य करने योग्य कोई बात नहीं है। सब लोग जानते हैं कि ईजिप्ट और बैबिलोनके प्राचीन लोग बहुत उन्नत थे। उन्होंने सन् ईसवीके लगभग ४००० वर्षों-के पहले दिशाओंके बिन्दु स्थिर कर लिये थे। ईजिप्टमें पिरामिडोंके भुज और बैबि-लोनमें "जिगुरात" अथवा मन्दिरोंके कोण ठीक चारों दिशाओंके बिन्दुओंके अनुकूल हैं। ऐसी दशामें, यह स्वाभाविक है कि हिन्दुस्थानमें सन् ईसवीके ३००० वर्ष पहले आर्य लोगोंको दिशाओंका ज्ञान था। हिन्दुस्थानमें आर्योंने पिरामिड नहीं बनाये; तथापि वे यज्ञयाग किया करते थे। यज्ञोंमें प्राची-दिशाका साधन आवश्यक है और वर्षसत्र करते समय विषुव दिवस का बड़ा महत्त्व माना गया है। उस दिन सूर्य ठीक पूर्वमें उदय होता है, अतएव प्राची-साधन करना बहुत कठिन नहीं था। आर्योंकी यह ज्ञानोन्नति आगे भी स्थिर रही और यज्ञयागादि क्रिया जारी थी। यदि शतपथ-ब्राह्मणको सन् ईसवीके ८०० वर्षके पहलेका मान लें और कहें कि बीचके २००० वर्षतक तारागणका प्रत्यक्ष देखा जाना बन्द नहीं हुआ था और कृत्तिकाका उदय पूर्वमें नहीं होता था, तो उसमें यह वाक्य कभी नहीं लिखा जा सकता था कि कृत्तिकाका उदय ठीक पूर्व-में होता है। यदि सन् ईसवीके ३००० वर्ष पहलेके जमानेमें आर्योंकी प्रगति

इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि वे दृक्-प्रत्ययसे तारा-नक्षत्रोंकी जाँच कर सकते थे, तो यह भी माना जा सकता है कि उनमें शतपथ-ब्राह्मण लिख सकनेकी योग्यता भी उसी समय अवश्य थी। सारांश रूपमें इसी बातको सच समझना चाहिये कि जिस समयका यह दृक्-प्रत्यय है, उसी समय शतपथ-ब्राह्मण लिखा गया था।

पाश्चात्य विद्वानोंके द्वारा सभीत निश्चित किया हुआ वैदिक साहित्यका समय।

पाश्चात्य विद्वानोंने शतपथ-ब्राह्मणका समय सन् ईसवीके ८०० वर्ष पहलेका बतलाया है। यदि इस कालका निश्चय करते समय किसी अत्यन्त अचल प्रमाणसे काम लिया गया होगा, तो हमें थोड़ी बहुत कठिनाई मालूम होती। उस दशामें इस बातका संशय हो जाता, कि दृढ़ आधारों पर बने हुए दो भिन्न भिन्न मतोंमेंसे कौन मानने योग्य है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। पाश्चात्य विद्वानोंने वैदिक-साहित्यके समयको केवल अन्दाजसे निश्चित किया है और यह अन्दाज भी भीरुता और कंजूसीके साथ किया गया है। उदाहरणार्थ, उन्होंने ऋग्वेदके भिन्न भिन्न सूक्तोंकी रचनाके समयको लगभग ५०० वर्षोंका मानकर, सन ईसवीके पहले १५०० से १००० वर्षों तकका बतलाया है; और ब्राह्मण ग्रन्थोंका ३०० वर्षोंतक रचा जाना मानकर, उनके लिये सन् ईसवीके पहले ८०० से ५०० तकका समय बतलाया है। ग्रीक लोगोंकी उन्नतिके समयसे भारती आर्य लोगोंकी संस्कृतिको अधिक प्राचीन बतलानेकी हिम्मत पाश्चात्योंमें होती ही नहीं। जब होमर सन् ईसवीके एक हजार वर्षोंके पहलेसे अधिक प्राचीन सिद्ध नहीं हो सकता, तब वे भारतवर्षके व्यासको भी उससे आगे नहीं ले जाना चाहते। परन्तु मेनिथो-के द्वारा मिली हुई ईजिप्ट देशकी राजवंशावली और बेरोससके द्वारा लिखी हुई बैबिलोनकी राजवंशावली सन् ईसवी-के ४००० वर्ष पहलेतक जा पहुँचती है। पहले उन्हें झूठ और अविश्वसनीय मानते थे; परन्तु अब ईजिप्ट देशमें मिलनेवाले शिलालेखों और खाल्डिया देशमें मिलनेवाले ईंटके लेखोंसे ये वंशावलियाँ सच्ची सिद्ध होती हैं और सन् ईसवीके पूर्व ४००० वर्षोंसे भी पहलेकी मालूम होती हैं। ईसाई लोगोंकी धार्मिक धारणा ऐसी है कि उसके अनुसार मनुष्यकी उत्पत्ति का ही समय सन् ईसवीके पूर्व ४००४ माना गया है। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् इस धारणाका त्याग करने लगे हैं और अब प्राचीन इतिहासके विभाग सौ वर्षकी गिनतीसे नहीं किये जाते, किन्तु हजारों वर्षकी गिनतीसे किये जाते हैं। एक इतिहासकारका कथन है कि—"मनुष्य और पृथ्वीके सम्बन्धका हमारा ज्ञान शीघ्रतासे बढ़ रहा है। सन् ईसवीके पहले ४००४ वर्षको आदमकी उत्पत्तिका समय मानना किनारे रखकर ईजिप्टके इतिहासकार कुछ पिरामिडोंके समयको उससे भी पूर्वका मानने लगे हैं।"

इसी तरह अब हिन्दुस्थानके प्राचीन इतिहासको सैंकड़ेके हिसाबसे नहीं, किन्तु हजारके हिसाबसे विभाजित करना चाहिये। यह इतिहास, बैबिलोनके इतिहासकी तरह, सन् ईसवीके पूर्व ४००० के भी परे चला जाता है। प्रोफेसर जेकोबीने ज्योतिषके प्रमाणोंके आधार पर ऋग्वेदके कुछ सूक्तोंका समय सन् ईसवी पूर्व ४००० तक सिद्ध किया है। यह सच है कि हिन्दुस्थानमें पिरामिड, शिलालेख अथवा इष्टिका (ईंटके) लेख

ऐसे नहीं मिलते जिनसे बुद्धके पहलेका इतिहास जाना जाय। परन्तु, हमारे ऋग्वेद आदि वैदिक ग्रन्थ पिरामिडसे भी अधिक भव्य तथा अभेद्य हैं। इन ग्रन्थोंमें ज्योतिषके विषयमें पाये जाने-वाले उल्लेख, समय निश्चित करनेके लिये, शिलालेखोंसे भी अधिक विश्वसनीय और निश्चयात्मक हैं। अतएव हिन्दुस्थान-का प्राचीन इतिहास सहस्रोंकी संख्यामें बतलाया जा सकता है। वह इस तौर पर:—ऋग्वेदका समय, सन् ईसवीसे पूर्व चौथी सहस्री, अर्थात् ४०००से ३००० तक; आयुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थोंका समय, तीसरी सहस्री, अर्थात् ३०००से २००० तक; वेदांगोंका समय, दूसरी सहस्री, अर्थात् २०००–१००० तक; और गृह्य तथा अन्य सूत्रोंका समय, पहली सहस्री, अर्थात् १००० से सन् ईसवीके आरम्भतक। शंकर बालकृष्ण दीक्षितने शतपथ ब्राह्मणका जो समय उसके अन्तर्गत ज्योतिष-विषयक वचनके आधार पर निकाला है, वह किसी तरहसे अमान्य समझा जाने योग्य नहीं है।

वेदांग ज्योतिषका प्रमाण।

यह बात अन्य प्रमाणोंसे भी निश्चित मालूम होती है कि शतपथ-ब्राह्मणका, सन् ईसवीके पूर्व ८०० वर्षका, पाश्चात्य विद्वानोंके द्वारा ठहराया हुआ समय गलत है। वेदाङ्ग-ज्योतिषके समयको दीक्षितने, उसमेंके ज्योतिष-सम्बन्धी एक वचनके आधार पर, निश्चित किया है। उसमें कहा गया है कि उत्तरायण धनिष्ठा-में होता है। इससे दीक्षितने वेदाङ्गका समय गणितसे सन् ईसवीके १४०० वर्ष पहले कायम किया है। इस समयके सम्बन्धमें शङ्का होनेके कारण प्रोफेसर मैक्समूलरने आर्चडीकन प्रैटको इस बातका गणित करनेके लिये कहा कि उत्तरायण धनिष्ठा नक्षत्र पर कब होता होगा। ये भी अधिक खींचातानी करने पर इस समयको सन् ईसवीसे पूर्व ११८६ के बाद नहीं बतला सके। सारांश यह है कि जब वेदाङ्ग ज्योतिषके समयको सन् ईसवी के पहले १२०० अथवा १४०० वर्ष मानना चाहिये, तो शतपथ-ब्राह्मणका समय उससे भी पहले होना चाहिये। अर्थात्, वह सन् ईसवीसे पूर्व ८०० वर्ष हो ही नहीं सकता। यहाँ भी पाश्चात्य विद्वान् यही तर्क करते हैं कि धनिष्ठामें उदगयन का स्मरण रहा होगा और वेदाङ्ग ज्योतिष बिलकुल अर्वाचीन कालमें सन् ईसवीके पूर्व ३०० के लगभग बना होगा। उनका कथन है कि जब धनिष्ठाके आरम्भमें उदगयन था, उस समय वेदाङ्ग ज्योतिषकी गणितपद्धति स्थिर की गई होगी; परन्तु जब वह ग्रन्थ बना तब पिछली परिस्थिति का उल्लेख वर्तमानके तौर पर किया गया। परन्तु यदि यह सच है कि वेदाङ्गकी ज्योतिषपद्धति उस समय स्थिर हुई थी, तो उसी समय ग्रन्थका तैयार होना माननेमें क्या हर्ज है? दूसरी बात यह है कि उस समय धनिष्ठामें जो उदगयन होता था, वह १००० वर्षोंमें, ग्रन्थके लिखे जानेके समय, अवश्य ही बदल गया होगा। अर्थात्, धनिष्ठामें उदगयन सन् ईसवीके १४०० अथवा १२०० वर्ष पहले था, और ग्रन्थ लिखा गया ३०० में। बीच-के १००० वर्षोंकी अवधिमें वह पीछे अवश्य हटा होगा और यह बात ग्रन्थ-कारको मालूम हुए बिना न रही होगी। तब फिर वह कैसे बतलाता कि उदगयन धनिष्ठामें था? और वह उस गणित-पद्धतिका स्वीकार कैसे करता जो उसके आधार पर रची हुई हो? वराहमिहिरने

भी अपने समयकी स्थितिको देखकर साफ कहा है कि धनिष्ठामें उदगयन नहीं होता। इसी प्रकार वेदाङ्ग ज्योतिषकार का भी कथन होगा। सारांश यह है कि ज्योतिष-विषयक वचनों और ग्रन्थोंको झूठा बनाना न तो सम्भव होगा और न मान्य। तात्पर्य यह है कि वेदाङ्ग ज्योतिष-का समय सन् ईसवीके पहले १४०० से १२०० तक ही निश्चित मालूम होता है। शतपथ-ब्राह्मण इससे भी पहलेका होगा, बादका नहीं हो सकता।

शतपथ-ब्राह्मणका निश्चित समय, कमसे कम उस भागका समय जिसमेंसे ऊपरका वाक्य लिया गया है, सन् ईसवी-से पूर्व ३००० वर्ष है। यह बात निर्विवाद है कि ऋग्वेद-ग्रन्थ, समग्र शतपथ-ब्राह्मणके पहले, सम्पूर्ण हो गया था। अर्थात्, ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मणके हर एक भागसे पहले पूरा तैयार हो गया था। इससे ऋग्वेदका समय सन् ईसवीसे पूर्व ३२०० वर्ष मान लेनेमें कोई हर्ज नहीं है। स्थूल मानसे भारतीय युद्ध ऋग्वेदके बाद १०० वर्षोंमें हुआ। अतएव उस युद्धका, सन् ईसवीसे पूर्व ३१०१ का, सर्व-मान्य समय वैदिक साहित्यके आधारपर दृढ़ प्रमाणोंसे सिद्ध होता है।

जरासन्ध-यज्ञ।

इसके सिवा भिन्न भिन्न अन्तर्गत प्रमाणोंसे भारतीय युद्धका समय सन् ईसवीसे पूर्व ३१०१ ही निश्चित होता है। यह समय मेगास्थिनीज़के आधार पर, कलियुग-आरम्भके विषयमें ज्योतिषियोंके प्रमाण पर और वैदिक साहित्यके द्वारा, इन तीन दृढ़ प्रमाणोंसे निश्चित होता है। यहाँतक हमने इस बातको देख लिया है। भारतीय परिस्थितिके स्वरूपके आधार पर भी यही समय निश्चित होता है। इस-के मुख्य दो स्वरूप बतलाये जायँगे। महा-भारतमें कथा है कि जरासन्ध एक यज्ञ करके क्षत्रियोंको बलि देनेवाला था। लोग समझते हैं कि वह कथा थोड़ी बहुत अद्भुत और काल्पनिक है। महाभारतमें श्रीकृष्णके मुखसे कहलाया गया है कि शिव को बलि देनेके लिये तूने क्षत्रियोंको कैदमें डाल रखा है। इस कथाका मूल-स्वरूप क्या है? क्या यह बिलकुल काल्प-निक है? इस विषयमें विचार करनेपर मालूम होता है कि इसमें ऐतिहासिक सत्य है। देख पड़ता है कि इसके मूलमें पुरुषमेधकी बात है। शतपथ-ब्राह्मणके एक स्थानके वर्णनसे विदित होता है कि पुरुषमेध काल्पनिक नहीं है—भारत-वर्षमें किसी समय वह प्रत्यक्ष किया जाता था। कदाचित् उसका प्रचार यहाँ थोड़ा ही रहा हो, परन्तु शतपथमें उसका जो सूक्ष्म वर्णन किया गया है, उससे मालूम होता है कि वह किसी समय प्रत्यक्ष किया जाता था। इसका दर्जा अश्वमेधसे भी बढ़कर था, और इसी लिये इसका फल यह बतलाया गया है कि इस यज्ञके करनेवालेको असीम राजसत्ता मिलेगी। इसकी भिन्न भिन्न विधियाँ और बलि दिये जानेवाले पुरुषोंके वर्णन तथा संख्या वर्तमान समयमें भय-ङ्कर मालूम होती है; परन्तु जान पड़ता है कि शतपथ-ब्राह्मणके समयमें यह यज्ञ प्रचलित था। आगे चलकर वह शीघ्र ही बन्द हो गया होगा और अश्वमेधकी भी प्रवृत्ति कम हुई होगी। मालूम होता है कि भारतीय युद्धके समयमें जरासन्ध इस तरहका पुरुषमेध करनेवाला था और श्रीकृष्णने अपने उदात्त मतके अनुसार कहा था कि जरासन्धको इसी कारणसे मारना युक्त है। इस पुरुषमेधकी बातसे

यह अनुमान निकलता है कि भारतीय युद्ध हिन्दुस्थानमें अत्यन्त प्राचीन कालमें हुआ होगा। अर्थात्, वह शतपथ-ब्राह्मण-के पूर्व हुआ होगा। आजकलके किसी ग्रन्थ अथवा कथामें पुरुषमेधकी प्रत्यक्ष बात नहीं पाई जाती। तात्पर्य यह है कि हमने सन् ईसवीसे पूर्व जो ३१०१ वर्षका समय स्थिर है, वह निश्चयात्मक मालूम होता है।

चान्द्रवर्ष-गणना।

दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस बातका प्रमाण भारतीय-युद्धकी कथामें ही मिलता है कि भारतीय-युद्ध बहुत प्राचीन समयमें हुआ था। कौरवों और पाण्डवोंने द्यूत खेलकर अन्तमें यह करार किया था कि जो पराजित होंगे उन्हें बारह वर्षतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञानवास भोगना पड़ेगा; और अज्ञातवासके समयके अन्दर प्रकट होने पर फिर भी उतना ही वनवास भोगना पड़ेगा। इस निश्चयके अनुसार द्यूतमें पराजित हो जानेके कारण पाण्डवोंने अपना सब राज्य दुर्योधनके अधीन कर दिया और वे वनवासको चले गये। वन-वास और अज्ञातवास पूरा करने पर जब वे प्रकट हुए, तब दुर्योधनसे अपना राज्य माँगने लगे। दुर्योधन कहने लगा कि—"पाण्डवोंने वनवास और अज्ञातवास पूरा नहीं किया है" और पाण्डव कहने लगे कि—"पूरा किया है।" अतएव इस वादविवादके कारण भारतीय-युद्ध उप-स्थित हुआ। कुछ आक्षेपकोंने इस विषय-के सम्बन्धमें एक बहुत बड़ा आक्षेप उप-स्थित किया है। वह यह है कि यद्यपि पाण्डव तेरह वर्षोंके पूर्व ही प्रकट हुए, तथापि युद्ध आरम्भ करनेका पाप यहाँ व्यासजीने दुर्योधनके ही माथे मढ़ दिया है। अतएव, यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पाण्डवोंने अपना करार पूरा किया अथवा नहीं? यही प्रश्न जब भीष्म पिता-महसे किया गया, तब उन्होंने जो उत्तर दिया वह मनन करने योग्य है। उनका जवाब है कि—"कालगतिसे सूर्य-चन्द्रका नाक्षत्रिक लङ्घन-कालके साथ भेद हो जाता है, इसलिये प्रत्येक पाँच वर्षोंमें दो महीने अधिक होते हैं। और इस हिसाब-से तेरह वर्षोंमें पाँच महीने और बारह रात्रियाँ अधिक हो जाती हैं।" भीष्मके कथनका सारांश यह है कि सौर माससे तेरह वर्षोंके पूर्ण होनेके पहले ही पाण्डव प्रकट हुए; परन्तु चान्द्र वर्षोंके हिसाबसे तेरह वर्ष पूर्ण हो गये और पाण्डवोंने करार पूरा किया। अब इसपर कुछ लोगोंका इस विषयमें और यह कहना है कि—"भीष्मने यहाँ एकपक्षीय न्याय किया है। शब्दोंका अर्थ हमेशाकी समझ-के अनुसार ही किया जाना चाहिये। यह बात प्रकट है कि यदि चार रुपयेमें ईंधनकी गाड़ी बेची जाय, तो सचमुच गाड़ी पर रक्खी हुई जलाने योग्य लकड़ी ही बेची जाती है, न कि लकड़ीकी खुद गाड़ी ही। क्या करारके समय सौर या चान्द्र वर्षोंकी बात तय कर ली गई थी? तब कहना पड़ेगा कि अपने देशमें पूर्वकालसे **महीने चान्द्र** और **वर्ष सौर** समझे जाते हैं, इसलिये उक्त प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता। वर्ष तो सौर ही थे; परन्तु भीष्मने उन्हें चान्द्र मानकर पाण्डवोंके पक्षमें न्याय किया।" यह दलील सचमुच अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्या भीष्मने सचमुच एकपक्षीय न्याय किया है? यदि वैदिक कालसे भरत-खण्डमें सौर वर्ष प्रचलित था, तो प्रतिज्ञा-पूर्तिके ही सम्बन्धमें चान्द्र वर्षोंसे गणना

करना अन्यायपूर्ण होगा। ऐसा करना उपर्युक्त लकड़ीकी गाड़ीके उदाहरणके समान अन्यायपूर्ण होगा; अथवा ठीक वैसा ही होगा जैसा महमूदने किया था। महमूदगजनवीने फिरदौसी कविको प्रत्येक कविता-पंक्तिके लिये एक दिर्हम (सुवर्ण मुद्रा) देना कबूल करके, अपने करारको पूरा करनेके समय, जान बूझकर चाँदीके नये दिर्हम बनवाकर जो अन्याय किया था, उसी प्रकार भीष्मका उक्त निर्णय भी अन्यायपूर्ण होगा। यदि द्यूतके समय चान्द्र वर्ष प्रचलित नहीं था, तो यही कहना पड़ेगा कि सत्यनिष्ठ पाण्डवोंने झूठा बर्ताव किया, और जो सैंकड़ों राजा तथा लाखों क्षत्रिय पाण्डवोंकी ओरसे लड़े, उन्होंने आँख बन्दकरके असत्पक्षका स्वीकार किया। अर्थात् यही मानना पड़ता है कि, द्यूतके समय सौर और चान्द्र दोनों प्रकारके वर्ष प्रचलित थे। द्यूतके समय इस बातका करार होना रह गया था कि कौनसा वर्ष माना जायगा। अन्तमें यह वादविवाद उपस्थित हुआ कि करारवाले वर्षको सौर मानना चाहिये या चान्द्र। स्वीकार करना पड़ेगा कि दुर्योधन आदि कौरव सौर वर्षको मानते थे और पाण्ड चान्द्र वर्षको मानते थे; क्योंकि इसका स्वीकार किये बिना भारती युद्धके झगड़ेका असल कारण ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता। हमारी राय है कि दुर्योधन और कर्ण सौर मानानुसार जो यह विवाद करते थे कि तेरह वर्ष पूरे नहीं हुए, वह ठीक था; चान्द्र मानानुसार पाण्डव लोग जो यह कहते थे कि तेरह वर्ष पूरे हो गये, वह भी ठीक था; और भीष्मने पाण्डवोंके पक्षमें जो न्याय किया वह भी यथार्थ था। आजकल हिन्दुस्थानमें सरकार रोमन सिविल वर्षको मानती है, मुसलमान चान्द्र वर्षको और हिन्दू सौर वर्षको मानते हैं। ऐसी दशामें मीयाद-सम्बन्धी कायदेमें स्पष्ट लिखा है कि मीयाद और मिती अँगरेज़ी रीतिसे मानी जायगी। द्यूतके समय द्यूत खेलनेवालोंमें इस प्रकार वर्ष-सम्बन्धी कोई करार नहीं हुआ था। जब एक पक्ष सौर वर्षको माननेवाला और दूसरा चान्द्र वर्षको माननेवाला था, तो वर्ष-गणना किस प्रकार की जाती? भीष्मका यह न्याय एक दृष्टिसे योग्य ही है कि यदि कौरव पराजित होते तो उन्हें तेरह सौर वर्ष, वनवासमें रहना चाहिये था। परन्तु उसे दुर्योधनने नहीं माना और इसी कारण भारतीय युद्ध उपस्थित हुआ। अस्तु; बात यह है कि द्यूतके समय यदि हिन्दुस्थानमें आजकलकी नाईं चान्द्र वर्ष बिलकुल ही प्रचलित न होता, तो भीष्मका न्याय अयोग्य और पक्षपातपूर्ण अवश्य कहा जाता। सारांश, भारतीय युद्धकी उपपत्ति जाननेके लिये दो बातें अवश्य माननी पड़ती हैं। पहली बात यह है कि युद्धके समय हिन्दुस्थानमें चान्द्र वर्ष प्रचलित था: और दूसरी बात यह है कि पाण्डव चान्द्र वर्ष माननेवाले थे। इन दो बातोंसे ही भारतीय युद्धकालके निर्णयका साधन उत्पन्न होता है।

विराट पर्वकी कथासे भी प्रकट होता है कि यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न संशयग्रस्त था; और इसी लिये उसका निर्णय न्यायाधीश भीष्मसे पूछा गया। भीष्मका उत्तर मिलनेके पहले ही द्रोणाचार्य पिछले अध्याय (विराट० अ० ५१) में कहते हैं—"अब कि अर्जुन प्रकट हो चुका है, तब पाण्डवोंका अज्ञातवास अवश्य ही पूरा हो गया है। अतएव, दुर्योधनने पाण्डवोंके अज्ञातवासके पूर्ण होने अथवा न होनेके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया है, उसका विचार

करके, हे भीष्म, यथोचित उत्तर दीजिये।" यदि भारतीय युद्धकालके समय भारतवर्षमें सौर वर्ष ही प्रचलित होता, तो द्रोणाचार्यके मनमें इस प्रकारकी शङ्का ही उपस्थित न होती: क्योंकि यह बात गोग्रहणके समय हर एक बतला सकता था कि अज्ञातवास पूरा हुआ या नहीं। अर्थात् उस समय चान्द्र वर्ष भी प्रचलित था और पाण्डव उसीको मानते थे। अब हम ऐतिहासिक दृष्टिसे इस बातका विचार करेंगे कि ऐसी परिस्थिति हिन्दुस्थानमें कब थी।

हिन्दुस्थानमें चान्द्र वर्ष कब प्रचलित था ?

चान्द्र महीने पौर्णिमा तथा अमावस्याके कारण सहज ही ध्यानमें आते हैं, और ऋतुओंके फेरफारके कारण सौर वर्ष ध्यानमें आता है। यद्यपि बारह चान्द्र मास और एक सौर वर्षका स्थूल रूपसे मेल हो जाता है, तथापि यह मेल पूर्ण रूपसे नहीं होता: और इसी कारण पूर्व कालमें कालगणनामें कई बखेड़े उत्पन्न हुए थे। इन बखेड़ोंके कारण ही ज्यू और अरब लोगोंने चान्द्र वर्षका स्वीकार करके सौर वर्षको छोड़ दिया। आजकल मुसलमान लोग भी इसीको मानते हैं। उनका वर्ष सब ऋतुओंमें चक्कर खाकर पूर्व स्थान पर आ जाता है। रोमन लोग प्रारम्भमें मार्चसे १० चान्द्र मास मानते थे और कई दिन खाली छोड़कर, जब सूर्य सम्पात पर आ जाता था तब, फिरसे चान्द्र मास मानने लगते थे। कुछ समयके बाद राजा न्यूमाने प्रत्येक दो वर्षोंमें तेईस दिन जोड़ देनेकी प्रथा जारी की। धर्मगुरु लोग इन अधिक दिनोंको किसी एक महीनेमें मिला देते थे। इस कारण बहुत कठिनाइयाँ उत्पन्न होती थीं। इस गड़बड़को मिटानेके लिये ज्यूलियस सीजरने चान्द्र मास और चान्द्र वर्षका त्यागकर ३६५¼ दिनोंका सौर वर्ष और न्यूनाधिक दिनोंके सौर मास शुरू किये। यूनानियोंमें भी पहलेपहल चान्द्र मास और चान्द्र वर्ष प्रचलित थे। एक महीना उनतीस दिनोंका तो दूसरा तीस दिनोंका मानकर वे लोग ३५४ दिनोंका चान्द्र वर्ष मानते थे। जब ऋतुचक्रमें गलतियाँ होने लगीं, तब सोलनने अधिक मासकी पद्धति शुरू की। ईजिप्शियन लोगोंको यह बात मालूम हुई थी कि सौर वर्षमें ३६५ दिन होते हैं। वे ३० दिनोंका महीना मानकर ३६० दिनोंमें एक वर्ष पूरा करते थे और ५ दिन अधिक मिला देते थे। तिसपर भी ¼ दिनकी भूल होने लगी। अतएव ३६५ × ४ = १४६० वर्षोंमें उनका वर्ष सब ऋतुओंमें घूमने लगा। पारसी लोगोंमें भी ३६० दिनोंके बाद ५ दिन अधिक जोड़नेकी पद्धति है। सारांश, भिन्न भिन्न प्राचीन लोगोंके सामने चान्द्र वर्ष और सौर वर्षका मेल करते समय अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुई थीं, और भिन्न भिन्न रीतियाँ उपयोगमें लाई गई थीं। हिन्दुस्थानमें भी इसी प्रकार कठिनाइयाँ उपस्थित होनेके कारण प्राचीन कालमें भिन्न भिन्न रीतियाँ उपयोगमें लाई गई थीं। आगे चलकर उनका भिन्न भिन्न परिणाम हुआ और अन्तमें वर्तमान पद्धतिका अवलम्बन किया गया। अब हम इसी विषयके इतिहासका विचार करेंगे।

मालूम होता है कि ऋग्वेदके समयमें स्थूल मानसे ३० दिनका महीना और १२ महीनोंका वर्ष मानते होंगे। ऋग्वेदमें कई स्थानोंमें ऐसे चक्रका वर्णन है जिसमें बारह आरे (डण्डे) और ३६० कीलें कथित हैं। बारह चान्द्र मास ३६० दिनमें ६ दिनसे कम होते हैं और ऋतुचक्र ५¼

दिनसे अधिक होता है। यह कठिनाई ऋग्वेदके समयमें उपस्थित हुई होगी; परन्तु यह बात नहीं मालूम होती कि इसकी क्या व्यवस्था की गई थी। मालूम होता है कि तैत्तिरीय-संहिताके समय तथा ब्राह्मण-कालमें यह बात पूर्ण रीतिसे मालूम थी। इस कारण वर्षके तीन भेद—सावन, चान्द्र और सौर—हो गये थे। सावन नामक स्थूल मान पहलेसे ही प्रचलित था। उसके विभाग ये हैं। छः दिनका एक षडह, पाँच षडहका एक महीना, और बारह महीनेका एक वर्ष। इस गणनाके कारण पौर्णिमा और अमावस्यामें गलतियाँ होती थीं। तब बीचमें एक दिन छोड़ दिया जाता था। इससे उत्सर्गी और अनुत्सर्गी नामक भेद उत्पन्न हो गये; क्योंकि कुछ लोग दिन छोड़ते थे और कुछ न छोड़ते थे। तैत्तिरीय संहिताके "उत्सृज्या नोत्सृज्या इति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः" इस अनुवाकमें इसी विषयकी चर्चा है। इस सूक्तसे मालूम होता है कि उस समय सावन और चान्द्र महीने तथा सावन वर्ष और चान्द्र वर्ष दोनों प्रचलित थे। इस तैत्तिरीय सूक्तका अवतरण यहाँ देने योग्य है:—

अमावास्यया हि मासान्संपाद्य अहरुत्सृजन्ति। अमावास्यया हि मासान् संपश्यन्ति ॥

यहां पर भाष्यकार कहते हैं—"यदिदं पक्षद्वयं सावनमासाभिप्रायम्। अथ चान्द्रमासाभिप्रायेण पक्षद्वयमाह।" ऊपर का अनुवाक 'गवामयनम्' के वार्षिक सत्रके सम्बन्धमें है। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि वर्ष सावन-मासोंके द्वारा और चान्द्र मासोंके भी द्वारा पूरा किया जाता था। चान्द्र मास दो प्रकारके थे; एक पौर्णिमाको समाप्त होनेवाले और दूसरे अमावस्याको समाप्त होनेवाले। यह स्पष्ट मालूम होता है कि बारह चान्द्र मासोंमें वर्ष पूरा करनेवाले लोग तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थके समय थे। शतपथ-ब्राह्मण (कांड ११,१—१०) में कहा गया है कि इस तरहके ३० चान्द्र वर्षोंके बीतने पर वर्ष सब ऋतु-चक्रोंमें घूम जाता है। तथापि, मालूम होता है कि अधिक मास रखनेकी प्रथा न थी। तात्पर्य यही दिखाई पड़ता है कि तैत्तिरीय-संहिता और ब्राह्मण-कालमें चान्द्र वर्ष माननेवाले बहुतसे लोग थे। हमने पहले बतला दिया है कि यही समय भारती युद्धका था। पहले यह भी बतलाया जा चुका है कि भारती युद्ध ऋग्वेदके बाद और ब्राह्मण-ग्रन्थके पहले हुआ।

अब हम यह विचार करेंगे कि सौर वर्ष और चान्द्र वर्षका मेल मिलाकर आर्योंने सौर वर्षका ही प्रचार कबसे किया। वेदांग ज्योतिषमें यह व्यवस्था की गई है, कि पाँच वर्षोंका एक युग मानकर प्रत्येक ढाई वर्षोंमें एक महीना अधिक जोड़ना चाहिये। यह व्यवस्था स्थूल हिसाबकी है, अतएव इसमें कुछ वर्षोंके बाद दिन बढ़ जाते हैं; इसलिये एक क्षय मास रखनेकी प्रथा शुरू की गई। यही वेदांग ज्योतिषका समय सन् ईसवीसे पूर्व १४००के लगभग है। इसके बाद जब राशि, अंश आदि विभागात्मक गणित स्थिर किया गया और सन् ईसवीके आरम्भके लगभग नये सिद्धान्त प्रचलित हुए, उस समय पाँच सम्वत्सरोंके युगकी प्रथा छोड़कर यह नया सूक्ष्म सिद्धान्त स्थिर किया गया कि जिस मासमें सूर्य-संक्रान्ति न हो, वह अधिक मास और जिसमें दो सूर्य-संक्रान्तियाँ हों वह क्षय मास समझा जाय। यही सिद्धान्त आजतक जारी है। इससे प्रकट होता है कि चान्द्र वर्ष, सन् ईसवीके इस ओर, अवश्य बिलकुल

बन्द हो गये थे। यह तो निर्विवाद है ही; परन्तु यह भी मालूम होता है कि वेदांग ज्योतिषके बाद भी चान्द्र वर्षका प्रचार न रहा होगा, क्योंकि वेदांग ज्योतिषमें चान्द्र वर्षका उल्लेख बिलकुल नहीं है। इससे यह अनुमान निकलता है कि भारती युद्ध वेदांग ज्योतिषके बहुत पहले हुआ।

भारतीय युद्धके वेदांग ज्योतिषके बहुत पहले होनेका अनुमान निकालनेके लिये कुछ कारण है जिसके बारेमें हमें और भी विचार करना चाहिये। दीक्षित कहते हैं कि यह जाननेके लिये कोई साधन नहीं है कि वैदिक कालमें अधिक मास कितने महीनोंमें रखते थे। वेदांग ज्योतिषमें कहा है कि ३० महीनोंमें अधिक मास होना चाहिये। जब वेदांग कालमें यह नियम था, तब इसके सम्बन्धमें वेदकालमें भी कोई नियम अवश्य होगा। हमारा मत है कि भीष्मके उक्त वचनमें यह नियम दिखाई पड़ता है। हमारा मत है कि पाँच वर्षोंमें एक दम दो महीने अधिक रख देनेकी प्रथा, भारती युद्धके समय अर्थात तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थके समय रही होगी। इसका एक प्रमाण है। पाँच वर्षोंका युग बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें पाँच वर्षोंके भिन्न भिन्न संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर आदि नाम पाये जाते हैं। ऋग्वेद संहिता-मंत्रमें भी दो नाम हैं। अर्थात् पाँच संवत्सर-युग वेदांग ज्योतिषके पहलेका है। पाँच वर्षोंमें दो महीने एक दम अधिक जोड़ देनेकी प्रथा संहिता कालमें जारी होगी। इस व्यवस्थासे ऋतुमें फिर कमी-बेशी होने लगी, इसलिये कुछ वर्षोंके बाद एक क्षय मास रखनेकी पद्धति शुरू हुई। तात्पर्य, ब्राह्मण कालमें दो अधिक महीने और एक क्षय महीना रखनेकी प्रथा रही होगी। वाजसनेयि संहितामें बारह महीनोंके बारह नामोंके सिवा तीन नाम सन्सर्प, मलिम्लुच और अंहस्पति भी दिये गये हैं। इनमेंसे संसर्प और मलिम्लुच अधिक मासोंके नाम हैं और अंहस्पति क्षय मासका नाम है। अब प्रश्न यह है कि अधिक मासके नाम दो क्यों रखे गये? अनुमानसे मालूम होता है कि तीस महीनोंके बाद एक अधिक मास होनेका वेदांग-कालीन नियम ब्राह्मण-कालमें नहीं था। उस समय यह नियम रहा होगा कि पाँच वर्षोंके बाद दो महीने जोड़े जायँ, और उन्हीं दोके ये भिन्न भिन्न नाम होंगे। सारांश, भीष्मके वचनसे पाँच पाँच वर्षोंमें दो अधिक मासका होना पाया जाता है। सिद्ध है कि यह रीति वेदांगके पहलेकी है; अर्थात् उसका समय सन् ईसवीके पूर्व ३१०१ वर्ष माननेमें कोई हर्ज नहीं है।

यहाँ यह शंका होगी कि यदि पहले चान्द्र-वर्ष मानते थे, अर्थात् लौकिक और वैदिक व्यवहारमें चान्द्र-वर्षका उपयोग होता था, तो उन महीनोंके नाम क्या थे? यदि अधिक महीने जोड़े न जायँ, तो यह नियम भी नहीं रह सकता कि प्रत्येक महीनेकी पौर्णिमा अमुक नक्षत्र पर ही रहे; अर्थात् चैत्र, वैशाख आदि नाम भी नहीं हो सकते। कारण यह है कि ये नाम उन उन महीनोंकी पौर्णिमा पर रहनेवाले नक्षत्रोंके द्वारा प्राप्त हुए हैं। इसका उत्तर यह है कि पहले चैत्र, वैशाख आदि नामोंका प्रचार सचमुच ही न था। संहिता-ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें चैत्रादि महीनोंके नाम कहीं नहीं पाये जाते, जिससे उनका प्रचारमें न रहना सिद्ध होता है। फाल्गुनी पौर्णिमा इत्यादि संज्ञाका प्रचार हो जाने पर भी महीनोंके फाल्गुन आदि नामोंका प्रचार होनेमें बहुतसा समय लग गया। (दीक्षित, पृष्ठ ३९) पहले महीनोंके दो

प्रकारके नाम थे। मधु-माधव इत्यादि नामोंकी तरह अरुण-अरुणरजा आदि दूसरे नाम थे। ये नाम तैत्तिरीय ब्राह्मणमें आये हैं। मधु आदि नाम तो ऋतुवाचक हैं, पर चान्द्र वर्ष ऋतुओंके अनुकूल नहीं है। इसलिये, दूसरे नाम चान्द्र-वर्षके महीनोंके होंगे। जब अकेला सौर वर्ष प्रचलित हुआ, उसी समय चैत्र, वैशाख आदि नामोंका प्रचार हुआ। चान्द्र वर्षके अप्रचलित हो जाने पर चान्द्र मासोंके पहलेके नाम भी स्वभावतः लुप्त हो गये। यहाँतक कि अब उनका पता भी लोगोंको नहीं है। चान्द्र वर्षके अप्रचलित होने पर चैत्र आदि नामोंका प्रचार हुआ। दीक्षितने बतलाया है कि इन नामोंका प्रचार कबसे हुआ। इनका प्रचार सन् ईसवीके पूर्व लगभग २००० के समय हुआ (दीक्षित; पृष्ठ १०२), अर्थात् २०००के बाद चान्द्र वर्ष अप्रचलित हो गया। भारती युद्ध चान्द्र वर्षके प्रचलित रहते समय हुआ: अतएव उसका समय सन् ईसवीके पूर्व २००० के पहले होना चाहिये। वर्तमान भारतमें चैत्र वैशाख आदि महीनोंके नाम पाये जाते हैं; परन्तु महाभारतका समय सन् ईसवीके लगभग ३०० वर्ष पहलेका है: अर्थात उस समय चैत्र वैशाखादि नामोंका ही प्रचार था और पहलेके सब नामोंके अप्रचलित हो जानेके कारण वे महाभारतमें नहीं पाये जाते।

हमने यह मानकर ही भीष्मके वचनका आदर किया है कि पाण्डव भारतीय युद्धके समय लौकिक व्यवहारमें चान्द्र वर्षका उपयोग करते थे। परन्तु अब हमें यह देखना चाहिये कि चतुर्धर टीकाकारने दूसरी तरहसे उसका जो अर्थ समझानेका प्रयत्न किया है, वह कहाँतक ठीक है। वह कहता है:—

"षष्ठ्यधिकशतत्रयदिनात्मा सावनः। स एव द्वादशवार्षिकादिषु गवामयनादिषु उपयुज्यते, "त्रीणि शतानि पंचषष्ठिदिनानि पञ्चदश घटिका इत्यादि सौरसंवत्सर मानं स्मार्ते। वर्धापनादौ तु चांद्रेण।" अर्थः—"सावन वर्ष ३६० दिनोंका होता है। वह गवामयन इत्यादि सत्रोंमें उपयोगी होता है। सौर वर्षका मान ३६५ दिन और १५ घड़ी है। यह स्मार्त कर्मों अर्थात् स्मृतिमें कहे हुए कर्मोंके सम्बन्धमें काम आता है और वर्धापन (ब्याजके हिसाब करने आदिमें) चांद्र वर्ष उपयोगी होती है।" चतुर्धरने यह बात अपने समयके सम्बन्धमें बतलाई है; वह कुछ भारती युद्धके समयकी नहीं है। तैत्तिरीयमें कहा है कि गवामयनादि सत्रोंमें भी चांद्र वर्ष मानना मना नहीं है। ३६५¼ दिनोंका सौर वर्ष वेदांग ज्योतिषको बिलकुल मालूम ही नहीं। परन्तु चतुर्धरके मतपर मुख्य आक्षेप यह है कि जब ऐसा निश्चित नियम था कि श्रौत-धर्ममें सावन वर्ष तथा ब्याज, द्यूत और व्यवहारोंमें चान्द्र वर्षको मानना चाहिये, तो क्या वह नियम दुर्योधनको मालूम नहीं था? और क्या द्रोणको भी मालूम न था? ऐसा नियम होता तो झगड़ा किस बातका था? सारांश, चतुर्धरका किया हुआ अर्थ मान्य करने योग्य नहीं है: यही मानना पड़ता है कि पाण्डव चान्द्र-वर्ष मानते थे और दुर्योधनादि कौरव सौर-वर्ष मानते थे।

ऊपरके प्रमाणसे भी भारतीय युद्धका अत्यन्त प्राचीन कालमें होना सिद्ध होता है।

क्या पाण्डवोंने वनवासकी शर्त चान्द्र-मानसे पूरी की?

इसी विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला एक प्रश्न यह है, कि पाण्डव वनवासके लिये कब गये और कब प्रकट हुए? इस

प्रश्नको बहुतेरे आदमियोंने उपस्थित किया है। कुछ पाठकोंकी इच्छा यह जाननेकी भी होगी, कि पाण्डवोंने बनवास तथा अज्ञातवासका समय चान्द्र वर्षसे भी पूरा किया या नहीं। अर्थात् यह देखना चाहिये कि पाण्डवोंका प्रणपालन चान्द्र-मानसे सिद्ध होता है या नहीं। महाभारतमें बतलाई हुई परिस्थिति थोड़ीसी संदिग्ध है। तथापि हम इस प्रश्नको हल करनेका प्रयत्न करेंगे। महाभारतमें इस बातका कहीं उल्लेख नहीं है कि पाण्डव बनवासके लिये कब गये। महाभारतमें द्यूतके महीने, मिति अथवा ऋतुका भी उल्लेख कहीं नहीं है। चतुर्धरने अपनी टीकामें यह मान लिया है कि पाण्डवोंने आश्विन-कार्तिकके महीनोंमें जूआ खेला होगा। ऐसा मान लेना साधारण व्यवहारके अनुकूल है, क्योंकि दशहरेके बाद दिवालीतक सभी जगह लोग जूआ खेलते हैं। अस्तु; यह वर्णन पाया जाता है कि गो-ग्रहणके समय पहले अर्जुन प्रकट हुआ और दुर्योधन आदिने उसे पहचाना। उसका रथ भी वहाँ आकर उसे मिला। उसने अपने हाथकी चूड़ियाँ तोड़ डालीं और कानोंसे सुवर्ण कुण्डलोंको निकाल दिया। महाभारतमें बतलाया गया है कि यह गोग्रहण किस **मिति**को हुआ; परन्तु आश्चर्यकी बात है कि उसका **महीना** नहीं बतलाया गया है। विराट पर्वके ३१वें अध्यायमें कहा गया है कि सुशर्मा कृष्ण पक्षकी सप्तमीको गोग्रहणके लिये दक्षिण गया; और वहीं यह भी कहा गया है कि उत्तर गोग्रहणके लिये कौरव कृष्ण पक्षकी अष्टमीको (दूसरे ही दिन) गये; परन्तु यह नहीं बतलाया गया है कि कृष्ण पक्षकी यह सप्तमी या अष्टमी किस महीनेकी है। हम बतला चुके हैं कि मार्गशीर्षादि महीनोंके नाम भारतीय युद्धके बाद प्रचलित हुए। चान्द्र-मासके जो अरुण, अरुणरजा आदि नाम उस समय प्रचलित थे, उनमेंसे एकाध नाम मूल भारतमें यदि रह गया तो कोई आश्चर्य नहीं। यह नाम पीछे लुप्त हो गया होगा। चाहे कुछ हो, कृष्ण पक्षकी यह सप्तमी ग्रीष्म ऋतुकी मालूम होती है, क्योंकि उस समय ग्रीष्म ऋतु होनेका वर्णन है (विराट० अ० ४७)। इससे मालूम होता है कि यह अष्टमी, सौर ज्येष्ठ कृष्ण पक्षकी अष्टमी होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि ज्येष्ठ बदी अष्टमीको पूरे तेरह वर्ष नहीं हो चुके थे। उस दिन युधिष्ठिरने विराट राजाके हाथसे पासेकी मार सही थी; परन्तु इसका कारण यह नहीं था कि उस दिन वे प्रकट नहीं हो सकते थे—इसका कारण यही था कि उस समय प्रकट होना प्रशस्त नहीं मालूम होता था। आगे वर्णन किया ही गया है कि उचित समय देखकर पाण्डव एकदम प्रकट हो गये। इसके सिवा, प्रारम्भमें ३१वें अध्यायमें कहा गया है कि—"फिर उस तेरहवें वर्षके अन्तमें सुशर्माने विराट राजाकी गौओंका हरण किया।" इसमें साफ साफ कहा गया है कि बदी सप्तमीको तेरह वर्ष पूरे हो गये थे। अष्टमीको अर्जुन प्रकट हुआ था, परन्तु वह नियत समयके दो दिन पहले प्रकट नहीं हुआ था। यह भी स्पष्ट है कि यदि समय-सम्बन्धी दो ही दिनोंकी भूल हुई होती, तो दुर्योधनने भी इतना झगड़ा न किया होता। सौर वर्षके मानसे दुर्योधनका खयाल यह था कि आश्विन बदी अष्टमीको अथवा उसके लगभग जूआ हुआ था और आश्विनके पहले ही जेठ बदी अष्टमीको अर्जुन पहचान लिया गया, अर्थात् वह नियत समयके चार महीने पहले ही प्रकट हो गया; इसलिये पाण्डवोंको फिर बनवास भोगना

चाहिये। दुर्योधनके भाषणसे यह नहीं दिखलाया जा सकता कि पाण्डव कितने दिनोंके पहले प्रकट हुए थे। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि केवल दो ही दिनोंकी अवधि बाकी थी। "बदी अष्टमी को दुर्योधन आदि मित्रमण्डली गोग्रहण के लिये गई" इस उल्लेखमें महीनेका नाम नहीं है। इससे, सम्भव है कि, केवल तिथिका महत्व समझा जाय। परन्तु, दशमीको सब पाण्डव प्रकट होकर विराटकी गद्दी पर बैठे; इस कथनसे यह नहीं कहा जा सकता कि दशमीको अवधि समाप्त होती थी। अन्य प्रमाणोंसे भी सिद्ध किया जा सकता है कि केवल दो ही दिनोंका अन्तर नहीं था। जिस समय गोग्रहणका निश्चय किया गया, उस समयके वादविवादको ध्यानमें रखना चाहिये। २५वें अध्यायमें, पाण्डवों-की खोजके लिये भेजे हुए दूतोंने वापस आकर कहा है कि—"पाण्डवोंका कुछ भी पता नहीं मिलता। केवल यह बात मालूम हुई है कि विराट नगरमें गन्धर्वोंने कीचकको मार डाला।" उस समय दुर्योधन कहने लगा—"पाण्डवोंका पता लगना अवश्य चाहिये। पाण्डवोंके अज्ञात-वासका समय प्रायः समाप्त हो गया है: बिलकुल थोड़ा समय बाकी रह गया है। यदि वे अपना प्रण पूरा कर आवेंगे, तो वे हम लोगों पर चिढ़े हुए रहेंगे।" इस वाक्यसे सचमुच यह मालूम नहीं होता कि कितनी विशिष्ट अवधि बाकी रह गई थी; परन्तु आगे चलकर कर्णके भाषण-से वह निश्चित हो जाती है। कर्ण कहने लगा—"राजा साहब, पाण्डवोंकी खोज करनेके लिये दूसरे होशियार और निपुण जासूस शीघ्र भेजे जायँ।" इसे सुनकर दुर्योधनने दुःशासनको शीघ्र ही दूसरे गुप्तचर भेजनेकी आज्ञा दी। इससे प्रकट होता है कि दूसरे जासूस भेजकर पाण्ड-वोंको ढूँढ़ निकालनेके लिये अवधि बची थी। यदि दो दिनोंकी ही अवधि होती, तो दूसरे जासूस भेजनेसे कुछ लाभ न होता। यह सम्भव है कि आठ महीनेकी अवधि समाप्त हो चुकी हो और चार महीनेकी बच रही हो। इसी सभामें वह त्रिगर्त राजा भी बैठा था जिसका परा-भव कीचकने किया था। उसने विराट पर आक्रमण करनेकी सलाह दी और यह सलाह ठीक समझी जाकर आक्रमण किया गया। इस आक्रमणमें पाण्डवोंको प्रकट करने-करानेका विचार बिलकुल नहीं था। यह बात अचानक हो गई। सभाकी उक्त बातोंसे भी यही दिखाई पड़ता है कि उस समय चार महीनेकी अवधि बाकी थी। यह भी स्पष्ट है कि चान्द्र और सौर मासोंमें चार महीनेका अन्तर पड़ा। यह समझकर कि पाण्डव चार मासके पहले ही पहचान लिये गये, दुर्योधनने कहा—"अज्ञातवासका तेरहवाँ वर्ष अभीतक समाप्त नहीं हुआ है। राज्य-लोभसे अन्धे हो जानेके कारण उन्हें इस बातका स्मरण न रहा होगा: अथवा **काल-गणनाके विषयमें हमारी धारणा ही भ्रमपूर्ण होगी।** इसमें जो कुछ सत्यासत्य हो उसे भीष्म बतला दें।" इससे दुर्योधनके भी मनमें शङ्काका होना सिद्ध होता है। मालूम होता है कि उसके मनमें यह सन्देह था, कि पाण्डव चान्द्र वर्षका पालन करनेवाले हैं; अतएव कदाचित् उनके तेरह वर्ष पूरे हो चुके हों। आश्विन, ज्येष्ठ आदि महीनोंके क्रम उस समय शुरू नहीं हुए थे। परन्तु यह स्पष्ट है कि दोनोंके नाम एकसे ही न रहे होंगे। पाँच वर्षोंमें स्थूल मानसे दो महीने अधिक जोड़ देनेके नियमसे, भीष्मके कथनानुसार, तेरह वर्षोंमें दस वर्षोंके चार

महीने अधिक तो हो ही चुके थे, परन्तु आगे और भी १ महीना तथा १२ रात्रियाँ बढ़ गईं। अर्थात, भीष्मने यह निर्णय किया कि चान्द्र मानसे पाण्डवोंके तेरह वर्ष पूरे हो चुके। सबका सार यह है कि जूआ आश्विन बदी अष्टमीको सौर वर्षमें हुआ था। उसके बाद १३ वर्षोंमें चान्द्र मास पीछे हटकर चान्द्रमानके तेरह वर्ष ग्रीष्ममें ही पूरे हो गये। चान्द्रमानके तेरह वर्ष सौर ज्येष्ठ बदी सप्तमीको पूरे हो गये। उसी दिन सुशर्माने दक्षिणमें गोग्रहण किया; और अष्टमीको कौरवों-ने उत्तरमें गोग्रहण किया। इससे यही मेल ठीक होता है कि ज्येष्ठ बदी अष्टमी-को अर्जुन पहचाना गया और दशमीको पाण्डव योग्य रीतिसे विराट सभामें प्रकट हुए। आजकल महाभारतमें केवल सप्तमी-अष्टमीका उल्लेख है, महीनेका उल्लेख नहीं है। इसी कारण यह भ्रम उत्पन्न होता है।

इसके आगेकी घटनाको मितिके साथ मिलाना चाहिये। इसके आगे विराट-नगरमें उत्तरा और अभिमन्युका जो विवाह हुआ, वह आषाढ़ सुदी ११ तक हुआ होगा। श्रीकृष्ण, अभिमन्यु आदिके द्वारकासे आने पर यह विवाह हुआ। इसके बाद सब लोग एकत्र होकर, उपप्लव्य नामक एक सीमा-स्थान पर रहकर, युद्ध-सामग्रीका संग्रह करने लगे। कार्तिक सुदीमें श्रीकृष्ण राजदूत बनकर सुलह (सन्धि) की शर्तें तय करने गये। उन्हें सफलता न हुई। मार्ग-शीर्ष सुदी तेरसको युद्ध आरम्भ हुआ और वह अठारह दिनोंतक चला। उसमें अभिमन्यु मारा गया। विवाहके समय उत्तरा सयानी थी, अतएव उसे गर्भ रह जाना सम्भव है। अपने पतिके युद्धमें मरनेके समय वह तीन चार महीनोंकी गर्भवती होगी। आगे फागुनमें उसका प्रसव हुआ। उस समय मरा हुआ लड़का पैदा हुआ। गर्भधारणके समय पतिकी मृत्युके दुःखसे ऐसा हो जाना सम्भव है। उस मृत बालकको श्रीकृष्णने अपने दिव्य प्रभावसे जिला दिया। उस समय पाण्डव हस्तिनापुरमें न थे; वे द्रव्य लानेके लिये हिमालय गये थे। उनके वापस आने पर कहा गया है कि चैत्रकी पौर्णिमाको युधिष्ठिरने अश्वमेधकी दीक्षा ली। यह भी कहा गया है कि इसके लगभग एक महीनेके पहले परीक्षितका जन्म हो चुका था। अर्थात् उसका जन्म फागुनमें हुआ। यह वर्णन पाया जाता है कि वह कम दिनोंमें अर्थात् उचित समयके पहले (छः महीनेमें) हुआ; अतएव उसके माता-पिताका ब्याह कमसे कम आषाढ़में हुआ होगा। इस क्रमसे गोग्रहणका महीना जेठ ही निश्चित होता है। चतुर्धर टीका-कारने पाण्डवोंके प्रकट होनेका जो समय चैत्र बदी १० बतलाया है, वह गलत है। पहली बात यह है कि ग्रीष्म ऋतु होनेका स्पष्ट वचन रहने पर गोग्रहणका चैत्रमें होना नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि चतुर्धरने अन्दाजसे जो लिखा है कि जूआ आश्विनमें हुआ, वह ठीक है। तब चैत्रसे छः महीने ही होते हैं। दुर्यो-धनकी समझके अनुसार अज्ञातवासका आधा ही समय बीता था—इससे कुछ अधिक समय नहीं बीता था। ऐसी दशामें दुर्योधनके इस कथनसे विरोध होता है कि प्रायः अधिक समय बीत चुका। इसके सिवा, पाँच महीने भी अधिक मासके हो जाते हैं और भीष्मके वचनसे मिलान नहीं होता। सब बातोंका विचार करने पर जूएकी मिति आश्विन बदी अष्टमी और पाण्डवोंके प्रकट होनेकी मिति ज्येष्ठ बदी अष्टमी ही ठीक मालूम होता है। स्त्रीपर्वके

२०वें अध्यायमें, उत्तराके विलापमें, कहा गया है कि—"मेरा और आपका समागम छः महीनोंका था, सातवेंमें आपकी मृत्यु हो गई।" इससे ब्याहका वैशाखमें होना ठीक जमता नहीं, ज्येष्ठ बदी ११को ठीक मालूम होता है; अर्थात् मार्गशीर्ष बदी ११को छः महीने पूरे होते हैं। ये आश्विन ज्येष्ठ आदि महीने सौर वर्षके ही हैं। स्मरण रहे कि ये नाम भारती युद्धके बादकी पद्धतिके अनुसार बतलाये गये हैं। उक्त विवेचनसे मालूम होता है कि पाण्डवोंने अपनी शर्त चान्द्रमानसे पूरी की। इसलिये यह सिद्धान्त दृढ़ होता है कि पाण्डव चान्द्र मानका वर्ष मानते थे। और इस इस रीतिसे हमने भारती युद्धका जो समय वैदिक कालीन शतपथ-ब्राह्मणके पहले बतलाया है, उसका समर्थन हो जाता है।

ग्रहस्थितिके आधार पर युद्धका समय निकालनेका प्रयत्न।

अब अंतमें हमारे लिये यह देखना बाकी रह गया है कि, युद्धकालकी ग्रहस्थितिका जो वर्णन महाभारतमें, विशेषतः उद्योगपर्वके अन्त और भीष्म-पर्वके आरम्भमें आया है, उसके आधार पर परलोकवासी मोडकने भारती युद्ध-काल बतलानेका जो प्रयत्न किया है, वह कहाँ तक सफल हुआ है। इसीके साथ भारतीय युद्धकी जन्त्री, अर्थात् मितिवार घटनाओं आदि दूसरी बातोंका भी विचार कर लेना चाहिये। इसके लिये उन सब वचनोंको यहाँ एकत्र करना पड़ेगा जो इस विषयमें महाभारतमें भिन्न भिन्न स्थानोंमें कहे गये हैं, जिसमें इन बातोंका विचार सभी दृष्टियोंसे ठीक ठीक किया जा सके। पहली बात यह है कि जब श्रीकृष्ण दूतकर्म करनेके लिये कौरवोंके पास जानेको निकले, तब वे—

कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे।

अर्थात् कार्तिक महीनेमें रेवती नक्षत्र पर चले थे। उस दिन रेवती नक्षत्र था, इससे यह दिन सुदी तेरस ही जान पड़ता है। कदाचित् एक दो दिन आगे पीछे भी हों। उपप्लव्यसे हस्तिनापुर जानेमें उन्हें दो दिन लगे। हस्तिनापुरमें उन्हें चार पाँच दिन रहना पड़ा। वहाँसे आते समय उन्होंने कर्णसे भेंट की। इस भेंटमें कर्णका भाषण हुआ। उसमें कर्णने इस प्रकार ग्रहस्थितिका वर्णन किया है—"उग्र ग्रह शनैश्चर रोहिणी नक्षत्रमें मंगलको पीड़ा दे रहा है। ज्येष्ठा नक्षत्रमें मंगल वक्र होकर अनुराधा नामक नक्षत्रसे मिलना चाहता है। महापात संज्ञक ग्रह चित्रा नक्षत्रको पीड़ा दे रहा है। चन्द्रके चिह्न बदल गये हैं और राहु सूर्यको ग्रसित करना चाहता है।" (उद्योग० अ० १४३) इसके बाद श्रीकृष्ण वापस चले गये और दुर्योधनने अपनी सेना एकत्र कर पुष्य नक्षत्रके मुहूर्तमें कुरुक्षेत्रकी ओर प्रस्थान किया। उस दिन कार्तिक बदी षष्ठी रही होगी। पाठकोंको ध्यान रखना चाहिये कि कार्तिकमें पुष्य नक्षत्र बहुधा बदी षष्ठी या सप्तमीको ही आता है। इसके पहलेके १४२वें अध्यायके अन्त-में श्रीकृष्णने कर्णसे कहा है—"कीचड़ साफ हो गया है और जल बहुत रुचिर हो गया है। हवा भी न तो अति उष्ण है और न अति शीत है। यह महीना सभी तरहसे सुखदायक है। आजसे सात दिनोंमें अमावस्या होगी। अमावस्याके देवता इन्द्र हैं। युद्ध आरम्भ करनेके लिये यह अनुकूल स्थिति है। अमावस्याको ही युद्धका आरम्भ होने दो।" इससे मालूम होता है कि जिस दिन श्रीकृष्ण गये, उसी

दिन दुर्योधनने अपनी सेना इकट्ठी की थी। इस भाषणका और आगे भीष्मके भाषणका मेल मिलाने पर मालूम होता है कि कार्तिक बदी अमावस्या १३ दिनोंमें हुई होगी। भीष्म पर्वके आरम्भमें धृतराष्ट्र से मुलाकात कर, व्यासने उसके द्वारा युद्ध बन्द करनेका प्रयत्न किया; परन्तु सफलता न हुई। इस समय व्यासने कुछ अनिष्टकारक ग्रहस्थितिका वर्णन किया है; उसे हम आगे बतलावेंगे। परन्तु उन्होंने आगे यह वर्णन किया है कि—"१४-१५-१६ दिनोंका पखवाड़ा होते हुए मैंने सुना है, परन्तु १३ दिनोंका पाख इसी समय आया है। यह अश्रुतपूर्व योग है। इससे भी अधिक विपरीत बात तो यह है कि एक महीनेमें चन्द्र और सूर्यको ग्रहण लगे और वह भी त्रयोदशीको लगे।" इसका और श्रीकृष्णके पहले दिये हुए वचनका मेल मिलानेसे मालूम पड़ता है कि धृतराष्ट्रसे भेंट करनेके लिये व्यास मार्गशीर्षमें किसी दिन गये होंगे। सम्भवतः वे शुक्लपक्षमें ही गये होंगे। उसके पहलेका पक्ष १३ दिनोंका था और अमावस्याको सूर्यग्रहण हुआ था। यह वर्णन है कि एक ही महीनेमें दो ग्रहण हुए थे, इससे मालूम होता है कि चन्द्र ग्रहण कार्तिक पौर्णिमा को हुआ होगा। यह ग्रहण उस समय लगा होगा, जब श्रीकृष्ण हस्तिनापुरमें थे। यदि वहाँ उल्लेख नहीं किया गया तो यह कोई महत्वकी बात नहीं है। कदाचित् यहाँ यह भी कहना सम्भव है, कि दर्श पौर्णिमाको छोड़कर जो ग्रहण पड़ता है, वह अतिशयोक्ति है। इसके आगे युद्धका आरम्भ हुआ; उस दिनके सम्बन्धमें यह वाक्य कहा गया है—

मघाविषयगः सोमस्तद्दिनं प्रत्यपद्यत।

इसका आपाततः यही अर्थ लिया जा सकता है कि उस दिन चन्द्रमा मघा नक्षत्र पर आ गया था। आगे, शल्यपर्वमें जब लड़ाईके अन्तमें अर्थात अठारहवें दिन बलराम आये, तब उन्होंने कहा कि—

पुष्येण संप्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः।

"मैं पुष्य नक्षत्रमें गया था और श्रवणमें वापस आया हूँ।" इससे युद्धके अठारहवें दिन श्रवण नक्षत्रका होना सिद्ध होता है। इससे अन्दाज होता है कि युद्धके आरम्भमें श्रवणके पूर्व अठारहवाँ नक्षत्र रहना चाहिये; अर्थात् इस वाक्यसे मालूम होता है कि युद्धके आरम्भमें चन्द्रमा मृग नक्षत्रमें था। सम्भव है कि चन्द्रमा कुछ आगे पीछे भी रहा हो, यानी आर्द्रा पुनर्वसु हो, परन्तु मघा नहीं हो सकता। तात्पर्य, इनमेंसे भी एक वाक्य मुख्य समझकर दूसरेका अर्थ बदलना चाहिये। हम इसी दूसरे वाक्यको मुख्य मानकर चन्द्रमाका मृगमें युद्धारम्भमें होना मानते हैं। श्रीकृष्णने कहा था कि कार्तिकी अमावस्यासे युद्ध होने दो, परन्तु वैसा नहीं हुआ। मालूम होता है कि मार्गशीर्ष मासमें मृगनक्षत्रमें युद्ध शुरू हुआ। अर्थात् उस दिन पौर्णिमा अथवा सुदी चतुर्दशी अथवा अधिकसे अधिक त्रयोदशी रही होगी। भीष्मका युद्ध दस दिन हुआ; यानी भीष्म मार्गशीर्ष बदी दशमी, नवमी अथवा अष्टमीको गिरे। इसके बाद द्रोणका युद्ध पाँच दिनोंतक हुआ; अर्थात् द्रोण मार्गशीर्ष बदी अमावस्याको अथवा दो एक दिन आगे गिरे होंगे। परन्तु यहाँ निश्चयपूर्वक मालूम होता है कि द्रोण बदी त्रयोदशीको गिरे; क्योंकि यह वर्णन है कि जयद्रथ-वधके बाद रात्रिका भी युद्ध जारी रहा, और एक प्रहर रात्रि बाकी रहने पर चन्द्रोदय हुआ। इससे मालूम होता है कि वह रात्रि द्वादशीकी रही होगी। फिर कर्णका दो दिनोंतक अर्थात् मार्गशीर्ष बदी अमावस्यातक और दुर्यो-

धन तथा शल्यका एक दिन, पूस सुदी १ को, युद्ध जारी रहा। इसके बाद महाभारतमें जो महत्वपूर्ण वचन हैं, वे भीष्मकी मृत्युके बारेमें हैं। उनकी मृत्यु माघ महीनेमें हुई। उनके उस समयके वचनोंका और मृत्यु-तिथिका विचार हम पीछे करेंगे। यहांतक हमने स्थूल मानसे युद्धकी मिति सहित जन्त्री तैयार की है।

अब हम पहले उन मुख्य कठिनाइयोंका विचार करेंगे, जो महाभारतके वचनों द्वारा तथा उसमें बतलाये हुए नक्षत्रों और ग्रहस्थिति द्वारा ऐतिहासिक अनुमान निकालते समय, आ खड़ी होती हैं। हम पहले कह चुके हैं कि सौतिने मूल भारतको विस्तृत कर दिया है। यही पहली अड़चन है, क्योंकि प्रश्न उठता है कि मूल भारतके वचन कौनसे हैं और सौतिके द्वारा बढ़ाये हुए वचन कौनसे हैं? इस बातकी अधिक सम्भावना है कि यदि मूल भारतका वचन हो तो उसमें बहुधा प्रत्यक्ष स्थितिका वर्णन दिया गया होगा। पीछेके वचन काल्पनिक होनेके कारण उनसे ऐतिहासिक अनुमान नहीं निकाले जा सकते। यदि वैसा समय गणितसे निकाला जाय तो वह विश्वसनीय नहीं हो सकता। दूसरी कठिनाई यह है कि इसके सम्बन्धके बहुतेरे वचन—चाहे वे सौतिके हों अथवा पहलेके हों—आपसमें विरोधी और कूट अर्थके हैं, जिससे उनका कुछ भिन्न अर्थ लगाना पड़ता है। ऐसे कूट श्लोक बहुधा संख्या पर रचे गये हैं। हमारा अनुमान है कि वे सौतिके होंगे। ये संख्या-सम्बन्धी कूट श्लोक कैसे होते हैं, इसके बारेमें विराट पर्वका उदाहरण देने योग्य है। उसमें कहा गया है कि गोग्रहणके समयतक अर्जुनने ६५ वर्षोंसे गांडीव धनुष धारण किया था। परन्तु ये पैंसठ वर्ष ठीक नहीं बैठते होंगे। इसका विवरण हम दूसरे स्थानमें देंगे। यहाँ इतना ही कहना बस होगा कि '६५ वर्ष' शब्दका इस प्रसङ्गमें कुछ भिन्न अर्थ लगाना पड़ता है। उनकी संख्या आधी यानी ३२½ बरस लेनी पड़ती है। इस तरहसे दो कठिनाइयाँ हैं। इनका विचार न करने पर परस्पर विरोध उत्पन्न होता है और सभी वाक्योंकी सङ्गति नहीं लगाई जा सकती। हमने मुख्यतः यह नियम बना लिया है कि जहाँ कोई वचन साधारण और स्वाभाविक रीतिसे केवल नक्षत्र अथवा तिथिके उल्लेखके सम्बन्धमें आया हो, उसे सरल समझना चाहिये; अर्थात् वही उसका प्रधान अर्थ किया जाय और उसी अर्थके अनुरोधसे दूसरे वचनोंका अर्थ लगाना चाहिये, फिर चाहे वह मूलका वचन हो अथवा बादका हो। इसी तरहसे इस प्रश्नको हल करना चाहिये। तथापि हम सभी वचनोंको मूलके समझकर भी उनका विचार करेंगे और इसका भी दिग्दर्शन करेंगे कि ऐसा करनेसे क्या परिणाम होता है और क्या अड़चन पड़ती है।

अब पहली बात यह है कि ऊपर दिये हुए श्रीकृष्ण, कर्ण और व्यासके वाक्योंसे कार्तिक वदी अमावस्याको युद्धके पहले सूर्यग्रहणका होना हम निश्चित मानते हैं। कार्तिक सुदी पौर्णिमाको चन्द्रग्रहण हुआ होगा; परन्तु यह उतने निश्चयके साथ नहीं कह सकते, क्योंकि व्यासके वचनसे यह ध्वनि निकलती है कि दोनों ग्रहण एक ही दिन पड़े थे, किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है। कुछ लोगोंने यह कल्पना की है कि श्रीकृष्णने जयद्रथवधके समय सूर्य पर आवरण डाल दिया था, जिससे उस दिन सूर्यग्रहण पड़ा होगा; परन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि उस दिन अमावस्या न थी, द्वादशी थी। उस दिन बड़े

तड़के चन्द्रोदय होनेका वर्णन है। यदि मान लिया जाय कि यह तिथि एक दो दिन आगे पीछेकी भी होगी, और यह भी मान लें कि उस दिन (जयद्रथ-वधके दिन) अमावस्या थी, तो एक ही वर्षमें लगातार दो महीनोंमें अर्थात् कार्तिक अमावस्याको और मार्ग-शीर्ष अमावस्याको सूर्यग्रहण होना सम्भव नहीं है। तब प्रश्न होता है कार्तिक बदी अमावस्याके सूर्यग्रहणको सच्चा मानना चाहिये, या मार्गशीर्षकी अमावस्याके ग्रहणको सच्चा समझना चाहिये? कार्तिक महीनेका ग्रहण स्पष्ट शब्दोंमें बतलाया गया है, इसलिये उसीको सच्चा मानना ठीक है। मार्गशीर्षका ग्रहण कल्पनाप्रसूत है। इसके सिवा यदि जयद्रथवध-प्रसङ्गमें ग्रहणसे सूर्यका लोप हो गया हो, तो श्रीकृष्णकी मायाका महत्त्व ही क्या रह गया? ग्रहण खग्रास भी होना चाहिये; उसके बिना अन्धकार नहीं हो सकता। तीसरे यह पहले ही मालूम रहना चाहिये कि ग्रहण होनेवाला है। कदाचित् यह कहा जाय कि पूर्वकालमें ऐसा ज्ञान न था; परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा होना तो दोनों पक्ष घबरा जाते; और अर्जुन तथा श्रीकृष्णको भी भ्रान्ति होनी चाहिये थी कि अर्जुनकी प्रतिज्ञा व्यर्थ हो गई। तात्पर्य यह है कि जयद्रथवधके समय सूर्यग्रहणका होना ठीक नहीं मालूम होता; परन्तु यह कल्पना केतकर नामक प्रसिद्ध ज्योतिषीके द्वारा की गई थी, अतएव उसका उल्लेख यहाँ करना आवश्यक मालूम हुआ (दीक्षितकृत भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ १२४)। तात्पर्य, इस बातको निश्चयात्मक और संशयरहित माननेमें कोई हर्ज नहीं, कि भारतीय युद्धके वर्षमें कार्तिक बदी अमावस्याको सूर्यग्रहण हुआ था। अब हम यह विचार करेंगे कि इस बातका उपयोग काल-निर्णयके काममें कैसे होता है।

हमारे सामने भारती युद्धके मुख्यतः तीन समय उपस्थित हैं:—(१) सन् ईसवीके पहले ३१०१ वर्ष; युद्धका यह समय लोकमतके अनुकूल है। (२) गर्ग, वराहमिहिर और तरंगिणीकारके द्वारा माना हुआ शक पूर्व २५२६ वर्ष; (३) श्रीयुत अय्यरका बतलाया हुआ सन् ईसवीके पूर्व ३१ अक्टूबर ११६४। हमने इसके सम्बन्धमें गणित करके देख लिया है, कि इन तीनों समयोंके वर्षोंमें कार्तिक बदी अमावस्याको ग्रह-स्थिति कैसी थी और सूर्यग्रहण हुआ था या नहीं। विक्टोरिया कालेज, ग्वालियरके प्रोफेसर आपटेने इसके अङ्क भी दिये हैं। वे इस प्रकार हैं:—

कार्तिक वदी ३० शुक्रवार शक ३१८०

ग्रह		अंश			नक्षत्र
सूर्य...	...	..२३४°	५६′	२″	ज्येष्ठा
बुध...	...	...२२५	३२′	५२	अनुराधा अथवा ज्येष्ठा
शुक्र...	...	...२१८°	२६′	३४″	अनुराधा
मङ्गल...	.	...२५८°	३६′	४३″	पूर्वाषाढ़ा अथवा उत्तराषाढ़ा
गुरु...	...	...३५०°	२२′	२२″	रेवती
शनि...	...	...३१४°	५५′	८″	शततारका
राहु...	...	...२३५°	१८′	२६″	ज्येष्ठा

(सूर्यग्रहण अवश्य हुआ। पहलेकी पौर्णिमाको चन्द्रग्रहण नहीं था।)

	कार्तिक बदी अमावस्या शुक्रवार शक २५२७		कार्तिक बदी अमावस्या रविवार शक १२७१	
ग्रह	अंश	नक्षत्र	अंश	नक्षत्र
सूर्य...	...२१२° ४′ ५८″	विशाखा	२३१° १३′ ३७″	ज्येष्ठा
बुध ...	...२१४° २७′ ५७″	अनुराधा	२४६° ४१′ ४६″	मूल
शुक्र...	२५५° ५८′ २६″	पूर्वा अ.उ.षाढा	२३३° १८′ ५७″	ज्येष्ठा
मङ्गल...	...२६८° २६′ ६″	धनिष्ठा अ.शतता.	२५१° ३५′ २४″	मूल
गुरु...	१३° ४२′ १०″	भरणी	३२२° ५२′ १२″	पूर्वाभाद्रपदा
शनि...	... २४° १५′ ३″	भरणी	२५३° ५४′ २७″	पूर्वाषाढ़ा
राहु...	...१६२° ४३′ ५८″	हस्त	८८° ५′ २५″	पुनर्वसु

(इन दोनों वर्षोंमें सूर्य-ग्रहण अथवा चन्द्र-ग्रहण होना सम्भव नहीं है।)

हम समझते हैं कि सूर्यग्रहणका यह प्रमाण अत्यन्त प्रबल है। भारतीय युद्धके पहले सूर्यग्रहण होनेकी बात मूल भारतकी है। वह कुछ सौतिके समयकी नहीं है। अतएव वह अत्यन्त प्राचीन भारतकालीन है। खैर, उसे किसी समयकी मान लें, तो भी वह उस समयकी है जब कि भारतवासी ग्रहगणित करना नहीं जानते थे। वह दन्तकथाकी परम्परासे मशहूर चली आई होगी: अतएव वह विश्वसनीय है। इस दृष्टिसे गणित करके देखने पर यही कहना पड़ता है कि पहला सर्वमान्य समय सिद्ध है: और वराह, गर्ग अथवा बिल्हणका बतलाया हुआ समय तथा श्रीयुत अय्यरका निश्चित किया हुआ समय सिद्ध नहीं होता। चौथा समय, जो पुराणोंके आधार पर बतलाया गया है, गणित करनेके लिये उपयोगी नहीं है; क्योंकि वह स्थूल है, और उसमें निश्चित वर्ष नहीं बतलाया गया है। हमने मान लिया है कि यह समय सन ईसवीके लगभग १४२५ वर्ष पूर्व है; परन्तु यह मोटा हिसाब है, क्योंकि परीक्षितसे नन्दतक १०१५ वर्ष और १११५ वर्ष भी बतलाये गये हैं। नवनन्दके १०० वर्ष भी स्थूल मानके हैं—वे निश्चित संख्या बतलानेवाले नहीं हैं। और, चन्द्रगुप्तका सन ईसवीसे पूर्व ३१२ का समय भी गणितके निश्चयका नहीं है। इसलिये हमने इन वर्षोंका गणित नहीं कराया और इस कारण हम निश्चयपूर्वक नहीं बतला सकते कि इन वर्षोंमें सूर्यग्रहण हुआ या नहीं।

यह आक्षेप हो सकता है कि भारती युद्धके पहले जो सूर्यग्रहणकी घटना बतलाई गई है, वह निश्चयात्मक नहीं है: वह वैसी ही बात है जैसी कि सौतिके द्वारा अनेक प्रसङ्गों पर अरिष्टसूचक अशुभ चिह्नोंके तौर पर बतलाई गई है। इस आक्षेपका निरसन होना कठिन है, क्योंकि हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि उस समय कर्णने और विशेषतः व्यासने कुछ अरिष्ट-सूचक चिह्न कल्पनासे बतलाये हैं। इस प्रकारकी धारणा सभी समयमें प्रचलित रहती है। वह महाभारतके रचनाकालमें भी प्रचलित रही होगी। ज्योतिषियोंके ग्रन्थोंमें इस बातका उल्लेख रहता था कि अशुभ-सूचक भिन्न भिन्न ज्योतिर्विषयक बातें कौन कौन हैं। यह सच है कि सूर्यग्रहण भी उनमेंसे एक है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि इस तरहकी विचारशैलीसे कहीं पैर रखनेके लिये भी जगह न मिलेगी।

अब हम महाभारतमें बतलाई हुई ग्रहस्थितिका विचार करेंगे। ऊपरके गणितमें हमने ग्रहोंकी गणित द्वारा मालूम होनेवाली स्थितिका उल्लेख जान बूझकर किया है। महाभारतमें दी हुई स्थितिसे उसकी तुलना करते बनेगी। पहले कहा जा चुका है कि युद्धके आरम्भके समय चन्द्रमा मघा नक्षत्रमें था। परन्तु बलरामके वाक्यसे मालूम होता है कि वह मृग नक्षत्रमें अथवा उसके आगे-पीछेके किसी नक्षत्रमें था। कर्णका कथन है कि ज्येष्ठासे वक्र होकर मङ्गल अनुराधाकी ओर जा रहा था। भीष्म पर्वके आरम्भमें व्यासके वचनसे मालूम होता है कि मङ्गल वक्र होकर मघा नक्षत्रमें आ गया है। गुरु श्रवणमें आ गया है और शनैश्चर पूर्वाफाल्गुनीको पीड़ा दे रहा है। यहाँ व्यासने यह भी कहा है कि शुक्र पूर्वाभाद्रपदामें आ गया है। परन्तु उद्योग पर्वमें कर्णने कहा है कि उग्र ग्रह शनैश्चर रोहिणी नक्षत्रको पीड़ा दे रहा है। इसी प्रकार भीष्म पर्वमें व्यासने फिर कहा है कि शनि और गुरु विशाखाके पास हैं। मङ्गल वक्रानुवक्र करके श्रवण पर खड़ा है। इसके सिवा और भी कई बातें राहु, केतु और श्वेत ग्रहके सम्बन्धमें बतलाई गई हैं। परन्तु हम खासकर शनि, गुरु, मङ्गल और शुक्रका विचार करेंगे। इन ग्रहोंके भिन्न भिन्न नक्षत्र इस तरह उत्पन्न हो गये हैं। शनि—पूर्वाफाल्गुनी (भीष्म पर्व) और रोहिणी (उद्योग पर्व); गुरु—श्रवण और विशाखा (भीष्म पर्व); मङ्गल—अनुराधा (उद्योग पर्व) और वक्रानुवक्रसे श्रवण (भीष्म पर्व) और मघा; शुक्र—पूर्वाभाद्रपदा (भीष्म पर्व), इत्यादि। पूर्व कथनके अनुसार चन्द्रमा, मघा और मृग नक्षत्रों पर बतलाया गया है। इनमेंसे सच बात कौनसी है? क्या दोनों सच हैं अथवा दोनों झूठ हैं? और यदि हम उक्त ग्रहस्थितिका विचार करते हुए इनमेंसे किसीको झूठ समझ लें, तो यह प्रश्न होता है कि सौतिने ऐसी झूठ बातें क्यों लिख डालीं?

सन ईसवीके ३१०१ वर्ष पूर्वकी अथवा शकपूर्व २५२६ की प्रत्यक्ष ग्रहस्थिति हमने पहले दे दी है। वह उक्त समयके पहले वर्षके कार्तिक महीनेकी बदी अमावस्याकी ग्रहस्थिति है जो इस समय गणित द्वारा निश्चित की गई है। उसकी और इस ग्रहस्थितिकी तुलना करनेसे इन ग्रहोंके स्थानका काल्पनिक होना स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। यदि इस बातको ध्यानमें रखें कि युद्ध मार्गशीर्ष बदीमें हुआ था, और यदि इस बात पर भी ध्यान दें कि भीष्म पर्वमें बतलाई हुई स्थिति युद्धके पहले अर्थात् मार्गशीर्षके प्रारंभकी है तथा कर्णके द्वारा बतलाई हुई स्थिति कार्तिक बदीकी है, तो भी यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि मंगल, गुरु और शनिकी स्थितिमें बहुत अन्तर न पड़ेगा; परन्तु यहाँ तो बहुत बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है। यह मामला साफ समझमें आनेके लिये नीचे एक कोष्टक दिया गया है।

	कर्णका कथन (उद्योग पर्व)	व्यासका कथन (भीष्म पर्व)	शक ३१८० में प्रत्यक्ष स्थिति (गणितसे)	शक २५२७ में प्रत्य स्थिति (गणितसे)
मङ्गल	अनुराधा वक्री	मघा और वक्रानुवक्र श्रवण	पूर्वाषाढ़ा	धनिष्ठा
गुरु	श्रवण	विशाखा	रेवती	भरणी
शनि	रोहिणी	पूर्वाफाल्गुनी	शततारका	भरणी-कृत्तिका

सारांश यह है कि एक भी ग्रहकी स्थितिका मेल नहीं मिलता। मुख्यतः इस बातको ध्यानमें रखने पर दिखाई पड़ता कि ये बातें कल्पनासे ही बतलाई गई हैं। यदि भारती युद्धका ब्राह्मण-कालके आरंभमें होना सच है, तो कहना पड़ता है कि उस समय सातों ग्रहोंका ज्ञान होने पर भी उनकी ओर ऋषियोंका विशेष ध्यान न था और उनकी निश्चयात्मक गति भी उन्हें मालूम न थी। आर्योंको यह देखनेका ज्ञान कुछ समयके बाद धीरे धीरे हुआ, कि वे ग्रह किस नक्षत्रमें हैं। वेदांग-ज्योतिष-कालमें भी यह ज्ञान न होगा। उसमें केवल सूर्य और चन्द्र-सम्बन्धी गणित है—ग्रहोंके सम्बन्धमें गणित नहीं है। तथापि यह सच है कि आगे गर्गके समयमें बहुत कुछ ज्ञान हो गया था। गर्गने भिन्न भिन्न ग्रहोंके चार दिये हैं। गर्गके मूल ग्रन्थमें क्या था, यह महाभारत के सरस्वती-आख्यानमें बतलाया गया है। उसमें कहा गया है कि उसने कालज्ञानगति, तारोंका (ग्रहोंका) सृष्टि-संहार, दारुण और शुभकारक उत्पात और योगका ज्ञान प्राप्त किया था। उसके नामसे आजकल जो "गर्ग संहिता" नामक ग्रन्थ प्रचलित है, उसमें भी यही बात दी हुई है। इससे अनुमान होता है कि सौतिने गर्गके तत्कालीन ग्रन्थसे उन सब दारुण उत्पातोंको लेकर भारती युद्ध-प्रसंगके सम्बन्धमें लिख दिया है, जो भयङ्कर प्रसङ्गसूचक समझे जाते थे। उसने वर्णन किया है कि क्षत्रियों-के अभिमानी भिन्न भिन्न नक्षत्रों पर या तो दुष्ट ग्रह आ गये हैं, या उनपर उनकी दृष्टि पड़ी है। इसके साथ ही उसने कई उत्पातोंका भी वर्णन किया है। "बाँझ स्त्रियोंको भी भयङ्कर सन्तानें हो रही हैं। दो आँख, पाँच पैरवाले भयङ्कर पक्षी भी जन्म ले रहे हैं। घोड़ीसे पड़वाका, कुत्तीसे गीदड़का और ऊँटोंसे कुत्तोंका जन्म हो रहा है। बार बार भूकम्प हो रहा है। राहु और केतु एक ही जगह पर आ गये हैं। गौओंसे रक्तकी तरह दूध निकलता है। पानी अग्निके समान लाल हो गया है। क्षत्रियोंके प्रतिकूल तीनों नक्षत्रोंके शीर्षस्थानमें पापग्रह बैठा है।" इस तरहके बहुतेरे वर्णन भीष्म पर्वके आरम्भमें व्यासके मुखसे हुए हैं। वे प्रायः काल्पनिक होंगे और उत्पात-ग्रन्थोंसे लिये गये होंगे। उनमें बतलाई हुई ग्रहस्थिति भी काल्पनिक है। अर्थात् क्षत्रियोंके इष्ट-अनिष्ट नक्षत्रोंके आधार पर ग्रहोंकी स्थिति कल्पित की गई है। तात्पर्य यह है कि उनके आधार पर गणितसे ऐतिहासिक अनुमान नहीं निकाला जा सकता। ऐसा मान लेने पर भी यह प्रश्न बाकी ही रह जाता है, कि सौतिने जो यह ग्रहस्थिति बतलाई है, उसको उसने दो दो नक्षत्रों पर कैसे बतलाया है? यह एक स्पष्ट बात है कि यदि उसने काल्पनिक ग्रहस्थितिका वर्णन किया होगा, तो उसे भी समझदारीके साथ ही किया होगा। व्यास और कर्णके भाषणोंमें तो विरोध है ही, परन्तु व्यासके अगले पिछले वचनोंमें भी विरोध पाया जाता है। पहले मङ्गल मघामें वक्र बतलाया गया है; फिर आगे कहा गया है कि वह पुनः पुनः वक्र होकर श्रवणका—जिस पर बृहस्पतिका आक्रमण हो चुका है—पूर्ण वेध कर रहा है। आरम्भमें बृहस्पति श्रवणमें बतलाया गया है और अन्तमें विशाखाके पास बतलाया गया है। इस तरह दो दो नक्षत्रों पर ग्रहोंकी स्थिति क्यों बतलाई गई है? इस पर मोड़कने अनुमान किया है कि दोनों नक्षत्रोंको ठीक मानकर एकको सायन और दूसरे-

को निरयण समझना चाहिये। यहाँ यह बतला देना चाहिये कि सायन और निरयण नक्षत्र कैसे होते हैं और उनकी कल्पना कैसे की जाती है। प्रत्यक्ष आकाशमें जो नक्षत्र दिखाई पड़ते हैं वे गतिरहित हैं: उन्हें निरयण कहते हैं। आजकल इनका आरम्भ-स्थान अश्विनी है। ये निरयण अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र आकाशमें प्रत्यक्ष देख ही पड़ते हैं: परन्तु सम्पात बिन्दुकी गति पीछेकी ओर है, अर्थात् यद्यपि नक्षत्रोंकी कोई चाल नहीं है तथापि आरम्भ-स्थानकी चाल है। आरम्भ-स्थान जैसे जैसे पीछे हटे, वैसे ही वैसे आरम्भके नक्षत्रको सायन कल्पित पीछेकी ओर ले जाना चाहिये। उदाहरणार्थः—जब रेवतीमें सम्पात रहे तब रेवतीको सायन अश्विनी कहना चाहिये, और कहते भी हैं। राशियाँ सायन और निरयण दोनों तरहकी होती हैं। निरयण राशियाँ आकाश-स्थितिसे मेल रखती हैं, परन्तु सायन मेषके पीछे चले जानेके कारण आकाशके मेषसे मेल नहीं मिलेगा। यह मान लेना चाहिये कि कल्पित सायन नक्षत्र और प्रत्यक्ष निरयण नक्षत्र दोनों प्रचलित रहे होंगे, इसी लिये नक्षत्रोंके आधार पर यह दुहरी ग्रहस्थिति बतलाई गई है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि भारत-युद्धकालमें सम्पात पुनर्वसुमें रहा होगा। इसका दूसरा कल्पित सायन नाम अश्विनी हो सकता है। उस समय चन्द्रमा मृगमें, और मघामें भी, बतलाया गया है। इनमेंसे मघा सच्चा निरयण नक्षत्र और मृग कल्पित सायन होगा। सम्पातके पुनर्वसुमें रहनेसे, उसे यदि अश्विनी कहें, तो (पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा) मघा चौथा और (अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृग) मृग पाँचवाँ होता है। मङ्गल एक बार मघामें और दूसरी बार ज्येष्ठामें बतलाया गया है। ज्येष्ठाको सच्चा निरयण और मघाको सायन मानना चाहिये (इसमें भी एक नक्षत्रकी भूल होती है) क्योंकि पुनर्वसुको अश्विनी कहने पर अनुराधाको मघा कहना पड़ता है। मङ्गल ज्येष्ठामें वक्री होकर अनुराधाकी ओर जाता था। श्रवण पर जो गुरु बतलाया गया है, वह निरयण है और विशाखाके पास जो बतलाया गया है, वह सायन है। सारांश यह है कि लगभग सात नक्षत्रोंको एक दम छोड़कर पीछेका दूसरा नाम बतलाया गया है। इससे मोड़कने सम्पातका पुनर्वसुमें होना मानकर गणित करके बतलाया है कि यह समय सन् ईसवीके लगभग ५००० वर्ष पहले आता है।

परन्तु यह कल्पना सब नक्षत्रोंके सम्बन्धमें ठीक नहीं उतरती; यही नहीं, बल्कि वह ऐतिहासिक दृष्टिसे भी गलत है। इसमें अनेक ऐतिहासिक गलतियाँ हैं। पहली गलती यह है कि पूर्वकालमें नक्षत्र अश्विनीसे शुरू नहीं होते थे—कृत्तिकासे शुरू होते थे। वेदों और वेदाङ्ग ज्योतिषमें तो वे कृत्तिकासे ही शुरू होते हैं। सौतिके महाभारतकालमें भी नक्षत्र कृत्तिकादि थे, अर्थात् कृत्तिका पहला नक्षत्र था; अश्विनी न था। दूसरी भूल—यह बात ही पहले ज़मानेमें मालूम न थी कि अयनबिन्दुकी गति पीछेकी ओर है। महाभारतकालमें तो मालूम थी ही नहीं, परन्तु आगे लगभग ८०० वर्षोंके बीत जाने पर होनेवाले वराह-मिहिरको भी यह बात मालूम न थी। सायन और निरयणका भेद अर्वाचीन कालका है। सन् ईसवीके लगभग १५० वर्ष पहले हिपार्कस्‌ने अयनगतिका पता पहलेपहल लगाया। फिर यह बात हिन्दुस्थानमें आर्य ज्योतिषियोंको मालूम हुई और उन्होंने उसे अपने ज्योतिष-गणितमें

सम्मिलित कर लिया। **तीसरी** गलती—इस बातको हर एक आदमी मानेगा कि यदि एक ही समयमें सायन और निरयण दो नक्षत्र एक ही नामसे प्रचलित हों और उनके लिये कोई अलग चिह्न अथवा नाम न हों, तो बड़ी भारी गड़बड़ हो जायगी। जब कि केवल नक्षत्र ही बतलाया गया है, तब यह कैसे निश्चित किया जाय कि वह सायन है अथवा निरयण? क्या प्रत्येक आदमी अपनी अपनी कल्पनासे निश्चित कर लिया करे? ऐसी गड़बड़ कभी क्षमा करने योग्य न होगी। यह मामूली बात है कि व्यास और सौति सरीखे ग्रन्थकार, नक्षत्र बतलाते हुए, पाठकोंको बार बार भ्रममें न डालेंगे। सारांश, जब कि महाभारतकालमें सायन और निरयण नक्षत्रोंका ही होना सम्भव नहीं है, और यदि सम्भव हो तो उस समय उनका आरम्भ अश्विनीसे नहीं होता था, तब यही स्पष्ट है कि ऊपर दी हुई सारी दलील ही गलत है। इसके सिवा, सब नक्षत्रोंकी स्थिति इस तरहसे ठीक नहीं जमती। विशेषतः शनिकी स्थिति रोहिणी, पूर्वाफाल्गुनी और विशाखा, इन तीन नक्षत्रों पर बतलाई गई है। इसमें सायन-निरयणका भेद बिलकुल बतलाया ही नहीं जा सकता। यदि रोहिणीको सायन मान भी लें, तो वह अश्विनीसे चौथा ही होता है। पुनर्वसुसे पूर्वाफल्गुनी पाँचवाँ होता है। इसी प्रकार जो तीसरा नक्षत्र बतलाया गया है कि मङ्गल वक्रानुवक्र होकर श्रवण पर वक्र हो गया, उसकी उपपत्ति मालूम नहीं होती। इस कल्पना पर अर्थात् सायन-निरयण-नक्षत्र-कल्पना पर इस तरहके आक्षेप होते हैं, इसलिये कहना पड़ता है कि यह कल्पना मान्य नहीं हो सकती। ग्वालियरके श्रीयुत विसाजी कृष्ण लेलेने भी इसी तरहका प्रयत्न किया था, परन्तु वह सिद्ध न हुआ। श्रीयुत शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितका यह मत उनके ग्रन्थसे मालूम होता है कि पाण्डवोंके समयकी सच्ची ग्रहस्थिति कर्ण और व्यासके भाषणोंमें है; परन्तु उन्होंने इन भाषणोंके आधार पर समय निश्चित करनेका प्रयत्न नहीं किया है, क्योंकि उन्होंने अपना स्पष्ट मत लिख दिया है कि उस ग्रहस्थितिका मेल ठीक ठीक मिलाया नहीं जा सकता (भारती ज्यो० पृष्ठ १२४)।

वेधोंके द्वारा भिन्न ग्रहस्थितिकी उपपत्ति।

यह प्रश्न फिर भी अबतक बाकी रह गया कि यदि महाभारतमें बतलाई हुई ग्रह-स्थितिको काल्पनिक मान लें, तो काल्पनिक ग्रहस्थिति बतलाते हुए भी कोई समझदार आदमी दो दो तीन तीन नक्षत्रों पर ग्रहोंकी स्थिति कैसे बतलावेगा? यह नहीं माना जा सकता कि इस प्रश्नका स्पष्टीकरण हो ही नहीं सकता। टीकाकारने इस स्थितिको वेधकी कल्पनासे मिलाकर दिखानेका प्रयत्न किया है, और हमारा मत है कि यह प्रयत्न अनेक अंशोंमें सफल हुआ है। हम यहाँ उसका कुछ वर्णन करनेका साहस करते हैं। यह विषय मनोरंजक और पाठकोंके सन्मुख उपस्थित करने योग्य है। टीकाकारने इस विषयको समझानेके लिये **नरपतिविजय** नामक ज्योतिष-ग्रन्थसे "सर्वतोभद्रचक्र" लिया है। यह पुराना ग्रन्थ है और इसका उपयोग यह देखनेके लिये किया जाता है कि युद्धमें जीत होगी या हार। इस चक्रमें चार भुजाएँ हैं। प्रत्येक भुजामें कृत्तिकासे सात सात नक्षत्र रखे गये हैं और दो रेखाएँ अधिक कल्पितकर चारों कोनोंमें

अ, आ, इ, ई अक्षर रख दिये गये हैं। हम यह देखेंगे कि इस "सर्वतोभद्र चक्र" में, महाभारतके वर्णनानुसार, सात ग्रह उन उन नक्षत्रोंमें रखने पर अन्य नक्षत्रोंके-विषयमें बतलाया हुआ वेध कैसे ठीक मिलता है। महाभारतमें वेध शब्द नहीं है; परन्तु आक्रम्य, आवृत्य, पीड़यन् इत्यादि शब्दोंसे वेधका अर्थ निकलना सम्भव है। चक्र और यह स्थिति नीचे लिखे अनुसार है।

सर्वतोभद्र चक्र।

(कार्तिक बदी ३० के दिन महाभारतमें बतलाई हुई ग्रहस्थितिके सहित।)

अ	कृ.	रो.	मृ.	आ.	पुन.	धू. के. पु.	आ.	आ
भ.								म.
अ.								पू.
रे.								उ. शु
उ.भा.								हस्त
पू.भा.								चि.
श.								स्वा.
ध.								श वि. गु मं
ई	श्र.	अभि	उषा.	पू.षा	मू.	ज्ये. मृ. रा. चं.	अनु. मं.	इ

कोई ग्रह अमुक नक्षत्रको पीड़ा दे रहा है, इसका यही अर्थ होता है कि, वह उस नक्षत्र पर है अथवा उस नक्षत्रको सम्पूर्ण दृष्टिसे, त्रिपाद दृष्टिसे अर्थात् $\frac{3}{4}$ दृष्टिसे अथवा अर्धदृष्टिसे देख रहा है। २८ नक्षत्र मानकर इन दृष्टियोंके नापनेमें बड़ी सरलता होती है। पाठकोंको यह सहजमें ही मालूम हो सकता है, कि १४ नक्षत्रों पर पूर्ण दृष्टि रहती है, $(\frac{२७}{३})$ ९ नक्षत्रों पर त्रिपाद और $(\frac{२७}{४})$ ७ नक्षत्रों पर $\frac{1}{2}$ दृष्टि रहती है। इस रीतिसे विचार किया जाय तो मालूम होगा कि सूर्य-चन्द्र

जिस समय ज्येष्ठा नक्षत्रमें थे, उस समय रोहिणी पर उनकी पूर्ण दृष्टि थी। अर्थात्, यह स्पष्ट है कि वे रोहिणीको पीड़ा देते थे।

"मघास्वंगारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः"

इस वाक्यका अर्थ ऐसा ही होना है। कर्ण कहता है कि अनुराधा पर मङ्गल वक्र गतिसे है। अर्थात् उसकी दृष्टि पीछे सातवें नक्षत्र—मघा—पर जाती है। मङ्गलकी यह दृष्टि पूर्ण समझी जाती है। बृहस्पति विशाखामें है और उसकी दृष्टि आगे सातवें नक्षत्र—श्रवण—पर जाती है। सारांश, व्यासका उक्त वाक्य ठीक मालूम होता है। फिर आगे व्यासने मङ्गलको वक्रानुवक्र करके श्रवण पर बतलाया है। अर्थात्, अनुराधासे विशाखा-तक वक्रगतिसे जाकर मङ्गल वहाँ सीधा हो गया, इसलिये उसकी चतुर्थ (मङ्गल-की पूर्ण) दृष्टि सातवें नक्षत्र—श्रवण—पर गई। इस तरहसे मङ्गलके तीनों ग्रहों-का स्पष्टीकरण हो जाता है। अब हम शनि-के विषयमें विचार करेंगे। व्यास शनिको विशाखाके पास बतलाते हैं। 'समीपस्थ है' इन शब्दोंसे समझना चाहिये कि वह यहीं है। शनि रोहिणीको पीड़ा दे रहा है और वह विशाखासे १८ वाँ होता है। यह दृष्टि ३१/२ अर्थात् ३/४ की है। उसी तरह शनि भग नक्षत्रको पीड़ा दे रहा है और वह नक्षत्र २४ वाँ होता है। वहाँ दृष्टि ३१/२ अथवा ३/४ होती है। भग नक्षत्रको श्रुतिमतके अनुसार "उत्तरा" मानना चाहिये। टीकाकार भी ऐसा ही कहता है। [भीष्म अ० ३१.१४] यह दृष्टि आधु-निक ज्योतिषमें नहीं मानी गई है, परन्तु गर्गके समयमें मानी जाती होगी। व्यासके वाक्यमें जो बात कही गई है उसका अर्थ वेधके द्वारा ही लगाना चाहिये। "मङ्गल वक्र होकर मघामें आ गया है। बृहस्पति श्रवणमें आ गया है। और, शनैश्चर भग (उत्तरा) नक्षत्रको पीड़ा दे रहा है।" अर्थात्, यही देख पड़ता है कि तीनों ग्रह वेधसे तीन नक्षत्रोंको पीड़ा दे रहे हैं। अब हम शुक्रके सम्बन्धमें विचार करेंगे। यहाँ कहा गया है कि "शुक्र पूर्वाभाद्रपदामें आकर चमक रहा है।" शुक्र सूर्यके आगे-पीछे पासमें ही रहता है। जब सूर्य ज्येष्ठा-में है तो शुक्र पूर्वाभाद्रपदामें नहीं रह सकता। वह उत्तरामें रहा होगा और वहाँसे उसका वेध पूर्ण दृष्टिसे पूर्वाभाद्र-पदा पर पहुँचता है। इन भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे वेध किये हुए नक्षत्र प्राण अथवा जीवनके अभिमानी हैं: और उन नक्षत्रों पर दुष्ट दृष्टि हो जानेके कारण प्राणियोंका नाश होगा। यह बात उस समयके ज्योतिष-ग्रन्थोंमें कही गई है और उसीको टीकाकारने उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ, रोहिणी नक्षत्र प्रजा-पतिका है और उस पर सूर्य, चन्द्र (अमा-वस्याका), राहु और शनिकी दृष्टि पड़ी है अर्थात् प्रजाका नाश होगा। टीका-कारने इस तरहके वचन कई ग्रन्थोंसे दिये हैं। हमारे मतसे यह ग्रहस्थिति कल्पित है। साथ ही ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह भी है कि वह गणित करनेके लिये उपयोगी नहीं है, क्योंकि उसमें निश्चित अंश नहीं हैं।

इस तरहसे (शनिके सिवा) सारी ग्रहस्थिति भिन्न भिन्न नक्षत्रों पर वेधकी दृष्टिसे ठीक समझाई जा सकती है। तथापि हम यह नहीं कहते कि युद्धकाल-में इस ग्रहस्थितिको प्रत्यक्ष देखकर युद्ध-के समय ही वह महाभारतमें लिखी गई है। वह इतनी अनिश्चित है कि गणितकी रीतिसे उसके द्वारा समय ठहराना सम्भव ही नहीं है। इस बातको दीक्षितने भी स्वीकार किया है। सारांश यह है कि

मोड़कका बतलाया हुआ समय तो मान्य समझा जाता है ही नहीं; परन्तु यह ग्रहस्थिति युद्धका समय ठहरानेके लिये अन्य रीतिसे निरुपयोगी है। हमने पहले ही बतला दिया है कि उसकी कल्पना कैसे की गई है।

इस प्रकार, भिन्न भिन्न मतोंके अनुसार बतलाये हुए भारती-युद्धके समयके सम्बन्धमें विचार करने पर हमारा मत है कि सामान्यतः सभी ज्योतिषियोंके द्वारा माना हुआ और आस्तिक मतसे ग्रहण किया हुआ सन् ईसवी के पूर्व ३१०१ वर्षका समय ही ग्राह्य ठहरता है।

भारती-युद्धके सम्बन्धमें वर्णन करते समय ज्योतिष-विषयक अन्य अनेक उल्लेख आये हैं। इस प्रकरणमें उनका भी विचार हो सकता है, अतएव अब हम उनका विचार करेंगे। भारती युद्धके आरम्भ होनेके दिन—

मघाविषयगस्सोमस्तद्दिनं प्रत्यपद्यत।
दीप्यमानाश्च सम्पेतुर्दिवि सप्त महाग्रहाः।

यह श्लोक कहा गया है। इसका विचार पहले होना चाहिये। कार्तिक बदी अमावस्याको सूर्यग्रहण हुआ, अतएव सूर्य और चन्द्र ज्येष्ठा नक्षत्र पर थे। आगे यदि ऐसा मान लें कि मार्गशीर्ष सुदी त्रयोदशी अथवा पौर्णिमाको युद्ध शुरू हुआ, तो १३-१४ दिनोंमें चन्द्रमा मघा पर नहीं जा सकता। तेरह चौदह दिनोंमें रोहिणी-मृग नक्षत्र आता है। वहाँसे मघा पाँच नक्षत्रोंके आगे है। युद्धके अन्तिम दिन बलराम कहते हैं कि वे वहाँ श्रवण नक्षत्रमें पहुँचे। अर्थात् श्रवणके पीछे अन्दाजसे १८ नक्षत्र लेने पर भी मृग नक्षत्र ही आता है—मघा नहीं आता। मघासे श्रवण १२ नक्षत्रोंकी ही दूरी पर है। इसलिये अगले पिछले वाक्योंसे मालूम होता है कि युद्धारम्भमें चन्द्रमा मृग नक्षत्रमें था। फिर यह एक गूढ़ बात है कि ऊपरके वाक्यमें 'मघा' कैसे कहा गया। यह भी आश्चर्यकी बात है कि दिनको सूर्यके उदित होने पर सात ग्रह दीप्यमान आकाशमें देख पड़ने लगे। सूर्यके तेजसे कोई आदमी ग्रह नहीं देख सकता। तो फिर इस श्लोकको कूट श्लोक मानना चाहिये अथवा कहना चाहिये कि इसमें आश्चर्यकारक बातें, असम्भव होने पर भी, भर दी गई हैं। टीकाकारने इसे कूट माना है। उन्होंने "मघाविषयगः" का अर्थ किया है कि मघाका देवता पितृ है; उनका विषय पितृलोक, यमलोक अथवा चन्द्रलोक है; और चन्द्र मृगका देवता है; इसलिये चन्द्रमा मृगमें था। परन्तु यह केवल दाँव पेच है। इस तरहसे श्लोकका ठीक अर्थ नहीं लगता। युद्धके आरम्भमें कृत्तिका नक्षत्र हो सकता है। यदि ज्येष्ठा नक्षत्रके सूर्यग्रहणके अनन्तर १३ दिनोंमें युद्धका होना मान लिया जाय, तो ज्येष्ठासे कृत्तिका नक्षत्र १३ वाँ होता है। श्रवणसे कृत्तिकाका स्थान पीछेकी ओर २० वाँ होता है, इसलिये कह सकते हैं कि १८ दिनोंमें २० नक्षत्रोंका होना सम्भव है। और, तात्पर्य यह होगा कि कृत्तिकासे मघा पर चन्द्रमाकी ¼ दृष्टि सात नक्षत्रोंकी होती है, पितृदेवता मघा है, उस पर युद्धके आरम्भमें ¼ दृष्टि होना बुरा है। हमारे मतानुसार यहाँ इस दृष्टिको ही मघा पर समझना चाहिये। यदि ऐसा मान लें कि सात दीप्त ग्रहोंका निकलना सम्भव होनेके लिये सूर्य पर काला आवरण पड़ गया था, तो इन सातों ग्रहोंको उदित भागमें होना चाहिये था। सातोंमेंसे पहले तो सूर्यकी ही कमी देख पड़ती है। सुदी त्रयोदशीको चन्द्रमाका सूर्योदयके समय ऊपर रहना सम्भव नहीं है। वह सन्ध्या समय थोड़ासा दिखने लगेगा, प्रातःकाल

नहीं दिखेगा। बाकी पाँच ग्रह उदित भागमें हो सकते हैं। मङ्गल अनुराधामें, गुरु और शनि विशाखाके पास, शुक्र उत्तरामें और बुध बीचमें कहा गया था; परन्तु इतनेसे ही यह कहना ठीक नहीं हो सकता कि सात ग्रह दीप्तमान थे। घोड़ीसे कुत्ते पैदा होने लगे, राहु केतु एक स्थानमें आ गये, इत्यादि बातोंका यही अर्थ समझना चाहिये कि असम्भव बातोंका उत्पात हो गया। अथवा अन्य कोई धूमकेतु आदि सात **महाग्रह** यहाँ अभिप्रेत मानने चाहियें।

कर्णका वध हो जाने पर एक ऐसा वचन है किः—

बृहस्पतिः संपरिवार्य रोहिणीं
बभूव चन्द्रार्कसमो विशांपते।

बृहस्पति विशाखाके पास है। वह एक महीनेमें अधिकसे अधिक दो ढ़ाई अंश जाता है, अर्थात् पूरा एक नक्षत्र भी नहीं चलता। जब वह विशाखामें ही था तब रोहिणीको परिवार बनाकर कैसे रहेगा? सम्भव है कि वह चंद्रमा सदृश होगा; पर वह सूर्य सदृश कैसे होगा? यह भी एक खासी समस्या है। सम्भव है कि गुरुने दृष्टिके द्वारा विशाखासे रोहिणीका बेध किया; इसलिये कहनेका मतलब यह होगा कि वह भी चन्द्रमा-सूर्यके समान अपकारी हो गया। शल्य पर्वके ग्यारहवें अध्यायमें एक वाक्य इस तरहका हैः—

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ॥

इसमें कही हुई बात सम्भव है। शुक्र और बुध सूर्यके पास रहते हैं। सूर्य एक महीनेमें ज्येष्ठाको छोड़कर पूर्वाषाढ़ा पर चला गया होगा। मंगल भी सरल होकर अनुराधासे ज्येष्ठामें आ गया होगा और वहाँ तीनोंका मेल हो जाना सम्भव है। परन्तु यह मानना चाहिये कि मंगल ज्येष्ठा पर है। उसकी मुख्य स्थिति यही समझनी चाहिये कि वह अनुराधामें वक्र था। यह योग अनिष्टकारक समझा जाता होगा।

अन्तिम महत्वका वाक्य भीष्मका है (अनुशासन० अ० १६७)। जब भीष्म-के शरीर त्याग करनेका समय आया और उत्तरायण आरम्भ हुआ, तब युधि-ष्ठिरके उनके पास जाने पर भीष्मने कहा किः—

माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति॥
अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः॥

"मुझे बाणशय्या पर पड़े हुए आज ५८ रात्रियाँ व्यतित हो चुकीं। यह माघका महीना आया है और अब शुक्लपक्ष है। इस पक्षका चौथा भाग समाप्त हो गया है।" इस कथनका सारांश टीकाकारने यह निकाला है कि आज माघ सुदी अष्टमी है। यदि मान लें कि भारती युद्ध मार्ग-शीर्ष सुदी त्रयोदशीको आरम्भ हुआ, तो भीष्म मार्गशीर्ष बदी ८ को बाणविद्ध हो-कर गिर पड़े और तबसे अट्ठावन रात्रियाँ गिनने पर माघ बदी अष्टमी आती है न कि माघ सुदी। आजकल माघ सुदी अष्टमीको ही भीष्माष्टमी मानते हैं। उस अष्टमीमें १५ दिन घटा देनेसे ४३ रात्रियाँ बचती हैं। १६ घटानेसे ४२ बचेंगी। टीकाकारने यहाँके पदको "अष्टपंच-अशतं" बनाकर, सौमें अट्ठावन कम-का अर्थ लगाकर, ४२ रात्रि होना बत-लाया है। परन्तु अनुशासन पर्वमें उसी अध्यायमें इसके विरुद्ध एक स्पष्ट वचन इसीके पहले है। वह यह है कि भीष्मसे आज्ञा पाकर युधिष्ठिर हस्तिनापुर चला गया और वहाँ उसने **पचास** रात्रियाँ बिताई; सूर्यको उत्तरकी ओर पलटा हुआ देखकर अर्थात् उत्तरायणका आरम्भ

होना समझकर वह भीष्मके पास जानेके लिये रवाना हुआ। यहाँ यह कहा गया है कि भीष्मके पाससे वह युद्ध समाप्त होने पर वापस गया था। जब वह ५० रात्रियाँ व्यतीत कर चुका, तब बाणशय्यामें भीष्मकी ५८ रात्रियाँ ही व्यतीत होनी चाहियें, ४२ नहीं हो सकतीं। तो फिर यह कैसा विरोध है? इसका परिहार होना बहुत करके असम्भव ही है। यदि युद्धको मार्गशीर्षमें ही आरम्भ हुआ न मानकर, श्रीकृष्णके कथनानुसार कार्तिक अमावस्याको मान लें, तो सभी गड़बड़ हो जाती है। भीष्मके दिनोंका ठीक ठीक पता तो लगता ही नहीं, क्योंकि इस हिसाबसे ६४ दिन आते हैं और जयद्रथवधकी रातको चन्द्रमा सवेरे उदय नहीं हो सकता। उस दिन बहुत करके सुदी त्रयोदशी अथवा पौर्णिमा पड़ती है अर्थात् सवेरे चन्द्रके अस्त होकर अँधेरा होनेका समय था! मार्गशीर्ष सुदी अष्टमीको युद्धारम्भका दिन माननेसे ५८ दिन तो आ जाते हैं, परन्तु उस दिनके नक्षत्रसे १८ वें दिनको बलरामके कथनानुसार श्रवण नक्षत्र नहीं होगा। सूर्यग्रहण ज्येष्ठा नक्षत्रमें अमावस्याको हुआ। उस कार्तिक बदी ३० से आठवें दिन युद्धका आरम्भ होना माना जाय, तो पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र आता है और वहाँसे युद्धके अन्तमें १८ वाँ नक्षत्र विशाखा होगा। यह सब गड़बड़ अनुशासन पर्वके, ५८ रात्रि और ५० रात्रि-सम्बन्धी वचनोंने किया है। माघ बदीमें शुक्लपक्ष पञ्चमी तक मान सकते हैं, परन्तु त्रिभागशेष पक्ष नहीं कहा जा सकता। मोटे हिसाबसे अट्ठावन रात्रिके दो महीने होते हैं। इसलिये माघ बदी अष्टमी ही आवेगी। किसी एकको झूठ मानना ही पड़ेगा। यही मानना पड़ेगा कि या तो युद्ध पर्वके वचन झूठ हैं, नहीं तो अनुशासन पर्वके ही झूठ हैं। यहाँका विरोध अपरिहार्य है।

महाभारतमें भिन्न भिन्न स्थानोंमें जो अंक-संख्या दी हुई मिलती हैं, उसके बारेमें बहुधा यही कहना पड़ता है कि उसमें कुछ न कुछ गूढ़ अथवा गुह्य अर्थ है। यहाँ जैसे ५० और ५८ का अर्थ नहीं निकलता, उसी तरह हम पहले बतला चुके हैं कि अर्जुनके गांडीव धनुष्य धारण करनेके सम्बन्धमें कही हुई ६५ की संख्याकी उपपत्ति नहीं लगती। वर्षका अर्थ बरसात मानकर और एक सालमें दो बार बरसातका होना (एक बड़ी और दूसरी छोटी हेमन्तमें) मानकर, टीकाकारने यहाँ ६५ का आधा किया है। इसी तरह अधिक मासका हिसाब लगाते समय, प्रत्येक पाँच वर्षोंमें दो महीने जोड़नेकी रीतिसे तेरह वर्षोंमें, भीष्मके वचनके अनुसार, पाँच महीने और १२ रात्रिकी संख्या ठीक नहीं जँचती। पाँच वर्षोंमें दो महीने, तो १३ वर्षोंमें $\frac{१३ \times २}{५}$ = ५$\frac{१}{५}$—अर्थात् ५ महीने और ६ दिन होते हैं। परन्तु यहाँ भीष्म कहते हैं कि—

त्रयोदशानां वर्षाणां पञ्च च द्वादश क्षपाः।

यह क्या बात है? बारह रात्रिका अर्थ ६ दिन लगा लेना सम्भव है, परन्तु इसमें सार कुछ नहीं है।

आदि० अ० ६१-४२ में अर्जुनके पहले वनवासके सम्बन्धमें यह श्लोक है:—

स वै संवत्सरं पूर्णं मासं चैकं वने वसन्॥

अर्जुन द्वारकाको आया और सुभद्रासे ब्याह हुआ; परन्तु आगे कहा गया है कि यह वनवास बारह वर्षोंका था। तो फिर ऊपरके वाक्यमें एक वर्ष और एक मास कैसे कहा गया है? इस बातकी कठिनाई टीकाकारको भी हुई है। उन्होंने

'पूर्ण' शब्दसे १० का अर्थ लिया है और १० वर्ष ग्यारह महीनोंका समय बतलानेका प्रयत्न किया है, परन्तु वह सिद्ध नहीं होगा।

त्रयस्त्रिंशत् समाहृय खांडवेऽग्निमतर्पयत्। (उद्योग० ५२.१०)

इस वाक्यसे टीकाकार कहते हैं कि उद्योगके समय खाण्डव-दाह हुए ३३ वर्ष बीत चुके थे। पहले विराटपर्वमें अर्जुन उत्तरासे कहता है कि—'इस गाण्डीव धनुषको मैंने ६५ वर्षोंतक धारण किया है।' गाण्डीव धनुष खाण्डवदाहके समय मिला था। यहाँ ३३ वर्ष बतलाये गये हैं। ६५ का आधा करनेसे ३२॥ आता है अर्थात् क़रीब क़रीब ३३ आता है। परन्तु वनवासके १३ वर्ष घटाने पर खाण्डवदाहके अनन्तर वह २० वर्षोंतक इन्द्रप्रस्थमें था। सुभद्राविवाह खाण्डवदाहके पहले हुआ था; परन्तु अभिमन्यु युद्धके समय १६ वर्षोंका था (आ० अ० ६७) **अस्य षोडशवर्षस्य स संग्रामो भविष्यति।** अर्थात्, यह मानना पड़ता है कि विवाहके १७ वर्षोंके बाद सुभद्राको पुत्र हुआ। आदिपर्वमें खाण्डवदाहके पहले अभिमन्युकी उत्पत्ति बतलाई गई है। मयासुरने राजसभा बनाई; फिर राजसूय यज्ञ हुआ और आगे चलकर हस्तिनापुरमें जूआ खेला गया। मालूम होता है कि ये बातें २० वर्षोंमें हुई। यह वर्णन है कि राजसूयके समय अभिमन्यु बड़ा हो गया था और वह राजा लोगोंको पहुँचानेके लिये गया था। संक्षेपमें यही कहना पड़ता है कि ये भिन्न भिन्न समय ठीक ठीक नहीं मिलते।

अस्तु, सारांश यह है कि इन भिन्न भिन्न ज्योतिर्विषयक उल्लेखोंसे सौतिके मनमें यह दिखलानेकी इच्छा थी, कि प्रजापति अथवा सृष्टि उत्पन्नकर्त्ताके रोहिणी और श्रवण नक्षत्रों पर, तथा भगदैवत उत्तरा नक्षत्र पर और पितृदैवत मघा नक्षत्र पर ग्रहोंकी दुष्ट दृष्टि पड़ी थी, जिससे प्रजाकी अत्यन्त हानि और संहार होनेवाला था। इसलिये हमारा मत यह है कि सौतिने इन अरिष्टसूचक वचनोंको काल्पनिक रीतिसे दिया है। सन् ईसवीके पहले ३१०१ वें वर्षमें अथवा अन्य किसी वर्षमें ऐसी ग्रहस्थितिका होना नहीं पाया जाता। हमने ग्रहोंकी जो स्थिति ऊपरके वचनोंसे दी है, उसके आधार पर गणितके द्वारा किसी निश्चित समयका निर्णय नहीं किया जा सकता। सभी प्रमाणोंका विचार करने पर, भारती-युद्धका जो समय मेगास्थिनीज़के प्रमाणसे और शतपथ-ब्राह्मणके प्रमाणसे निश्चित होता है, उसीको अर्थात् सन ईसवीके पहले ३१०१ वर्षको ही मान्य समझना चाहिये।

पाँचवाँ प्रकरण।

इतिहास किन लोगोंका है।

हमने अबतक यह देखा है कि महाभारतकी रचना जिस मूल भारती युद्धके इतिहास पर हुई है, वह भारती युद्ध कब हुआ था। अब हमें इस बातका विचार करना है कि यह युद्ध किन किन लोगोंमें हुआ और यह इतिहास किनका है। यह तो स्पष्ट ही है कि भारती युद्ध कौरवों और पाण्डवोंमें हुआ था। अब हमें इस प्रकरणमें ऐसी ऐसी बातोंका पता लगाना है कि ये कौरव-पाण्डव हैं कौन; ये लोग यहाँ आये कहाँसे; और इनका अन्य लोगोंके साथ कैसा और क्या सम्बन्ध था। तब यह स्पष्ट है कि यह विचार करनेमें हमें जिस प्रकार महाभारतका प्रमाण देना पड़ेगा, उसी प्रकार वैदिक साहित्यका भी आधार लेना चाहिये। क्योंकि हम देख चुके हैं कि भारती युद्ध ब्राह्मण-कालमें हुआ था।

पहले लिखा ही जा चुका है कि पूर्व समयमें कौरवों और पाण्डवोंको 'भरत' कहते थे, और इसी कारण उनके युद्धकी संज्ञा भारतीय युद्ध है। दुष्यन्त और शकुन्तलाके बेटेका नाम भरत है। यह उनका पूर्वज था और सार्वभौम होनेके अतिरिक्त नामाङ्कित था। इस कारण उसके वंशजोंकी संज्ञा 'भारताः' है। महाभारतमें इस नामका प्रयोग दोनों दलवालोंके लिए किया गया है। भरत नामसे कुछ पाश्चात्य पण्डितोंको भ्रम हो गया है। वे कहते हैं कि ऋग्वेदमें 'भरताः' नाम बार बार आता है, कहीं उन्हीं भरतों और कौरवोंका यो यह युद्ध नहीं है? पर हमें स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेदके भरत और ही हैं। हमारे यहाँ जो भरतखण्ड नाम प्रचलित है, उसके भरत शब्दके विषयमें भी ऐसा ही भ्रम है। आगेके विवेचनसे ये दोनों प्रकारके भ्रम दूर हो जायँगे। हिन्दुस्थानका भरतखण्ड नाम कुछ दुष्यन्त-पुत्र भरतके कारण नहीं पड़ा। भागवतमें ये वचन हैं:—

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य ह। तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्य सुतस्ततः अवतीर्णं पुत्रशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्। तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः। विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमुत्तमम्॥

इससे स्पष्ट होता है कि मनुके वंशमें भरत नामक राजा हुआ था, उसीके नामसे इस देशका नाम 'भारतवर्ष' पड़ा। मत्स्य पुराणमें 'मनुर्भरत उच्यते' यह वचन है; और मनुकी ही भरत संज्ञा दी गई है। इसी कारण कहा है—'वर्षं तत् भारतं स्मृतम्' (अध्याय ११४)। अर्थात् मनुसे ही भारतवर्ष नाम निकला है। हिन्दुस्थानमें बाहरसे जो आर्य लोग आये, उनमें पहले सूर्यवंशी लोग आये और उनके भरत नामक राजाके कारण इस देशका काम 'भारतवर्ष' पड़ गया। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदमें जो 'भरताः' नाम आया है, वह सूर्यवंशी क्षत्रिय आर्योंका है; उन लोगोंका नहीं है जिनमें कि भारती युद्ध हुआ।

ऋग्वेदके भरत यानी सूर्यवंशी क्षत्रिय।

ऋग्वेदके उल्लेखोंसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिन भरतोंका उल्लेख वेदमें है, वे भरत सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं। मेक्डानल साहब कहते हैं—"एक महत्त्वके लोगोंका नाम ऋग्वेदमें भरत है। वह नाम विशेष करके तीसरे और सातवें

मण्डलोंमें त्रित्सु एवं सुदासके नामके साथ बार बार आता है। मालूम नहीं, आगे इन भरतोंका क्या हुआ। बहुत करके ये कुरु लोगोंमें सम्मिलित हो गये होंगे। भरत शब्दसे दौष्यन्ति भरतकी जो कल्पना होती है, उससे यह गड़बड़ हुई है। सातवें मण्डलमें वसिष्ठ ऋषिने जो सूक्त बनाये हैं, उनके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि भरत लोगोंके पुरोहित वसिष्ठ ऋषि थे और उसके कुलमें उत्पन्न त्रित्सु थे। यह वर्णन है कि भरतोंके सुदास राजाको लड़ाईमें वसिष्ठने मदद की थी। तीसरे मण्डलमें विश्वामित्रके सूक्त हैं। सूर्यवंशी क्षत्रियोंके साथ विश्वामित्रका सम्बन्ध वसिष्ठके समान ही है। विश्वामित्रके सूक्तोंमें भरतोंका बहुत उल्लेख है। एक सूक्तमें यह वर्णन है कि शतद्रु और विपाशा नदियोंके सङ्गम पर एक बार भरत आये, पर बाढ़के मारे उन्हें रास्ता न मिला। तब विश्वामित्रने भरतोंके लिए इन नदियोंकी स्तुति की। तब कहीं पानी घटा और भरत उस पार हुए। तीसरे सूक्तमें कहा गया है कि सुदास राजाको विश्वामित्रने भी मदद दी थी। इस सूक्तमेंकी 'विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्' यह ऋचा बड़ी मनोरञ्जक है। 'विश्वामित्रका यह स्तोत्र भारत-जनोंकी रक्षा करता है' इस वाक्यमें 'भारत जन' शब्द महत्त्वका है। सूर्यवंशके साथ जैसा विश्वामित्रका सम्बन्ध है, वैसा ही भरद्वाजका भी है। छठे मण्डलमें भरद्वाजके सूक्त हैं। उनमें भी भरतका, भारत लोगोंका, भरतोंकी अग्निका और दिवोदासका उल्लेख है। ऋग्वेदमें यह वर्णन है कि दिवोदास सुदासका पिता था। पाश्चात्य पण्डित यह प्रश्न करते हैं कि भरतोंका वसिष्ठ और विश्वामित्रके साथ सम्बन्ध तो आता है, पर भरद्वाजका क्या सम्बन्ध है? किन्तु हम लोग रामायणके आधार पर जानते हैं कि भरद्वाजका सूर्यवंशसे सम्बन्ध है। ऊपरकी सब बातोंका रामायणमें वर्णित कथासे मेल मिलाने पर साफ़ देखा जाता है कि ऋग्वेदके भरत ही सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं। उनके पुरोहित वसिष्ठ थे और दूसरे ऋषि थे विश्वामित्र तथा भरद्वाज। उनकी वंशावलीमें भी मनुके बाद भरत है और सुदास राजा भी है। इन सब बातोंसे कहना पड़ता है कि ऊपर लिखा हुआ अनुमान निश्चित है।

यह बात सिद्ध हो चुकी कि ऋग्वेदमें जिन भरतोंका उल्लेख है, वे भरत महाभारतके भरत नहीं हैं: वे तो हिन्दुस्थानमें पहलेपहल आये हुए आर्य हैं। वे सूर्यवंशी थे: उन्हींके कारण हिन्दुस्थान भारतवर्ष कहलाया: और जितना देश उस समय ज्ञात था, उसमें वे लोग बस गये। हिन्दुस्थानी लोगोंको सामान्य रूपसे भारत-जन संज्ञा प्राप्त हुई। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भरत शब्दका साधारणतः क्षत्रिय वीर या साधारण ऋत्विज ब्राह्मण अर्थ होता था। निरुक्तकारने भारती शब्दका अर्थ किया है—'भरत आदित्यः तस्य इयं भाः भारती।' इससे भी भारतोंका सम्बन्ध सूर्यवंशके साथ पाया जाता है। इन भारतोंका राज्य पञ्जाबसे लेकर ठेट पूर्वमें अयोध्या-मिथिलातक फैल गया था।

महाभारतके भारत और ऋग्वेदके भारत बिलकुल अलग अलग हैं। यह बात हमें महाभारतके इस श्लोकसे मालूम पड़ती है:—"भारताद्भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम्। अप ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः॥ (१३१ आ० अ० ७४) टीकाकारने इस श्लोकके उत्तरार्धका अर्थ नहीं किया। इस उत्तरार्द्धमें यही बात कही गई है कि पुराने भारत प्रसिद्ध हैं, वे अपरे अर्थात् और हैं। हमारी समझमें

यहाँ वैदिक भरतोंका उल्लेख है और उनका पार्थक्य दिखलाया गया है।

ऋग्वेदमें न तो सूर्यवंशका नाम है और न चन्द्रवंशका, पर चन्द्रवंशके मूल उत्पादकोंके नाम ऋग्वेदमें पाये जाते हैं। पुरूरवा, आयु, नहुष और ययाति ये नाम ऋग्वेदमें हैं। विशेषता यह है कि ऋग्वेदमें एक जगह ययातिके पाँच पुत्रोंका उल्लेख है और उन पाँचोंके नाम भी दे दिये हैं, तथा उनसे उत्पन्न पाँच लोगोंके भी नाम हैं। इस उल्लेखसे स्पष्ट मालूम होता है कि वे पाँच भाई थे। पुराणों और महाभारतमें वर्णित चन्द्रवंशका पता लगानेके लिए ऋग्वेदमें अच्छा आधार मिलता है। ये चन्द्रवंशी क्षत्रिय आर्य अग्निके उपासक थे। सूर्य-चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी ही तरह ये इन्द्रादि देवताओंके भक्त थे। पहले ये गङ्गाकी घाटियोंसे सरस्वतीके किनारे आये और वहीं आबाद हो गये। इस तरहकी बातें ऋग्वेदकी ऋचाओंसे सिद्ध होती हैं। ऋग्वेद (१. १०८) में कहा है—"यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद्द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः। अतः परि वृषणा वा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य।" अर्थात् हे इन्द्र और अग्नि, यद्यपि तुम यदुओंमें और तुर्वशोंमें, इसी तरह द्रुह्युओंमें, अनुओंमें, और पुरुओंमें हो, तथापि यहाँ आओ और निकाले हुए इस सोमरसको पियो।" इससे अनेक अनुमान निकलते हैं। एक यह कि, ये पुराने आर्योंकी भाँति इन्द्र और अग्निके उपासक थे। दूसरे, ये पाँचों एक ही वंशके होंगे; उसमें भी यदु और तुर्वसु सगे ही थे, और द्रुह्यु, अनु एवं पूरु सगे थे। चन्द्रवंशी ययातिकी दो स्त्रियोंसे उत्पन्न पाँच पुत्रोंकी कथा यहाँ व्यक्त होती है।

ऋग्वेदसे पता लगता है कि इन पीछेसे आये हुए चन्द्रवंशी आर्योंका पहलेके भारतोंसे झगड़ा हुआ और उनके बीच कई लड़ाइयाँ हुईं। कई जगह उन लोगोंके सम्बन्धमें ऋषियोंका क्रोध देखा जाता है, इससे ज्ञात होता है कि ये लोग पीछेसे आये। एक स्थान पर यह वर्णन है कि दिवोदासके लिए इन्द्रने यदु-तुर्वशोंको मारा। शरयू नदी पर भी भरत राजाओंसे यदु-तुर्वशोंकी लड़ाइयाँ हुईं। ऋग्वेदके कुछ सूक्तोंमें एक बड़ा युद्ध वर्णित है। यहाँ उसका खुलासा करना आवश्यक है। इस युद्धको 'दाशराज्ञ' कहा है। यह युद्ध परुष्णी—आजकलकी रावी—नदीके किनारे हुआ था। एक पक्षमें भरत और उनका राजा सुदास तथा पुरोहित वसिष्ठ और त्रित्सु थे। दूसरे पक्षमें पाँच आर्य राजा—यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पूरु तथा उनके मित्र पाँच अनार्य राजा थे। इस युद्धमें भरतोंका सत्यानास किया जानेवाला था और उनके धनको शत्रु लोग लूटनेवाले थे। परन्तु जब वसिष्ठने इन्द्रकी स्तुति की तब नदीसे नहर खोदकर जलका प्रवाह निकाला गया जिसके बहते समय, शत्रुकी सेना बह गई और उन्हींका सामान भरतोंके हाथ लगा। ऐसा वर्णन है कि ६००० द्रुह्यु और अनु, गाय-बैल हाँककर लाते समय, रणांगणमें मारे गये। उस लड़ाईके उदाहरण और भी कई सूक्तोंमें हैं। इससे ज्ञात होता है कि पञ्जाबमें पहले आकर बसे हुए भारतोंको जीतनेका प्रयत्न बादको आये हुए यदु वगैरह क्षत्रियोंने अनार्य राजाओंकी सहायतासे किया। परन्तु ऋग्वेदके समय वह प्रयत्न सिद्ध नहीं हुआ। कुछ लोग कल्पना करेंगे कि इस युद्धमें भारती युद्धकी जड़ होगी। परन्तु स्मरण रहे कि यह युद्ध बहुत प्राचीन कालमें हुआ था। इसमें एक ओर भरत यानी

सूर्यवंशी क्षत्रिय, और उनके गुरु वसिष्ठ थे: और दूसरी ओर समस्त चन्द्रवंशी राजा थे। इस युद्धका भारती युद्धसे सम्बन्ध नहीं है। ऋग्वेदका युद्ध भरत-पूरुके बीच था और भारती युद्ध कुरु-पाञ्चालके बीच। ये दोनों एक पूरुके ही वंशज थे। ऋग्वेदमें पूरुका तो उल्लेख है, परन्तु कुरुका कहीं पता नहीं है। हम पहले लिख आये हैं कि भारती युद्ध ऋग्वेदके पश्चात् हुआ। अब यह देखना चाहिये कि कुरु और पाञ्चालके विषयमें और उनके पूर्वजोंके सम्बन्धमें वेदमें क्या पता लगता है।

चन्द्रवंशी आर्य।

चन्द्रवंशका मूल पुरुष महाभारतसे पुरूरवा सिद्ध होता है। इससे पहलेके चन्द्र और बुधको हम छोड़ देते हैं। पुरूरवाकी माता इला थी। हिमालयके उत्तर ओर जो वर्ष है, उसे इलावर्ष कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि पहले ये लोग हिमालयके उत्तरमें रहे होंगे। ऋग्वेदमें पुरूरवा और अप्सरा उर्वशीका वर्णन बहुत है। जान पड़ता है कि यह हिमालयमें ही था। पुरूरवाके बाद आयु और नहुषका नाम है। ऋग्वेदमें इनका भी उल्लेख है। इसके बाद ययाति है। यह बड़ा राजा हो गया है। ऋग्वेदमें इसका वर्णन है। यह अपने वंशका मुखिया था। ऋग्वेदमें इसका नाम दनुके साथ आया है। इसने शुक्रकी बेटी देवयानी और असुरकन्या शर्मिष्ठासे विवाह किया था। वृषपर्वा असुरके समीप ही ययातिका राज्य रहा होगा। ये दोनों स्त्रियाँ हिमालयके उस तरफ़की अर्थात् पारसियोंकी—असुरोंकी बेटियाँ थीं। यह कथा ऋग्वेदमें नहीं, महाभारतमें है। पहले कहा ही गया है कि इनके पाँच पुत्र थे और वे ऋग्वेदमें प्रसिद्ध हैं। यही पाँच पुत्र पहले हिन्दुस्तानमें आये। ज्ञात होता है कि वे घाटियोंसे आकर, सरस्वतीके किनारे, पहलेसे आबाद सूर्यवंशी आर्योंके राज्यमें घुस पड़े। ऋग्वेद-कालमें उन्होंने पञ्जाब पर पश्चिमकी ओर और अयोध्याकी ओर पूर्वमें चढ़ाइयाँ कीं। परन्तु वे सफल न हुए। इस कारण वे लोग सरस्वतीके किनारेसे गङ्गा-यमुनाके किनारे किनारे दक्षिणकी तरफ़ फैल गये। संहिता और ब्राह्मणके वर्णनसे उनके इतिहासका ऐसा ही क्रम देख पड़ता है; और वर्तमान हिन्दुस्थानियोंकी परिस्थितिसे भी यही सिद्ध होता है। प्राचीन इतिहास और वंशको सिद्ध करनेके लिए इन दिनों भाषाशास्त्र और शीर्षमापनशास्त्र, इन्हीं दो शास्त्रोंसे सहायता ली जाती है। इन दोनों शास्त्रोंके सिद्धान्त भी इन चन्द्रवंशियोंके उल्लिखित इतिहासके प्रमाणके लिए अनुकूल हैं। डाकृर ग्रियर्सनने वर्तमान हिन्दी-भाषाओंका अभ्यास किया है। उनके सिद्धान्तके आधार पर, सन् १९११ की मर्दुमशुमारीकी रिपोर्टमें, इस तौर पर लिखा गया है:—"हिन्दुस्थानकी हिन्दी आर्यभाषा (संस्कृतोत्पन्न) को आर्योंकी दो टोलियाँ ले आईं। पहली टोली जब उत्तरी हिन्दुस्थानके मैदानमें फैल चुकी, तब दूसरी टोली बीचमें ही घुस पड़ी और अम्बालेसे लेकर दक्षिणमें जबलपुर-काठियावाड़तक फैलती गई। आजकलके पञ्जाब-राजपूताना और अवधकी हिन्दी भाषाका वर्ग भिन्न हो जाता है और पश्चिमी हिन्दी अर्थात् अम्बाला-दिल्लीसे लेकर मथुरा वग़ैरह और जबलपुरतक एक भिन्न वर्ग है; इसकी शाखा काठियावाड़में गुजराती है।" इस दूसरे प्रान्तको हिन्दुस्थानका मध्यदेश कहा जा सकेगा। और इसी मध्यदेशमें चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी आबादी और वृद्धि हुई। ऋग्वेदसे लेकर

महाभारत* तकके ग्रन्थोंके इतिहाससे यही बात पाई जाती है। अब इन चन्द्रवंशी शाखाओंका ज़रा विस्तारसे विचार कीजिये।

पुरु।

दूसरे आये हुए चन्द्रवंशी आर्योंमें पुरुका कुल खूब बढ़ा और प्रसिद्ध हो गया। ययातिके पाँच पुत्रोंमें पुरु ही मुख्य राजा हुआ। उसे पिताने यह आशीर्वाद दिया था कि—"अपौरवातु मही न कदाचित् भविष्यति।" ये पुरु पहले सरस्वतीके किनारे आकर रहे और फिर दक्षिणकी ओर फैल गये। ऋग्वेदमें सरस्वतीके सूक्तमें वशिष्ठने वर्णन किया है कि सरस्वतीके दोनों किनारों पर पुरु हैं। ऋग्वेदसे यह भी ज्ञात होता है कि पुरुको दस्यु अर्थात् भारतवर्षके मूल-निवासियोंसे अनेक लड़ाइयाँ करनी पड़ीं। यास्कने सूचित किया है कि पुरु शब्द का साधारण अर्थ मनुष्य करना चाहिए। इससे यह देख पड़ता है कि पुरु प्रबल होकर सर्वत्र फैल गये थे। पुरुके वंशमें अजामीढ़ हुआ है; उसका उल्लेख भी ऋग्वेदमें है। इन पुरुओं और अन्यान्य चन्द्रवंशियोंके ऋषि कण्व और अङ्गिरस थे। पुरुके कुलमें आगे चलकर दुष्यन्त और भरत हुए हैं। ऋग्वेदमें उनका नाम नहीं है। परन्तु दौष्यन्ति भरतका नाम ब्राह्मणमें है। ब्राह्मणमें अश्वमेध-कर्ताओंमें भरतका वर्णन है।

अश्वमेधशतेनेष्ट्वा यमुनामनु वाव यः।
त्रिंशताश्वान्सरस्वत्यां गङ्गामनु चतुशतान॥

शतपथके अनुसार यह वर्णन महाभारतमें है। इससे भी यही मालूम होता है कि पुरुओंका राज्य यमुना, सरस्वती और गङ्गाके किनारों पर था। यह भरत महापराक्रमी हुआ; पर वह ऋग्वेदका भरत नहीं है, इस बातको दर्शानेके लिये ब्राह्मण-ग्रन्थमें उसे 'दौष्यन्ति भरत' नाम दिया गया है। इस भरतके कुलमें कुरु हुआ। सरस्वती और यमुनाके बीचके भारी मैदानको 'कुरुक्षेत्र' कहते हैं। यहाँ कुरु-परिवारकी खूब उन्नति हुई। आर्योंकी संस्कृति यहाँ अत्यन्त उन्नत हुई। लोग यहाँकी भाषाको अत्यन्त संस्कृत मानने लगे। यहाँके व्यवहार और रीति-रवाज सबसे उत्तम समझे गये। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें इस विषयके वर्णन हैं। महाभारतसे सिद्ध होता है कि पुरुओंकी राजधानी हस्तिनापुर थी जो कि गङ्गाके पश्चिमी किनारे पर आबाद था। इसी वंशमें कौरव हुए और पाण्डवोंका सम्बन्ध भी इसी वंशसे है। भरत और कुरुका उल्लेख यद्यपि ऋग्वेदमें नहीं है, तथापि इस बातका प्रमाण है कि ऋग्वेद सूक्तोंके अन्तसे पहले वे थे, क्योंकि अन्तके एक सूक्तका कर्त्ता देवापि, शन्तनुका भाई कौरव वंशमें हुआ था। यह बात पहले ही लिखी जा चुकी है।

यदु।

भारती युद्धमें प्रायः सभी चन्द्रवंशी राजा शामिल थे, इसलिये हम अन्यान्य शाखाओंके इतिहास पर भी विचार करते हैं। ऋग्वेदमें यदु लोगोंका उल्लेख सदा तुर्वशोंके साथ पाया जाता है। उसमें कण्व ऋषिका भी उल्लेख है। पहले यदु-तुर्वश एक ही जगह रहते होंगे। इनके विषयमें पहलेपहल वसिष्ठादि ऋषि प्रार्थना करते हैं कि—"हे इन्द्र! तू यदु-तुर्वशोंको मार।" परन्तु फिर वे जब यहाँके पक्के निवासी हो गये, तब उनका वर्णन अच्छे ढंगसे होने लगा। यहाँ पर यह बात कहने लायक़ है कि ऋग्वेदका आठवाँ मण्डल काण्व ऋषियोंका है। कण्वके

* महाभारतमें श्रीकृष्ण कहते हैं—"जरासन्धके डरसे हमें अपना प्यारा मध्यदेश छोड़ देना पड़ा।" "स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थितः।" (सभा० १४, ६०)

भिन्न भिन्न वंशवाले ऋषियोंने जो सूक्त बनाये, वे इस मण्डलमें सम्मिलित हैं। इन अनेक सूक्तोंमें वर्णन है कि हमने यदु-तुर्वशोंसे गौएँ लीं, इत्यादि। इससे काण्व ऋषि चन्द्रवंशियोंके हितचिन्तक दिखाई देते हैं। इससे यह बात भी समझमें आ जायगी कि दुष्यन्त और कण्वका सम्बन्ध क्यों है। ब्राह्मणमें भी भरतका पुरोहित कण्व बतलाया गया है। यदु-तुर्वशोंका अच्छा उल्लेख करनेवाले आङ्गिरस ऋषि भी हैं। पहले मण्डलके आङ्गिरसके अनेक सूक्तोंमें यह बात मिलेगी। छान्दोग्य उपनिषद्में देवकीपुत्र कृष्णको घोर आङ्गिरसने उपदेश किया है। इसका मेल उल्लिखित वर्णनसे अच्छा मिलता है। मतलब यह कि ऋग्वेद-कालमें यदु वंशका बहुत कुछ बोलबाला हो गया था। यदुके वंशज यादव यमुना किनारे पर थे और उन्हींके वंशमें आगे चलकर श्रीकृष्ण हुए। ऐसा जान पड़ता है कि ये यदु-तुर्वश गौओंका व्यवसाय करते थे। उनकी यही परम्परा आगे महाभारतमें भी पाई जाती है। यादवोंको राज्य करनेका अधिकार न होनेकी धारणा इसी कारण फैली होगी। उनको ययातिके शाप देनेका वर्णन यह है—

तस्मादराजभाक्तात प्रजा तव भविष्यति।
(आदि० ८४. ६)

श्रीकृष्ण वसुदेवके बेटे थे, वसुदेव गोकुलवासी थे, इत्यादि बातें भी प्रसिद्ध हैं। परन्तु यादव आरम्भसे ही गोपका व्यवसाय करते थे। इस बातका खासा प्रमाण भारतके एक छोटेसे वाक्यसे मिलता है। जिस समय सुभद्रा अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थको गई, उस समय सुभद्राको गोपी-वेशमें उसने द्रौपदीके पास भेजा। इससे दोनों बातें सध गईं। एक तो उसका रूप और भी खिल उठा, दूसरे वह द्रौपदीके आगे बराबरीके नातेसे अथवा बराबरीकी पोशाक पहनकर नहीं गई। ऐसा करनेमें अर्जुनका यह मतलब जान पड़ता है कि सुभद्राको इस वेशमें देखकर द्रौपदीको अचरज होगा और उसका क्रोध भी घट जायगा। तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण आदि यादव यद्यपि द्वारकामें राज करते थे, तथापि गोपालन ही उनका पुराना रोज़गार था। पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ जायगी कि यादवोंके इस स्वभाव और व्यवसायका थोड़ा सा दिग्दर्शन ऋग्वेदके उल्लेखमें भी मिलता है। अब अन्य चन्द्रवंशियोंके विषयमें विचार होगा।

पाञ्चाल।

हरिवंशसे पता चलता है कि पुरुकी एक दूसरी शाखाके वंशज पाञ्चाल हैं। इनका मुख्य पुरुष सृञ्जय ऋग्वेदमें प्रसिद्ध है। उसके वंशमें सहदेव और सोमक हुए। ये दोनों भी ऋग्वेदमें प्रसिद्ध हैं। सृञ्जयकी अग्निकी, ऋग्वेदमें एक जगह प्रशंसा है। इससे ज्ञात होता है कि वह बड़ा भारी यज्ञकर्ता था। ब्राह्मणमें यह वर्णन है कि सोमकने राजसूय यज्ञ करके, पर्वत और नारदके कहनेसे, एक और ही रीतिसे सोमपान किया, इसलिये उसकी कीर्ति हुई। अतएव उसके वंशजोंको सोमक नाम भी प्राप्त हो गया। महाभारतमें पाञ्चालोंको सृञ्जय और सोमक भी कहा है। ब्राह्मणमें एक स्थान पर पाञ्चालका अर्थ क्रिवि किया है (मालूम नहीं, ये कौन हैं; पर इनका उल्लेख ऋग्वेदमें है)। सम्भव है कि पाञ्चालोंमें पाँच जातियाँ मिल गई होंगी।

स सृञ्जयाय तुर्वशं परादाद्वृचीवतो दैववाताय शिक्षन्। (ऋ० ६.२७)

इस ऋचासे जान पड़ता है कि तुर्वश भी पाञ्चालोंमें मिल गये होंगे। इससे यह शङ्का की जा सकती है कि पाञ्चाल

लोग अनार्य-मिश्रित होंगे। किन्तु यह कहाँ सिद्ध होता है कि क्रिवि और तुर्वश अनार्य थे? ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें कुरु-पाञ्चालों-की सदा बड़ाई मिलती है। कई स्थानों पर पाञ्चालोंका स्वतन्त्र नाम आता है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंके वर्णनसे प्रकट होता है कि कुरुओंकी तरह ये लोग भी यज्ञकर्ता, विद्वान् और तत्त्वज्ञानके अभिमानी थे। तात्पर्य यह कि पाञ्चालोंकी सत्कीर्ति कुछ कम दर्जेकी न थी। ये पाञ्चाल गङ्गा और यमुनाके बीच हस्तिनापुरसे दक्षिण तरफ थे। महाभारतसे ज्ञात होता है कि गङ्गाके उत्तरमें भी इनका आधा राज्य था।

अनु और द्रुह्यु।

अब अनु और द्रुह्यु ये दो शाखाएँ रह गईं; सो इनका भी हम विचार करते हैं। ऋ० मं० ६ सूक्त ४६ में द्रुह्यु और पुरुका उल्लेख है। कदाचित् पुरुकी छोटी शाखामें अर्थात् पाञ्चालोंमें द्रुह्यु मिल गये होंगे। परन्तु हरिवंशके मतानुसार द्रुह्यु-के वंशधर तो गान्धार हैं। शकुनि उसी वंशका था। वह भारती युद्धमें मौजूद था। ऋग्वेदमें अनुकी बहुत प्रशंसा की गई है। उसकी अग्निकी बहुत बड़ाई है। मालूम होता है, वह बड़ा भारी यज्ञ-कर्ता था। पञ्जाबका शिबि औशीनर इसी वंशका है। पुराणकार कहते हैं कि इसी वंशमें भारत-युद्ध-कालीन शैब्य राजा हुआ था। हरिवंशके बत्तीसवें अध्यायमें जो वर्णन है, वह कुछ भिन्न है। तुर्वशका वंश नष्ट होकर पुरुके वंशमें मिल गया। उसके सम्मता नामकी एक बेटी थी; उसीसे दुष्यन्त हुआ। इस प्रकार तुर्वश-का वंश कौरवोंमें मिल गया। द्रुह्युका वंश गान्धार कहा गया है; पर अनुके प्रचेता, और सुचेता आदि पुत्र और पौत्र हुए। आगे फिर उसके वंशका वर्णन नहीं है। इस कथनके विपरीत आदि पर्वमें एक वचन है। यहाँ उसका उल्लेख करना ठीक होगा:—

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः। द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः।

यदुसे यादव, तुर्वसुसे यवन, द्रुह्युसे भोज और अनुसे म्लेच्छ उत्पन्न हुए। इस श्लोकमें वर्णित तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु-की सन्तति बिलकुल भिन्न है। इससे सिद्ध होता है कि महाभारत कालमें इनकी सन्तानके विषयमें बिलकुल ही निराली समझ थी। और इससे यह भी मालूम पड़ता है कि सौतिने न तो हरि-वंशको लिखा ही है और न उसकी जाँच की है। प्रतीत होता है कि उसकी सन्तति-सम्बन्धी जानकारी बहुत करके महा-भारतके समयमें लुप्त हो गई थी। प्राचीन ग्रन्थोंका ऐतिहासिक प्रमाण देखते समय पूर्व पूर्वको अधिक प्रमाण मानना चाहिये। अर्थात्, हरिवंशकी अपेक्षा महाभारत अधिक प्रामाणिक है, महाभारतकी अपेक्षा वेदाङ्ग और वेदाङ्गोंकी अपेक्षा ब्राह्मण अधिक प्रामाण्य हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे भी बढ़कर संहिता और उसमें भी ऋग्वेद-संहिताको इस काममें श्रेष्ठ मानना चाहिए। महाभारतकी यह बात मान लेने लायक है कि द्रुह्युसे भोजोंकी उत्पत्ति हुई होगी; क्योंकि इसके विपरीत हरिवंशका यह कथन कि—'उनसे गान्धार लोग उत्पन्न हुए' पीछेका है। इसके सिवा गान्धार देश पञ्जाबके उस तरफ है, इसलिये वहाँ चन्द्रवंशी न गये होंगे। श्रीकृष्णने सभा पर्वमें जो यह कहा है कि ययातिके कुलमें भोज राजा उत्पन्न हुए, उससे भी यह मेल खाता है। गान्धार बहुत करके पहले आये हुए आर्योंके वंशज यानी सूर्यवंशी होंगे। हमारी कल्पनाको रामायणके वर्णनसे अनुकूलता मिलती है। रामायण-

में लिखा है कि भरतके पुत्रने सिन्धुके उस ओर पुष्कलावती बसाई। तो फिर द्रुह्युसे भोज उत्पन्न हुए। यही लोग मध्यदेशमें भारती युद्धके समय मगध और शूरसेन आदि देशोंमें प्रबल थे; और इन्हींके कुलमें जरासन्ध, कंस आदि हुए थे। खैर, सौतिका यह कथन ठीक नहीं कि तुर्वसुसे यवन उत्पन्न हुए। कदाचित् यह बात हो कि अनु और आयोन (Ion) एक ही हों, और उनसे यवन हुए हों; और तुर्वसुसे तुर्क अथवा तूर (ईरानके शत्रु तूरान) वगैरह म्लेच्छ जातियाँ हुई हों। परन्तु यह बात भी ग़लत है। 'यवन और म्लेच्छ जातियाँ हमारे पूर्वजोंसे ही निकली हैं' इस कल्पनासे ही यह धारणा हो गई है। परन्तु ययातिकी सन्तान आर्य ही होनी चाहिये और वह हिन्दुस्थानमें ही होनी चाहिये। इसके सिवा, ऋग्वेदका प्रमाण इसके विपरीत है। पहले लिखा ही जा चुका है कि ऋग्वेदके वर्णनसे तुर्वसुओंका सृञ्जयोंमें शामिल होना पाया जाता है। अनु खूब यज्ञ किया करता था और उसकी अग्नि भी प्रसिद्ध थी। उसके यहाँ इन्द्र और अग्निदेव नित्य आते थे। ऋग्वेदमें ऐसे ऐसे जो उल्लेख हैं उनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। इससे सिद्ध है कि अनु वैदिक धर्माभिमानी, अग्निका उपासक और इन्द्रका भक्त था। म्लेच्छके अग्न्युपासक और इन्द्रभक्त होनेका दृष्टान्त कहीं नहीं मिलता। अर्थात्, अनुसे म्लेच्छोंका उत्पन्न होना सम्भव ही नहीं। मतलब यह है कि सौतिके समय मालूम ही न रहा होगा कि अनुका वंश कौनसा है। हरिवंशमें भी इसका ज़िक्र नहीं। यदु और पुरुके वंशमें श्रीकृष्ण और कौरव-पाण्डवोंके होनेसे उन्हींके कुल आगे प्रसिद्ध हुए। ययातिने अपने बेटोंको शाप दिया था। उसका उल्लेख यहाँ करने योग्य है। पहले लिखा जा चुका है कि यदुकी सन्ततिको अराजभाक् (राज-काज न करने योग्य) होनेका जो शाप ययातिने दिया, सो पूरा हुआ। तुर्वसुको शाप दिया था कि तेरी सन्तति का उच्छेद हो जायगा। सो वह भी ऐतिहासिक रीतिसे ठीक जँचता है। द्रुह्युको यह शाप दिया था कि हाथी, घोड़े, बैल, पालकी आदि जहाँ बिलकुल नहीं, और जहाँ किश्तियोंमें बैठकर आना जाना पड़ता है, वहीं तुझे रहना पड़ेगा—

अराजा भोजशब्दस्त्वं
तत्र प्राप्स्यसि सान्वयः।

मालूम नहीं होता कि ऐसा कौन देश है। समझमें नहीं आता कि हिन्दुस्तानका यह कौनसा प्रदेश है। भोजसंज्ञक राजा दक्षिणमें हैं, पर वहाँ यह बातें नहीं हैं, यह एक मुख्य अड़चन है। खैर; यहाँ कहा गया है कि द्रुह्युके वंशज भोज हैं। अनुको शाप था कि तेरी सन्तान कम-उम्र होगी और तू अग्निकी सेवा छोड़कर नास्तिक हो जायगा। इसे ऋग्वेदके वर्णनसे मिलाकर फिर यह कल्पना हो सकती है कि अनुके ही आगे यवन हो गये। हिन्दुस्तानके अनुके वंशकी स्मृति महाभारतके समय न रही होगी।

चन्द्रवंशियोंकी भिन्नता।

यद्यपि वैदिक साहित्यमें इस बातका उल्लेख नहीं है कि हिन्दुस्तानमें सूर्यवंश और चन्द्रवंश दो भिन्न भिन्न वंश थे, तथापि महाभारतमें इसका वर्णन स्पष्ट मिलता है। श्रीकृष्णने सभापर्वमें कहा है—"इस समय हिन्दुस्तानमें ऐल और ऐक्ष्वाकके वंशके १०० कुल हैं। उनमेंसे ययातिके कुलमें उपजे हुए भोजवंशी राजा लोग गुणवान् हैं और चारों दिशाओंमें फैले हैं।" यह स्पष्ट है कि ऐल और ऐक्ष्वाक शब्दोंसे चन्द्रवंश और सूर्यवंशका बोध होना

है। फिर भी चन्द्र और सूर्यका स्पष्ट नाम नहीं है। इस कारण ज़रासा सन्देह रह ही जाता है कि महाभारतके समयमें भी इन नामोंका प्रचार हुआ था कि नहीं। आगे पुराण-कालमें ये नाम प्रसिद्ध हो गये। ऋग्वेद-कालसे लेकर महाभारतकाल-तक सिर्फ़ यही बात पाई जाती है, कि हिन्दुस्तानमें दो वंशोंके आर्य आये थे। पहले भरत या सूर्यवंशी क्षत्रिय आये। फिर पिछेसे यदु, पुरु वगैरह वंशोंके क्षत्रिय आ गये। ब्राह्मण-कालमें इस दूसरे वंशवाले क्षत्रियोंका उत्कर्ष देख पड़ता है। वही भारती युद्धके समय रहा होगा। श्रीकृष्णके कथनसे मालूम पड़ता है कि भारतमें ययातिके वंशज भोज-कुलकी प्रबलता अधिक थी। ये सारे चन्द्रवंशी घराने गङ्गा, यमुना और सरस्वती नदीके किनारे आबाद थे। पहले आये हुए आर्य पञ्जाब और अयोध्या-मिथिला प्रान्त-में बसे हुए थे: और चन्द्रवंशी आर्य उन्हींके बीचमें घुसे हुए थे। इन चन्द्रवंशी आर्योंके मुख्य मुख्य कुल ये थे:—(१) कुरु-क्षेत्रमें कौरव, (२) गङ्गाके किनारे यदु और उसके दक्षिणमें पाञ्चाल, (३) मथुरा: में और यमुना किनारे यदु और शूरसेनी भोज, (४) दक्षिणमें यमुना किनारे प्रयागतक चेदि और (५) गङ्गाके दक्षिण-में मगध। इनके सिवा (६) अवन्ति और विदर्भमें भी भोज-कुल थे। ये सभी चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे। भोजोंके दबदबेके मारे यादव लोग श्रीकृष्णके साथ मध्य-देश छोड़कर चले गये: और (७) सौराष्ट्र यानी काठियावाड़में जाकर द्वारकामें बस गये। ये सब चन्द्रवंशी क्षत्रिय आर्य थे। इनका धर्म वैदिक ही था, अर्थात् ये इन्द्र और अग्निकी उपसना करते थे। फिर भी इनमें, और पहले आर्योंमें, कुछ थोड़ासा फ़र्क़ था। इन क्षत्रियोंका वर्ण साँवला रहा होगा। श्रीकृष्ण, अर्जुन, वेदव्यास और द्रौपदी आदिके वर्णसे ऐसा ही जान पड़ता है। मल्ल-विद्याका उन्हें अभिमान था। श्रीकृष्ण, बलराम, दुर्योधन, भीम और जरासन्ध आदिके वर्णनसे ज्ञात होता है कि इन्हें मल्लविद्याका ख़ासा शौक़ था। इनकी भाषामें भी कुछ भिन्नता थी: और हम पहले दिखला ही चुके हैं कि यह भिन्नता आजकलकी संस्कृ-तोत्पन्न मध्यदेशीय हिन्दी भाषामें भी मौजूद है। उनके शिरके परिमाणमें भी कुछ अन्तर रहा होगा। इसका खुलासा आगे किया जायगा। अनुमानसे मालूम पड़ता है कि इनमें चान्द्र वर्षसे चलने-वाले कुछ लोग थे। आपसके झगड़ेके कारण इन लोगोंमें भारतीय-युद्ध हुआ और दोनों ओर मुख्यतः चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे।

पाण्डव।

अब इस बातका विचार करना चाहिए कि पाण्डव कौन थे। कौरवोंका राजा था प्रतीप: उसका पुत्र हुआ शन्तनु। शन्तनु-के दो पुत्र भीष्म और विचित्रवीर्य हुए। भीष्मने अपना राज्यका हक़ छोड़ दिया: तब विचित्रवीर्य गद्दी पर बैठा। विचित्र-वीर्यके धृतराष्ट्र और पाण्डु हुए। धृतराष्ट्र थे अन्धे, इस कारण पाण्डु राजा हुआ। तबियत ख़राब हो जाने पर पाण्डु वनमें चला गया। तब धृतराष्ट्रके बेटे दुर्योधनको राज्य मिला। जब पाण्डु वनमें गया तब उसके सन्तान न थी। इस कारण कुन्ती और माद्रीने देवताओंको प्रसन्न करके उनसे पाँच बेटे उत्पन्न करा लिये। यही पाण्डव कहलाये। ये पाण्डव हिमालयमें ही सयाने हुए और पाण्डुके मर जाने पर हिमालयके ब्राह्मणोंने उन्हें हस्तिनापुरमें धृतराष्ट्रकी निगरानीमें कर दिया। यहाँ उनसे दुर्योधन आदिका विवाद शुरू हुआ। उस समय भी यह कल्पना रही होगी कि

ये लड़के पाण्डुके नहीं हैं, और इसी कारण यह झगड़ा धीरे धीरे बढ़कर आगे बहुत भयङ्कर हो गया। महाभारतमें पाण्डवों और भारती-युद्धकी पूर्वपीठिका ऐसी ही दी है। अब यहाँ इस बातका विचार करना चाहिए कि इस कथाका ऐतिहासिक स्वरूप क्या है। कुछ लोग समझते हैं कि यह सारी कथा काल्पनिक है; पर यह समझ ग़लत है। हमारी रायमें चन्द्रवंशकी अन्तिम शाखाके जो आर्य हिन्दुस्थानमें बाहरसे आये थे, उन्हींमें पाण्डव लोग हैं। हम पहले लिख चुके हैं कि चन्द्रवंशी लोग हिमालयके उस ओरसे, गङ्गाकी घाटियोंमेंसे होते हुए हिन्दुस्थानमें आये। चन्द्रवंशका मूल पुरुष पुरूरवा ऐल यानी इलाका बेटा था; और हिमालयके उत्तरमें जो भाग है, उसका नाम इलावर्ष है। अर्थात्, चन्द्रवंशकी मूल-भूमि इलावर्ष था; और कुरुओंका जो मूल-स्थान हिमालयके उत्तरमें था, उसका नाम उत्तर कुरु था। मतलब यह कि जिस प्रकार कोंकणस्थ ब्राह्मण घाटियों पर आये और फैलकर बस गये, परन्तु उनकी मूल-भूमि आजकल दक्षिणी कोंकण ही है, उसी प्रकार कुरुओंका मूल देश हिमालयके उत्तर भागमें था। महाभारतका यह वर्णन ठीक जान पड़ता है कि तबीअत बिगड़ जानेसे पाण्डु राज्य छोड़कर चला गया। पाण्डु अपने कुरु लोगोंकी मूलभूमिमें गया और वहाँ पर कई वर्षतक रहा। वहाँ पर वह इतने अधिक समयतक रहा होगा कि उस देशके आचार-विचार उसकी, और उसके परिवारकी, नस नसमें भर गये। उस देशमें चन्द्रवंशी क्षत्रियोंमें जो रीतियाँ प्रचलित थीं, वे पुराने ढङ्गकी थीं, और हिन्दुस्थानमें बसे हुए क्षत्रियोंकी रीतियोंसे मिलती-जुलती न थीं। हम आगे चलकर विस्तारके साथ यह बात बतलावेंगे कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों एक ही अंशसे उत्पन्न हुए हैं। पाण्डुका देहान्त हो जाने पर कुन्ती अपने पाँचों बेटोंको लेकर, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय परिवारके साथ, हिमालयके कङ्गाल प्रदेशको छोड़कर अपने पुराने पहचाने हुए स्थान पर हिन्दुस्थानमें आई। अब यहाँ प्रश्न होता है कि पाण्डवोंकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई। परन्तु उस समय प्राचीन आर्योंमें अर्थात् हिमालय-वासियोंमें नियोगकी रीति प्रचलित थी। यही क्यों, बल्कि महाभारतमें विचित्रवीर्यकी सन्ततिके विषयमें जो वर्णन है, उससे सिद्ध होता है कि नियोगका प्रचार हिन्दुस्थानके कुरु-घरानेमें भी था। नियोग-विषयक उल्लेख मनुस्मृतिमें भी है। मनुस्मृतिमें इस रीतिको निन्द्य माना गया है, इस कारण समाजसे उसका चलन उठ गया। इसमें सन्देह नहीं कि पाण्डव लोग ऐतिहासिक हैं और वे हिमालयसे आये हुए अन्तिम चन्द्रवंशी क्षत्रिय हैं। बहुपतिकत्वकी रीतिसे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है। आदिपर्वके १९५ वें अध्यायमें इस विवादका वर्णन है कि एक द्रौपदीके साथ पाँचों पाण्डवोंका विवाह किस तरह हो। वह यहाँ उद्धृत करने योग्य है। "एक स्त्रीके अनेक पति कहीं नहीं सुने गये। यह लोकाचार और वेदकी आज्ञाके विपरीत रीति तुम कैसे बताते हो?" तब युधिष्ठिरने कहा—"पूर्वकालीन लोग जिस मार्गसे गये हैं, मैं उसी पर तो चलता हूँ।" उसने स्पष्ट कह दिया कि—"यह हमारा कुलक्रमागत आचार है।" इससे प्रकट होता है कि पाण्डवोंकी उत्पत्ति हिमालयमें हुई और वहाँ यह रीति थी। अत्यन्त प्राचीन कालमें यह रीति आर्योंमें थी। पर वेदोंने इसको नहीं माना। जो हो, इससे सिद्ध हुआ कि पाण्डव अत्यन्त प्राचीन शाखाके हिमा-

लयमें रहनेवाले लोग हैं जो हिन्दुस्थानमें बिलकुल पीछेसे आये थे, और हस्तिना-पुरमें आनेके कारण कौरवोंसे उनका झगड़ा हुआ। यह ऐतिहासिक अनुभव है कि नये नये आनेवालोंकी शाखा सदैव अधिक उत्साही और तेजस्वी रहती है। इसके अनुसार पाण्डव भी खूब फुर्तीले और तेज़ थे। धृतराष्ट्रसे उन लोगोंने राज्यका आधा हिस्सा ले लिया। अर्थात् राज्यकी पड़ती ज़मीन—यमुनाके पश्चिम ओरका प्रदेश-उन्हें मिली। वहाँ पर उन लोगोंने इन्द्रप्रस्थ नामक राजधानी स्थापित की। इस प्रकार ऐतिहासिक रीतिसे कौरवों और पाण्डवोंकी कथाका मेल मिलता है और यह अनुमान होता है कि वह बहुत पुराने ज़मानेकी है।

नाग लोग।

भारती युद्धका सम्बन्ध नाग लोगोंसे भी है। यह कहनेमें कोई हानि नहीं कि ये लोग भी ऐतिहासिक हैं। ऋग्वेदमें जिन्हें दस्यु या दास कहते हैं, वे येही होंगे। ये हिन्दुस्थानके मूल निवासी हैं। इनकी सूरत शकल दन्तकथासे ही बदली गई; अर्थात् यह कल्पना पीछेसे की गई होगी कि ये लोग नाग यानी प्रत्यक्ष सर्प हैं। जहाँ जहाँ आर्य लोग आकर बस गये, वहाँ वहाँ नाग लोग पहलेसे ही आबाद थे। पाण्डवोंको यमुनाके पश्चिमी किनारे पर राज्यका जो हिस्सा मिला वहाँ पर, उस प्रदेशमें, नाग लोग रहते थे। ये लोग बहुत करके जङ्गलोंमें रहते थे और नागों की यानी सर्पोंकी पूजा किया करते थे। राज्य जमानेके लिए पाण्डवोंको ये जङ्गल साफ़ करना पड़ा और वहाँसे नागोंको हटाना पड़ा। महाभारतमें खाण्डव बन जलानेका जो किस्सा है, वह इसी प्रकारका है। खाण्डव बनको जलाकर वहाँकी ज़मीनको खेतीके उपयुक्त बनानेके लिए यह उपाय किया गया होगा। खाण्डव-बन-दाहकी घटनाको ऐतिहासिक स्वरूप इसी प्रकार दिया जा सकेगा। बड़े भारी खाण्डव बनका विस्तार यमुना किनारे था। वहाँ खूब घने जङ्गलमें नाग लोग रहते थे। वे आर्योंकी बस्तीको सताते भी थे। इस कारण उन्हें सज़ा देकर सारे जङ्गलको जला देने और वहाँकी उपजाऊ ज़मीनको बस्तीमें मिला लेनेकी आवश्यकता थी। इस कारण उन्हें नाग लोगोंसे युद्ध भी करना पड़ा। उस बनके नागोंका मुखिया तक्षक था। आदि पर्वके २२८ वें अध्यायसे ज्ञात होता है कि यह तक्षक अर्जुनके हाथ नहीं लगा। इन्द्र उसकी सहायता करता था। इस कारण आकाशवाणी द्वारा कहा गया कि—"हे इन्द्र! तू जिसकी रक्षाके लिए इतना उद्योग कर रहा है, वह तेरा मित्र नागराज तक्षक तो यहाँ है ही नहीं। वह अब कुरुक्षेत्रको चला गया।" इससे प्रकट हुआ कि नागोंके राजा तक्षकको दण्ड देनेका अर्जुनका इरादा था। परन्तु उस समय वह मिला ही नहीं। वह अपना देश छोड़कर कुरुक्षेत्रमें चला गया था। जान पड़ता है कि फिर वह पञ्जाबमें तक्षशिलाके पास बस गया। इन नागोंसे पाण्डवोंका जो बैर शुरू हुआ, वह आगे दो तीन पीढ़ियोंतक रहा। इस अनुमानके लिए स्थान है कि नागोंने भारती युद्धमें पाण्डवोंके विरुद्ध कौरवोंको सहायता दी थी। क्योंकि कर्णके तरकसमें, खाण्डव वन-दाहसे भागा हुआ, अश्वसेन नामका नाग बाण बना बैठा था। अर्जुन पर इस बाणको कर्णने चलाया भी था। पर निशाना चूक जाने पर वह वृथा गया। तब उसने लौटकर कर्णके कानमें कहा कि हमें दुबारा चलाओ; पर कर्णने यह

बात नहीं मानी । महाभारतकी इस कथाको ऐतिहासिक रूप इस तरह दिया जा सकेगा, कि नागोंने अर्जुनके विरुद्ध कर्णकी सहायता की थी; परन्तु उसका कुछ उपयोग नहीं हुआ। खाण्डव वन जलाकर अर्जुनने हमारा देश छुड़ा दिया, इसका बदला तक्षकने अर्जुनके नातीसे लिया । तक्षकके काटनेसे परीक्षितका देहान्त होनेकी जो कथा है, उसका यही रहस्य है। मूल भारती युद्ध सन् ईसवीसे ३००० वर्ष पूर्व मान लिया जाय तो फिर महाभारत उसके २५००--२७०० वर्ष पश्चात् तैयार हुआ। इतने समयके बीचमें लोगों की कल्पना और दन्तकथामें नाग जाति प्रत्यक्ष नाग अथवा सर्प हो गई, इसमें कुछ अचरज नहीं । महाभारतके समय यही कल्पना थी कि नाग सर्प ही थे। उनमें यह विशेषता मानी जाती थी कि वे मामूली साँपोंकी तरह पशु नहीं थे, उनमें देवांश था। वे मनुष्योंकी तरह बात-चीत करते थे और उनमें तरह तरहकी दैवी शक्तियाँ भी थीं। असल बात कदाचित् यह हो कि तक्षकने गुप्त रूपसे परीक्षितके महलमें घुसकर उसका खून किया हो; परन्तु उसका रूपान्तर यह हुआ कि बेरमें बहुत ही छोटासा कीड़ा बनकर उसने प्रवेश किया और फिर एकदम खूब भारी होकर परीक्षितको डस लिया। इससे आगेका भाग और भी चमत्कारपूर्ण है। जनमेजयने अपने पिताकी मृत्युका बदला लेनेके लिए तक्षकसे और नाग लोगोंसे प्रायश्चित्त कराना चाहा। सारे संसारको जीतनेवाले योद्धाओंका अनुकरणकर उसने नागोंके तक्षकके देश तक्षशिलाको जीतकर नागोंका बिलकुल नाश करनेका काम जारी कर दिया। किन्तु फिर एक दयालु विद्वान् ब्राह्मणके आग्रहसे जनमेजयने उनका पिण्ड छोड़ दिया और तक्षकको माफ़ भी कर दिया। असल कथाभाग यह है। इसे महाभारत-काल तक सर्प-सत्रका रूपक दे दिया गया। आदि पर्वमें जनमेजयके सर्पका विस्तृत वर्णन इसी तरहका है। किन्तु सर्पसत्रका अर्थ क्या है ? सर्पसत्रके ढङ्गके किसी सत्रका वर्णन न तो किसी ब्राह्मण-ग्रन्थमें और न किसी वैदिक ग्रन्थमें पाया जाता है; किंबहुना महाभारतके वचनसे प्रकट होता है कि यह सर्पसत्र सिर्फ़ जनमेजयके लिए ही उत्पन्न किया गया था और इस सत्रमें भिन्न भिन्न जीतियोंके सर्पोंकी आहुतियां दी जानेवाली थीं। ऋषियोंने सत्रका आरम्भ किया; ज्योंही ज़ोर ज़ोरसे सर्पोंके नाम लेकर अग्निमें आहुति दी गई, त्योंही बड़े बड़े सर्प आगमें गिर-कर भस्म होने लगे! अन्तमें तक्षककी पुकार हुई। तक्षक इन्द्रके आश्रममें था, किन्तु उस समय आस्तीकने नागोंका पक्ष लेकर जनमेजयको मना लिया और सर्प-सत्र रुकवाकर तक्षकको अभय-वचन दिलवा दिया। इस कथासे ज्ञात होता है कि नाग भी मनुष्य ही थे और इन्द्रके आश्रममें रहते थे; यानी ऐसे जंगलोंमें रहते थे जहां कि विपुल वर्षा होती थी। इनके कई भेद थे । क्षत्रियोंके घरमें नागोंकी बहुतेरी स्त्रियाँ थीं। अर्जुन भी एक नाग-कन्या उलूपीको ब्याह लाया था। कल्पना यह है कि नागोंकी मुख्य बस्ती पातालमें है और पातालमें पहुँचनेका मार्ग पानीके भीतर है। इसी लिये वर्णन है कि नदीमें स्नान करते समय अर्जुनका पैर घसीटकर उलूपी उसे पातालमें ले गई थी। इसके सिवा, कई ऋषियोंको नाग-कन्याओंसे सन्तान होनेका वर्णन महाभारतमें है। नागोंका पक्ष लेनेवाला आस्तीक, जरत्कारु ऋषिका नाग-कन्यासे ही उत्पन्न पुत्र था। इन सारी बातों

पर ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करने पर यही कहना होगा, कि नाग मनुष्य थे जो जङ्गलोंमें रहा करते थे; उनका राजा तक्षक खाण्डव-वन-वासी था; वहाँसे हटाये जानेके कारण वह पाण्डवोंका कट्टर वैरी हो गया और भारती युद्धमें पाण्डवोंको मटियामेट कर देनेके लिए वह कर्णका सहायक था।

यहाँ ज़रा खुलासा करना ज़रूरी है। मालूम होता है कि पहले किसी समय नाग और सर्प दो भेद रहे होंगे। भगवद्गीतामें यह भेद यों बताया गया है— "सर्पाणामस्मि वासुकिः" और "अनन्तश्चास्मि नागानाम्।" अर्थात् भगवद्गीताके समय अथवा भारत-कालमें सर्प और नाग दोनों तरहके लोग हिन्दुस्थानमें थे। सर्प सविष थे अर्थात् आर्योंको सताते थे; और नाग निर्विष थे, वे आर्योंसे छेड़छाड़ न करते थे, उनके अनुकूल थे। इसी कारण, नाग होने पर भी अनन्त, विष्णुके लेटनेके लिये पसन्द किया गया है। परन्तु जान पड़ता है कि सौतिके समय यह भेद न रहा। महाभारतके आस्तीक-आख्यान और पौष-आख्यानमें यह भेद बिलकुल नहीं मिलता। स्थान स्थान पर देख पड़ता है कि सर्प और नाग एक ही हैं। फिर भी यह माननेके लिये जगह है कि शेष अथवा अनन्त आदि नाग सर्पोंसे भिन्न होते हैं। जनमेजयकृत सत्रका नाम सर्पसत्र है और इस सर्पसत्रमें विषोल्बण सर्प जलाये गये हैं (आ० अ० ५७)। यहाँ पर उन सर्पोंके नाम भी दिये गये हैं जो जलाकर खाक कर दिये गये। वे लोग वासुकि, तक्षक, ऐरावत और धृतराष्ट्रके कुलके थे, अनन्त अथवा शेषके कुलके न थे। इसी तरह यह भी अनुमान है कि ये दोनों सर्प और नाग लोग अलग अलग स्थानोंमें रहते थे। आदि पर्वके तीसरे अध्यायमें उत्तङ्कने नागलोकमें जाकर नागोंकी जो स्तुति की है, उससे महत्त्वकी बातें मालूम होती हैं।

बहूनि नागवेश्मानि गङ्गायास्तीर उत्तरे।
तत्रस्थानपि संस्तौमि महतः पन्नगानिमान्॥

इससे ज्ञात होता है कि नाग लोग गंगाके उत्तरमें भी रहते थे। यह भी मालूम होता है कि कुरुक्षेत्रमें और खाण्डव-वन-दाहके पूर्व उस वनमें तक्षक और अश्वसेन रहते थे। सौतिने यद्यपि इन्हें नाग कहा है, तथापि ऊपरके वर्णनसे ये सर्प मालूम पड़ते हैं। इनके सम्बन्धमें इस स्तुतिमें ये श्लोक हैं—

अहमैरावतज्येष्ठं भ्रातृभ्योऽकरवं नमः।
यस्य वासः कुरुक्षेत्रे खाण्डवे चाभवत्पुरा॥
तक्षकश्चाश्वसेनश्च नित्यं सहचरावुभौ।
कुरुक्षेत्रं च वसतां नदीमिक्षुमतीमनु॥

यहाँ पर तक्षक और अश्वसेनका सम्बन्ध व्यक्त है। तक्षकको नागराज कहा गया है। उसका वर्णन इस तरह भी है—

अवसद्यो नागधुरि प्रार्थयन्नागमुख्यताम्।

इन सब बातोंसे मानना पड़ता है कि तक्षक सर्प अर्थात् प्रतिकूल जातिका था। वह पहले खाण्डव वनमें रहता था। उसे नाग लोगोंके राजत्वकी इच्छा और बड़ी महत्त्वाकाङ्क्षा थी। पाण्डवोंने उसके प्रदेशको आग लगाकर खाली करा लिया; इस कारण उनके साथ तक्षक और अश्वसेनकी शत्रुता हो गई। एक बात पर ध्यान रखना चाहिये कि आरम्भमें नागों और सर्पोंका वंश तो एक ही था पर जातियाँ अलग थीं; यह बात भगवद्गीतासे प्रकट होती है। (इस कारण भी भगवद्गीताका समय सौतिके महाभारतसे पहलेका देख पड़ता है।)

युद्धमें विरोधी दलके लोग।

अब हमें यह देखना है कि दोनों दलोंमें कौन कौन आर्य थे और फिर

उससे जो अनुमान हो, उसपर विचार करें। दुर्योधनकी ओर ११ अक्षौहिणियाँ थीं। उनमें जो राजा लोग थे, पहले उन्हींको देखना चाहिये। दुर्योधनके दलमें पहला शल्य था। यह मद्रोंका स्वामी था। इसका राज्य पञ्जाबमें था। दूसरा भगदत्त था। पूर्वकी ओर चीन-किरातोंका यह एक राजा था। तीसरा भूरिश्रवा भी पञ्जाबका ही नरपति था। चौथा कृतवर्मा भोजोंका भूपाल था। इसका राज्य काठियावाड़के समीप था। पाँचवाँ जयद्रथ था जो सिन्धु देशका राजा था। छठा सुदक्षिण, काम्बोजके अफ़ग़ानिस्तानका अधिपति था। सातवाँ माहिष्मतीका नील था; यह नर्मदाके महेश्वरका राजा था। आठवें और नवें अवन्तिके दो राजा; दसवें पञ्जाबके केकय; और ११ वीं अक्षौहिणीमें गान्धारके राजा शकुनि, शिवि और कोसलोंके राजा बृहद्रथ आदि थे। पाण्डवोंकी ओर सात्यकि युयुधान द्वारकाका यादव था। दूसरा चेदिका धृष्टकेतु था। यमुना किनारे कानपुरके समीप चेदि लोग रहते थे। तीसरा, मगधोंका जयत्सेन था। चौथा, समुद्र किनारेका पाण्ड्य था। पाँचवाँ द्रुपद पाञ्चालका था। गङ्गा-यमुनाके मध्यमें अलीगढ़के आसपासका प्रदेश पाञ्चालोंका था। छठा, मत्स्योंका विराट था। जयपुर, धौलपुर आदिके भागोंमें मत्स्य देश था। सातवें, अन्यान्य राजा लोग—काशीका धृष्टकेतु, चेकितान, युधामन्यु और उत्तमौजा प्रभृति राजा लोग (उद्योग० अ० १९); इस प्रकार पाण्डवोंकी ओर सात अक्षौहिणियाँ और दुर्योधनकी ओर ११ अक्षौहिणियाँ थीं। इस फ़ेहरिस्तसे एक बड़ा अनुमान यह निकाला जा सकता है कि पहले आये हुए और पीछेसे आये हुए आर्योंके बीच भारती युद्ध हुआ; अथवा उत्तरी ओरके तथा दक्षिणी ओरके आर्योंमें यह लड़ाई हुई; अथवा आसपासके आर्यों और मध्य देशके आर्योंमें यह युद्ध हुआ। दुर्योधनकी ओर कुरुक्षेत्रसे लेकर पञ्जाबके गान्धार, काम्बोजतकके अर्थात् अफ़ग़ानिस्तानतकके सभी राजा, इसी प्रकार सिन्धके राजा लोग, काठियावाड़ और अवन्ति (उज्जैन) तकके राजा और पूर्वमें अयोध्या (कोसल), अङ्ग, प्राग्ज्योतिष पर्यन्त (कर्ण और भगदत्त) राजा थे। इधर दूसरे दलमें पाण्डवोंकी ओर दिल्ली, मथुरा, (शौरसेनी), पाञ्चाल, चेदि, मगध और काशी वग़ैरह यमुना किनारेके और गङ्गाके किनारेके मध्य देशके राजा थे। इससे यह कहनेमें कोई हानि नहीं कि ये सब नये आये हुए चन्द्रवंशियोंके लोग थे। उत्तर ओरके लोगोंमें चन्द्रवंशके, सबसे पहले आये हुए, कुरु थे। इन दोनों दलोंमें बहुत मतभेद रहा होगा। दोनोंके रीति-रवाजोंमें भी फ़र्क़ रहा होगा। और यह तो पहले ही लिखा जा चुका है कि इनका भाषा-भेद आजकलकी भाषाओंमें भी मौजूद है। इसके सिवा यह मान लेनेमें भी कोई हानि नहीं कि मध्यदेशी लोग चान्द्र वर्ष मानते होंगे। वे लोग पाण्डवोंमें इसी कारण आ मिले होंगे।

लोगोंमें ताज़ा दम था और उत्साह भी काफ़ी था। उनमें हिन्दुस्थानके मूल निवासियोंसे हिलमिलकर रहनेकी प्रवृत्ति अधिक थी। इन लोगोंके वर्णमें जो ज़रासा साँवलापन आ गया, वह मूलनिवासियोंसे मिलनेके ही कारण आया; फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे वैदिक धर्माभिमानी थे और आर्य जातिके तो निश्चित ही थे।

हिन्दुस्थानमें आर्य हैं।

कुछ लोग बड़े आग्रहके साथ कहते

हैं कि हिन्दुस्थानमें आर्य लोग बिलकुल हैं ही नहीं। इसलिए अब यहाँ ज़रा विस्तार-के साथ इस बातका विचार करना है कि हिन्दुस्थानमें आर्य लोग हैं भी या नहीं; और ये चन्द्रवंशी लोग आर्य थे या कौन थे। अब हमें वेद और महाभारतसे इसका प्रमाण देखना चाहिये कि हिन्दुस्थानमें आर्य पहले भी थे और अब भी हैं। ऋग्वेदके अनेक उल्लेखोंसे स्पष्ट होता है कि हिन्दु-स्थानमें आर्य-जातिके लोग थे। किंबहुना आर्य शब्द पहले जातिवाचक ही था, फिर आगे चलकर वह स्वभाववाचक हो गया। ऋग्वेदमें वह जातिवाचक ही पाया जाता है। मूल-निवासी दास शब्दके विरोधमें यह शब्द व्यवहृत है। ऋग्वेदके १० वें मण्डलके ३८ वें सूक्तमें ३री ऋचा यह है—

"यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुता
देव इन्द्र युधये चिकेतति ॥"

अर्थ—"हे इन्द्र ! जो हमसे युद्ध करना चाहता हो, वह चाहे दास हो, चाहे आर्य हो, चाहे अदेव हो" इस वाक्य-में तीन जातियोंका उल्लेख है। दास, आर्य और अदेव। आर्य यानी हिन्दुस्थानमें आये हुए आर्य; दास यहाँके (मूल) निवासी; अदेव अर्थात् असुर; यानी 'ज़ेन्दावेस्ता' में वर्णित पारसी लोग, जिनसे विभक्त होकर हिन्दुस्थानी आर्य यहाँ आये थे। सायनाचार्यके समय आर्य शब्दके वंश-वाची होनेकी कल्पना नष्ट हो गई थी। फिर भी उन्होंने आर्यका अर्थ त्रैवर्णिक यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ऐसाही किया है। इसका तात्पर्य भी यही निक-लता है। वैदिक कालमें आर्यों और दासोंका परस्पर विरोध था। ब्राह्मण-कालमें भी विरोध मौजूद था। फिर धीरे धीरे शूद्रोंमें दासोंका अन्तर्भाव हो गया; इस कारण इस तरहका विरोध न रहा कि यह आर्य है और यह दास है। फिर तो आर्य और म्लेच्छका भेद उत्पन्न हो गया और लोग समझने लगे कि ये भिन्न भिन्न जातियाँ हैं। तथापि महाभारतमें भी आर्य शब्द विशेष जातिवाचक माना जाता था। हिन्दुस्थानके भिन्न भिन्न लोगोंकी गणना करते समय आर्य, म्लेच्छ और मिश्र इन तीन भेदोंका वर्णन महाभारतमें है।

आर्या म्लेच्छाश्च कौरव्य सौर्मिश्राः
पुरुषा विभो। (भीष्म ९-११३)

इसी प्रकार जिस समय अर्जुनने अश्वमेधके अवसर पर दिग्विजय किया, उस समय अनेक राजाओंने विरोध किया था। उन विरोधियोंमें म्लेच्छ और आर्य दोनों श्रेणियोंके राजा थे (अश्व० अ० ७३)।

म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृ-तारणे। आर्याश्च पृथिवीपालाः प्रहृष्टा नरवाहनाः ॥ समीयुः पाण्डुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः।

इससे स्पष्ट होता है कि सिकन्दरके बादतक—महाभारत-काल पर्यन्त—हिन्दु-स्थानमें कुछ राजा लोग अपनेको आर्य कहते और कुछ म्लेच्छ माने जाते थे। हिन्दुस्थानी लोगोंकी फ़ेहरिस्त भीष्म पर्व-में है। उसमें भी कुछ म्लेच्छ राजाओंका स्पष्ट उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि आर्य नाम अबतक जातिवाचक था। आर्यावर्त शब्दका उपयोग हिमालय और विन्ध्य पर्वतके बीचवाले प्रदेशके लिए किया जाता है। आर्य शब्दसे सिर्फ़ जाति-का ही भेद नहीं दिखाया जाता था, किन्तु भाषा-भेद भी प्रदर्शित किया जाता था। महाभारतमें एक स्थान पर 'नार्या म्ले-च्छन्ति भाषाभिः' कहा है। इस वाक्यका मतलब यह है कि भाषा बोलनेमें आर्य लोग गलतियाँ नहीं करते, जैसे कि म्लेच्छ लोग करते हैं। महाभारत-कालमें आर्य शब्द जातिवाचक था और म्लेच्छोंके

विरुद्ध अर्थमें व्यवहृत होता था । मनुस्मृतिमें यह भेद अभीतक है । इस स्मृतिमें भी आर्य शब्द जातिवाचक है और उस समय लोग यह समझते थे कि हिन्दुस्थानमें जो लोग चातुर्वर्ण्यके बाहर हैं, वे आर्य नहीं हैं । भीष्म पर्वकी देश-गणनामें यह नहीं बतलाया गया कि हिन्दुस्थानमें आर्य देश कौन कौनसे हैं। तथापि उत्तरमें पञ्जाबसे लेकर अङ्ग-वङ्ग देश पर्यन्त और दक्षिणमें अपरान्त देशतक आर्य लोग फैले रहे होंगे; उस सीमाके बाहर म्लेच्छोंकी बस्तीका होना मालूम पड़ता है । म्लेच्छों और वेदबाह्य लोगोंमें अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग और आन्ध्र देशकी भी गणना की गई है । यवन, चीन, काम्बोज, हूण और पारसीक वग़ैरह तथा दरद, काश्मीर, खशीर और पह्लव वग़ैरह दूसरे म्लेच्छ उत्तरकी ओर बतलाये गये हैं । इस वर्णनसे भली भाँति मालूम होता है कि महाभारत-कालमें कौन कौन लोग म्लेच्छ समझे जाते थे । और इसी कारण हिमालय तथा विन्ध्यके बीचका देश आर्यावर्त समझा जाता था । इसके बाहर भी आर्य थे और वे संस्कृत भाषा भी बोलते थे । फिर भी वेद-वर्ण-बाह्य होनेके कारण वे म्लेच्छ समझे जाते थे । मनुस्मृतिमें उनकी गणना दस्युओंमें की गई है । यह अनुमान इस श्लोकसे निकलता है—

मुख बाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः । म्लेच्छवाच आर्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृतः ॥

यह मान लेनेमें कोई क्षति नहीं कि भारती युद्ध-कालमें हिन्दुस्थानके आर्योंकी बस्ती इसी प्रकार थी । ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें कुरु, पाञ्चाल, कोसल और विदेहवालोंके सम्बन्धमें बराबर वर्णन मिलते हैं । अर्थात् पूर्व दिशामें गङ्गाके उत्तर और अङ्ग देशतक आर्योंकी बस्ती थी । शौरसेन, चेदी और मगधका नाम ब्राह्मणोंमें नहीं है । फिर भी यह बात मान ली जा सकती है कि शौरसेन, चेदी और मगध लोग उस समय यमुना किनारे फैले हुए थे । मत्स्योंका नाम ऋग्वेदमें भी है । यदि श्रीकृष्णकी कथाका युद्ध-कालीन होना निश्चित है तो काठियावाड़-द्वारकातक आर्योंकी बस्तीका सिलसिला होना चाहिये । वेदमें समुद्रका वर्णन बहुत है । अर्थात् वैदिक ऋषियोंको सिन्ध और काठियावाड़ वग़ैरहका हाल अवश्य मालूम रहा होगा । पञ्जाबमें तो आर्योंकी खास बस्ती थी । पहलेपहल वे वहीं आबाद हुए । तब, पञ्जाबसे लेकर काठियावाड़तक और पूर्वमें विदेहतक आर्य फैले हुए थे; और इन देशोंमें रहनेवालोंका नाम वेद और महाभारतमें आर्य है । इससे प्रकट होता है कि हिन्दुस्थानमें आर्य लोगोंकी बसनी है ।

शीर्षमापन शास्त्रका प्रमाण ।

शीर्षमापन शास्त्र एक ऐसा नवीन शास्त्र उत्पन्न हुआ है जिससे इस बातकी जाँच कर ली जाती है कि अमुक लोग अमुक जातिके हैं या नहीं । इस शास्त्रसे बहुत करके इस बातका निश्चय किया जा सकता है कि अमुक लोग आर्य जातिके हैं या नहीं । संसार भरमें जितने मनुष्य हैं, उनकी खासकर चार जातियाँ मानी गई हैं । आर्य, मङ्गोलियन, द्रविड़ और नीग्रो । इनमें साधारण रीतिसे आर्य लोग गोरे और ऊँचे होते हैं । मङ्गोलियनोंकी ऊँचाई मझोले दर्जेकी और रंग पीला होता है । द्रवीड़ियन साँवले रङ्गके और ऊँचाईमें मध्यम होते हैं । नीग्रो (हबशी) बिलकुल काले होते हैं । रङ्ग और ऊँचाईके भिन्न परिमाणकी अपेक्षा सिर और नाक-

के मापको शीर्षमापन शास्त्रमें महत्त्व दिया है। और, इसी मापके आधार पर भिन्न भिन्न जातियोंकी प्रायः निश्चित पहचान हो जाती है। अनेक आर्य जातियों-की तुलना करके निश्चय कर लिया गया है कि आर्योंकी नाक बहुत करके ऊँची और लम्बी होती है और चौड़ानकी अपेक्षा उनका सिर भी लम्बा होता है। सन् १६०१की मनुष्य-गणनाके समय सर हर्बर्ट रिस्लेकी सूचनासे हिन्दुस्तानके प्रायः सभी प्रान्तोंके कुछ लोगोंके परिमाण शीर्षमापनशास्त्रके अनुसार लिये गये थे। उन प्रमाणोंसे रिस्ले साहबने यह सिद्धान्त निकाला कि हिन्दुस्थानके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें आर्य जातिवालोंके जो भेद देख पड़ते हैं, उनकी कल्पना सात विभागोंमें की जा सकेगी—(१) पंजाब, काश्मीर और राजपूतानेमें बहुत करके सभी लोग आर्य-जातिके हैं। (२) संयुक्त-प्रदेश और बिहारमें जो लोग हैं, वे आर्य और द्रविड़ जातिकी मिश्रित सन्तान हैं। (३) बङ्गाल और उड़ीसाके लोग बहुत करके मङ्गोलियन और द्रवीड़ियन जातियोंके हैं। पर उच्च वर्णमें कुछ आर्य जाति भी पाई जाती है। (४) सीलोनसे लेकर समूचे मद्रास इलाकेके और हैदराबाद, मध्यप्रदेश तथा छोटा नागपुरके निवासी द्रविड़ जातिके हैं। (५) पश्चिमकी ओर हिन्दुस्थानके किनारे गुजरात, महाराष्ट्र, कोंकण और कुर्गतक द्रविड़ और शक जातिका मिश्रण है। शेष दो भाग पश्चिमकी ओर बलूचिस्तान और पूर्वमें आसाम तथा ब्रह्मदेश हैं। इनमें क्रमसे ईरानी और मङ्गोलियन जातिवाले हैं। पर ये हिन्दुस्तानके बाहर हैं; इसलिये उनसे हमें कुछ मतलब नहीं। ऊपर पाँच भागोंके लोगोंका जो वर्णन किया गया है, उसका मेल अनेक अंशोंमें, (एक भागको छोड़कर) उन अनुमानोंसे बखूबी मिलता-जुलता है जो कि वैदिक साहित्य और महाभारतसे निकाले गये हैं। अब यहाँ इसी बातका विचार किया जायगा।

वेदके अनेक अवतरणोंसे पहले बतलाया जा चुका है कि पञ्जाब और राजपूतानेमें आर्य लोग पहलेपहल आबाद हुए थे। ऋग्वेदमें भरतोंका नाम पाया जाता है। ये लोग पहलेपहल आये हुए आर्य हैं और आजकल सूर्यवंशी माने जाते हैं। इनके मुख्य ऋषि वसिष्ठ, विश्वामित्र और भरद्वाज आदि थे। इनके भारत-कालीन मुख्य लोग मद्र, केकय और गान्धार थे। ये लोग गोरे और खूबसूरत होते थे। ऐसा जान पड़ता है कि मध्य-देशके क्षत्रिय लोग बहुत करके इनकी बेटियोंसे ब्याह करते थे। इसी कारण पाण्डुकी एक रानी माद्री भी थी। धृतराष्ट्रकी स्त्री भी गान्धार देशकी बेटी थी। रामायणके दशरथ राजाकी स्त्री कैकेयी इसी कारणसे की गई थी और वह सुन्दरताके कारण पतिकी प्राणप्यारी थी। मतलब यह कि पञ्जाबके आर्य पहले आये हुए आर्य थे। वे गोरे और खूबसूरत थे। लोकमान्य तिलकने अपने ग्रन्थ 'आर्टिक होम इन दि वेदाज़' में अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि भारती आर्योंका उत्तर ओरके ध्रुव प्रदेशको छोड़कर दक्षिणमें आते समय, ईरानी अथवा असुरोंसे झगड़ा हुआ; फिर वे हिन्दुस्थानके पञ्जाब प्रदेशमें आये; और यहाँ वे सन् ईसवीसे लगभग ४००० वर्ष पूर्व आबाद हो गये। लोकमान्य तिलकने संसारको बतला दिया है कि इस बातका वर्णन ईरानियोंके 'वेंदिदाद' नामक धर्म-ग्रन्थमें है। उस ग्रन्थमें कहा गया है कि—"आर्य लोगोंने सप्तसिन्धु अर्थात् पञ्जाबमें बस्ती बसाई; परन्तु इन्हें सताने-

के लिये शैतानने बड़ी कड़ाकेकी धूप और साँप पैदा कर दिये।" सप्तसिन्धु अर्थात् पञ्जाबकी पाँचों नदियाँ और सिन्धु तथा कुभा हैं। ऋग्वेदमें इन सातों नदियोंके नाम बराबर आते हैं। इन नदियोंके वर्णनसे और महाभारतके लोगोंके वर्णनसे सिद्ध होता है कि पञ्जाबमें और समीपके ही काश्मीर तथा राजपूतानेमें गोरे तथा खूबसूरत आर्योंकी अच्छी आबादी थी। यहाँ रहनेवाले मूल दस्यु लोग थोड़ेसे होंगे और आर्योंके आ जानेसे वे धीरे धीरे दक्षिणमें हट गये होंगे। इन द्रविड़ जातिवालोंकी मुख्य बस्ती दक्षिणमें ही थी, और उत्तरकी ओरसे आर्य लोग जैसे जैसे आते गये वैसे ही वैसे ये मूल निवासी दक्षिणकी ओर हटते गये। ऊपर किये हुए विभागसे यह बात मालूम हो चुकी है कि उन लोगोंकी विशेष संख्या इस समय भी दक्षिणके भागमें ही है। शीर्षमापन शास्त्रके अनुसार इन द्रविड़ लोगोंमें मुख्य विशेषता यह है कि उनकी नाक चपटी होती है। उनका सिर तो आर्य जातिवालोंकी तरह लम्बा ही होता है, परन्तु चपटी नाक उनकी खास पहचान है जिस पर ध्यान रहना चाहिये। अचरजकी बात तो यह है कि द्राविड़ोंकी इस विशेषता पर आर्य ऋषियोंकी नज़र पड़ गई थी और उन्होंने वेदमें अनेक स्थानों पर 'निर्नासिक दस्यु' यह वर्णन किया है। पञ्जाबके दस्यु धीरे धीरे पीछे हटे और ऋग्वेद-कालसे लेकर अबतक पञ्जाबके अधिकांश लोग आर्य जातिके हैं; रङ्ग उनका अब भी गोरा और नाक ऊँची है। पञ्जाबकी धरती खूब उपजाऊ थी, इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अथवा खेती करनेवाले किसान वग़ैरहकी संख्या खूब बढ़ी। इस कारण आजकल शूद्र मानी जानेवाली पञ्जाबकी जाट वग़ैरह जातियाँ असली आर्य हैं। अब हम दूसरे भागके विषयमें विचार करते हैं।

रिस्ले साहबने दूसरे भागमें संयुक्त प्रदेश और बिहारको माना है। वे कहते हैं कि इन दोनों प्रान्तोंमें मिश्र जातिके आर्य हैं। बिहार प्रान्त वैदिक-कालीन विदेह है और कोसल है अयोध्या (अवध)। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें कोसल और विदेह मशहूर हैं। कोसल-विदेह रामायणके कथाभागका मुख्य प्रदेश है। इन प्रदेशोंके निवासी सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं। पञ्जाबसे उनका सम्बन्ध है। वहाँकी संस्कृतोत्पन्न वर्तमान देशी भाषाओंसे भी यह बात प्रकट होती है। इन दोनों सूबोंके आदमी यदि मिश्रित जातिके हों तो कोई अचरज नहीं। फिर भी अवध पहलेसे ही स्वतन्त्र है। अब शेष संयुक्त प्रदेशका विचार किया जाता है। इस प्रदेशमें विशेष करके चन्द्रवंशी क्षत्रियों और ब्राह्मणोंकी बस्ती है। ऋग्वेदके वर्णनसे भी सिद्ध होता है कि चन्द्रवंशी लोग पहले सरस्वती और गङ्गाके किनारे पर बसे थे। कुरु-पाञ्चाल ब्राह्मण-ग्रन्थके मुख्य देश थे। ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि इन लोगोंके आचार-विचार कुछ भिन्न थे और वैदिक धर्मका पूर्ण उत्कर्ष सरस्वतीके किनारे कुरुक्षेत्रमें हुआ। सरस्वती और दृषद्वती नदीके बीचका छोटासा प्रदेश ही मुख्य आर्यावर्त है। इसीको लोग वैदिक धर्मका मुख्य स्थान मानते थे। इस भागके लोग पञ्जाब-निवासी आर्योंकी अपेक्षा अधिक सुधरे हुए और बहुत शुद्धाचरणी समझे जाते थे। जिस तरह आजकल महाराष्ट्र (दक्खिन) में पूना प्रान्त भाषा, सभ्यता, आचार और धर्मशास्त्र आदिके सम्बन्धमें मुख्य माना जाता है, उसी प्रकार प्राचीन समयमें वैदिक धर्म और वैदिक सभ्यताका केन्द्र कुरुक्षेत्र

माना जाता था। ब्राह्मण-कालसे लेकर महाभारत काल पर्यन्त अर्थात् सौतिके समयतक यह कल्पना थी, कि कुरुक्षेत्र प्रान्तके आर्य लोगोंसे पञ्जाबके आर्य कम सभ्य थे और उनका आचरण भी कुछ अशुद्ध था। इस बातका बढ़िया उदाहरण शल्य और कर्णके सम्भाषणमें मिलता है। यह महाभारतके कर्ण पर्वमें है। कर्ण कहता है—"मद्र देशके लोग अधम होते हैं और कुत्सित भाषण करते हैं। मद्र देशमें पिता-पुत्र प्रभृति, सभी साथी, मेहमान, दास और दासी वग़ैरह एक जगह मिलकर उठते-बैठते हैं। वहाँकी स्त्रियाँ पुरुषोंके साथ अपनी इच्छासे सहवास करती हैं। उस देशमें धर्म बुद्धि बिलकुल नहीं है। मद्र देशमें आचरणका विधि-निषेध नहीं है: वहाँ इस बातका विचार नहीं कि कौन काम करना चाहिए और कौन न करना चाहिये। स्त्रियाँ शराबके नशेमें मस्त रहती हैं।" इस प्रकार कर्णने शल्यकी बहुत निन्दा की है। यद्यपि इसमें अतिशयोक्ति है, फिर भी यह तो स्पष्ट है कि पञ्जाब-निवासियोंका आचार-विचार कुरुक्षेत्रके निवासियोंसे कम दर्जेका था। सन् ईसवीसे लगभग साढ़े तीन हज़ार (३५००) वर्ष पूर्व चन्द्रवंशी लोग कुरुक्षेत्रमें उतरे और दक्षिणकी ओर बहुत करके वर्तमान अवधको छोड़कर सारे संयुक्त प्रदेशमें फैल गये; अर्थात् रुहेलखण्ड, आगरे, मथुरा, कानपुर और प्रयाग आदिमें उनकी बस्तियाँ हो गईं। भारती युद्धके समय ये खूब उन्नति दर्शाते थे और वैदिक धर्मकी इन्होंने पूर्ण उन्नति की। ये लोग पूर्ण आर्य जातिके होंगे। अब यह प्रश्न होता है कि यहाँ आजकल मिश्र जातिके जो लोग हैं, वे कैसे उत्पन्न हुए। अतः अब इसपर विचार करते हैं। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि ये चन्द्रवंशी लोग सूर्यवंशी क्षत्रियोंसे कुछ भिन्न रहे होंगे। इनका रङ्ग कुछ कुछ साँवला था। अगर यह कहा जाय कि यहाँकी बहुत गरम हवाके कारण इनकी रंगत बदल गई होगी, तो पञ्जाबकी हवा भी तो गरम ही है। पहले लिखा गया है कि मल्लविद्यासे इन्हें बहुत प्रेम था: सो यह विशेषता इनके वंशजोंमें आजकल भी पाई जाती है। इन लोगोंमें द्रविड़ जातिका मिश्रण कैसे हो गया? इस सम्बन्धमें कहा गया है कि ये लोग हिमालयसे गङ्गाकी तङ्ग घाटियोंमें होकर कठिन रास्तेसे आये थे, इस कारण इनमें स्त्रियाँ बहुत थोड़ी थीं। परन्तु हिन्दुस्थानमें आने पर इन लोगोंने द्रविड़ जातिकी बेटियाँ ब्याह लेनेमें कुछ सङ्कोच नहीं किया। यही कारण है कि गङ्गा-यमुनाके प्रान्तोंमें आजकल जो बस्ती है, उसमें द्रविड़ जातिका मिश्रण है। इस कल्पनाका उद्गम महाभारतकी कई कथाओंमें मिलता है।

युक्तप्रदेशके वर्तमान मिश्र आर्य।

जिस प्रदेशमें गङ्गा और यमुना बहती है, उसमें पहले द्रविड़ जातिकी आबादी थी। वे द्रविड़ नागवंशी होंगे। यह लिखा जा चुका है कि यमुना किनारे तक्षक नाग रहता था: उसे अर्जुनने भगा दिया था। ऐसा ही एक नाग यमुना किनारे मथुराके पास रहता था। उसे श्रीकृष्णने जीतकर निकाल दिया। कालियाकी प्रसिद्ध कथाका ऐतिहासिक स्वरूप ऐतिहासिक रीतिसे ऐसा ही मानना पड़ता है। इससे भी दक्षिणमें वसुराजा उपरिचरने चेदी राज्य स्थापित किया था। उसकी कथा भी इसी प्रकारकी मालूम पड़ती है। अस्तु; इससे प्रकट है कि गङ्गा-यमुनाके प्रदेशमें नाग जातिके लोग बहुत थे। नागकन्या उलूपी

गङ्गा किनारेकी थी; वह अर्जुनको ब्याही गई थी। श्रीकृष्णकी कई रानियाँ थीं जिनमेंसे कुछ नाग-कन्याएँ भी थीं। शन्तनु राजाने निषाद-कन्या मत्स्यगन्धाके साथ विवाह किया था। इसी मत्स्यगन्धाके गर्भसे पराशर ऋषिसे व्यासजी उत्पन्न हुए थे। एक नागकन्याके गर्भसे जरत्कारु ऋषिसे आस्तिक हुआ था। मतलब यह कि नागकन्याओंके साथ विवाह किये जानेके महाभारतमें अनेक उदाहरण हैं। इससे प्रकट है कि भारती युद्ध-कालमें चन्द्रवंशी आर्य और नाग लोगोंके मिलाप हो जानेकी—खिचड़ी हो जानेकी—कल्पना उत्पन्न हुई। इस मिश्रणके कारण रङ्गमें फ़र्क़ पड़ गया और आर्य लोगोंका साँवला रङ्ग हो गया होगा। कृष्ण द्वैपायन, श्रीकृष्ण अर्जुन और द्रौपदीके कृष्ण वर्णका उल्लेख है। कुछ लोगोंके सिर नापकर यह अनुमान किया गया है। रिस्ले साहबकी दलील यही है कि मध्यम शीर्ष-परिमाण होनेके कारण सिद्ध है कि यहाँ द्रविड़ जातिके जो लोग ख़ासकर मद्रास इलाक़ेमें हैं, उनके सिरका परिमाण चौड़ा नहीं, लम्बा है। शीर्षमापन शास्त्रके ज्ञाताओंने स्थिर किया है कि कुल द्राविड़ोंका सिर लम्बा होता है और इस बातको रिस्ले साहबने भी मान लिया है। फिर दूसरी टोलीके जो आर्य हिन्दुस्थानमें आये, उनका सिर लम्बा था और जिनके साथ उनका मिश्रित होना माना गया है, उन द्रविड़ जातिवालोंका सिर भी लम्बा था। ऐसी दशामें द्रविड़ जातियोंके मिश्रणसे उपजे हुए लोगोंके सिरका परिमाण मझोला कैसे हो सकेगा? रिस्ले साहबके ऊपरवाले सिद्धान्त पर यह एक महत्त्वका आक्षेप होता है। अब इस आक्षेपका निराकरण करना चाहिये।

भारतीय युद्ध कालमें चन्द्रवंशी आर्योंके जितने राज्य स्थापित हुए थे, उनमें काठियावाड़का द्वारकावाला श्रीकृष्णका स्थान मुख्य है। यहाँ यादवोंकी बस्ती हो गई थी; और इसी स्थानमें दाशार्ह नामक लोगोंके आबाद रहनेका भी उल्लेख है। अवन्ती देशमें भी चन्द्रवंशी आर्योंकी बस्ती हो गई थी और वहाँकी उज्जयिनी नगरीकी स्थापना भी हुई थी। यह शहर पुराना है और सप्तपुरियोंमें द्वारकाके समान ही पवित्र माना गया है। यह आख्यायिका है कि उज्जैनमें श्रीकृष्ण विद्या पढ़नेके लिए गये थे। विदर्भ यानी बरारमें भोजोंका राज्य क़ायम हो गया था और रुक्मिणी विदर्भके भोजकी बेटी थी। सारांश यह है कि विदर्भ, मालवा और काठियावाड़ तथा गुजरात प्रदेशमें चन्द्रवंशी आर्योंकी बस्ती थी और भारतीय युद्धके समय ये प्रदेश प्रसिद्ध थे। इन देशवालोंके मस्तकोंका परिमाण मध्यम नहीं, चौड़ा है। यह क्यों? रिस्ले साहबके उक्त सिद्धान्त पर महत्वका यह दूसरा आक्षेप है। अब इन दोनों आक्षेपोंका निरसन करना चाहिये। दक्षिणके महाराष्ट्र प्रभृति देशोंमें भी आर्य लोग फैले हुए हैं। हरिवंशमें कहा गया है कि सह्याद्रिकी समधरातल भूमि पर आर्योंके कई राज्य थे और इन राज्योंकी स्थापना चार नागकन्याओंके गर्भसे उत्पन्न यदुके चार बेटोंने की थी। यदि महाराष्ट्रको अलग रख लें तो भी गुजरात और बरार आदि प्रदेशोंमें चन्द्रवंशी आर्योंकी जो बस्ती हो गई थी, वह उन प्रदेशोंमें अबतक है। यहाँवालोंके मस्तकके मापका परिमाण मध्यम नहीं, चौड़ा है। इस बातका निर्णय हो जाना चाहिये कि ऐसा क्यों है।

शीर्षमापन शास्त्रके ज्ञाता लोग जिस ढङ्गसे मस्तकका परिमाण लेते हैं, उसका

भी थोड़ा सा खुलासा किया जाता है। वे माथेसे लेकर चोटीतक सिरकी लम्बाई लेते हैं और एक कानके ऊपरके हिस्से (कनपटी) से दूसरे हिस्सेतक चौड़ाई। लम्बाईकी अपेक्षा यदि चौड़ाईका परिमाण बहुत कम निकले तो सिर लम्बा समझा जाता है। और, ये दोनों परिमाण यदि पास पास हों तो मझोले दरजेका समझा जायगा और लम्बाईकी अपेक्षा अगर चौड़ाई बिलकुल पास हो या बराबर हो तो फिर सिर चौड़ा समझा जायगा। इस रीतिसे किसी जातिके कुछ लोगोंके सिर नापने पर सरसरी तौर पर जो अनुमान होता है, उसीसे यह परिमाण उस जातिका मान लिया जाता है। ऊपरकी ही बातोंसे यह सिद्ध होता है कि हिन्दुस्थानमें जो दूसरी जातिके चन्द्रवंशी आर्य आये, उनके मस्तक चौड़े थे। द्रविड़ जातिवालोंके मस्तकोंका परिमाण लम्बा है। इससे प्रकट ही है कि इन लम्बे खोपड़ीवालोंका संमिश्रण जब चौड़ी खोपड़ीवालोंसे होगा तभी युक्त प्रदेशके मध्यम परिमाणकी खोपड़ीवाले लोग उत्पन्न होंगे। इसी तरह गुजरात, काठियावाड़ और विदर्भ आदि देशोंमें जो लोग हैं, उनके सिर चौड़े हैं: और महाभारतसे प्रकट होता है कि इन प्रान्तोंमें चन्द्रवंशी क्षत्रिय आबाद थे। तब यह मान लेना चाहिये कि इन प्रान्तोंके लोगोंके अर्थात् चन्द्रवंशी क्षत्रियोंके मस्तकोंका परिमाण चौड़ा रहा होगा। और, यह अनुमान ऊपरके युक्त प्रदेशके निवासियोंके सम्बन्धके अनुमानसे मिलता है।

शीर्षमापन शास्त्रके सभी पण्डितोंने यह बात मानी है कि खोपड़ीका परिमाण वंशका कोई निश्चित लक्षण नहीं है। नाकका परिमाण ही वंशका विशेष लक्षण है। पश्चिमी आर्योंमें भी ऐसे लोग हैं जिनकी खोपड़ी चौड़ी है। फ्रेञ्च, केल्ट और आयरिश आदि जातियाँ चौड़ी खोपड़ीवाली ही हैं। अर्थात्, आर्योंमें ऐसी कई जातियाँ हैं जिनकी खोपड़ी चौड़ी होती है। इसी प्रकार सिरका लम्बा होना भी आर्य वंशका मुख्य लक्षण नहीं है, क्योंकि द्रविड़ जातिका भी सिर लम्बा होता है। अतएव नाकके परिमाणको ही मुख्य मानना चाहिये। आर्य जातिकी नाक ऊँची होती है, द्रविड़ जातिकी बैठी हुई होती है और मङ्गोलियन जातिकी नाक इतनी चपटी होती है कि आँखोंकी सीधमें विशेष ऊँचाई नहीं होती अर्थात् जड़में खूब फैली हुई होती है। चीनी और जापानी लोगोंके चपटे चेहरेको सभीने देखा होगा। नाकके परिमाणका विचार करते समय यह बात निश्चित हो जाती है कि चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी खोपड़ी चौड़ी भी हो, तो भी ऊँची नाक होनेके कारण वे आर्यवंशी ही हैं: उनका रङ्ग साँवला भले ही हो, पर वे आर्य वंशके ही हैं। और उनकी सभ्यता भी उसी वंशके जैसी है। तवर राजपूत और गूजर इसी प्रकारके लोग हैं। इनकी वस्ती गङ्गा-यमुनाके प्रदेशमें है और ये ही लोग जो पाण्डवों और आर्योंके वर्तमान वंशज समझे जाते हैं, सो हमारी रायमें भी यही बात है। ये लोग शरीरसे खूब मज़बूत और कदमें पूरे ऊँचे होते हैं। इनकी नाक भी ऊँची होती है। इस कारण इनके आर्यवंशी होनेमें किसीको सन्देह नहीं। हमारी राय है कि ख़ासकर चन्द्रवंशी आर्योंमें भारतीय युद्ध हुआ था: और इन्हें आर्य सिद्ध करनेके लिए ही हमने ख़ास तौर पर यहाँ विवेचन किया है। क्योंकि कुछ लोगोंकी समझमें हिन्दुस्थानके पश्चिममें आर्य हैं ही नहीं: वहाँवालोंमें शक जातिका और

द्रविड़ जातिका ही संमिश्रण है। यह राय विशेषकर महाराष्ट्र-वासियोंके सम्बन्धमें है। महाराष्ट्रके ब्राह्मण और मराठा क्षत्रिय आर्य नहीं हैं। इस बातको सिद्ध करनेके लिये यह कटाक्ष है; अर्थात् रिस्ले साहबने यह माना है कि इन लोगोंमें शक और द्रविड़ जातियोंका ही मिश्रण है। परन्तु उनके खोपड़ी-सम्बन्धी परिमाणके आधार पर की हुई यह धारणा ग़लत है। क्योंकि, सिद्धान्त यही निश्चित होता है कि चन्द्रवंशी आर्योंका सिर चौड़ा होना चाहिये। महाराष्ट्र देशवालोंके सिरका प्रमाण चौड़ा भले ही हो, पर उनकी नाक चपटी नहीं, बहुत कुछ ऊँची होती है। इसके सिवा हरिवंशसे सिद्ध होता है कि महाराष्ट्रमें यादवोंके राज्य स्थापित हुए थे। उसमें नाग-कन्याओंकी सन्तति रहनेका वर्णन है, इससे सम्भव है कि आर्य जातिमें द्रविड़ जातिका थोड़ा सा मिश्रण हो; परन्तु शीर्षमापन शास्त्र और इतिहाससे यही निर्णय होता है कि पश्चिम तरफ़के और महाराष्ट्रके आर्य लोग विशेष करके चन्द्रवंशी आर्य हैं। विदर्भ और गुजरातके भोज तो निःसन्देह आर्य हैं। अब इस बातका विचार करना है कि युक्त प्रदेशान्तर्गत मध्य देशके लोग मिश्र आर्य हैं; यानी उनकी नाकका परिमाण ऊँचा नहीं, मध्यम है। यह पहले लिखा जा चुका है कि यहाँके लोगोंमें, पहलेपहल, विशेषतः भारती युद्धकालमें नाग जातिके लोगोंका बहुत कुछ मिश्रण रहा होगा। और, इसी कारण युक्त प्रदेशके लोगोंमें द्रविड़ जातिका बहुत कुछ मिश्रण शुरू शुरूमें हो गया होगा। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह मिश्रण होना आगे बन्द हो गया। क्योंकि, जातिका महत्त्व हिन्दुस्थानके सभी लोगोंमें बहुत माना गया है; इस कारण जितना मिश्रण पहले हो गया हो, उतना ही रहा; फिर आगे नहीं हुआ। ख़ैर, ऊपरके विवरणसे यह निश्चय किया गया है कि भारती-युद्ध आर्य जातिके चन्द्रवंशी क्षत्रियोंमें हुआ था। अब देखना चाहिये कि इनके सिवा और कौन कौन लोग इस समरमें शामिल हुए थे।

राक्षस।

पाण्डवोंकी ओरसे हिडिम्बापुत्र घटोत्कच और दुर्योधनकी ओरसे अलम्बुष, ये दो राक्षस थे। अच्छा, अब ये थे कौन? इस प्रश्नको हल करना आवश्यक है। महाभारत और रामायण आदिमें राक्षसोंका मुख्य लक्षण यह बतलाया गया है कि ये नरमांस-भोजी थे। ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दुस्थानमें जो कुछ जातियाँ प्राचीन समयमें नरमांस भक्षण करनेवाली थीं, उन्हींका नाम राक्षस था। इन राक्षसों अर्थात् यातुधानोंका उल्लेख ऋग्वेदतकमें है। उनके लिये ऋषियोंका यह शापयुक्त वचन है—"अत्रिणः सन्त्वपुत्रिणः"।* मनुष्योंको विशेषतः परकीय (बाहरी) मनुष्योंको खानेवाले इन मूल-निवासियोंकी जातियाँ राक्षस नामसे प्रसिद्ध हो गईं। अप्सरा, नाग इत्यादि अनार्य जातियाँ जिस तरह भली † होती थीं, वैसे ही ये अनार्य जातियाँ भयङ्कर होती थीं। परन्तु फिर आगे चलकर कल्पनासे यह माना जाने लगा कि अप्सरा, नाग और गन्धर्व आदिकी तरह इन दुष्ट जातियोंको भी, दैवी शक्ति प्राप्त थी। वे मनमाना रूप धारण कर सकते हैं, अदृश्य हो सकते हैं और उनमें विलक्षण शक्ति है;—इस प्रकार-

* ये खानेवाले लोग निपुत्रिक हों।

† कर्णार्जुन-युद्धके समय इस बातका वर्णन किया गया है कि कौन कौन जातियाँ किस किसकी तरफ थीं। "असुर, यातुधान (राक्षस) और गुह्यक कर्णकी ओर हो गये। सिद्ध, चारण और वैनतेय प्रभृति अर्जुनकी ओर हुए।" (कर्ण० अ० ८७)

की कल्पनाएँ पीछेसे कर ली गई होंगी। यह भी माना गया है कि राक्षस लोग आकाश-मार्गसे भी आ जा सकते हैं। भारती युद्धके समय बहुत करके ये जातियाँ बहुत ही थोड़ी रह गई होंगी। अब तो वे सिर्फ़ अण्डमन टापूमें ही हैं। जान पड़ता है कि दोनों ही ओर एक एक राक्षसके होनेकी बात काल्पनिक होगी। फिर भी यदि यह मान लिया जाय कि भारती-युद्ध ऋग्वेद कालके अनन्तर ही लगे हाथ हो गया, तो उस समय हिन्दुस्थानमें कुछ राक्षस जातियोंका थोड़ा बहुत अस्तित्व मान लेनेमें कोई हानि नहीं। महाभारतमें अर्थात् सौतिके समय ये जातियाँ काल्पनिक हो गई थीं: और तब उनमें विलक्षण शक्तिका मान लिया जाना सहज ही है।

पाण्ड्य।

पाण्डवोंकी ओरसे पाण्ड्य राजाके युद्ध करनेका वर्णन है। किन्तु पाण्ड्य बिलकुल दक्षिणमें है और इसमें सन्देह ही है कि भारतीय युद्धके समय उनका अस्तित्व था भी या नहीं। दक्षिणमें विदर्भ पर्यन्त आर्योंकी बस्ती भारती युद्धके समय हो गई थी। किन्तु इससे भी यही सिद्ध होता है कि दक्षिणमें उनकी आबादी न हुई थी अथवा वहाँवाले ऐसे न थे कि आर्य लोगोंके युद्धमें शामिल हो सकते। रामने यदि लङ्का पर भी चढ़ाई की थी तो भारती युद्धके समय हिन्दुस्तानके दक्षिणी किनारेतकका पूरा पूरा पता मिल जानेमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। तथापि इस ओरके आर्योंके राज्य अभीतक दक्षिणमें न थे। युद्धमें आन्ध्र और द्रविड़ वग़ैरहके सम्मिलित होनेका जो वर्णन है, वह सौतिके समयका है। क्योंकि रामके युद्धके समय आन्ध्र, द्रविड़ पाण्ड्य आदि नामधारी लोग न थे। यदि वे उस समय होते तो रामकी सहायता करते। जान पड़ता है कि उस समय वानर और ऋक्ष प्रभृति लोग ही मद्रासकी तरफ़ थे। कुछ लोगोंका तो यह अनुमान है कि पाणिनिके समयतक दक्षिणके लोगोंके नाम विशेष रीतिसे मालूम न थे। पर इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत-कालमें अर्थात् सन् ईसवीसे पूर्व ३०० वर्षके लगभग हिन्दुस्थानके बिलकुल दक्षिणी कोनेतकका पता आर्योंको लग चुका था। यह बात भी निर्विवाद है कि बौद्धों और जैनोंसे भी पहले सनातन-धर्मी आर्य्य दक्षिणकी ओर फैल गये थे। इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं कि दक्षिणमें शिव और विष्णुकी पूजा, बुद्धके पहले ही स्थापित हो गई थी: क्योंकि इस देशके जो बुद्धकालीन वर्णन हैं, उनसे यही बात निष्पन्न होती है। इसके सिवा पञ्जाबमें सिकन्दर बादशाहको दक्षिण प्रान्तकी जो जो बातें बतलाई गईं, उन्हें सिकन्दरके साथ आये हुए भूगोलवेत्ता इराटास्थेनिस्‌ने लिख रखा है। उसमें यह बात भी लिखी है कि सिन्धुमुखसे लेकर कन्याकुमारीतक किनारा कितने कोस लम्बा है। कनिङ्गहम साहबने अपनी "हिन्दुस्थानका प्राचीन भूगोल" नामक पुस्तकमें लिखा है कि इराटास्थेनिस्‌ने मद्रासके तरफ़का जो कच्चा हाल लिखा है, वह इतना सही है कि असल लम्बाईमें उससे दस-पाँच कोसका ही फ़र्क़ पड़ता है। अर्थात् सौतिको अपने समयका समूचे हिन्दुस्थानका रत्ती रत्ती हाल मालूम था: और इसी आधार पर उसने देशवर्णन तथा अन्य दिग्विजयके वर्णन किये हैं एवं देशों और नदियोंके नाम लिखे हैं। सौतिके समय दक्षिणी किनारेके पास पाण्ड्य लोग

बड़े प्रबल राजा थे। मेगास्थिनीज़ने भी इनका वर्णन किया है। उसने यह भी दर्शाया है कि पाण्ड्योंका पाण्डवोंसे कुछ सम्बन्ध है। हरिवंशमें भी पाण्ड्यका सम्बन्ध यदुके वंशसे जोड़ा गया है। अतएव हमें प्रतीत होता है कि जब पाण्ड्य राजा लोग महाभारतकालमें प्रसिद्ध थे, तब जिन लोगोंमें भारती युद्ध हुआ था उनकी फ़ेहरिस्तमें पाण्ड्योंका नाम भी आ गया होगा। बहुत करके प्रत्यक्ष भारती युद्ध ऋग्वेद-कालके अनन्तर हुआ है; और ऐसा अनुमान है कि उस समय इन लोगोंका अस्तित्व ही न था।

संसप्तक।

भारती युद्धमें यवन अर्थात् यूनानी न थे, उस समय वे पैदा ही न हुए थे। कहीं कहीं भारती युद्धमें उनके होनेका भी वर्णन है। कदाचित् इनका वर्णन आ जानेसे यह प्रकट ही है कि महाभारतके समय इनका नाम प्रसिद्ध होनेके कारण पाण्ड्योंकी तरह पीछेसे ये भी घसीट लिये गये होंगे। अच्छा संसप्तक कौन थे? यह प्रश्न बड़ा मज़ेदार है। महाभारतमें कहीं इस बातका वर्णन नहीं है कि ये लोग अमुक देशके थे। ये बड़े शूर-वीर थे। इनका बाना यह था कि युद्धमें मर भले ही जायँगे, पर पीछे न हटेंगे। अतएव ऐसी ही शपथ करके ये लोग युद्ध करने जाते थे, इस कारण ये 'संसप्तक' कहे जाते थे। यह बात द्रोण पर्वके १७ वें अध्यायमें है। किन्तु इसका 'संसप्तक' रूप भी मिलता है। ये सात जातियाँ एक ही जगहकी रहनेवाली होंगी और सैन्यमें सङ्गठित थीं, इस कारण संसप्तक नाम हो गया होगा। जिनको आजकल 'फ्रण्टियर ट्राइब्स' कहा जाता है, उन्हींमेंके अर्थात् हिन्दुस्तानकी पश्चिमी सीमापर पहाड़ोंमें रहनेवाली अफ़रीदी शूर जातियोंके ये लोग होंगे। यह पहले लिखा जा चुका है कि पञ्जाबसे अफ़ग़ानिस्तानतकके सभी लोग दुर्योधनकी ओर थे। संसप्तक भी दुर्योधनके ही दलमें थे। उस समयका मुख्य आर्य देश पञ्चनद देश ही था, इसी कारण कौरवों-पाण्डवोंका झगड़ा तत्कालीन हिन्दुस्तानके साम्राज्यके लिए था। जो हो, यह अनुमान करनेके लिए स्थान है कि संसप्तक और कोई नहीं—वही सरहद्के पहाड़ी लोग होंगे। त्रिगर्ताधिपति वग़ैरह-को तो पञ्जाबी ही कहा गया है। इन संसप्तकोंको संसप्तकगण कहा गया है और इनके साथ नारायण और गोपाल-गण और भी बताये गये हैं (भा० द्रो०)। इससे भी यह अनुमान निकल सकता है कि ये लोग गण थे, अर्थात् ऐसे पहाड़ी लोग थे जिनका कोई राजा न था। महाभारतकालमें गण शब्दसे कुछ ऐसे विशेष लोगोंका बोध होता था जो स्वतन्त्र प्रजा-सत्तात्मक या अल्पसत्तात्मक थे। हमारा अनुमान है कि संसप्तकगण अथवा उत्सव-सङ्केत-गण

गणानुत्सवसङ्केतानजयत् पुरुषर्षभः।
शूद्राभीरगणांश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम्॥
वर्त्तयन्ति च ये मत्स्यैर्येच पर्वतवासिनः।
(सभा० अ० ३२. १०)

प्रभृतिका जो उल्लेख मिलता है वह ऐसे ही लोगोंके लिये है। शिलालेखमें "मालव-गणस्थित्या" शब्दमें आनेवाला मालव गण भी ऐसे ही लोगोंका था। ये लोग प्रायः एक ही वंशके और शूर होते थे। और इसी कारण हमने संसप्तकोंका तादात्म्य सरहदके अफ़रीदी वगैरहके साथ किया है। ये बहुधा स्वतन्त्र रहते हैं और नाम मात्रके लिए किसी सम्राट्-की अधीनता मान लेते हैं। इसी कारण

युधिष्ठिरने इस सम्बन्धमें शान्ति पर्वके १०७ वें अध्यायमें स्वतन्त्र प्रश्न किया है। उसने पूछा है "इन गणोंका उत्कर्ष कैसे होता है और इनमें फूट किस तरह होती है ?" इनके जो वर्णन पाये जाते हैं उनसे जान पड़ता है कि इन लोगोंमें कुछ मुखिया होते हैं। उनके उत्कर्षका आधार ऐक्य ही है।

न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत।
गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः॥

इस श्लोकसे जान पड़ता है कि इन गणोंके सामान्यतः सर्व साधारणकी सभा होती थी; परन्तु गुप्त परामर्श गणोंके मुखियोंसे ही करनेका उपदेश दिया गया है। कहा गया है कि:—

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्ध्या रूपद्रव्येण वा पुनः॥
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः।

इससे प्रतीत होता है कि ये गण एक ही जातिके और एक ही कुलके होते थे और केवल भेदसे ही जीते जाते थे। टीकाकार नीलकण्ठको उनकी ठीक ठीक कल्पना न थी, इसलिये उसने उन्हें सिर्फ़ वीर-समुदाय माना है। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि वे सदा एक जातिके होते थे।

भारती आर्योंका शारीरिक स्वरूप।

खैर, भारती युद्ध मुख्यतः चन्द्रवंशी आर्योंमें हुआ। हिन्दुस्तानमें आर्य अब-तक हैं और महाभारतके समय तो निस्सन्देह थे। इसका प्रमाण शरीरके वर्णनसे भी मिलता है। सामान्यतः आर्योंका क़द ऊँचा, बदन गठीला और रङ्ग गोरा होता है; नाक और आँख ख़ूबसूरत और चेहरा-मोहरा उनका सुन्दर होता है। हम इसी प्रकरणमें यह देखेंगे कि महाभारतमें लोगोंके शरीर आदिका कैसा स्वरूप पाया जाता है।

ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे मालूम होता है कि महाभारतके समय हिन्दुस्तानके मनुष्य ऊँचे और ख़ूब मज़बूत होते थे। मेगास्थिनीज़ने भी लिखा है कि—"समूचे एशियाखण्डवालोंमें हिन्दुस्तानी लोग ख़ूब ऊँचे और मज़बूत होते हैं।" उसने इसका यह कारण बतलाया है कि—"यहाँ खाने-पीनेकी सुविधा होनेके कारण यहाँवाले मामूली ऊँचाईसे कुछ अधिक ऊँचे होते हैं और इनके चेहरों पर तेजस्विता झलकती है।" हमारी समझमें यही कारण काफ़ी नहीं है। यह भी कारण है कि ये लोग एक तो आर्यवंशी थे और उस समय इन लोगोंकी वैवाहिक स्थिति भी बहुत उत्तम थी। विवाहके समय पति-पत्नीकी पूर्ण अवस्था होती थी और विवाहसे प्रथम दोनोंकी ही ब्रह्मचर्य-रक्षा पर कड़ी निगाह रखनेकी आश्रम-व्यवस्था होनेके कारण सन्तान ख़ूब सशक्त और तेजस्वी होती थी। तीसरा कारण यह है कि भारती आर्योंको, ख़ासकर क्षत्रियोंको, शारीरिक बल बढ़ानेका बहुत शौक़ होता था और इस विषयकी कला उन दिनों ख़ूब चढ़ीबढ़ी हुई थी। चन्द्रवंशी क्षत्रियोंको मल्लविद्याका बड़ा अभिमान था। भीम और जरासन्धके प्राणान्तक बाहुयुद्धका वर्णन सभापर्वमें है। उससे यह बात ध्यानमें आ जायगी कि भारत-कालमें मल्लविद्या कहाँतक पूर्ण हो गई थी (सभा० अ० २३)। इसके सिवा और भी अनेक मल्लोंका वर्णन महाभारतमें है। कृष्ण-बलराम दोनों ही ख़ासे मल्ल थे; इन्होंने कंसके आश्रयमें रहनेवाले चाणूर आदि कई मल्लोंको पछाड़ा था। जरासन्धके यहाँ हंस और डिम्भक नामके दो मल्ल थे। ये दोनों और तीसरा जरा-

सन्ध, इस तरह तीनों मल्ल तीनों लोकोंको जीतनेमें समर्थ हैं, यह बात श्रीकृष्णने कही है (स० अ० १६)। विराट राजाके यहाँ भी कीचक और उसके अनुयायी महामल्ल थे। मतलब यह कि उस समय प्रत्येक वीरके लिए शारीरिक शक्ति अत्यन्त आवश्यक होती थी। समग्र युद्धमें भी शारीरिक शक्तिका ही विशेष उपयोग हुआ करता था। गदायुद्ध और गजयुद्ध ऐसे थे कि इन्हें मल्ल ही अच्छी तरह कर सकते थे। हाथीसे निरा बाहुयुद्ध करनेवाले श्रीकृष्ण और भीम जैसे मल्ल उस समय थे। इस ज़मानेमें तो ये बातें अनहोनी जँचती हैं; परन्तु सचमुच इसकी कोई मर्यादा नहीं कि मनुष्य अपना शारीरिक बल कहाँतक बढ़ा सकता है और युद्धमें कितना प्रवीण हो सकता है। गदायुद्ध करना भी मल्लका ही काम था; और दुर्योधन सदृश सार्वभौम सम्राट् भी उसमें कुशल था। धनुर्विद्याके लिए भी शारीरिक शक्तिकी आवश्यकता थी। मज़बूत धनुष खींचनेमें बहुत ताक़त लगती थी। सारांश यह कि प्राचीन कालके सभी तरहके युद्धोंमें शारीरिक शक्तिकी आवश्यकता होती थी। इसके लिए क्षत्रिय और ब्राह्मण शारीरिक शक्ति बढ़ानेकी कलाका अभ्यास किया करते थे। देशमें अन्न भी भरपूर था, इस कारण उनके ये प्रयत्न खूब सफल होते थे और मूलकी बीजशक्ति से भी उनको मदद मिलती रहती थी।

समस्त आश्रम-व्यवस्था और समाजस्थिति इस प्रकार अनुकूल होनेके कारण शारीरिक शक्तिके अनेक व्यवसायोंमें भारती आर्य वैसे ही अग्रणी थे जैसे कि स्पार्टन लोग। इसमें कुछ आश्चर्यकी बात नहीं। प्राचीन समयसे लेकर महाभारतके समयतक उनकी यह प्रसिद्धि स्थिर थी। पोरस राजाका खूब ऊँचा कद और अतिशय बलसम्पन्न शरीर देखकर तथा उसकी शूरताका विचार करके सिकन्दरको जो अत्यन्त कौतुक हुआ था, उसका कारण भी यही है। पञ्जाबके और गङ्गा-यमुनाके प्रदेशके आर्य अब भी ऊँचे और ताक़तवर होते हैं। इन लोगोंको अबतक मल्लविद्याका बेहद शौक़ है। यह कहा जा सकता है कि प्राचीन कालके लोगोंके स्वभावका यह परिणाम अबतक चला आ रहा है।

हिन्दुस्थानमें भारतीय आर्य जैसे सशक्त थे वैसे ही खूबसूरत भी थे। हमारे ग्रन्थों और यूनानी लोगोंके लेखोंमें यह वर्णन है कि भारतीय आर्योंकी नाक ऊँची और आँखें बड़ी बड़ी थीं। चीनी परिव्राजक हुएनसांगने भी ऐसा ही वर्णन किया है। यूनानी इतिहासकारोंने वर्णन किया है कि पोरसका स्वरूप अच्छा था। किन्तु इन्होंने ऐसे सौन्दर्यकी बहुत ही प्रशंसा की है जो कि सोफिटीसको शोभा दे। यह प्रकट ही है कि सोफिटीससे तात्पर्य अश्वपति का है। रामायण और महाभारतमें केकय अश्वपतिका वर्णन बहुत है; और मद्र लोग भी इसी जातिके थे। कैकेयी और माद्री परमा सुन्दरी थीं। महाभारतमें लिखा गया है कि माद्रीका बेटा नकुल बहुत सुन्दर था। इन उल्लेखोंसे प्रकट होता है कि पञ्जाबके क्षत्रिय बहुत ही सुन्दर होते थे। ऊपर यूनानियोंका जो प्रमाण दिया गया है, उससे सिद्ध होता है कि पञ्जाबके क्षत्रियोंकी यह विशेषता महाभारतके समयतक भी थी। अब भी पञ्जाबवाले—औरत और मर्द सभी—अन्य प्रान्तवालोंकी अपेक्षा सशक्त और सुन्दर होते हैं।

वर्ण।

ऐसा जान पड़ता है कि आर्योंका वर्ण

भारतके समय कुछ और रहा होगा और महाभारतके समय कुछ और। शुरूके सभी आर्योंका रङ्ग गोरा रहा होगा और पञ्जाबके लोग तो प्रायः अब भी गोरे होते हैं। दूसरे अर्थात् पीछेसे आये हुए चन्द्रवंशी आर्योंका रङ्ग साँवला और काला होगा। यह बात पीछे कही जा चुकी है। श्रीकृष्ण, अर्जुन और द्रौपदी ये सब काले थे; और रङ्गके ही कारण द्रौपदीका तो नातमक 'कृष्णा' पड़ गया था। परन्तु इस श्याम वर्णसे चेहरा और आँखें भली मालूम होती थीं। श्याम और गौर वर्णके मिश्रणसे पीला रङ्ग भी उत्पन्न हो गया था। उपनिषदोंतकमें और महाभारतमें आर्योंके गोरे, साँवले और पीले ये तीन रङ्ग दिये हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंमें ये तीन रङ्ग मौजूद थे। यूनानियोंके वर्णनसे जान पड़ता है कि महाभारतके समय इन तीनों रङ्गोंके आदमी हिन्दुस्थानमें थे। महाभारतके आश्रमवासि पर्वमें पाण्डवों और उनकी स्त्रियोंका वर्णन है। वह यहाँ पर उद्धृत करने लायक़ है। वनमें धृतराष्ट्रसे मिलनेके लिये अपनी स्त्रियों समेत पाण्डव गये। उस समय सञ्जयने ऋषियोंको उनकी पहचान करा दी। वहाँ यह वर्णन है:—"यह चोखे सोनेकी तरह गोरा युधिष्ठिर है जिसका क़द खूब ऊँचा है, नाक बड़ी है, और आँखें विस्तीर्ण तथा लम्बी हैं। उसके उस तरफ़ तपाये हुए सोनेकी तरह गोरा वृकोदर है जिसके कन्धे भरे हुए और भुजाएँ लम्बी तथा खूब भरी हुई हैं। उसके पीछे साँवले रङ्ग-वाला वीर अर्जुन है जिसके कन्धे सिंहकी भाँति उठे हुए हैं और कमलके समान बड़ी बड़ी आँखें हैं। वे दोनों नकुल और सहदेव हैं जिनकी रूप, शील और बलमें बराबरी करनेवाला सारे पृथ्वीतल पर कोई नहीं है। यह कमल-पत्राक्षी द्रौपदी है जिसके अङ्गकी कान्ति नीलोत्पलके समान है। चोखे सोनेके सदृश गोरी यह सुभद्रा है और यह गौर वर्णवाली नागकन्या उलूपी है। यह पाण्ड्य-राजकन्या चित्राङ्गदा है जिसका रङ्ग मधूक पुष्पकी तरह है। चम्पाकलीकी मालाकी तरह गोरी यह जरासन्धकी बेटी है जो सहदेवकी प्यारी पत्नी है और इन्दीवरकी भाँति साँवली यह नकुलकी दूसरी भार्या है। तपाये हुए सोनेके रङ्गवाली यह उत्तरा है जिसकी गोदमें बालक है" (भा० आश्र० अ० २५)। इस वर्णनसे देख पड़ता है कि सिर्फ़ अर्जुन ही साँवला था और सभी पाण्डव गोरे थे। द्रौपदी, चित्राङ्गदा और नकुलकी स्त्री गोरी न थी, बाक़ी सब गोरी थीं। यह गौर वर्ण सदा सोनेकी रङ्गतका बतलाया गया है। हिन्दुस्थानके लोगोंका यह विशेष ही रङ्ग है। यह किसी देशके लोगोंमें नहीं देखा जाता। विशेषतः इन दिनों भी कुछ सुन्दरी स्त्रियोंका जैसा पीला रङ्ग देखा जाता है, वैसा अन्य देशोंकी स्त्रियोंमें और कहीं नहीं मिलता। आर्य लोगोंका साँवला रङ्ग भी कुछ निराला है। वह द्रविड़ोंके काले रङ्गसे बिलकुल जुदा है। उसे महाभारतमें इन्दीवर अथवा मधूक पुष्पकी उपमा दी गई है। अस्तु; आर्य लोगोंका मूल रङ्ग शुभ्र अथवा सफ़ेद 'कर्पूर गौर' विशेषणके द्वारा महाभारतमें कहीं कहीं मिलता है। परन्तु महाभारतके समय सोनेकी सी रङ्गत अधिक पाई जाती थी। यूनानियोंने भी लिखा है कि हम लोगोंकी तरह असली गोरे रङ्गके आदमी हिन्दुस्थानमें बहुत हैं।

हिन्दुस्तानके भारती आर्योंकी ऊँची नाक और बड़ी बड़ी आँखें, निरे कवि-वर्णनकी सामग्री नहीं हैं। यह लक्षण

अब भी हिन्दुस्तानकी उच्च जातिवाले लोगोंमें बहुत कुछ देख पड़ता है। इस विषयके, महाभारतके, वर्णन कवि-कल्पित नहीं हैं। हुएनसांगने भी हिन्दुस्तानी लोगोंका ऐसाही वर्णन किया है। महाभारतमें अनेक स्थलों पर इस बातका उल्लेख है कि भारती आर्योंका क़द ऊँचा था। तालवृक्षकी तरह सीधा और ऊँचा उठा हुआ, यह वर्णन अक्सर आता है। वृषस्कन्ध अथवा कपाटवक्ष-वर्णन भी बराबर मिलता है। इससे सिद्ध है कि उन्नत कन्धोंवाले और चौड़े सीनेवाले लोग भारती आर्योंमें ख़ास तौर पर माने जाते थे। महाभारतके समयमें भारती आर्योंके शरीरका ढाँचा और सूरत इस तरहकी थी।

आयु।

अब भारती आर्योंकी बड़ी अवस्था पर थोड़ासा विचार किया जाता है। शरीरकी स्थिति अच्छी रहती थी, देशमें चीजें सस्ती थीं और इसी प्रकार मध्य-देश तथा पञ्जाबकी हवा निरोगी तथा खुश्क थी। इस कारण यह ठीक ही है कि भारती आर्योंकी खूब उम्र होती थी। महाभारतमें जिनका वर्णन है वे सभी दीर्घायुषी थे। तपके बलसे हज़ारों वर्षकी आयुवाले ऋषियोंको यदि अपवादक मान लें, तो भी साफ देख पड़ता है कि साधारण आदमियोंकी आयु भी बहुत होती थी। युद्धके समय श्रीकृष्ण ८३ वर्षके थे और अर्जुनकी अवस्था ६५ वर्ष या इससे भी अधिक थी। निजधामको जाते समय श्रीकृष्णकी आयु १०१ या ११६ वर्षकी थी। उस समय श्रीकृष्णके पिता वसुदेव जीवित थे। वे कमसे कम १४० वर्षके तो होंगे ही। युद्धके समय द्रोणकी अवस्था ८५ वर्षकी थी और भीष्म तो १०० वर्षके ऊपर रहे होंगे। सारांश यह कि भारत-कालमें लोगोंकी उम्र खूब बड़ी होती थी। महाभारतके समयतक यही हाल था। यूनानियोंके प्रमाणसे भी यह बात सिद्ध है। यूनानी इतिहासकार अरायनने लिखा है कि हिन्दुस्थानमें १४० वर्षतक लोग ज़िन्दा रहते हैं। सौ वर्षसे ऊपरकी उम्रवाले बहुत लोग मिलते हैं और ऐसे लोगोंका एक अलग नाम होना भी यूनानियोंने लिख रखा है। फिर भी समूची आयुकी मर्यादा १०० वर्ष रही होगी। महाभारतके अनेक उल्लेखों-से ऐसा ही मालूम पड़ता है। यह नहीं माना जा सकता कि महाभारतके समय ३०० या ४०० वर्षकी उम्रवाले आदमी थे। शान्ति पर्वमें भीष्मने कहा है कि सूत अथवा पौराणिक ५० वर्षका हो। इसका यह अर्थ जान पड़ता है कि ५० वर्षके बाद मनुष्यकी बुद्धि प्रगल्भ हो जाती है और उसका स्वभाव शान्त हो जाता है। इसी प्रकार शान्ति पर्वमें कहा है—

ये तु विंशतिवर्षा वै त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः।
अर्वागेव हि ते सर्वे मरिष्यन्ति शरच्छतात्॥
(शान्ति० अ० १०४.२०)

जो लोग बीस या तीसके भीतर हैं, वे सभी १०० वर्ष पूर्ण होनेके पहले ही मर जायँगे। इस वाक्यसे आयुकी मर्यादा अधिकसे अधिक १२० या १३० वर्षकी समझी जाती थी। यदि इससे अधिक आयुकी गणना कहीं की गई हो, तो या तो वह अतिशयोक्ति है और या फिर अपवादक। महाभारत और यूनानियोंके प्रमाणसे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि आजकलकी अपेक्षा महाभारत-कालमें और भारती युद्धके समय भारतीयोंकी आयुर्मर्यादा बहुत कुछ अधिक होती थी।

छठा प्रकरण।

वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था और शिक्षा।

पिछले विवेचनसे, भारती-युद्धका समय सन् ईसवीसे ३००० वर्ष पूर्व निश्चित होता है और यह बात देख पड़ती है कि यह युद्ध हिन्दुस्थानके आर्य लोगोंमें, विशेषतः चन्द्रवंशी क्षत्रियोंमें, हुआ था। इसीके लगभग भारत-ग्रन्थकी मूल उत्पत्ति हुई और वह ग्रन्थ धीरे धीरे बढ़ता गया; सन् ईसवीसे पूर्व २५० वर्षके आगे-पीछे सौतिने उसेही महाभारतका रूप दिया। अर्थात्, महाभारत-ग्रन्थमें हिन्दुस्थानकी उस परिस्थितिका पूरा पूरा प्रतिबिम्ब है जो कि सन् ईसवीसे पूर्व ३०००–३०० वर्षतक थी। ब्राह्मण-कालसे लेकर यूनानियोंकी चढ़ाईतककी हिन्दुस्थानकी जानकारी यदि किसी एक ग्रन्थमें हो, तो वह महाभारतमें ही है। और कहीं वह मिल न सकेगी। हिन्दुस्थानका और कोई प्राचीन इतिहास इस समयका उपलब्ध नहीं है। कुछ बातोंका पता ब्राह्मण और सूत्र आदि वैदिक ग्रन्थोंसे चलता है। पर उनमें जो वर्णन है वह संक्षिप्त और अधूरा है। महाभारतकी तरह विस्तृत वर्णन उनमें न मिलेगा। इस दृष्टिसे महाभारतका बहुत अधिक महत्व है। इस महत्वका उपयोग प्रस्तुत समालोचनामें कर लेनेकी बात पहले ही लिख दी गई है। इस समालोचनामें ऐसी ऐसी अनेक बातोंका विवेचन करना है कि प्राचीन कालमें हिन्दुस्थानके लोगोंकी सामाजिक स्थिति कैसी थी, यहाँ रीति-रवाज कैसे और क्या थे और ज्ञानकी कितनी प्रगति हो गई थी। इसमें यह भी देखना है कि तत्वज्ञानका मार्ग कैसा था और कितना आक्रान्त किया जा चुका था; लोगोंके धार्मिक आचार-विचार कैसे थे और नीतिकी क्या कल्पना थी। इन सब बातों पर इस ग्रन्थमें विचार किया जायगा। हिन्दुस्थानवालोंकी समाज-स्थितिका मुख्य अङ्ग वर्ण-व्यवस्था है। अतः इसी वर्ण-व्यवस्थाका शुरूमें विचार किया जाना उचित है।

वर्णका लक्षण।

जिस प्रकारकी वर्णव्यवस्था हिन्दुस्थानमें प्रसृत हो गई है, वैसी व्यवस्था, और किसी देश या लोगोंमें, प्राचीन कालमें अथवा अर्वाचीन कालमें, स्थापित होनेकी बात इतिहास नहीं कहता। हिन्दुस्थानी वर्ण-व्यवस्था हमारे यहाँके समाजका एक विलक्षण स्वरूप है। इस व्यवस्थाके असली स्वरूपको पाश्चात्य लोग नहीं समझ सकते और उन्हें बड़ा अचरज होता है कि यह व्यवस्था इस देशमें क्योंकर उत्पन्न हो गई। हिन्दुस्थानकी वर्ण-व्यवस्थाके सम्बन्धमें उन लोगोंने अनेक सिद्धान्त किये हैं, परन्तु वे सब ग़लत हैं। इन सिद्धान्तोंको स्थिर करनेके लिये महाभारत आदि ग्रन्थोंकी जितनी जानकारी आवश्यक थी, उतनी पाश्चात्य लोगोंको न थी; इस कारण और भी गड़बड़ हो गई है। इसलिए उनके विचारोंकी ओर ध्यान न देकर अब हम यह देखेंगे कि महाभारतसे, और महाभारतके पूर्वके वैदिक साहित्य तथा बादके मनुस्मृति आदि साहित्यकी तुलनासे, क्या निष्पन्न होता है। पहले देखना चाहिए कि वर्ण-व्यवस्थाका अर्थ क्या है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यही वर्णोंका सरसरी तौर पर अर्थ देख पड़ता है। परन्तु आजकल इतनेसे ही काम नहीं चलता। हिन्दुस्थानमें अब अनेक जातियाँ हैं और महाभारतके समय

भी थीं। द्रौपदीके स्वयम्वरमें जिस समय कर्ण धनुष बाण लेनेके लिए उठा, उस समय द्रौपदीने स्पष्ट कह दिया कि मैं सूतके साथ विवाह न करूँगी। यानी उस समय सूत एक अलग जाति थी और उसका दर्जा घटिया था। मतलब यह कि महाभारतके समय चार वर्णोंके सिवा और अधिक वर्ण तथा जातियाँ उत्पन्न हो गई थीं। ये जातियाँ उत्पन्न कैसे हुई? यह महत्वका प्रश्न है। मेगास्थिनीज़ने चन्द्रगुप्तके समय जो ग्रन्थ लिख रखा था, उसमें उन दिनों हिन्दुस्थानमें सात मुख्य जातियोंके रहनेका कथन है। इसलिए आरम्भमें हमें कोई ऐसा लक्षण स्थिर कर लेना चाहिए जिससे वर्ण या जातिका मुख्य स्वरूप मालूम हो। बारीकीसे समाजव्यवस्थाका निरीक्षण करनेवालेके ध्यानमें यह लक्षण चटपट आ सकता है। मेगास्थिनीज़ने भी यह लक्षण लिखा है। वह कहता है—"कोई जाति अपनी जातिके बाहर दूसरी जातिके साथ विवाह नहीं कर सकती। अथवा अपनी जातिके रोज़गारके सिवा दूसरा पेशा भी नहीं कर सकती।" अर्थात्, जाति दो बातोंके घेरेमें है। एक बात शादी अथवा विवाहकी और दूसरी रोज़गारकी। इन दोनों बन्धनोंके बिना जातिका पूर्ण रूप ध्यानमें न आवेगा। ये बन्धन, कुछ बातोंमें, अपवाद रूपसे हिन्दुस्थानमें पुराने ज़मानेमें शिथिल रहते थे। ये शिथिल क्यों और कैसे रहते थे, इसका विचार आगे होगा। जातिका अर्थ उक्त बन्धनोंके द्वारा किये हुए समाजके भाग हैं: अर्थात् न तो एक जातिवाले दूसरी जातिवालोंसे बेटीव्यवहार न करें और न दूसरोंका पेशा करने लग जायँ, इसी कारण जातियोंका अलगाव स्थिर रहा। सबका धर्म एक था, सब एक ही देश हिन्दुस्थानमें रहते थे और सबके नैसर्गिक अधिकार भी एकसे ही थे: फिर हिन्दुस्तानमें वर्ण-व्यवस्था कैसे उठ खड़ी हुई और वह अन्यान्य देशोंमें क्यों नहीं हुई? हमें पहले इसी प्रश्नका विचार करना चाहिये।

वर्ण-व्यवस्था पुरानी है।

कुछ लोगोंका यह मत है कि ब्राह्मण लोगोंने, कुछ समय पूर्व, लुचपनसे ईरानियोंकी व्यवस्थाका अनुकरण करके हिन्दुस्थानमें यह व्यवस्था प्रचलित कर दी: और मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें इस व्यवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाले नियम घुसेड़ दिये: और मज़ा यह कि ऋग्वेदमें भी पीछेसे ऐसा नकली सूक्त मिला दिया जिसमें चातुर्वर्ण्य-सम्बन्धी उल्लेख है। किन्तु यह मत बिलकुल झूठा है। जिस पुरुष-सूक्तमें विराट पुरुषके चार अवयवोंसे चार वर्णोंके उत्पन्न होनेकी बात कही गई है, उस सूक्तका ऋग्वेदमें पीछेसे मिलाया जाना सम्भव नहीं। कारण यह है कि ऋग्वेदके प्रत्येक सूक्त और सूक्तोंकी संख्या गिनी हुई है और शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें वह कह दी गई है। हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि इस अभेद्य रीतिसे ऋग्वेद-ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थोंके पहले यानी भारती युद्धके पहले ही—सन् ईसवीसे पूर्व ३००० वर्षके लगभग—कायम कर लिया गया था। सारांश यह कि वर्ण-भेदकी कल्पना ब्राह्मणोंने पीछेसे उत्पन्न नहीं कर दी है, वह तो भारतीय आर्योंके आदि इतिहाससे ही चली आ रही है। यही बात माननी चाहिये। उक्त मतका खण्डन करनेके लिये इतनी दूर जानेकी भी कोई ज़रूरत नहीं। 'वदतो व्याघातः'—यानी जो कह रहे हैं वही गलत है—इस न्यायसे पहले ही यह प्रश्न होता है कि—"ब्राह्मणोंने वर्ण-व्यवस्था

उत्पन्न की है" इस वाक्यमें ब्राह्मण कहाँसे आ कूदे? आर्य लोगोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये तीन ही भेद पहले कैसे हो गये? ब्राह्मणोंको ये अधिकार कैसे मिल गये, उनका दबदबा कैसे बढ़ा? यह प्रश्न अलग ही है। अर्थात् उक्त मत ही ग़लत है। भारतीय आर्योंके प्राचीन इतिहासमें ही वर्ण-व्यवस्थाका उद्गम स्थान ढूँढ़ना चाहिये।

हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक समाजमें वर्ण-व्यवस्थाका थोड़ा बहुत बीज रहता ही है। साधारण बात यह है कि बापका पेशा बेटा करता है; और अधिकांश शादी-ब्याह बराबरीके नातेमें और एकसा ही पेशा करनेवालोंके बीच हुआ करते हैं। अर्थात् एक न एक तरहकी वर्ण-व्यवस्था प्रत्येक समाजमें रहती ही है। भेद यह है कि उसमें ऐसा करनेके लिये सख़्ती नहीं रहती। ऐसा स्वरूप उत्पन्न होने—बन्धन पड़ने—के लिये कुछ न कुछ कारण हो जाते हैं। वह कारण समाजके धार्मिक कार्योंके लिए आवश्यक विशेष प्रकारकी योग्यता है। अनेक लोगोंके इतिहाससे यह बात समझमें आ जायगी। धार्मिक कामोंकी व्यवस्था जिनके सपुर्द होती है उनकी पहले एक अलग जाति बन जाती है। ईरानियोंमें भी पहले 'मोबेद' नामकी एक जाति अलग हो गई थी। ज्यू लोगोंमें देवताके पुजारियोंकी जाति अलग हुई थी, अर्थात् इस जातिके लोग अन्य लोगोंके साथ शादी-ब्याह नहीं करते थे। रोमन लोगोंमें भी, जिन लोगोंको धार्मिक कृत्य करनेका अधिकार होता था, वे पेट्रिशियन लोग, अन्यान्य लोगोंके यहाँ बेटी-व्यवहार नहीं करते थे। सारांश यह कि लोगोंमें धार्मिक व्यवस्थाके सम्बन्धका जाति-बन्धन पहलेपहल होता है, और फिर आगे उसकी स्थिरताके लिए विशेष कारण न हों तो उसका मिट जाना स्पष्ट ही है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय।

यही मानना पड़ेगा कि हिन्दुस्तानमें जिस समय पहलेपहल भारतीय आर्य आये थे, उससे पहले ही उन लोगोंमें इसी प्रकारकी साहजिक सामाजिक व्यवस्थाके कारण जातिबन्धनका बीज उत्पन्न हो गया था। पहले उनमें दो वर्ण उत्पन्न हुए होंगे—ब्राह्मण और क्षत्रिय। आर्योंके देवताओंकी स्तुति करना और देवताओंका यज्ञ करना ब्राह्मणोंका काम था; तथा युद्ध करना क्षत्रियोंका काम था। दोनों ही पेशोंके लिये रीतिके अभ्यासकी आवश्यकता थी, इसलिये उनके प्रथम व्यवसायके कारण दो विभाग हो गये। ऋग्वेदके अनेक उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि ब्राह्मणोंने स्तुति-मन्त्र आदि याद रखना स्वीकार किया था। युद्धके अवसर पर वसिष्ठ, इन्द्र प्रभृति देवताओंकी स्तुति भरतोंके अनुकूल करता है, और सुदास राजा युद्ध करता है। ऋग्वेदमें यह वर्णन है। विश्वामित्र, भरद्वाज, कण्व और अङ्गिरस आदि भी इसी प्रकारका काम करके देवताओंको भरतोंके अनुकूल सन्तुष्ट करते हैं। सारांश, यह देख पड़ता है कि हिन्दुस्तानमें ऋग्वेदके समय जब भारतीय आर्य आये, तब उनमें पेशेके कारण दो जातियाँ मौजूद थीं। परन्तु ये जातियाँ उस समय अन्य बन्धनोंसे जकड़ी न गई थीं, अर्थात् न तो उनके आचार-विचार विभिन्न थे और न उनमें बेटी-व्यवहारकी या पेशेकी कोई सख़्त रुकावट थी। क्षत्रियों और ब्राह्मणोंकी बेटियाँ परस्पर ब्याही जाती थीं; और चन्द्रवंशी क्षत्रियोंमेंसे कुछ क्षत्रिय लोग अपना

पेशा छोड़कर ब्राह्मण हो जाते थे। महाभारतमें चन्द्रवंशका जो वर्णन है उससे यह बात स्पष्ट होती है। प्रतीपका बड़ा लड़का देवापि क्षत्रियका व्यवसाय छोड़कर वनमें तपश्चर्या करने लगा। उसने एक सूत्र भी बनाया है। मतिनारके वंशमें कण्व उत्पन्न हुआ था। वह ब्राह्मण हो गया और उसके सभी वंशज ब्राह्मण ही हुए। ये कण्व लोग ऋग्वेदके कोई सूक्तोंके कर्ता हैं।

अलबत्ता एक बात देख पड़ती है कि उस समय ब्राह्मण लोग स्वतन्त्र व्यवसायका आग्रह कर बैठे थे; अर्थात् उनका यह आग्रह था कि यज्ञ-याग आदिकी क्रिया हम लोगोंको ही करनी चाहिये। वेद-विद्याके पढ़नेका कठिन काम ब्राह्मणोंने जारी कर रखा था। यज्ञ यागादिके लिये आवश्यक भिन्न भिन्न प्रकारकी जानकारी और मन्त्र-तन्त्र उन्होंने सुरक्षित रखे थे। ब्राह्मणोंका कर्म कठिन हो गया था और उन्हें अपनी बौद्धिक शक्ति बढ़ानी पड़ी थी। यह बात प्रसिद्ध ही है कि हर एक व्यवसायके लिए आनुवंशिक संस्कार बहुत उपयोगी होता है। अर्थात् ब्राह्मणोंके बालक ही स्मरण-शक्तिसे वेद-विद्या ग्रहण करनेके योग्य होते थे। इसलिये ऐसा आग्रह कोई बड़ी बात नहीं कि ब्राह्मणका बेटा ही ब्राह्मण हो। यह तो अपरिहार्य आग्रह है। किन्तु आरम्भमें क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंकी यह बात चलने न दी। वसिष्ठ और विश्वामित्रके वादसे स्पष्ट होता है कि क्षत्रियोंने इस विषयमें खूब झगड़ा किया। इसके बाद भिन्न भिन्न स्वरूप रामायण और महाभारतमें देख पड़ते हैं। परन्तु तात्पर्य सबका एक ही है। ब्राह्मणोंका यह आग्रह था कि ब्राह्मणका बेटा ब्राह्मण हो और क्षत्रियका बेटा क्षत्रिय; परन्तु विश्वामित्रका यह आग्रह था कि क्षत्रियके बेटेने यदि अपनी बौद्धिक शक्ति बढ़ा ली हो तो उसके ब्राह्मण होनेमें क्या बाधा है? अन्तमें जीत विश्वामित्रकी ही हुई और वह स्वयं ब्राह्मण हो गया। यही क्यों, फिर तो वह अनेक ब्राह्मण-कुलोंका प्रवर्तक भी हो गया। आदिपर्वमें वसिष्ठ-विश्वामित्रकी जो कथा है, उससे यह कथा बहुत प्राचीन कालकी जान पड़ती है। यह कथा सूर्यवंशी क्षत्रियोंके समयकी और पञ्जाबकी है। वसिष्ठ ऋषिने विपाशा और शतद्रु नदियोंमें प्राण छोड़नेका यत्न किया, क्योंकि विश्वामित्रने उसके सौ बेटोंको मार डाला था। परन्तु उन नदियोंने वसिष्ठको डूबने नहीं दिया; इसी कारण उन नदियोंके विपाशा और शतद्रु नाम हुए (भा० आदि० अ० १७७)। इसी प्रकार एक वर्णन यह भी है कि विश्वामित्रने सूर्यवंशी कल्माषपाद राजाका यज्ञ किया था। इस कथासे प्रकट होता है कि यह झगड़ा बहुत प्राचीन कालका है और यह पञ्जाबमें हुआ था। उस समय जो क्षत्रिय लोग ब्राह्मण कहलानेकी महत्वाकांक्षा करते थे, वे ब्राह्मण हो सकते थे; परन्तु यह प्रकट ही है कि ऐसे व्यक्ति बहुत ही थोड़े होंगे; और ब्राह्मणोंका व्यवसाय वेद पढ़ना, एवं यज्ञ-यागादि क्रिया कराना अत्यन्त कठिन था; इस कारण वह अन्तमें ब्राह्मणोंके ही हाथमें रहा।

वसिष्ठ-विश्वामित्रके झगड़ेमें वर्णके व्यवसाय-विषयक बन्धनके एकत्वकी जिस तरह जाँच हो गई, उसी तरह नहुष-अगस्तिकी कथामें जातिके एक दूसरे तत्वकी परीक्षा हो गई। 'ब्राह्मणके व्यवसायको और लोग क्यों न करें' इसी झगड़ेके जोड़का एक और प्रश्न यह होता है कि और जातिवालोंका पेशा

ब्राह्मणसे क्यों नहीं करवा सकते? नहुषने अपनी पालकीमें कन्धा लगानेकी सब ऋषियोंको आज्ञा दी और जब ऋषिलोग पालकी उठाकर जल्दी जल्दी न चल सके, तब वह उनसे ज़ोर ज़ोरसे 'सर्प सर्प' अर्थात् "चलो चलो" कहने लगा। उस समय अगस्ति ऋषिने शाप दिया कि 'तू सर्प ही हो जा' और वह सर्प बनकर नीचे गिर पड़ा (भा० वन० अ० १८१)। इस कथाका यही तात्पर्य है कि जो लोग बौद्धिक व्यवसाय करेंगे उनपर शारीरिक मेहनत करनेकी सख्ती न हो सकेगी।

वैश्य और शूद्र।

इस प्रकार ऋग्वेदके समयमें जब प्राचीन आर्य हिन्दुस्थानमें आये तब उन लोगोंमें दो जातियाँ उत्पन्न हो गई थीं, परन्तु अभीतक उनमें कड़े बन्धन न बने थे। पञ्जाबमें आकर जब वे आबाद हुए, तब सहज ही तीसरा वर्ग उत्पन्न हुआ। देशमें खेतीका मुख्य रोज़गार था, और बहुत लोग यही पेशा करने लगे। ये लोग एक ही जगह बस गये या इन्होंने उपनिवेश बनाये, इसलिये ये लोग विश् अथवा वैश्य अर्थात् सामान्य कहलाने लगे। ऋग्वेदमें विश् शब्द बराबर आता है जिससे प्रकट होता है कि पञ्जाबमें तीन जातियाँ उत्पन्न हो गईं थीं। रामायणमें यह वर्णन है कि पहले सिर्फ़ दो जातियाँ थीं; पीछेसे त्रेतायुगमें तीन हो गईं। वह वर्णन यहाँ युक्तिसङ्गत जान पड़ता है। सारांश यह कि पञ्जाबमें जब सूर्यवंशी क्षत्रियोंकी बस्ती हुई, उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन जातियाँ उत्पन्न हुईं। इसके पश्चात् जल्दी ही दास अथवा मूलनिवासियोंका समावेश चौथी शूद्र जातिमें होने लगा और ऊपरकी तीनों आर्यवंशी जातियोंका नाम त्रैवर्णिक हो गया। फिर यहींसे जातिके कड़े नियमोंके स्वरूप उत्पन्न होने लगे।

हिन्दुस्थानमें जब आर्य लोग आये तब उनमें जातिबन्धनका थोड़ासा बीज था; और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, ये दो जातियाँ अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके व्यवसाय-भेदसे उपजी हुई तीन जातियाँ थीं। इसी प्रकारके भेद ईरानी लोगोंमें भी थे, रोमन लोगोंमें भी थे और जर्मन लोगोंमें भी थे। अब बड़े महत्वका प्रश्न यह है कि उन देशोंमें, जाति-भेदको विवाहके प्रतिबन्धका सहारा मिलकर, अभेद्य बन्धनोंवाली जातियोंका वृक्ष क्यों नहीं उत्पन्न हो गया, जैसा कि हिन्दुस्थानमें हुआ है। आर्य लोगोंकी सभी शाखाओंमें जाति-पाँतिका थोड़ा बहुत बन्धन था। तब यह प्रकट ही है कि हिन्दुस्थानमें ही जाति-बन्धनकी जो प्रबलता बढ़ गई थी उसका कारण यहाँकी विशेष परिस्थिति है। वह परिस्थिति बाहरसे आनेवाले आर्य और हिन्दुस्थानमें रहनेवाले दास या अनार्य लोगोंके बीचका महान अन्तर ही है। आर्य गोरे थे और उनकी नाक सुन्दर थी; इसके खिलाफ़ अनार्योंकी रङ्गत काली तथा नाक चपटी थी। उनकी बौद्धिक-शक्तिमें भी बड़ा अन्तर था। दूसरी आर्य शाखाएँ यूरोप वग़ैरहमें जहाँ जहाँ गईं, वहाँ कहीं इस प्रकारकी परिस्थिति न थी। उन देशोंके पुराने निवासी बहुत कुछ आर्यवंशके ही थे। वहाँके लोग अगर आर्य वंशके न रहे हों तो भी रङ्ग और बुद्धिमत्तामें नवीन आये हुए आर्योंसे ज़्यादा भिन्न न थे। जर्मनीमें इस प्रकारकी भिन्नता बिलकुल ही नहीं देखी गई। रोममें अवश्य कुछ थोड़ी सी भिन्नता थी, और कुछ दिनोंतक विवाहकी रोक टोक दोनों जातियोंमें रही, पर वह शीघ्र ही दूर कर

दी गई। यूनान और ईरानका भी यही हाल था। सिर्फ़ हिन्दुस्तानमें ही यह फ़र्क़ इतना ज़बरदस्त था कि दोनों जातियोंका मिश्रण होना असम्भव हो गया और दोनोंके बीच वाद शुरू हो गया जो अभी तक नहीं मिटा है। तुलसीदासने अपने समयका यह वर्णन किया है—बादहिं शूद्र द्विजनसे, हम तुमसे कछु घाटि। जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आँखि दिखावहिं डाँटि॥" अर्थात्, ब्राह्मणोंसे शूद्र झगड़ते हैं कि हम तुमसे क्या कम हैं। वे आँखें तरेरकर कहते हैं कि ब्राह्मण तो वह है जो ब्रह्मको जाने। इस तरहका झगड़ा उसी समयसे चला आ रहा है और आर्य लोगोंमें जो जाति-बन्धन उत्पन्न हुआ, वह इन्हीं लोगोंके कारण और भी कड़ा हो गया और भिन्न भिन्न अनेक जातियाँ उत्पन्न हो गईं। इसके बादका इतिहास महाभारतसे अच्छी तरह मालूम हो जाता है। हिन्दुस्थानकी इस विचित्र परिस्थितिके जोड़की परिस्थिति इतिहासमें केवल दक्षिण अफ्रिकामें ही उपजी हुई नजर आती है। वहाँ गोरे रङ्गवाले आर्योंका काले नीग्रो लोगों (हबशियों) से सम्बन्ध पड़नेके कारण हिन्दुस्थानकी सी कुछ परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। उससे हम थोड़ा अन्दाज़ कर सकते हैं।

शूद्रोंके कारण वर्णोंकी उत्पत्ति।

हिन्दुस्तानमें वर्ण और जाति शब्दोंका परस्पर जो निकट सम्बन्ध हुआ, उसका भी यही कारण है। पाश्चात्य देशोंमें जित और जेताका एक ही वर्ण होनेसे वर्णको कोई महत्त्व नहीं दिया जा सका। यहाँ हिन्दुस्तानमें उनकी रङ्गतमें जमीन-आसमानका अन्तर रहनेके कारण रङ्गको जातिका स्वरूप मिल गया। उनके सम्बन्धसे आर्य-वंशी लोगोंमें भी रङ्गका थोड़ासा भेद हो गया। वैश्य कृषि-कर्म किया करते थे, इस कारण उनका गोरा रङ्ग बदलकर पीला हो गया। हवा और व्यासङ्गके भेदसे क्षत्रियोंकी रङ्गतमें भी फ़र्क पड़ने लगा और लाल रङ्ग हो गया। ब्राह्मणोंकी रङ्गत मूलकी आर्य बनी रही, अर्थात् वे गोरे ही रहे। यह सच है कि इसके लिये कई कारणोंसे अनेक अपवाद उत्पन्न होते हैं, तथापि साधारण नियम यह है कि ब्राह्मण गोरा, क्षत्रिय लाल, वैश्य पीला और शूद्र काला होता है। इसी कारण चार युगोंमें विष्णुके चार रङ्ग बदलनेकी कल्पना हो गई है। यदि काला ब्राह्मण और गोरा शूद्र हो तो इस सम्बन्धमें हम लोगोंमें जो भयङ्कर कल्पना है, उसका भी यही कारण है। इस प्रकार चातुर्वर्ण्य अर्थात् रङ्गसे निश्चित चार जातियाँ हिन्दुस्तानमें उत्पन्न हो गईं। अब यहाँ देखना चाहिए कि इनमें विरोध किस तरह बढ़ता गया।

शुरू शुरूमें जब आर्य लोग हिन्दुस्तानमें आये, तब उनमें तीन ही जातियाँ थीं और बेटी-व्यवहारमें थोड़ीसी रोक-टोक थी; तथा ब्राह्मणोंको तीनों वर्णोंमेंसे किसीकी बेटी ब्याहनेमें कोई मनाही नहीं थी। फिर यह नियम था कि क्षत्रिय लोग ब्राह्मणेतर दो वर्णोंकी बेटियाँ ले सकते हैं और सिर्फ़ वैश्य एक वर्ण यानी वैश्योंमें ही व्यवहार करें। जब चौथा शूद्र वर्ण समाजमें शामिल हुआ तब समाजमें शूद्र वर्णकी बेटियाँ लेने न लेनेके विषयमें बड़े महत्त्वका झगड़ा उपस्थित हो गया। अधिकांश लोगोंका साधारण रीतिसे उनकी बेटियाँ ब्याह लेनेके विरुद्ध रहना मामूली बात है। फिर भी वैश्योंका पेशा खेती होनेके कारण उनका और शूद्रोंका विशेष सम्पर्क रहता था, और वैश्यको एक ही वर्णमें विवाह करनेका अधिकार था; इस कारण उन लोगोंमें शूद्रकी

बेटी ब्याह लेनेकी रीति बड़े ज़ोरसे चल पड़ी होगी। क्षत्रियोंमें इनसे कम और ब्राह्मणोंमें तो बहुत ही कम रही होगी। मालूम होता है कि ऐसी स्त्रियोंसे जो सन्तान हुई, उसकी रङ्गत मिश्रित और बुद्धि कम रही होगी। पुराना नियम यह था कि स्त्री चाहे जिस वर्णकी हो, पर उसकी सन्तानका वही वर्ण होता था जो कि पतिका हो, अर्थात् क्षत्रिय अथवा वैश्य स्त्रीके पेटसे उपजी हुई ब्राह्मणकी सन्तान ब्राह्मण ही मानी जाती थी। जिस समय आर्य लोग पहलेपहल आये, उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके बीच रङ्ग या बुद्धिमत्तामें अधिक अन्तर न था और खान-पान आदिमें कुछ भी फ़र्क़ न था। इस कारण ऊपरवाला नियम ठीक ही था। अब प्रश्न हुआ कि शूद्रोंकी बेटियाँ ब्याहने लगने पर भी वही नियम रक्खा जाय या क्या किया जाय?

पूर्वकालमें सचमुच इस प्रकारका नियम था। महाभारतके एक अत्यन्त महत्वके श्लोकमें यह बात मालूम होती है। अनुशासन पर्वके ४४ वें अध्यायमें कहा गया है कि ब्राह्मण तीनों वर्णोंकी बेटी ले सकता है और उसको इनसे जो सन्तति होगी वह ब्राह्मण ही होगी।

त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत्।
स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पञ्चमो नाधिगम्यते॥

यहाँ पर यह नियम बतलाया गया है कि तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंसे ब्राह्मणको ब्राह्मण ही होगा; पर आगे चलकर यह नियम बदल गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि महाभारतमें ही यह नियम बदला हुआ मिलता है। (भा० अनुशासन० अ० ४८) में, सिर्फ़ दो ही स्त्रियों—ब्राह्मण और क्षत्रिय—से ब्राह्मण-सन्ततिका उत्पन्न होना कहा गया है। मनुस्मृतिमें जो नियम है, वह यही सङ्कुचित नियम है। इससे यह प्रकट होता है कि पहले नियम कुछ ढीला था। फिर वह सङ्कुचित हो गया और महाभारतके समय यानी सौतिके समय दो वर्णोंकी स्त्रियोंसे उपजी हुई सन्ततिका ही ब्राह्मणत्व माना गया। यह नियम चल निकला कि ब्राह्मण या क्षत्रिय जातिकी स्त्रीके पेटसे उत्पन्न ब्राह्मणकी सन्तति ब्राह्मण मानी जायगी। इसके बाद इसमें भी संशोधन हो गया और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियोंमें कहा गया है कि जब ब्राह्मणको ब्राह्मण स्त्रीसे सन्तान होगी, तभी वह ब्राह्मण समझी जायगी। सारांश यह कि अनुशासन पर्वका पहला वचन बहुत करके उस नियमका दर्शक है जो कि उस समय प्रचलित था जब आर्य लोग हिन्दुस्तानमें आये थे। उस समयका तात्पर्य यह था, कि ब्राह्मणको तीनों वर्णोंकी बेटी लेनेका अधिकार है; और उनके गर्भसे उसको जो सन्तान हो वह ब्राह्मण ही है। इसी नियमका उपयोग करके ब्राह्मण यदि शूद्र-कन्याको ब्याह ले, तो उसकी सन्तान ब्राह्मण मानी जाय या नहीं? मत्स्यगन्धाके गर्भसे पराशर ऋषिके पुत्र व्यास महर्षि ऐसे उत्पन्न हुए जो ब्राह्मणोंमें अत्यन्त बुद्धिमान् और श्रेष्ठ थे। क्या इसीका अनुकरण किया जाय? अथवा 'न देवचरितं चरेत' के न्यायसे व्यास ऋषिके उदाहरणको छोड़कर, शूद्रा स्त्रीसे उत्पन्न सन्तति कम दर्जेकी मानी जाय? यह प्रश्न बड़े झगड़ेका और वाद-विवादका हुआ होगा। यह सहज ही है कि इसका फ़ैसला अन्तमें शूद्रा स्त्रीके प्रतिकूल हुआ। इतनी भिन्न परिस्थितिके वर्णोंकी सन्तति कभी तेजस्वी नहीं हो सकती। अतएव यही तय हो गया कि ब्राह्मण शूद्र-कन्याको ग्रहण न करें। यह तो महाभारतमें भी कहा गया है कि—"कई लोगोंको यह नियम मान्य नहीं।" परन्तु यहाँ यह बात

भी कह दी गई है कि बड़े लोग शूद्र वर्णकी स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न नहीं करते। जान पड़ता है कि यह विवाद बहुत ही अधिक हुआ था। शूद्रा स्त्रीसे उत्पन्न पुत्रको सम्पत्तिका हिस्सा मिले या नहीं? यह प्रश्न भी सामने आया और महाभारत-कालमें ही उसका यह निर्णय कर दिया गया है कि उसे १/१० अंश दिया जाय। परन्तु महाभारतके पश्चात् स्मृति आदिके समयमें यह तय किया गया कि उसे कुछ भी हिस्सा न दिया जाय। अस्तु; शूद्रा स्त्रीसे उत्पन्न बेटेकी जातिका अन्तमें ब्राह्मणसे भिन्न तय किया जाना सहज ही था। क्योंकि उन दोनोंके वर्ण और बुद्धिमत्तामें बहुत अधिक अन्तर था। फिर भी कुछ लोग इसके विरुद्ध थे ही। मनुस्मृतिमें बीज और क्षेत्रके परस्पर महत्त्वका वाद बहुत अधिक वर्णित है। शूद्रा स्त्री क्षेत्र हो और ब्राह्मण पति बीज हो तो महत्त्व किसे दिया जाय और कितना दिया जाय? यह वाद मनुस्मृतिमें बहुत अधिक विस्तृत है। अन्तमें ब्राह्मणसे उत्पन्न शूद्रा स्त्रीकी सन्तति न ब्राह्मण मानी गई और न शूद्र; एक स्वतन्त्र जाति बनाकर उसका दर्जा भी भिन्न ही रखा गया। अनुशासन पर्वके ४८ वें अध्यायमें इस जातिका नाम पारशव रखा गया है और उस शब्दका अर्थ यह है—

परं शवाद् ब्राह्मणस्यैव पुत्रं। शूद्रापुत्रं पारशवं विदुः। शुश्रूषकः स्वस्य कुलस्य स स्यात् स्वचारित्र्यं नित्यमथो न जह्यात् ॥

"ब्राह्मणके शूद्रा स्त्रीसे उपजे हुए पुत्रको शवके उस ओरका अर्थात्, पारशव समझना चाहिए। वह अपने कुलकी शुश्रूषा करे और अपने नित्य कर्म सेवाको न छोड़े।" इस भेद-भावके कारण उच्च वर्णोंमें भी अन्य वर्णोंकी बेटी लेनेकी रोक-टोक धीरे धीरे जगह पाने लगी। यदि क्षत्रिय शूद्रासे विवाह कर ले तो उसके गर्भसे उत्पन्न सन्तान दूसरे वर्णकी समझी जाने लगी और ऐसी सन्ततिका नाम उग्र पड़ गया। किन्तु वैश्य वर्णको वैश्य और शूद्र दो ही वर्णोंकी बेटी ब्याहनेका अधिकार था; इसलिये कहा गया है कि दोनोंसे ही वैश्य सन्तान उत्पन्न होती है। परन्तु आगे किसी स्मृतिकारने इस बातको नहीं माना। महाभारत-कालके पश्चात् यह बात भी न रही। इससे पूर्व तो वह रीति थी ही, अतः वैश्य जातिमें शूद्रोंका बहुत कुछ मिश्रण हो गया। इसीसे वैश्योंके आर्य होनेमें थोड़ासा सन्देह हुआ और यह तय कर दिया गया कि यदि ब्राह्मण वैश्यकी बेटी ब्याह ले तो उसकी सन्तान ब्राह्मण न समझी जायगी; वह या तो वैश्य समझी जायगी या अंबष्ठ जातिकी। सारांश यह कि भिन्न भिन्न वर्णोंकी बेटियाँ ब्याहनेके सम्बन्धमें थोड़ा थोड़ा विचार और बन्धन उत्पन्न होने लगा। यह तो हुई अनुलोम विवाहके सम्बन्धकी बात। प्रतिलोम विवाहके सम्बन्धमें आरम्भसे ही विरुद्ध कटाक्ष देख पड़ता है। यद्यपि आरम्भमें उच्च वर्णकी बेटियाँ ब्याह लेनेकी नीचेके वर्णोंको मनाही न रही हो, फिर भी शीघ्र ही रुकावट हो गई होगी; क्योंकि ऐसे निन्द्य विवाह या सम्बन्धसे उपजी हुई सन्तानका दर्जा बहुत ही हलका माना गया है। क्षत्रियसे उत्पन्न ब्राह्मण स्त्रीका बेटा सूत जातिका माना गया है और ब्राह्मण स्त्रीका वैश्यसे उत्पन्न पुत्र वैदेहक माना गया है। ब्राह्मण स्त्रीसे शूद्रको सन्तान हो तो वह बहुत ही निन्द्य समझी गई है और वह चाण्डाल मानी जाती थी। आर्य माता-पितासे ही उत्पन्न होनेके कारण सूत और वैदेह भी वैदिक संस्कारोंके बाहर नहीं

माने गये। परन्तु चाण्डाल तो अस्पृश्य माना गया है, यहाँतक कि बस्तीमें रहने लायक न समझकर यह बन्धन कर दिया गया कि वह बस्तीके बाहर ही रहे (अनु० अ० ४८)। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भी यह नियम देख पड़ता है। इससे पता चलता है कि उसका प्रचार बहुत प्राचीन कालसे रहा होगा।

यह धारणा बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है कि उच्च वर्णकी बेटियोंके नीचेके वर्णोंकी विशेषतः शूद्रोंकी घरवाली होनेसे भयङ्कर हानि होती है। यह धारणा स्वाभाविक है। जहाँ दो वर्णोंमें बहुत फर्क़ होता है अर्थात् एक तो होता है गोरा और दूसरा होता है काला, और जब उनकी सभ्यतामें भी बहुत ही अन्तर होता है अर्थात् एक तो होता है अत्यन्त सुधरा हुआ और दूसरा बिलकुल अज्ञानमें डूबा तथा बहुत ही अमङ्गल रीतिसे रहनेवाला, वहाँ ऐसे वर्णोंका मिश्रण विशेषतः प्रतिलोम मिश्रण (अर्थात् उच्च वर्णोंकी स्त्री और नीच वर्णके पुरुषका मिश्रण) निन्द्य समझा जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। ब्राह्मण-कालसे लेकर महाभारततक वर्णसङ्करकी जो अत्यन्त निन्दा की गई है उसका यही कारण है। यह समझा जाता था कि वर्णसङ्करसे चाण्डाल सरीखी नीच सन्तान होती है। इसका कारण यह है कि दो वर्णोंमें सभ्यताका स्वरूप अत्यन्त भिन्न था। भगवद्गीतामें भी वर्णसङ्करका बहुत भय दिखाया गया है। उसमें सङ्कर होनेका दुष्परिणाम यह बतलाया है कि "सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।" यह भी समझा जाता था कि वर्णसङ्कर न होने देनेकी फिक्र राजाको भी रखनी चाहिये। वर्णसङ्कर न होने देनेके लिये राजा लोग जितना परिश्रम करते थे, प्रजा उनकी उतनी ही सराहना करती थी। वर्णसङ्कर होना बड़ा पाप माना जाता था और लोग उससे बहुत घृणा करते थे।

वर्णसङ्करका डर।

पञ्जाबके कुछ लोगोंकी हालकी परिस्थितिसे मालूम होता है कि वर्णसङ्करके भयङ्कर परिणाम केवल कल्पना न थे किन्तु प्रत्यक्ष थे। कुछ लोग समझते हैं कि—"ब्राह्मण स्त्रीसे उत्पन्न शूद्रके पुत्रको चाण्डाल माननेकी कल्पना केवल धर्मशास्त्रकी है, वास्तवमें ऐसी सन्तान चाण्डाल नहीं मानी गई है; चाण्डाल तो यहाँके मूलनिवासियोंमेंसे बहुत ही नीच और बुरी स्थितिके लोग हैं।" परन्तु शीर्षमापनशास्त्रसे अब यह बात निश्चित हो गई है कि पञ्जाबकी अस्पृश्य जातियोंमें चूहड़ जातिके जो लोग हैं उनमें दरअसल आर्य जातिका मिश्रण है। सम्भव है कि चाण्डालोंकी यह जाति, ऊपर लिखी रीतिसे, उत्पन्न हो गई हो। चूहड़ोंके उदाहरणसे व्यक्त होगा कि वर्णसंकरके डरसे भिन्न भिन्न जातियाँ किस प्रकार उत्पन्न हो गईं। प्रतिलोम विवाहके सम्बन्धमें वर्णसङ्करका जो भय दिखाया गया है, उसके कारण आगे ऐसे विवाहोंका होना रुक गया होगा; यही नहीं बल्कि अनुलोम विवाहतक धीरे धीरे घट गये, और अनुलोम विवाहसे उत्पन्न नई जातियोंने अपनेमें ही विवाह करनेका नियम कायम कर लिया।

वर्णसङ्करकी आशङ्कासे डरकर चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने अपने वर्णमें ही विवाह करने लगे। इस सिद्धान्त पर यह आक्षेप हो सकता है कि ऐसा करनेमें ब्राह्मणोंने बड़ा अन्याय किया। ब्राह्मणों और शूद्रोंका विवाह-सम्बन्ध होने पर जो सन्तान हो, उसका

दर्जा हलका क्यों माना जाय? सहज ही यह आक्षेप होता है कि परमेश्वरने सभी लोगोंको एकसी बुद्धि दी है: फिर यह बात भी नहीं है कि सभी ब्राह्मण बहुत बढ़िया नीतिवाले और शुद्धाचरणी होते हों; आख़िर शूद्रोंमें भी तो बुद्धिमान, सदाचरणी और नीतिमान् लोग हैं। किसी एक ही जातिके लोगोंने बुद्धि अथवा सदाचारका कुछ ठेका नहीं ले लिया है। ब्राह्मणोंमें भी मूर्ख और दुराचारी लोग हैं। तब वर्णभेद वंश पर नहीं, सिर्फ़ स्वभावके ऊपर अवलम्बित रहना चाहिए। इस तरहके आक्षेप सदा होते रहते हैं और ये बौद्धोंके समय भी होते रहे होंगे। महाभारतमें इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला एक महत्त्वपूर्ण आख्यान है। वह यहाँ समूचा देने लायक है। नहुष राजाको ब्राह्मणोंके शाप देनेका वर्णन पहले हो चुका है। नहुषके मन पर ब्राह्मणोंके दबदबेकी ख़ासी धाक जम गई होगी और सदा यह प्रश्न होता रहा होगा कि 'हमारे आगे ब्राह्मण श्रेष्ठ क्यों हैं?' वन पर्वमें युधिष्ठिरका और सर्पयोनिमें गिरे हुए नहुषका सम्वाद है। यह सम्वाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नहुष कहता है—"हे धर्म, मेरे प्रश्नका समुचित उत्तर दो तो मैं तुम्हारे भाईको छोड़ दूँ।" उस समय नहुषने भीमसेनको फँसा रक्खा था। युधिष्ठिरने कहा—"हे सर्प, पूछो; मैं अपनी समझके अनुसार उत्तर दूँगा।" नहुषने पूछा—"ब्राह्मण किसे कहना चाहिये?" इसका सीधा उत्तर युधिष्ठिरने यह नहीं दिया कि ब्राह्मण स्त्री-पुरुषसे जो उत्पन्न हो, उसे ब्राह्मण समझो। उन्होंने विलक्षण उत्तर दिया है। उन्होंने कहा कि—"ब्राह्मण तो वही है जिसमें शान्ति, दया, दान, सत्य, तप और धर्म हो।" युधिष्ठिरने ब्राह्मणकी पहचान, उसके उच्च स्वभावमें बतलाई, किन्तु यह वाद यहीं समाप्त नहीं हो गया। नहुषने इस पर फिर प्रश्न किया।

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं चेद् ब्रह्म चैवहि। शूद्रेष्वपि च सत्यं स्याद् दानमक्रोध एव च॥

अर्थात् चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको प्रमाण मानना चाहिये और सत्य ही यदि ब्रह्म अथवा ब्राह्मण्य हो तो शूद्रमें भी तो सत्य, दान, शान्ति आदि गुण देखे जाते हैं। (इसकी क्या गति है?) युधिष्ठिरने इसका यह उत्तर दिया—"यदि शूद्रमें ये लक्षण हों और ब्राह्मणमें न हों तो न तो वह शूद्र, शूद्र है और न वह ब्राह्मण, ब्राह्मण है। जिसमें यह वृत्त यानी आचरण देख पड़े, उसे तो ब्राह्मण समझना चाहिये और जहाँ न देख पड़े उसे शूद्र समझिये।" इस पर नहुषने पूछा कि—"यदि वृत्त पर ही तुम ब्राह्मणत्वका फैसला करते हो तो फिर जातिका झगड़ा नाहक है, जबतक कि कृति न हो।" युधिष्ठिरने इसका अजब उत्तर दिया है (व० अ० १८०)।

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
सङ्करात्सर्व-वर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम्॥
इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥
कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते।
सङ्करस्तत्र राजेन्द्र बलवान् प्रसमीक्षितः॥

युधिष्ठिरने कहा—"हे सर्प, मुख्य जाति तो आजकल मनुष्यत्व है। क्योंकि सब वर्णोंका सङ्कर हो जानेसे भिन्न भिन्न जातियोंकी परीक्षा ही नहीं की जा सकती। मैं तो यही समझता हूँ। सब वर्णोंके लोग सभी जातियोंमें सन्तान उत्पन्न करते हैं, इस कारण वाणी और जन्म-मरण सभीका एकसा है। इसके सिवा

'ये यजामहे' यह वेदका आर्ष प्रमाण है। इससे सिद्ध है कि तत्वदर्शी लोग शीलको प्रधान मानते हैं। यदि वृत्त अच्छा न हुआ तो वर्ण बेफ़ायदे हैं, क्योंकि आजकल तो सङ्कर बलवान् देख पड़ता है।" इस उत्तरका बारीकीसे विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि इसमें वर्णका अस्तित्व अस्वीकृत नहीं है। वर्णोंका सङ्कर हो जानेके कारण तरह तरहके लोगोंमें भिन्न भिन्न आचरण देख पड़ता है। इससे, पहले यदि वर्णसे वृत्त परखा जाता था तो अब वृत्तसे वर्णको पहचान लेना चाहिये। पुरानी धारणा यह थी कि ब्राह्मण वर्णका मनुष्य शीलवान् अवश्य होना चाहिये; परन्तु वर्णसङ्करके कारण यह भयङ्कर गड़बड़ हो गई है कि ब्राह्मणोंमें भी बुरे लोग उपजने लगे हैं; तब शीलको प्रधानता देनी चाहिये और जिनका शील उत्तम हैं उन्हें ब्राह्मण समझ लेना चाहिये।" इस तरहकी युधिष्ठिरकी दलील है। इससे वर्णका अस्तित्व बेबुनियाद नहीं होता। युधिष्ठिरके भाषणका मतलब यही है कि यह सारी गड़बड़ **वर्ण-सङ्कर**के कारण हो गई है। शूद्रोंमें अगर भले मनुष्य हों, शूद्रोंमें यदि ज्ञान, दान, दया, सत्य आदि गुण देख पड़ें तो यह न समझना चाहिये कि ऐसे गुण शूद्र जातिमें भी हो सकते हैं, बल्कि शूद्रोंमें ब्राह्मणोंका सङ्कर हो जानेके कारण कुछ शूद्रोंमें ब्राह्मण जातिके गुण दीखने लगे हैं। ब्राह्मणमें यदि असत्य, क्रूरता और अधर्म आदि दुर्गुण देख पड़ें तो यह न समझ लो कि ब्राह्मणोंमें बुरे मनुष्य उत्पन्न हो सकते हैं, बल्कि यह समझो कि ब्राह्मणोंमें शूद्रोंका सङ्कर हो जानेसे ऐसे दुर्गुण देख पड़ते हैं। सारांश यह कि युधिष्ठिरके जवाबमें वर्णका जातितः अस्तित्व माननेसे इन्कार नहीं किया गया; बल्कि उसके भाषणसे तो वर्णका अस्तित्व ही प्रकट होता है।

युधिष्ठिरके भाषणमें वर्ण-सङ्करकी आशङ्का पूरी तरहसे सिद्ध होती है। हिन्दुस्थानके आर्योंको वर्णसङ्करका हमेशा जो डर लगा रहता था उसका कारण यही है। वे समझते थे कि वर्ण या वंश ही मनुष्यके स्वभावका मुख्य स्तम्भ है। उनकी यह धारणा थी कि अमुक वर्णवालोंका ऐसा ही स्वभाव होता है। वे वर्णके साथ स्वभावका नित्य-साहचर्य मानते थे। यह सिद्धान्त कहाँतक ठीक है, यह दूसरा विषय है। फिर भी यह बात नहीं कि ऐसी धारणा सिर्फ़ भारतीय आर्योंकी ही रही हो। आजकल यूरोपके आर्यतक यही समझते हैं। उनकी दृढ़ धारणा है कि यूरोपियन लोगोंकी जातिकी बराबरी अन्य खण्डोंके लोग नहीं कर सकते। यह मान लेनेमें हानि नहीं कि दक्षिण अफ्रिकामें हिन्दुस्तानियों अथवा नीग्रो लोगोंके साथ यूरोपियनोंका जो बर्ताव है, वह इसी कारण है। जर्मन और फ्रेञ्च वग़ैरह यह बात मानते हैं कि आर्य जातिकी बराबरी और जातिवाले मनुष्य नहीं कर सकेंगे। इनमें ख़ासकर जर्मन लोगोंका यही आक्षेप है। उन्हें अभिमान है कि शूरता और बुद्धिमानी आदिमें जर्मन और लोगोंसे बहुत चढ़े बढ़े हैं। अँगरेज़ आदि जो पाश्चात्य लोग अपने आपको आर्य कहते-कहलवाते हैं, वे समझते हैं कि व्यवहारज्ञान, और राज-काजके लिये आवश्यक गुण और व्यापारमें मुकाबलाकर बाज़ी मार ले जानेकी सामर्थ्य आर्यवंशमें अधिक है; अन्य खण्डोंके और अन्य जातियोंके लोग इसमें उनकी बराबरी न कर सकेंगे। तात्पर्य, पाश्चात्य देशोंमें अभीतक यही धारणा है कि आर्यवंशवालोंमें कुछ विशेष सामर्थ्य होती

है, और इस सामर्थ्यसे आर्यवंशका नित्य-सम्बन्ध है।

भारती आर्योंकी नीतिमत्ता।

पाश्चात्य आर्योंसे भी बढ़कर अधिक उदात्त और उदार कल्पना भारती आर्योंकी थी। भारती आर्योंने आर्य-वंशियोंको सिर्फ़ इसलिये उच्च नहीं माना था कि वे शूर होते हैं, व्यवहार करनेमें चतुर होते हैं, बुद्धिमान् होते हैं और उद्योगी होते हैं; उन्होंने आर्यवंशियोंको किसी और सामर्थ्यके कारण भी उच्चता नहीं दी थी—उच्चताका कारण उनकी यह कल्पना थी कि आर्य लोग नैतिक सामर्थ्यमें सबसे श्रेष्ठ होते हैं। यहाँतक कि, आर्य शब्दका अर्थ भी जो जाति-वाचक था वह बदलकर श्रेष्ठ नीतिवाची अर्थ हो गया: और इस अर्थमें यह शब्द पुराने ग्रन्थोंमें बराबर आता है। वे अच्छे आचरणको आर्य-आचरण और बुरेको अनार्य-आचरण समझते थे। भग-वद्गीतामें अनार्यजुष्ट शब्द इसी अर्थमें आया है। "स्त्रीणामार्यस्वभावानाम्" (रामायण) कहते समय वे यह मानते थे कि आर्य स्त्रियाँ आर्य स्वभावकी अर्थात् पतिदैवत होती हैं। सारांश, उनका यह दृढ़ निश्चय था कि आर्यवंशवाले जैसे शूरता और बुद्धिमानीमें श्रेष्ठ हैं, वैसे ही नीतिके कामोंमें भी बढ़कर हैं। युधिष्ठिर-ने ब्राह्मणका जैसा वर्णन किया है उसकी अपेक्षा नीतिमत्ताका अधिक उदात्त चित्र नहीं खींचा जा सकेगा। भारती आर्योंकी समझमें ब्राह्मणमें सत्य, दया, शान्ति, तप और दान आदि सद्गुण होने ही चाहिएँ। "उक्तानृतऋषिर्यथा" (रामा०) इस उपमासे भी ब्राह्मणोंके सत्यवादित्व-की कल्पना हमारे सामने खड़ी हो जाती है। "जिस ऋषिके मुखसे अनृत भाषण निकला हो, वह जैसा निस्तेज हो जाता है"—जब कि यह उपमा ली गई है, तब यही मानना चाहिये कि ब्राह्मणोंका सत्य-वादित्व भारती युद्धके समय अथवा रामायण-महाभारतके समय मान्य रहा होगा। ब्राह्मणमें जो गुण बतलाये गये हैं वे गुण ब्राह्मण-जातिके मनुष्यमें सदा रहने ही चाहिएँ। भारतीय आर्योंकी ऐसी ही धारणा थी। जातिके गुण सहज ही स्वभावसिद्ध हैं। अगर वे बदल जायँ तो उसकी जातिमें ही फ़र्क़ पड़ गया होगा। इसी धारणासे युधिष्ठिरने निश्चय कर दिया कि गुणसे जाति परखी जा सकेगी। इसी ढंगकी एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कथा उपनिषद्में है। एक ऋषिके यहाँ सत्यकाम जाबाल उपनयन (शिक्षा प्राप्त करने) के लिये गया। उस समय गुरुने उसका नाम और जाति पूछी। उसने उत्तर दिया—मेरी माँने कहा है कि 'मुझे याद नहीं कि तेरा बाप कौन था।' उस समय ऋषिने कहा—"(जहाँ हज़ारों आदमी झूठ बोलते हैं वहाँ) तू सत्य बोलता है, इस कारण मुझे निश्चय है कि तू ब्राह्मणका ही बेटा है।" इस प्रश्नोत्तरसे इस बातका दिग्दर्शन होता है कि प्राचीन कालमें ब्राह्मणोंके सच बोलनेके सम्बन्धमें कितनी उदात्त कल्पना थी। यही नहीं, बल्कि उस समय ब्राह्मण और सत्यका अत्यन्त साहचर्य समझा जाता था।

भारती आर्य यह समझते थे कि, वर्णका स्वभावके साथ नित्य-सम्बन्ध रहनेके कारण, यदि वर्णमें मिश्रण हो गया तो फिर स्वभावमें मिश्रण अवश्य हो जाना चाहिये। वर्णसङ्करका अर्थ वे स्वभाव-सङ्कर मानते थे। अनेक वर्णनोंसे उनका यह स्थिर मत मालूम होता है कि उनकी समझसे शूद्र जातिका स्वभाव अनार्य अर्थात् बुरा अवश्य रहना चाहिए। उन्हें

विश्वास था कि म्लेच्छ और अन्य वर्ण-बाह्य जातियाँ दुष्ट होती हैं। ऊपरके वर्णनसे यही देख पड़ेगा कि वर्ण शब्द-का अर्थ वंश करना चाहिये। भारतीय आर्योंमें वर्णसङ्करके सम्बन्धमें अतिशय द्वेष था, इस कारण जातियोंके बन्धनके विषयमें उनका मत अनुकूल हो गया और भिन्न भिन्न जातियाँ विवाह-बन्धनसे बँध गईं। यहाँतक कि जातिका बीज भारती समाजमें पूर्णतासे भर गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके भी स्वाभाविक धर्म अलग अलग स्थिर हो गये। भगवद्गीतामें जातियोंके स्वभाव-सिद्ध होनेकी कल्पना है। और, उसमें स्पष्ट कह दिया गया है कि यह भेद ईश्वरनिर्मित है। 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।' यह भगवद्गीताका वचन है। इसमें भिन्न भिन्न जातियोंके स्वभाव-सिद्ध भिन्न भिन्न गुण होनेकी बात मान्य की गई है। इसी कारण वंशके भेद अर्थात् जातिके भेद (वर्ण = जाति) का बन्धन स्थिर हुआ और हिन्दुस्तानमें भिन्न भिन्न जातियोंका वृक्ष फैल गया।

अब यह निश्चय करनेकी इच्छा होती है कि ऊपर जो युधिष्ठिर-नहुष-सम्वाद वर्णित है, वह है किस समयका। युधिष्ठिरने जो यह कहा कि—'इस समय सब वर्णोंके लोग सभी जातियोंमें सन्तान उत्पन्न करते हैं' सो यह किस समयकी बात है? महाभारतके पहले जाति-बन्धन बहुत करके सब समय था और युधिष्ठिरका कथन है कि सब लोगोंमें वर्ण-सङ्कर हो रहे हैं; यह बात किस समयको लक्ष्य करके कही गई है? इसका निश्चय कर लेना चाहिये। यह कटाक्ष बहुत करके बौद्धों पर होगा। बौद्धोंने जाति-पाँतिके झगड़ेको दूर हटाकर सब जातियोंको एक करनेका प्रचार शुरू कर दिया था। यह वर्णन उसी समयकी स्थितिका होगा। अथवा, जिस समय चन्द्रवंशी आर्य पहले-पहल हिन्दुस्तानमें आये उस समय शुरू शुरूमें वर्णके सम्बन्धमें विशेष परवा नहीं की गई और भिन्न भिन्न वर्णवालोंने शूद्रों की स्त्रियाँ कर लीं; उसीकी ओर इस वर्णनका इशारा होगा। इन दोनों समयोंको छोड़कर और कभी जातिके बन्धन ढीले न पड़े थे। ऊपर जिस सत्यकाम जाबाल-की बात लिखी गई है, वह छान्दोग्य उपनिषद्में है। वह भी ऊपरवाले समयकी ही होगी। हम दिखला चुके हैं कि बौद्ध-कालमें 'जातिबन्धनका अनादर होनेके कारण महाभारतके अनन्तर बहुत शीघ्र जाति-सम्बन्धके नियम खूब कड़े हो गये।

ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता।

यहाँतक बतलाया गया है कि ऋग्वेद-से लेकर अर्थात् सन् ईसवीके ३००० वर्ष पहलेसे लेकर महाभारत-कालतक चातुर्वर्ण्यकी संस्था जारी थी और चार वर्णों-के सिवा उनके मिश्रणसे अनेक वर्ण हो गये थे। इस विस्तारका मुख्य बीज यह था कि आर्य वर्णोंकी नैतिक उन्नतिका स्वरूप तो बहुत उच्च था और शूद्रों तथा म्लेच्छों-में यह बात न थी। इसमें भी इस विशेष परिस्थितिमें ब्राह्मणोंके आदरसे उसे स्थिर स्वरूप प्राप्त हो गया। महाभारतमें बार बार कहा गया है कि ब्राह्मणोंके सम्बन्ध-में सबके मनमें अत्यन्त आदर होना चाहिये। इसका यह कारण है कि ब्राह्मणों-की नीतिमत्ता महाभारतमें बहुत ही ऊँचे दर्जेकी वर्णित है। हमें यह देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि सभी ब्राह्मणोंने अपने आचरणको सचमुच उत्तम रीतिसे रक्षा की थी या नहीं; किन्तु महाभारतमें ब्राह्मणोंके तप, सत्यवादित्व और शान्ति-का जो वर्णन है, उससे तत्कालीन लोगों-

की ब्राह्मणोंके विषयमें जैसी समझ थी, वह भली भाँति प्रकट हो जायगी। महाभारतके आदि पर्वमें कण्व ऋषिका जैसा वर्णन है, उससे प्रकट है कि ब्राह्मणोंने वेद-विद्या पढ़ने और इन्द्रिय-दमन कर तप करनेको संसारमें अपना कर्तव्य मान रक्खा था। वसिष्ठ और विश्वामित्रके झगड़ेके वर्णनसे भी वह भेद खुल जायगा जो ब्राह्मण और क्षत्रियके बीच मौजूद था। इन्द्रिय-दमन, शान्ति और तप करना, ब्राह्मणोंके मुख्य कर्तव्य माने जाते थे। विश्वामित्रने वसिष्ठकी कामधेनु हर ली; तब भी वसिष्ठको क्रोध नहीं आया। विश्वामित्रने वसिष्ठके कुल सौ बेटोंको मार डाला; फिर भी वसिष्ठने ब्रह्मदण्ड नहीं उठाया। विश्वामित्रकी स्थिति इसके विपरीत दिखलाई गई है। उसकी शान्ति बातकी बातमें डिग जाती थी। सैकड़ों बरसोंतक तो उसने तपस्या की, पर मेनकाको देखते ही वह कामके वशमें हो गया। यद्यपि इस प्रकार शान्ति और इन्द्रिय-दमन बार बार खण्डित हुआ, तथापि उसने ब्राह्मण्य-प्राप्तिके लिये बार बार प्रयत्न किया। अन्तमें जब शान्ति और इन्द्रियजय पर उसका अधिकार हो गया तब वह तत्काल ब्राह्मण हो गया। महाभारतमें ऐसी ऐसी अनेक कथाएँ हैं। जरत्कारु ऋषिने, केवल तप पर ध्यान देकर, विवाह करनेका विचार छोड़ दिया था। परन्तु पितरोंकी आज्ञासे एक बेटा होनेतक गृहस्थाश्रममें रहकर, पुत्र हो जानेके पश्चात्, गृहस्थीसे अलग होकर उसने तपस्या की। इन सब कथाओंसे प्रकट होता है कि, युधिष्ठिरने ब्राह्मणके जो लक्षण बतलाये हैं वे शान्ति, दया, दान, सत्य, तप और धर्म आदि गुण ब्राह्मणमें सचमुच थे। उक्त गुणोंके कारण लोग ब्राह्मणोंको सिर्फ आदरकी ही दृष्टिसे न देखते थे, बल्कि तप-सामर्थ्यके कारण ब्राह्मणोंमें वे विलक्षण शक्ति भी मानते थे। स्वभावतः लोगोंकी यह धारणा हो गई थी कि, वसिष्ठकी तरह नाना प्रकारके सुख-साधन केवल अपनी इच्छासे अपने लिये नहीं, किन्तु औरोंके उपयोगके लिये, उत्पन्न करनेकी शक्ति ब्राह्मणोंमें है। इतिहासके जमानेमें भी कई बार देखा जाता है कि सदाचार और तपमें कुछ अद्भुत सामर्थ्य है। फिर प्राचीन कालमें उसके सम्बन्धमें उससे भी अधिक कल्पना रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं। वसिष्ठका प्रभाव देखकर विश्वामित्रने आखिर यही कहा—"धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।" अस्तु; इस प्रकार सदाचार, इन्द्रिय-दमन, शान्ति और संसारसे विराग आदि गुणोंसे ब्राह्मणोंका आध्यात्मिक तेज सहज ही बढ़ता गया और उनके विषयमें लोगोंका पूज्य भाव हो गया; सब वर्णों पर ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठताकी छाप लग गई; और इसी कारण वर्ण-विभागके लिये एक प्रकारसे अधिक सहायता मिल गई।

चातुर्वर्ण्यकी ऐतिहासिक उत्पत्ति।

हिन्दुस्तानके प्राचीन कालसे ऐतिहासिक रीति पर विचार करते समय ऊपर किये हुए विवेचनके सारांशसे पाठक इस बातकी कल्पना कर सकेंगे कि वर्ण-व्यवस्थाकी उत्पत्ति क्योंकर हुई। जिस समय हिन्दुस्तानमें आर्य लोग पहले-पहल आये, उस समय उनमें ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दो हो गये थे। वेद-विद्या पढ़कर यज्ञ-याग आदिके समय ऋत्विजका काम करनेके कारण ब्राह्मणोंको बड़प्पन मिला और उनकी स्वतन्त्र जाति बन गई। ब्राह्मणोंके ये काम कठिन थे। विश्वामित्रवाली कथासे प्रकट होता है कि उस

समय यह जाति अभेद्य न थी; अर्थात्, और लोग क्षत्रिय जातिवाले, इच्छा और सामर्थ्य होने पर, ब्राह्मण बन सकते थे। पञ्जाबमें आर्योंकी बस्ती हो जाने पर जिन्होंने खेती करना शुरू कर दिया, उनकी आपही एक अलग जाति हो गई। वह विश् या वैश्य है। पञ्जाबमें इस प्रकार भिन्न भिन्न रोज़गारोंके कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन जातियाँ हो गईं। किन्तु अभीतक तीन वर्ण न थे। तीनों जातियों के लोग आर्य ही थे और उनका वर्ण भी एक ही था; अर्थात् वे गोरे थे। इनका तीनों भिन्न जातियोंमें परस्पर बेटी-व्यवहार होता था; अर्थात् बहुधा अनुलोम रीतिसे ब्राह्मण तीनों वर्णोंकी बेटियाँ लेते थे और क्षत्रिय दो वर्णोंकी। इसके अनन्तर धीरे धीरे हिन्दुस्तानमें आर्योंकी बस्ती बढ़ने लगी और फिर चन्द्रवंशी आर्य भी आ गये; गङ्गा-यमुनाके प्रदेशमें उनके राज्य स्थापित हो गये। उस समय आर्योंकी समाज-व्यवस्थामें हिन्दुस्तानके मूल-निवासियोंकी पैठ हो गई और उनका उपयोग साधारणतः सब प्रकारके दास-कर्ममें होने लगा; और शूद्र यानी तीनों जातियोंकी शुश्रूषा करनेवाली चौथी जाति बन गई। धीरे धीरे ऊपरकी जातिवाले शूद्रा स्त्रियोंको ग्रहण करने लगे। अब यहींसे वर्णकी उत्पत्ति हुई। आर्य जातिवालोंका रङ्ग गोरा और शूद्र जातिवालोंका रङ्ग काला था। इस कारण वर्ण (रङ्ग) को जातिका स्वरूप प्राप्त हो गया। पाश्चात्य देशोंमें भी जिस समय आर्य पाश्चात्योंका नीग्रो लोगोंसे सम्बन्ध हुआ, उस समय कलर अथवा वर्णको जातिका स्वरूप प्राप्त हो गया। इसी प्रकार वैदिक-कालमें कृष्ण-वर्ण शूद्रोंके सम्बन्धसे वर्ण अर्थात् जातिका भेद उपजा। फिर यह झगड़ा खड़ा हुआ कि शूद्रा स्त्री ग्रहण की जाय या नहीं। इसके पश्चात् शूद्रा स्त्रीकी सन्तानका दर्जा कम माना गया और इस कारणसे और भी भिन्न भिन्न जातियाँ उत्पन्न हो गईं। आर्योंकी सभ्यता और बुद्धिमत्ता भी शूद्रोंकी बुद्धि और रहन-सहनसे उच्च थी, इस कारण शूद्रा स्त्री-से उत्पन्न सन्ततिको घटिया माननेका रवाज निकला; तथा उग्र, पारशव आदि जातियाँ बन गईं। वैश्य यदि शूद्रा स्त्रीको ग्रहण कर लेते थे तो उनकी सन्तति वैश्य ही मानी जाती थी, इस कारण वैश्योंके रङ्गमें बहुत फ़र्क पड़ गया और वैश्य-वर्ण पीला माना गया। क्षत्रियोंके रङ्गमें भी ऐसा ही फ़र्क पड़ता गया और उनकी रङ्गत लाल समझी गई। परन्तु इन वर्णों—रङ्गों—का यह मोटा हिसाब है। यह बात नहीं कि इसके अपवाद न हों।

सबसे मुख्य बात यह है कि आर्य जातिवालोंके और शूद्र जातिवालोंके वर्ण (रङ्ग) और संस्कारोंमें जैसा फ़र्क था, वैसा ही फ़र्क नीतिमत्तामें भी था; और आर्योंकी यह धारणा बहुत ही उदात्त थी। उन्होंने जेता (विजयी) होनेके कारण ही बड़प्पनको न हथिया लिया; बल्कि इसका कारण उनकी यह कल्पना थी कि हम नीतिमें भी शूद्रोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। और, उनका आचरण भी सचमुच उसी प्रकार-का था। वे आर्योंको सब अच्छे गुणोंसे युक्त और अनार्योंको बुरे गुणोंसे युक्त पुरुष समझते थे। आर्य शब्दका बहुत कुछ अर्थ बदल गया और उसका सम्बन्ध नीतिमत्तासे जुड़ गया। इसी कारण आर्योंसे अनार्योंका सम्बन्ध अनिष्ट समझा गया। वे समझते थे कि इससे नीतिमें भी बट्टा लग जायगा। वर्ण-सङ्करके सम्बन्धमें उन्हें जो आशङ्का थी, उसका कारण यही था कि आर्य वर्णके लोग नीति-

में उच्च थे: शूद्र वर्णसे यदि उनका सङ्कर हो तो उनकी सन्तान आचरणमें भी नीच होगी। इसलिये यह नियम हो गया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, शूद्रा स्त्रीको ग्रहण न करें। इस नियमके बन्धनकी न्यूनाधिकताके कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें भी दिन पर दिन अधिक भेद बढ़ता गया। ब्राह्मणोंका आचरण अत्यन्त श्रेष्ठ था, इस कारण समाजमें उनके प्रति आदर बढ़ने लगा। ब्राह्मणोंकी शान्ति, उनका तप और संसारसे उनकी विरक्ति आदि गुणोंने उनके वर्णको श्रेष्ठ कर दिया। इस प्रकार चातुर्वर्ण्यकी ऐतिहासिक उत्पत्ति देख पड़ती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्ण, आनुवंशिक स्वभावके कारण उत्पन्न हुए और उनमें प्रतिलोम विवाह पर तो ख़ास नजर रक्खी गई। ब्राह्मण स्त्रीकी शूद्र पतिसे उत्पन्न सन्तान अत्यन्त निन्द्य समझी जाकर चाण्डालोंमें मानी गई। इसी प्रकार क्षत्रिय स्त्रीकी शूद्र पुरुषसे उपजी हुई सन्तति धर्मबाह्य निषाद मानी गई। ऊपरके तीन वर्णोंमें प्रतिलोम विवाहसे उत्पन्न सन्तान भिन्न जातिकी तो मानी गई, परन्तु ऊपर बतलाई हुई शूद्र सन्ततिकी तरह धर्मबाह्य नहीं समझी गई। इस प्रकार वर्णों और भिन्न भिन्न जातियोंकी उत्पत्तिका पता ऐतिहासिक रीतिसे मिलता है। अब यह देखना है कि महाभारतमें वर्णोंकी कैसी उपपत्ति बतलाई है; और फिर ऊपर लिखी हुई उपपत्तिके साथ उसका मेल मिलाया जायगा।

महाभारतका सिद्धान्त।

शान्ति पर्वके १८८ वें अध्यायमें वर्णन किया गया है कि—"ब्रह्माने पहले ब्राह्मण ही उपजाये, और फिर उनको स्वर्ग-प्राप्ति होनेके लिये उसने सत्य, धर्म, तप, वेद, आचार और पवित्रताको सिरजा। इसके पश्चात् मनुष्योंके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण तथा सत्वादि गुणोंसे युक्त अन्य प्राणिवर्गोंके वर्ण उसीने उत्पन्न किये। ब्राह्मणोंका वर्ण (रङ्ग) शुभ्र है, क्षत्रियोंका लाल, वैश्योंका पीला और शूद्रोंका काला होता है।" यह कहकर एक शङ्का खड़ी कर दी है कि—"ब्राह्मण आदि चार वर्णोंमें परस्पर जो भेद है, उसका कारण यदि श्वेतादि वर्ण (रङ्ग) हों तो फिर सभी वर्ण सङ्कीर्ण हैं: क्योंकि प्रत्येक वर्णमें भिन्न भिन्न रङ्गोंवाले आदमी मिलते हैं। सिर्फ़ रङ्गसे ही वर्ण-भेद नहीं माना जा सकता और कारणोंसे भी वर्णमें भेद नहीं माना जा सकता: क्योंकि ब्राह्मण आदि सब वर्णों पर काम, क्रोध, भय, लोभ, शोभ और चिन्ताका एकसा ही असर है। फिर वर्ण-भेद रहनेका क्या कारण है? ब्राह्मण आदि सभी वर्णवालोंके शरीरसे पसीना, पेशाब, मल, कफ, पित्त और रक्त एक ही सी रीतिसे बाहर निकलते हैं: फिर वर्ण भेद माननेकी ज़रूरत?" भृगुने इसका यह उत्तर दिया है—"सारा संसार पहले ब्राह्मण ही था: किन्तु कर्मके अनुरोधसे उसे वर्णका स्वरूप प्राप्त हुआ। ब्राह्मणोंमें जो लोग रजोगुणी थे, वे विषय भोगनेकी प्रीति, क्रोध करनेकी आदत और साहस-कर्मके प्रेमके कारण क्षत्रिय हो गये। रज और तमके मिश्रणके कारण जो ब्राह्मण पशुपालन और खेतीका रोज़गार करने लगे, वे वैश्य बन गये और जो तमोगुणी होनेके कारण हिंसा तथा असत्य पर आसक्त हो गये तथा मनचीते कामों पर उपजीविका करने लगे, वे शूद्र हुए। मतलब यह कि कर्मके योगसे एक ही जातिके भिन्न भिन्न वर्ण हो गये"। इस विवेचनमें वर्णोंकी उपपत्ति सत्व, रज

और तमसे लगाई गई है। इसका भी तात्पर्य ऊपरवाली ऐतिहासिक उपपत्तिसे मिलता-जुलता है। सत्त्वका रङ्ग सफ़ेद, रजका लाल और तमका काला होता है। रज और तमके मेलका रङ्ग पीला होता है। सत्त्व-रज-तमके काल्पनिक रङ्गोंके आधार पर वर्णोंकी कल्पना की गई है; फिर भी उसमें स्वभाव-भेदकी असल बात छूटने नहीं पाई। ब्राह्मण सत्त्वशील होते हैं, शूद्र तमोयुक्त होते हैं और क्षत्रिय रजोयुक्त रहते हैं, इत्यादि वर्णनोंमें वर्णोंके स्वभाव-भेदका अस्तित्व मान्य किया गया है। इसमें दो वंशोंकी विभिन्न नीतिमत्तासे ही उनके उच्च-नीच भाव निश्चित करनेका प्रयत्न किया गया है। इसमें यह बात मान्य की गई देख पड़ती है कि असलमें एक ही जाति थी; आगे चलकर भिन्न भिन्न स्वभावोंके अनुसार वंश अर्थात् वर्णका भेद पड़ गया। वर्णके लिये गुण स्वाभाविक हैं, यह सिद्धान्त विशेषतः ब्राह्मण और शूद्र वर्णोंके लिये ही उपयुक्त होगा। एक सत्त्वप्रधान था तो दूसरा तमःप्रधान। युधिष्ठिरके उत्तरमें ब्राह्मणमें जो सत्य और तप आदि गुण कहे गये हैं, वे ही यहाँ भी कहे गये हैं।

विवाह-बन्धन।

चातुर्वर्ण्यकी उत्पत्ति कैसी ही क्यों न हो, इसमें सन्देह नहीं कि **महाभारतके पूर्वकाल**से हिन्दुस्तानमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी। और यह भी मान्य करना होगा कि इस व्यवस्थाका मूल बीज जो रङ्गका फ़र्क़ या सभ्यताका भेद है, वह महाभारतकालीन स्थितिमें न था। क्योंकि ऊपर शान्ति पर्वका जो अवतरण दिया गया है, उसीमें यह बात मानी गई है कि सब वर्णोंमें सभी रङ्ग पाये जाते हैं और काम-क्रोध आदिकी प्रबलता भी सब जगह है। परन्तु इन दोनों बातोंका थोड़ा-बहुत स्वरूप महाभारत-कालमें भी स्थिर रहा होगा। बिना इसके ब्राह्मणोंके विषयमें पूज्य बुद्धि स्थिर न रही होती। ख़ैर; इस बातको अलग रखकर यह मान्य करना चाहिए कि इन वर्णोंमें परस्पर बेटी-व्यवहार करनेका बन्धन महाभारतके समय मौजूद था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रतक साधारण रीति पर, अपनी ही जातिमें विवाह करते थे। मेगास्थिनीज़ने इस समयका जो वर्णन किया है, उससे भी यही बात मालूम होती है। वह कहता है—"ये जातियाँ आपसमें ही विवाह करती हैं। सिर्फ़ ब्राह्मणोंको उच्च वर्ण होनेके कारण, सब जातिकी स्त्रियाँ ग्रहण करनेकी स्वतन्त्रता है।" सम्भव है, उसकी वह जानकारी अपूर्ण हो, और क्षत्रिय तथा वैश्य भी अपनेसे नीची जातियोंकी स्त्रियाँ ग्रहण करते रहे हों। परन्तु समस्त प्रमाणों पर विचार करनेसे स्पष्ट होता है कि महाभारतके समय ब्राह्मण लोग ऐसे अनुलोम विवाह प्रत्यक्ष किया करते थे और अनु० पर्वके ४४ वें अध्यायमें स्पष्ट वचन भी है। पूर्व समयमें ब्राह्मणकी तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंसे उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण मानी जाती थी; किन्तु आगे फिर यह नियम सङ्कुचित होता गया और महाभारतके समय ब्राह्मणी तथा क्षत्रिया स्त्रीसे उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण मानी जाती थी। विलोम और अनुलोम सम्बन्धोंके कारण कुछ तो धर्मबाह्य और कुछ शुद्धाचारयुक्त जातियाँ बन गई थीं। उनमें अपनी अपनी जातिमें ही विवाह होते थे। विश्वामित्रके उदाहरणसे देख पड़ता है कि प्राचीन कालमें नीच वर्णसे उच्च वर्णोंमें जानेका रवाज था। किन्तु महाभारतके समय यह बात न रही होगी; क्योंकि विश्वामित्र-

के सम्बन्धमें अनुशासन पर्वके तीसरे और चौथे अध्यायमें एक नवीन कथा है। वह कथा ख़ास इसी बातको दर्शाती है। युधिष्ठिरने अचानक यह प्रश्न किया—"हे भीष्म, यदि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको ब्राह्मण्य दुर्लभ है तो फिर विश्वामित्र ब्राह्मण कैसे बन गये? विश्वामित्रका अद्भुत प्रताप है। क्षत्रिय होकर भी वे ऐसे ऐसे काम क्योंकर कर सके? अन्यान्य योनियोंमें प्रवेश किये बिना ही इसी देहसे उन्हें ब्राह्मण्य-प्राप्ति कैसे हो गई?" भीष्मने इसका जो उत्तर दिया है, उसमें यह कथा है कि भृगु ऋषिके पुत्र ऋचीकको गाधिकी बेटी ब्याही थी। गाधिके बेटा न था। तब गाधिकी स्त्री—ऋचीककी सास—ने ऋचीकसे पुत्र माँगा। इधर ऋचीककी स्त्रीने भी पुत्र माँगा: तब ऋचीकने दोनोंको मन्त्रित चरु दिया। अपनी स्त्रीको तो ब्रह्म-तेजसे अभिमन्त्रित चरु दिया और सासको क्षात्र-तेजसे मन्त्रित करके चरु दिया। उन मा-बेटीने अपना अपना चरु अदल बदलकर खा लिया। इस कारण ऋचीककी स्त्रीसे क्षत्रियांशी ब्राह्मण परशुराम जनमे और गाधिकी स्त्रीके ब्राह्मतेज-युक्त विश्वामित्र हुए। ब्राह्मण-वंशमें क्षत्रियोंका पराक्रम करनेवाले परशुराम कैसे उपजे और क्षत्रियके घर ब्राह्मणका पराक्रम करनेवाले विश्वामित्र क्योंकर हुए, इन दोनों बातोंका खुलासा यहाँ हो गया। यह खुलासा पीछेसे किया हुआ जान पड़ता है। पूर्वकालमें क्षत्रियसे ब्राह्मण बन जानेके कुछ उदाहरण हम आरम्भमें दे ही चुके हैं: परन्तु आगे चलकर यह चाल बन्द हो गई होगी। साफ़ देख पड़ता है कि महाभारतके समय अन्य जातिका मनुष्य ब्राह्मण न हो सकता था। न सिर्फ़ यही, किन्तु न तो वैश्य क्षत्रिय हो सकता था और न शूद्र वैश्य वर्णमें दाख़िल हो सकता था। कोई जाति अथवा वर्ण अपना वर्ण या जाति न छोड़ सकती थी। कमसे कम चार वर्ण तो अभेद्य हो ही गये थे और उनके सङ्करसे उपजी हुई जातियोंका भी यही हाल था। इससे समाजमें एक तरहके झगड़ेका स्वरूप स्थिर हो गया था सही, तथापि ब्राह्मण वर्णको अपनेसे नीचेके तीनों वर्णोंकी स्त्रियाँ ग्रहण करनेका अधिकार था। इससे प्रकट है कि क्षत्रियोंको नीचेके दो वर्णोंकी स्त्रियाँ ग्रहण करनेका अधिकार रहनेसे समाजमें पूरी पूरी विभक्तता न थी। इसके सिवा शुरू शुरूमें ब्राह्मणोंकी, क्षत्रिय और वैश्य स्त्रियोंसे उत्पन्न सन्तान भी ब्राह्मण मानी जाती थी। विरोधको घटानेके लिये यह बात अनुकूल थी: किन्तु महाभारतके समयमें ही थोड़ासा सङ्कोच करके तय कर दिया गया कि ब्राह्मणकी, ब्राह्मणी और क्षत्रिया स्त्रीसे उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण होगी। जो सन्तान वैश्य स्त्रीसे हुई उसकी जाति भिन्न हो गई।

शान्ति पर्वके २४६ वें अध्यायमें वे सब जातियाँ गिनाई गई हैं जो महाभारतके समय अस्तित्वमें थीं। मुख्य वर्ण चार थे और उनके सङ्कर अथवा मिश्रणके कारण अधिरथ, अम्बष्ठ, उग्र, वैदेह, श्वपाक, पुल्कस, स्तेन, निषाद, सूत, मगध, आयोगव, करण, व्रात्य और चाण्डाल आदि प्रतिलोम और अनुलोम विवाहसे उत्पन्न जातियाँ बतलाई गई हैं। इसी अध्यायमें इस प्रश्नका भी निर्णय कर दिया गया है कि जातिकी हीनता कर्म पर अवलम्बित रहती है या उत्पत्ति पर। साफ़ कहा गया है कि कर्म और उत्पत्ति दोनों कारण मुख्य हैं। "यदि किसीके हिस्सेमें हीन जाति और हीन कर्म दोनों आ गये हों, तो वह जातिकी

परवा न करके हीन कर्मका त्याग कर दे। ऐसा करनेसे उसकी गणना उत्तम पुरुषोंमें होने लगेगी। इसके विपरीत, यदि जाति तो उच्च हो परन्तु कर्म हो हीन, तो उस मनुष्यको हीनता प्राप्त होती है।" तात्पर्य यह है कि यहाँ कर्मकी प्रशंसा योग्य रीतिसे की गई है, परन्तु साथ ही जाति की जन्मसिद्धता भी मान्य की गई है। यहाँ पर प्रश्न किया है कि—"अनेक ऋषि हीन जातिमें उत्पन्न होकर भी श्रेष्ठ वर्णमें कैसे पहुँच गये? अपने ही जन्ममें उत्तम वर्ण कैसे पा गये?" इसका उत्तर इसी अध्यायमें है कि—"मुनियोंने अपने तपके सामर्थ्यसे मनमाने क्षेत्रमें बीजारोपण करके अपनी सन्तानको ऋषित्व पर पहुँचा दिया।" अर्थात् महाभारत-प्रणेता यह कहते हैं कि पुराने ऋषियोंका उदाहरण देना न्याय्य नहीं है। सारांश यह है कि सौतिके समय वर्ण और जातियाँ अभेद्य हो गई थीं; और ब्राह्मण आदि वर्णोंमें उत्पन्न होनेवाले ही अपने अपने उत्पादक बापके वर्णके माने जाते थे।

पेशेका बन्धन।

इस प्रकार यहाँतक वर्ण-व्यवस्थाके प्राचीन स्वरूप पर विचार किया गया। इस बातका भी विचार किया गया कि विवाहके कौन बन्धन किस प्रकार उत्पन्न हुए; आरम्भमें, वैदिक कालमें, वर्ण-व्यवस्थाका कैसा स्वरूप रहा होगा; तथा सौतिके समय अर्थात् महाभारतके समय उसकी क्या दशा थी। अब इस वर्ण-व्यवस्थाका दूसरा पहलू देखना है और इस बातकी खोज करनी है कि किस वर्णको कौन कौन व्यवसाय करनेका अधिकार अथवा स्वाधीनता थी। यह तो पहले ही लिखा जा चुका है कि जातिके मुख्य बन्धन दो हैं। जिस प्रकार जातिके बाहर विवाह करनेकी मनाही थी, उसी प्रकार यह भी नियम था कि जातिका पेशा छोड़कर दूसरा पेशा न करना चाहिये। तब, प्रत्येक जातिके लिये कौन पेशे मुक़र्रर थे और उनके लिये कोई अपवाद भी थे या नहीं,—इस सम्बन्धमें विचार करनेसे अचरज होता है कि जो अपवाद विवाहके सम्बन्धमें था वही पेशेके सम्बन्धमें भी था। यह कड़ा नियम था कि कोई वर्ण, आपत्कालमें, अपनेसे नीचे वर्णका कोई व्यवसाय कर ले; यानी अनुलोम व्यवसाय कर ले। पर वह अपनेसे ऊपरवाले वर्णका व्यवसाय न करे अर्थात् प्रतिलोम व्यवसाय न करे। चारों वर्णोंके व्यवसाय महाभारतमें भिन्न भिन्न स्थलोंमें कथित हैं। संक्षेपमें वे यों हैं:—ब्राह्मणके छः काम थे। पठन-पाठन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह। इससे ब्राह्मण षट्कर्मोंका अधिकारी कहा जाता था। क्षत्रियके लिए यजन, अध्ययन और दान करनेकी स्वाधीनता थी; उसका विशेष कर्म प्रजापालन और युद्ध था। वैश्योंको भी उक्त तीन कर्म करनेका अधिकार था और उनके लिए तीन विशेष काम—कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य थे। शूद्रोंका काम सिर्फ़ एक ही—तीनों वर्णोंकी शुश्रूषा करना था। उनके लिए अध्ययन, यजन और प्रतिग्रह बन्द थे। यहाँतक कि शूद्र-वर्ण आर्य-वर्णके बाहर था। वेदके अध्ययन करनेका अधिकार त्रिवर्ण अर्थात् आर्योंको ही था। वैदिक संस्कारोंका अधिकार भी इन्हींको था। इससे स्पष्ट देख पड़ता है कि आर्योंका वंश जुदा था और उनकी नीति तथा सभ्यता एवं जेताकी हैसियतसे उनके अधिकार भिन्न थे। शूद्रोंको उन्होंने समाज-व्यवस्थामें ले लिया; पर यह काम उन्होंने सिर्फ़

शुश्रूषा करानेके लिये और इस प्रेमसे भी किया कि हम सब एक देशमें बसने हैं। हम ज़रा विस्तारसे देखेंगे कि भिन्न भिन्न मुख्य और सङ्कर वर्णोंके कौन कौनसे व्यवसाय थे; और फिर हर एकके व्यवसायका अलग विचार करेंगे।

ब्राह्मणोंके व्यवसाय।

ब्राह्मणोंका आद्य कर्त्तव्य था अध्ययन करना। वेदोंका अध्ययन करके उनकी रक्षा करनेका कठिन काम उन्होंने स्वीकार किया था। यह काम उनकी पवित्रता और बड़प्पनके लिये कारणीभूत हो गया था। महाभारतमें स्थान स्थान पर यह कहा गया है कि वेदाध्ययन और सदाचारमें ही उनका सारा कर्त्तव्य था। वेदोंका अध्ययन करनेकी स्वाधीनता यद्यपि तीनों वर्णोंको थी, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणोंने उस कामको उत्तम रीतिसे किया। वेदोंके साथ साथ अन्य विद्याओंका भी अध्ययन ब्राह्मणोंको करना पड़ता था। क्योंकि अध्ययनका काम ब्राह्मणोंके विशेष कर्त्तव्यमें था। ब्राह्मण-गुरु सभी वर्णोंके अध्यापक थे। इससे प्रकट है कि भिन्न भिन्न वर्णोंके भिन्न भिन्न व्यवसायोंके लिये आवश्यक विद्याएँ ब्राह्मणोंको सीखनी पड़ती थीं। सारांश यह कि विद्यार्जन करने और विद्या सिखानेका सबसे बढ़कर कठिन काम ब्राह्मणोंने स्वीकार कर लिया था। अर्थात् ब्राह्मणोंके भरण-पोषणका बोझ समाजके सब लोगों पर था। अध्ययन और अध्यापनका काम ले लेने पर अपनी गुज़र करनेकी ओर उनका ध्यान जा न सकता था। इस कारण ब्राह्मणोंकी गृहस्थीका खर्च चलानेका बोझ लोगों पर, विशेषतः समाज पर, था।

ब्राह्मणोंका दूसरा काम था यजन और याजन। यजन यानी यज्ञ। पूर्व कालमें यह नियम था कि प्रत्येक गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण अग्नि स्थापित करके रोज उसकी पूजा और होम करे। वैदिक कालमें प्रत्येक ब्राह्मण अपने अपने घर अग्नि स्थापित कर होम-हवन किया करता था। कैकेय उपाख्यान (शान्ति पर्व अ० ७८) में कैकेय राजाने कहा है कि—"मेरे राज्यमें ऐसा एक भी ब्राह्मण नहीं जो विद्वान् न हो, जिसने अग्न्याधान न किया हो अथवा जो यज्ञशील न हो।" पूर्वकालमें अग्नि-स्थापन करके यज्ञ करना गृहस्थाश्रमी ब्राह्मणका मुख्य कर्तव्य माना जाता था। याजन अर्थात् जब क्षत्रिय और वैश्य यज्ञ करें तब ऋत्विजका कार्य ब्राह्मण करें। क्षत्रियोंको ऋत्विज्य करनेकी मनाही थी। विद्वान ब्राह्मणोंके निर्वाहके लिये यह समाज-व्यवस्था थी। इसी प्रकार ब्राह्मणको दान और प्रतिग्रहका अधिकार था। प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना ब्राह्मणोंका विशेष कर्तव्य था; यानी दान लेनेका अधिकार ब्राह्मणोंके सिवा औरोंको न था। ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन करनेमें उलझे रहते थे, इस कारण वे अपने निर्वाहकी ओर ध्यान न दे सकते थे। इसलिये उन्हें प्रतिग्रहका अधिकार दिया गया था। समाजमें जो दान-धर्म होता रहता था, उससे ब्राह्मणोंको ही लाभ होता था। इस प्रकार ब्राह्मणोंके तीन कर्तव्य और तीन ही अधिकार थे। वेद पढ़ना, अग्नि-स्थापन करना और यथाशक्ति दान करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य था, और अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह करना यह उनका विशेष अधिकार था। इन तीनों अधिकारोंके द्वारा उन्हें द्रव्य-प्राप्ति हो जाती जिससे गुज़र होती रहती थी। अब महत्त्वका प्रश्न यह है कि उक्त वर्णन निरा काल्पनिक है अथवा ऐतिहासिक। वर्ण-विभागके वर्णनमें सारा महाभारतमें यह वर्णन

आता है; परन्तु यह भी देखना चाहिये कि दर-असल बात क्या थी। महाभारतमें कहीं ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसमें अन्य वर्णोंने ब्राह्मणोंके विशेष अधिकारोंसे काम लिया हो। विश्वामित्रने सूर्यवंशी त्रिशङ्कु और कल्माषपाद आदि राजाओंका याजन किया था अर्थात् उन्हें यज्ञ कराया था। परन्तु वह तो उस समय ब्राह्मण हो गया था। कहीं उदाहरण नहीं मिलते कि और लोगोंने प्रतिग्रह लिया हो। अध्यापन भी ब्राह्मण ही कराते थे। और और वर्णोंको उस उस वर्णकी विद्या ब्राह्मण ही पढ़ाते थे। कौरवोंको धनुर्विद्या सिखाने पर ब्राह्मण द्रोण नियुक्त हुए थे। उस कैकेयोपाख्यानमें यह भी कहा है कि—'मेरे राज्यमें क्षत्रिय न तो किसीसे याचना करते हैं और न अध्यापन कराते हैं। वे दूसरोंको यज्ञ-याग भी नहीं करवाते।' मतलब यह कि महाभारतके समयतक ब्राह्मणोंके विशेष अधिकारोंको न किसीने छीना था और न उनसे काम लिया था। अब देखना चाहिये कि ब्राह्मण अपने कर्तव्योंको कहाँ-तक करते थे। यह बात नहीं कि सभी ब्राह्मण वेदाध्ययन करते रहे हों और अग्नि सिद्ध रखते हों। ऐसे, कर्मोंका त्याग करनेवाले, ब्राह्मण समाजमें थे। यह बात तो साफ़ कह दी गई है कि वेदाध्ययन और अग्न्याधान न करनेवाले ब्राह्मण शूद्रतुल्य समझे जायँ और धर्मात्मा राजा उनसे कर वसूल करे तथा बेगारके काम भी करावे। इससे ज्ञात होता है कि स्वकर्मनिरत ब्राह्मणोंसे कर नहीं लिया जाता था और बेगार भी माफ़ थी। नहुष राजाने ऋषियोंको अपनी पालकीमें लगा दिया था। भले ही उसने यह अपराध किया हो, किन्तु महाभारतके समयमें यह तत्त्व मान्य था कि केवल ब्राह्मणके नाते जो सुबिधायें ब्राह्मणोंको दी गई हैं उनसे प्रत्येक ब्राह्मण लाभ नहीं उठा सकता। अपना कर्तव्य न करनेवाले ब्राह्मण प्रत्यक्ष शूद्र-तुल्य माने जाते थे। ब्राह्मण जो और और काम करते थे उनका उल्लेख भी इस अध्यायमें है (शान्ति० अ० ७६)। मासिक लेकर पूजा करने, नक्षत्र-ज्ञान पर जीविका चलाने, समुद्रमें नौकाके द्वारा जाना आदि व्यवसाय करनेवाले, इसी तरह पुरोहित, मन्त्री, दूत, वार्ताहर, सेनामें अश्वारूढ़, गजारूढ़, रथारूढ़ अथवा पदाति प्रभृति नौकरी करनेवाले ब्राह्मण उस समय थे। राष्ट्रमें यदि ब्राह्मण चोरी करने लग जाय तो यह राजाका अपराध माना जाता था। "वेदवेत्ता ब्राह्मण चौर्य-कर्म करने लगे तो राजा उसका निर्वाह करे। ऐसा करने पर भी यदि वह उस कामको न छोड़े तो उसे राष्ट्रसे निकाल दे।" इस प्रकार ब्राह्मण लोग, आजकलकी भाँति, तरह तरहके व्यवसाय उन दिनों भी करते थे।

यह बात नहीं कि इस प्रकारके रोज़-गारोंको ब्राह्मण लोग सिर्फ़ आपत्तिके कारण ही करते थे; किन्तु इसका कारण तो स्वभाव-वैचित्र्य ही था। ब्राह्मणोंमें स्वभावसे ही जिस वैराग्य और शान्तिका प्रभाव रहना चाहिए, उसकी कमी हो गई थी और लोगोंके भिन्न भिन्न काम करके, अपनी व्यावहारिक स्थितिको उत्कर्ष पर पहुँचानेका साहजिक मोह ब्राह्मणोंको होता था। यह आज्ञा थी कि आपत्ति आने पर ब्राह्मण अपनेसे नीचे वर्णके धर्मका अवलम्ब करके गुज़र कर ले। अर्थात्, उसे क्षत्रियका काम करके सेनामें नौकरी कर लेनेकी इजाज़त थी। प्राचीन कालमें क्षत्रिय-वृत्तिके ब्राह्मण बहुत रहे होंगे। एक तो ब्राह्मण और क्षत्रियके बीच प्राचीन कालमें भेद ही थोड़ा था; दूसरे ब्राह्मण

लोग क्षत्रिय-स्त्रियोंको ग्रहण करते थे; इस कारण क्षत्रियोत्पन्न ब्राह्मण सहज ही क्षत्रिय-वृत्तिकी ओर झुक जाते थे। ब्राह्मण आपत्कालमें वैश्य-धर्मका अवलम्ब करे या नहीं? यह प्रश्न युधिष्ठिरने भीष्मसे किया है (शान्ति प० अ० ७८)। भीष्मने इसका यह उत्तर दिया है कि ऐसे समय पर ब्राह्मणको **कृषि और गोरक्षा** से जीविका कर लेनी चाहिए। लेकिन एक शर्त है। ब्राह्मण यदि क्षात्र-धर्म वर्तनेमें असमर्थ हो तभी इस तरहसे गुज़र करे। ख़रीद-फ़रोख्त कर लेनेकी भी आज्ञा थी, परन्तु शहद, नमक, पशु, मांस और पका-पकाया भोजन बेचनेकी मनाही थी। अर्थात्, महाभारतकालमें ब्राह्मण लोग न सिर्फ़ सिपहगिरी करते थे बल्कि खेती, गोरक्षा और दूकानदारी आदि, आजकल-की तरह, तब भी किया करते थे। किन्तु बहुधा ये काम वे आपत्तिके समय ही करते थे।

क्षत्रियोंका काम।

अब क्षत्रियोंके व्यवसायका विचार करना है। उनको अध्ययन, यजन और दानका अधिकार था। वेदाध्ययन करके अपने घर अग्नि स्थापित करके होम-हवन करने और यथा-शक्ति दान देनेका उनको अधिकार था। किन्तु यह उनका व्यवसाय न था। ब्राह्मणोंकी तरह, इन कामोंके द्वारा, वे अपनी गुज़र न कर सकते थे। यह मान लेनेमें कोई हानि नहीं कि क्षत्रिय लोग पुराने ज़मानेमें ख़ासा वेदाध्ययन करते थे और होम-हवन भी स्वयं समझ बूझकर कर लेते थे। महाभारतमें वेद-पारङ्गत और यजनशील क्षत्रिय राजाओंके अनेक वर्णन हैं। पीछे जिस कैकेय आख्यानका उल्लेख किया जा चुका है, उसमें स्पष्ट कहा गया है कि मेरे राज्यमें क्षत्रिय अध्ययन करते हैं और अपने आप यज्ञ कर लेते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों और उप-निषदोंके अनेक वर्णनोंसे स्पष्ट देख पड़ता है कि पुराने ज़मानेमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों-की वेदाध्ययनमें बहुत कुछ बराबरी थी। किन्तु धीरे धीरे वेद-विद्या जैसे जैसे कठिन होती गई और यज्ञ-याग ज्यों ज्यों क्लिष्ट होते गये, वैसे ही वैसे ये काम विशेष जातिके हो गये। क्षत्रियोंमें इन कामोंकी प्रवृत्ति घट गई। महाभारत-कालमें क्षत्रियोंका वेद-प्रावीण्य कम हो गया होगा। क्योंकि युधिष्ठिरके वेदमें प्रवीण और यज्ञ आदि कर्ममें कुशल होनेकी प्रशंसा करना तो एक ओर रहा, उलटे महाभा-रतमें दो एक स्थानों पर ये काम जाननेके कारण उसकी निन्दा की गई है। महा-भारत-कालमें सामान्य रूपसे सभी क्षत्रिय यदि वेदमें प्रवीण होते, तो इस तरह निन्दा करनेकी बात किसीके मनमें न उपजती। अर्थात् सौतिके समय वेद-विद्या पढ़नेकी रुचि क्षत्रियोंमें घट गई थी। क्षत्रियोंका विशेष व्यवसाय था—प्रजा-पालन और युद्ध। युद्धमें शूरता प्रकट करना क्षत्रियका ही काम था। इस काम-को वे बहुत दिनोंसे, बहुत अच्छी तरह-से करते आ रहे थे। क्षत्रियोंकी 'युद्धे चाप्यपलायनं' वृत्ति **साहजिक** थी। हथियारोंका पेशा इन्होंने चलाया था। किन्तु इस पेशेको कुछ ब्राह्मण भी करते थे। इसके सिवा शास्त्रकी आज्ञा भी थी कि विशेष आपत्तिके समय सभी जातिके लोग शस्त्र ग्रहण करें। फिर युद्धके काम-के लिए जितने मनुष्य तैयार हों, उनकी आवश्यकता थी ही। यह पेशा ही ऐसा है कि उसमें शूरोंकी ही गुज़र है। इस कारण, जिसमें शूरता हो उसे यह पेशा कर लेनेकी स्वाधीनता होनी चाहिये। महाभारतके समय अधिकांश क्षत्रिय यही

पेशा करते थे। आपत्तिके समय भी क्षत्रियको याचना न करनी चाहिये— इस धारणाके कारण, और याचनाको ब्राह्मणोंने स्वयं अपना रोज़गार मान लिया था इस कारण भी, प्रतिलोम-व्यवसायकी दृष्टिसे वह क्षत्रियोंके लिये खुला न था। क्षत्रियोंके लिये, सिर्फ़ विपत्ति-कालमें, वैश्य-वृत्ति कर लेनेकी स्वाधीनता थी। अर्थात् क्षत्रिय चाहे तो गोरक्षा करने लगे चाहे खेती। यह बात यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि महाभारत-कालमें खेती करनेवाले क्षत्रिय थे या नहीं, तथापि उनके अस्तित्वका अनुमान करनेके लिए स्थान है। युद्धके अतिरिक्त क्षत्रियोंका काम प्रजा-पालन करना था। राज्य करना क्षत्रियोंका काम है। यही उनका विशेष अधिकार है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि उस समय छोटे छोटे राज्य थे। इन छोटे छोटे राज्योंके अधीश्वर क्षत्रिय ही थे। महाभारतके समय अथवा उससे भी पूर्व, बहुत करके, सभी राजा क्षत्रिय थे। क्षत्रियोंके सिवा अन्य वर्णोंको राज्य करनेका अधिकार न था। आर्य देशमें अन्य वर्णके राज्य करनेका उदाहरणतक महाभारतमें कहीं नहीं है। लिखा है कि अश्वमेधके समय अर्जुनने आर्य राजाओं और म्लेच्छ राजाओंको जीत लिया। नहीं कह सकते कि उस समय हिन्दुस्थानमें म्लेच्छ राजा कौन कौन थे। ये म्लेच्छ राजा बहुत करके हिन्दुस्थानके बाहरके थे। उस समय उत्तर ओरके शक-यवनोंकी संज्ञा म्लेच्छ थी; यही नहीं, बल्कि दक्षिणके आन्ध्र, द्रविड़, चोल और केरल वग़ैरहकी भी यही संज्ञा थी; अर्थात् उस समयतक इनका अन्तर्भाव आर्यावर्तमें न था और इन देशोंमें आर्योंकी बस्तियाँ भी न थीं। ऐसे देशोंमें प्रजा भी म्लेच्छ और राजा भी म्लेच्छ रहे होंगे। इस प्रश्नका विचार स्थलान्तरमें किया जायगा। किन्तु यह बात कह देनी चाहिये कि आर्य प्रजाके देशमें क्षत्रिय ही राज्य करते थे। ब्राह्मण या वैश्यके राज्य करनेका उदाहरण महाभारतमें नहीं है। एक उपनिषद्में शूद्र राजाका वर्णन है और निषादोंके अधिपति गुहका वर्णन महाभारतमें है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये छोटे छोटे राज्य उन्हीं लोगोंके अर्थात् शूद्रोंके और निषादोंके ही होंगे। राज्य करनेका हक़ क्षत्रियोंका ही था, उस पर महाभारतके समय ब्राह्मण या वैश्योंने दख़ल न किया था। पहलेपहल इस अधिकारको चन्द्रगुप्त या नवनन्दने हथियाया। चन्द्रगुप्तके समय अथवा उसके पश्चात् शीघ्र ही महाभारत बना। यह साहजिक ही है कि उसमें 'नन्दान्तं क्षत्रियकुलं' इस वचनका—अगले पुराणोंकी तरह—कहीं उल्लेख नहीं है। महाभारततक परम्परा क्षत्रिय राजाओंकी ही थी। यह परम्परा आगे चलकर जो बिगड़ी तो फिर न सुधरी। चन्द्रगुप्तके राज्य हथिया लेनेपर अनेक शूद्र और ब्राह्मण राजा हो गये। फिर शक-यवन हुए, इसके बाद आन्ध्र। सारांश यह कि, राज्य, निदान सार्वभौमत्व, फिर क्षत्रिय-कुलमें हिन्दुस्थानके इतिहासमें नहीं आया। फिर भी क्षत्रियोंके छोटे छोटे राज्य हिन्दुस्थानमें सदासे थे ही। "दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्" इस गीता-वाक्यके अनुसार राज्य करनेकी वृत्ति क्षत्रियोंमें इतनी सहज और उनकी नस नसमें भरी हुई है कि आज-कल भी क्षत्रियोंका बिना राज्यके समाधान नहीं होता। फिर चाहे वह राज्य बहुत ही छोटा—एक ही गाँवका—क्यों न हो। युधिष्ठिरकी माँग इसी सहज प्रवृत्तिके अनुसार थी। उसकी सबसे अन्तिम

माँग यह थी कि—"हम पाँच भाईयोंको और नहीं तो पाँच गाँव तो दो।" इसमें उस सहज स्वभावका पूर्ण प्रतिबिम्ब आ गया है। राज्य करना क्षत्रियका सहज व्यवसाय और उद्योग था, क्योंकि उन्हें न भिक्षा माँगनी थी और न खेती करनी थी। दोनों बातोंमें उन्हें ओछापन जँचता था। तब, बिलकुल ग़रीबीमें रहनेवालों-के लिये सिपाहगिरी थी और जो लोग अच्छी स्थितिके थे, उनका कहीं न कहीं राज्य होना चाहिये। महाभारतके समय-तक उन्होंने राज्य करनेके अपने हक़की भली भाँति रक्षा की थी। इसमें ब्राह्मण या वैश्य प्रविष्ट न हुए थे।

वैश्योंका काम।

अब वैश्योंके साहजिक व्यवसाय पर विचार किया जाता है। भगवद्गीतामें वैश्यका मुख्य पेशा कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य कहा गया है। महाभारतके शान्तिपर्वमें भी यही बात लिखी है। पूर्व समयमें वैश्योंका रोज़गार खेती था और गोरक्षा अर्थात् ग्वालका पेशा भी यही लोग करते थे। परिस्थिति बहुत पुराने समयकी है। आजकलके वैश्य तो इन दो व्यवसायोंमेंसे कोई रोजगार नहीं करते। गोरक्षाका व्यवसाय कई शूद्र जातियाँ करती हैं और खेती भी शूद्र, राजपूत और ब्राह्मण आदिके हाथमें है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन कालमें ये दोनों रोज़गार आर्यवर्णी वैश्य करते थे। सौतिके समय वह परिस्थिति बदल गई होगी, क्योंकि अगले विवेचनसे स्पष्ट होगा कि उस समय शूद्रोंकी स्थिति बहुत कुछ सुधरी हुई थी। वैश्य तो सिर्फ़ वाणिज्य करते हैं। यह पेशा वे प्राचीन कालसे अबतक करते आ रहे हैं। इस पेशेमें और लोगोंका प्रवेश बहुत कम है। हज़ारों वर्षके आनुवंशिक संस्कारोंसे वैश्य लोग इस रोज़गारके काममें बहुत ही सिद्धहस्त हो गये हैं। व्यापारमें उनके साथ स्पर्धा करनेमें और वर्ण समर्थ नहीं। खैर: इस विचारको छोड़ दीजिये। वैश्य अपने मुख्य व्यवसाय वाणिज्यको प्राचीन कालसे लेकर महाभारतके समयतक करते थे। पहले बहुधा वैश्य जातिमें बहुत लोग शामिल थे, परन्तु अब यह जाति सङ्कुचित हो गई है। खेती करने-वाली अनेक वैश्य जातियाँ शूद्रोंमें गिनी जाने लगीं। इसका कारण यह है कि वेदाध्ययन और यजन, ये दो अधिकार ब्राह्मण-क्षत्रियकी तरह वैश्योंको भी प्राप्त थे: परन्तु उन लोगोंने इनकी रक्षा नहीं की। क्षत्रियोंमें वेदाध्ययन कुछ तो रहा होगा, किन्तु वैश्योंमें वह बहुत कुछ घट गया होगा: फिर भी वह बिलकुल ही लुप्त न हो गया था। व्रजके गोपीगोप वैश्य थे और भागवतमें भी गोपोंके यज्ञ करनेका वर्णन है। इसके सिवा खेतीके रोज़गारमें रात-दिन शूद्रोंका साथ रहने-के कारण भी वेदाध्ययनकी प्रवृत्ति वैश्योंमें घट गई होगी। ऐसे ऐसे कारणोंसे कई वैश्य जातियाँ अब शूद्रोंमें गिनी जाने लगी हैं। पर महाभारतके समय वे शूद्र न मानी गई होंगी। उदाहरणार्थ मूलमें जाट होंगे खेती करनेवाले वैश्य, और गूजर होंगे गोरक्षाका पेशा करनेवाले वैश्य: क्योंकि ये लोग सूरत शकलमें बिलकुल आर्य हैं। शीर्षमापनशास्त्रके पण्डितोंको भी इसमें आपत्ति नहीं है। महाभारतके ये वर्णन प्रत्यक्ष स्थिति-द्योतक हैं, किंवा परिगणित होते होते आगे आते गये हैं—यह कहना कठिन है। तथापि यह तो स्पष्ट है कि पूर्व कालमें कृषि और गोरक्षा करना वैश्योंका पेशा था।

न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥
(२७ शां० अ० ६०)

सौतिके समय इसमें थोड़ा सा उलट-फेर हो गया होगा और वैश्योंकी प्रवृत्ति केवल व्यापार अथवा वाणिज्यकी ही तरफ़ रह गई होगी।

शूद्रोंका काम।

अब शूद्रोंके कामका विचार करना है। प्राचीन कालमें शूद्रोंकी स्थिति सिर्फ़ दासोंकी थी। यह तय हो चुका था कि ये तीनों वर्णोंकी सेवा किया करें और इसीके अनुसार वे सेवा ही किया करते थे। उन्हें अध्ययन अथवा यजन करनेका अधिकार न था; न सिर्फ़ यही, किन्तु उन्हें द्रव्य सञ्चय करनेकी भी मनाही थी। उन्हें भरपेट भोजन देना और पहननेके लिए फटे पुराने कपड़े दे देना ही मालिकका कर्त्तव्य था। आगे यह स्थिति बदल ही गई होगी। उत्तरोत्तर जैसे जैसे आर्योंकी बस्ती दक्षिणकी ओर घटती गई, वैसे ही वैसे शूद्रोंकी संख्या बढ़ती गई होगी। इसके सिवा ये लोग खेती अधिकतासे करने लगे होंगे। दक्षिणकी ओरके राष्ट्रमें वैश्य आर्य कम थे; इसलिये खेतीका काम शूद्रोंको अधिकतासे करना पड़ा। इस तरह उनकी परिस्थिति बदल गई। इसीसे शूद्रोंको धन प्राप्त करनेका अधिकार मिल गया। शान्ति पर्वके ६० वें अध्यायमें कहा गया है कि राजासे अनुमति प्राप्त करके शूद्र धन-सञ्चय कर सकता है; किन्तु यह अनुमति बिना आज्ञाके भी सदाके लिये मिल गई। धीरे धीरे उन्हें द्रव्यके साथ ही यज्ञ-यागादि करनेका अधिकार मिला और दान देनेका भी अधिकार मिल गया। शर्त यह थी कि शूद्र यज्ञिय व्रतका आचरण न करके अमन्त्रक यज्ञ करें।

स्वाहाकारवषट्कारौ मन्त्रः शूद्रे न विद्यते।
तस्माच्छूद्रःपाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान् स्वयम् ॥
(३८ शां० अ० ६०)

शूद्रको स्वाहाकार, वषट्कार और वेदमन्त्रका अधिकार नहीं है। इस अध्यायमें यह बात भी कह दी है कि शूद्रोंको ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका अधिकार नहीं है। 'यजन, दान और यज्ञका अधिकार सब वर्णोंको है। श्रद्धायज्ञ सब वर्णोंके लिये विहित है', इत्यादि वचनोंसे देख पड़ता है कि आर्य धर्मकी अधिकांश क्रियाओंका—श्राद्ध आदिकका—अधिकार शूद्रोंको महाभारतके समयसे पहले ही मिल गया था। शूद्र यानी निरे दासकी परिस्थितिसे निकलकर जब शूद्रोंको स्वाधीन व्यवसाय, खेती वगैरह करनेका अधिकार मिला और वे द्रव्य-सम्पादन करने लगे, तब यह स्थिति प्राप्त हुई। किन्तु त्रैवर्णिक आर्योंने अपने वैदिक कर्मका अधिकार शूद्रोंको नहीं दिया। सिर्फ़ तीन ही वर्ण अध्ययन करनेके अधिकारी थे; अर्थात् वैदिक समन्त्रक क्रियाओंका समझना उन्हींके लिये सम्भव था। वैदिक कालसे लेकर महाभारतके समयतक शूद्रोंका पेशा और कर्मका अधिकार बहुत कुछ उच्च कोटिका हो गया।

सङ्कर जातिके व्यवसाय।

भिन्न भिन्न वर्णोंके सङ्करसे जो जातियाँ उपजीं, उनके जो विशिष्ट कर्त्तव्य अथवा व्यवसाय थे उनका भी विचार करना चाहिये। प्रतिलोम विवाहसे उत्पन्न प्रथम जाति सूतकी थी। ब्राह्मणी स्त्रीसे क्षत्रिय पति द्वारा इसकी उत्पत्ति बतलाई गई है (अनुशासन पर्व अध्याय ४८)। यहाँ सूतोंका पेशा राजाओंकी स्तुति करना बतलाया है। जान पड़ता है कि पुराणोंका अध्ययनकर कथा सुनाना भी

इनका पेशा था। जिसने महाभारतकी कथा सुनाई है, वह लोमहर्षण सूतका बेटा था। इसे पौराणिक भी कहा है। पुराणोंमें राजाओंकी वंशावलियाँ होती हैं। राजाओं और ऋषियोंकी* वंशावली रक्षित रखनेका काम सूत-पौराणिकोंका था। आजकलके भाट भी इसी पेशेके हैं। ये भी वंशावलीको रट लेते हैं और राजाओंकी स्तुति करते हैं। भाटोंको जाति ब्राह्मणोंकी ही तरह पूज्य मानी गई है। भागवतकी एक कथामें जिस प्रकार कहा है उस प्रकार लोमहर्षणको ब्राह्मण मानने-की आवश्यकता नहीं; क्योंकि सूतोंको भी तो वेदका अधिकार था। सूत अधिरथिका पुत्र होने पर भी कर्ण वेद पढ़ता था। ऐसा महाभारतमें वर्णन है। जब कुन्ती उससे मिलने गई तब वह भगीरथी-किनारे ऊर्ध्वबाहु करके वेदघोष कर रहा था (उद्यो० अ० १४४)। ब्राह्मण और क्षत्रिय, दोनों उच्च वर्णोंसे सूत जातिकी उत्पत्ति होनेके कारण वह ब्राह्मण जातिके समान मान ली गई होगी; और आजकल भी राजपूत राजाओंके राज्यमें ब्राह्मण और भाटका एकसा मान है।

सूतोंका एक पेशा और मालूम होता है। वे सारथ्य भी करते थे। रथको हाँकना सूतका काम था। उसका नाम अधिरथी भी था। कर्ण अधिरथीका बेटा था; अर्थात् वह एक सारथीका पुत्र था; और इसी कारण द्रौपदीने उसे जय-माल नहीं पहनाई। सूतके पेशेका निर्णय करते समय उस ज़मानेकी परिस्थिति पर विचार करके, माँ-बाप दोनोंके पेशेके अनुसार, उसका व्यवसाय निश्चित किया गया होगा। ब्राह्मणका पेशा बुद्धिका था, इस दृष्टिसे वेदोंके नीचे जो पुराण हैं उनके अध्ययन करनेका अधिकार सूतको दिया गया होगा; और क्षत्रियका पेशा युद्ध था; वह सूतको क्षत्रिय पिताके नातेसे मिल गया होगा। अर्थात् सूतको सारथी-का पेशा सिखाया गया होगा। दक्षिण अफ्रिकामें नीग्रो स्त्रियोंसे यूरोपियनोंको जो औलाद हुई, उसके सम्बन्धमें भी इसी ढंगकी व्यवस्था की गई है और उन्हें यही पेशा कोचवानी करनेका और घोड़ेकी नौकरी करनेका सौंपा गया है। इसी तरह हिन्दुस्तानमें भी यूरोपियन पुरुषोंसे एशियाई स्त्रियोंको जो यूरेशियन सन्तान हुई, उसको यूरोपियनकी अपेक्षा हलके दरजेका क़लमका पेशा मिला है। तात्पर्य, आजकलके यूरोपियन लोग वर्तमान हिन्दुस्तानके ब्राह्मण क्षत्रिय हैं। इनके शूद्र स्त्रीसे जो सन्तान हुई, उसे उन्होंने अपनी बराबरीका नहीं समझा। किन्तु उन लोगोंने इस सन्तानकी एक अलग नई जाति बना दी, और उनको स्पष्ट रीतिसे तो नहीं पर अप्रत्यक्ष रीतिसे एक अलग व्यवसायमें लगा दिया है। इस उदाहरणसे पाठक भली भाँति समझ जायँगे कि प्राचीन कालमें हिन्दुस्तानके आर्योंमें मिश्र वर्णोंकी अलग जाति क्यों हुई और उसका रोज़गार अलग कैसे बना दिया गया।

जो हो; वैश्यके ब्राह्मण स्त्रीसे उपजी हुई सन्ततिका नाम वैदेह था। अन्तःपुरकी स्त्रियोंकी रक्षा करना इसका काम था। इसी प्रकार क्षत्रिय स्त्रीमें वैश्य पुरुषसे उत्पन्न सन्ततिका नाम मागध हुआ। इन मागधोंका काम था राजाकी स्तुति करना। इन तीनों उच्च वर्णोंके प्रतिलोम विवाहसे उपजी हुई सन्तानकी सूत, वैदेह और मागध जातियाँ मानी गईं; और राजाओंके स्तुति-गान गायन करना इनका पेशा

* आदि पर्वमें सूतसे शौनकने पहले यही कहा कि भृगुकुलकी वंशावली सुनाओ।

हुआ। इन जातियोंका नाम "सूतवैदेह-मागधाः" इस प्रकार सदा एकत्र मिलता है।

उच्च वर्णकी स्त्रियोंमें शूद्रसे जो सन्तान उपजी उसके पेशेकी व्यवस्था अब देखनी चाहिए। वैश्य स्त्रीके शूद्र पुरुषसे उपजी हुई सन्ततिको आयोगव कहते थे। यह जाति बहुत निन्द्य नहीं समझी गई क्योंकि वैश्य और शूद्र वर्ण पास पास हैं। बढ़ई-गिरी इनका पेशा हुआ। क्षत्रिय स्त्रीके शूद्रसे उत्पन्न सन्तान अधिक निन्द्य निषाद जातिकी है। मछलियाँ मारनेका इनका पेशा था; और ये बहेलियेका काम भी करते थे। सरोवरमें दुर्योधनके छिप जानेका समाचार पाण्डवोंको निषादोंसे मिलनेका वर्णन है। अन्तमें ब्राह्मण स्त्रीके शूद्रसे जो सन्तान हुई, वह अत्यन्त निन्द्य चाण्डाल है। इनको जल्लादका काम मिला। जिन अपराधियोंको प्राणान्त दण्ड दिया जाता था उनका सिर ये काट लेते थे। अनुलोम जातियोंमें अम्बष्ठ, पारशव और उग्र जातियाँ कही गई हैं। उनके व्यवसायका वर्णन (अनु० प० अ० ४८में) नहीं है। तथापि द्विजोंकी सेवा करना उनका काम था। यह कहा गया है कि सङ्कर जातियोंमें भी सजातीय स्त्री-पुरुषसे उन्हींकी जातिकी सन्तान होती है। इस नियमका उल्लङ्घन होकर उत्तम पुरुष और अधम स्त्री अथवा अधम पुरुष और उत्तम स्त्रीके समागमसे न्यूनाधिक प्रमाणमें निन्द्य सन्तति होती है। यहाँ एक बात यह कही गई है कि ख़ासकर प्रतिलोम सन्तति बढ़ते बढ़ते और एककी अपेक्षा दूसरी हीन—ऐसी पन्द्रह प्रकारकी बाह्यान्तर सन्तति होती है। उनमेंसे कुछके नाम ये हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका क्रिया-लोप हो जाय तो उन्हें दस्यु मानते हैं; ऐसे दस्युसे आयोगव स्त्रीमें जो सन्तान होती है, उसका नाम सैरन्ध्र है। इस जातिके पुरुषोंका पेशा राजाओंके अलङ्कार और पोशाककी व्यवस्था करना, उबटन लगाना और पैर दाबना आदि था; और स्त्रियोंका काम इसी तरह रानियोंकी सेवा करना था। लिखा है कि यह सन्तान दर-असल दास-कुलकी न थी, परन्तु इसके लिए सेवा-वृत्ति करनेका ही नियम था। सैरन्ध्री जातिके सम्बन्धमें दो एक बातें और लिखी जाती हैं। आर्य वर्णके पति और आयोगव स्त्रीसे उसकी उत्पत्ति थी। इस कारण वह बाह्य अथवा बाह्यतर जातियोंमें न रही होगी। द्रौपदी जिस समय सैरन्ध्री बनी थी, उस समय उसने कहा था—"सैरन्ध्री नामक स्त्रियाँ लोगोंके घर कला-कौशलके काम करके अपनी गुज़र किया करती हैं।" यह भी वर्णन है कि ये स्त्रियाँ भुजिष्या हैं अर्थात् मालिककी इन पर एक प्रकारकी विशेष सत्ता है। इस कारण, सैरन्ध्रीने पहले ही कह दिया था कि मेरे पति गन्धर्व हैं। अर्थात् दासीकी अपेक्षा सैरन्ध्रीकी स्थिति कुछ अच्छी होगी। इन सैरन्ध्रोंके कई भेद बतलाये गये हैं; जैसे—मागध-सैरन्ध्र, बहेलियेका काम करनेवाले, वैदेह-सैरन्ध्र, और शराब बनानेवाले आदि। सैरन्ध्र स्त्रीसे चाण्डालके जो सन्तान होती थी, उसका नाम श्वपाक कहा है। ये जातियाँ बहुधा गाँवके बाहर रहनेवाली, बहुतही ओछा पेशा करनेवाली और मूलके नीच निवासियोंमेंसे होंगी। इन जातियोंके लोग कुत्ते और गदहे आदिका निषिद्ध मांस खाकर निर्वाह करते होंगे। आयोगव स्त्री और चाण्डालसे पुक्कस जाति उपजती है। इस जातिवाले हाथी-घोड़ेका मांस खाते, कफ़न पहनते और खप्परमें खाते हैं। इनका ऐसा ही वर्णन है। श्वपाकोंका पेशा मरघटमें मुर्दे रखनेका था। ये

अनेक अत्यन्त निन्द्य जातियाँ गाँवके बाहर रहें, यह नियम तब भी था और इस समय भी है। महाभारतमें वर्णसङ्कर-का जो भयङ्कर निन्द्यत्व वर्णित है, उसकी कल्पना ऊपरके विवेचनसे हो सकेगी। वैसे तो सङ्कर जातिकी संख्या अनन्त कही गई है, तथापि मुख्य मुख्य १५ हैं। इन्हींमें सब भेदों-उपभेदोंका अन्तर्भाव है। उन पन्द्रहके नामका खुलासा नहीं है, तथापि त्रैवर्णिक प्रतिलोम जातिमें सूत, वैदेह और मगध, तथा अनुलोम जातिमें अम्बष्ठ और पारशव आर्योंकी सन्तान समाजमें शामिल थीं। निषाद, चाण्डाल और पुक्कस आदि बाह्य एवं बाह्यतर अनार्य जातियाँ थीं। इनमें भी आर्य जातिका थोड़ासा मिश्रण रहा होगा। इसीसे इनके सम्बन्धमें यह कल्पना थी कि ये म्लेच्छ जातिसे विभिन्न थीं। इनकी बस्ती आर्यावर्तमें ही थी और वे अन्य वर्णोंके सिलसिलेमें थीं। उनका धर्म सनातन धर्मसे अलग न था और उन सब के लिये सनातन धर्मके मुख्य नियम लागू थे। यद्यपि वे चातुर्वर्ण्यके बाहर थे, फिर भी उससे बिलकुल अलग न थे। उनको अनार्य तो कहा गया है पर वे म्लेच्छ न थे। आर्य शब्द जातिवाचक है और त्रैवर्णिक अर्थमें है और उनका बोधक है कि जिनके आर्य संस्कार होते हैं; अर्थात् ये निन्द्य जातियाँ त्रिवर्णके बाहर थीं और इनका आचरण अशुद्ध था। फिर भी ये जातियाँ न तो त्रिवर्णसे कोसों दूर थीं और न उनके समाज या धर्मसे बिलकुल ही अलग थीं। अस्तुः हिन्दुस्थानकी समाज-व्यवस्थाका एक प्रधान अङ्ग चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था है। मनुस्मृतिमें स्पष्ट कहा गया है कि जहाँ चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था नहीं है वह म्लेच्छ देश है: फिर वहाँवाले अगर आर्य भाषा बोलते हों तो भी वह कुछ आर्य देश नहीं हो सकता। यह देख पड़ता है कि महाभारत या सौतिके समय मध्यदेशमें वर्ण-व्यवस्थाका चलन ज़ोरोंसे था। कर्णपर्वमें, कर्णने शल्यकी निन्दा करते समय जो भाषण किया है, उस भाषणसे अनुमान किया जा सकता है कि हिन्दुस्तानके किस किस भागमें वर्ण-व्यवस्था पूर्णतया प्रचलित थी। उक्त पर्वके ४५ वें अध्यायमें कहा गया है कि मत्स्य, कुरु, पाञ्चाल, नैमिष और चेदि आदि देशोंके लोग निरन्तर धर्मका पालन करते हैं; परन्तु मद्र देश और पाञ्चनद देशके लोग धर्मका लोप कर डालते हैं। इसीके पूर्व यह भी कहा गया है कि—"वाह्लीक देशमें पहले मनुष्य ब्राह्मण होता है, फिर क्षत्रिय, इसके बाद वैश्य, तब शूद्र और इसके बाद नापित। इस तरह होते होते यद्यपि वह नाई हो गया तथापि फिर वह ब्राह्मण होता और ब्राह्मण हो चुकने पर उसीका गुलाम हो जाता है।" इस वर्णनसे पञ्जाबमें वर्ण-व्यवस्थाके कुछ शिथिल हो जानेका अनुमान होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस भाषणमें अतिशयोक्ति है, तथापि कुरुओंमें वर्ण-व्यवस्थाका स्वरूप जितना कड़ा था उतना पञ्जाबमें न रहा होगा। और मज़ा तो यह है कि खानपानके मामलेमें पञ्जाबमें अब भी कोई विशेष बन्धन नहीं। इसके सिवा महाभारतमें यह भी कह दिया गया है कि कारस्कर, महिषक, कालिङ्ग, केरल और कर्कोटक आदि दुर्धर्मी लोगोंसे भी सम्पर्क न करना चाहिये। इनमेंसे कई देश दक्षिणकी ओरके हैं। प्रतीत होता है कि इन देशोंमें उस समयतक आर्योंकी बस्ती कम थी, खूब न हो पाई थी। शायद, उस समय, ये देश जैन और बौद्ध धर्मकी छाया तले बहुत कुछ आ गये होंगे। यह बात तो

लिखी ही जा चुकी है कि इन धर्मोंने जातिभेदको आपही तोड़ डाला था। फिर भी हिन्दुस्तानमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था-की जो पूर्णतया प्रबलता हो गई थी, उसकी छायाका हिन्दुस्तानके अन्य देशोंमें न फैलना असम्भव था। इस कारण, धीरे धीरे, हिन्दुस्तानके सभी भागोंमें चातु-र्वर्ण्य-व्यवस्था प्रबल हो गई और तेज़ीसे अमलमें आ गई। पञ्जाबका सम्पर्क म्लेच्छ देशोंके साथ विशेषतासे था, इस कारण वहाँ उस व्यवस्थामें थोड़ी शिथिलता थी। यह तो देख ही लिया गया है कि वह शिथिलता ब्याह-शादी, खान-पान अथवा रोज़गारके सम्बन्धमें थी।

सारांश।

हिन्दुस्तानकी वर्ण-व्यवस्थाका स्वरूप और उसका इतिहास इस प्रकारका है। सारांश यह है कि हिन्दुस्तानमें जब प्राचीन आर्य लोग आये तब उनमें ब्राह्मण और क्षत्रिय दो पेशेकी जातियाँ थीं। शादी-ब्याहका उस समय कोई बन्धन न था। पञ्जाबमें बस्ती होने पर वैश्य अर्थात् खेती और गो-पालन करनेवाली तीसरी जाति बनी। फिर शीघ्र ही यहाँके पूर्व निवासियोंमेंसे, शूद्र जाति आर्योंके समाजमें शामिल हो गई। उसका रङ्ग काला और ज्ञानशक्ति तथा नीति कम होनेके कारण वर्ण शब्दको जातिवाचक महत्त्व प्राप्त हुआ। शूद्र स्त्री ग्रहण करने लगनेसे (मध्यदेशमें शूद्रोंकी आबादी खूब रही होगी, और यहाँके नाग लोगोंकी स्त्रियोंका रूप भी अच्छा होगा) वर्णोंकी भिन्नता और भी क़ायम हो गई। वैश्य लोग खेती करते थे और शूद्रोंसे उनको हमेशा काम पड़ता था: इस कारण उन्होंने शूद्रा स्त्रियोंको अधिकतासे ग्रहण किया और इस जातिकी स्त्रियोंकी औलाद भी वैश्य ही मानी जाने लगी थी: इससे वैश्य वर्णमें थोड़ासा बट्टा लग गया। क्षत्रियोंका भी यही हाल हुआ। ब्राह्मणोंने शूद्रा स्त्रीकी सन्तानकी अलग जाति कर दी। इस अनुकरणके आधार पर, धीरे धीरे, अन्य अनुलोम-वर्णकी जातियाँ हो गईं। प्रतिलोम विवाहके सम्बन्धमें अथवा सन्तानके विषयमें बहुत ही घृणा थी: इस कारण उस जातिके विषयमें, ख़ासकर शूद्रसे उत्पन्न सन्तानके विषयमें, अत्यन्त निन्द्यत्व माना गया। परन्तु सूत, वैदेह और मागध ये आर्योत्पन्न सङ्कर जातियाँ ऊँचे दरजेकी समझी गईं। इन भिन्न भिन्न वर्णोंके पेशे भी अलग अलग निश्चित कर दिये गये। ब्राह्मणोंका विशेष व्यवसाय अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह माना गया: युद्ध और राज्य करना क्षत्रियों का पेशा हुआ: कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यका व्यवसाय, तथा शूद्रका व्यवसाय दास्य निश्चित हुआ। किन्तु आपत्तिके समय अपने अपने वर्णसे नीचेवाले वर्ण-का पेशा करके गुज़र कर लेनेकी स्वाधीनता थी: इसलिये कुछ ब्राह्मण-क्षत्रिय किसान भी हो गये और कुछ क्षत्रिय वैश्य—व्यापारी—हो गये। वैश्योंने खेती और गो-पालन छोड़कर सिर्फ़ व्यापार ही किया। मिश्र जातियोंके भी भिन्न भिन्न व्यवसाय स्थिर हो गये। महाभारतके ज़मानेका यही संक्षिप्त निष्कर्ष है।

अब, संक्षेपमें, यह भी देखना ठीक होगा कि महाभारत-कालके पश्चात् वर्ण-व्यवस्थाका स्वरूप किस प्रकार बदला। इससे, महाभारतके समय जैसी व्यवस्था रही होगी, उसका अच्छा ज्ञान होगा। जाति-व्यवस्थाके विरुद्ध बौद्ध-धर्मका कटाक्ष था, इससे जाति-बन्धनमें बहुत गोलमाल हो गया: इस कारण जब हिन्दु-धर्मके दिन अच्छे हुए तब जाति-बन्धनके

नियम फिर सख्त हो गये, और पहलेकी तरह भिन्न भिन्न वर्णोंकी स्त्रियाँ ग्रहण करनेकी रीति रुक गई। महाभारतके बादकी स्मृतियोंमें निर्बन्ध हो गया कि हर एक वर्णको अपने ही वर्णमें शादी-ब्याह करना चाहिये, और सवर्ण स्त्रीसे उत्पन्न सन्तान ही उस वर्णकी समझी जायगी। ब्राह्मणका अन्य वर्णकी स्त्री ग्रहण करना बन्द हो गया और क्षत्रियने भी अन्य वर्णकी स्त्री करना छोड़ दिया: इस कारण, भिन्न भिन्न वर्णोंके मिश्रणसे जो नित्य नई जातियाँ बनती जाती थीं वे बन्द हो गईं। इस वर्ण-व्यवस्थाके कारण उत्पन्न होनेवाला **जातिका गर्व** अन्य समाजों पर परिणाम डालने लगा: अर्थात् अनार्य जातियोंमें भी जाति-भेद उत्पन्न होने लगा। हिन्दुस्तानमें प्रत्येक जातिको ऐसा प्रतीत होता है कि हम और किसी न किसी जातिसे श्रेष्ठ हैं; और जहाँ कहीं द्रव्य अथवा शक्तिके कारण महत्त्व प्राप्त हुआ, वहाँ उक्त प्रकारका अभिमान बढ़कर भिन्न भिन्न जातियाँ उपजने लगीं। इस तरहसे प्रत्येक जातिमें भीतरी भेद उत्पन्न होने लगे और उसी छोटीसी सीमाके भीतर विवाहका बन्धन हो गया। इसके सिवा देशभेदसे भी जातिभेद माना जाने लगा। भिन्न भिन्न देशोंमें खान-पानके, आचारके और इतिहासके भेदके कारण एक दूसरे पर सन्देह होने लगा; इस कारण भी भीतरी भेदोंको दृढ़ बन्धन-का स्वरूप मिल गया, जैसे कि आजकल ब्राह्मणोंमें अनेक भेद हो गये हैं। मुख्य भेद ब्राह्मणोंके दशविध, अर्थात् पञ्चद्राविड़ और पञ्चगौड़ हैं; किन्तु महाभारतमें इन दस भेदोंका नाम भी नहीं है। महाभारतमें जहाँ कहीं **ब्राह्मण** का नाम आता है वहाँ कोई देश-भेद दिखलाया नहीं जाता। यह वर्णन कहीं नहीं मिलता कि अमुक ब्राह्मण गौड़ है, कान्यकुब्ज है या दाक्षिणात्य है। फिर अब महाराष्ट्र ब्राह्मणों में भी जो देशस्थ, कोङ्कणस्थ आदि भेद हो गये हैं उनका, या कान्यकुब्ज आदिके भीतरी भेदोंका, उल्लेख कहाँसे मिलेगा? क्षत्रियोंके भीतरी भेदोंका पता भी महा-भारतसे नहीं लगता। चन्द्रवंशी अथवा सूर्यवंशीका भेद-भाव भी व्यक्त किया हुआ नहीं देख पड़ता। यादव, कौरव, पाञ्चाल आदि देश-भेद तो मिलते हैं परन्तु वे ऐसे नहीं हैं कि जैसे वर्तमानकालीन क्षत्रियों-के अभ्यन्तरीण भेद हैं। किंबहुना, उन सबका आचार-विचार और पेशातक एक ही था: सबमें परस्पर शादी-ब्याह होता था। वैश्योंके अवान्तर भेद भी कहीं देख नहीं पड़ते। ये सब भीतरी भेद श्रीमच्छङ्कराचार्यके अनन्तरके हैं; इस अनुमानके लिये स्थान भी है। बौद्ध धर्म-का उच्छेद हो चुकने पर जिस समय हिन्दू धर्मसमाजका पुनः सङ्गठन हुआ, उस समय प्रत्येक देश और प्रत्येक भाग-के निवासियोंको अन्य भागवालोंके खान-पान और वर्णकी शुद्धताके सम्बन्धमें सन्देह हो गया; इस कारण प्रत्येक जातिमें भीतरी भेद सन् ८०० ईसवीके लगभग हो गये, और ब्याह-शादीके बन्धनोंसे जकड़े रहनेके कारण वे भेद अबतक अस्तित्वमें हैं। सारांश यह कि आजकल कनौ-जिया, महाराष्ट्र, गुजराती आदि ब्राह्मणों-के, अथवा राठौड़, चन्देल, मरहठा आदि क्षत्रियोंके या महेश्री, अगरवाल, महा-राष्ट्र आदि वैश्योंके जो भेद मौजूद हैं उनका निर्देश महाभारतमें नहीं है। महा-भारतमें तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण-भेद-रहित थे। इसी तरह सङ्कर वर्ण भी सूत, मागध वग़ैरह एक ही थे; उनमें किसी तरहका भीतरी भेद नहीं देख पड़ता।

गोत्रोत्पत्ति।

जातियोंके इसी विषयसे सम्बद्ध एक और विषय है। शान्ति पर्वके २६वें अध्याय-में इसके सम्बन्धमें लिखा है कि—"शुरू शुरूमें चार ही गोत्र उत्पन्न हुए:—अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु। फिर उनके प्रवर्तकोंके कर्मभेदके कारण और और गोत्र उत्पन्न हुए, और तप: प्रभावके कारण वे गोत्र उन प्रवर्तकोंके नामसे प्रसिद्ध हो गये। समयकी गतिसे ज्ञाता लोग विवाह आदि श्रौत-स्मार्त विधियोंमें इन भिन्न गोत्रोंका अवलम्बन करने लगे।" इस अवतरणसे प्रकट होता है कि महा-भारतके पूर्वकालसे गोत्रोंकी प्रवृत्ति है और उनका उपयोग विवाह आदि श्रौत-स्मार्त कामोंमें होता था। किन्तु इस वर्णनमें जो बात कही गई है वह कुछ विचित्र सी है। आजकलकी धारणाके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंमें प्रत्येक मनुष्यका एक न एक गोत्र होता है। क्षत्रिय और वैश्य परिवारोंके गोत्रोंकी परम्परा स्थिर है या नहीं, यह बात कदाचित् सन्दिग्ध हो; किन्तु ब्राह्मणोंके अनेक भेदोंमें श्रौत-स्मार्त आदि कर्म परम्परासे एकसे चले आ रहे हैं और उनमें गोत्रोच्चार सदैव होता है। ऊपरके अवतरणसे स्पष्ट होता है कि यह परम्परा महाभारतके समयसे भी पहले-तक जा पहुँचती है। किन्तु मूल गोत्र आजकल आठ समझे जाते हैं। पर उक्त वचनमें वे चार ही क्यों कहे गये हैं? और, यह प्रश्न रह ही गया कि प्रवर्तकोंके केवल कर्म-भेदसे गोत्र कैसे उत्पन्न होंगे। पाणिनिने गोत्रका अर्थ अपत्य किया है। तब गोत्र-परम्परा भी वंश-परम्परा ही है। सप्तर्षि और अगस्ति यह आठ आर-म्भके गोत्र-प्रवर्तक हैं और इनके कुलमें आगे जो कोई विशेष प्रसिद्ध ऋषि हुए उनके नाम गोत्रमें और जोड़ दिये गये। किन्तु यह बात कर्मभेदसे हुई नहीं जान पड़ती। हाँ, यह हो सकता है कि उनके तपके प्रभावसे उनके नाम भी चल निकले हों। अस्तु; यह बात भी समझमें नहीं आती कि गोत्रका उच्चार और अवलम्ब काल-गतिसे चल पड़ा। इससे तो जान पड़ता है कि ऐसा भी एक समय था जब कि इसका अवलम्ब न था। यहाँ पर एक बात और कहने लायक है। सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी जो वंशावली दी गई है उसमें इन गोत्र-प्रवर्तकोंके नाम नहीं हैं। फिर उन वंशोंके क्षत्रियोंको गोत्रोंके नाम कैसे प्राप्त हो गये? इसके सिवा यह भी एक प्रश्न है कि कुछ ब्राह्मणोंके कुल चन्द्र-वंशी क्षत्रियोंसे उपजे हैं; उनका सम्बन्ध उपरवाले गोत्रोंसे कैसे जुड़ता है? विश्वा-मित्र क्षत्रिय है; ब्राह्मण बनकर उसने अपने पुत्रोंके द्वारा कुछ गोत्र प्रवृत्त किये हैं। उनका सम्बन्ध किस प्रकार जुड़ता है, यह भी देखने लायक है। खैर, ऊपरके अवतरणसे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि आजकल जो गोत्र-परम्परा है, वह और उसके उपयोगकी प्रवृत्ति महाभारत कालके पूर्वसे, अर्थात् सन् ईसवीके प्रथम ३०० वर्ष पहलेसे है।

(२) आश्रम-व्यवस्था।

वर्ण-व्यवस्था जिस प्रकार हिन्दुस्तान-के समाजका एक विशेष अङ्ग है उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था भी एक महत्वका अङ्ग है। किन्तु दोनोंका इतिहास सर्वथा पृथक् है। यह तो देख ही लिया गया कि वर्ण-व्यवस्थाका प्रारम्भ होकर उसका विकास किस किस प्रकारसे हुआ; और यह भी देख लिया गया कि इस समय वर्ण-व्यवस्थाको अभेद्य और प्रचण्ड स्वरूप किस तरह प्राप्त हो गया है।

आश्रम-व्यवस्थाका इतिहास इसके विपरीत है। आश्रम-व्यवस्था पहले अच्छी स्थितिमें थी, फिर धीरे धीरे उसका ह्रास हो गया; और अब तो वह बहुत कुछ लुप्तप्राय है। देखना चाहिए कि महाभारतके समय उसकी कैसी स्थिति थी।

जिस तरह वर्ण-व्यवस्थाका बीज प्रत्येक समाजमें होता है, उसी तरह बहुधा प्रत्येक समाजमें आश्रम-व्यवस्थाका भी बीज रहता है। हर एक समाजमें पेशेके अनुसार अलग अलग दर्जे होते हैं; और बहुत करके अपने अपने दर्जेमें ही शादी-ब्याह होते हैं। किन्तु ऐसी वर्ण-व्यवस्थाको अभेद्य धार्मिक बन्धनका स्वरूप प्राप्त नहीं होता। इसी तरह प्रत्येक समाजमें यह कल्पना भी रहती है कि छोटी अवस्थामें मनुष्य विद्या पढ़े, तरुण अवस्थामें गृहस्थी सँभाले और बुढ़ापेमें गृहस्थीके झगड़ोंसे निवृत्त होकर केवल ईश्वरका भजन और चिन्तन करे। किन्तु यह कल्पना धार्मिक बन्धनका चोला नहीं पहन सकती। आर्योंने इस धारणाको भी अपने समाजमें स्थिरता प्रदान कर दी और वर्ण-व्यवस्थाकी तरह आश्रम-व्यवस्था धर्मकी बात मान ली गई। यह व्यवस्था तीन वर्णोंके ही लिए थी, अर्थात् आर्य लोग ही इसके पाबन्द थे। पहले यह निश्चय किया गया कि चारों आश्रमोंका पालन प्रत्येक आर्यवर्णीको करना चाहिये। आर्य लोगोंने अपने समाजको अत्यन्त उन्नत अवस्थामें पहुँचानेके लिए जो चतुराईके यत्न किये, उन्हींके फल ये आश्रम हैं। किन्तु इन आश्रमोंका यथा-योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये आध्यात्मिक निग्रह और सामर्थ्यकी आवश्यकता है। इस कारण, आरम्भमें यद्यपि यह व्यवस्था अत्यन्त लाभदायक हुई, तथापि आश्चर्य नहीं कि धीरे धीरे इस आध्यात्मिक सामर्थ्यके घटते रहनेसे आश्रम-व्यवस्थामें धीरे धीरे न्यूनता आ गई हो। महाभारतमें आश्रम-व्यवस्थाका जो वर्णन है, पहले उसीका उल्लेख किया जाता है।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। सात आठ सालकी अवस्थामें लड़केका, उपनयन संस्कार द्वारा, पहले आश्रममें प्रवेश होता है। इस आश्रममें रहकर विद्यार्जन करना होता है। इस सम्बन्धमें विस्तृत विवेचन आगे चलकर शिक्षा-विषयमें किया जायगा। यहाँ पर इतना कह देना काफ़ी है कि गुरुके घर रहकर विद्यार्थी विद्याभ्यास करे और भिक्षासे निर्वाह करे। बस, यही नियम था। बारह अथवा और भी अधिक वर्षतक विद्याभ्यास किया जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वेद-विद्या पढ़कर अपना अपना हुनर सीखते थे। बारह * वर्षके अनन्तर ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण कर, गुरुकी आज्ञासे गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेका नियम था। इस गृहस्थाश्रमका मुख्य नियम यह था कि विवाह करके प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी गृहस्थीका काम करे, और अग्निकी सेवा तथा अतिथिकी पूजा करके कुटुम्बका पालन करे। गृहस्थाश्रमके कर्तव्य विस्तारसे कहे गये हैं; उनका उल्लेख आगे होगा। गृहस्थाश्रम सम्पूर्ण करके गृहस्थी बाल-बच्चोंको सौंप दे और आप वनमें चला जाय। स्त्री जीवित हो तो उसे साथ लेता जाय और वनमें रहकर चौथे आश्रममें जानेके लिये धीरे धीरे तैयार होता रहे। यह वानप्रस्थ अर्थात् वनमें प्रस्थित मनुष्यकी स्थितिका तीसरा आश्रम है। और, इस प्रकारसे जब कुछ वर्षोंमें दैहिक क्लेश सहनेके लिये

* उपनिषदोंमें भी यही मर्यादा देख पड़ती है, "स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना "याय" छा० ६ खं० १प्रा० ६

मन तैयार हो जाय तब, परमेश्वरका चिन्तन करनेमें आयु बितानेके लिये, जो चौथा आश्रम ग्रहण किया जाय वही संन्यास है। चारों आश्रमोंका यही स्थूल स्वरूप था।

अब देखना चाहिये कि आश्रमोंके वर्णनमें ऊपर जो बातें लिखी गई हैं उनका वास्तवमें उपयोग होता था या नहीं: और महाभारतके समय किन किन लोगोंको उनका पालन करनेकी अनुमति थी। महाभारत और उपनिषदोंके अनेक वर्णनोंसे देख पड़ता है कि गुरुके घर रहकर ब्रह्मचर्याश्रममें विद्या प्राप्त करनेका काम पूर्व समयमें बहुधा ब्राह्मण विद्यार्थी किया करते थे। ऋषियोंके यहाँ बड़ी बड़ी शालाएँ होती थीं। उनमें ब्राह्मण विद्यार्थी अपना उदर-निर्वाह भिक्षा द्वारा अथवा अन्य रीतिसे करके, विद्याभ्यास करते थे। महाभारतसे ठीक ठीक पता नहीं लगता कि क्षत्रियों अथवा वैश्योंके बालक विद्या पढ़नेके लिये गुरुके घर जाते थे या नहीं। हरिवंश और भागवतमें वर्णन है कि उज्जैनमें गुरुके घर रहकर श्रीकृष्णने विद्या पढ़ी थी। पाण्डवों और दुर्योधन आदिने तो अपने घर पर ही विद्या पढ़ी। विद्या पढ़ानेके लिये द्रोणाचार्यजी इनके घर ही रख लिये गये थे। ब्रह्मचर्याश्रमका एक मुख्य भाग, अर्थात् गुरुके घर रहना, घट गया था; और उसके बदलेमें यह दूसरी रीति चल पड़ी थी। धीरे धीरे भिन्न भिन्न क्षत्रियों और वैश्योंमें ब्रह्मचर्याश्रमकी महत्ता घट गई और महाभारतके समय आजकलकी तरह सिर्फ़ उपनयन संस्कार बाकी रह गया होगा। अब गृहस्थाश्रमको देखना है। गृहस्थाश्रमकी मुख्य विधि विवाह है जिसका लुप्त होना कभी सम्भव नहीं। वह तो सब वर्णोंमें और सभी जातियोंमें है ही। उसके विषयमें विशेष कुछ कहना नहीं है। किन्तु गृहस्थाश्रमका दूसरा मुख्य भाग था अग्निकी सेवा करना। अग्निका आधान करके नित्य यजन करना गृहस्थाश्रमका मुख्य कर्तव्य है। जान पड़ता है कि इस कामको ब्राह्मण लोग बहुधा किया करते थे। यह कहनेमें भी कोई हानि नहीं कि क्षत्रिय भी किया करते थे। महाभारतमें लिखा है कि श्रीकृष्ण जब समझौता करनेके लिये गये तब, विदुरके घर,—सभामें जानेके पहले—सवेरे नहा धोकर उन्होंने जप-जाप्य किया और फिर अग्निमें आहुति दी। (उ० अ० ८४) लिखा है कि वसुदेवका देहान्त होने पर उसका क्रियाकर्म करते समय रथके आगे अश्वमेध-सम्बन्धी छत्र और प्रदीप्त अग्नि पहुँचाये गये थे। इसी प्रकार पाण्डव जब वनवासमें थे तब उनके गृह्याग्निका सेवन नित्य होते रहनेका वर्णन है। जिस समय पाण्डव महाप्रस्थानको गये, उस समय उनके गृह्याग्निको जलमें विसर्जन कर देनेका वर्णन है। सारांश यह कि भारती युद्धके समयके सभी क्षत्रिय गृह्याग्नि रखते थे। यह बात बिलकुल स्पष्ट है। यह बतलानेके लिये कोई साधन नहीं कि महाभारतकालमें अर्थात् सौतिके समय क्या व्यवस्था थी। तथापि यह मान लेनेमें कोई हानि नहीं कि जब अग्निकी सेवा बड़ी झञ्झटकी हो गई थी तब अनेक क्षत्रिय अग्निविरहित हो गये होंगे। यह बात भी नहीं कि सभी ब्राह्मण अग्नि-सेवा किया करते थे: उनमेंसे कुछ लोगोंने इसे छोड़ दिया होगा। कहा गया है कि अग्नि न रखनेवाले ब्राह्मणोंके साथ शूद्रका सा बर्ताव किया जाय। अब रह गया गृहस्थाश्रमका तीसरा अङ्ग अतिथि-सेवा, सो इसे सभी करते थे। गृहस्थाश्रमका दरवाज़ा सबके

लिये खुला था और कितने ही ब्राह्मण तथा क्षत्रिय उसका यथा-शास्त्र पालन किया करते थे। अब हम वानप्रस्थका विचार करते हैं। वनमें जाने और तपश्चर्य्या करनेका अधिकार तीनों वर्णोंको था और तीनों वर्णोंवाले वानप्रस्थ हुआ करते थे। धृतराष्ट्रके वनमें जानेका वर्णन है। कहा गया है कि धृतराष्ट्र अपनी पत्नी और कुन्तीके साथ वनमें तप करने गये थे। रामायणमें एक वानप्रस्थ वैश्यका भी वर्णन है। वनमें जाकर ब्राह्मणोंके तपश्चर्या करते रहनेके सैंकड़ों उदाहरण महाभारतमें हैं। गृहस्थीका अनुभव हो चुकने पर और उससे छुट्टी पाकर वनमें जानेकी इच्छा होना साहजिक ही है; और ईश्वरने जिनको अच्छी उम्र दी है उनके लिये ही वनमें जाना सम्भव है। अर्थात् वानप्रस्थोंकी संख्या सदा थोड़ी रहेगी। तथापि तीनों वर्णोंको वानप्रस्थका अधिकार था; और यह भी कह सकते हैं कि महाभारतके समयतक वानप्रस्थ लोग होते थे। महाभारतसे यह स्पष्ट नहीं होता कि शूद्रको वानप्रस्थकी मनाही थी; किन्तु शान्तिपर्वके ६३वें अध्यायमें कह दिया गया है कि राजाकी आज्ञासे शूद्रको सभी आश्रमोंका अधिकार है। रामायणमें, तपश्चर्या करनेवाले शूद्रके रामके द्वारा दंडित होनेकी कथा है। इससे प्रतीत होता है कि शूद्रोंको इस आश्रमका अधिकार न था। सच तो यह है कि आश्रमधर्म तीन वर्णोंके लिये ही कहे गये हैं। अब चौथे आश्रमका विचार किया जाता है।

संन्यास किसके लिए विहित है।

भारती आर्योंकी मानसिक प्रवृत्ति पहलेसे ही संसार-त्याग अर्थात् संन्यासकी ओर है। इस सम्बन्धमें, उनमें और पाश्चात्योंमें बड़ा फ़र्क़ है। विरक्त होकर, केवल परमेश्वर-चिन्तन करनेका काम अनेक भारती आर्योंने करके, वेदान्तके सदृश तत्त्वज्ञानका उपदेश संसारको किया है। बुढ़ापेमें संसारमें ही चिमटे रहकर—अनेक संसारी विषय-वासनाओंमें देह दुर्बल हो जाने पर भी—मनको लोटने देनेकी अपेक्षा, उन्हें आयुका बचा हुआ अंश इन्द्रियदमन करके वेदान्तविचारोंमें बिताना कहीं अधिक अच्छा जँचता था। इस मतलबसे आर्योंने संन्यास आश्रमको प्रचलित किया था। प्राच्य और प्रतीच्य सभ्यतामें जो फ़र्क़ था और है, वह यही है। हिन्दुस्थानमें जिस तरह केवल भिक्षा माँगकर गुज़र करनेवाले और वेदान्तज्ञानका विचार करनेवाले संन्यासी सैंकड़ों पाये जाते हैं वैसे और कहीं नहीं पाये जाते; न तो पारसियोंमें हैं और न यूरोपियन लोगोंमें ही। प्राचीन कालसे ही संन्यासाश्रम भारती आर्य-समाजका विशेष अलङ्कार है। आरम्भमें इस आश्रमका अधिकार तीनों वर्णोंको था। गृहस्थीके दुःखसे झुलसे हुए शूद्रको भी, वेदान्तज्ञानका आश्रय लेकर, अपना अवशिष्ट जीवन सार्थक कर लेनेकी इच्छा होना स्वाभाविक है। प्राचीन कालमें शूद्र भी वेदान्त-ज्ञानके अधिकारी थे, उन्हें चौथे आश्रमका अधिकार था। परन्तु आगे चलकर संन्यास आश्रमके कठिन धर्मका पालन ब्राह्मणोंके सिवा औरोंके लिये एक तरह असम्भव होने लगा; इस कारण प्रश्न हुआ होगा कि अन्य वर्णोंको संन्यास लेनेका अधिकार है या नहीं। शान्तिपर्वके ६१ वें अध्यायमें कहा है कि संन्यास लेनेका अधिकार ब्राह्मणोंको ही है। परन्तु ६३ वें अध्यायमें कहा गया है कि—"वह शूद्र भी तीन वर्णोंकी ही योग्यताका है और उसके लिये सब आश्रम विहित हैं, जो पुराण आदिके द्वारा वेदान्त

सुननेकी इच्छा करता हो, त्रिवर्ण-सेवा रूपी स्वकर्म यथाशक्ति कर चुका हो, जिसके सन्तान हो चुकी हो और राजाने जिसको आज्ञा दे दी हो।" सारांश "जिस शूद्रने स्वधर्मका आचारण किया है उसके लिये, वैश्य और क्षत्रियके लिये संन्यासाश्रम विहित है।" यह अचरजकी बात है कि शूद्र और वैश्यको राजाकी आज्ञा प्राप्त करके संन्यासाश्रम लेनेको कहा गया है। "क्षत्रियको भी तब संन्यास लेनेमें कोई हानि नहीं जब कि वह सब कर्म करके पुत्रको अथवा और किसी अन्य गोत्री क्षत्रियको राज्य अर्पण कर दे।" वेदान्तको सुननेके लिये ही राजा भिक्षावृत्तिका अवलम्ब करे, सिर्फ़ भोजन-प्राप्तिकी इच्छासे उसको इस वृत्तिका अवलम्ब न करना चाहिये। टीकाकारका कथन है कि "संन्यासाश्रम रूपी कर्म ब्राह्मणोंको छोड़ अन्य क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंके लिये नित्य नहीं, प्रत्युत अन्तःकरणके लिये विक्षेप करनेवाले कर्मका त्याग कर देना काम्य-संन्यास है और यही उनके लिये विहित है।"

यह विषय महत्त्वपूर्ण किन्तु वादग्रस्त है, इसलिये मूल वचनों समेत यहाँ उद्धृत करने लायक़ है। शान्तिपर्वके ६१ वें अध्यायके प्रारम्भमें यह श्लोक है—"वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम्। ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम्॥" इसमें भैक्ष्यचर्यसे मतलब संन्यास है और वह चतुर्थ आश्रम ब्राह्मणोंके द्वारा वृत अर्थात् अङ्गीकृत है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह औरोंके लिये वर्ज्य है। इसका और अधिक खुलासा ६३ वें अध्यायमें कर दिया गया है। "यश्च त्रयाणां वर्णानामिच्छेदाश्रमसेवनम्। चातुराश्रम्ययुक्तांश्च धर्मांस्तान् शृणु पाण्डव॥११॥ यह कहकर फिर कह दिया है कि शूद्रको राजाकी आज्ञा मिल जाने पर और सब काम हो चुकने पर फिर अधिकार है। "आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम्। भैक्ष्यचर्यां ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः॥ तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि" ॥१४॥ अर्थात् राजपुत्र अथवा क्षत्रियके लिये भैक्ष्यचर्य संन्यासाश्रमकी कोई रोक टोक नहीं। वैश्यके लिये "कृतकृत्यो वयोतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः। वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम्॥" इसके द्वारा राजाकी आज्ञा आवश्यक बतलाई गई है; परन्तु क्षत्रियको तो इसकी भी ज़रूरत नहीं। आगे बतला दिया गया है कि राजाको चतुर्थ आश्रम कब लेना चाहिये। "राजर्षित्वेन राजेन्द्र भैक्ष्यचर्या न सेवया। अपेतगृहधर्मोऽपि चरेज्जीवित काम्यया॥" इस श्लोकमें राजाके लिये भैक्ष्यचर्या मुक्त कर दी गई है। तथापि यह भी वर्णन है कि राजधर्म अर्थात् प्रजापालनधर्म सबमें श्रेष्ठ है; इस धर्मको करनेवाले राजाको सब आश्रमोंका फल मिलता है। यह वर्णन बहुत ही ठीक है। "महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः। सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति॥" इत्यादि राजधर्मकी स्तुति ठीक ही है।

समग्र वचनोंसे मालूम होता है कि महाभारतके समयतक यह नियम न हुआ था कि संन्यासका अधिकारी ब्राह्मण वर्ण ही है। तथापि जान पड़ता है कि उस समय ऐसा आग्रह उत्पन्न हो गया था, क्योंकि अनेक ब्राह्मण-संन्यासी शास्त्रमार्गविहित रीति द्वारा संन्यास-धर्म स्वीकार करते और संन्यासके विशेष धर्मका पालन करते थे; किन्तु अन्य वर्णोंके लोग योग्य रीतिसे संन्यास-आश्रम ग्रहण न करके संन्यासका निरा वेष बना लेते थे। और कितने ही शूद्र तो अपनी

गुज़र करनेके लिये ही भिक्षावृत्तिका अवलम्ब कर लिया करते थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि भिक्षा माँगनेका अधिकार सिर्फ़ संन्यासीको ही था, और किसीको न था। कुछ आलसी शूद्र भी भिक्षु या संन्यासी बन जाते थे; और इसीसे यह आग्रह उत्पन्न हो गया होगा कि अन्य वर्णके लोग संन्यास न लें। यह तो निर्विवाद है कि संसारसे पराङ्मुख रहनेकी आर्योंकी प्रवृत्तिके कारण सभी वर्णोंके अनेक लोग संन्यासी हुआ करते थे। महाभारतके समयतक सैंकड़ों संन्यासी वनमें रहकर तत्त्व-विवेचन किया करते थे। सिकन्दर बादशाहको पञ्जाबमें अनेक निरीच्छ तत्त्ववेत्ता पुरुष मिले थे जो कि परमहंसरूपसे जङ्गलमें रहते थे। इस बातसे सिद्ध होता है कि महाभारतके वर्णन काल्पनिक नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष स्थितिके हैं। बौद्ध धर्मने तो संन्यास-आश्रमको अपने पन्थमें अग्र स्थान दिया था और सभी वर्णोंके लिये यह आश्रम खोल दिया था। इस कारण हज़ारों शूद्र बौद्ध संन्यासी—भिक्षु—बन गये और उन्होंने बौद्धधर्मको अवनत दशामें पहुँचा दिया। इसका विचार आगे होगा।

संन्यास-धर्म।

संन्यास आश्रमके उद्दिष्टके सम्बन्धमें अर्थात् ब्रह्मनिष्ठाका व्रत योग्य रीतिसे जारी रहनेके लिये संन्यासाश्रमी मनुष्यको जिन जिन धर्मोंका पालन करना आवश्यक था, उनके सम्बन्धमें ही सूक्ष्म नियम पहलेसे मौजूद थे। "उसे सब अंशोंमें दयापूर्वक बर्ताव करना चाहिये, सब इन्द्रियोंको काबूमें रखकर मनन-शील रहना चाहिये। किसीसे बिना माँगे, और स्वयं रसोई बनानेके झगड़ेसे दूर रहकर अगर कुछ भोजन मिल जाय तो उसे ग्रहण कर ले। मध्याह्न कालतक यदि कुछ भी न मिले तो ऐसे घरोंमें भिक्षा माँगे जहाँ सब मनुष्य भोजन कर चुके हों और जहाँ रसोईघरमें धूआँ भी न निकलता हो। मोक्षविद् मनुष्यको ऐसी जगह भिक्षा न माँगनी चाहिये जहाँ आदरपूर्वक सब तरहसे रसीले स्वादिष्ट भोजन मिलें। भिक्षा माँगनेको निकले तो किसी भिक्षुकी भीखमेंसे न ले। एकान्त स्थानमें सदा विचरे। सूने घर, जङ्गल, वृक्षकी छाया या नदी किनारेका अवलम्ब करे। गर्मियोंके मौसिममें एक स्थान पर एक ही दिन ठहरे। बरसातमें, यदि आवश्यकता हो तो, एक ही जगह ठहरा जा सकता है। सूर्य जो मार्ग बतलावे (जहाँ रास्ता समझ पड़े) वहाँ घूमे फिरे, संग्रह बिलकुल न करे और मित्रोंके साथ न रहे। जलमें उतरकर स्नान न करे। शिल्पका काम करके गुज़र न करे। आप ही—बिना पूछे ही—किसीको उपदेश न करे। साथमें सामान भी न रखे। प्राणिमात्रमें समभाव रखे। पिछली बातोंके लिये शोक न करे। केवल प्रस्तुत बातकी भी उपेक्षा करे। इस प्रकारका जो निराशी, निर्गुण, निरासक्त, आत्मसङ्गी और तत्त्वज्ञ है वह निःसन्देह मुक्त होता है।" इत्यादि वर्णन अनुगीतामें हैं (आश्व० अ० ४६)। इस वर्णनमें संन्यास आश्रम-के जो कर्तव्य सनातन धर्मने निर्दिष्ट कर दिये हैं, उनमेंसे अधिकांशका बौद्ध संन्यासियोंने त्याग कर दिया और यह देख पड़ेगा कि कर्तव्य त्याग देनेके कारण बौद्ध भिक्षुओंकी आगे चलकर अवनति हो गई।

पहली जबरदस्त भूल यह हुई कि बौद्ध संन्यासी एकान्तमें रहना छोड़ सङ्घ बनाकर रहने लगे। सङ्घमें तरह तरहकी दुष्ट कल्पनाएँ प्रचलित होती हैं। उच्च-नीचका

भाव उपजता है, और परमेश्वरका भजन तथा आत्माका चिन्तन करना तो जाता है छूट, सङ्घके अधिपति होनेकी महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। 'संन्यासीको सूने घर या अरण्यका आश्रय ग्रहण करना चाहिये' इस प्राचीन नियमको छोड़कर बौद्ध लोग बड़े बड़े सङ्घारामोंमें रहने लगे। राजा लोग उस समय इनके लिये सङ्घाराम बनवा देते थे। इन स्थानोंमें रहनेके कारण उन्हें ऐश-आरामकी आदत पड़ गई। प्राचीन नियम था कि संन्यासीको एक गाँवमें एक दिनसे अधिक न रहना चाहिये: इसके बदले बौद्ध संन्यासी लोग भिन्न भिन्न गाँवोंके समीप सङ्घारामोंके निवासी हो गये। संन्यासीको वहीं भिक्षा माँगनेके लिये जाना चाहिये जहाँ आव भगतके साथ भिक्षा न मिले। किन्तु बौद्ध भिक्षु इसके बिलकुल विपरीत धनवान उपासकोंके यहाँ दावतें उड़ाने लगे। संन्यासीको न तो द्रव्य-संग्रह करना चाहिये और न सामान जमा करना चाहिये: परन्तु सङ्घारामके बौद्ध भिक्षु लोग सङ्घारामकी व्यवस्थाके लिए जागीरमें बड़े बड़े गाँव और जमीन लेने लगे। मतलब यह कि सनातन-धर्मी संन्यासियोंके जो आवश्यक और कड़े नियम थे, उनको छोड़कर बौद्ध भिक्षुओंका मानों पेट भरने अथवा जागीरके मालिक बननेका पेशा हो गया। इस कारण बौद्ध संन्यास बहुत जल्द हास्यास्पद बन गया। इसी प्रकारकी अवनति आगे चलकर सनातन धर्ममें भी हुई और पुराणोंने कलियुगमें संन्यास लेनेकी मनाही कर दी।

यह इतिहास महाभारतके बादका है। यह माननेमें कोई क्षति नहीं कि संन्यासके लिए आवश्यक कठोर नियम महाभारतके समय प्रत्यक्ष बर्ते जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि 'यत्र सायंगृहो-मुनिः'—जहाँ सायङ्काल हो वहीं ठहर जानेवाले मुनि या संन्यासी प्राचीन समयसे लेकर महाभारत कालतक पाये जाते थे। सनातनी संन्यासियोंके कपड़े भगवे रङ्गके होते थे और बौद्धोंने अपने संन्यासियोंको पीले वस्त्र दिये। भगवे वस्त्र धारणकर ठगोंका पेशा करनेवाले लोग भी महाभारतके समय थे। यह बात उस नियमसे सिद्ध होती है जिसमें कहा गया है कि राजा लोग भिन्न भिन्न स्थानों पर संन्यासीके वेषमें अपने गुप्तचरोंको भेजें। महाभारतके समय स्त्रियोंके संन्यास लेनेके भी उदाहरण हैं। उपनिषदोंमें जिस तरह गार्गी और वाचक्नवी आदि तत्त्वज्ञा ब्राह्मण स्त्रियाँ वर्णित हैं, उसी तरह महाभारतमें सुलभा नामकी एक संन्यासिनीका भी वर्णन है। जनकके साथ उसने जो वक्तृत्व-पूर्ण और तत्त्वज्ञान-पूर्ण संवाद किया, उसका वर्णन शान्ति पर्वके ३२०वें अध्यायमें है। संवादके अन्तमें उसने कहा है कि मैं क्षत्रिय-कन्या हूँ: मुझे योग्य पति नहीं मिला, इस कारण गुरुसे मैंने मोक्षशास्त्रकी शिक्षा ग्रहण करके नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका आश्रय लिया है: और मैं यति-धर्मसे रहती हूँ। सारांश यह कि प्राचीन कालमें क्षत्रिय-स्त्रियाँतक विवाह न करके एकदम संन्यास ले लिया करती थीं। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि महाभारतके समय इसका चलन न रहा होगा, क्योंकि आरम्भमें ही यह बात कह दी गई है कि सुलभा सत्ययुगकी है।

यह एक महत्त्वका प्रश्न है कि मोक्ष-धर्मकी प्राप्ति संन्यास आश्रममें ही है या अन्य आश्रमोंमें भी। इसी प्रश्न पर जनक-सुलभाका सम्वाद दिया गया है। उसका निर्णय निश्चयात्मक नहीं है। फिर भी उसका आशय यह मालूम होता है कि मोक्षकी ओर ले जानेमें संन्यास ही समर्थ

है। इस विषयका विवेचन अन्य स्थान पर होगा। इस संवादमें संन्यासके ऊपरी लक्षण ये बतलाये गये हैं:—भगवे कपड़े, घुटा हुआ सिर, त्रिदण्ड धारण करना और कमण्डलु लेना। इसके सिवा यह भी कहा गया है कि संन्यासी लोग अन्य आश्रमोंके धर्मका आचरण न करें। और यदि संन्यासी फिर गृहस्थाश्रमी हो जाय तो पतित होगा, अर्थात् आर्य लोगोंके समाजसे भ्रष्ट हो जायगा। उस समय यही धारणा थी। इस सम्बन्धमें धर्मशास्त्र और वेदान्त सूत्रमें भी ऐसे ही परिणाम कहे गये हैं। जिस प्रकार वर्णसङ्कर एक अति निन्द्य और भयङ्कर प्रसङ्ग माना जाता था, उसी प्रकार आश्रम-सङ्करको भी लोग भयङ्कर समझते थे। इस सुलभा-जनक संवादमें इसी आश्रम-सङ्करका भयङ्कर पातक वर्णित है। जिस तरह नीचेवाले वर्णोंका उच्च वर्णकी स्त्री ग्रहण करना निन्द्य समझा जाता था, उसी तरह उच्च आश्रमसे नीचेके आश्रममें उतर आना भी निन्द्य माना जाता था। इस कारणसे भी सनातनधर्मके संन्यासका पालन करना अत्यन्त कठिन था।

गृहस्थाश्रमका गौरव।

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रम यद्यपि एकसे एक अधिक श्रेष्ठ माने गये हैं, तथापि गृहस्थाश्रमका गौरव सब आश्रमोंसे अधिक है। शान्ति पर्वके २४३वें अध्यायमें इसका वर्णन है। गृहस्थाश्रमीको विवाह करके अग्न्याधान करना चाहिये और गृहस्थाश्रमके योग्य आचरण करना चाहिये। जहाँतक हो सके, गृहस्थाश्रमीको यजन, अध्ययन और दान इन तीन कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये। गृहस्थाश्रमीको कभी सिर्फ़ अपने ही उपयोगके लिये न तो रसोई बनानी चाहिये और न पशुओंकी व्यर्थ हिंसा करनी चाहिये। दिनको, रातके पहले और पिछले पहर वह सोवे नहीं। सवेरे और शामके सिवा बीचमें भोजन न करे। ऋतुकालके सिवा स्त्रीको शय्या पर न बुलावे। अतिथिका सदैव खूब सत्कार करे। दम्भसे जटा और नख बढ़ाकर स्वधर्मका उपदेश करनेवाले और अविधिसे अग्निहोत्रका त्याग करनेवाले पुरुषका भी गृहस्थाश्रमीकी रसोईमें अंश रहता है। ब्रह्मचारी और संन्यासी अपने घर रसोई नहीं बनाते; उन लोगोंको गृहस्थाश्रमी भोजन दे। उसे सदैव 'विघस' और 'अमृत' का भोजन करना चाहिये। यज्ञके बचे हुए होम-द्रव्यको 'अमृत' कहते हैं, और पोष्य वर्गके खा-पी चुकने पर जो रसोई बच जाती है, उसे 'विघस' कहते हैं। अर्थात्, गृहस्थाश्रमीका धर्म है कि यज्ञ करके ब्रह्मचारी, संन्यासी, अतिथि, छोटे छोटे बच्चे, और नौकर-चाकर आदिको पहले थाली परोस दे, तब पीछेसे आप भोजन करे। इस प्रकार सब आश्रमोंका और पोष्यजनोंका पोषणकर्त्ता होनेके कारण गृहस्थाश्रमकी योग्यता सबसे श्रेष्ठ है। गृहस्थाश्रमीको स्वतन्त्र व्यवसाय करके द्रव्योपार्जन द्वारा अथवा राजासे याचना करके जो द्रव्य मिले, उससे यज्ञ-यागादि क्रिया और कुटुम्बका पालन करना चाहिये। कुछ लोगोंके मतसे गृहस्थाश्रममें ही रहकर अन्ततक कर्मयोग करते जाना चाहिये, अर्थात् इसी आश्रममें उन्हें मोक्ष मिल जायगा। किंबहुना, प्रत्येक आश्रमका यथाविधि आचरण करते करते उसी आश्रममें सद्गति मिल सकती है। इसके लिये आश्रम-धर्मका यथायोग्य सेवन होना चाहिये। गृहस्थाश्रमका यथाविधि सेवन करना बहुत कठिन है। इस आश्रमके जो

नियम ऊपर लिखे गये हैं उन पर ध्यान देनेसे यह बात सहज ही समझमें आ जायगी। गृहस्थाश्रमके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ सध सकते हैं। परन्तु उत्तम यही है कि पुत्र-को काम-काज सौंपकर बुढ़ापेमें वान-प्रस्थ और संन्यासकी ओर बढ़ जाय। महाभारतकारका ऐसा ही मत देख पड़ता है।

(३) शिक्षा-पद्धति।

प्राचीन कालमें हिन्दुस्तानमें किस तरह-की शिक्षा-पद्धति थी? गुरु-शिष्य-सम्बन्ध कैसा रहता था? साधारण लोगोंको कैसी शिक्षा दी जाती थी? क्षत्रियोंको क्या सिखलाया जाता था? स्त्रियोंको क्या सिखलाया जाता था? राजकुमारोंको किस तरह और क्या सिखलाते थे? लोगों-को रोज़गारकी शिक्षा कैसे मिलती थी? इत्यादि प्रश्नों पर इसी प्रकरणमें विचार करना है। यह तो प्रकट ही है कि इस सम्बन्धकी तमाम बातें—पूरी जानकारी—केवल महाभारतमें नहीं मिल सकती। तथापि भिन्न भिन्न स्थानोंके उल्लेखोंसे इस सम्बन्धमें बहुतसा ज्ञान प्राप्त हो सकता है और उसे एकत्र करके इसी (वर्णाश्रमके) प्रकरणमें इस विषयकी चर्चा करना है।

पहली बात यह है कि प्राचीन समय-में लोगोंको शिक्षा देनेका काम ब्राह्मणोंने अपने ज़िम्मे ले रखा था। वर्ण-व्यवस्था-में जो अनेक उत्तम नियम थे, उनमें एक यह भी नियम था कि—'सिखानेका काम ब्राह्मण करें'। ब्राह्मणके आद्य-कर्त्तव्यों और अधिकारोंमें अध्यापन और अध्ययन थे। सब प्रकारकी शिक्षा देनेकी योग्यता ब्राह्मण स्वयं अध्ययन करके, सम्पादित करें और फिर उसके अनुसार वे सबको शिक्षा दें। प्राचीन कालमें यह बन्धन था। न सिर्फ़ धार्मिक शिक्षा ही बल्कि अन्यान्य व्यवसायोंकी शिक्षा भी ब्राह्मणोंको ही देनी चाहिये और यह निर्विवाद है कि वे देते रहते थे। यद्यपि उस समय शिक्षा-दान राजाका कर्म माना जाता था, तथापि उसका यह मतलब न था कि सर-कारी मदरसे खोलकर राजा इस कामको करे। इसका अर्थ यह था कि राजा ब्राह्मणोंकी जीविकाकी चिन्ता रखे। ब्राह्मणोंके निर्वाहकी फ़िक्र करना समाज-का कर्तव्य था और ऐसा कर्तव्य पूर्ण करनेकी दृष्टिसे दान लेनेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको दिया गया था सही; परन्तु जहाँ इस प्रकारसे उनकी गुज़र न होती हो, वहाँ यह नियम था कि उनकी आवश्यकताएँ राजाको पूर्ण करनी चाहिएँ। यह बात सिर्फ़ स्वकर्मनिष्ठ ब्राह्मणों-के ही लिए थी, मामूली लोगोंके लिये नहीं। महाभारतमें लिखा है कि और ब्राह्मण तो 'ब्राह्मणक' हैं; राजाको उनके साथ शूद्रवत् व्यवहार करना चाहिये। प्राचीन कालमें इस प्रकार शिक्षाकी व्यवस्था अत्यन्त उत्तम थी और समाजमें स्वार्थ-त्यागकी पद्धति पर शिक्षकोंका एक स्वतन्त्र वर्ग ही तैयार रहता था। यह बात ग़लत है कि ब्राह्मणोंने प्राचीन-कालमें लोगोंको अज्ञानमें रखा; बल्कि उनके सम्बन्धमें आदरपूर्वक यह कहना चाहिये कि सब लोगोंको शिक्षा देनेका काम उन्होंने अपने ज़िम्मे ले रखा था।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, प्राचीन कालमें शिक्षा-दानके लिये सरकारी मद-रसे न थे। प्रत्येक ब्राह्मणका घर ही विद्या पढ़नेके लिये स्कूल था। चाहे जिस गुरु-के घर जाकर विद्यार्थी लोग अध्ययन किया करते थे; और यह भी नियम था कि गुरु अपने घर पर विद्यार्थीको पढ़ावे। प्राचीन

वर्ण-व्यवस्थामें जिस प्रकार शिक्षकोंकी सुविधा कर दी गई थी, उसी प्रकार वर्ण-व्यवस्थामें यह भी नियम था कि त्रिवर्णके प्रत्येक बालकको विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये । आजकल हम लोग अनिवार्य शिक्षा देनेके प्रश्न पर विचार कर रहे हैं; परन्तु प्राचीन कालमें वर्ण-व्यवस्थाने ही इसे हल कर दिया था। यह प्राचीन नियम था कि प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको विद्या अवश्य सीखनी चाहिये। इस बातकी सख्ती थी कि गुरुके घर जाकर त्रिवर्णके प्रत्येक बालकको विद्याभ्यास करना चाहिये; और इस कामके लिये उस समय उपनयन संस्कार धर्ममें मिलाकर प्रचलित कर दिया गया था। विद्या पढ़नेके लिये प्रत्येक बालकको गुरुके घरमें कुछ समय-तक रहना पड़ता था। अब तो उपनयन संस्कारका निरा संस्कार-स्वरूप रह गया है और उसका जो मुख्य काम था वह लुप्तप्राय है। किन्तु महाभारतके समय यह हाल नहीं जान पड़ता। कमसे कम भारती-कालके प्रारम्भमें तो नहीं था। गुरु-गृहमें रहकर विद्या-सम्पादन करनेकी प्रत्येक लड़केके लिये प्राचीन कालमें सख्ती थी। हाँ, यह बात सच है कि यह शिक्षा मुख्यतः धार्मिक होती थी। किन्तु यह भी निर्विवाद है कि वेद-विद्या सिखाई जाकर अन्य विद्याएँ भी पढ़ाई जाती थीं। और, साधारण रूपसे, सभी तरहकी शिक्षा एक ही गुरुके घर मिल जानेका प्रबन्ध था। इस प्रकारकी शिक्षाके लिये कमसे कम बारह वर्ष लगते थे। परन्तु कुछ स्थानों पर इससे भी अधिक वर्ष लगते थे और कहीं कहीं इससे कम भी। फिर भी यह कड़ा नियम था कि जबतक शिष्य अथवा लड़का विद्या पढ़ता था, तब-तक उसका विवाह न होता था। गुरुके घर जाना जिस प्रकार एक धार्मिक विधिका काम था, उसी प्रकार विद्या समाप्त कर गुरु-गृहसे लौटना भी एक धर्म-विधिका ही कृत्य था। इसका नाम समावर्तन या लौटना था। गुरुकी आज्ञा मिल जाने पर यह समावर्तन किया जाता था। अर्थात् गुरु जब लड़केके 'पास' हो जानेका सर्टीफ़िकेट दे दे, तब उसे छुट्टी मिलती थी और अपने घर आनेका परवाना मिलता था। इस प्रकार समावर्तन हो जाने पर उसे विवाह करनेकी स्वाधीनता होती थी। इसके पश्चात् वैराग्य-युक्त ब्रह्मनिष्ठ कुछ ब्राह्मण विवाह करनेके झमेलेमें न पड़कर गुरु-गृहमें ही विद्या पढ़ने और तपश्चर्या करनेके लिये रह जाते थे। ये लोग संसारी झगड़ोंसे दूर ही रहते थे। इनको नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते थे और यदि ये गुरुके घर न रहें, कहीं दूसरी जगह स्वतन्त्रतासे रहने लगें, तो भी हो सकता था। वे जन्मभर ब्रह्मचर्यका पालन और ब्रह्मचर्यके कठोर व्रतोंका भी आचरण करते थे। इसीका नाम पहला आश्रम है। यह बात निर्विवाद है कि प्राचीन कालमें यह आश्रम प्रत्यक्ष था। आजकल उपनयन और समावर्तन दोनों 'फ़ार्स'—तमाशेकी चीज़ हो गये हैं। पुराणोंकी समझसे कलियुगमें दीर्घ काल-तक ब्रह्मचर्य-पालन वर्ज्य है; सो एक दृष्टिसे यह ठीक भी है। क्योंकि स्मृतियोंमें असली ब्रह्मचर्यके जो नियम हैं उनका ठीक ठीक पालन आजकल हो न सकेगा और होता भी नहीं है। तथापि यह मान लेनेमें कोई क्षति नहीं कि प्राचीन कालमें महाभारतके समयतक ऐसे ब्रह्मचर्यके पालन करनेकी रीति प्रचलित थी। महाभारतमें अनेक स्थानोंपर इस ब्रह्मचर्यके नियमोंका वर्णन है। यहाँ, उनका संक्षिप्त तात्पर्य दिया जाता है:—

"आयुका प्रथम चतुर्थांश ब्रह्मचर्यमें

बितावे। धर्मतत्त्वके ज्ञानका सम्पादन करते हुए गुरुके घर अथवा गुरुके पुत्रके पास रहे। गुरुके सो जाने पर सोवे और उनके जागनेसे पहले ही उठ बैठे। शिष्य अथवा दासको जो काम करना चाहिये वह करे। काम कर चुकने पर गुरुके पास जाकर अध्ययन करे। खूब पाक-साफ और कार्य-दक्ष रहे। गुरुके भोजन किये बिना स्वयं भोजन न करे। गुरुके दाहिने चरणको दाहिने हाथसे और बायें चरणको बायें हाथसे छूए। ब्रह्मचारीके लिये जिन गन्धों और रसोंका सेवन करना मना है, उनका सेवन न करे। शास्त्रमें ब्रह्मचर्यके जितने नियम बतलाये गये हैं उन सबका पालन करे। इस रीतिसे गुरुको प्रसन्न करके और उसे दक्षिणा देकर यथाविधि समावर्तन करे। फिर गुरुकी आज्ञासे विवाह करना चाहिये" (शां० २४३ अ०)।

इस वर्णनसे जान पड़ता है कि शिष्यके भोजन करनेकी व्यवस्था बहुधा गुरुके ही घर होगी। शिष्यको गुरुके घर कुछ काम करना पड़ता होगा। इसमें सन्देह नहीं कि आजकलकी तरह पढ़ाईकी फ़ीस न ली जाती थी और भोजनके लिये भी कुछ न देना पड़ता था; परन्तु उसका यह एवज़ बहुत ही कठोर था। मालूम होता है कि बहुतेरे ब्राह्मण-विद्यार्थी भिक्षा भी माँगते थे। स्मृतियोंमें क्षत्रिय और वैश्यके लिए भिक्षाकी मनाही है। फिर भी गुरुके घर काम करना सभी विद्यार्थियोंके लिये अनिवार्य था; और इस तरह गुरुके यहाँ श्रीकृष्ण आदिके भी काम करनेका वर्णन हरिवंशमें है। इस प्रकार गुरुके घर कामकाज करनेवाले विद्यार्थीका शरीर खूब हट्टा कट्टा होना चाहिये। यह एक बड़ा भारी लाभ ही था। किन्तु कुछ गुरु लोग शिष्योंको बहुत ही सताते रहे होंगे। आदि पर्वके तीसरे अध्यायमें यह वर्णन है कि धौम्य ऋषि, वेद नामक अपने शिष्यको, हलमें भी जोतता था। तथापि उसे ज़रा भी खेद न हुआ। गुरुके घर जो कष्ट हुए थे, उनका स्मरण करके वेदने "अपने शिष्योंको गुरु-सेवा जैसा दुर्धर काम कराकर, ज़रा भी कष्ट न दिया।" प्रत्येक शिष्यको न्यूनाधिक काम तो निस्सन्देह करना पड़ता था। फिर, गुरुके स्वभावके अनुसार, चाहे उसमें कष्ट अधिक हो या कम। गुरुको सन्तुष्ट रखकर विद्या सम्पादन करनी पड़ती थी। उस समय यह समझा जाता था कि गुरुकी कृपा बिना विद्या न आवेगी। इस कारण, उस ज़मानेमें, गुरुका अत्यन्त आदर था। गुरुपुत्र या गुरुपत्नीका आदर भी खूब होता था। गुरुपत्नीके सम्बन्धमें शिष्य कभी कुव्यवहार न करे, इस नियमका होना साहजिक था। गुरुपत्नी-गमन महापातकोंमें माना गया है। इस महापातकके लिये देहान्त-दण्ड ही प्रायश्चित्त था। स्मृतियोंकी आज्ञा है कि गुरुपत्नीको दण्डवत करना हो तो वह भी दूरसे ही करे—पैर छूकर नहीं। इस प्रकार मुफ़्त शिक्षा देनेकी प्रथा प्राचीन कालमें थी; किन्तु सम्पूर्ण पढ़ाई हो जाने पर गुरुको दक्षिणा देनेकी भी रीति थी। यद्यपि आजकलकी भाँति गुरुको या डाक्टरको पेशगी फ़ीस देनेका रवाज न था, तथापि काम हो चुकने पर गुरु-दक्षिणा देना आवश्यक था। साधारण रूपसे दो गौएँ ही दक्षिणामें दी जाती थीं। यह भी कुछ अत्यन्त कठिन न था। कुछ गुरु तो बिना दक्षिणा लिये ही 'चलो हो गई' कहकर शिष्यको घर जानेकी आज्ञा दे दिया करते थे। जान पड़ता है कि गुरुके घर विद्या पढ़ते समय साधारण रूपसे अपने घर जानेकी

स्वाधीनता शिष्यको न थी। यह नियम न था कि—"गुरुसे कभी दूर न हो।" फिर भी गुरुसे आज्ञा प्राप्त करके शिष्य अपने घर जा सकता होगा। अन्तिम आज्ञा-प्राप्तिके लिये दक्षिणाकी आवश्यकता थी। इस दक्षिणाकी अनेक असम्भाव्य कथाएँ महाभारतमें हैं। परन्तु उन वर्णनों-से जान पड़ता है कि वे बहुधा शिष्योंकी ऐंठसे ही हुई हैं। गुरु तो दक्षिणा लेनेकी अनिच्छा प्रकट करते जाते थे; परन्तु शिष्य ज़िद करके कहते थे कि-'बतलाइए, आपको क्या दक्षिणा दी जाय।' ऐसा अभिमानका आग्रह होने पर गुरु मन-मानी दक्षिणा माँग बैठते थे और फिर उसके लिये शिष्यको चक्कर काटने पड़ते थे। आदि पर्वमें उत्तङ्ककी और उद्योग पर्वमें गालवकी ऐसी ही कथा है। खैर, ये कथाएँ अपवादक हैं। शिक्षाकी समाप्ति पर यह गुरु-दक्षिणा भी निश्चित रहती थी और उतनी (दो गौ) दक्षिणा देकर शिष्य समावर्तन-विधि करके अपने घर चला जाता और गुरुकी अनुज्ञासे विवाह कर लेता था।

जान पड़ता है कि समग्र आर्य लोगों-की शिक्षाकी यही पद्धति पूर्व समयमें प्रचलित थी। प्राचीन कालमें, पाश्चात्य आर्य देशोंमें भी गुरुके घर रहकर वहीं विद्या पढ़नेकी पद्धति देख पड़ती है; और इसीका रूपान्तर होकर वहाँ आजकल बोर्डिङ्ग स्कूल हो गये हैं। विद्या पढ़ते समय शारीरिक श्रम करने पड़ते थे, गुरुके घर नियमपूर्वक रहना पड़ता था और सब प्रकारके कठोर व्रतोंका पालन अनिवार्य था; इस कारण खान-पान आदि सात्त्विक और नपा-तुला रहता था। इन शिष्योंकी बुद्धि तीव्र और शरीरको रोग-रहित मान लेनेमें कोई विघ्न नहीं। प्राचीन कालमें एक ही गुरुके पास अनेक विद्यार्थी न रह सकते थे, इस कारण कहना चाहिये कि उस समय वे दोष भी न थे जो बोर्डिङ्गमें सैंकड़ों लड़कोंके एक साथ रहनेसे होते हैं। अनुमानसे जान पड़ता है कि एक गुरुके घर बहुत करके चार-पाँच विद्यार्थी रहा करते थे, इससे अधिक विद्यार्थी न रहते होंगे। क्योंकि साधारण रीतिसे, गुरुके घर रहनेका सुभीता न होता होगा। इसके सिवा यह भी सम्भव नहीं कि गुरु-पत्नियाँ अनेक विद्यार्थियोंके लिये रसोई बनानेके झगड़ेमें पड़ें। प्रत्येक विद्वान् ब्राह्मणको अध्यापनका अधिकार था, अतएव ऐसी शालाएँ अनेक होंगी और इसी कारण सभीके लिये शिक्षाका सुभीता था।

प्राचीन कालमें बिना गुरुके विद्या पढ़नेका रवाज न रहा होगा। कमसे कम लोगोंका खयाल था कि वेदविद्या तो गुरुके बिना न पढ़नी चाहिये। वन-पर्वके १३८ वें अध्यायमें लिखा है कि यवक्रीतने बिना गुरुके ही वेदोंका अध्य-यन किया था, इस कारण उसे अनेक दुःख भोगने पड़े। इससे अनुमान होता है कि उस समय वेदोंकी पुस्तकें भी रही होंगी। क्योंकि गुरुके बिना वेदोंका अध्य-यन पुस्तकोंसे ही हो सकता है। प्राचीन कालमें यह धारणा थी कि सभी विद्याएँ गुरुसे पढ़ने पर ही सफल होती हैं और वेदविद्याको तो गुरुसे ही पढ़नेका निश्चय था। यह प्रकट है कि बिना गुरुके वेद-विद्या पढ़ना सम्भव ही नहीं। क्योंकि निरी पुस्तकोंसे वेदोंका ठीक और शुद्ध उच्चारण नहीं आ सकता; कुछ तो गुरु-मुख होना ही चाहिये।

शूद्रोंको वेदविद्याका अधिकार न था, इस कारण उन्हें वेद न पढ़ाये जाते थे। किन्तु यह अनुमान है कि शूद्र विद्यार्थी अन्य विद्याएँ सीखनेके लिये आते होंगे।

यह साफ़ नहीं कहा गया कि शूद्रोंके लिये आश्रम-धर्म नहीं है। चारों वर्णोंके लिये संन्यासाश्रम विहित है या नहीं? यह प्रश्न महाभारतके समय जैसी अनिश्चित स्थितिमें था, वैसी ही अनिश्चित स्थितिमें एक यह प्रश्न भी देख पड़ता है कि शूद्रोंको विद्या पढ़ाई जाय अथवा नहीं। यह तो निश्चित ही था कि उन्हें वेदविद्या न पढ़ाई जाय। किन्तु और विद्याओंके पढ़ानेकी मनाही न होगी। इस सम्बन्धमें एकलव्य-का दृष्टान्त ध्यान देने योग्य है। द्रोणकी कीर्ति सुनकर अनेक राजपुत्र उनके पास धनुर्विद्या सीखने आये। उस समय व्याधोंके राजा हिरण्यधनुका बेटा एक-लव्य भी उन्हें गुरु बनाने आया। तब, अन्य शिष्योंके लाभके लिये, धर्मज्ञ द्रोणने उसको शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया। आदिपर्वके १३२ वें अध्यायमें मुख्य बात यही है जो ऊपर लिखी गई है। यह बात सब लोगोंमें अभीतक पाई जाती है। न तो जापानी लोग अपनी अस्त्रविद्या दूसरे देशवालोंको सिखाते हैं और न जर्मन लोग अँगरेज़ोंको। चारों ओर तत्त्व एक ही है। किन्तु वह यदि व्याध न होता, किसी और शूद्र जातिका होता, तो आचार्य द्रोण उसे अवश्य सिखला देते। अस्तु; व्याध-पुत्रने द्रोणको मनसे गुरु मानकर मिट्टीकी उनकी मूर्ति बनाई और उसी मूर्तिकी वन्दनाकर उसने धनुर्विद्याका अभ्यास किया। इतने पर भी द्रोण गुरु-दक्षिणा माँगनेसे नहीं चूके। जहाँ इस प्रकारकी भीति या परराज्यके अनार्य लोगोंका विचार आड़े न आता होगा, वहाँ शूद्रोंको भी, वेदके सिवा, अन्य विद्यायें सिखलाई जाती होंगी। महा-भारतसे स्पष्ट देख पड़ता है कि त्रिवर्णके लोगोंको सारी विद्यायें अवश्य सीखनी चाहिएँ। यह सभी थी और वेदविद्या-का भी उन्हें पूर्ण अधिकार था। महा-भारत-कालके पश्चात् बौद्ध और जैन-धर्मका प्रसार हुआ, इस कारण वर्णभेद उठ जानेसे जातियाँ गड़बड़ हो गईं; और उन लोगोंने वेदविद्याका माहात्म्य भी घटा दिया। अतएव परिस्थिति बदल गई। फिर तो अन्य वर्णोंने ही वेद पढ़नेका सिलसिला तोड़ दिया, इस कारण परि-स्थितिमें अन्तर पड़ गया।

अब एक महत्वका प्रश्न यह है कि भारती-कालमें, वर्तमान कालके विश्व-विद्यालयोंकी तरह, ऐसी बड़ी २ संस्थाएँ थीं या नहीं जिनमें बहुतसे विद्यार्थी एकत्र रहते हों। महाभारतके आदि पर्वमें कण्व कुलपतिके आश्रमका वर्णन है। उससे हमें इस ढङ्गके विद्यालयकी कल्पना होती है। मालिनी नदीके किनारे, इस सुन्दर आश्रम अथवा ब्राह्मणोंकी बस्तीमें, "अनेक ऋषि ऋग्वेदके मन्त्र पढ़ते थे। व्रतस्थ ऋषि सामवेदका गान करते थे। साम और अथर्वके मन्त्रोंका पद-क्रम सहित उच्चारण सुनाई दे रहा था। वहाँ पर एक ही शाखा-में अनेक शाखाओंका समाहार करनेवाले और अनेक शाखाओंकी गुण-विधियोंका समवाय एक ही शाखामें करनेवाले ऋषियोंकी धूम थी। वहाँ पर मोक्षशास्त्र-के ज्ञाता, प्रतिज्ञा, शङ्का और सिद्धान्त आदि जाननेवाले, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिषमें पारङ्गत, और द्रव्य-गुण-कर्मकी पूरी व्यवस्था जाननेवाले ऋषियोंका जमाव था। कार्य-कारण नियमोंके ज्ञाता, पशु-पक्षियोंके वाक्यों और मन्त्रोंके रहस्य-के जानकार, अनेक शास्त्रोंका आलोड़न करनेवाले और उन पर प्रामाणिक रूपसे भाषण करनेवाले हज़ारों ऋषियोंकी वहाँ भीड़ थी। इसीमें नास्तिक-पन्थोंके मुखियोंका वाद-विवाद मिल जानेसे वह आवाज़ बहुत ही मनोहर सुनाई पड़ती

थी।" इस वर्णनसे पता लगता है कि आश्रममें कौन कौनसी विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं और किन किन विषयों पर बहस होती थी। जान पड़ता है कि विद्या-पीठ कुछ लिखाने-पढ़ानेके स्थान न थे। ये स्थान तो पढ़े-पढ़ाये लोगोंको अपनी विद्वत्ताकी परीक्षा देने अथवा पढ़ी हुई अपनी विद्याको सदा जाग्रत रखनेके लिए होंगे। असली शिक्षा (पढ़ाई) तो भिन्न भिन्न गुरुओंके ही घर दस-दस पाँच-पाँच विद्यार्थियोंमें होती थी।

जहाँ कौरव-पाण्डवोंके सदृश अनेक विद्यार्थी एक ही जगह रहते होंगे वहाँ सबको गुरुके घर न भेजकर कोई न कोई स्वतन्त्र शिक्षक नियुक्त कर लेनेकी रीति रही होगी। इस कारण, गुरुके पद पर द्रोणकी योजना हस्तिनापुरमें कर लेनेका वर्णन है। इन सब लड़कोंने पहले कृपाचार्यसे वेद-विद्या और अस्त्र-विद्या सीखी थी। परन्तु इधर द्रोण थे भरद्वाजके पुत्र, और साक्षात् परशुरामसे उन्होंने अस्त्र-विद्याकी शिक्षा पाई थी; द्रुपदसे नाराज़ होकर वे अपने साले कृपके पास आ रहे थे। इसलिए भीष्मने उनकी योग्यता अधिक देखकर सब राजपुत्र उन्हींके अधीन कर दिये। अर्थात् द्रोणको उन्होंने राज्यमें नौकर रख लिया और गृह-धन-धान्य आदि सम्पत्ति उनको दे दी। स्पष्ट है कि यह घटना सदाकी परिपाटीके विरुद्ध हुई। एक तो राजपुत्रोंके दुहरे गुरु हो गये; दूसरे जहाँ गुरुके घर शिष्य रहते थे, वहाँ गुरु ही शिष्योंके घर—निदान शिष्योंके सहारे राज्यमें—आ रहा। यह बात अत्यन्त धनवानों और राजपुत्रोंके ही लिए थी। यह तो प्रकट ही है कि इस अवस्थामें शिष्यको घर छोड़कर दूर नहीं रहना पड़ता। लिखा है कि द्रोणके पास अन्य देशोंके राजकुमार विद्या पढ़नेके लिए आकर रहे थे। धनुर्विद्यामें द्रोण बहुत ही निष्णात थे और कृपाचार्यकी तरह उनकी भी आचार्य पदवी थी। परन्तु दरिद्र होनेसे अथवा द्रुपदसे बदला लेनेकी इच्छासे उन्होंने राजसेवा स्वीकार कर ली थी।

साधारण रीतिसे गुरुके ही घर शिष्यके रहनेका रवाज था और वहाँ रहते समय शिष्य जो भिक्षा माँग लावे वह गुरुको अर्पण करके फिर अपनी गुज़र करे। अर्थात् गुरु और शिष्य दोनोंको ही शान्त एवं समाधान वृत्तिके होना पड़ता था (शां० अ० १९१)। यह बहुधा ब्राह्मण विद्यार्थियोंका और वेदविद्या पढ़नेवालोंका सम्प्रदाय रहा होगा। प्रत्येक विद्यार्थीको अलग अग्नि रखकर प्रातःकाल और सन्ध्या समय उसकी पूजा करनी पड़ती थी। शान्ति पर्वके १९१वें अध्यायमें यह भी कहा है कि '**उभे सन्ध्ये भास्कराग्निदैवतान्युपस्थाय**'—सुबह-शाम सूर्य, अग्नि और अन्य देवताओंकी स्तुति करे और तीन बार स्नान करके (**त्रिषवणमुपस्पृश्य**) गुरुके घर स्वाध्यायमें तत्पर रहे। अर्थात्, इतने कठोर व्रतका सध जाना ब्राह्मणोंके ही लिए सम्भव था, और वह भी सब ब्राह्मणोंके लिए नहीं। क्षत्रिय और वैश्योंके लिए भी यही नियम था; किन्तु स्मृतियोंसे पता लगता है कि उनके लिए भिक्षाका नियम न था। क्षत्रियोंको धनुर्विद्या और राजनीति अथवा दण्डनीति भी ब्राह्मण ही सिखाते थे; और वैश्योंको भी वार्ताशास्त्रका ज्ञान अथवा शिल्पका ज्ञान ब्राह्मण गुरुओंसे ही मिलता था। फिर भी यह अनुमान होता है कि इन विद्याओंकी शिक्षा देनेवाले लोग राज्यकी ओरसे भी नियुक्त रहते होंगे और उनका मुख्य

उपयोग राजपुत्रों तथा योद्धाओंको धनुर्विद्या सिखानेमें होता था। सभा पर्वके कच्चिदध्यायमें नारदने यह प्रश्न किया है—

कच्चित् कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः। कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः॥

इसमें कारणिक शब्द विशेष अर्थमें आया है; यहाँ उसका उपयोग सरकारी शिक्षकके अर्थमें किया गया है। टीकाकारने **कारयन्ति** का अर्थ भी **शिक्षयन्ति** किया है। अर्थात्, योद्धाओंको भली भाँति सिखलानेके लिये सरकारी शिक्षक नियुक्त रहते होंगे। यहाँ पर ऐसे विद्वान् आचार्योंकी बहुत ही अधिक प्रशंसा की गई है।

कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम्। पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम्॥

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि क्षत्रियोंकी मुख्य शिक्षा युद्धकला-सम्बन्धी थी। जब द्रोणने धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्रोंकी और पाँच पाण्डवोंकी परीक्षा दिलवाई, तब उन्हें क्या क्या सिखलाया गया था, इसका वर्णन आदि पर्वमें किया ही गया है। सबमें मुख्य धनुष्-बाण, उससे ज़रा ही नीचे गदा और उसके बाद ढाल-तलवारका नम्बर था। इसी प्रकार घोड़े और हाथी पर तथा रथमें बैठकर भिन्न भिन्न शस्त्रोंसे युद्ध करना आदि कौशल उन राजकुमारोंने दिखलाया था। ये सब विद्याएँ गुरुने तो सिखलाई ही थीं, परन्तु यह भी दिखलाया है कि गुरुकी शिक्षाके साथ ही साथ प्रत्येक शिष्यकी क्रिया अथवा योग्या यानी व्यासङ्ग भी स्वतन्त्र है। अर्जुनका रातनकमें धनुषकी योग्या करनेका वर्णन है। विद्या-व्यासङ्ग और गुरुकी कृपाके साथ साथ तीसरी ईश्वरदत्त योग्यता भी होनी ही चाहिये। यह शिक्षा क्षत्रिय कुमारोंको दी जाती थी और ब्राह्मण लोग शिक्षक थे। यद्यपि यह सही है कि मन्त्र आदिकी विधि अस्त्रोंमें होती है और इसके लिए यद्यपि यह मान लिया कि ब्राह्मण शिक्षक रहे होंगे, तथापि इन बातोंके अतिरिक्त ब्राह्मण लोग मानवी युद्ध-विद्याकी शिक्षा देनेमें भी स्वयं योग्य थे। और उसके अनुसार वे शिक्षा देते भी थे, क्योंकि पढ़ाना सिखलाना तो उनका काम ही था और शिक्षा देनेकी जिम्मेदारी उन्होंने सिर-आँखों पर ले रखी थी।

व्यवसायकी शिक्षा।

साधारण लोगोंको रोज़गारकी शिक्षा बहुधा उनके पेशेके—आँखों देखे—प्रत्यक्ष अनुभवसे ही मिलती रही होगी। तथापि शिक्षाकी विशेष बातें सिखलानेके लिये ब्राह्मण ही तैयार होते होंगे। यह वर्णन है कि भिन्न भिन्न पेशावालोंको ब्राह्मण लोग जीविकाके उपाय सिखलावें, कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यका शास्त्र 'वार्ता' नामसे प्रसिद्ध था: सो इस शास्त्रके शिक्षक भी ब्राह्मण ही थे। और नारदने युधिष्ठिरसे प्रश्न किया कि यह शास्त्र ठीक तौर पर सिखलाया जाता है या नहीं। भिन्न भिन्न विद्यायें, ज्योतिष और वैद्यक आदि बहुधा ब्राह्मण ही पढ़ते और ब्राह्मण ही पढ़ाते थे। सारी विद्यायें पढ़नेके लिये उत्तेजन देना राजाका काम है। प्राचीनकालमें ऐसी ही धारणा थी। और उत्तेजन देनेकी रीति यह थी कि भिन्न भिन्न विषयोंमें परीक्षा लेकर जो लोग उन विद्याओंमें प्रवीण निकलें, उन्हें राजा दक्षिणा दे। वर्तमान कालकी तरह प्राचीन कालमें भी यही परिपाटी थी। पहले पेशवाओंके समयमें और आजकल कुछ

रियासतोंमें विद्वान् ब्राह्मणोंको, सिर्फ विद्वत्ताके एवज़में, जो दक्षिणा देनेकी रीति थी और है, वह इस प्रकार प्राचीन-कालसे ही देख पड़ती है। विद्या पढ़नेके लिये उत्तेजन देनेकी यह एक प्राचीन युक्ति है। उस समयकी परिस्थितिमें वह उचित थी, क्योंकि दक्षिणा लेना ब्राह्मणका कर्तव्य था; और इसके लिये उसने विद्या पढ़ने-पढ़ानेका काम अङ्गीकार कर रखा था। यह एक प्रकारकी वर्तमान कालीन स्कालरशिप अथवा शिष्यवृत्ति-की चाल है। इसे दक्षिणान कहकर शिष्य-वृत्ति कहनेसे उसमें फ़र्क नहीं पड़ता। नारदका प्रश्न यहाँ उल्लेख करने योग्य है।

कच्चित्ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा॥
दक्षिणास्त्वं ददास्येषां नित्यं स्वर्गापवर्गदाः।

(६९ स० ५ अ०) में गुणतः शब्द-से जान पड़ता है कि यह परीक्षा लेनेकी प्रथा होगी। यह निरी वेदविद्याकी ब्राह्मणोंकी परीक्षा न थी, किन्तु सभी विद्याओंकी थी और न सिर्फ़ ब्राह्मणमें ही बल्कि इसमें साधु भी शामिल होते थे। साधु शब्दका अर्थ 'तत्त्वज्ञानमें प्रवीण मनुष्य' करना चाहिये। क्योंकि जिनका आचरण साधुओंकासा निश्चित होगा वे साधु दक्षिणा क्यों लेने लगे। खैर, इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिणा अथवा स्कालर-शिप देकर समस्त विद्याओंकी शिक्षाके लिये प्राचीन कालमें राजाकी ओरसे प्रोत्साहन मिलता था।

बाल्यावस्थामें जो विद्या सीखी जाती है उसके सिवा अनेक विषय ऐसे भी होते थे जिन्हें प्रौढ़ मनुष्य सीखते थे। उनकी शिक्षा सप्रयोग होती थी। ये विषय ख़ासकर युद्ध-सम्बन्धी थे। नारदके प्रश्नमें यह पूछा गया है कि—"तुम स्वयं हस्तिसूत्र, रथसूत्र और अश्वसूत्र पढ़ते हो या नहीं।" टीकाकारने पढ़ासिका अर्थ सीखना—आचार्योंसे पढ़ना—किया है। इनमेंसे प्रत्येक विषयके भिन्न भिन्न ग्रन्थ, और उन उन विद्याओंमें पारङ्गत ब्राह्मण अथवा अन्य लोग होंगे ही। उनको आचार्य कहते थे। इसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि इन आचार्योंसे राजा लोग प्रयोग समेत विद्या सीखें। निदान युधि-ष्ठिरके युद्धमन्त्रियोंके लिये अथवा कुमारों के लिये सब विद्याओंका पढ़ना आव-श्यक था। लगे हाथ आगे यह प्रश्न है—

कच्चिदभ्यस्यते सम्यग् गृहे ते भरतर्षभ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम्॥

इसमें यही सुझाया गया है कि युधिष्ठिर-के घरमें अर्थात् उसके अधिकारियों और कुमारोंको धनुर्वेदका अभ्यास होना चाहिये। यह अभ्यास बड़े विद्यार्थियोंका है और उन उन विद्याओंके आचार्योंकी देख-रेखमें वह होता है। "यन्त्रसूत्रं च नागरं" शब्द स्पष्टार्थ नहीं हैं; निदान ऐसे हैं जिनका अर्थ हमसे होने लायक नहीं; तथापि उसमें यन्त्रका—युद्धोपयोगी यन्त्रका ज्ञान आवश्यक कहा गया है। तब यह प्रकट ही है कि शास्त्रीय ज्ञानके साथ इस ज्ञानका मेल है और यह ज्ञान अभ्याससे बढ़ाया जाता था।

महाभारतके समय पुरुषोंकी शिक्षाकी इस प्रकारकी व्यवस्था थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंके लिये ब्रह्मचर्य अर्थात् शिक्षा आवश्यक थी और उसमें यह सख़्ती थी कि वह धार्मिक आचरणका ही एक विषय था। विद्यार्थियोंके आचरणके सम्बन्धमें कड़े नियम प्रचलित थे। स्मृति ग्रन्थोंमें वे नियम मौजूद हैं। महाभारतमें वे विस्तृत रूपसे नहीं हैं परन्तु हैं वे बहुत मार्मिक; और उनमें ऐसी योग्यता थी जिससे विद्यार्थी सशक्त, सद्धर्मशील और विद्या-सम्पन्न हो जाय। फिर यह शर्त

थी कि ऐसी विद्या पूर्ण हुए बिना विवाह न हो सकता था। सारांश यह कि आजकल जिस तरह आश्रम-सङ्कर न होने देनेका कोई ख़यालतक नहीं करता वैसी बात उन दिनों न थी। कुछ विद्याएँ ऐसी थीं जो प्रौढ़ अवस्थामें ही विशेष व्यासङ्गसे प्राप्त हो सकती थीं और खूब बढ़ाई जा सकती थीं। उन्हें सीखनेके लिये राजाकी ओरसे दक्षिणाओंके रूपमें उत्तेजन देनेका प्रबन्ध था और सिखलानेवाले आचार्यको घर रखनेकी पद्धति थी। इस तरह, प्रजाकी शिक्षाके लिये राजाकी ओरसे समुचित प्रबन्ध रहता था। निष्कर्ष यह है कि मुख्य रूपसे शिक्षाका भार ब्राह्मण-समूह पर था और राजाकी ओरसे उन्हें अप्रत्यक्ष रूपसे सहायता मिलती रहती थी।

स्त्री-शिक्षा।

अब स्त्रियोंकी शिक्षाका विचार किया जाता है। महाभारतके समय उच्च वर्णकी स्त्रियोंको शिक्षा देनेकी रीति तो निःसन्देह देख पड़ती है। ये स्त्रियाँ लिख-पढ़ सकती होंगी। यह शिक्षा उच्च कोटिकी भी होती थी। द्रौपदीके वर्णनमें पण्डिता शब्दका प्रयोग पाया जाता है।

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता।
(वन० अ० २७)

यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि यह शिक्षा दी कहाँ जाती थी। यह तो निर्विवाद है कि स्त्रियोंके लिये शालाएँ न थीं। ऐसी शालाओंका कहीं वर्णन नहीं है। द्रौपदीने युधिष्ठिरसे जो भाषण किया है वह सचमुच ऐसाही है जैसा कि पण्डिता स्त्रीका होना चाहिये। यह शिक्षा प्राप्त करनेके लिये वह कहीं मदरसेमें गई हो, इसका वर्णन नहीं मिलता। उसने कहा है कि यह बात "मैंने पिताके यहाँ रहते समय एक ऋषिसे सुनी थी।" अर्थात् स्त्रियोंको अपने घर पर ही शिक्षा दी जाती थी। पितासे, भाईसे अथवा वृद्ध सन्मान्य आगत पुरुषोंसे उनको शिक्षा मिलती रही होगी। अनुमान यह है कि स्त्रियोंको वेदोंकी शिक्षा न दी जाती होगी, क्योंकि वेद पढ़ानेके लिये उनके उपनयन आदि संस्कार होनेका वर्णन कहीं नहीं पाया जाता। मनुका एक यह वचन प्रसिद्ध है—"पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।" किन्तु भारती कालमें इस रीतिके प्रचलित होनेका वर्णन महाभारतमें नहीं है। उनकी शिक्षा इतनी ही होगी कि उन्हें मामूली लिखना-पढ़ना आ जाय; वे धार्मिक कथाओं और विचारोंको भली भाँति जानकर प्रकट कर सकें, और कुछ धार्मिक ग्रन्थोंका पठन कर लें।

स्त्रियाँ सहधर्मचारिणी अर्थात् पतिके साथ वैदिक क्रिया करनेकी अधिकारिणी थीं; परन्तु उन्हें वेदविद्या नहीं पढ़ाई जाती थी। महाभारतमें, उनके स्वतन्त्र रूपसे वैदिक क्रिया करनेका भी वर्णन नहीं है।

विराट पर्वमें जो वर्णन है उससे ज्ञात होता है कि मामूली लिखने-पढ़नेको और धर्मकी शिक्षा उन्हें दी जाती थी; और महाभारत-कालमें क्षत्राणियोंको ललित कलाओंकी भी शिक्षा दी जाती थी। विराटकी कन्या उत्तराको गीत, नृत्य और वादित्र सिखलानेके लिये बृहन्नडाको नियुक्त किया गया था। इस वर्णनसे स्पष्ट है कि प्राचीन कालमें क्षत्राणियोंको गाना और नाचना भी सिखलाया जाता था। आजकल स्त्रियोंको गीत-नृत्य सिखलाना निन्द्य माना जाता है, परन्तु महाभारतके समय तो वह क्षत्रियोंकी बेटियोंको सिखलाया जाता था। इसकी शिक्षाके लिये विराटके महलोंमें अलग एक नृत्यशाला बनवाये जानेका वर्णन है। यह

तो सभी जानते हैं कि नृत्य सिखलानेके लिये अच्छा विस्तृत स्थान चाहिये, तब ऐसी शिक्षा दिलवाना धनवानोंका ही काम था। यह शिक्षा कुमारियोंको ही दी जाती थी, और विवाहके समय उन कन्याओंके जो खास खास गुण बतलाये जाते थे उनमें एक यह भी मान्य किया गया होगा। उत्तराके साथ साथ महलों-की और बाहरकी भी कुछ क्वाँरी कन्याएँ सीखती थीं। 'सुताश्च मे नर्तय याश्च तादृशीः। कुमारीपुरमुत्ससर्ज तम्' इस वाक्यसे ज्ञात होता है कि यह शिक्षा अविवाहित लड़कियोंके ही लिये रही होगी। स्त्रियोंको कुमारी अवस्थामें शिक्षा देना ठीक है और उस ज़मानेमें क्वाँरियों-को ही शिक्षा देनेकी रीति रही होगी। विवाह होते ही स्त्रियाँ तत्काल गृहस्थीके झमेलेमें पड़ जाती थीं, इसलिये शिक्षाका समय कुमारी दशामें ही था। स्त्रियोंके लिये न ब्रह्मचर्याश्रम था और न गुरुगृहमें वास करनेकी झंझट। किन्तु ऊपर जो वर्णन किया गया है उससे देख पड़ता है कि लड़कियोंको मैकेमें ही शिक्षक द्वारा शिक्षा दिला दी जाती थी; और यह शिक्षा बहुत करके ललित कलाओंकी ही होती थी। इनमें नृत्य-गीत-वादित्र विषय खासकर क्षत्रिय-कन्याओंके थे। यह वर्णन है कि नृत्यशालामें शिक्षा पाकर लड़कियाँ अपने अपने घर चली जाती हैं और रात-को नृत्यशाला सूनी रहती है। "दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम्" (वि० अ० २२)। तब यह स्पष्ट है कि बाहरकी लड़कियाँ भी शिक्षा-प्राप्त करने-को आया करती थीं, परन्तु वहाँ रहती न थीं—लौट जाती थीं।

नृत्य-गीत सिखलानेके लिये विराटने बृहन्नडाको रक्खा था। इससे अनुमान होता है कि लड़कियोंको इन विषयोंकी शिक्षा देनेके लिये पुरुष न रक्खे जाते थे। बृहन्नडाको शिक्षा देनेके काम पर नियुक्त कर लिया, यह भी आश्चर्य करने लायक बात है। क्योंकि यह राय तो हमेशासे है कि हिजड़े लोग व्यवहारमें सबसे बढ़कर त्याज्य हैं। यह भी वर्णन है कि विराटने परीक्षा करवाकर पता लगा लिया था कि बृहन्नडा पुरुष नहीं, हिजड़ा (क्लीब) है। इससे यह भी प्रकट है कि वह ख्वाजह न था। किंबहुना जैसा कि अन्यत्र वर्णन किया गया है, ख्वाजह बनानेकी दुष्ट और निन्द्य रीति भारती आर्योंमें कभी न थी। कमसे कम महाभारतके समयतक तो न थी। प्राचीन बैबिलोनियन, असीरियन और पर्शियन आदि लोगोंमें यह रीति थी, पर भारती आर्योंमें न थी और उनमें अब भी नहीं है। उनके लिये यह बात भूषणावह है। विराटने परीक्षाके द्वारा बृहन्नडाको क्लीब समझकर अन्तःपुरमें कुमारियोंको नृत्य सिखलानेके लिये भेजा। इस वर्णनसे प्रथम यह देख पड़ता है कि महाभारत-कालमें लड़कियोंको नृत्य सिखलानेके लिये क्लीब ही नियुक्त होते थे; परन्तु कालिदासके मालविकाग्निमित्र नाटकमें यह बात भी नहीं मिलती। मालविकाको नृत्य सिखलानेवाले दोनों आचार्यों—गणदास और हरदास—के क्लीब होनेका वर्णन नहीं है। तब फिर यह पहेली ही रही। दूसरी पहेली यह है कि स्त्रियोंको नाच-गान सिखलानेके लिये स्त्रियोंका उपयोग किया हुआ कहीं नहीं मिलता। पाश्चात्य देशोंमें भी स्त्रियोंको नाच-गान सिखलाया जाता है; किन्तु इसकी शिक्षा उन्हें पुरुषोंसे ही प्राप्त होती है। अर्जुन खूब दृढ़, सुस्वरूप और हट्टा कट्टा जवान देख पड़ता था। इस कारण, विराटने परीक्षा करवाई कि यह दर-असल क्लीब

है या स्त्रियोंके गहने पहनकर नक़ली क्लीब बन आया है। हमारे मतसे यहाँ पर ऐसा ही गर्भितार्थ लेना चाहिए। कुमारियोंको नृत्य-गान आदि कलाएँ सिखलानेके लिये उतरी हुई अवस्थाके पुरुष-शिक्षक ही, साधारण रीति पर, रखे जाते होंगे। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी शिक्षा साधारण स्त्रियोंको नहीं मिल सकती। और यह भी कुछ ज़रूरी न था कि स्त्रियाँ पुरुषोंकी भाँति, शिक्षिता हों ही। पुरुषोंके लिये जिस तरह यह नियम था कि गुरुके घर आकर उन्हें विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये, वैसा स्त्रियोंके लिये न था। इस कारण साधारण स्थिति-की स्त्रियाँ, अशिक्षित रही होंगी। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी लड़कियाँ, सहज ही मिलनेवाली शिक्षाके कारण, अधिक सुशिक्षित रही होंगी। सिर्फ़ क्षत्रियोंकी बेटियोंको ललित-कला सिखलानेके लिए उनके घर शिक्षक रखे जाते थे। महा-भारतके समय स्त्री-शिक्षाकी इस प्रकार-की परिस्थिति देख पड़ती है।

सातवाँ प्रकरण ।

विवाह-संस्था ।

हिन्दू समाजकी परिस्थितिका दूसरा महत्त्वपूर्ण अङ्ग विवाह-संस्था है। इस भागमें देखना है कि भारत-कालीन आर्योंमें विवाहकी कैसी और क्या रीतियाँ थीं; महाभारतके समयतक उनकी उत्क्रान्ति कैसे हुई; और उस समय पति-पत्नीका सम्बन्ध कैसा था। वर्ण-व्यवस्थाका पहले जो विचार किया जा चुका है, उसमें इस विषयका थोड़ासा दिग्दर्शन हुआ है। किन्तु उस विवेचनकी अपेक्षा यहाँ विवेचन विस्तृत है और कई बातोंके सम्बन्धमें मतभेदके लिये जगह है। अतएव इस प्रकरणमें इस विषयका सम्पूर्ण विचार किया गया है।

सभी समाजोंकी उत्क्रान्तिके इतिहासमें एक ऐसा समय अवश्य होना चाहिए जब कि समाजमें विवाहका बन्धन बिलकुल हो ही नहीं। महाभारतमें एक स्थान पर वर्णित है कि किसी समय भारतीय आर्य-समाजकी परिस्थिति इसी ढङ्गकी थी। यह नहीं माना जा सकता कि यह स्थिति निरी काल्पनिक है। आदि पर्वके १२२वें अध्यायमें यह कथा है कि उद्दालक ऋषिके पुत्र श्वेतकेतुने विवाहकी यह मर्यादा कायम की। उसकी माताका हाथ एक ऋषिने पकड़ लिया था, इससे उसको गुस्सा आ गया। तभी उसने यह मर्यादा खड़ी की। पशुओंमें न देख पड़नेवाली यह विवाह-मर्यादा मनुष्योंमें उसी समयसे प्रचलित है। उसने मर्यादा बाँध दी कि—"जो स्त्री पतिको छोड़ किसी अन्य पुरुषसे समागम करेगी, उसे भ्रूण-हत्याका पातक लगेगा।" किन्तु इसके साथ ही उसने यह भी नियम कर दिया कि—"जो पुरुष अपनी स्त्रीको छोड़कर अन्य स्त्रीसे समागम करेगा उसे भी यही पाप लगेगा।"

भार्यान्तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीम्।
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि॥
(आदि पर्व १२२ अ० २८ श्लोक)

परन्तु आश्चर्यकी बात है कि हिन्दू-समाजमें इस दूसरे नियमका कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया। बहुधा इस बातकी किसीको ख़बर ही नहीं कि पुरुषको भी, स्त्रीकी ही तरह, व्यभिचारका पातक लगता है। धर्मशास्त्रमें प्राचीन ऋषियोंने जो नियम बना दिया है वह दोनोंके लिये ही एकसा उपयुक्त और न्याय्य है। प्राचीन कालमें इस प्रकारकी अनियन्त्रित व्यवस्था रहनेका दूसरा उदाहरण उपनिषद्में सत्यकाम जाबालका है। सत्यकाम जाबालकी माता यह न कह सकती थी कि यह लड़का किसका है। परन्तु उस लड़केने सच बात कह दी, इस कारण ऋषिने अर्थात् उसके गुरुने निश्चित कर दिया कि यह ब्राह्मणका बेटा है। इन दोनों उदाहरणोंसे यह नहीं माना जा सकता कि विवाहका बन्धन पूर्व कालमें बिलकुल था ही नहीं। और इसमें सन्देह ही है कि इस प्रकारकी स्वाधीनता ऐतिहासिक समयमें कभी थी भी या नहीं। तथापि विवाहकी रीतिकी काल्पनिक उत्पत्ति-कथासे पाठक समझ सकेंगे कि हिन्दुस्तानी आर्योंमें विवाहको जो अति उदात्त और पवित्र स्वरूप प्राप्त हो गया है उसकी नींव प्रारम्भसे ही है।

नियोग।

ऊपरकी कथा चाहे काल्पनिक हो चाहे न हो, परन्तु यह तो निर्विवाद है

कि हिन्दुस्तानमें भारती आर्योंमें नियोगकी रीति प्राचीन-कालमें रही होगी। अपने पतिको छोड़कर स्त्री चाहे जिस पुरुषसे विवाह कर ले—यह बात किसी समाजमें खुल्लम-खुल्ला नहीं चल सकती; परन्तु प्राचीन कालमें कई समाजोंमें नियोगकी यह रीति थी कि पतिकी आज्ञासे अथवा पतिके पश्चात् पुत्र-प्राप्तिके लिये, स्त्री अन्य पुरुषसे प्रसङ्ग कर ले। बाइबिलसे प्रकट होता है कि ज्यू लोगोंमें भी ऐसी चाल थी। प्रत्येक समाजमें मृत व्यक्तिके लिये पुत्र उत्पन्न करनेकी आवश्यकता प्राचीन कालमें बहुत रहती थी। समाजका बल मनुष्य-संख्या पर अवलम्बित था, इस कारण प्राचीन कालमें पुत्रकी क़द्र भी बहुत थी। इस निमित्तसे भी नियोगकी प्रणाली जल पड़ी होगी। इसमें भी अपने ही घरके—कुटुम्बी पुरुषसे सन्तति उत्पन्न करानेकी इच्छा स्थिर रहना स्वाहजिक ही है। इस कारण, नियोगमें बहुधा अपने कुटुम्बी पुरुषके ही पास जानेकी स्त्रियोंको आज्ञा थी, और वह भी तभीतक जबतक पुत्र-प्राप्ति न हो जाय। इसके सिवा नियोगकी अनुमति उसी अवस्थामें मिलती थी जब कि पति किसी कारणसे असमर्थ हो गया हो, अथवा मर गया हो और उसके पुत्र न हो। कुटुम्बी पुरुषसे, पतिके भाईसे अथवा सम्मानित ऋषिसे सन्तति उत्पन्न करानेका नियम होनेके कारण सन्तानके हीनसत्त्व या हीनवर्ण होनेका अन्देशा न था। इसी नियोगके द्वारा धृतराष्ट्र और पाण्डुकी उत्पत्ति होनेकी कथा महाभारतमें है; और पाण्डुके भी ऐसे ही नियोगके द्वारा धर्म, भीम आदि पुत्र होनेका महाभारतमें वर्णन है। तत्कालीन इतिहास और अन्य प्राचीन लोगोंके इतिहास पर विचार करनेसे ये कथाएँ असम्भवनीय नहीं जान पड़तीं। और यह माननेमें भी कोई क्षति नहीं कि अति प्राचीन कालमें नियोगकी प्रथा आर्य लोगोंमें थी।

यह प्रथा शीघ्र ही बन्द हो गई होगी। समाज जैसे जैसे बढ़ते गये और भिन्न भिन्न देशोंमें मनुष्य-संख्या काफ़ी होती गई, वैसे ही वैसे वैवाहिक उच्च कल्पनाओंके लिये बाधा-स्वरूप इस नियोगकी प्रथाका केवल पुत्र-प्राप्तिके लिये जारी रखना अनुचित समझा गया होगा। इस अयोग्य रीतिसे मनुष्य-बल बढ़ानेकी इच्छा धीरे धीरे समाजसे तिरोहित हो गई होगी। भारतीय आर्योंमें स्त्रियोंके पातिव्रतके सम्बन्धमें जो अत्यन्त गौरव उत्पन्न हो गया, उस गौरवके कारण यह प्राचीन नियोगकी रीति निन्द्य और गर्हणीय प्रतीत होने लगी होगी। इस कारण वह उत्तरोत्तर बन्द होती गई। महाभारतके समय उसका चलन बिलकुल न था। मनुस्मृतिमें इसका खूब वाद-विवाद है कि नियोग शास्त्र-सिद्ध है अथवा नहीं। अन्तमें अनेक ऋषियोंके मतसे फ़ैसला किया गया है कि नियोग दोषयुक्त और निन्द्य है। अर्थात् मनुस्मृति और महाभारतके समयमें नियोगका चलन था ही नहीं। यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन कालमें जिस समय नियोग प्रचलित था उस समय भी उसके लिये अनेक बन्धन थे। पुत्र न हो तभी नियोगके लिये अनुमति मिलती, और वह भी सिर्फ़ पुत्रप्राप्ति-समयतकके लिये ही और या तो पतिकी या कुटुम्बियोंकी आज्ञासे। सारांश यह कि नियोगके लिये किसी समय भी अनियन्त्रित सम्बन्धका स्वरूप प्राप्त न था। यह बात ध्यान देने लायक है।

नियोगकी प्रथा बहुत प्राचीन कालमें ही रुक गई होगी। क्योंकि भारतीय आर्यों और आर्य स्त्रियोंकी पातिव्रत्य-

विषयक कल्पना, बहुत पहले, उच्च स्थितिमें पहुँच चुकी थी। महाभारतके अनेक उदाहरणों और कथानकोंमें आर्य स्त्रियोंके पातिव्रत्यके सम्बन्धमें हमारे मन पर आदर-की अद्भुत छाप लग जाती है। इस प्रकारका भारती आर्य स्त्रियोंका उदार चरित्र और किसी जातिवालोंमें देखनेको न मिलेगा। "स्त्रीणामार्य-स्वभावानां पतिरेकोहि दैवतम्"। उस समयकी आर्य स्त्रियोंके वर्णनसे यह धारणा स्पष्ट देख पड़ती है कि 'आर्य स्त्रियोंका एक मात्र देवता पति ही है। इस सम्बन्धमें सावित्रीका आख्यान मानों हमारे आगे पातिव्रत-धर्मका अत्यन्त उदात्त, मूर्तिमान्, सुन्दर चित्र महाभारतमें खड़ा किया गया है। लगातार हज़ारों वर्षसे हिन्दू स्त्रियोंके अन्तःकरण पर उसका पूर्ण परिणाम हो रहा है। द्रौपदी, सीता और दमयन्ती आदि अनेक पतिव्रताओंके सुन्दर चरित्र, हज़ारों वर्षसे हम हिन्दुओंकी ललनाओंकी नज़रोंमें—महाभारतकी कृपासे घूम रहे हैं। इस कारण पातिव्रत हिन्दू स्त्रियोंका अवर्णनीय अलङ्कारसा हो रहा है। हिन्दू समाज पर महाभारतने जो अनेक उपकार किये हैं उनसे पातिव्रतका वर्णन बड़ा अनोखा है। स्त्रियोंके पातिव्रतका जो अतिशय उदात्त स्वरूप—इस ग्रन्थमें—वर्णित है वह एक बहुत बड़ा उपकार है और इसे हिन्दू-समाज कभी भूल नहीं सकता।

पुनर्विवाहकी रोक।

पातिव्रतकी उच्च कल्पनाके कारण आर्य लोगोंमेंसे सिर्फ़ नियोगकी प्रथा नहीं उठ गई, बल्कि पुनर्विवाहकी रीति भी इसी कारणसे आर्य लोगोंमें—त्रैवर्णिकोंमें—बन्द हो गई। भारतीय आर्योंमें प्राचीन कालसे पुनर्विवाहका चलन बन्द है। इतिहाससे मालूम होगा कि दुनियाके परदेपर अनेक जातियोंके बीच सिर्फ़ दो ही आर्य जातियोंमें पुनर्विवाहका रास्ता रुका पड़ा है—हिन्दुस्थानके भारतीय आर्योंमें और पश्चिममें जर्मनोंकी एक शाखामें। रोमन इतिहासकार टेसिटस जर्मनोंका वर्णन करते हुए लिखता है—"कुछ जर्मनोंकी स्त्रियाँ जिन्दगी भरके लिये एक ही पतिको अपनाती हैं, और उसे अपने जीवनके सुखका सर्वस्व निधान समझकर उससे अत्यन्त प्रेम करती हैं।" इससे ज्ञात होता है कि पातिव्रतकी उदात्त कल्पनासे यह प्रणाली, भारतीय आर्योंकी तरह, प्राचीन जर्मनोंकी शाखामें भी प्रचलित हो गई थी। यूनानी इतिहास-लेखकोंके वर्णनसे भी मालूम पड़ता है कि भारतीय आर्योंमें पुनर्विवाहकी मनाही बहुत प्राचीन कालसे महाभारतके समयतक रही होगी। सिकन्दरके साथके इतिहासकार लिखते हैं कि पञ्जाबके आर्योंमें पुनर्विवाहकी रीति नहीं है, और वे यह भी कहते हैं कि इस रीतिको इन लोगोंने सिर्फ़ इसलिये चला दिया है जिसमें स्त्रियाँ अपने पतिको विष देकर दूसरेकी न हो जायँ। इसमें सन्देह नहीं कि इस अद्भुत कारण पर ज़रा भी विश्वास नहीं किया जा सकता। महाभारतकी एक कथामें इस मनाहीका उद्गम है। वह कथा यों है:—दीर्घतमा ऋषि अन्धा था। उसकी स्त्रीका नाम था प्रद्वेषी। वह, ऋषिके लिये और ऋषि-कुमारोंके लिये काम करते करते, ऊबकर, उन्हें छोड़कर जानेको उद्यत हुई। तब ऋषिने कहा कि आजसे मैं ऐसी मर्यादा बनाता हूँ कि जन्म भरके लिये स्त्रीका एक ही पति रहे। पति जीवित हो या न हो, स्त्री दूसरा पति कर ही न सकेगी। यदि वह पति करेगी तो पतित हो जायगी।

एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवपरायणम् ।
मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयान्नरम् ॥
(आदिपर्व अ० १०४)

इस कथाका तात्पर्य थोड़ा-बहुत वही है जैसा कि ऊपर लिखा गया है। दीर्घतमा ऋषिका बनाया हुआ, पुनर्विवाहका यह बन्धन भारतीय आर्योंमें सहसा चल न सकता । क्योंकि दीर्घतमाको जिस कठिनाईका अनुमान हुआ वह सभी समाजोंके लिये एक ही सा उपयुक्त है। परन्तु अन्य हज़ारों समाजोंमें इस बन्धनका प्रचार नहीं हुआ । हमारी तो यह राय है कि भारतीय स्त्रियोंके अन्तःकरणमें पातिव्रतकी जो उदात्त कल्पना दृढ़ हो गई थी, उसीके कारण दीर्घतमाका बनाया हुआ नियम भारतीय आर्योंमें चल निकला। दीर्घतमा वैदिक ऋषि हैं, तब यह बन्धन भी बहुत प्राचीन होगा।

अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि यदि यह बन्धन प्राचीन कालसे था, तो पतिव्रताओंमें श्रेष्ठ दमयन्ती दूसरा विवाह करनेके लिए क्योंकर तैयार हो गई थी? यदि आर्यों अर्थात्, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें पुनर्विवाह प्राचीन कालमें निषिद्ध था, तो फिर दमयन्ती दुबारा स्वयम्वर करनेके लिए कैसे उद्यत हो गई; अथवा पिताने ही उसे किस तरह आज्ञा दे दी; और राजा लोग भी उसके दूसरे स्वयम्वरके लिए क्योंकर एकत्र हुए? इस प्रश्नका उत्तर ज़रा कठिन है। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय हिन्दुस्थानमें पुनर्विवाह कुछ बिलकुल ही बन्द न था। त्रैवर्णिको छोड़ अन्य वर्णोंमें और खासकर शूद्रोंमें उसका चलन रहा ही होगा। शूद्रोंके तथा औरोंके अनुकरणसे कुछ आर्य स्त्रियाँ स्वच्छन्द व्यवहार कर पुनर्विवाहके लिए तैयार हो जाती होंगी। किन्तु आर्योंमें जो ऐसे कचित् पुनर्विवाह होते होंगे वे लोक-प्रशस्त अथवा जातिमान्य न होते होंगे । जिस समय नलसे दमयन्तीकी भेंट हुई उस समय नलने आँखोंमें आँसू भरकर यही प्रश्न किया—

कथं तु नारी भर्तारमनुरक्तमनुव्रतम् ।
उत्सृज्य वरयेदन्यं यथात्वं भीरु कर्हिचित् ॥
दूताश्चरन्ति पृथिवीं कृत्स्नां नृपतिशासनात् ।
भैमी किल स भर्तारं द्वितीयं वरयिष्यति ॥
स्वैरवृत्ता यथाकाम मनुरूपमिवात्मनः ॥
(वन० अ० ७६)

"भर्ताके लिए अनुव्रत रही हुई कौन सी स्त्री दूसरे पुरुषसे विवाह करेगी? और तेरे दूत तो पृथिवी पर कहते फिरते हैं कि स्वतन्त्र व्यवहार करनेवाली दमयन्ती अपने अनुरूप दूसरा भर्ता करेगी।" इस वाक्यमें 'स्वतन्त्र व्यवहार करनेवाली' शब्द महत्त्वके हैं। इसमें स्पष्ट कह दिया गया है कि दूसरा पति करना स्वच्छन्द व्यवहार करना है। दमयन्तीने इसका जो उत्तर दिया उसमें भी यही भाव व्यक्त है। "तुम्हें यहाँ बुलानेके लिए मैंने इस युक्तिसे काम लिया । क्योंकि और कोई मनुष्य, एक दिनमें, सौ योजन नहीं जा सकता। मैं तुम्हारे चरणोंकी सौगन्द खाकर कहती हूँ कि मैंने मनमें और कोई बुरी बात नहीं सोची है । जो मैं पाप करती होऊँ तो यह वायु मेरे प्राणोंका नाश कर दे।" मतलब यह कि यदि दमयन्ती पुनर्विवाह कर लेती तो वह **पाप** होता और स्वच्छन्द व्यवहार भी। अर्थात् उस समय आर्य क्षत्रिय स्त्रियोंका पुनर्विवाह न होता था। फिर दमयन्तीके तो लड़के-बच्चे भी हो चुके थे । यदि वह पुनर्विवाह करती तो अपनी जातिसे नीचे दर्जेकी जातिकी हो जाती। द्यूतके समय जब द्रौपदीको दासी-भाव प्राप्त हो गया तब दुर्योधनने ऐसा ही कहा—"हे द्रौपदी! अब तू दूसरे पति कर ले।" अर्थात् यह

रीति निन्द्य और दासियोंके लायक मानी जाती थी। सब भारती आर्योंमें पुनर्विवाह न होता था। यदि पति जीवित हो और उसने छोड़ दिया हो या पति मर गया हो तो भी आर्य स्त्रियाँ दूसरा पति नहीं करती थीं।

पुनर्विवाहकी मनाहीका और भी एक कारण है। भारती आर्योंमें विवाहके सम्बन्धमें एक शर्त यह थी कि विवाहके समय बधू कन्या यानी अनुपभुक्ता होनी चाहिये। वे उपभुक्ता स्त्रीको विवाहके योग्य नहीं समझते थे। महाभारतमें एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि भुक्तपूर्वा स्त्रीको ब्याहना पातक है। अर्जुनके प्रतिज्ञा करनेका वर्णन है कि जो मैं कल शामतक जयद्रथका वध न करूँ तो चितामें जल मरूँगा। उस प्रतिज्ञाके समय उसने जो अनेक सौगन्दें खाई हैं, उनमें एक सौगन्द यह भी है कि—"भुक्तपूर्वां स्त्रियं ये च विन्दतामघशान्तिनाम।" भुक्तपूर्वा स्त्रीसे विवाह करनेवाले पुरुषोंको जो लोक मिलते हैं, वे मुझे प्राप्त हों। अर्थात् महाभारतके समय लोगोंकी यह धारणा थी कि जो स्त्री पुरुषसे सहवास कर चुकी हो वह विवाहके अयोग्य है: उसके साथ जो विवाह करे वह पापी बुरे लोकोंमें जाता है। उपभुक्त स्त्रियोंका पुनर्विवाह उस समय निन्द्य समझा जाता था। महाभारत-कालके पश्चात् भी स्मृतिशास्त्रोंमें आजतक ऐसा ही नियम विद्यमान है। (यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि उस समय ऐसी लड़कीका पुनर्विवाह होता था या नहीं जिसका विवाह तो हो चुका हो, परन्तु जो अनुपभुक्ता यानी क्वाँरी हो? इसका विचार आगे किया जायगा।) साधारण रीतिसे सब क्षत्रियोंमें और अपने वर्णका अभिमान रखनेवाले लोगोंमें इस प्रकारकी कल्पना होना साहजिक है कि परपुरुषसे उपभुक्त स्त्री विवाहके योग्य नहीं होती। यह प्रकट है कि विवाहकी शुद्धताके सम्बन्धमें अधिकाधिक जाँच होगी। अतएव, इसमें आश्चर्य नहीं कि भारती आर्योंमें उपभुक्ता स्त्री विवाह-सम्बन्धके लिए दूषित मानी जाती थी। इसी धारणाके कारण हमारे धर्मशास्त्रने एक प्रकारसे निश्चय कर दिया कि विवाहके योग्य कन्या ही है। गृह्यसूत्रमें **कन्या**के ही सम्बन्धमें वचन हैं और महाभारतमें भी कहीं गतभर्तृका स्त्रीके पुनर्विवाह होनेका प्रत्यक्ष वर्णन नहीं पाया जाता। अर्थात् महाभारतके समय आर्योंमें पुनर्विवाहकी रीति प्रशस्त न थी और विवाहमें वधूके अनुपभुक्त होनेका नियम था।

प्रौढ़-विवाह।

इस पर यह कहा जा सकता है कि महाभारतके समय लड़कियोंका विवाह बचपनमें ही हो जाता होगा। किन्तु असल बात इसके विपरीत है। महाभारतमें विवाहके जितने वर्णन पाये जाते हैं, सभीमें विवाहके समय कन्याएँ उपवर अर्थात् प्रौढ़ दशामें आ गई हैं। स्वयंवरके समय द्रौपदीका जो वर्णन है उससे, उस समय, उसका बड़ा होना स्पष्ट है। कुन्तीको तो, विवाहसे पहले ही, लड़का हो चुका था। अर्जुनने जिस समय सुभद्राका हरण किया, उस समय उसकी पूरी अवस्था हो चुकी थी। उत्तराका वर्णन भी ऐसा ही है। अधिक क्या कहा जाय, विवाह होने पर महीने दो महीनेमें ही उसके गर्भ रह गया और छठे-सातवें महीनेमें—भारती युद्ध समाप्त होनेके अनन्तर—उसके परीक्षित हुआ। यह अभिमन्युका पुत्र था। ऐसी अनेक स्त्रियोंके वर्णनसे स्पष्ट देख पड़ता है कि प्राचीन

समयमें, विवाहके अवसर पर, स्त्रियाँ बालिग़ रहती थीं। यह सिद्धान्त एक बातसे और पक्का होता है। यह निर्विवाद है कि उस समय विवाहके ही दिन पति-पत्नीका समागम होनेकी परिपाटी थी। द्रौपदीके विवाह-वर्णनमें एक चमत्कार यह बतलाया है कि द्रौपदीका प्रत्येक पतिके साथ भिन्न भिन्न दिनोंमें विवाह हुआ। उस समय विचित्रता यह हुई कि 'महानुभावा द्रौपदी प्रति दिन क्वाँरी ही हो जाती थी।' अर्थात् पहले दिन युधिष्ठिरके साथ द्रौपदीका विवाह हुआ; तब उसी रातको उनका समागम हुआ; तब भी वह दूसरे दिन क्वाँरी थी। यह बात सदाकी रीतिके अनुसार हुई। अब दूसरे दिन दूसरे पाण्डवके साथ उसका विवाह हुआ। उस समय विवाहके धर्मशास्त्रके अनुसार वधू कन्या यानी अनुपभुक्ता होनी चाहिए, और वह ऐसी ही थी भी। यही चमत्कार है। धर्मशास्त्रमें भी कई स्थलों पर आज्ञा है कि विवाहके ही दिन पति-पत्नीका समागम हो। अन्य दो पक्ष ये हैं कि उसी रातको न हो तो तीसरी रातको या बारहवीं रातको हो। तात्पर्य यह कि विवाहके दिन समागम होनेकी रीति थी और इसके लिये धर्मशास्त्रकी आज्ञा भी है। तब यह प्रकट है कि विवाहके समय वधूकी अवस्था प्रौढ़ होनी चाहिए। महाभारतके समय प्रौढ़ स्त्रियोंके ही विवाह होनेके विषयमें जैसे उपरिलिखित प्रमाणसे अनुमान निकलता है, वैसे ही अन्य ऐतिहासिक प्रमाणोंसे भी वही देख पड़ता है। यूनानियोंमें सिकन्दरके समयके हिन्दुस्तानके जो वर्णन लिख रखे हैं, उनसे भी यही बात सिद्ध होती है। महाभारत-कालके पश्चात् अर्थात् सन् ईसवीसे २५० वर्ष पूर्वके अनन्तरसे जो अनेक संस्कृत ग्रन्थ सन ८०० ईसवी-तकके आजकल मिलते हैं, उनमें भी प्रौढ़ अवस्थाकी क्वाँरियोंके विवाहके ही वर्णन हैं। और पति-पत्नीके समागमका वर्णन भी विवाहके दिनका ही उनमें पाया जाता है। हर्षचरित्रमें बाणने हर्षकी बहिनके विवाहका वर्णन विस्तारपूर्वक और हृदयङ्गम किया है। उसमें दूल्हा शामको बड़े साजसे वधूके पिताके घर आया। वहाँ बड़े दरबारमें स्वागत होने पर मधुपर्कसे उसकी पूजा हुई; और विवाहकी ठीक घड़ी आतेही अन्तःपुरमें पति-पत्नीका विवाह हो गया। फिर अग्निके समक्ष सप्तपदी हुई। फिर भोजन आदि हो चुकने पर, ख़ास तौर पर सजाये हुए महलमें, पति-पत्नीका समागम हुआ। बाणने ऐसा ही वर्णन किया है। सारांश यह कि द्रौपदीके विवाहसे लेकर हर्षकी बहिन राज्यश्रीके विवाहतकके जो वर्णन प्रसिद्ध हैं, उनमें विवाहके समय वधू प्रौढ़ है और विवाहवाली रातको ही पति-पत्नीके समागम होनेका उल्लेख है। इससे उस समयका यह नियम देख पड़ता है कि ब्याही हुई स्त्री अनुपभुक्ता रह ही नहीं सकती।

अब प्रश्न होता है कि ये सब वर्णन क्षत्रिय स्त्रियोंके हैं और महाभारतके समय क्षत्रियोंकी लड़कियाँ विवाहकालमें जैसी प्रौढ़ रहती थीं, वैसी आजकल भी तो रहती हैं। इसमें कौन अचरज है। स्वयंवर अथवा गान्धर्व विवाह करनेकी स्वाधीनता जिन स्त्रियोंको थी, वे तो विवाहमें बड़ी होंगी ही। परन्तु ब्राह्म विवाहकी और ब्राह्मणोंकी बात भिन्न है। अब देखना चाहिये कि ब्राह्मण स्त्रियोंकी अवस्था विवाहके समय कितनी होती थी। इस सम्बन्धमें महाभारतकी क्या गवाही है। यदि इस दृष्टिसे विचार करें तो ब्राह्मणोंकी लड़कियोंके लिये, क्षत्रियों-

से, कुछ विभिन्न नियम नहीं देख पड़ता। और तो क्या, क्षत्रियोंकी बेटियाँ ब्राह्मणोंके घर ब्याही जाती थीं और क्वचित् ब्राह्मणोंकी बेटियाँ क्षत्रियोंके घर। ऐसी परिस्थितिमें दोनों वर्णोंकी बेटियाँ उम्रमें एक-सी ही होती थीं। यद्यपि महाभारतमें ब्राह्मण-कन्याओंके विवाह-वर्णन स्वल्प हैं, तथापि जो हैं वे उल्लिखित अनुमानकी ही पुष्टि करते हैं। शुक्र-कन्या देवयानीका उदाहरण प्रसिद्ध है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि विवाहके समय उसकी उम्र बड़ी थी। शल्यपर्वके ३३ वें अध्यायमें एक वृद्धा कन्याका वर्णन है। एक ब्राह्मणकी बेटी क्वाँरी ही रहकर तपश्चर्या करती थी। बुढ़ापा आ जानेतक उस वृद्ध कन्याने विवाह न किया था। अन्तमें नारदके उपदेशसे उसने बुढ़ापेमें विवाह कर लिया। ब्राह्मण-कन्याओंके विवाहके योग्य अवस्था हो जानेके और भी कुछ वर्णन मिलेंगे। आदिपर्वमें बकासुर राक्षसकी कथा है। वहाँ पर, पाण्डव लोग जिस ब्राह्मणके घर उतरे थे उसकी बारी आने पर उसकी बेटी राक्षसका आहार बननेके लिये तैयार हुई। उस समय ब्राह्मणने लड़कीसे कहा—

बालामप्राप्तवयस मजातव्यंजनाकृतिम्।
भर्तुरर्थाय निक्षिप्तां न्यासं धात्रा महात्मना॥

इस तरह उसका वर्णन करके ब्राह्मणने अपनी बेटीको राक्षसका भक्ष्य बननेके लिए न जाने दिया। छोटी, तरुणावस्थामें न पहुँची हुई, उसकी बेटी क्वाँरी थी। पूरी उम्र होते ही उसे भर्ताके अधीन करना था और वह भी तब जब कि तारुण्यके लक्षण शरीरसे व्यक्त होने लगें। इस श्लोकसे यही मालूम पड़ता है। ब्राह्मणोंकी बेटियाँ भी, महाभारत-कालमें वर-योग्य होने पर ही ब्याही जाती थीं। जब लड़कियाँ बड़ी अवस्थामें ब्याही जाती थीं तब लड़कोंके विवाह बड़ी उम्रमें होने ही चाहिएँ। लड़कोंका उपनयन होकर उनकी शिक्षा समाप्त हो जाने पर ही विवाह करनेकी रीति थी। तब यह निर्विवाद ही है कि लड़कोंका विवाह बड़ी अवस्थामें, कमसे कम इक्कीस वर्षके पश्चात्, होता रहा होगा।

स्मृतिशास्त्रमें उम्रके सम्बन्धमें जो स्पष्ट उल्लेखयुक्त वचन हैं, उनसे अनुमान होता है कि बेटीके विवाहके सम्बन्ध में विभिन्न परिस्थिति महाभारत-कालके पश्चात् उत्पन्न हुई। महाभारतके समय लड़कियोंका विवाह तभी होता था जब कि उनकी अवस्था प्रौढ़ हो जाती थी। फिर कुछ शताब्दियोंके बाद लड़कियोंके विवाहकी अवस्था कम हो गई। यदि इसका इतिहास अथवा उपपत्ति यहाँ दिया जाय तो विषयान्तर हो जायगा। तथापि स्मृतियोंमें विवाहके सम्बन्धमें जो वचन हैं उसी ढंगके वचन महाभारतमें क्योंकर हैं? इसका भेद लेना चाहिये।

त्रिंशद्वर्षो वहेन् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।

यह मनुस्मृतिका वचन प्रसिद्ध है। "तीस वर्षकी आयुका पुरुष बारह वर्षकी, हृदयको आनन्द देनेवाली, लड़कीसे विवाह करे।" पूर्व कालमें इस श्लोकका महाभारतका पाठ "हृद्यां षोडशवार्षिकीम्" था। कुछ निबन्धग्रन्थोंमें महाभारतका यही वचन पाया जाता है। अर्थात् महाभारतके समय लड़कियोंका विवाह पूरी प्रौढ़ अवस्था हो जानेके पश्चात् होता था। परन्तु अनुशासन पर्वके ४४ वें अध्यायमें जो श्लोक हैं, उनमें बिलकुल ही भिन्न रूप देख पड़ता है: और इस रूपान्तरमें मनुकी निर्दिष्ट की हुई आयु-मर्यादासे भी कम मर्यादा दिखलाई है। वह पाठ यह है "त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां नग्निकां दशवार्षि-

कीम्", और अनुवादकोंने इसका मामूली अर्थ किया है—दस वर्षकी लड़कीके साथ विवाह करे। यह पाठ मनुसे भी इस ओरका है और मूलके पाठको बदलकर इस समयकी परिस्थितिमें उत्पन्न हो गया है। यह अनुमान निकलने लायक़ है। निबन्धकारोंने महाभारतका जो पाठ "हृद्यां षोडशवार्षिकाम्" ग्रहण किया है, वही मूल पाठ रहा होगा। क्योंकि मनुस्मृतिमें जो वचन हैं उनकी अपेक्षा महाभारतमें जो परिस्थिति है वह सब बातोंमें पुरानी है। इसकी जाँच पहले हो चुकी है। विवाहके भेदोंके विषयमें भी यही नियम है। आगे चलकर यह बात देख पड़ेगी। इसके सिवा महाभारतका एक और वचन यहाँ विचारने लायक़ है। 'वयस्थां च महाप्राज्ञ कन्यामावोढुमर्हसि।' वयस्क अर्थात् तरुण क्वाँरीसे विवाह करना आयुष्यकर है। अनुशासन पर्वमें ही एक स्थान पर यह कहा गया है। इस वाक्यके वयः शब्द पर पाठकोंको ख़ूब ध्यान देना चाहिए। संस्कृतमें वय शब्दका अर्थ तारुण्य है। सामान्य वयके अर्थमें, संस्कृतमें वयका प्रयोग नहीं होता। संस्कृत अर्थ यह है कि बाल्य बीतने पर वय प्राप्त होता है। मतलब यह कि उल्लिखित वचनमें 'वयस्थाम्' शब्दका अर्थ साधारण रीतिसे विवाहके योग्य अवस्थावाली करना ठीक न होगा। अगर यही अर्थ किया जायगा तो उससे कुछ भी मतलब नहीं निकलेगा। उक्त वचनमें यह बात कही गई है कि वयस्था अर्थात् तरुण अवस्था-प्राप्त कन्या विवाहके लिये उत्तम और आयुष्यकर है। क्योंकि इस अध्यायमें आयु बढ़ानेवाली बातोंका ही वर्णन है। इस वचनकी दृष्टिसे पूर्वोक्त वचन देखने पर 'नग्निकां दशवार्षिकीम्' पाठ पीछेका जान पड़ता है: 'हृद्यां षोडशवार्षिकीम्' पाठ ही असलमें रहा होगा। महाभारतके अनेक वर्णनोंसे हमारा यह अनुमान है कि यही पाठ पूर्व समयका होगा, और महाभारतके समय स्त्रियोंके विवाह प्रौढ़ अवस्थामें ही होते रहे होंगे; फिर वे स्त्रियाँ चाहे ब्राह्मण हों चाहे क्षत्रिय अथवा और वर्णकी।

महाभारतके समय, पूर्व समयकी भाँति, स्त्री-पुरुषोंका विवाह प्रौढ़ अवस्थामें ही होता था। ब्रह्मचर्यकी मर्यादा बारह वर्ष मान लीं जाय तो २१ वर्षके भीतर पुरुषका विवाह न होता था; और यदि २४ वर्षकी मान ली जाय तो तीस वर्षकी अवस्थातक विवाहकी मर्यादा बढ़ती है। स्त्रियोंकी अवस्थाकी मर्यादा यद्यपि साफ़ साफ़ नहीं बतलाई गई, तथापि विवाहके समय वे तरुण और उपभोगके योग्य होती थीं, क्योंकि विवाहके ही दिन अथवा तीसरे दिन पति-पत्नीका समागम होनेकी रीति उस समय प्रचलित थी *। इस प्रकार पति और पत्नी स्यानी अवस्थामें गृहस्थी सँभालने लगते थे और उनके जो सन्तान होती थी वह शक्तिमान् और तेजस्वी होती थी। पति-पत्नीकी योग्य अर्थात् तरुण अवस्था होनेके पहले उनके समागम या विवाहको लोग अच्छी नज़रसे न देखते थे और उससे बचते भी थे। महाभारतके वन पर्वमें उन भयङ्कर बातोंका वर्णन है जो कि कलियुगमें होनेको हैं। उनमें इसे भी भयङ्कर माना है। कलियुगके सम्बन्धमें यह भविष्य किया गया है कि असमयमें ही विवाह होकर स्त्री-पुरुषों के सन्तान होगी। अर्थात् ऐसे समागम और विवाहको लोग निन्द्य मानते थे।

* महाभारतके ज़मानेमें गर्भाधान स्वतन्त्र संस्कार था ही नहीं, और वह आश्वलायन गृह्यसूत्रमें भी नहीं है। कई शताब्दियाँ गुज़रने पर बालविवाहके ज़मानेमें उसका गृह्यपरिशिष्टमें वर्णन है।

विवाहके समय लड़की खूब बड़ी होती थी, इस बातका एक मज़ेदार अप्रत्यक्ष प्रमाण इस श्लोकमें देखिए—

प्रदानकांक्षिणीनां च कन्यानां वयसि स्थिते।
श्रुत्वा कथास्तथायुक्ताः साशा कृशतरी मया॥
(शान्तिपर्व अध्याय १२८)

ऋषभ द्विज अत्यन्त कृश हो गया था। वह कहता है कि उन कन्याओंकी आशा तो मुझसे भी कहीं दुबली पतली है जो कि तरुण हो चुकी हैं और अपना विवाह करानेकी इच्छा, उस ढँगकी बातें सुनकर, किया करती हैं। इससे प्रकट है कि बहुतेरी कुमारिकाएँ, तरुण अवस्था हो जाने पर भी, बहुत समयतक बापके कन्यादान न करनेसे खिन्न हो जाया करती थीं। उनकी विवाहकी आशा बहुत कुछ कृश हो जाती थी। आजकल इस प्रकारके उदाहरण राजपूतोंको छोड़ (कहीं कहीं युक्तप्रदेशके कनौजियोंमें भी) अन्य स्थानोंमें न मिलेंगे। यह बात कुछ अनहोनी नहीं कि ऐसी परिस्थितिमें लड़कियोंके कुमार्गगामी हो जानेकी आशङ्का सदा रहती थी। धर्मशास्त्रका और लोगोंका भी इस बात पर ध्यान था कि विवाहमें वधूकी अवस्था कम न हो और साथ ही वह अनुपभुक्ता भी होनी चाहिये। इस कारण कन्यात्वको भङ्ग करनेका पातक बड़ा जबर्दस्त माना जाता था। महाभारतमें लिखा है कि जो कन्या अपने काँरपनमें बट्टा लगावेगी उसे ब्रह्महत्याका तीन चतुर्थांश पातक लगेगा, और शेष पातक उस पुरुषको लगेगा जिसने काँरपनको दूषित किया होगा।

त्रिभागं ब्रह्महत्यायाः कन्या प्राप्नोति दुष्यती। यस्तु दूषयिता तस्याः शेषं प्राप्नोति पाप्मनः॥ (अनु० प० अ० १०६)

मनुस्मृतिमें कन्यात्व दूषित करनेवालेको राजदण्ड भी कहा गया है, फिर चाहे वह कन्याकी अनुमतिसे ही दोषी क्यों न हुआ हो। इससे सहज ही समझा जा सकता है कि प्रौढ़ लड़कियोंके काँरपनको स्थिर रखनेके सम्बन्धमें, प्राचीन-कालमें कितना ध्यान दिया जाता था। आजकल तो बचपनमें ही विवाह कर देनेकी रीति प्रायः सर्वत्र हो गई है; इस कारण उल्लिखित कन्यात्व-दूषण-सम्बन्धी नियम बहुत करके मालूम ही नहीं, और वर्तमान परिस्थितिमें लोगोंको वे नियम देखने-सुननेसे एक तरहका अचरज होता है। साधारण रीति पर लड़कीके दान करनेका अधिकार बापको था, फिर लड़की कितनी ही प्रौढ़ क्यों न हो गई हो। यदि प्रौढ़ लड़कीके विवाहमें बाप कुछ आपत्ति करे तो उसका भी महाभारत-कालमें, स्मृतियोंके कथनकी भाँति ही, प्रतीकार था। नियम था कि ऋतुकाल प्राप्त होने पर लड़की तीन सालतक प्रतीक्षा करे कि बाप मुझे प्रदान करता है या नहीं, और तबतक यदि वह प्रदान न करे तो कन्याको स्वयं अपना विवाह कर लेनेका अधिकार है। अनुशासन पर्वमें स्पष्ट कह दिया गया है कि—"जो लड़की तीन वर्षतक प्रतीक्षा करके अपने विवाहमें स्वयं प्रवृत्त हो जाती है उसकी सन्तानको या उसके साथ विवाह करनेवालेको रत्ती भर भी दोष नहीं लगता; किन्तु यदि वह इस नियमके विपरीत व्यवहार करेगी तो उसे प्रत्यक्ष प्रजापति दोष देगा।" इससे जान पड़ता है कि धर्मशास्त्रका और लोगोंका आग्रह यह था कि लड़कीको अविवाहित न रहना चाहिये। भारतीय आर्य-समाजकी शुद्धताके सम्बन्धमें यह बात बड़े महत्त्वकी है। प्रौढ़ कन्याओंको अविवाहित न रहने देनेका समाजका आग्रह होनेसे समूचे समाजकी नीतिमत्ता भली भाँति स्थिर रखनेमें यह नियम

कारणीभूत है। पाश्चात्य समाजमें ऐसा बन्धन कहीं दृग्गोचर नहीं होता। महाभारतके अन्य श्लोकोंसे भी यह अनुमान होता है कि भारतीय आर्योंकी भावनाके अनुसार प्रत्येक स्त्रीका विवाह हो जाना ही आवश्यक था। उपर्युक्त वचनमें स्पष्ट कह दिया गया है कि जिस लड़कीका विवाह नहीं होता उसके लिये परलोक-प्राप्ति नहीं है।

असंस्कृतायाः कन्यायाः
कुतो लोकास्तवानघे।

जिस स्त्रीने विवाह नहीं किया और केवल तप किया, उसे तपके द्वारा भी परलोक-प्राप्ति होनेकी नहीं। यह सिद्धान्त स्थिर था। इस वचनका सुलभाकी कथासे ज़रासा विरोध देख पड़ता है। जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, सुलभा नामक क्षत्रिय संन्यासिनीको जनककी राजसभामें हम देख चुके हैं। विवाहके लिये योग्य भर्ता न मिलनेके कारण वह नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका आश्रय करके यतिधर्मसे रहती थी। (शां० अ० ३२०) यह कथा पुराने ज़मानेकी होगी। बल्कि कहना चाहिये कि उन दिनों स्त्रियोंको संन्यास-व्रत ग्रहण करनेकी आज्ञा थी; अथवा यह निर्णय करना होगा कि बिना संन्यास-व्रत लिये ही सिर्फ़ तप करनेका उन्हें अधिकार नहीं। यह माननेमें कोई क्षति नहीं कि महाभारतके समय सुलभा और गार्गी आदि सरीखी ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ थी ही नहीं। और उस समयमें, स्त्रियोंके लिये आश्रमोंका झगड़ा ही न था। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, संन्यास और वानप्रस्थ इन आश्रमोंकी जगह स्त्रियोंका मुख्य संस्कार विवाह ही है। उस ज़मानेमें यही सिद्धान्त प्रस्थापित हो गया था और इस कारण सौतिके समय प्रत्येक स्त्रीका विवाह होता था।

यहाँतक जो विवेचन किया गया है उससे पाठक इस बातकी कल्पना कर सकेंगे कि प्राचीन कालसे लेकर महाभारतके समयतक विवाहकी उत्तरोत्तर उत्क्रान्ति किस प्रकार हुई थी और किस तरहसे उसको उदात्त स्वरूप प्राप्त हो गया। उस समय समाजमें गृहस्थीका बन्धन उत्तम रीतिसे व्यवस्थित हो गया था। उसकी शृङ्खला इन नियमोंसे बद्ध थी:—सभी स्त्रियोंका विवाह अवश्य होना चाहिये; विवाहके समय स्त्रियाँ प्रौढ़ होनी चाहिएँ; उनका कन्यात्व किसी तरह दूषित न हो गया हो; विवाहवाली रातको ही पति-पत्नीका समागम हो जाय; एक बार पतिसे समागम होने पर स्त्री उसीकी होकर रहे, उसे दूसरा पति करनेका अधिकार नहीं; अर्थात् पतिकी जीवितावस्थामें या उसके मर जाने पर स्त्रियोंके लिये पुनर्विवाहकी मनाही रहे। समाजमें पति-पत्नीके बीच अन्यन्त प्रेम और संसारका सुख मजेमें निभता था। इसके सिवा उल्लिखित वर्णनसे यह भी निष्पन्न होता है कि वर्तमान समाजमें जो बड़ा भारी व्यङ्ग देख पड़ता है उसका तब अस्तित्व भी न था। अर्थात् महाभारतके समय बालविधवाओंका दुःख समाजको मालूम न था। इस कारण तब यह प्रश्न उपस्थित न हुआ था कि अनुपभुक्त कन्या, विवाह होने पर, यदि विधवा हो जाय तो क्या किया जाय। यहाँ पर यही कह देना काफी है कि अनुपभुक्त बालविधवाओंका प्रश्न, उस समयके पश्चात् कई शताब्दियोंमें उपजा जब कि बालविवाह होने लगा।

अनेकपत्नी विवाह।

स्त्रियोंके विवाह-सम्बन्धमें जैसे अनेक प्रशस्त नियम बन गये वैसा, पुरुषोंके

विवाह-सम्बन्धमें, एकपत्नीत्वका मुख्य उत्तम नियम भारती आर्योंमें नहीं बना, यह बात हमें माननी पड़ेगी। वैदिक-कालसे लेकर महाभारतके समयतक पुरुषोंको अनेक स्त्रियाँ ग्रहण करनेका अधिकार था और वे ऐसा करते भी थे। वेदमें स्पष्ट रीतिसे कहा गया है कि जिस प्रकार एक यूपसे अनेक रशनाएँ बाँधी जा सकती हैं, उसी प्रकार एक पुरुष अनेक स्त्रियाँ रख सकता है। इस प्रकार अनेक स्त्रियाँ ग्रहण करनेकी रीति भारती आर्योंमें, सारी दुनियाँके अन्य प्राचीन समाजोंकी तरह, अमलमें थी। महाभारत-में अनेक राजाओंके जो वर्णन हैं, उनसे यह बात स्पष्ट देख पड़ती है। पाँचों पाण्डवोंके, द्रौपदीको छोड़ और भी कई स्त्रियाँ होनेका वर्णन है। श्रीकृष्णकी आठ पटरानियोंके सिवा और भी अनेक भार्याएँ थीं। यह अनेक स्त्रियाँ करनेकी रीति विशेषतः क्षत्रियोंमें महाभारतके समयतक जारी रही होगी। यह तो पहले देखा ही जा चुका है कि सौतिने स्त्री पर्व बढ़ा दिया है। विशेषतः युद्धकी समाप्ति पर रणाङ्गणमें पड़े हुए वीरोंकी स्त्रियाँ पतिकी लोथ लेकर शोक कर रही हैं—यह सौति-कृत वर्णन काल्पनिक है। इसमें भी उसने अपने ज़मानेकी परिस्थितिके अनुसार प्रत्येक राजाकी अनेक स्त्रियाँ होनेका वर्णन स्थान स्थान पर किया है। यहाँ उस वर्णन-का एक ही श्लोक देना काफ़ी होगा।

श्यामानां वरवर्णानां गौरीणामेक-वाससाम्। दुर्योधनवरस्त्रीणां पश्य वृन्दानि केशव॥

इस श्लोकमें दुर्योधनकी स्त्रियोंके अनेक वृन्द वर्णित हैं। प्राचीन कालमें राजा लोगोंको सिर्फ़ अनेक स्त्रियाँ रखनेकी अनुज्ञा ही न थी बल्कि वे ऐसा करते भी थे। क्योंकि, जैसा पहले कहा जा चुका है, क्षत्रियोंको ब्राह्मणेतर तीनों वर्णोंकी स्त्रियाँ ग्रहण करनेका अधिकार था; और क्या साम्पत्तिक स्थिति और क्या राजकीय स्थिति दोनों ही तरहसे ऐसी अनेक स्त्रियाँ उन्हें प्राप्त हो सकती थीं। परन्तु सारे समाजकी स्थितिका निरीक्षण करने पर ज्ञात होगा कि प्रत्येक मनुष्यको अपने ही वर्णकी अनेक स्त्रियाँ मिल जाना सम्भव नहीं। समूची जनतामें पुरुषोंकी और स्त्रियोंकी भी संख्या बहुधा कुछ ही न्यूना-धिक परिमाणमें एकसी होती है। इस कारण, यद्यपि पुरुषको अनेक स्त्रियाँ करनेकी स्वाधीनता हो तो भी राजा लोगों-के सिवा और लोगोंका अनेक स्त्रियाँ करना सम्भव नहीं। राजाओंमें भी जो अनेक रानियाँ रखनेकी प्रथा थी उसमें भी थोड़ासा भेद देख पड़ता है। बराबरी-वाले राजाओंकी बेटियाँ विशेष इज्ज़तकी रानियाँ मानी जाती थीं और उनका विवाह भिन्न रीतिसे होता रहा होगा। ये पटरानियाँ समझी जातीं और संख्यामें वे इनी-गिनी ही होती थीं। श्रीकृष्णकी पट-रानियाँ आठ ही थीं। वसुदेवकी भी इतनी ही थीं। विचित्रवीर्यके दो थीं। पाण्डुके दो थीं। भीमके द्रौपदीके सिवा शिशुपालकी बहिन एक और स्त्री थी। आश्रमवासी पर्व (अ० २५)में इसका उल्लेख है। अर्जुनके सुभद्रा और चित्राङ्गदा ये दो स्त्रियाँ और भी थीं। सहदेवकी एक और पत्नी थी जरासन्धकी बेटी; और नकुलके भी एक और स्त्री थी। धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि पुत्रोंकी यहाँ सौ स्त्रियाँ ही वर्णित हैं। तात्पर्य यह कि राजा लोगोंके भी मुख्य स्त्रियाँ एक या दो, अथवा बहुत हुआ तो आठतक, हो सकती थीं; शेष स्त्रियाँ अनेक हों भी तो उनका दर्जा बहुत हलका होगा। इसमें भी विशेष रूपसे कहने लायक बात यह है कि महाभारतमें युधिष्ठिरकी—

द्रौपदीको छोड़—दूसरी महिषी अथवा स्त्रीका वर्णन कहीं नहीं पाया जाता। (आदि पर्वके ६५वें अध्यायमें युधिष्ठिरकी दूसरी स्त्री देविका कही गई है; उसका विचार आगे किया जायगा।) इससे कह सकते हैं कि एकपत्नीव्रतकी महत्ता महाभारत-प्रणेताको भी मान्य थी। महाभारत और रामायण, दोनों आद्य राष्ट्रीय ग्रन्थोंके आद्यवर्ण्य पुरुष युधिष्ठिर और राम एकपत्नीव्रतके पुरस्कर्ता हैं। इससे पाठक कल्पना कर सकते हैं कि भारतीय आर्य एकपत्नीव्रतको कितना गौरव देते थे।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें यहाँ थोड़ासा उल्लेख करना आवश्यक है। समझा जाता है कि उनके १६१०८ रानियाँ थीं। इनमेंसे आठ तो पटरानियाँ थीं और शेष स्त्रियाँ उनको एकदम मिल गई थीं। महाभारतमें श्रीकृष्णकी सोलह हज़ार स्त्रियोंका दो तीन जगह उल्लेख है, इसका निर्देश आगे किया जायगा। यह कहनेमें क्षति नहीं कि श्रीकृष्णकी स्त्रियोंकी यह संख्या अतिशयोक्तिकी होगी। हरिवंश वि० के ६०वें अध्यायमें श्रीकृष्णकी आठ स्त्रियाँ बतलाकर नवीं एक शैव्या कही गई है। इसीमें और सोलह हज़ार स्त्रियोंके विवाह किये जानेकी बात कही गई है। इसका विशेष उल्लेख आगे ६३वें अध्यायमें है। नरकासुरने सोलह हज़ार एक सौ कन्याओंको हरणकर कैद कर रखा था। ये सभी अनुपभुक्ता थीं। नरकासुरको मारकर श्रीकृष्णने उन्हें जीत लिया; तब उन्होंने अपनी खुशीसे श्रीकृष्णको वर लिया। ऐसी यह कथा है। अर्थात् श्रीकृष्णको और भी सोलह हजार एक सौ स्त्रियाँ एकदम मिल गईं। परन्तु अन्यत्र सोलह हज़ार स्त्रियोंका ही उल्लेख बारबार आता है, और भी सौ स्त्रियोंका नहीं। उद्योग पर्वके १५८वें अध्यायमें नरकासुरको मारकर शार्ङ्गधनुष प्राप्त करनेका उल्लेख है। परन्तु वहाँ सोलह हज़ार ही स्त्रियोंके मिलनेका वर्णन किया गया है। तब कहना होगा कि हरिवंशने एक जगह सौ स्त्रियाँ और बढ़ा दीं। ये एकदम प्राप्त हुई सारी स्त्रियाँ मानवी न थीं, कमसे कम उनका आर्य न होना प्रकट है। और, यह संख्या अतिशयोक्तिकी है। जैन-ग्रन्थोंमें भी जो इस संख्याका बारबार उल्लेख किया गया है, सो वह भी इसीसे। किसी सुखी राजाके वैभवका वर्णन करनेके लिये जैन ग्रन्थ उसकी सोलह हज़ार स्त्रियाँ बतलाते हैं। सारांश, यह संख्या अतिशयोक्तिकी है। बाइबिलमें वर्णन है कि सालोमनके हज़ार स्त्रियाँ थीं। हमारी रायमें श्रीकृष्णकी आठ आर्य स्त्रियाँ थीं; इनके सिवा उनके अनेक (न कि सोलह हजार) और देव-राक्षसोंकी काल्पनिक स्त्रियोंका होना मान लेना युक्तिसङ्गत होगा।

आदि पर्वके ६५वें अध्यायमें पहले युधिष्ठिरकी देविका नामक दूसरी स्त्रीका जो कथन किया गया है वह आश्चर्यकारक है। न वह छोड़ा जा सकता है और न ग्रहण किया जा सकता है। उसका उल्लेख और कहीं नहीं है; वन अथवा आश्रमवासी पर्वमें भी नहीं है। यह ब्याह कब हुआ, इसका भी कहीं उल्लेख नहीं है। हम तो यही कहेंगे एक इसे पीछेसे सौतिने बढ़ाया।

एक स्त्रीका अनेक पति करना।

अस्तु; अनेक स्त्रियोंसे एक पुरुषके विवाह करनेकी रीति वैदिक कालसे लेकर महाभारतके समयतक, न्यूनाधिक परिमाणोंमें, प्रचलित थी; परन्तु एक स्त्रीके अनेक पति करनेकी प्रथा शुरू शुरूमें उन चन्द्रवंशी आर्योंमें थी जो हिमालयसे नये नये आये थे। द्रौपदीके उदाहरणसे यह

बात माननी पड़ती है। इसमें विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये अनेक पति विभिन्न कुटुम्बोंके नहीं, एक ही कुटुम्बके सगे भाई होते थे: और आजकल भी हिमालयकी तरफ़ पहाड़ी लोगोंमें कुछ स्थानों पर जहाँ यह प्रथा जारी है, वहाँ भी यही बात है। अर्थात् इस रीतिमें किसी प्रकारकी दुष्टता नहीं उपजती और भिन्न भिन्न कुटुम्बोंमें वैमनस्य उपजनेकी आशङ्का भी नहीं रहती। विवाहित स्त्रीको किसी तरहसे कष्ट होनेकी सम्भावना नहीं होती। भारती आर्योंमें पहलेसे ही इस प्रथाके विषयमें प्रतिकूल मत था। उपर्युक्त वैदिक वचनके आधार पर यह बात पहले लिखी जा चुकी है। कुछ चन्द्रवंशी आर्योंके द्वारा लाई हुई वह प्रथा भरतखण्डमें प्रचलित नहीं हुई। महाभारतके समय भारती आर्य लोगोंमें वह बिलकुल न थी। महाभारतकारके लिये एक द्रौपदीका पाँच पाण्डवोंकी स्त्री होना एक पहेली ही था: और इसका निराकरण करनेके लिये सौतिने महाभारतमें दो तीन कथाएँ मिला दी हैं। विशेषतः कुन्तीका बिना देखे भाले यह आज्ञा दे डालना कि जो भिक्षा ले आये हो उसे बाँट लो: और तदनुसार पाँचों भाइयोंका एक ही स्त्रीको अपनी अपनी स्त्री बना लेना बहुत ही विचित्र है। युधिष्ठिरके पूर्वोल्लिखित कथनानुसार मानना चाहिये कि पूर्व समयमें यह प्रथा कुछ लोगोंमें थी। परन्तु ऊपर सौतिने जो प्रयत्न किया है उससे यह भली भाँति सिद्ध है कि महाभारतके समय भरतखण्डसे वह उठ गई थी।

विवाहके भेद।

अब विवाहके भिन्न भिन्न भेदोंका विचार कीजिए। इन दिनोंके सभी धर्मशास्त्रके ग्रन्थों, स्मृतियों और गृह्यसूत्रोंसे भी सिद्ध है कि विवाहके आठ भेद हैं। महाभारतमें भी (आ० अ० ७४) विवाहके आठ भेद वर्णित हैं।

ब्राह्मो दैवस्तथाचार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमः स्मृतः॥

परन्तु दैव और आर्षका अन्तर्भाव ब्राह्ममें ही होता है। इनमें कन्यादान ही है। पैशाच यह एक नामका विवाह-भेद देख पड़ता है। इस कारण विवाहके मुख्य भेद पाँच ही समझने चाहिएँ। यही भेद बहुधा प्रचलित रहे होंगे। अनु० पर्वके ४४वें अध्यायमें ब्राह्म, **क्षात्र**, गान्धर्व, आसुर और राक्षस यही पाँच भेद बतलाये हैं। ऊपर बतलाये हुए दैव, आर्ष और प्राजापत्यके बदले क्षात्र विवाह कहा गया है और इसमें विवाहका अन्तिम भेद 'पैशाच' बिलकुल ही निर्दिष्ट नहीं है। अनुशासन पर्वमें बतलाये हुए पाँच भेद ही ऐतिहासिक दृष्टिसे सर्वत्र प्रचलित थे और इनमेंसे तीन तो प्रशस्त तथा दो अप्रशस्त माने जाते थे।

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर।

दोनों जगह ऐसा उल्लेख है। इसमें सन्देह नहीं कि इनके भिन्न भिन्न प्रकारके नाम भिन्न भिन्न लोगोंके अनुसार पड़ गये हैं। इस विषयमें यहाँ पर विस्तारसे विचार किया जाता है। महाभारतके उदाहरणसे स्पष्ट देख पड़ता है कि यद्यपि पहलेपहल भिन्न भिन्न लोगोंके विवाहके ये भेद उत्पन्न हुए होंगे, तो भी भारतकालमें वे आर्योंमें प्रत्यक्ष रूपसे आचरित थे। इसके सिवा विवाह-संस्थाका, उत्क्रान्तिदृष्टिसे, जो उच्चसे उच्च भेद होता गया यदि इन्हें उसीकी पाँच श्रेणियाँ कहा जाय तो भी ठीक हो सकता है। सबसे कनिष्ठ प्रकार राक्षस विवाह है। राक्षस विवाहका अर्थ जबर्दस्ती लड़कीको ले आना है।

इससे उच्च है आसुर, अर्थात् लड़कीको मोल लेना। उससे भी श्रेष्ठ गान्धर्व अर्थात् लड़कीकी इच्छासे विवाह करना है; इससे श्रेष्ठ क्षात्र अर्थात् वह विवाह है जिसमें प्रण जीतनेवालेको लड़कीका बाप लड़की दे। सबसे श्रेष्ठ ब्राह्म है जिसे सत्कार-पूर्वक कन्याका दान कहना अयुक्त नहीं है। इसका विस्तृत विवेचन आगे होगा।

ब्राह्म, क्षात्र और गान्धर्व।

सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हैं ब्राह्मण; इस कारण ब्राह्मणोंके लिये पहला, ब्राह्म विवाह, योग्य कहा गया है। अनु० पर्वके ४४ वें अध्याय-में लिखा है कि कन्याका पिता, वरको बुलाकर, सत्कारपूर्वक धनदानादिसे अनुकूल करके उसे कन्या दे। आजकल भी अधिकांश ऊँची जातियोंमें यही रीति प्रचलित है। कन्याके पिताको इसमें वरकी प्रार्थना करनी होती है और धन-दान आदिके द्वारा उसे सन्तुष्ट करना पड़ता है। जान पड़ता है कि महाभारतके समय ब्राह्मण लोगोंमें यही विवाह प्रच-लित था; और इसी कारण इस भेदका नाम ब्राह्मविवाह पड़ गया होगा। विवाहका दूसरा भेद क्षात्र कहा गया है; किन्तु यहाँ पर इस बातका खुलासा नहीं किया गया कि यह होता किस तरह है। बहुत करके इस ढंगका विवाह क्षत्रि-योंमें ही होता रहा होगा जिससे इसका नाम क्षात्र रखा गया। हाँ, यह कह दिया है कि यह विवाह ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंके लिये विहित है। धन आदिसे वरकी पूजा करनेकी रीति ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंमें एकसी रही होगी। तब, ब्राह्म और क्षात्र विवाहोंके भेदको अलगाना कठिन है। हमारी रायसे इस विवाहमें वरकी ओरसे कन्याके बापकी प्रार्थना करनेको जानेकी प्रथा रही होगी। महाभारतके अनेक उदाहरणोंसे कहा जा सकता है कि पूर्व समयमें इस प्रकारकी रीति थी। वर्तमान कालकी जो विवाह-विधि है उसके वाग्दानके आधार पर निश्चयसे कहा जा सकता है कि वर कन्यार्थी होकर लड़कीके पितासे उसकी कन्या माँगे। किन्तु महाभारतमें एक स्थान, पर स्पष्ट कह दिया गया है कि माँगनेके लिये क्षत्रिय कभी न जायगा। आगे इसका उल्लेख मिलेगा। अतएव यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि विवाहके इस भेदका नाम क्षात्र कैसे हो गया। क्षत्रियोंमें प्रण लगा-कर विवाह करनेकी जो प्रथा थी, उसका अन्तर्भाव इन पाँच भेदोंमें कहीं नहीं होता। हमारी समझमें क्षात्र विवाह उसीको कहना चाहिये जिसमें लड़कीका पिता कहे कि जो क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण अमुक बाज़ी जीत लेगा अथवा अमुक शक्ति या वीरताका काम करेगा, मैं उसे अपनी बेटी ब्याह दूँगा। इस प्रकार शर्त बदना और तदनुसार जीतनेवालेको बेटी ब्याहना क्षात्र विवाह है। द्रौपदीके विवाहमें बाज़ी लगाई गई थी। इससे सिद्ध है कि भारत-कालमें ऐसे विवाह हुआ करते थे। सीताके विवाहमें भी धनुष तोड़नेकी शर्त प्रसिद्ध ही है। मित्रविन्दा नामक क्षत्रिय कन्याको, इसी ढँगकी, बाज़ीमें श्रीकृष्ण जीत लाये थे। इस प्रकारके विवाह कुछ पुराने ज़मानेमें ही न हुआ करते थे; किन्तु महाभारतके समयतक भी इस प्रकारके प्रण-वाले विवाह होते थे। पञ्जाबके कुछ लोगोंके सम्बन्धमें यह बात सिकन्दरके समय आये हुए यूनानी इतिहास-कारोंने लिख रखी है। अर्थात् इसके कारण क्षत्रियों और ब्राह्मणोंमें शक्ति एवं धनुर्विद्याकी स्पर्धा उत्पन्न हो जाती होगी और भारतीय

क्षत्रियोंको युद्ध-कर्ममें निष्णात होनेके लिये यह प्रकार बहुत ही अनुकूल होता होगा। विवाहके पाँच भेदोंमें इसके क्षात्र नामसे लिये जानेका कारण भी यही है। इस स्पर्धाके काममें ब्राह्मण भी शामिल होते थे। द्रौपदीके स्वयंवर-वर्णनसे यह बात प्रकट है ; क्योंकि स्वयंवरके समय पाण्डव लोग ब्राह्मण-वेशमें आये थे और ब्राह्मणोंमें ही बैठे थे। मतलब यह कि क्षात्र विवाह ब्राह्मण और क्षत्रियोंके लिये विहित था। इस विवाह-भेदको यद्यपि स्वयंवर कहा गया है, तथापि वह दर-असल स्वयंवर न था। क्योंकि जो कोई बाज़ी जीत ले उसीको कन्या देनी पड़े और बहुत करके लड़कीका पिता ही बाज़ी लगाता था। सीता-स्वयंवरके समय जनकने ही धनुष तोड़नेका प्रण लगाया था और द्रौपदीके स्वयंवरके अवसर पर भी द्रुपदने शर्त लगाई थी। अर्थात् कन्याको अपने विवाहके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी स्वाधीनता न थी। बाप जिसे दानमें दे दे उसीके साथ विवाह होनेका मार्ग उसके लिये खुला था; इस कारण विवाहके इस भेदको योग्य रीतिसे न तो स्वयंवर कहा जा सकता है और न गान्धर्व ही। अब विवाहके तीसरे भेद पर विचार करना है। यह गान्धर्व नामसे प्रसिद्ध है। इसमें लड़कीको अपनी मर्ज़ीसे दूलहको पसन्द करनेका अधिकार मुख्य है। इस प्रकारके विवाह गन्धर्वोंमें होते थे, इस कारण इस रीतिका नाम गन्धर्व-विवाह हो गया। हम पहले कह ही चुके हैं कि गान्धर्व और अप्सरा, हिमालयमें रहनेवाली, मानवी जातियाँ मानी जा सकती हैं। इनमें प्रचलित गान्धर्व-विवाह, आर्य लोगोंमें विशेषतः क्षत्रियोंमें होने लगा। दुष्यन्त और शकुन्तलाका विवाह उसका मुख्य उदाहरण है। दुष्यन्त-शकुन्तलाके उपाख्यानमें उसकी इतनी ही विधि देख पड़ती है कि परस्पर प्रेम होकर एक दूसरेके गलेमें हार डाल दिया गया। इसमें यह भी आवश्यक नहीं कि इच्छित वरको बाप कन्या दे। गान्धर्वका यह एक भेद हुआ। परन्तु साधारण स्वयम्वरका भेद गान्धर्व विधिमें ही शामिल है। अनेक राजाओंका जमाव है। उसमें जो पसन्द आ गया उसके गलेमें जयमाल डालने पर "पिता उसका अभिनन्दन करे और बेटीने जिसे पसन्द किया है, उस वरको कन्या अर्पण कर दे।" (अनु० पर्व) इसका उत्कृष्ट उदाहरण नल-दमयन्ती हैं। दुष्यन्त-शकुन्तलाके गान्धर्व विवाहमें और नल-दमयन्तीके स्वयम्वरमें इतना ही भेद है कि यह स्वयम्वर सबके आगे होता है; और बेटीका बाप—तदनुसार—कन्यादान करता है। इस प्रकारका विवाह मुख्यतः क्षत्रियोंके लिए कहा गया है। यह स्वयम्वर-विवाह पहले भारती आर्योंमें महाभारतके समयतक प्रचलित था। सिकन्दरके साथी यूनानी इतिहास-कारोंने यह बात भी लिखी है। उन्होंने लिखा है कि पञ्जाबके कठ जातिके क्षत्रियोंकी स्त्रियाँ अपने लिए आपही वर पसन्द करती हैं।

आसुर।

अब आसुर पर विचार करेंगे। इस विवाहमें कन्या ख़रीदी जाती थी। "कन्याके आप्त लोगोंको और स्वयं कन्याको खूब धन आदि देकर मोल ले ले और तब उसके साथ विवाह करे। ज्ञाता पुरुष कहते हैं कि यह धर्म असुरोंका है।" अतएव इसका नाम आसुर हो गया। यह स्पष्ट वचन महाभारतमें ही है। यदि ऐतिहासिक रीतिसे विचार किया जाय कि असुर कौन हैं, तो वे असलमें पर्शियन

अथवा पारसी हैं। पहले लिखा गया है कि शर्मिष्ठा असुर-कन्या थी। 'ज़ंद' आर्यों-में प्रचलित विवाहकी यह प्रथा भारती आर्योंमें भी थी। महाभारतके कई उदाहरणोंसे यह बात स्पष्ट देख पड़ती है। पञ्जाबकी कुछ जातियोंमें आसुर विवाह हुआ करते थे। इनमें, भारतके समय, मद्र और केकय जातियाँ विशेष थीं। इस वंशकी स्त्रियोंको ख़ासकर मध्य देशके क्षत्रिय राजा ग्रहण करते थे। पाण्डुके वास्ते माद्री—शल्यकी बहिन—के लिये जानेका वर्णन महाभारतमें है। यहाँ पर वह उद्धृत करने लायक़ है। पाण्डु राजाका दूसरा विवाह करनेके लिए शल्यके नगर-में भीष्म गये। उन्होंने शल्यसे कहा कि माद्रीका विवाह पाण्डुके साथ कर दो। उस समय शल्यने उत्तर दिया—"हमारे कुलाचारको आप जानते ही हैं। हमें वह वन्दनीय है। उसे मैं अपने मुँहसे कहना नहीं चाहता।" तब भीष्मने उसकी शर्त मानकर सोनेके जेवर, रत्न और हाथी, घोड़े, कपड़े, अलङ्कार, मणि और मोती आदि देकर उसे सन्तुष्ट किया। इसके अनन्तर शल्यने अपनी बहिन उनके अधीन कर दी। इसी प्रकारका वर्णन रामायणमें दशरथ-कैकेयीके विवाहका है। कैकेयीके पिताको सारा राज्य अर्पण कर दशरथने कैकेयीको प्राप्त किया था। तात्पर्य यह कि पूर्व समयमें आसुर विवाह क्षत्रियोंमें प्रचलित था। ख़ासकर जिन क्षत्रियोंका सम्बन्ध असुरोंसे था, उनमें यह प्रथा कुल-परम्परासे चली आई थी। यूनानी इतिहासकार साफ़ लिखते हैं कि पञ्जाबमें महाभारततक यह रीति प्रचलित थी। उन्होंने लिखा है—"तक्षशिला नगरी-में युवती कन्याएँ बाज़ारमें बेचनेके लिए लाई जाती थीं और जो सबसे अधिक क़ीमत देता था उसीके हाथ सौदा होता था।" ऊपर शल्यका जो उत्तर उद्धृत है, उससे प्रकट है कि भारती आर्योंमें विवाह-का यह भेद तभीसे निन्द्य माना जाता था। आजकल भी यद्यपि कुछ जातियोंमें आसुर विवाह प्रचलित है तो भी उसे लोग अप्रशस्त ही मानते हैं।

राक्षस।

विवाहका पाँचवाँ भेद राक्षस विवाह है। यह ख़ासकर राक्षसोंमें होता था, इस कारण इसका नाम राक्षस पड़ा। इस विवाहमें कन्या पक्षवालोंसे लड़कर, प्रतिपक्षियोंको रोते-पीटते छोड़, विलाप करती हुई कन्याको ज़बर्दस्ती ले आते थे। पहले दिग्दर्शन किया जा चुका है कि राक्षस कौन लोग थे। हिन्दुस्थानमें मूल निवासियोंकी नरमांस भक्षण करनेवाली जो कुछ जातियाँ लङ्कासे फैली हुई थीं, उनमें विवाहका यह भेद था। रावण-कृत सीताहरणसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकारका विवाह क्षत्रियोंको बहुत भाया होगा; क्योंकि इसमें वही लोग अपने सामर्थ्यका उपयोग कर सकते थे जो युद्ध-विद्यामें निपुण होते थे। महाभारतमें इसका प्रसिद्ध उदाहरण सुभद्रा-हरण है। अर्जुनने श्रीकृष्णकी सलाहसे सुभद्राका हरण किया। इसमें किसी तरह सुभद्राके अनुमोदनका अंश न था। उस समय श्रीकृष्णने अर्जुन-से कहा—"क्षत्रिय स्वयम्वर-विधिसे विवाह करें, यह उत्तम है; परन्तु स्वय-म्वर किया जाय तो न जाने सुभद्रा किस-के गलेमें जयमाल डाल दे। अतएव शूर क्षत्रियोंके पक्षमें स्त्रीको बलात्कारसे हर ले जाना उत्तम मार्ग है।" सारांश, राक्षस विवाहको क्षत्रिय लोग ख़ूब पसन्द करते थे। काशिराजकी बेटियाँ—अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका—स्वयम्वर कर रही

थीं; उस समय भीष्म उन्हें हरण कर लाये और दोका विवाह विचित्रवीर्यके साथ कर दिया। इसमें विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब अम्बाने भीष्मसे कह दिया कि मैंने शाल्व राजाको मनसे वर लिया है, तब भीष्मने उसे लौट जाने दिया। इससे सिद्ध होता है कि जिस कन्याने मनसे किसी औरको वर लिया हो उस कन्याका प्रतिग्रह करनेमें, भारतके समय, आर्य क्षत्रियोंको अड़चन जान पड़ती थी। यद्यपि ऐसा है तथापि विवाहिता स्त्रीतक ज़बर्दस्ती हरण कर ले भागनेके उदाहरण पूर्व समयमें देख पड़ते हैं। इस सम्बन्धमें सीताका ही उदाहरण पर्याप्त है। इस रीतिसे विवाहिता स्त्रीको जीत ले जाने पर राक्षसोंकी रीतिके अनुसार, उस स्त्रीके ऊपर जीतनेवालेका अधिकार होता था; और यदि वह राजी न होती तो उसे एक वर्षकी मियाद दी जाती थी। शान्ति पर्वके ९६वें अध्यायमें कहा गया है कि पराक्रमसे हरण कर लाई हुई कन्यासे एक वर्षतक विवाहके सम्बन्धमें पूछताछ न की जाय। मालूम पड़ता है कि वह मियाद गुज़र जाने पर उसके साथ ज़बर्दस्ती विवाह कर लिया जाता था। परन्तु धर्मके ज्ञाता क्षत्रिय उस स्त्रीका भी प्रतिग्रह करना स्वीकार न करते थे जिसने मनसे किसी औरको वर लिया हो। भीष्मके उल्लिखित उदाहरणसे यह बात व्यक्त होती है। वन पर्वमें जयद्रथने द्रौपदीका हरण किया; उससे भी प्रकट है कि कुछ क्षत्रिय लोग विवाहित स्त्रीको भी ज़बर्दस्ती पकड़ ले जाते थे। परन्तु उसके आप्त-बन्धुओंको जीतनेकी आवश्यकता थी। द्रौपदीने उस समय धौम्य ऋषिकी प्रार्थना की; तब धौम्यने जयद्रथसे जो वाक्य कहा वह ध्यान देने योग्य है।

नेयं शक्या त्वया नेतुं अविजित्य महारथान्।
धर्मं क्षत्रस्य पौराणमवेक्षस्व जयद्रथ॥

'महारथियों (पाण्डवों) को जीते बिना तुम द्रौपदीको नहीं ले जा सकते। पुरातन कालसे क्षत्रियोंका जो धर्म चला आ रहा है, उस पर ध्यान दो।' (वन पर्व अ० २६८) इससे प्रतीत होता है कि क्षत्रियोंका पुरातन कालसे प्रचलित धर्म यह रहा होगा कि दूसरे क्षत्रियको जीतकर उसकी विवाहिता स्त्रीतक हरण की जा सकती है। अनेक प्रमाणोंसे यह धारणा दृढ़ होती है कि प्राचीन कालमें इस तरहकी रीति रही होगी। महाभारतके अनन्तरके कुछ ग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि राजाओंकी स्त्रियाँ, जीतनेवाले राजाके घर, दासीकी भाँति काममें लाई जाती थीं। विशेषतः जो स्त्रियाँ पटरानियाँ न होती थीं, उन्हें जीतनेवाले राजाकी स्त्रियोंमें सम्मिलित करनेमें बहुधा कोई बाधा न रही होगी। खैर; स्मृतियोंमें उल्लेख है कि राक्षस विवाह क्षत्रियोंके लिए विशेष रूपसे योग्य है। आजकल भी क्षत्रियोंमें और उनके नीचेवाली जातियोंमें राक्षस विवाहका थोड़ा बहुत अवशिष्ट अंश देख पड़ता है; यानी विवाहके अवसर पर दूलहके हाथमें कटार या छुरी रखनेकी रीति इन जातियोंमें अबतक है।

ये भिन्न भिन्न विवाह पहले भिन्न भिन्न जातियोंमें प्रचलित थे; और ब्राह्म, क्षात्र, गान्धर्व, आसुर और राक्षस उनके नाम थे। तथापि ये सब भारती आर्योंमें, एक ही समयमें, जारी थे और उन सबका रूपान्तर धीरे धीरे ब्राह्म-विवाहमें होता गया। राक्षस-विवाहके द्वारा यद्यपि कन्या हरण की गई हो, तथापि अन्तमें पति-पत्नीका विवाह बहुधा ब्राह्मविधिसे किया जाता था। महाभारतके अनेक

उदाहरणोंसे यह बात ज्ञात होती है। सुभद्रा-हरण हो चुकने पर, अर्जुन और सुभद्रा द्वारकामें लौटाये गये। वहाँ ब्राह्म-विधिसे उनका विवाह होनेका वर्णन है। इसका मुख्य स्वरूप दान है। इसी गान्धर्व-विवाह अथवा क्षात्र-विवाहसे अर्थात् स्वयंवर होने या बाज़ी जीतने पर जब विवाह होना पक्का हो जाता था तब भी बहुधा ब्राह्मविधि द्वारा विवाह हुआ करते थे। अर्जुनके द्रौपदीको जीत लेने पर और उसे अपने घर ले जाने पर भी द्रुपदने दोनोंको अपने यहाँ बुलाकर उनका विधिपूर्वक विवाह किया, ऐसा महाभारतमें वर्णन है। प्रायः सभी विवाहोंमें ब्राह्म-विधि यानी दानका रवाज था। एक दुष्यन्त और शकुन्तलाके विवाहका उदाहरण ही उक्त रीतिके विरुद्ध है। उसमें गान्धर्व विवाह होने-के पश्चात् दूसरी कोई विधि होनेका वर्णन नहीं; और शकुन्तलाके पितासे दुष्यन्तकी भेंटतक नहीं हुई। ऐसे अप-वादात्मक उदाहरणोंके सिवा प्रायः सभी प्रकारके विवाहोंमें ब्राह्म-विधि यानी दान-विधि सदैव रहती थी।

सभी विवाह-विधियोंका मुख्य अङ्ग सप्तपदी प्राचीन कालसे माना हुआ देख पड़ता है। विवाह-विधिमें अग्निके समक्ष पति-पत्नी जो सात फेरे करते हैं, उस विधिका नाम सप्तपदी है और उस विधि-का एक मुख्य अङ्ग पाणिग्रहण संस्कार भी है। मन्त्र-होमसे सप्तपदी होना ही विवाहको पूर्ण करना है। इसके बिना विवाह अधूरा ही रहता है। धर्मशास्त्रका ऐसा निश्चय महाभारतके समय स्पष्ट देख पड़ता है (अनुशासन पर्व)। इसके अतिरिक्त कन्याके शुल्क-सम्बन्धी अर्थात् मोल-तोलके सम्बन्धमें अनेक प्रश्न होते थे। महाभारतमें इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें भी भिन्न भिन्न विचारोंका उल्लेख है। यहाँ उनका विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। जबतक प्रत्यक्ष पाणिग्रहण और सप्तपदी न हो गई हो तबतक लड़कीके लिये दूसरे वरकी तजवीज़ हो सकती है, यह बात सोलहों आने सच है। सिर्फ़ शुल्क-दानसे वह कुछ वधू नहीं बन जाती।

विवाहके अन्य बन्धन।

महाभारत-कालमें विवाहके सम्बन्धमें जो और शर्तें थीं, उनका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है। उनका विस्तृत वर्णन पूर्व भागमें हो ही गया है। प्रत्येक वर्णको अपने ही वर्णकी स्त्री करनेका अधिकार था। इसके अतिरिक्त उसे अपने वर्णसे नीचेवालेकी बेटी ब्याह लेनेका भी अधिकार था। अर्थात् ब्राह्मणको क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके यहाँ, तथा क्षत्रियको वैश्य और शूद्रके यहाँ ब्याह कर लेनेका अधिकार रहा हो, तथापि महा-भारतमें अनेक स्थलों पर कहा गया है कि ब्राह्मण शूद्रा स्त्रीको ग्रहण न करे। ऐसा विवाह निन्द्य समझा जाता था। शूद्रा स्त्री ग्रहण करनेवालेको वृषलीपति कहते थे। यह नियम था कि ब्राह्मकर्म अर्थात् श्राद्धादिके लिये अथवा दान देनेके लिये वृषलीपति योग्य नहीं है। और तो और, यह भी माना जाता था कि वह अधोगतिको प्राप्त होगा। जयद्रथको मारनेकी प्रतिज्ञा करते समय अर्जुनने जो जो शपथें की थीं, उनमें एक शपथ यह भी है कि "मुझे वे लोक प्राप्त हों जहाँ वृषली-पति जाते हैं।" अस्तु; उस समय लोग चाहते थे कि ब्राह्मण या क्षत्रिय भी शूद्रा-को न ब्याहें। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि महाभारतके समय ब्राह्मण लोग नीचेके तीनों वर्णोंकी बेटियाँ लेते थे। अन्य ऐतिहासिक प्रमाणोंसे भी यह बात

सिद्ध है। मेगास्थिनीज़ने चन्द्रगुप्तके समयका जो वर्णन किया है, उसमें इस बातको उसने स्पष्टतया लिख दिया है। महाभारतके समयके पश्चात् भी, कई शताब्दियोंतक, यह नियम बना रहा। गुप्तकालीन शिलालेखोंमें भी, ब्राह्मणोंके क्षत्रिय स्त्रियोंको ब्याहनेके कई दृष्टान्त हैं। बाण कविने हर्षचरित्रमें अपने पारशव भाईके होनेकी बात लिखी है। तात्पर्य, ब्राह्मण कुछ महाभारतके समयमें ही अपनेसे नीचेवाले वर्णोंकी स्त्रियाँ ग्रहण न करते थे, किन्तु उसके पश्चात् कई सदियोंतक यह सिलसिला जारी था। पहलेपहल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनों जातिकी स्त्रियोंसे उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण ही समझी जाती थी। परन्तु फिर आगे, महाभारतके समय, ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्रियोंसे उपजी सन्तति ही ब्राह्मण मानी जाती थी। महाभारत-काल और उसके पश्चात्तक यह नियम था। गुप्त-कालमें, इस नियममें भी काट-छाँट हुई होगी और यह अनुमान होता है कि ब्राह्मण पति द्वारा क्षत्रिया स्त्रीसे उत्पन्न सन्तान **क्षत्रिय** ही मानी जाने लगी। धीरे धीरे गुप्त-कालके पश्चात् यह बात भी न रही। धर्मशास्त्रकी यह मर्यादा हो गई कि प्रत्येक वर्ण अपने ही वर्णमें विवाह करे। प्रतिलोम विवाह तो पहलेसे ही बन्द थे। बड़ा सख्त नियम था कि नीचेके वर्णका पुरुष अपनेसे उच्च वर्णकी स्त्री ग्रहण न करे। ऐसे समागमसे उपजी हुई सन्तान वर्णबाह्य निषाद-चाण्डाल आदि जातियोंमें गिनी जाती थी।

सिंहावलोकन।

महाभारतकालीन भारतीय आर्योंकी विवाह-संस्थाका वर्णन यहाँतक महाभारत और तत्कालीन यूनानी इतिहासकारोंके प्रमाणके आधार पर किया गया है। अब उसका संक्षिप्त सिंहावलोकन करके वर्तमान परिस्थितिके साथ उसकी तुलना करते हैं। (१) बहुत पुराने ज़मानेमें विवाहका बन्धन बहुत कड़ा न था। श्वेतकेतुने इसे शुरू किया। उसने नियम कर दिया कि यदि पत्नी व्यभिचार करे तो उसे भ्रूण-हत्याका पाप लगेगा। विवाहके दृढ़-बन्धनका पाया यही है। उसने यह भी उच्चतम नियम बना दिया कि यदि पति व्यभिचार करे तो यही पाप उसे भी होगा: किन्तु वह आजकल बहुधा मान्य नहीं है। (२) बहुत प्राचीन समयमें नियोगकी प्रथा थी, किन्तु स्त्रियोंके पातिव्रतकी उच्च कल्पनाओंने उसे बन्द कर दिया। न वह महाभारतके समय थी और न इस समय है। (३) प्राचीन कालमें दीर्घतमाने त्रैवर्णिक स्त्रियोंके लिये पुनर्विवाहकी मनाही कर दी। यह आज्ञा, पातिव्रतकी ही उच्च कल्पनाओंके कारण, भारती आर्योंमें मान्य हो गई। उच्च वर्णकी स्त्रियाँ, महाभारतके समय, पुनर्विवाह न करती थीं। यदि कोई कर लेती थी तो वह हीन, शूद्रतुल्य समझी जाती थी। हिन्दूसमाजमें यह धारणा अबतक बनी है। (४) एक स्त्रीके अनेक पति न हो सकते थे, परन्तु एक पतिको अनेक पत्नियाँ करनेका अधिकार प्राचीन समयसे लेकर महाभारतके समयतक था। बहुपत्नीकत्वका चलन पूर्व समयमें बहुत अधिक रहा होगा। किन्तु महाभारतके समय वह घट गया था और अब भी बहुत कम है। (५) बहुपतित्वकी प्रथा अति प्राचीन समयमें क्वचित् थी: आगे चलकर वह नष्ट हो गई और इस समय भी उसका चलन नहीं है। (६) प्राचीन कालसे लेकर महाभारतके समयतक विवाहमें कन्याके अनुपभुक्ता रहनेका आग्रह था और वैसाही

अब भी है। (७) परन्तु पति-पत्नीका समागम विवाहके ही दिन अथवा विवाहके तीसरे दिन होता था, अर्थात् विवाहके समय कन्या उपभोगके लायक या प्रौढ़ होती थी। (८) इससे प्रकट है कि पूर्व समयमें विवाह बचपनमें बिलकुल ही न होता था। बहुधा पुरुषोंका इक्कीस वर्षकी अवस्थासे लेकर तीस वर्षकी अवस्थातक और स्त्रियोंका पन्द्रह-सोलह वर्षकी अवस्थाके लगभग अर्थात् चढ़ती उम्रमें ही विवाह होता था। इस समय राजाओं और क्षत्रियोंके सिवा यह रीति और लोगोंमें नहीं है। (हर्षचरित्से अनुमान होता है कि यह रीति बाण कविके अनन्तर बदल गई होगी।) (९) इस कारण, उस ज़मानेमें विवाहके समय स्त्रियाँ प्रौढ़ होती थीं और इसीमें अप्रौढ़ तथा अनुपभुक्त विधवाओंका प्रश्न ही उपस्थित न हुआ था। आजकलकी और महाभारतकालीन स्थितिके बीच यह बड़ा और महत्त्व-पूर्ण अन्तर है। (१०) प्राचीन कालमें भिन्न भिन्न लोगोंमें तरह तरहके विवाह प्रचलित थे, और उन लोगोंके कारण ही ब्राह्म, क्षात्र, गान्धर्व, आसुर और राक्षस—ये विवाहके पाँच भेद भारतीय आर्योंमें, भारतीय-कालमें प्रचलित थे। उसमें ब्राह्म-विधि अर्थात् दान-विधि श्रेष्ठ मानी जाती थी। आजकल भी बहुत कुछ वही बात है। क्षत्रियोंमें राक्षस विवाह अर्थात् ज़बर्दस्ती कन्या हरण करनेकी रस्म और क्षात्र विवाह यानी शूरताकी बाज़ी जीतकर कन्याको वरनेकी रीति तथा गान्धर्व विवाह अर्थात् केवल प्रेमसे ही वरण कर लेनेकी रीति बहुत थी। यूनानी इतिहासकारोंके प्रमाणोंसे सिद्ध है कि महाभारतके समय भी यही परिपाटी थी। पर आजकल ये तीनों रीतियाँ लुप्त हैं। आजकल ब्राह्म और आसुर दोही, अथवा दोनोंका मिश्रण प्रचलित है। (११) महाभारतके समयतक ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनेसे नीचके वर्णकी बेटी ले लिया करते थे। इस समय यह रीति सर्वथा बन्द है। यह दूसरा महत्त्व-पूर्ण अन्तर है। इस प्रकार महाभारत-कालीन और वर्तमान-कालीन विवाह-संस्थाके सम्बन्धमें भारतीय आर्योंके समाजकी परिस्थिति विभिन्न थी।

पति-पत्नीका सम्बन्ध।

अब देखना चाहिए कि भारती-समयमें पति-पत्नीका कैसा सम्बन्ध था। जिन दिनों स्त्रियाँ विवाहके समय तरुण होती थीं और जिन दिनों उन्हें पतिको वरण करनेका अधिकार था, अथवा उन्हें स्त्रियोंके लिये शुल्कमें बड़ी बड़ी रकमें देनी पड़ती थीं, उस युगमें पत्नीका अधिकार परिवारमें बढ़ा रहा होगा। आजकल तो कन्या-दान करनेके अतिरिक्त ऊपरसे दक्षिणा (दहेज़) भी ख़ासी देनी पड़ती है: तब पत्नीका बहुत कुछ आदर अधिकार घट जानेमें आश्चर्य ही कौनसा है। महाभारतके समय गृहस्थीमें स्त्रियोंको विशेष स्वतन्त्रता प्राप्त थी और कुटुम्बमें उनका आदर भी ख़ासा था। द्रौपदीका ही उदाहरण लीजिये। विवाहके समय वह बड़ी थी। स्वयम्वरके अवसर पर वह निर्भयतासे चली आई। कर्ण जब लक्ष्य वेधनेको धनुष उठाने लगा तो उसने करारा उत्तर दिया कि—"मैं सूतसे विवाह न करूँगी।" ब्राह्मणरूपी अर्जुनके साथ वह, प्रण जीते जाने पर, आनन्दसे चली गई। फिर द्यूतके अवसर पर उसने अपना धैर्य डिगने नहीं दिया। उसे धर्मशास्त्रका भी अच्छा परिचय था और सभासे उसने ऐसा प्रश्न किया कि उसका उत्तर भीष्मसे भी देते न बना। व्यासजीने उसके लिये 'ब्रह्म-

वादिनी' और 'पण्डिता' विशेषणोंका प्रयोग किया है। वह अपने पतियोंके साथ वनवासमें बे-खटके चली गई। राज-कीय विषयों पर उसने अपने पतियोंके साथ अनेक बार वाद-विवाद किया। अपने तप और तेजसे उसने विराटके घर-की कठिनाइयाँ, अपनी शुद्धता और पाति-व्रतको बचाकर, झेल लीं और अन्तमें युद्धमें जीत होने पर उसने अपने पतियों-से राज्य करनेके विषयमें आग्रह किया। इस प्रकार उसके बड़प्पन, स्वातन्त्र्य और पातिव्रत्य आदि गुणोंका वर्णन कविने किया है।

पतिव्रता-धर्म।

द्रौपदीके ही मुखसे (वन प० २३३ वाँ अध्याय) कविने वर्णन कराया है कि उत्तम पत्नीका आचरण कैसा होना चाहिये। यहाँ उसे उद्धृत करना ठीक होगा। द्रौपदी सत्यभामासे कहती है:— "मैंने अपने पतियोंको जिस तरह प्रसन्न किया है, वह सुनो। अहङ्कार और क्रोधको त्यागकर स्त्री वह काम कभी न करे जो पतिको अप्रिय हो। पतिका मन रखने-के लिये स्त्री निरभिमान भावसे उसकी शुश्रूषा करे। बुरे शब्द कहना, या बुरी तरहसे खड़े रहना, बुरी रीतिसे देखना या बैठना अथवा चाहे जिस जगह चले जाना—इन बातोंसे मैं बहुत बचती रहती हूँ। मैं इस बातको जाँचनेकी फ़िक्र नहीं करती कि मेरे पतियोंके मनमें क्या है। मैं किसी दूसरे पुरुषको भूलकर भी नहीं देखती, फिर चाहे वह देवता हो या गन्धर्व, तरुण हो या मालदार, छैला हो या सुन्दर। मैं पतिके पहले न भोजन करती हूँ, न स्नान करती हूँ और न लेटती हूँ। नौकरों-चाकरोंके सम्बन्धमें भी मैं ऐसा ही व्यवहार करती हूँ। पतिके बाहरसे आने पर स्त्रीको खड़े होकर उसका अभिनन्दन करना और उसे जल तथा आसन देना चाहिए। स्त्रीको घरके बासन-बर्तन खूब साफ़ रखना चाहिए और अच्छी रसोई तैयार करनी चाहिए। पतिको यथोचित समय पर भोजन परोसना चाहिए। सामानको सावधानीसे रखे और मकानको बुहारकर साफ़ रखे। खोटी स्त्रियोंका साथ न करे और आलस तजकर पतिको निरन्तर सन्तुष्ट रखे। न किसीसे दिल्लगी करे और न हँसी। घरके बाहरवाले दरवाज़ेमें खड़ी न हो। बाग़में ज्यादा देरतक न ठहरे। पति प्रवासमें हो तो नियमशील होकर पुष्पों और अनुलेपनको त्याग दे। पति जिस चीज़को खाना-पीना न हो उसे आप भी वर्जित कर दे। जो बातें पतिको हित-कारक हों वे ही करे। सासने मुझे जो कुछ कह रखा है उसका अवलम्बन मैं रात-दिन बड़ी मुस्तैदीसे करती हूँ। सब प्रकारसे धर्मनिष्ठ पतियोंकी सेवा मैं इस तरह डर-कर किया करती हूँ जैसे कोई क्रुद्ध सर्पसे डरे। पतिसे बढ़कर अच्छी होनेका प्रयत्न मैं नहीं करती। मैं सासकी निन्दा नहीं करती। किसी बातमें प्रमाद नहीं होने देती। मैं सदा कुछ न कुछ करती रहती हूँ; और बड़ोंकी शुश्रूषा करती हूँ। अनेक वेदवादी ब्राह्मणोंका मैं सत्कार करती हूँ। नौकर चाकर जो कुछ करते हैं उसपर सदा मेरी दृष्टि रहती है। गोपाल (ग्वाले) से लेकर मेषपाल (गड़रिये) तक सभी चाकरोंकी मुझे जानकारी है। गृहस्थीमें जो खर्च होता है और जमा होता है उस पर मैं बड़े गौरसे नज़र रखती हूँ। ऐसे वशीकरणके मन्त्रसे मैंने अपने पतियोंको वशमें किया है। और कोई वशीकरण मुझे मालूम नहीं।" यह वर्णन इस बातका अच्छा उदाहरण है कि गृहस्थीमें पत्नीको

कैसा व्यवहार करना चाहिए। परन्तु गृहस्थीमें पत्नीका जो उदात्त कर्तव्य है, उसका अर्थात् पतिके सुख-दुःखकी हिस्सेदार बननेका अच्छा चित्र इसमें नहीं दिखलाया गया। किन्तु महाभारतमें व्यासने द्रौपदीके प्रत्यक्ष आचरणका जो वर्णन किया है वह इससे कहीं श्रेष्ठ कोटिका है। वह सदा पाण्डवोंके सुख-दुःखकी संविभागिनी दिखलाई गई है। यह भी दिखा दिया है कि कुछ मौक़ों पर वह पतियोंके साथ वाद-विवाद तथा झगड़ा और हठ भी करती है। प्राचीन कालसे ही स्त्रियोंके आचरणके सम्बन्धमें अत्यन्त उदात्त कल्पना भारती आर्य स्त्रियोंके हृदयमें है, इसकी साक्षी महाभारतके अनेक वर्णन और कथाएँ देती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारतके समय आर्य स्त्रियोंका पति-प्रेम अवर्णनीय था और पति-पत्नीके रिश्तेका दर्जा बहुत ऊँचा था।

पति-पत्नीका अभेद्य सम्बन्ध।

भारतके एक प्रसङ्गसे यह बात भली भाँति समझी जा सकेगी कि पति-पत्निके रिश्तेके सम्बन्धमें भारती आर्योंमें कितनी उदात्त कल्पना थी। यहाँ पर उसका विवेचन किया जाता है। जिस समय द्रौपदीका वस्त्र-हरण किया गया, उस प्रसंगसे उसने पूर्वोक्त महत्त्वका प्रश्न किया। उसने पूछा—"धर्मने पहले अपने आप बाज़ी लगाई, और हार जाने पर उन्होंने मुझे दाँव पर रख दिया। फिर मैं दासी हुई या नहीं?" इसका उत्तर भीष्म न दे सके। वस्त्र खींचते खींचते दुःशासनके थक जाने पर भी द्रौपदीने वही प्रश्न किया। तब भीष्मने उत्तर दिया कि—"प्रश्न कठिन है, उत्तर नहीं दिया जा सकता।" यह भी एक पहेलीसी जँचती है। इस उत्तरके आधार पर कुछ लोग यह भी दलील करते हैं कि वस्त्र-हरणकी घटना यहाँ हुई ही न होगी। "वस्त्र-हरणके अवसर पर स्वयं धर्मने चमत्कार करके साक्षी दी कि द्रौपदी दासी नहीं है, तब भीष्मको तो शङ्का न रहनी चाहिये।" अर्थात् आक्षेपकर्ताका यह कथन हो जाता है कि द्रौपदी-वस्त्र-हरण काल्पनिक और प्रक्षिप्त है। और तो और, इस कथा-भागके सम्बन्धमें भीष्मके अत्युदात्त चरित्र पर साधारण लोगोंके मनमें भी शङ्का उत्पन्न होती है। महाभारतके सभी व्यक्तियोंमें भीष्मका चरित्र श्रेष्ठ है, और उनके सम्बन्धमें सभीका आदर-भाव है। जिसने पिताके लिए आमरण ब्रह्मचर्य अङ्गीकार किया, जो ज्ञान, अनुभव और तपोबलसे सबका नेता था, जो समस्त शस्त्रास्त्र-वेत्ताओंमें अग्रणी था और जो धृतराष्ट्रका भी चाचा था अर्थात् सारे कौरवोंका पितामह था, उसने यदि ठीक समय पर द्रौपदीके प्रश्नको योग्य रीतिसे हल कर दिया होता, तो वह भयङ्कर युद्ध होनेकी घड़ी ही न आती। बहुतोंको ऐसाही जँचता है। जिस भीष्मने अपने साक्षात् गुरु महाराजकी धर्म-विरुद्ध आज्ञा नहीं मानी, उसने उस समय राजसत्ताकी हाँमें हाँ मिला दी। कुछ लोगोंको यही मालूम होने लगता है। किन्तु उस समयके प्रसङ्ग पर यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो भीष्मने उस समय जो उत्तर दिया उससे उन पर होनेवाला आक्षेप दूर हो जाता है। न सिर्फ़ यही, बल्कि यह भी देख पड़ेगा कि पति-पत्नीके सम्बन्धमें उन्होंने एक अत्यन्त उदात्त नियम यहाँ बतला दिया। धर्मने अपनी बाजी हारकर, शकुनिके बढ़ावेसे द्यूत-मदान्ध होकर, दाँव पर द्रौपदीको रख दिया। सारी सभाने इस बातसे घृणा की; तब भी धर्मने दाँव लगा

रहने दिया—बदला नहीं। अतएव दाँव हार जाने पर द्रौपदी कौरवोंकी दासी हो गई। दुर्योधनने उन्मत्त भावसे उसे सभामें बुलवा भेजा। तब, उसने कौरवोंके फन्देसे छूटनेके लिए—न कि अपने पतियोंके अधिकारसे निकलनेके लिए—पतिव्रता होनेके कारण सभासे यह पेचीला सवाल किया। उस समय भीष्मने उत्तर दिया—"जिस पर अपनी सत्ता नहीं चलती, ऐसा द्रव्य दाँव पर नहीं लगाया जा सकता; और पति चाहे किसी स्थितिमें क्यों न हो, स्त्रीके ऊपरसे उसकी सत्ता उठ नहीं सकती। इन दोनों बातोंको देखते हुए तेरे प्रश्नका निर्णय करना मुशकिल काम है।"

> न धर्मसौक्ष्म्यात्सुभगे विवक्तुं
> शक्नोमि ते प्रश्नमिमं विवेक्तुम्।
> अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं
> स्त्रियश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य॥
> (स० अ० ६७)

इस उत्तरसे कौरवोंको स्फूर्ति प्राप्त हुई और दुःशासनने द्रौपदीका वस्त्र खींचा। परन्तु द्रौपदीके रक्षक श्रीकृष्ण जगन्नियन्ता परमेश्वर—प्रत्यक्ष धर्मने उसकी लाज रख ली और उसे सैंकड़ों वस्त्र पहना दिये। तथापि इतनेसे ही द्रौपदीका प्रश्न हल नहीं हुआ। वह दासी समझी जाकर दुर्योधनके हवाले की जाय अथवा अदासी समझी जाय और उसे चाहे जहाँ जानेका अधिकार हो? भीष्मने तो वही पूर्वोक्त उत्तर दिया। इस दशामें धृतराष्ट्रने प्रसन्न होकर द्रौपदीको वरदान दिये और उन वरदानोंके द्वारा अपना और अपने पतियोंका छुटकारा करा लिया। इसके अनन्तर वनवासका दाँव लगाकर द्यूत हुआ। ऐसा यहाँका किस्सा है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि भीष्मने पहले जो उत्तर दिया वह योग्य है या अयोग्य? और वस्त्र-हरणके चमत्कारसे उस प्रश्नका निर्णय हुआ या नहीं? हमारी समझसे तो भीष्मने जो 'नहीं' उत्तर दिया, उसीमें भारतीय आर्य पति-पत्नियोंके लिए एक अत्यन्त उदात्त तत्त्व बतलाया गया है। क्योंकि भीष्मने पहले यह कहा है कि पतिकी पत्नी पर जो सत्ता है, उसका विचार करने पर पतिके स्वयं हार जाने पर भी, पत्नीके ऊपरसे उसकी सत्ताका उठ जाना नहीं कहा जा सकता। पति चाहे किसी स्थितिमें हो, उसके सुख दुःखकी विभागिनी पत्नी है ही। भारती आर्योंने इस उदात्त तत्त्वको इतना पूर्ण किया कि पतिके दास (पराधीन) हो जाने पर भी पत्नी परकी उसकी सत्ताको हरण नहीं किया। उनकी यही भावना थी। और इसी भावनासे प्रेरित होकर आज हज़ारों वर्षसे हिन्दुस्थानके स्त्री-पुरुष, विवाहित अवस्थामें, एकताके आनन्दका सुख भोग रहे हैं। अर्थात् भीष्मने पहले जो उत्तर दिया वही योग्य और उदात्त तत्त्वके अनुसार था। वस्त्र-हरणके समय जो चमत्कार हुआ उससे क्या इस तत्त्वका खण्डन हो सकता है? यदि यह मान लिया जाय कि द्रौपदीके दासी न होनेका ही धर्मने निर्णय किया, तो कहना होगा कि धर्मने जो यह चमत्कार किया वह अपने हाथ-पैर तुड़वानेके ही लिए किया। उस समय युधिष्ठिरने जो चुप्पी साध ली थी उसका भी यही कारण है। कहना होगा कि राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्म बतलानेवाले भीष्म, चमत्कार होनेके पहले, योग्य निर्णय नहीं कर सके। वस्त्र-हरणके समय जो चमत्कार हुआ उसने द्रौपदीके प्रश्नको हल तो नहीं किया; परन्तु यह सूचना दे दी कि जूएके अवसर पर दासीको भी न तो

सभामें बुलाना चाहिये और न उसकी फ़जीहत करनी चाहिये । चमत्कारका प्रादुर्भाव भी इतनेके ही लिए हुआ करता है। चमत्कार होनेका यह मतलब नहीं माना जा सकता कि जो चाहे हो सकता है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो द्रौपदी-ने अपने पातिव्रतकी पुण्याईसे दुश्शासन और दुर्योधन आदि सभी दुष्टोंको भस्म कर डाला होता और फिर भयङ्कर युद्ध होनेकी नौबत ही न आती। परन्तु चमत्कारोंकी उत्पत्ति सृष्टि-क्रममें सिर्फ़ उतनी ही अनिवार्य दिक्कतसे बचनेके लिये होती है: पाठकोंको इस तत्त्व पर ध्यान रखना चाहिये । चमत्कारसे द्रौपदीकी आबरू बच गई और इसी कारण उसके विषयमें सभीके मनमें पूज्य बुद्धि उत्पन्न हो गई। अस्तु; इस चमत्कारके द्वारा धर्म-रूपी ईश्वर यह अधर्मरूपी उत्तर कभी नहीं देगा कि द्रौपदी दासी नहीं है। पति-पत्नीके नातेके सम्बन्धमें महाभारतने जो उदात्त कल्पनाएँ भारती स्त्री-पुरुषोंके मनोंमें प्रतिबिम्बित कर दी हैं, उन्हें इसके विपरीत धारणासे, धक्का लगेगा। द्रौपदीके छुटकारेके सम्बन्धमें भीष्म निर्णय न कर सकते थे और यही ठीक था। और ऐसी अड़चनके मौक़े पर राजाको ही अपने राजाकी हैसियतके—अधिकारोंका प्रयोग करना चाहिए था। महाभारतमें वर्णित है कि धृतराष्ट्रने ऐसा ही किया। भीष्म-को वह अधिकार न था, भीष्म तो प्रधान अथवा न्यायाधीश थे। सारांश, द्रौपदीके वस्त्र-हरणवाली घटना न तो प्रक्षिप्त है और न वह उस आक्षेपके ही योग्य है जो कि इस सम्बन्धमें कुछ लोग भीष्मके उदात्त चरित्र पर करते हैं । द्यूत-मदसे अन्ध होकर युधिष्ठिर अपने आप गड्ढेमें गिरे और अन्य पाण्डवोंने भी उन्हें ठीक समय पर मना नहीं किया; इस कारण उनकी द्रौपदी परकी सत्ता छूट गई और उसका उज्र न किया जा सकता था। और जो काम नल राजाने भी नहीं किया वही युधिष्ठिर-ने किया, इसके लिए भीष्म क्या करें? भीष्मने उस समय भी अपना आचरण धर्म और न्यायकी तुलासे बहुत ही ठीक रखा । भीष्मने यहाँ भारती आर्योंको दिखला दिया कि पति-पत्नीके सम्बन्धकी उदात्त कल्पना कहाँतक पहुँचती है और महाभारतके समयसे लेकर आज हज़ारों वर्षतक पति-पत्नीके नातेके सम्बन्धमें यही उदात्त भाव भारती स्त्रियोंके हृदय और आचरणमें पूर्णतया जमकर बैठ गया है, सो ठीक है।

ऐसा होने हुए यह आश्चर्य है कि सिकन्दरके साथ आये हुए यूनानी इति-हासकारोंने भारती स्त्रियोंके सद्गुणोंके सम्बन्धमें कुछ प्रतिकूल लेख अपने ग्रन्थों-में लिख छोड़े हैं। एक स्थान पर लिखा है कि—"हिन्दुस्तानी लोग अनेक स्त्रियाँ रखते हैं। कुछ तो नौकरी-चाकरी करानेके लिये, कुछ ऐश-आरामके लिये और कुछ लड़कों-बच्चोंसे घरको भर देनेके लिये। परिणाम यह होता है कि यदि स्त्रियोंके सदाचारकी रक्षा ज़बर्दस्ती न की जाय तो वे बुरी हो जाती हैं।" सारी दुनिया-का अनुभव यही है कि जहाँ छोटेसे अन्तःपुरमें अनेक स्त्रियोंको बन्द करके रखनेकी प्रथा है, वहाँ इस ढंगका परि-णाम न्यूनाधिक अंशोंमें देख ही पड़ेगा। परन्तु प्राचीन समयमें क्षत्रिय स्त्रियोंको घरमें बन्द करके रखनेकी प्रथा न थी; स्त्रियोंको बहुत कुछ स्वाधीनतासे तथा खुलकर बाहर निकलने और घूमने फिरनेका अवसर मिलता था। उल्लिखित यूनानी मतका कारण हमारी समझमें यह आता है कि हर देशवालोंमें दूसरे देशकी स्त्रियोंके सद्गुणोंके सम्बन्धमें प्रति-

कूल प्रवाद सदैव रहता है; और इस तरहके प्रवाद बहुधा सच नहीं निकलते। यूनानी इतिहास-लेखकोंका लिखा हुआ यह प्रवाद भी इसी श्रेणीका होगा। कर्ण और शल्यके बीच जिस निन्दा-प्रचुर (पूर्वोल्लिखित) भाषण होनेका वर्णन महाभारतकारने कर्णपर्वमें किया है, उसमें भी कर्णने मद्र-स्त्रियोंकी और पञ्जाबकी अन्य वाहिक स्त्रियोंकी इसी तरह निन्दा की है। इसमें सन्देह नहीं कि इस निन्दामें अतिशयोक्ति है। तथापि मूलमें कुछ न कुछ सत्य होनेसे महाभारतके समय कदाचित् पञ्जाबमें यह हाल रहा हो; और इसी बिरते पर यूनानियोंको प्रतिकूल मतकी कुछ जड़-बुनियाद हो। किन्तु हमारी समझमें यह भी पहले ही सिद्धान्तका एक नमूना है। अर्थात् कर्णके मनमें पञ्जाबकी स्त्रियोंके विषयमें जो ओछा विचार था वह उसी नासमझीका परिणाम था जो कि प्रत्येक समाजमें दूसरे समाजके सम्बन्धमें होती है। अर्थात् कर्णपर्ववाले कर्णके भाषणसे अथवा यूनानी इतिहासकारोंके वर्णनसे भारतीय आर्य स्त्रियोंके पातिव्रतके उच्च स्वरूपमें, जो कि महाभारतमें देख पड़ता है, कोई कमी नहीं आती।

सतीकी प्रथा।

यदि इस उच्च स्वरूपकी कुछ और भिन्न साक्षी आवश्यक हो, तो वह सतीकी प्रथा है। सतीकी प्रथा भारती आर्योंको छोड़ और किसी जातिमें प्रचलित नहीं देख पड़ती। कमसे कम उसके उदाहरण और लोगोंमें बहुत ही थोड़े हैं। सतीके धैर्यके लिये पातिव्रत्यकी अत्यन्त उदात्त कल्पना ही आधार है। हिन्दुस्तानमें सतीकी प्रथा प्राचीन कालसे लेकर महाभारतके समयतक प्रचलित देख पड़ती है। किंबहुना यूनानी इतिहासकारोंने भी इस सम्बन्धका प्रमाण लिख छोड़ा है। पञ्जाबके ही कुछ लोगोंके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा है कि इनकी स्त्रियाँ पतिकी चितापर जलकर देह त्याग देती हैं। यूनानी इतिहासकारोंको इस बातका बड़ा आश्चर्य होता था कि इस तरह देह तजनेका मनोधैर्य इन स्त्रियोंको कैसे हो जाता है। किन्तु उन्होंने यह भी लिखा है कि ऐसा देह-त्याग वे अपनी खुशीसे ही करती हैं। यूनानी फ़ौजमें केटीयस् नामक एक भारती क्षत्रिय सेनापति था। उसके मरने पर, सती होनेके लिये, उसकी दोनों स्त्रियोंमें झगड़ा हुआ। अन्तमें बड़ी स्त्रीको, गर्भवती होनेके कारण, सती न होने दिया गया; और छोटी स्त्री इस सम्मानको प्राप्त करके आनन्दसे सती हो गई। यह वर्णन यूनानियोंने ही किया है। इससे प्रकट है कि सिकन्दरसे पहले अर्थात् महाभारत-कालके पूर्वसे ही हिन्दुस्थानमें सतीकी प्रथा थी; और इसके विषयमें अत्यन्त पवित्रताकी कल्पना हुए बिना अपनी इच्छासे सती हो जाना सम्भव नहीं। महाभारतमें भी पाण्डुके साथ माद्रीके सती हो जानेका वर्णन है। वह माद्री भी मद्र देशकी पञ्जाबिन ही थी। इन्द्रप्रस्थमें श्रीकृष्णकी कितनी ही स्त्रियोंके सती हो जानेका वर्णन महाभारतमें है। भारतीय युद्ध हो चुकने पर दुर्योधनकी स्त्रियोंके सती होनेका अथवा दूसरे राजाओंकी स्त्रियोंके सती होनेका वर्णन महाभारतमें नहीं है। किन्तु महाभारतमें तो दुर्योधनकी स्त्रीका नामतक नहीं, फिर उसके सती होनेकी बात तो दूर है। अन्याय राजाओंकी स्त्रियोंके भी नाम नहीं, और इस कारण उनके सम्बन्धमें कुछ भी उल्लेख नहीं है। तात्पर्य, यह उल्लेख न रहनेसे कुछ भी प्रतिकूल अनु-

मान नहीं होता। अर्थात् सतीकी प्रथा बहुत पुरातन होगी। यूनानी इतिहास-कारोंके प्रमाणसे महाभारतके समय उसका प्रचलित होना निस्सन्देह है। हिन्दुस्थानमें सतीकी प्रथा अङ्गरेज़ी राज्य-के आरम्भतक थी, किन्तु अब वह सर-कारी क़ायदेसे निषिद्ध हो गई है।

पर्देका रवाज।

इसी सिलसिलेमें अक्सर यह प्रश्न किया जाता है कि महाभारतके समय हिन्दुस्तानमें पर्देकी रीति थी या नहीं। महाभारतके कई एक वर्णनोंसे यह अनु-मान होता है कि क्षत्रिय राजाओंमें महा-भारतके समय पर्दा रहा होगा। शल्य-पर्वमें, युद्धका अन्त होने पर, दुर्योधनकी स्त्रियाँ जब हस्तिनापुरकी ओर भागीं, उस समयका वर्णन है कि जिन ललनाओंको कभी सूर्यतकने नहीं देखा, वे ललनाएँ अब बाहर निकलकर भागने लगीं। इससे जान पड़ता है कि राजाओंकी विवाहित स्त्रियाँ पर्देमें रहती थीं। इसी तरह जब हस्तिनापुरसे स्त्रियाँ जल-प्रदान करनेको गङ्गा जानेके लिये निकलीं, तब फिर भी यही वर्णन किया गया है कि जिन स्त्रियोंको सूर्यने भी न देखा था, वे अब खुले तौर पर सबकी नज़रके आगे (बेपर्दे) जा रही हैं। इससे भी पूर्वोक्त अनुमान होता है। किन्तु इसमें थोड़ासा विचार है। स्त्री पर्वके १०वें अध्यायमें यह वर्णन है—"प्रत्यक्ष देवताओंने भी कभी जिनके नाख़ूनोंतकको नहीं देखा वे ही स्त्रियाँ, अनाथ होनेके कारण, लोगोंको दिखाई दे रही हैं।" इस वाक्यसे अनुमान होता है कि जिन स्त्रियोंके पति जीवित होते थे वे ही पर्देमें रहा करती थीं। परन्तु अनाथ अर्थात् विधवा स्त्रियाँ बाहर जन-साधारणमें निकलती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारतके समय पर्देकी प्रथा प्रत्यक्ष वर्तमान थी; क्योंकि यूनानी इतिहास-कारोंने भी इसका वर्णन किया है। मेगा-स्थिनीज़ने इसका उल्लेख किया है। कथा-सरित्सागरमें भी नन्दोंके अन्तःपुरका जो वर्णन है, उससे भी प्रकट होता है कि राजाओंकी स्त्रियाँ पर्देमें इस तरह रखी जाती थीं कि उनके नाख़ूनतक देवता भी न देख सकें। कथासरित्सागरमें वर्णित है कि एक राहगीरने अन्तःपुरकी ओर नज़र उठाकर देखा था, इसलिए उसे पाटलिपुत्रमें प्राण-दण्ड दिया गया। सारांश, महाभारतसे समय अर्थात् सन् ईसवीसे पूर्व ३०० वर्षके लगभग राजाओं-में पर्देकी यह रीति पूर्णतया प्रचलित थी। इस कारण सौतिने महाभारतमें उल्लिखित वर्णनको स्थान दिया है। परन्तु अनुमान होता है कि आरम्भसे भारती आर्य क्षत्रियोंमें यह रीति न रही होगी। भारती कथाके भिन्न भिन्न प्रसङ्गोंके चित्र यदि दृष्टिके सामने रखे जायँ तो ज्ञात होगा कि अति प्राचीन कालमें यह पर्दा न रहा होगा। सुभद्रा, रैवतक पर्वत पर, यादव स्त्रियोंके साथ खुले तौर पर उत्सवमें फिरती थी, इसी कारण वह अर्जुनकी दृष्टिमें आ गई। द्यूतके समय द्रौपदी धृत-राष्ट्रकी स्त्रियोंमें बैठी थी। वहाँ पर यदि दुश्शासन या प्रातिकामी दूतके लिए पर्दा होता तो वह वहाँ पहुँच न सकता। और, इसी प्रकार द्रौपदी भी भरी सभामें न लाई जा सकती। वनवासमें द्रौपदी खुल्लम-खुल्ला पाण्डवोंके साथ थी और जयद्रथने उसे दरवाज़ेमें खड़ी देखकर हरण करने-का प्रयत्न किया था। ऐसे ऐसे अनेक उदा-हरणोंसे हमारा मत है कि भारती युद्धके समय क्षत्रिय स्त्रियोंके लिए पर्देका बन्धन न था। साधारण रीतिसे वे बिलकुल बाहर घूमती फिरती नहीं थीं, किन्तु वर्तमान

समयकी सी पर्देकी प्रथा उस समय न थी। सीताकी शुद्धिके समय रामने कहा है कि—"विवाह, यज्ञ अथवा सङ्कटके समय यदि स्त्रियाँ लोगोंके सामने आवें तो कोई हानि नहीं।" अर्थात् ऐसे अवसरों पर तो प्राचीन समयमें स्त्रियोंके लिए कोई पर्दा था ही नहीं। यह बात अवश्य माननी चाहिये। परन्तु ऊपर द्रौपदीके सम्बन्धमें जिन प्रसङ्गोंका वर्णन किया गया है, उनसे प्रतीत होता है कि अन्य अवसरों पर भी क्षत्रिय राजाओंकी स्त्रियाँ, बिना पर्देके ही बेधड़क बाहर आती-जाती थीं और महाभारतके वर्णनसे देख पड़ता है कि वे लोगोंकी नज़रोंसे छिपी भी न रहती थीं। बहुधा पर्देकी रीति पर्शियन लोगोंसे, पर्शियन बादशाहोंके अनुकरण पर, हिन्दुस्थानके नन्द प्रमुख सार्वभौम राजाओंने सीख ली होगी। अर्थात् सन् ईसवीसे पूर्व ४००–५०० वर्षके लगभग इसका अनुकरण किया गया और महाभारतके समय यह रीति प्रचलित थी।

दूसरे बन्धन।

स्मृति-कालमें विवाह-सम्बन्धी जो और बन्धन देख पड़ते हैं वे महाभारतके समय थे या नहीं? इस पर यहाँ विचार करना है। यह तो पहले ही देखा जा चुका है कि सगोत्र विवाहको सशास्त्र न माननेका नियम महाभारतके समय मौजूद था। गोत्रका अर्थ किसी विवक्षित पुरुषसे उत्पन्न पुरुष-सन्तति करना चाहिए। भारती आर्योंके समाजमें यह बन्धन विशेष रूपसे देख पड़ता है कि विवाह एक ही जातिमें तो हो, परन्तु एक ही गोत्रमें न हो। महाभारतके समय गोत्रके साथ साथ प्रवरकी भी मनाही थी। महाभारतके समय यह नियम था कि एक ही प्रवरमें बेटी-व्यवहार नहीं किया जा सकता। महाभारतसे इस बातका पता नहीं लगता कि यह बन्धन कैसे शुरू हुआ। महाभारतमें इतना ही लिखा है—'काल-गतिसे प्रवर उत्पन्न हो गये।' किन्तु इससे कुछ बोध नहीं होता। प्रवर तीन या पाँच होते हैं अर्थात् तीन गोत्रोंमें और कुछ खास पाँच गोत्रोंमें विवाह-सम्बन्ध नहीं होता। प्राचीन समयमें ऐसे गोत्र कुछ कारणोंसे, प्रेमसे या द्वेषसे, अथवा अन्य कारणोंसे निश्चित हो गये होंगे। विभिन्न गोत्रोंके प्रवर सूत्रमें पठित हैं। किन्तु सब जगह, उदाहरणार्थ सब ब्राह्मणोंमें, फिर वे चाहे जिस शाखाके हों, गोत्रोंके प्रवर एक ही हैं; इससे यह प्रवर-भेद बहुत प्राचीन-कालमें अर्थात् महाभारतसे भी प्राचीन समयमें उत्पन्न हुआ होगा।

सगोत्रके सिवा, मातृ-सम्बन्धसे पाँच पीढ़ियोंतक विवाह वर्ज्य है। यह वर्तमान स्मृतिशास्त्रका नियम है। अब देखना चाहिए कि भारती आर्योंमें यह नियम कहाँतक प्रचलित था। यह साफ़ देख पड़ता है कि चन्द्रवंशी आर्योंमें इस नियमकी पाबन्दी न थी। मामाकी बेटी आजकल विवाहके लिये वर्ज्य है; परन्तु पाण्डवोंके समय चन्द्रवंशी क्षत्रियोंमें इसकी मनाही न थी। इसके अनेक उदाहरण हैं। श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नका विवाह, उसके मामा रुक्मीकी बेटीके साथ हुआ था। प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धका विवाह भी उसकी ममेरी बहिनके साथ हुआ। इन विवाहोंके वर्णनसे ज्ञात होता है कि मामाकी बेटी ब्याह लाना चन्द्रवंशी आर्य विशेष प्रशस्त मानते थे। सुभद्राके साथ अर्जुनका विवाह भी इसी प्रकारका था। सुभद्रा उसकी ममेरी बहिन थी। भीमका विवाह शिशुपालकी बहिनके साथ हुआ था। यह सम्बन्ध भी इसी श्रेणीका था। शिशुपाल-

की माँ और कुन्ती दोनों बहनें थीं। ऐसे अनेक उदाहरणोंसे सिद्ध है कि मामाकी बेटीके साथ ब्याह कर लेना उस समय साधारणसी बात थी। यहाँ पर कह देना चाहिए कि ऐसा विवाह पहले, दक्षिण ओरके महाराष्ट्रोंमें प्रशस्त माना जाता था। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें ऐसे विवाह उस तरफ़ पहले होते थे। दक्षिणमें ससुर-को मामा कहनेकी चाल अबतक है। जनेऊके अवसर पर जब लड़का काशी जानेकी रस्म अदा करने लगता है तब मामा ही उसे लड़की देनेका वादा करके रोक लेता है। लड़की देनेके वादेकी रीति युक्तप्रान्तकी तरफ़ नहीं है, सिर्फ़ फुसला लेनेकी है। धर्मशास्त्र-निबन्धमें लिखा है कि—'मातुल-कन्या-परिणय' महाराष्ट्रोंका अनाचार है। अतएव यह मान लेनेमें क्षति नहीं कि महाराष्ट्र लोग चन्द्रवंशी क्षत्रियोंके वंशज हैं। जो हो, यह कहा जा सकता है कि महाभारतके समय चन्द्रवंशी आर्योंमें मातुल-कन्याका विवाह निषिद्ध न माना जाता था।

महाभारतके समय विवाहके सम्बन्ध-में एक और नियम यह देख पड़ता है कि जेठे भाईका विवाह हुए बिना छोटेका विवाह न हो। ऐसा विवाह करनेवालेको भारी पाप लगना माना गया था। हाँ, यदि बड़ा भाई पतित या संन्यासी हो गया हो तो परिवेदन करनेके पातकसे छोटा बरी किया गया है। (शां० अ० ३४) कहा गया है कि परिवेत्ता अर्थात् विवाह कर लेनेवाले छोटे भाईको प्राय-श्चित्त करना चाहिए। बड़े भाईका विवाह होने पर, कृच्छ्र करनेसे, उसके मुक्त होने-का वर्णन है। किन्तु एक शर्त यह है कि उसे फिरसे अपना विवाह करना चाहिए। (शां० अ० ३५) इसके सिवा लिखने लायक बात यह है कि स्त्रियोंको यह परिवेदनका दोष नहीं लगता; अर्थात् बड़ी बहिनका विवाह होनेके पहले ही यदि छोटी ब्याह दी जाय तो वह दोषी या पातकी नहीं। शायद यह अभिप्राय रहा हो कि स्त्रियोंको जब उत्तम वर मिले तभी उनका विवाह कर दे—अविवाहित न रखे। स्त्रियोंका विवाह तो होना ही चाहिये, पुरुषोंका न हो तो हर्ज़ नहीं, यह अभिप्राय भी हो सकता है।

आठवाँ प्रकरण।

सामाजिक परिस्थिति।

(१) अन्न।

भारती-कालके प्रारम्भमें अर्थात् भारती युद्धके समय, और भारती-कालके अन्तमें यानी महाभारतके समय, भारती आर्योंकी परिस्थितिमें, भिन्न भिन्न बातोंमें बहुत कुछ अन्तर देख पड़ता है: जैसा कि उनकी विवाह-पद्धतिमें या वर्ण-व्यवस्थामें भी अन्तर पड़ गया। इन बातोंका यहाँतक विचार किया गया है। भोजनके सम्बन्धमें, इन समयोंमें उनकी परिस्थितिमें इससे भी बढ़कर फ़र्क़ पड़ गया था। अर्थात् भारती-कालमें (ई० स० पू० ३००० से ३०० तक) आर्योंमें इस सम्बन्धमें बहुत बड़ा फ़र्क़ पड़ा। यह फ़र्क़ उपनिषदोंसे लेकर महाभारत-मनुस्मृतितक भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें पूर्णतया देख पड़ता है। यह फ़र्क़, एक दृष्टिसे, आर्योंकी उन्नतिके लिये कारणीभूत हो गया तो दूसरी तरहसे उनकी अवनतिके लिये इसीको कारण भी मानना पड़ता है। यदि आध्यात्मिक अथवा नीतिकी दृष्टिसे देखें तो जिन लोगोंने केवल धार्मिक विचारसे और निरी आध्यात्मिक उन्नतिके निमित्त मांस-भोजन त्याग दिया, उनकी दयावृत्ति और आध्यात्मिक कल्याण कर लेनेकी आकांक्षाकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। परन्तु व्यावहारिक अथवा राजकीय दृष्टिसे देखते हुए कहा जा सकता है कि अपनी राजकीय स्वाधीनताका भी त्याग मान्य करके भारतवर्षवालोंने शाक-पातका भोजन अङ्गीकार कर लिया। मैक्समूलरने एक स्थान पर यही बात कही है। अस्तु; भिन्न भिन्न कारणोंसे भारती-कालमें भारती आर्योंका भोजन बदल गया। इस भागमें हमने इसी बातको विस्तारपूर्वक दिखलानेका विचार किया है।

प्राचीन वैदिक ऋषि लोग यज्ञके पक्के पुरस्कर्ता थे, यह बात प्रसिद्ध है। वैदिक क्षत्रिय लोग भी यज्ञकी अनेक विधियाँ किया करते थे। ये सभी वैदिक यज्ञ हिंसायुक्त होते थे। इन यज्ञोंमें तरह तरहके पशु मारे जाते थे और उनका हवन होता था। अर्थात् साधारण रीतिसे प्राचीन समयमें, जैसे कि सभी देशोंवाले मांसान्न खाते थे वैसे ही भारती आर्य भी मांसान्न भक्षण करते थे। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं; और—

यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः।

इस न्यायसे वैदिक-कालीन ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग यज्ञमें पशुओंको मारकर, भिन्न भिन्न देवताओंको, उनके मांसका हविर्भाग अर्पण किया करते थे: और खुद भी मांसहवि खाते थे। इन यज्ञोंका दर्जा गवालम्भ और अश्वमेधतक पहुँच गया था: और तो और, अश्वमेधसे ज़रा और आगे पुरुषमेध पर्यन्त यज्ञकी श्रेणी पहुँच गई थी। फिर भी समस्त यज्ञोंमें अश्वमेध श्रेष्ठ माना जाता था। अश्वमेध करनेमें एक तरहका राजकीय ऐश्वर्य व्यक्त होता था, इस कारण सामर्थ्यवान् क्षत्रिय लोग अश्वमेध किया करते थे। इसी प्रकार सार्वभौम राजा राजसूय यज्ञ करते थे। महाभारतमें वर्णित है कि पाण्डवोंने ये दोनों यज्ञ किये थे। पाण्डवोंने जो अश्वमेध किया उसका वर्णन महाभारतमें है। उसमें सैंकड़ों प्राणियोंके मारनेका वर्णन है।

तं तं देवं समुद्दिश्य पशवः पक्षिणश्च ये ।
ऋषभाः शास्त्रपठितास्तथा जलचराश्च ये ॥
सर्वांस्तानभ्ययुञ्जंस्ते तत्राग्निचयकर्मणि ।
(अश्व० अ० ८८—३४)

इस वर्णनसे स्पष्ट है कि युधिष्ठिरके यज्ञमें हवनके लिये अनेक पशु-पक्षी मारे गये । अश्वमेधकी विधिमें ही, श्रौत सूत्रके अनुसार, अनेक पशुओंको मारना पड़ता है । यज्ञमें मारे हुए पशुओंका मांस ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य निस्सन्देह खाते थे । महाभारतमें वर्णित है कि युधिष्ठिरके अश्वमेधके उत्सवके अवसर पर भी अनेक पशुओंकी हिंसा होती थी ।

भक्ष्यखाण्डवरागाणां क्रियतां भुज्यतां तथा ।
पशूनां वध्यतां चैव नान्तं ददृशिरे जनाः ॥
(अश्व० अ० ९१)

"अश्वमेध यज्ञमें 'खाण्डवराग' पकान्न तैयार करनेमें इतने आदमी लगे थे और इतने पशु मारे जाते थे कि उसका ठिकाना नहीं ।" (अश्वमेध पर्व ८९ वाँ अध्याय) इसके सिवा और कई एक वर्णन इस सम्बन्धमें महाभारतसे दिये जा सकते हैं । सभापर्वके ४ थे अध्यायमें मय-सभागृहमें प्रवेश करते समय दस हज़ार ब्राह्मणोंको भोजन कराया गया । उस समय धर्मराजने—"उत्तम उत्तम कन्दमूल और फल, वराहों और हिरनोंके मांस, घी, शहद, तिल-मिश्रित पदार्थ और तरह तरहके मांसोंसे उनको सन्तुष्ट किया ।" इस वर्णनसे निर्विवाद सिद्ध है कि जिस तरह पाश्चिमात्य आर्य यूनानी और जर्मन आदि मांस-भक्षण करते थे, उसी तरह भारती-युद्धके समय भारती आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मांस खाते थे ।

मांसका परित्याग ।

परन्तु महाभारतके समय अर्थात् सौतिके समय भारती आर्योंकी परिस्थिति बहुत कुछ भिन्न हो गई थी और भारती आर्य विशेषतः ब्राह्मणोंने—उनमें भी अध्यात्म मार्गमें संलग्न योगी प्रभृतिने—मांसाहार छोड़ दिया था । इसके सिवा बौद्ध, जैन और भागवत मतका चलन बहुत कुछ हो जानेसे सर्व साधारणमें अहिंसाका दर्जा बढ़ गया और इन लोगोंमें मांस-निवृत्तिकी बहुत प्रगति हो गई थी । ऐसे समय, भारतके अश्वमेधोंके वर्णन और उनमें किये हुए ब्रह्मभोजके वर्णन लोगोंको न जाने कैसे (अप्रिय) लगते होंगे । इसी कारण, यहाँ पर सौतिने खास तौर पर उस नेवलेकी कथा सन्निविष्ट कर दी है जिसका मस्तक सोनेका हो गया था । और पशु-वधसे संयुक्त यज्ञ एवं मांसान्न-भक्षणकी निन्दा करके यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि अश्वमेधका पुण्य उस पुण्यसे भी हलका है जो एक साधारण वानप्रस्थने भूखे-प्यासे अतिथिको मुट्ठीभर सक्थु देकर प्राप्त किया था । इस नेवलेके आख्यानसे साफ़ देख पड़ता है कि भारती युद्धके समयसे लेकर महाभारत-कालतक लोगोंको मांसाहार-प्रवृत्तिमें कितना फ़र्क पड़ गया था ।

परन्तु यह झगड़ा यहीं नहीं निपट गया । क्षत्रियोंकी पुरानी रीतियों और कल्पनाओंको बदल डालना बहुत कठिन था । अश्वमेध पर उनकी जो प्रीति और श्रद्धा थी, वह ज्योंकी त्यों क़ायम थी और मांसाहार करनेका उनका दस्तूर बदला न था । उग्र ब्राह्मण भी वैदिक कर्मानुष्ठान छोड़ देनेके लिये तैयार न थे; और इस काममें क्षत्रियोंके सहायक बनकर यह प्रतिपादन करते थे कि वेदोक्त पशु-वधसे हिंसा नहीं होती । ऐसे लोगोंके समाधानके लिये नकुलके आख्यानके पश्चात् और एक अध्याय बढ़ाया गया । इसमें जनमेजयने प्रश्न किया है कि महर्षि व्यास

और अन्य ऋषियोंकी सहायतासे सम्राट् युधिष्ठिरने जो यज्ञ किया था, उसकी निन्दा करनेकी हिम्मत नेवलेको किस तरह हुई ? इस पर वैशंपायनने यह कथा सुनाई। एक बार इन्द्र यज्ञ कर रहे थे। जब यज्ञमें प्रोक्षण किये हुए पशुओंको मारनेका समय आया, तब वे पशु बड़ी करुणायुक्त दृष्टिसे ऋषियोंकी ओर देखने लगे। उस समय ऋषियोंके हृदयमें दया उपजी। वे इन्द्रसे बोले—"यह यज्ञ धार्मिक नहीं है।

नायं धर्मकृतो यज्ञो नाहिंसा धर्मउच्यते।
यज बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितैः॥

तीन वर्षतक रखे हुए धान्यसे, हे इन्द्र, तुम यज्ञ करो (अर्थात् पशुओंको मारकर यज्ञ मत करो)।" उस समय, अभिमानसे ग्रस्त इन्द्रको यह बात पसन्द न आई। तब इन्द्र और ऋषियोंके बीच इस बात पर झगड़ा हुआ कि निर्जीव पदार्थोंके द्वारा यज्ञ किया जाय अथवा सजीव पदार्थोंके द्वारा। अब दोनों ही वसु राजाके यहाँ इसका निर्णय कराने गये। (यह वसु राजा चन्द्रवंशी आर्योंका वंशजनक चेदि-पति था।) उन्होंने वसु राजासे पूछा;—यज्ञके सम्बन्धमें वेद-प्रमाण क्या है ? पशुओं द्वारा यज्ञ करना चाहिए अथवा बीज, दूध, घी इत्यादिके द्वारा ? वसु राजाने, प्रमाणोंके बलाबलका विचार किये बिना ही, एकदम कह दिया—'जो सिद्ध हो उसीके द्वारा यज्ञ करना ठीक है।' यह उत्तर देनेके कारण ऋषियोंके शापसे चेदिराज रसातलको चला गया। इसमें भी असल बातका स्पष्ट निर्णय नहीं हुआ। क्योंकि क्षत्रिय तो पशु-हिंसायुक्त यज्ञ करेंगे ही और उसीको सशास्त्र बतलावेंगे। परन्तु राजाके रसातलको चले जानेसे ऐसा यज्ञ निन्द्य ठहरता है; और वह क्षत्रियोंको मान्य न था। क्षत्रियोंके हिंसायुक्त यज्ञ प्रचलित थे ही। युधिष्ठिर और जनमेजयने ही जो रास्ता चलाया था, उसी पर चलकर बलवान् क्षत्रिय लोग अश्वमेध यज्ञको छोड़ देनेके लिये तैयार न थे। तब, ऐसे लोगोंके समाधानके लिये, एक और बात यहाँ कही गई है। अगस्त्य ऋषि बारह वर्षका सत्र कर रहे थे और उसमें बीजाहुति देते थे। परन्तु इन्द्रने असन्तुष्ट होकर पानी बरसाना बन्द कर दिया। तब अगस्त्य ऋषिने कहा कि हम दूसरा इन्द्र उत्पन्न करेंगे। तब कहीं इन्द्रने सन्तुष्ट होकर पानी बरसाना शुरू किया। तथापि अन्याय ऋषियोंने अगस्त्यसे बिनती की कि आइये, हम लोग निश्चित कर दें कि यज्ञकी हिंसा हिंसा नहीं है। इस प्रकार अगस्त्य मुनि राज़ी हो गये। परन्तु इस कथासे भी क्षत्रियोंका समाधान नहीं हुआ; और सबके अन्तमें कह दिया गया कि वह नकुल स्वयं धर्म था; उसने एक बार क्रोध रूपसे जमदग्निको सताया था, इस कारण उनके शापसे वह नेवला हो गया; और शापसे मुक्त होनेके लिये उसने युधिष्ठिरकृत यज्ञकी निन्दा कर दी।

उक्त नकुलकी कथाके विस्तारपूर्वक उल्लेख करनेका तात्पर्य यह है कि भारती-कालमें तरह तरहसे इस प्रश्नका निर्णय किया जाता था कि अहिंसा-प्रयुक्त यज्ञ करना चाहिये या हिंसा-प्रयुक्त। ऊपरवाली कथाओंसे यही बात मालूम होती है लोकमतका प्रवाह यदि एक बार इस ओर हो जाता था तो फिर दूसरी ओर भी चला जाता था। हिंसाप्रयुक्त यज्ञ और मांसाहारका अपरिहार्य सम्बन्ध था। लोग जबतक धर्मश्रद्धायुक्त रहते हैं, तभीतक धर्मकी पगड़ी उतारनेके लिये तैयार नहीं होते। 'हम अपनी इच्छासे मांस खाते हैं, यज्ञसे इसका कोई सरोकार नहीं', यह

कहनेके लिये भारती आर्य तैयार न थे। उनकी यह दलील थी कि जब वेदोंमें हिंसा-युक्त यज्ञ करनेकी विधि है, तब यज्ञशिष्ट मांस खानेमें क्या हानि है; और वे यह भी कहते थे कि यज्ञमें की हुई वेद-विहित हिंसा हिंसा थोड़े ही है। इस मतके विषय-में, भारती कालमें बहुत कुछ विचार या विवाद हुए; और जान पड़ता है कि महा-भारतके समय यही मत स्थिर हो गया। महाभारतके समय सनातन-धर्मियोंकी रायसे, यज्ञमें की हुई हिंसा हिंसा न थी और अबतक यही सिद्धान्त मान्य किया गया है। अब भी हिन्दुस्तानमें कहीं कहीं पशुहिंसा-युक्त यज्ञ होते हैं। यह सच है कि इस समय यज्ञ बहुत ही कम होते हैं, परन्तु पशुहिंसाका आग्रह अबतक नहीं छूटा। महाभारतके समय हिंसा-प्रयुक्त यज्ञ बहु-तायतसे हुआ करते थे, और समूचे जन-समाजकी स्थितिको देखते हुए क्षत्रिय लोग मांसहारी थे; अनेक ब्राह्मण भी वैदिक धर्माभिमानी होते हुए भीमांसाहारी थे; परन्तु अन्यान्य लोगोंमें मांसाहारका चलन कम था; विशेषतः भागवत और जैन आदि सम्प्रदायोंमें मांस खानेका रवाज बिलकुल बन्द था। कर्ण-पर्वमें जो हंस-काकीय कथानक है, उसके एक उल्लेखसे जान पड़ता है कि वैश्योंमें, कहीं कहीं, मांस खानेकी प्रथा थी। वह उल्लेख यों है—"समुद्रके किनारे पर एक वैश्य रहता था। उसके पास धन-धान्य खूब था। समृद्ध होनेके कारण वह यज्ञ-याग किया करता था। वह दानी और क्षमाशील था। वर्णाश्रम धर्मका पालन भली भाँति करता था। उसके पुत्र भी कई थे। उन भाग्यवान् कुमारोंकी जूठन खाकर बढ़ा हुआ एक कौवा था। उसे वे वैश्य-पुत्र मांस, भात, दही और दूध आदि पदार्थ देते थे।" (अ० ४१) इस वर्णनसे स्पष्ट देख पड़ता है कि श्रद्धायुक्त वैश्य भी मांसाहार करते थे। इस तरह महाभारतके समयतक मांसा-हारका प्रचार यज्ञ-याग करनेवाले ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंमें था, किन्तु निवृत्तिमार्गका सेवन करनेवालोंमें न था।

गोहत्याका महापातक।

एक महत्त्वकी बात यहाँ पर यह कहनी है कि महाभारतके समय गवा-लम्भ बिलकुल बन्द हो गया था। भारती युद्धके समय, अश्वमेध-विधिकी तरह, और अन्य वैदिक यज्ञोंकी तरह बैलोंके यज्ञ होते थे। यह बात निर्विवाद है। परन्तु महाभारतके समय गाय अथवा बैलकी हिंसा करना अत्यन्त महान् पातक माना जाता था। यज्ञमें गायका प्रोक्षण किया जाना बिलकुल बन्द हो गया और यह नियम हो गया कि कलियुगमें गवा-लम्भ अर्थात् गाय-बैलका यज्ञ वर्ज्य है। अन्य पशुओंके यज्ञ—जैसे मेष (भेड़ा), बकरे और वराह आदिके—मान्य थे। इसी हिसाबसे मांस खानेका भी रवाज था और है। और आजकल क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण और चाहे जो मांस खाते हों, किन्तु गोमांस भक्षण करना अत्यन्त निन्द्य और सनातन धर्मसे भ्रष्ट करने-वाला माना जाता है। समस्त हिन्दू जनता-की ऐसी ही धारणा है। फिर चाहे वह मनुष्य क्षत्रिय, अथवा अत्यन्त नीच शूद्र हो। यह हालत महाभारतके समयसे ही है। महाभारतके समय गोवध अथवा गोमांस अत्यन्त निन्द्य समझा जाता था। उदाहरणार्थ:—द्रोणपर्वमें अर्जुनने जो कई कसमें खाई हैं उनमें कहा है। (द्रो० अ० ७३)

ब्रह्मघ्नानां च ये लोका ये च गोघातिनामपि।

अर्थात् "ब्रह्महत्या करनेवाले और गो-वध करनेवाले मनुष्य जिन निन्दनीय

लोकोंको जाते हैं वे मुझे प्राप्त हों।" ऐसे ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकेंगे। गायको लात मारनातक पाप माना जाने लगा था। किन्तु भारती युद्धके समय इसके विपरीत परिस्थिति थी। महाभारतके कई अवतरणोंसे यह बात देख पड़ती है। रन्तिदेवने जो अनेक यज्ञ किये थे उनमें मारे हुए बैलोंके चमड़ेकी ढेरीके पाससे बहनेवाली नदीका नाम चर्मण्वती पड़ गया। किन्तु इतनी दूर जानेकी क्या आवश्यकता है? भवभूतिकृत उत्तर-रामचरितमें वसिष्ठ-विश्वामित्रके आगमनके समयमें जो मधुपर्कका वर्णन है, उसका ध्यान संस्कृत नाटकोंका अभ्यास करनेवाले विद्यार्थियोंको होगा ही। भारती-युद्धके समय अथवा वैदिक कालमें गवालम्भका चलन था, पर महाभारतके समय वह बिलकुल उठ गया था और गोवध ब्रह्महत्याकी जोड़का भयङ्कर पातक मान लिया गया था। यह फ़र्क़ क्योंकर और किस कारण हो गया? इसकी जाँच बड़ी महत्त्वपूर्ण है। महाभारतके समय गवालम्भ बिलकुल बन्द हो गया था। तत्कालीन अन्य प्रमाणोंसे भी यह बात देख पड़ती है। यूनानियोंने लिखा है कि हिन्दुस्तानी लोग बहुत करके शाकाहारी हैं। अरायन् नामक इतिहासकार लिखता है—"यहाँवाले ज़मीन जोतते हैं, और अनाज पर गुज़र करते हैं। सिर्फ़ पहाड़ी प्रदेशके लोग जङ्गली जानवरोंका शिकार करके उनका मांस खाते हैं।" इसमें 'वन्य, मृगयाके पशु' शब्द व्यवहृत हैं, जिससे मानना चाहिए कि गाय अथवा बैलका वध पहाड़ी लोगोंमें भी निषिद्ध था। यूनानियोंके वर्णनमें यद्यपि इस बातका स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि गोवध करना पातक माना जाता था, तथापि उल्लिखित वाक्यसे यह बात समझ लेनेमें कोई हानि नहीं। यूनानियोंका आक्रमण पञ्जाबतक हुआ था। और, यह अनुमान करनेके लिये जगह है कि महाभारतके समय पञ्जाबमें यह अनाचार रह गया था। कर्ण पर्वमें शल्य और कर्णके बीच जो निन्दाप्रचुर संवाद वर्णित है, उसमें कर्णने पञ्जाबके वाहिक देशके अनाचारका वर्णन किया है। उसमें कहा गया है कि राजमहलोंके आगे गोमांसकी दूकानें हैं और वहाँवाले गोमांस, लहसुन, मांस मिली हुई पीठीके बड़े तथा भात खरीदकर खाते हैं (क० अ० ४४)। इस वर्णनसे यह माना जा सकता है कि जहाँ यूनानी लोग रह गये थे वहाँ, महाभारतके समय, यह अनाचार जारी था। महाभारत और यूनानियोंके प्रमाणसे यह बात निश्चित है कि महाभारत-कालमें भारतवर्षमें गोवधका पाप बहुत ही निन्द्य समझा जाता था।

इस महत्त्वपूर्ण निषेधकी उत्पत्ति किस कारण हुई? महाभारतसे उस कारणका थोड़ा बहुत दिग्दर्शन होता है। सप्तर्षियों और नहुषके बीच, एक स्थान पर, झगड़ा होनेका वर्णन महाभारतमें है। ऋषियोंने पूछा—

य इमे ब्राह्मणा प्रोक्ता मंत्रा वै प्रोक्षणे गवाम्। एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव॥ नहुषो नेति तानाह तमसा मूढचेतनः। (उ० अ० १७)

अर्थात् ऋषियोंके मतसे गवालम्भ, वेदमें वर्णित होनेके कारण, प्रमाण है। परन्तु नहुषने स्पष्ट उत्तर दिया कि वह प्रमाण नहीं है। नहुषने यह उत्तर किस आधार पर दिया, इसका यहाँ उल्लेख नहीं है। किन्तु टीकाकारने कहा है—

ब्राह्मणाश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधा कृतम्।
एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरेकत्र तिष्ठति॥

अर्थात् हवनके मन्त्र तो ब्राह्मणोंमें हैं

और यज्ञका हवि यानी दूध, घी और कण्डे गौओंमें हैं; इसी कारण ब्राह्मण और गौ दोनों ही एकसे पवित्र और अवध्य हैं। इससे ऐतिहासिक अनुमान यह होता है कि गौ यज्ञका साधन होनेके कारण उसका यज्ञ वर्ज्य है। पहले यह व्यवस्था नहुषने की। किन्तु उस समय वह मान्य न हो सकी थी। हमारा मत है कि, यह व्यवस्था आगे चलकर श्रीकृष्णकी भक्तिसे मान्य हो गई। श्रीकृष्ण यादव कुलके थे, और यादव लोग गोपालक थे, गौओंसे ही उनकी जीविका होती थी; यानी गोपालन उनका पेशा था। श्रीकृष्णका, बालपनमें, गोचारण प्रसिद्ध है; उन्हें गौएँ बहुत प्रिय थीं। जब श्रीकृष्णका मत प्रचलित हो गया और हिन्दुस्थानमें श्रीकृष्णकी भक्ति बढ़ गई उस समय गौओंके सम्बन्धमें अत्यन्त पूज्य भाव उत्पन्न होकर हिन्दुस्थानमें सर्वत्र गवालम्भ बन्द हो गया। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ईरानियोंने भी गौको पवित्र माना है। तब, गौओंकी पवित्रता-सम्बन्धी कल्पना हिन्दुस्थानमें भारती आर्योंके साथ, प्रारम्भसे ही, आई होगी। उक्त आख्यान-में पहले नहुषके झगड़नेका वर्णन है। इससे चन्द्रवंशी क्षत्रियोंमें इस निषेधका उद्गम देख पड़ता है। इसी वंशमें श्रीकृष्ण और यादवोंका जन्म हुआ; और श्रीकृष्णकी भक्तिसे समूचे भारतीय आर्य-समूहमें गवालम्भकी प्रवृत्ति बिलकुल बन्द हो गई। यह नहीं माना जा सकता कि जैन अथवा बौद्ध धर्मके उपदेशके परिणामसे यह निषेध उत्पन्न हुआ। क्योंकि एक तो बौद्ध और जैन धर्मके उदयके पहलेसे ही यह निषेध मौजूद देख पड़ता है और दूसरी बात यह है कि ये धर्म तो सभी प्राणियोंकी हिंसाको निन्द्य मानते हैं। फिर सिर्फ़ गाय-बैलोंकी हिंसा सनातनीय धर्म-समाजमें क्यों निन्द्य मानी जाय? इसका कारण न बतलाया जा सकेगा। विशेषतः क्षत्रियोंने तो और किसी हिंसाको निन्द्य नहीं माना, सिर्फ़ गौकी हिंसाको ही घोर पातक मान लिया है। वे भेड़, बकरे और वराह आदि-का मांस तब भी खाते थे और इस समय भी खाते हैं। और अबतक जो यज्ञ होते हैं उनमें मेष आदिका ही हवन होता है। इन कारणोंसे, इस चलनका, बौद्ध या जैन मतके प्रचारका परिणाम नहीं माना जा सकता। गाय, बैल सब तरहसे सना-तन धर्मके लिये पूज्य हो गये थे। गायका दूध लोगोंका पोषण करता था। उन्हींके द्वारा अन्न मँगाया और भेजा जा सकता था और उनके सम्बन्धमें पहलेसे ही पूज्य भाव था, तथा श्रीकृष्णकी भक्तिके कारण उन्हें और भी अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया। गौओंकी पवित्रताके विषयमें, महा-भारतमें अनेक स्थलों पर वर्णन हैं। प्रातः-काल गायका दर्शन करना एक पुण्य माना जाता था। इन सब कारणोंसे, निर्विवाद-रूपेण कह सकते हैं कि महाभारत-कालके पूर्वसे ही गाय-बैलोंकी हिंसा बन्द हो गई थी।

यज्ञिय और मृगयाकी हिंसा।

इसमें सन्देह नहीं कि अन्य पशुओंके यज्ञ पहलेकी तरह होते थे और उनका मांस ब्राह्मण-क्षत्रिय खाते थे। वनवासमें पाण्डवोंकी गुज़र बहुत कुछ शिकारके ऊपर ही निर्भर थी। महाभारतमें कथा है कि जब पाण्डव द्वैतवनमें थे, तब अनेक मृगोंका संहार हो जानेसे मृग बहुत ही व्याकुल हो गये। तब, मृगोंने स्वप्नमें युधि-ष्ठिरको अपना दुखड़ा सुनाया। इस पर युधिष्ठिरने द्वैतवन छोड़नेका निश्चय किया। दूसरे दिन पाण्डवों और ब्राह्मणों समेत

वे काम्यक-वनकी ओर चले गये (व० अ० २५८)। "हम वनैले मृगोंके झुण्ड बहुत थोड़े रह गये हैं। बीज रूपसे बचे हुए मृगों-की तुम्हारे अनुग्रहसे अभिवृद्धि हो॥ मृगोंकी ऐसी प्रार्थना सुनकर युधिष्ठिरने उस काम्यक वनमें जानेका निश्चय किया कि जो मरुभूमिके केवल मस्तक और तृणबिन्दु सरोवरके पास है। इस प्रकार प्रकट है कि पाण्डव लोग, वनवासमें, सिर्फ़ शिकारके द्वारा ही निर्वाह करते थे। द्रौपदीका हरण जिस समय जयद्रथ-ने किया, उस समय पाण्डव शिकारकी टोहमें गये थे; और वर्णन है कि वे मृग-वराह मार लाये थे। अर्थात् आजकलकी तरह उस समय भी खासकर क्षत्रियोंको मृगों और वराहोंका मांस प्रिय था। इन्हीं-को मेध्यपशु कहते हैं और इनका मांस पवित्र माना जाता था। शिकार किये हुए पशुका मांस विशेष प्रशस्त माना जाता था।

परन्तु कुछ पशुओंका मांस वर्जित भी देख पड़ता है। इसमें पृष्ठमांस खानेका निषेध था। निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि यह पृष्ठ-मांस क्या है। टीकाकारने इसका अर्थ किया है—उन पशुओंका मांस जिनकी पीठ पर सामान लादा जाता है। अर्थात् हाथी, घोड़े, बैल, ऊँटका मांस वर्ज्य है। हाथी-घोड़ेका मांस तो आजकल भी निषिद्ध माना जाता है। आजकलके समस्त नियमोंमें मांस-भक्षणके सम्बन्धमें जो जो निषेध हैं, वे बहुधा इस दृष्टिसे हैं कि निषिद्ध मांस हानिकारक है। इस फ़ेहरिस्तमें अनेक प्राणी हैं और प्राचीन समयमें इनका मांस वर्ज्य था। कुत्ते-बिल्ली वग़ैरह अनेक प्राणी इस वर्गमें हैं। मांस-भक्षणके सम्बन्धमें महाभारतके समय भारती आर्योंमें जिन बहुतेरे मांसोंकी मनाही थी, उन सबका यहाँ पर विस्तारपूर्वक वर्णन करना आवश्यक नहीं है। फिर भी मुख्य मुख्य बातें सुन लीजिये—

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः

रामायणका यह श्लोक प्रसिद्ध है। इसी प्रकार महाभारतमें भी कहा है—

पञ्च पञ्च-नखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रस्य वै विशः।
(शां० अ० १४१—७)

जिन जिन जानवरोंके पाँच नाख़ून होते हैं, वे सभी ब्राह्मण-क्षत्रियोंके लिये वर्ज्य हैं। इनमें सिर्फ़ पाँच साही, एक और प्रकारकी साही, गोह, ख़रगोश और कछुवा खानेकी मनाही नहीं है। यह श्लोक उस समयका है जब वालिने रामकी निन्दा की थी। इसमें दिखलाया गया है कि बन्दरों या लंगूरोंको मारकर खानेकी क्षत्रियोंके लिये आज्ञा नहीं है। इनके सिवा और भी अनेक वर्ज्यावर्ज्य हैं। शान्ति पर्वके ३६ वें अध्यायमें युधिष्ठिरने भीष्मसे स्पष्ट पूछा है कि ब्राह्मणको कौनसा मांस खाना मना नहीं और कौनसा मना है। इस पर भीष्मने कहा—

अनड्वान् मृत्तिका चैव तथा क्षुद्र-पिपीलिका। श्लेष्मातकस्तथा विप्रैरभक्ष्यं विषमेव च॥

इसमें विष शब्दका कुछ और ही अर्थ करना चाहिए; क्योंकि विष खानेके लिये निषेधात्मक नियमकी आवश्यकता ही नहीं। अर्थात् विष शब्दसे ऐसे प्राणियोंको समझना चाहिए जिनका मांस विषैला हो। जलचर प्राणियोंमें जो वर्ज्य हैं उनका उल्लेख अगले श्लोकमें है—

अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्या शल्कैर्ये वै विवर्जिताः। चतुष्पात्कच्छपादन्ये मण्डूका जलजाश्च ये॥

जिन मछलियोंके शल्क यानी पङ्ख नहीं हैं, वे और कछुए तो भक्ष्य हैं; इनके

सिवा समस्त जलचर चतुष्पद वर्ज्य हैं। पक्षियोंमें इन्हें वर्ज्य बताया है—

भासा हंसाः सुपर्णाश्च चक्रवाकः प्लवा बकाः।
काको मद्गुश्च गृध्रश्च श्येनोलूकास्तथैवच ॥

भास, हंस, गरुड़, चक्रवाक, कारंडव, बक, काक, गृध्र, श्येन और उलूक पक्षी वर्जित हैं। इसी तरह—

क्रव्यादा दंष्ट्रिणः सर्वे चतुष्पात्पक्षिणश्च ये।

जिनके दंष्ट्रा हैं ऐसे सभी मांस-भक्षक चौपाये जानवर और वे पक्षी जिनके नीचे-ऊपर डाढ़ें हैं, तथा ऐसे सभी प्राणी वर्ज्य हैं जिनके चार दंष्ट्राएँ हैं। इससे प्रकट होता है कि महाभारतके समय ब्राह्मणोंके लिये कौन कौन मांस वर्ज्य थे।

यद्यपि ऐसी स्थिति है तथापि महाभारतके समय मांसके सम्बन्धमें समस्त लोगोंकी प्रवृत्ति—विशेषतः ब्राह्मणोंकी—मांसाहारको वर्जित करनेकी ओर थी। भिन्न भिन्न रीतियोंसे यह बात सिद्ध होती है। साधारण तौर पर यह तत्त्व निश्चित था कि आध्यात्मिक विचार करनेवाले मनुष्यके लिये मांसाहार वर्ज्य है। वेदान्ती, योगी, ज्ञानी अथवा तपश्चर्या करनेवाले पुरुषको मांसाहारसे नुक़सान होता है। अपने कामोंमें उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं होती। भारती आर्योंने यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया था। साधारण रीतिसे मनुने जो तत्त्व बतलाया है वह सब लोगोंकी समझमें आ गया था। वह तत्त्व यह है—

न मांस-भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

यह नियम था कि गृहस्थ ब्राह्मणतकको वृथा मांस-भक्षण न करना चाहिये। अर्थात् बिना कुछ न कुछ कारणके मांस-भक्षण करनेका निषेध था। गृहस्थाश्रमी ब्राह्मणको औंटाया हुआ दूध, खीर, खिचड़ी, मांस, बड़ा आदि बिना शास्त्रोक्त कारणके न तो खाना चाहिए और न पीना चाहिए। इससे सिद्ध है कि किसी शास्त्रोक्त अवसर पर ही—जैसे यज्ञ, या अन्य देवता-सम्बन्धी अवसर, अथवा श्राद्धके अवसर पर—शास्त्रोक्त कारणसे ही मांसान्न खानेकी ब्राह्मणोंको आज्ञा थी: हर समयके लिये नहीं। परन्तु श्राद्धके अवसर पर तो मांस खानेकी आज्ञा थी। अर्थात् 'हिंसा होगी ही'। तब अहिंसा-तत्त्वको माननेवाले मनुष्यके आगे यह प्रश्न खड़ा होगा ही। इसके सिवा क्षत्रिय लोग सिर्फ़ यज्ञ अथवा श्राद्धमें ही मांस खाकर थोड़े ही अघा जायँगे: वे शिकार करके भी मांस खायँगे। तब, उनकी इस प्रवृत्तिका और अहिंसा-धर्मका मिलान किस तरह हो? यह महत्त्वका प्रश्न है। महाभारतमें एक स्थान पर (अनु० ११५ वें अध्यायमें) इसका विचार भी किया गया है। ११४ वें अध्यायमें कहा है कि अहिंसा चारों प्रकारसे वर्जित करनी चाहिए: अर्थात् मन, वाणी, कर्म और भक्षण द्वारा। "तपश्चर्या करनेवाले लोग मांस-भक्षणसे अलिप्त रहते हैं। मांस खानेवाला मनुष्य पापी है, उसको स्वर्ग-प्राप्ति कभी न होगी। उदार पुरुषोंको, अपने प्राण देकर, दूसरोंके मांसकी रक्षा करनी चाहिए।" इस प्रकार अहिंसा-धर्मका वर्णन हो चुकने पर युधिष्ठिरने प्रश्न किया—"इधर आप अहिंसा-धर्मको श्रेष्ठ बतलाते हैं और उधर श्राद्धमें पितर मांसाशनकी इच्छा करते हैं। तब, हिंसाके बिना मांस मिलना सम्भव नहीं। फिर मांस-वर्जनरूपी यह विरोध कैसे टलेगा। जो स्वयं हिंसा करके मांसका सेवन करता है, उसे कौनसा पाप लगता है, और जो दूसरेसे हनन करवाकर उसका सेवन करता है, वह किस पापका भागी होता है, और जो मोल लेकर मांस खाता

है उसे कौन पाप लगता है?" भीष्मने उत्तर दिया—"जिसे आयु, बुद्धि, विवेक, बल और स्मृतिकी इच्छा है, उसे हिंसा वर्ज्य करनी चाहिए। जो मनुष्य पराये मांससे अपने मांसकी वृद्धि करता है उसका नाश अवश्यम्भावी है। मांस न खानेवाला मनुष्य नित्य दान करता है। मरनेका डर विद्वान् मनुष्यके लिये भी रहता है। फिर जो पापी पुरुष, मांस खानेके लिये, प्राणियोंकी हत्या करते हैं, उनकी इस करनीके सम्बन्धमें मरनेवाले प्राणीको कैसा मालूम होता होगा? मांस खानेवाले पुरुषको जो जन्म प्राप्त होते हैं, उनमेंसे हर एकमें उसकी खूब दुर्गति होती है—उसे तकलीफ़ें भोगनी पड़ती हैं। जीनेकी इच्छा करनेवाले प्राणीकी जो मनुष्य हिंसा करता या करवाता है उसे प्रत्यक्ष हत्या करनेका पातक लगता है। मोल मांस लेनेवाला द्रव्य द्वारा हिंसा करता है और मांस खानेवाला, उसके उपयोग द्वारा हिंसा करता है। ये सब प्रत्यक्ष वध करनेवालेकी ही तरह पापी हैं। किन्तु साधारण जगत्के लिये ऋषियोंने यह नियम कर दिया है कि यज्ञमें मारे हुए पशुको छोड़कर अन्य पशुका मांस न खाना चाहिए। यज्ञके सिवा और कभी पशुहत्या न करनी चाहिए। जो करेगा उसे निःसन्देह नरक-प्राप्ति होगी। परन्तु मोक्ष मार्गवालोंके लिए यह नियम भी उपयुक्त नहीं। यज्ञ अथवा श्राद्ध आदिमें ब्राह्मणोंकी तृप्तिके लिए मारे हुए पशुका मांस खानेमें थोड़ा दोष होता है। मांस खानेकी ग़रज़से यदि कोई यज्ञका ढोंग रचे और उसमें मांस खानेके लिए उद्यत हो, तो वह काम निन्द्य ही होगा। प्रकृति-धर्म माननेवालोंको पितृकर्ममें और यज्ञ-यागमें, वैदिक मन्त्रोंसे संस्कृत किया हुआ अन्न खाना चाहिए, उन्हें वृथा मांस-भक्षण न करना चाहिए। प्राचीन कालके यज्ञ करनेवालोंने धान्य (अन्न) का पशु बनाकर यज्ञ-पुरुषकी आराधना की। वसु राजाने, भक्षणीय न होने पर भी, मांसको भक्षणीय बतलाया, इस कारण पृथ्वीपर उसका पतन हुआ। अगस्त्य ऋषिने प्रजाके हितके लिए अपनी तपश्चर्याके प्रभावसे जङ्गली मृगोंको, समस्त देवताओंके उद्देशसे, प्रोक्षण करके पवित्र कर दिया है। अतएव देव-कार्य अथवा पितृ-कार्यमें यदि मृग-मांस अर्पण किया जाय तो वह कर्महीन नहीं होता। हे राजा, मांस न खानेमें सारे सुख हैं। जो पुरुष कार्तिक महीनेके शुक्ल पक्षमें मधु-मांस वर्ज्य करता है, उसे बहुत पुण्य होता है। बरसातके चार महीनोंमें जो मांस नहीं खाता उसको कीर्ति, आयु और बल प्राप्त होता है। कमसे कम इन महीनोंमेंसे जो एक महीने भरतक मांस छोड़ रहेगा उसे कभी बीमारी न होगी। अनेक प्रसिद्ध राजाओंने कार्तिक महीने भर या शुक्ल पक्षमें मांसको वर्जित रखा। जो लोग जन्मसे ही मधु-मांस अथवा मद्यको त्यागे रहते हैं उन्हें मुनि ही कहते हैं। इस प्रकार ऋषियोंने मांस भक्षणकी प्रवृत्ति और निवृत्तिके नियम बना दिये हैं।"

इस वर्णनसे इस बातका दिग्दर्शन होता है कि क्षत्रियों और ब्राह्मणोंकी पुरानी प्रवृत्ति और दयायुक्त अहिंसा-तत्त्वका झगड़ा भारती समयमें किस प्रकार था। क्षत्रियोंको जो आदतें सैंकड़ों वर्षोंसे—पुश्त दरपुश्तसे—पड़ गई थीं, उनका छूट जाना असम्भव था; अथवा ब्राह्मणोंकी वेदाज्ञाके अनुरूप प्रचलित यज्ञ-श्राद्ध आदि विधियोंमें फ़र्क़ पड़ना भी मुश्किल था। अतएव कह सकते हैं कि यह एक प्रकारका परस्परका झगड़ा,

दोनोंके मेलसे मिट गया। यह निश्चय सहजमें ही हो गया कि हिंसायुक्त वेदोक्त यज्ञ करना अनुचित नहीं। इसी तरह समाजको क्षत्रियोंका, शिकार खेलनेका हक़ भी मंजूर करना पड़ा। शिकार खेलने की अनुमति रहनेके कारण क्षत्रियोंकी क्षात्रवृत्तिके लिए अच्छा अवसर मिल गया। अगस्त्य ऋषिने निश्चय कर दिया कि शिकारमें मारे हुए पशु प्रोक्षित ही हैं। पिछले कथानकमें मांस-प्रयुक्त यज्ञके प्रतिवादी अगस्त्य ही हैं और उन्होंने इतनी सुविधा कर दी ! यह आश्चर्य ही है। इसी प्रकार नकुलके कथानकमें भी हिंसायुक्त यज्ञ करनेके विषयमें अगस्त्य ऋषिका, अन्य महर्षियोंकी ही तरह, आग्रह देख पड़ता है। भिन्न भिन्न मतों-के लिए एक ही पूज्य व्यक्तिके मतका आधार माननेकी प्रवृत्ति मनुष्यमें स्वाभा-विक है। ब्राह्मणोंके यज्ञ और क्षत्रियोंकी मृगया इस तरह शास्त्रोक्त हो गई है: और इनमें मांस खानेकी स्वाधीनता हो गई। फिर भी समूचे समाजके मनको मान देकर यह नियम हो गया कि सभी लोग चौमासे भर, या कमसे कम कार्तिक महीने भर, मांस न खायँ। यह नियम अब भी प्रचलित है। आजकल बहुधा श्रावण महीनेमें कोई क्षत्रिय मांसाहार नहीं करता।

मद्य-पान-निषेध।

जिस तरह भारती कालमें आध्या-त्मिक भावनासे अहिंसा-धर्मकी जीत हुई और मांस-भक्षणके सम्बन्धमें भारती आर्योंकी चाल ढालमें फ़र्क़ पड़ गया और निवृत्ति-मार्गमें मांसाहार बिलकुल बन्द हो गया; और प्रवृत्ति-मार्गमें वह यज्ञ-याग और श्राद्धमें ही बाक़ी रह गया; उसी तरह भारती कालमें मद्यके बारेमें भी बड़ा स्थित्यन्तर हो गया। भारती युद्धके समय अर्थात् शुरू शुरूमें, भारती आर्य मद्य अथवा सुराका सेवन करना अशास्त्र नहीं मानते थे। क्षत्रियोंके लिए मद्यपान-की मनाही तो थी ही नहीं, बल्कि यह कहा जा सकता है कि इस मामलेमें वे लोग पाश्चात्य आर्य—जर्मन लोगों—की तरह प्रसिद्ध थे। इस काममें यादव लोग अगुआ थे और द्वारकामें मद्यपानका ख़ासा जमघट रहता था। महाभारतमें यह वर्णन है कि वृष्णि और यादव मद्य-पान करके ही परस्पर भिड़ गये और ऐसे भिड़े कि वहीं ढेर हो गये। यह प्रसिद्ध ही है कि बलराम तो ख़ूब डटकर पीते थे। श्रीकृष्ण यद्यपि मद्य पीनेमें मर्यादित थे; तथापि समस्त क्षत्रियोंकी रीतिके अनुसार वे भी, मर्यादासे, मद्य पीते थे। श्रीकृष्ण और अर्जुनके मद्यपान करनेका वर्णन महा-भारतमें दो तीन स्थलों पर है। रामायणमें लिखा है कि जब समुद्रमेंसे सुरा निकली तो देवताओंने उसे ग्रहण कर लिया, इस कारण देवताओंका नाम 'सुर' हो गया। महाभारतमें भी एक स्थान पर इसी प्रकारका उल्लेख है। वरुण-लोकमें सुरा-भवन कनक-मय है और सुरा हाथ लग जानेसे ही देवता सुर कहलाने लगे (उद्यो० अ० ६८)। युधिष्ठिरके अश्वमेधके उत्सव-वर्णनमें यज्ञको "सुरामैरेय सागरः। कहा है। अर्थात् यज्ञोत्सवकी धूम-धाममें सुरा और मैरेयकी रेल-पेल थी। ज्ञात होता है कि भारती-युद्धके समय क्षत्रिय—विशेषकर यादव वीर, युद्ध पर जाते समय सुरापान किया करते थे। जयद्रथ-वध पर्वमें धर्मकी आज्ञासे सात्यकी जब अर्जुनको मदद देनेके लिये कौरवी सेनामें घुसनेको तैयार हुआ, तब उसके सुरा-पान करनेका वर्णन है। यहाँ पर विशेष नाम बतलाया है 'पीत्वा कैलातकं मधु'

(द्रो० अ० ११२)। यदुके वंशमें मराठे हैं। वे भी युद्धके समय स्वयं सुरा पीकर और हाथियोंको पिलाकर लड़ने जाते थे; फिर कभी पैर पीछे न रखते थे। ऐसा वर्णन चीनी परिव्राजक हुएनसांगने किया है। भारतके अनेक वर्णनोंसे स्पष्ट देख पड़ता है कि भारती-युद्धके समय क्षत्रिय लोग सुरा पीनेवाले थे और उनमेंसे कुछ तो ज़बर्दस्त पियक्कड़ थे। उस समय, ब्राह्मणोंमें भी सुरा-सेवी होंगे। शुक्रकी कथा महाभारतमें आई ही है। शुक्राचार्य शराब पीते थे और उससे अत्यन्त हानि होनेके कारण उन्होंने शराब पीना छोड़ दिया था। कच-देवयानीके आख्यानमें भी ऐसी ही कथा है। परन्तु ब्राह्मणोंमेंसे इस व्यसन अथवा रवाजको शुक्राचार्यने बहुत प्राचीन कालमें बन्द कर दिया होगा। भारती-युद्धके समय जिस तरह क्षत्रिय सुरा पीते थे, उसी तरह ब्राह्मण भी पीते थे या नहीं—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। फिर भी ब्राह्मण-काल और उपनिषद्-कालमें शुक्राचार्यके बनाये हुए नियमका पालन ऐसी सख्तीसे किया जाता था कि सुरापानकी गिनती पञ्चमहापातकोंमें थी। धर्मशास्त्रमें इस प्रकारका बन्धन कर दिया गया था। यह निषेध सभी आर्योंके लिये था; अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंके लिये एकसा था। परन्तु यह नियम ब्राह्मणोंके लिए विशेषताके साथ उपयुक्त माना गया। ये पञ्चमहापातक उपनिषदोंमें भी कथित हैं। इससे प्रकट है कि सुरापानका दोष बहुत प्राचीन कालसे माना गया है। भारती-युद्धके समय भी इसे ब्राह्मणोंने मान्य कर लिया होगा; और यदि ऐसा न भी हो तो भी भारती कालमें यह बन्धन पक्के तौर पर क़ायम होकर महाभारतके समय ब्राह्मणोंके लिये सुरा इतनी वर्जनीय थी कि मद्य-प्राशनसे ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व ही नष्ट हो जानेका नियम हो गया था। सुरापान करनेसे ब्राह्मणोंके लिये ब्रह्महत्याके समान ही पातित्य होनेका निश्चय हो गया। शान्ति पर्वके १४०वें अध्यायमें विश्वामित्र और चाण्डालकी एक मनोरञ्जक कथा है। उस कथासे उक्त बात भली भाँति प्रमाणित होती है। एक बार बारह वर्षतक पानी न बरसनेसे बड़ा भयङ्कर अकाल पड़ा। तब, विश्वामित्र भूखसे व्याकुल होकर इधर उधर आहारकी खोजमें भटकने लगे। उस समय उन्हें एक चाण्डालका घर देख पड़ा और उसमें देख पड़ी एक मरे हुए कुत्तेकी टाँग। लुक छिपकर विश्वामित्र घरमें घुसकर वह टाँग चुराकर ले जाने लगे। उस समय चाण्डालने उनको रोका। तब, चाण्डाल और विश्वामित्रके बीच इस विषय पर बड़ा मज़ेदार सम्वाद हुआ कि यह जो चोर-कार्य किया गया सो ठीक है या नहीं। उस सम्वादमें विश्वामित्रने सबके अन्तमें चाण्डालको यह कहकर चुप कर दिया कि भाई! मैं धर्मको खूब समझता बूझता हूँ। चोरी करना या कुत्तेका मांस खाना पातक है; किन्तु इसके लिये प्रायश्चित्त है। 'पतित' शब्द केवल सुरापानके सम्बन्धमें धर्मशास्त्रमें कथित है। 'नैवातिपापं भक्षमाणस्य दृष्टं सुरां तु पीत्वा पततीतिशब्दः।' इस प्रकार सुरापानका पातक अत्यन्त भयङ्कर माना जाता था और इससे जान पड़ता है कि महाभारतके समय भी उस पातकके लिये कुछ भी प्रायश्चित्त न था, जिससे कि पातकी शुद्ध हो सकता। जिस ब्राह्मण-जातिका ब्राह्मण्य मद्यकी एक बूँदसे भी नष्ट हो जाना लोग मानते थे, उस ब्राह्मण-जातिके सम्बन्धमें लोगोंमें पूज्य बुद्धि बढ़े तो इसमें आश्चर्य नहीं। 'यस्य काय-

गतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत्', इत्यादि मनुस्मृतिमें भी कथित है। महाभारतके समय भी यह बात मान्य थी कि मद्य-पानके लिये, किसी स्थितिमें, भी प्राय-श्चित्त नहीं है ; यही क्यों, कलियुगमें भी सिसोदिया वंशी राजपूतोंको इसके मान्य होनेकी बात इतिहास प्रसिद्ध है। इस वंशके एक राजाको वैद्यने दवाके रूपमें मद्य पिला दिया। उसे जब यह बात मालूम हुई तो उसने पुरोहितसे पूछा—"जो मद्य पी ले उसके लिए क्या प्राय-श्चित्त है ?" उत्तर मिला— "पिघला हुआ शीशा गलेमें ढालना चाहिए।" राजाने ऐसा ही करके प्राण छोड़ दिया; तभीसे इस वंशका नाम सिसोदिया पड़ गया। महाभारतके समय ब्राह्मणोंने सुराको पूर्णतया वर्ज्य कर दिया था। शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, १८० वें अध्यायके एक मजेदार श्लोकसे यह बात निश्चयपूर्वक देख पड़ती है। एक गरीब ब्राह्मण, एक धनवान मत्त वैश्यके रथके धक्केसे गिर पड़ा। तब वह अत्यन्त खिन्न होकर अपनी हीन स्थितिके विषयमें शोक करने लगा। वह विलाप कर रहा था कि ऐसे गरीब ब्राह्मणका जन्म बहुत ही दुःखदायी और दुर्दैवका है। उसी समय इन्द्र एक गीदड़का रूप धर-कर उसके पास आया और उस ब्राह्मण-की प्रशंसा करके उसका समाधान करता हुआ बोला—"तू ब्राह्मण हुआ, इसमें ही तू बहुत भाग्यवान है। तुझे जो यह लाभ हुआ है, इसमें ही तुझे सन्तुष्ट रहना चाहिए। मैं शृगाल-योनिमें उपजा हूँ। तब मेरे सिर कितना पाप है ?" इत्यादि बातें करते करते इन्द्रने कहा—"तुझे कभी न तो मद्यका स्मरण होता है और न लट्वाक पक्षीके मांसका; और सच पूछो तो इस दुनियामें उनसे बढ़कर मोहक और अधिक मधुर पदार्थ कहीं नहीं है।" "न त्वं स्मरसि वारुण्या लट्वाकानां च पक्षि-णाम्। ताभ्यां चाभ्यधिको भक्ष्यो न कश्चि-द्विद्यते क्वचित् ॥" (शां० अ० १८१) तात्पर्य ब्राह्मणोंने निवृत्ति धर्मको प्रधान मानकर मद्य जैसा मोहक और लट्वाक पक्षीके मांससा मधुर पदार्थ अपनी ही खुशीसे छोड़ दिया था। इस कारण समाज पर ऐसे ब्राह्मणोंकी धाक बैठ गई और वे भारती आर्योंके समाजके अग्रणी तथा धर्मगुरु हो गये तो इसमें आश्चर्यकी बात नहीं। महाभारतकालके पहलेसे ही ब्राह्मणोंने सुराका जो सर्वथैव त्याग किया, उसकी महिमा अबतक स्थिर है और कितने ही क्षत्रियोंने भी उसीको अपना आदर्श बना लिया है। ब्राह्मणोंके इस व्यवहारका परिणाम समग्र भारतीय जन-समाज पर हुए बिना नहीं रहा। समग्र भारतीयोंका मद्य पीनेका व्यसन महा-भारत-कालमें बहुत ही कम था। इस बातकी साक्षी यूनानी इतिहासकार भी देते हैं। मेगास्थिनीज़के ग्रन्थके आधार पर स्ट्रेबो नामक इतिहास-प्रणेताने लिखा है—"हिन्दू लोग, यज्ञके बिना, और किसी अवसर पर शराब नहीं पीते।" मेकक्रिंडलने इस पर टीका की है कि यह उल्लेख बहुधा सोमरसके पानका होगा। किन्तु सिर्फ ऐसा ही नहीं कहा जा सकता। 'सौत्र्यामण्यां सुरापानम्' यह धर्मशास्त्रका वचन प्रसिद्ध ही है। सौत्रामणि नामक यज्ञमें सुरा पीनी ही पड़ती थी। और और अन्यान्य यज्ञोंमें भी अत्यन्त प्राचीन कालमें उत्सवके निमित्तसे सुरापान किया जाता था। युधिष्ठिरके अश्वमेध-वर्णनमें सुराके पीनेका वर्णन है। इसी तरह द्रोण पर्वके षोड़शराजीय आख्यानमें, ६४ वें अध्याय-में, सुरापान करनेका वर्णन है। फिर भी ये सारे वर्णन भारतीय कालसे पुराने हैं।

महाभारतके समय ब्राह्मणोंने 'नित्यं सुरा ब्राह्मणानाम्' यही नियम मान्य किया था और अन्य लोगोंमें भी केवल उत्सवके ही अवसर पर शराब पीनेका व्यसन देख पड़ता था। परन्तु अन्य अवसरों पर लोग मदिरा न पीते थे।

इस प्रकार भारती-कालमें भारती आर्योंके भोजन-व्यवहारमें बहुत ही बड़े महत्त्वका अन्तर पड़ गया। भारती आर्यों-के लिये यह बात बहुत ही भूषणावह है। भारती आर्योंने विशेषतः ब्राह्मणोंने मद्य-मांस खाना-पीना छोड़ दिया। पञ्जाब-को छोड़कर हिन्दुस्तानके अन्य प्रान्तोंके सभी लोगोंमें, जैसा कि कहा गया है, इस नियमका भली भाँति पालन होता था। जिसे आर्यावर्त कहते हैं उस देशका आचार सबसे श्रेष्ठ है—यह बात प्राचीन कालमें इसी कारण कही जाती थी। जैसा कि कहा जा चुका है, आर्या-वर्त्तके विशेषतः ब्रह्मर्षि देशके रीति-रवाज, विवाहके दस्तूर, वर्ण-व्यवस्था और खान-पानके व्यवहार-सम्बन्धी कठोर नियम देश भरमें प्रमाणिक माने जाते थे और अन्यान्य प्रान्तोंमें इनसे कुछ भिन्न आचार रहता था। पञ्जाबके वाहिक लोगोंमें, पूर्व कथनके अनुसार, मांस-भक्षणके सम्बन्धमें अनाचार था; और पञ्जाबके वाहिक लोगोंमें सुरापानके सम्बन्धमें भी अनाचार था। प्रत्येक चौरास्ते पर और राजद्वारमें सुराकी दूकानें अथवा कलारी हौली होती थीं। कलारियोंका गौड़ नाम सुभद्र था। कर्ण पर्वके शल्य-कर्णके भाषणसे ये बातें प्रकट होती हैं। ऐसा होने पर भी पञ्जाबतकमें इस बातके सम्बन्धमें महाभारतके समय सुधार हो गया होगा। क्योंकि शल्यने अपने उत्तरमें यही मत प्रकट किया है कि बुरे आदमी सभी जगह होते हैं।

सारस्वतोंका मत्स्य-भक्षण।

पञ्जाबवालों की तरह और भी एक तरहके लोगोंका उल्लेख महाभारतमें है जिनका आचार साधारण धर्मशील ब्राह्मणोंके आचारसे भिन्न था। यह उल्लेख सारस्वतोंका है। पहले कहा गया है कि ब्राह्मणोंको मछली न खानी चाहिए। परन्तु इसके अपवादमें सारस्वतोंका नाम महाभारतमें कथित है। सारस्वत हैं सर-स्वती किनारेके ब्राह्मण; ये अब भी मत्स्य-भोजी हैं। सारस्वत आख्यानसे ज्ञात होता है कि ये लोग महाभारतके समयसे ही मछलियाँ खाते हैं। बारह वर्षतक पानी न बरसने पर सारस्वत ऋषिने सरस्वती नदीकी मछलियाँ खा खाकर पेट पाला और वेदोंकी रक्षा की। देश-विदेशमें जो ब्राह्मण चले गये थे उन्होंने लौटकर सारस्वतसे वेद पढ़ा। इन्हीं लोगोंका नाम सारस्वत पड़ गया। सरस्वतीके प्रदेशके एक भागका नाम प्राचीन कालमें गुड था। इस कारण वहाँके ब्राह्मण गौड़ भी कहलाने लगे। ये गौड़ ब्राह्मण बङ्गालमें जाकर बस गये, और कुछ सारस्वत ब्राह्मण कोंकणमें आबाद हो गये। इन दोनों स्थानों पर गौड़ों और सारस्वतोंमें अबतक मत्स्या-हार प्रचलित है।

चावल प्रभृति धान्य।

साधारण रीति पर महाभारतके लोग मुख्य मुख्य अनाज खाते थे। अनाज चावल, गेहूँ, ज्वार और सत्तू आदि मुख्य थे। देख पड़ता है कि धन-वानों और क्षत्रियोंमें भातमें मांस मिला-कर—जिसे आजकल पुलाव कहते हैं—खानेका खास रवाज था। धृतराष्ट्रने सभापर्वमें दुर्योधनसे पूछा है-"आच्छाद-यसि प्रावरान् अश्नासि पिशितौदनम्"

तू अच्छे अच्छे कपड़े पहनता है और मांसोदन यानी पुलाव खाता है; फिर दुबला क्यों हो गया है? इससे भी बढ़कर मज़ेदार एक श्लोक उद्योग पर्वकी विदुरनीतिमें है।

आढ्यानां मांस परमं मध्यानां गोरसोत्तरम्।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ॥

धनवान् लोग बहुधा ऐसा भोजन करते हैं जिसमें मांस विशेष होता है; मध्यम स्थितिवालोंकी खुराकमें दूध, घी आदि गोरसकी विशेषता रहती है; और ग़रीब आदमी ऐसा भोजन करते हैं जिसमें तेल अधिक रहता है। भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके अन्नकी विशेषता रहती है। हिन्दुस्तानकी वर्तमान कालीन परिस्थितिमें यह बात स्पष्ट देख पड़ती है। इसी तरहका फ़र्क़ प्राचीन काल अर्थात् महाभारतके समय रहा होगा। पहलेपहल आर्योंकी बस्ती हिमालयकी तराईमें थी और फिर पञ्जाबसे लेकर ठेठ मिथिला देशतक हो गई। इस देशमें मुख्य पैदावार धानकी थी और इस प्रदेशमें अब भी बढ़िया चावल होते हैं। प्राचीन काल अर्थात् भारती-युद्धके समय आर्योंके भोजनमें मुख्यतः चावलोंकी विशेषता होना साहजिक ही है। इन प्रदेशोंसे धीरे धीरे आर्य लोग दक्षिण ओरके गरम प्रदेशमें फैल गये। यहाँकी मुख्य उपज चावलकी नहीं, यव या जौ और गेहूँकी थी तथा अब भी है। वनपर्वमें (अ० १६०) कलियुगके वर्णनमें कहा है—

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च।
तान्देशान्संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते॥

जिस देशमें मुख्य करके यव और गेहूँ उपजते हैं तथा इन्हींको लोग खाते हैं उन देशोंका आश्रय, कलियुग प्राप्त होने पर, लोग करेंगे। ये देश हैं गङ्गाके दक्षिणी तटके मध्य हिन्दुस्थान और गुजरात आदि। इन दोनोंमें आर्योंकी बस्ती पीछेसे हुई थी। उल्लिखित वाक्यसे यह बात भली भाँति देख पड़ती है। इन देशोंमें धानकी उपज बहुत कम होती है; गरीब और मध्यम श्रेणीके लोग बहुत करके चावल खाते ही नहीं; तब, गङ्गाके उत्तरी प्रदेशके आर्य निवासियोंको भात न मिलनेके कारण इस देशमें रहना एक तरहका अभाग्य ही जँचता होगा। इसीसे वर्णित है कि कलियुगमें इन देशोंमें लोग भर जायँगे। आजकल गेहूँका भोजन चावलोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है; परन्तु महाभारतके समय इससे विपरीत स्थिति देख पड़ती है। गेहूँ और चावल दोनों ही श्रेष्ठ अनाज हैं। सत्तूकी प्रशंसा महाभारतमें अनेक स्थलों पर है। सक्थु यद्यपि उत्तम धान्य नहीं है फिर भी न मालूम उसकी इतनी प्रशंसा महाभारतमें क्यों है। भुने हुए सक्थु खानेकी रीति महाभारतके समय थी। सक्थुओंमें शक्कर मिलाकर कुछ पदार्थ लड्डू वग़ैरह बनाये जाते होंगे। महाभारतमें स्त्रियोंको यह उपदेश किया गया है कि अपने लिए सक्थु न बनाना चहिए और रातको अकेले आप ही न खाना चाहिए। ख़ैर; जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, बहुत करके ये सक्थु मीठे होते होंगे। सक्थु आजकलका सत्तू है।

गोरसकी महत्ता।

जनतामें गोरस विशेषतासे खानेका चलन था। दूध-घी बहुधा गौओंका ही खाया जाता था। भैंसका दूध बर्तनेका वर्णन कहीं नहीं मिलता। इससे यह न समझना चाहिए कि उस समय भैंस थी ही नहीं। परन्तु भैंस और भैंसे निन्द्य माने जाते थे। इसके सिवा देशमें

गोवंशकी खासी वृद्धि होनेसे गौके दूधकी कमी न थी। (वन पर्व १९० अध्याय में) वर्णन है कि कलियुगमें गौएँ नष्ट हो जानेसे भेड़, बकरियाँ दुही जायँगी। "दुहन्ताश्चाप्यजैडकं गोषु नष्टासु पुरुषाः"। कुछ जानवरोंका दूध शास्त्रकी दृष्टिसे निषिद्ध माना जाता था। कहा गया है कि ब्राह्मणको अजा (भेड़), अश्व, गर्दभ, उष्ट्र, मनुष्य (स्त्री) और हरिणीका दूध न पीना चाहिये। इसी तरह गौके बच्चा देने पर दस दिनतक उसका दूध न पीना चाहिए। बासी भोजन और पुराना आटा तथा गन्ना, शाक, दूध और भुने हुए सत्तूसे तैयार किये हुए पदार्थ, बहुत दिनोंतक रखे रहें तो, उन्हें न खाना चाहिए (शान्ति पर्व अध्याय ३६)। शाक-भाजीमें लहसुन-प्याज़को भी वर्ज्य कहा है। पञ्जाबियोंका जो अनाचार वर्णित है उसमें उनके लहसुन-प्याज़ खानेका भी वर्णन है।

भोजन करते समय मौन।

समस्त भारती आर्योंका भोजन साधारण रीतिसे परिमित और सादा था। यूनानियोंने उनके भोजनके सम्बन्धमें कुछ आलोचनायुक्त उल्लेख किया है। "हिन्दुस्तानियोंमें भोजनका नियत समय नहीं है और सारे समाजमें प्रसिद्ध भोजन भी नहीं है।" महाभारतके कुछ वचनोंसे यह आक्षेप सच्चा जान पड़ता है। सवेरे और सन्ध्या समय भोजन न करना चाहिए, यही नियम है: और कहा गया है कि अहोरात्रके बीच सिर्फ़ दो बार भोजन करना चाहिए—कई मर्तबा नहीं। किन्तु भोजन करनेका कोई निश्चित समय नहीं देख पड़ता। इसके अतिरिक्त यह भी नियम बना दिया गया कि—"प्राङ्मुखो नित्यमश्नीयात् वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन्।" (अनुशासन पर्व ९०) भोजन करते समय न तो बोलना चाहिए और न रसोईकी निन्दा करनी चाहिए। इस कारण सामाजिक प्रसिद्ध भोज जिनमें कि भोजन करनेवाले लोग छोटे छोटे व्याख्यान देते या भाषण करते हैं और जो प्राचीन कालमें तथा इस समय भी पाश्चात्य देशोंमें होते हैं—महाभारतके समय यहाँ प्रचलित नहीं देख पड़ते। यह बात सच है कि जैसे घरके लोग एक ही चौकेमें अलग अलग थाली आदिमें आजकल भोजन करते हैं, वैसे पूर्व समयमें भी किया करते थे। परन्तु युधिष्ठिर-कृत अश्वमेधके अवसर पर हज़ारों ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंके भोजन करनेका वर्णन है। इससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि सामाजिक भोज थे ही नहीं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे ऐसे भोजों और ज्योनारोंके अवसर पर भी भोजन करनेवाले लोग मौनव्रतसे ही भोजन करते थे।

भोजनके भिन्न भिन्न पदार्थ।

ऐसे अवसरों पर भोजनमें वही मामूली चीज़ें नहीं रह सकतीं। तब, तरह तरहके स्वादिष्ट पदार्थ बनते रहे होंगे। इसके सिवा श्रीमानोंके भोजनोंमें भी भिन्न भिन्न स्वादिष्ट पदार्थ तैयार होते होंगे। आश्रमवासी-पर्वमें यह वर्णन है कि—

आरालिकाः सूपकारा रागखाण्डविकास्तथा। उपातिष्ठन्त राजानं धृतराष्ट्रं पुरा यथा॥

धृतराष्ट्र राजाको, पहलेकी ही भाँति, युधिष्ठिरके यहाँ भी आरालिक, सूपकार और रागखाण्डविक लोग पकान्न बना बनाकर परोसते थे (आश्रमवासी पर्व अ० १)। इसमें तीन तरहके रसोइये बतलाये गये हैं। आरालिक और सूपकार मीठे मीठे पदार्थ न बनाते होंगे। मीठे पदार्थ या तो खाण्डवराग या रागखाण्डव

नामसे ही महाभारतमें वर्णित हैं। टीकाकारने वर्णन किया है कि शक्कर, मूँग और सोंठ द्वारा ये पदार्थ प्रस्तुत किये जाते थे। गुजराती भाषामें खाण्डव = शक्कर (और हिन्दीमें भी खाँड़ [खाण्डव] = शक्कर) शब्द प्रसिद्ध है। पर रागका अर्थ नहीं बतलाया जा सकता। मीठी चीज़ें बनानेवाले थे रागखाण्डविक और शाक-भाजी, कढ़ी, रायते आदि तैयार करते थे सूपकार। सूप शब्दसे दालका बोध होता है। आरालिक लोग मांस पकाते होंगे। अस्तु: भक्ष्य पदार्थोंके अतिरिक्त तरह तरहके पेय—अर्थात् पीने योग्य पतले पकान्न खीर, रबड़ी आदि—बनाये जाते थे। किन्तु ये पेय कौन कौनसे थे, इसका वर्णन कहीं नहीं मिलता। यह तो निर्विवाद है कि ये पेय बहुधा मीठे होते थे। धृतराष्ट्रके भोजनमें वर्णन है—

मैरेयमत्स्यमांसानि पातकानि मधूनि च।
चित्रान्भक्ष्यविकारांश्च चक्रुस्तस्य यथा पुरा॥
(आश्रमवासी पर्व अध्याय १)

दान किये जानेवाले आहारमें अपूप और मोदकोंका वर्णन पाया जाता है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि भोजनकी समस्त चीज़ोंमें घृत श्रेष्ठ था। आजकलका वाक्य—"आयुरेव घृतम्" प्रसिद्ध ही है। परन्तु भारतमें 'घृतं श्रेयो उदश्वितः' वचन आया है। अर्थात् यह उदाहरण है कि छाँछ (उदश्वि) की अपेक्षा घृत श्रेयस्कर है। इस प्रकार महाभारतमें जो कुछ थोड़ासा उल्लेख प्रसङ्गके अनुसार आया है, उसके आधार पर विचार किया गया कि महाभारतके समय भारती लोग क्या खाते थे। अब भोजनके कुछ विशेष नियमोंको देखना है।

भोजनके नियम।

खाने-पीनेके सम्बन्धमें जो कुछ विशेष नियम बतलाये गये हैं उनको यहाँ उद्धृत करना ठीक होगा। "राजाका अन्न तेजको हरण करता है। शूद्रका अन्न ब्रह्म-वर्चसको हरण करता है और सुनारका अन्न तथा ऐसी स्त्रीका जिसके कि पति और पुत्र न हों, आयु हरण करता है। ब्याजसे गुज़र करनेवालोंका अन्न विष्ठा है और वेश्याका अन्न शुक्र है। जारके सहवासको सहन करनेवाले और स्त्रीजित् लोगोंका भी सब तरहका अन्न शुक्र ही है। जिस ब्राह्मणने यज्ञदीक्षा ग्रहण कर ली हो उसका, कृपणका, यज्ञ-कर्म विक्रय करनेवालेका, बढ़ईगीरी करनेवालेका, चमड़ा काटनेवालेका और धोबीका काम करनेवालेका अन्न न खाना चाहिए। व्यभिचारिणीका, वैद्यका, प्रजा-पालन पर नियुक्त अधिकारीका, जन-समूहका, ग्रामका और ऐसे लोगोंका जिन पर लोकापवाद हो, अन्न भक्षण न करना चाहिए। रँगरेज़का, स्त्रियोंकी कमाई खानेवालोंका, बड़े भाईसे पहले विवाह करनेवालेका, स्तुतिपाठकका और द्यूतवेत्ताका अन्न न खाना चाहिए। बायें हाथसे लिया हुआ, बुसा हुआ, बासी, मद्यसे छुआया हुआ, जूठा, और किसीको न देकर विशेष व्यक्तिके लिये रखा हुआ अन्न न खाना चाहिए। गन्ना, शाक, सत्तू, आटा और दधिमिश्रित सत्तूसे बने हुए पदार्थ, यदि बहुत दिनतक रखे रहें तो, न खाने चाहिएँ। दूध, खीर, खिचड़ी, मांस, बड़े अथवा अपूप (पूआ) यदि बिना शास्त्रोक्त कारणके ही तैयार किये गये हों तो गृहस्थाश्रमी ब्राह्मणको भक्षण या प्राशन भी न करना चाहिए। मनुष्य और घरके देवताका पूजन करके गृस्थाश्रमीको भोजन करना चाहिए। दस दिनसे पूर्व उन लोगोंका भी पदार्थ न खाना चाहिए जिनके यहाँ किसीकी

मृत्यु अथवा वृद्धि (सौर) हुई हो ।" (शां० अ० ३६) इस वर्णनसे हमारे भारती आर्योंके खाने-पीनेके सम्बन्धके कुछ खास नियमोंकी अटकल लगाई जा सकती है। महाभारतके समय ब्राह्मण लोग क्षत्रियों और वैश्योंके यहाँ भोजन किया करते थे; परन्तु शूद्रोंके यहाँ भोजन करने नहीं जाते थे। शूद्रके यहाँ भोजन करनेसे ब्रह्मवर्चस् लुप्त होनेकी बात स्पष्ट कही गई है। इसके सिवा सुनारके यहाँ भोजन करनेको जानेकी मनाही थी। यह बतलाना कठिन है कि सुनारके सम्बन्धमें क्या दोष रहा होगा। धोबी, वैद्य, मोची और बढ़ईके पेशेके सम्बन्धमें इसी प्रकारका नियम है। किन्तु इस मनाहीका कारण उन पेशोंका कोई खास अवगुण रहा होगा। इन रोज़गारोंमें जो प्राणिहिंसा होती है अथवा अमाङ्गलिकता है, कदाचित् उस पर ध्यान रहा हो। कहा गया है कि राजाधिकारी और ब्याज-बट्टेका काम करनेवालेका भी अन्न न खाना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य बात है। इसके सिवा और नियमोंके सम्बन्धमें हमें यह देख पड़ता है कि अन्न खा लेनेसे जूठा हो जानेका विचार, आजकलकी भाँति, तब भी था। सखरे-निखरे और छूत या निर्लेपका भेदाभेद उस ज़मानेमें स्पष्ट नहीं देख पड़ता। कमसे कम इस सम्बन्धका उल्लेख कहीं पाया नहीं जाता। अर्थात् उच्छिष्ट दोष दोनोंमें ही एकसा मान्य देख पड़ता है।

भोजनके सम्बन्धमें जो बातें मालूम हो सकीं वे एकत्र करके पाठकोंके सम्मुख रख दी गईं। अब भारती प्राचीन आर्योंके वस्त्र-आभूषणोंके रवाजका वर्णन करना है।

वस्त्र और भूषण।

प्राचीन कालके लोगोंकी भिन्न भिन्न रीतियों आदिके विषयमें जो अत्यन्त महत्वकी और मनोरञ्जक बात जाननेकी सब लोगोंको उत्कण्ठा होती है वह उनके कपड़े-लत्तों और आभूषणोंके सम्बन्धमें रहती है। प्राचीन कालके लोगोंका शारीरिक वर्णन अथवा उनकी रङ्गतका वर्णन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता; क्योंकि अपनी और अपने पूर्वजोंकी शारीरिक परिस्थितिके बीच विशेष अन्तर पड़नेकी सम्भावना नहीं रहती। किन्तु कपड़े-लत्तोंके सम्बन्धमें मनुष्यकी परिस्थितिमें भिन्न भिन्न कारणोंसे और मनुष्यकी कल्पनासे बहुत फ़र्क़ हो जानेकी विशेष सम्भावना रहती है। इसके सिवा प्राचीन लोगोंकी बातें बतलाते हुए उनके वस्त्र प्रावरणोंका वर्णन पुराने ग्रन्थोंमें बहुत ही अपूर्ण रहता है; क्योंकि उपन्यासों आदिके सिवा स्त्री-पुरुषोंके हूबहू वर्णन अन्य ग्रन्थोंमें नहीं होते। भिन्न भिन्न परिस्थितियोंमें, और सम्पन्नताकी भिन्नताके कारण, तरह तरहकी पोशाकों और गहनोंकी उपज हम देखा करते हैं। इस कारण एक परिस्थितिवाले लोग दूसरी परिस्थितिवालोंकी पोशाककी कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, पेरिस नगरीके सुधारोंके शिखर पर बैठी हुई पाश्चात्य स्त्रियोंको, हिन्दुस्थानकी किसी जङ्गली जातिमें उत्पन्न स्त्रियोंकी पोशाककी कल्पना होना सम्भव नहीं। पहुँचेसे लेकर कुहनीतक पीतलकी चूड़ियाँ पहने, गलेमें सफ़ेद पत्थरकी गुरिया—मणिकी तरह—पहने, फटे-पुराने कपड़ेको कटि-प्रदेशमें लपेटे और सिर पर छोटासा काला कपड़ा बाँधे हुए किसीको देखकर पेरिस नगरवासिनी ललनाको आश्चर्य होगा। इधर ऐसी स्त्रियोंको उन मेमसाहबाकी पोशाककी कल्पना न हो सकेगी कि जिनके फूले लहँगोंमें तरह तरहके चित्र-

विचित्र कपड़ोंके टुकड़े लगे हों। वह उस टोपीको क्या समझेगी जिसमें परोंके जमावकी रचनाका शृङ्गार हो। अस्तु: यदि पाठकोंके आगे, प्राचीन कालकी भारती आर्य स्त्रियों और पुरुषोंकी तसवीर उस पोशाक और गहनेसे सजाकर, ज्योंकी त्यों खड़ी कर दी जाय कि जिसे पहनकर वे समाजमें चलते-फिरते थे तो बहुत ही मनोरञ्जक हो। परन्तु यह काम सरल नहीं, क्योंकि महाभारतमें वस्त्रों और भूषणोंका उल्लेख बहुत कम है। जो है भी वह एक स्थान पर नहीं है—कुछ कहीं है, कुछ कहीं। इस कारण उनको एकत्र करके यह काम करना होगा। इसमें फिर भी रहेगा वह अपूर्ण ही।

(२) पुरुषोंकी पोशाक, दो वस्त्र।

महाभारतके समय भारती आर्य पुरुषोंकी पोशाक बिलकुल सादी थी। दो धोतियाँ ही उनकी पोशाक थी। एक धोती कमरके नीचे पहन ली जाती और दूसरी शरीर पर चाहे जैसे डाल ली जाती थी। भारती आर्योंकी यह पुरानी पोशाक अबतक हिन्दुस्तानके पिछड़े हुए भागों और पुराण-प्रिय लोगोंमें मौजूद है। प्राचीन समयमें पाश्चात्य यूनानी और रोमन लोगोंकी पोशाक भी इसी ढंगकी थी। ये धोतियाँ अथवा वस्त्र बनाना बहुत सरल था, इसीसे इनका चलन उस समय हो गया होगा। क्या धनवान और क्या गरीब, सभीके लिये यही मार्ग था और धोती पहननेकी रीति एक ही ढंगकी थी। फ़र्क इतना ही होगा कि बड़े आदमियोंकी धोतियोंका सूत-पोत महीन और नफ़ीस होता होगा और गरीबोंकी धोतियाँ मामूली मोटी-झोटी रहती होंगी। पाजामा पहननेकी रीति प्राचीन समयमें न थी। और जैसे कि आजकल रवाज है, बहुधा धोती पहननेकी रीति थी। द्यूतसभाके वर्णनसे यह बात प्रकट होती है। द्रौपदी राजसभामें पकड़ लाई गई और दासी कहकर उसकी फजीहत की गई। उस समय दुर्योधनने अपनी जाँघ खोलकर दिखाई। यदि वह पाजामा पहने होता तो ऐसा किस तरह कर सकता था। ऐसा तो धोती पहनी हुई अवस्थामें ही हो सकता है। कुछ यह बात नहीं कि कमरसे ऊपरका अङ्ग सदा उत्तरीय वस्त्रसे ढँका ही रहता हो, अनेक अंशोंमें वह खुला ही रहता था। धनवानोंकी धोतियाँ बहुत ही महीन होती थीं और उनको प्रावार कहा जाता था। शरीरको ढँकनेवाले उत्तरीय वस्त्रका उल्लेख बहुत ही कम स्थानों पर है। फिर भी यह निर्विवाद है कि पुरुषोंके पास उत्तरीय वस्त्र होता था। मामूली काम-काजमें उत्तरीय वस्त्रसे कुछ दिक्कत न हो, एतदर्थ विद्यार्थियोंके लिए यह नियम पाया जाता है कि दहिना हाथ दुपट्टेसे बाहर निकालकर बायें कन्धे पर उत्तरीयमें गाँठ लगा लें। मनुस्मृतिमें यह नियम "नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्" इस रूपमें है। टीकाकारने इसका अर्थ किया है कि उत्तरीयसे हाथ बाहर निकला हुआ रहे। यह नियम सिर्फ़ ब्रह्मचारियोंके लिए है, इससे जान पड़ता है कि औरोंके लिए उत्तरीय ओढ़नेका रवाज और ही तरहका रहा होगा। नहीं कह सकते कि युद्धके समय योद्धा लोग उत्तरीयको किस प्रकार धारण किया करते थे। परन्तु वे ब्रह्मचारीकी ही तरह दहिना हाथ बाहर निकालकर बाँयें कन्धे पर गाँठ लगाते होंगे। रोमन लोगोंमें जैसी टोगा पहननेकी चाल थी वैसी ही रीतिका यहाँ होना भी सम्भव है। और तो क्या, पुराने चित्रोंमें जो उत्तरीयके दोनों छोर पीछेकी ओर

उड़ते हुए दिखाये जाते हैं, वह भी ठीक हो सकता है।

उल्लिखित दोनों वस्त्रोंके सिवा भारती आर्योंकी पोशाकमें और कपड़े न थे। पाजामा, अथवा अँगरखा उस समय थे ही नहीं। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि कपड़ा काटकर, तरह तरहके कपड़े सीनेकी कला ही भारती कालमें न थी। उस समय दर्ज़ीका पेशा अज्ञात था, यही मानना पड़ता है। यह पश्चिमी रोज़गार है और उसके उस तरफ़से ही हिन्दुस्तानमें आनेका अनुमान किया जा सकता है। सम्भव है, सिकन्दरके साथी यूनानी ही उसे लाये हों। अथवा इससे प्रथम कदाचित् जब दाराउस बादशाहके समय पर्शियन लोगोंने सिन्धुके पश्चिमी ओरका भाग जीता था तब पश्चिमी लोगोंके सहवाससे हिन्दुस्तानमें यह कला आई हो। क्योंकि महाभारतमें दर्जियोंका नाम किसी कारीगरीके सम्बन्धमें नहीं आया। संस्कृतमें दर्ज़ीके लिये तुन्नवाय शब्द है। किन्तु महाभारतमें यह शब्द ही नहीं आया। सुनार, लुहार, ठठेरे और मोची आदिका नाम तो महाभारतमें हैं, पर तुन्नवायका नहीं है। रामायणमें तुन्नवाय शब्द है। इससे जान पड़ता है कि महाभारतके अनन्तर और रामायणसे पहले यह कला भारतमें आई होगी। सिकन्दरके समय यूनानियोंका शासन पञ्जाबमें बहुत थोड़े दिनोंतक रहा। परन्तु महाभारत-कालके पश्चात् बैक्ट्रियन-यूनानियोंने सन् ईसवीसे पूर्व २०० वर्षके लगभग पञ्जाबको जीतकर वहाँ बहुत वर्षोंतक राज्य किया। उस समय लोगोंने यह पेशा सीखा होगा। पूर्व कथनानुसार, वर्त्तमान रामायणका समय सन् ईसवीसे लगभग १०० वर्ष पहले है, अतएव तुन्नवाय अथवा दर्ज़ी शब्द आ जाना साहजिक ही है। तथापि यह कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है। जो हो, यह सच है कि भारती-युद्धके समय सिले-सिलाये कपड़े—बंडी, अँगरखे आदि,—न थे; और यही दशा महाभारतके समय थी। भारती आर्य पुरुषोंकी पोशाकमें सिर्फ़ दो वस्त्र थे—एक पहननेके लिये, दूसरा ओढ़नेके लिये। नाम इनका अन्तरीय और उत्तरीय था। इसके सिवा सिर पर उष्णीष (पगड़ी) था। इन तीनोंका उल्लेख एक स्थान पर अगले श्लोकमें है:—

उष्णीषाणि नियच्छन्तः पुण्डरीकनिभैः करैः। अन्तरीयोत्तरीयाणि भूषणानि च सर्वशः॥ (उ० अ० १५३—२०)

स्त्रियोंका पहनावा।

अब देखना चाहिए कि स्त्रियाँ कैसे कपड़े पहनती थीं। प्राचीन कालमें जब हिन्दुस्तानमें सिलाईका हुनर न था तब यह प्रकट ही है कि आजकल स्त्रियाँ जैसे लहँगे आदि वस्त्र पहनती हैं, वैसे उस समय न थे; पुरुषोंकी तरह, पर उनके वस्त्रोंसे लम्बे, स्त्रियोंके दो वस्त्र होते थे। पहननेके वस्त्रको पहनकर कन्धे पर रख लेनेकी रीति रही होगी। आजकल दक्षिणी, बङ्गाली और मदरासी स्त्रियाँ जिस प्रकार साड़ी पहनती हैं, उसी ढङ्गसे प्राचीन समयमें भारती आर्य स्त्रियाँ साड़ी पहनती होंगी। इसके अतिरिक्त उत्तरीय स्त्रियोंका दूसरा वस्त्र था। इसको सिरसे ओढ़ लेनेकी रीति थी। संयुक्त प्रान्तमें अबतक स्त्रियोंका उत्तरीय (दुपट्टा या चद्दर) बना है; परन्तु दक्षिणकी ओर यह नष्टप्राय हो गया है। इसके बदले, पहननेका वस्त्र ही इतना लम्बा कर दिया गया है कि उसीसे उत्तरीयका काम निकल जाता है और स्त्रियाँ उसीके छोरसे मस्तक ढँक सकती

हैं। प्राचीन कालमें स्त्रियाँ जब कहीं बाहर जातीं तब—आजकलकी तरह—उत्तरीयकी आवश्यकता होती थी।

धृतराष्ट्रके अन्तःपुरसे द्यूतसभामें द्रौपदीके पकड़ बुलानेका जो वर्णन है उससे उल्लिखित अनुमान सबल होते हैं। उसने बार बार विनती करके कहा—"मैं एकवस्त्रा हूँ: मुझे सभामें मत ले चलो।" इस समय वह रजस्वला भी थी। तब यह बात निर्विवाद देख पड़ती है कि बाहर जाते समय ही उत्तरीय लेनेकी चाल थी। यद्यपि वह एकवस्त्रा थी तथापि उसे खींचकर सभामें लाया गया और वहाँ कर्णने वह एक वस्त्र भी खींच लेनेके लिये दुःशासनसे कहा: और दुःशासनने ऐसा करनेकी चेष्टा की। इससे अनुमान होता है कि पहननेका वस्त्र ऐसा पहना जाता था कि खींचकर निकाला जा सके। आजकल उत्तरी हिन्दुस्तानमें स्त्रियोंका जैसा लहँगा होता है, वैसा न था। यहाँ पर अब यह प्रश्न होता है कि भारती आर्य स्त्रियाँ महाभारतके समय चोली (अँगिया) पहनती थीं या नहीं: क्योंकि बिना सिये चोली बन ही नहीं सकती। हमारा अनुमान है कि महाभारतके समय चोली पहननेकी रीति स्त्रियोंमें न थी। यह रीति, इस समय, सिर्फ़ मदरासी स्त्रियोंमें रह गई है। परन्तु इस अनुमानके भी विरुद्ध कंचुकी शब्द बहुत पुराना माना जा सकता है। तथापि कंचुकी तो राज-दरबारका एक विशेष अधिकारी है और वह भी प्राचीन कालमें नहीं देख पड़ता। वह एक कंचुक अर्थात् सिला हुआ कोट (या अङ्गा) पहने रहता था, इसी कारण उसकी संज्ञा कंचुकी हो गई थी: और यह कंचुकी भी पारसीक बादशाहोंके रवाजके अनुकरणसे आया हुआ जान पड़ता है। सारी बातों पर विचार करते हुए हमारा यह मत है कि महाभारतके समय भारती आर्य स्त्रियाँ चोली न पहनती थीं।

होमरने प्राचीन कालके यूनानी स्त्री-पुरुषोंकी जिस पोशाकका वर्णन किया है, वह अनेक अंशोंमें उल्लिखित भारती आर्योंकी पोशाकके समान ही है। होमर-वर्णित स्त्रियोंकी पोशाक है—"सिरसे ओढ़ा हुआ बुर्क़ा और कमरके आस पास लपेटा हुआ एक वस्त्र। यह कपड़ा हिन्दुस्तानी साड़ीकी तरह एक लम्बासा, घरमें बुना हुआ ऊनी वस्त्र था और वह न तो कहीं काटा जाता था और न सिया जाता था। यह कपड़ा कमरके आस-पास कमरपट्टेसे कसा रहता था और इस वस्त्रको कन्धे पर एक गाँठसे स्थिर कर दिया जाता था। दोनों हाथ और भुजाएँ बाहर निकली रहती थीं। पुरुषोंकी पोशाकमें भी दो ही वस्त्र थे। हाँ, उनकी कमरके आसपास पट्टा न था, किंतु रोमन लोगोंकी तरह शरीर पर पड़ा हुआ पल्लेदार लम्बा टोगा था।" इस वर्णनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन आर्य स्त्री-पुरुषोंकी पोशाक बहुत कुछ एकसी ही थी। स्त्रियोंका बुर्क़ा मानों हमारे यहाँका उत्तरीय है। इस उत्तरीयसे स्त्रियाँ अपना सिर, पीठ, भुजाएँ अथवा एड़ीतक सारा शरीर ढाँके रहती थीं। शोक करते समय अथवा कामके समय यूनानी स्त्रियाँ, होमरकृत वर्णनके अनुसार, अपना उत्तरीय अलग रख देती थीं। इसी तरह रामायणमें वर्णन है कि सीताने भी अपना उत्तरीय सुग्रीव आदि वानरोंके बीच डाल दिया था। तात्पर्य यह कि भारती आर्यों और यूनानियोंमें भी स्त्रियोंका उत्तरीय जब चाहे तब उतारने और ओढ़ने लायक़ था। इसके सिवा यह

बात भी दोनों देशोंकी स्त्रियोंके लिए ठीक होती है कि दोनोंके ही वर्णनमें कञ्चुक या चोलीका ज़िक्र नहीं। होमरने जो वर्णन किया है और कारीगरोंने प्राचीन यूनानी स्त्रियोंकी जो पुतलियाँ बनाई हैं, उनसे ऐसा ही अनुमान होता है।

अब एक महत्त्वका प्रश्न यह है कि आजकल दक्षिण देशकी स्त्रियाँ जिस तरह लाँग (काँछ) लगाती हैं, उस तरह प्राचीन कालमें साड़ी पहनी जाती थी या नहीं। द्रौपदीके वस्त्र-हरणके समय यदि इस तरहकी लाँग होती तो वह किसी प्रकारसे साड़ी खिँच जानेकी शङ्का न होने देती। इस अनुमानसे जान पड़ता है कि काँछ लगानेकी रीति न रही होगी। काँछकी कल्पना "स्त्रियोंका विवाह मौञ्जी-बन्धनकी जगह है"—इसीसे निकली है। दक्षिणमें विवाहित स्त्रियाँ ही काँछ लगाती हैं। वहाँ क्वाँरियोंमें काँछ न लगानेकी रीति अब भी देखी जाती है।

ग़रीब और काम करनेवाली स्त्रियोंमें उत्तरीय धारण करनेकी रीति महाभारतके समय न थी। द्रौपदीने जिस समय सैरन्ध्रीके वेशमें विराट नगरीमें जाकर रानी सुदेष्णाकी नौकरी कर ली, उस समय वह रानीके आगे एक-वस्त्रा खड़ी रही। 'वासश्च परिधायैकं कृष्णा सुमलिनं महत्।' काम करनेका पेशा होनेके कारण मैला-कुचैला एक ही लम्बासा कपड़ा काम करनेवाली स्त्रियाँ पहनती थीं। मासिक-धर्मकी अवस्थामें अथवा घरका कामकाज करते समय अन्य स्त्रियाँ भी साधारण तौर पर उत्तरीय न लेती थीं। बाहर जाते समय उत्तरीय वस्त्र सिरसे ओढ़ लिया जाता था। दाक्षिणात्य स्त्रियाँ घरसे बाहर निकलते समय जो सिरको ज़रासा लुगड़ेसे ढँक लेती हैं, वह भी उत्तरीयकी अवशिष्ट प्रथा ही जान पड़ती है। (संयुक्त-प्रान्त इत्यादिकी ओर तो सिर सदा ही ढँका रहता है।) यह उत्तरीय बहुधा रङ्गीन होता था और उस पर तरह तरहकी आकृतियाँ कढ़ी रहनेसे क़ीमती होता था। विधवाओंके लिये सिर्फ़ सादा सफ़ेद उत्तरीय धारण करनेका नियम था। धृतराष्ट्रसे जब उसकी विधवा बहुएँ वनमें मिलने गईं तो उनका वर्णन और स्त्रियोंसे भिन्न "शुक्लोत्तरीया नरराजपत्न्यः" शब्दों द्वारा किया गया है। दुर्योधनकी विधवा भार्याएँ सफ़ेद उत्तरीय ओढ़े हुए थीं; इससे अनुमान होता है कि अन्य स्त्रियोंके उत्तरीय रङ्गीन रहे होंगे। इस सम्बन्धमें प्राचीन और वर्तमान पद्धतिमें बहुत कुछ फ़र्क़ पड़ गया है। महाभारतकालीन नियम यह देख पड़ता है कि विधवाओंका वस्त्र सफ़ेद रङ्गका होना चाहिए और सौभाग्यवतियोंको रङ्गीन वस्त्र पहनना चाहिए। इस समय कुछ प्रान्तोंमें विधवा स्त्रियोंके वस्त्रका विशेष रङ्ग लाल देख पड़ता है। यह रङ्ग बहुत करके संन्यासिनियोंके रक्त-पटका अनुकरण होगा। गुजरातियोंमें विधवाओंके वस्त्रको रङ्गत काली होती है। यह वस्त्र बहुत ही सादा और मटियल काले रङ्गसे रँगा होता है। फिर भी निरा सफ़ेद कपड़ा (दक्षिणमें) बहुधा व्यवहृत नहीं होता। आजकल जो यह नियम है कि स्त्रियोंका वस्त्र किनारेदार होना चाहिए, सो यही बात प्राचीन समयमें भी रही होगी। कमसे कम इन वस्त्रों पर तरह तरहके चित्र कढ़े होते थे। कालिदासकी उक्ति 'वधू दुकूलं कलहंस-लक्षणम्' की यहाँ याद आती है।

स्त्रियोंकी केश-रचना।

स्त्रियोंके मस्तकके लिये किसी तरहका भिन्न आच्छादन न था जैसा कि

अँगरेज़-रमणियोंका है। हाँ, स्त्रियोंके केश खुले हुए इधर उधर न पड़े रहते थे। वे या तो साड़ीके छोर या उत्तरीयके भीतर रहते थे। पारसी ललनाओंकी तरह मस्तकके बाल सदा कपड़ेसे बँधे न रहते थे। तथापि समस्त लोगोंकी तरह यह नियम भारती आर्योंमें भी था कि स्त्रियोंके सिरके खुले बालों पर समाजमें सबकी नज़र न पड़े; इस कारण मस्तकको वस्त्रके छोर या उत्तरीयसे ढँकनेकी रीति भारती आर्योंमें थी। स्त्रियोंके केशोंकी रचनाका नाम सीमन्त था। सीमन्त यानी केशोंकी माँग। सौभाग्यवती स्त्रियाँ ही माँग निकालती थीं; विधवा स्त्रियाँ ऐसा न करती थीं। अनेक स्थानों पर इस तरहका वर्णन है। आश्रमवासी पर्वमें दुर्योधनकी विधवा स्त्रियोंका जो "एतास्तु सीमान्तशिरोरुहा याः" वर्णन है उसे टीकाकारने भी ग़लत कहा है; और यह कहा है कि इसके बदले 'एतास्त्वसीमन्तशिरोरुहा याः' पाठ होना चाहिए। महाभारतके समय विधवाओंको माँग काढ़नेका अधिकार न था। कई लड़ाइयोंके समयका यह वर्णन मिलता है।

संहारे सर्वतो जाते पृथिव्यां शोकसम्भवे।
बह्वीनामुत्तमस्त्रीणां सीमन्तोद्धरणे तथा॥
(शल्य पर्व २१)

"जहाँ पर भयङ्कर संहार हुआ वहीं अनेक उत्तम स्त्रियोंका सीमन्तोद्धरण हो गया।" इस वर्णनसे विधवाओंका मुख्य लक्षण सीमन्त या माँगका न होना देख पड़ता है। पानीपतकी लड़ाईके वर्णनमें लिखा है कि एक लाख चूड़ियाँ फूट गईं, अर्थात् आजकल विधवा होनेका मुख्य लक्षण चूड़ी फोड़ना समझा जाता है। इसी तरह महाभारतके समय विधवाओंकी मुख्य पहचान थी—सीमन्तका न होना। इस लक्षणसे यह नहीं माना जा सकता कि प्राचीन कालमें विधवाओंका सिर मुँड़ा दिया जाता था। यहाँ पर तो सिर्फ़ सीमन्तका उद्धरण विवक्षित है। सिर मुँड़ानेका अर्थ यहाँ विवक्षित माननेके लिए स्थान नहीं है। धृतराष्ट्रकी विधवा बहुओंका जो वर्णन है उसमें उनके केश मौजूद हैं। इससे, कमसे कम क्षत्रिय विधवाओंके तो सिर न मुँड़ाये जाते थे। ऐसा अनुमान होता है कि सिर मुँड़ानेकी चाल, संन्यासिनियोंके अनुकरणसे—उनके लाल कपड़ेकी तरह—पड़ी होगी। अस्तु, विधवाओंका सीमान्त न था—अर्थात् उनके केश, बिना कङ्घी किये, वैसे ही बाँध लेनेकी रीति रही होगी। महाभारतके समय सौभाग्यवती स्त्रियोंके बालोंको भली भाँति कङ्घीसे झाड़कर, बीचमें माँगके ज़रिए दो भाग करके, जूड़ा बाँधनेकी रीति थी। वेणी या तो एक होती थी या तीन। रामायणमें सीताका वर्णन एक-वेणीधरा किया गया है। अर्थात् जिसका पति दूर हो उसके केशोंकी इस ढङ्गकी एक वेणीका वर्णन किया जाता था। और और स्त्रियोंकी तीन वेणियाँ होतीं जो कि पीठ पर पड़ी रहती होंगी। मारवाड़ियोंमें यह चाल अबतक देख पड़ती है। जान पड़ता है कि ग़रीब मज़दूर स्त्रियोंमें वेणी बाँधनेकी रीति प्राचीन समयमें न होगी। द्रौपदीने जिस समय सैरन्ध्रीका वेष धारण किया, उस समय केशोंको सिर्फ़ इकट्ठा करके एक ओर गाँठ लगाकर दाहिने ओर उसके छिपा लेनेका वर्णन है।

ततः केशान्समुत्क्षिप्य वेल्लिताग्राननिन्दितान्। कृष्णान्सूक्ष्मान्मृदून्दीर्घान्समुद्ग्रथ्य शुचिस्मिता॥ जुगूहे दक्षिणे पार्श्वे मृदूनसितलोचना॥ (विराट पर्व अ० ६)

इसमें जो 'जुगूहे' शब्द है उससे सन्देह

होता है कि उन केशों पर उसने रूमाल या कपड़ेका टुकड़ा लपेटकर बालोंको छिपा लिया। अपने सुन्दर केशोंको छिपानेके लिए उसने यह युक्ति की होगी। साधारण रीति पर स्त्रियोंके केश पीठ पर लटकते होंगे। सौभाग्यवती स्त्रियोंकी केश-रचनाके सम्बन्धमें यही मालूम होता है। इस सीमन्त या माँगके बीच केशर अथवा कुङ्कुम भरनेकी चाल थी। इसके सिवा यद्यपि स्त्रियोंके ललाट पर कुङ्कुम लगानेकी रीतिका वर्णन अथवा उल्लेख न हो तो भी महाभारतके समय सौभाग्यवती स्त्रियोंमें कुङ्कुम लगानेकी चाल अवश्य रही होगी। उद्योग पर्वमें वर्णन है कि पाण्डव और श्रीकृष्णके भाषणके समय द्रौपदीने अपने भौंरारे काले, सुवासित केश हाथमें लेकर श्रीकृष्णको दिखलाये। इससे प्रश्न होता कि इन बालोंकी वेणी बाँधी गई थी या नहीं: परन्तु बहुत करके उसके केश खुले हुए न होंगे। 'केशपक्ष' शब्दसे बँधे हुए केश लिये जा सकते हैं।

पुरुषोंकी पगड़ी।

पुरुषोंके मस्तकके केश शिखाबद्ध होते थे और बाहर आते-जाते समय मस्तक पर पगड़ी पहननेकी रीति देख पड़ती है। भारती आर्योंकी पगड़ी उनका विशेष चिह्न था: और कल्पना होती है कि एक लम्बा और कम चौड़ा वस्त्र सिरसे लपेट लिया जाता होगा। यही पगड़ी होगी। युद्धके लिए प्रस्थित भीष्म और द्रोणका जो वर्णन किया गया है, उसमें सिर पर सफ़ेद पगड़ी पहननेका उल्लेख है। पगड़ीके लिए उष्णीष शब्द व्यवहृत है। उदाहरणार्थ यह वर्णन देखिए—"द्रोणाचार्यजी सफ़ेद कवच, वस्त्र और शिरोवेष्टण (उष्णीष) धारणकर धनुपका टंकार करते थे।"

("उष्णीषे परिगृहीतां माद्रीपुत्रावुभौ तथा।
(अनु० अ० १६८-१४)

इसमें भीष्मकी दो पगड़ियोंका उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि सफ़ेद पगड़ी बुड्ढे आदमी ख़ास तौर पर पहनते थे। यही नहीं, बल्कि कवचके भी सफ़ेद होनेका वर्णन है। अर्थात् तरुण लोग सफ़ेदसे भिन्न कोई रङ्गीन पोशाक पहनते थे। यूनानियोंका ध्यान भारती आर्योंके विशेष शिरोभूषण पगड़ी पर गया था। यह पगड़ी अन्य देशवालोंसे निराली होती थी। यूनानी ग्रन्थकार अरायनने लिखा है—"हिन्दुस्थानी लोग एक कपड़ा कमरके आसपास घुटनोंके नीचे एँड़ीतक पहनते हैं और एक और कपड़ा लिये रहते हैं, इसीको सिरमें लपेट लेते हैं।" इस वर्णनमें पगड़ी और उत्तरीय एक ही मालूम पड़ता है। परन्तु यह कल्पना बहुत करके ग़लत है। कदाचित् ग़रीब लोग इस तरह सिरको लपेट लेते होंगे। यह तो आजकल भी देखा जाता है कि धोती या दुपट्टा ही सिर पर लपेट लेते हैं। किन्तु साधारण तौर पर इसमें शरीर खुला रहता है। सम्पन्न लोगोंमें पगड़ी और उत्तरीय अलग अलग रहे होंगे। एक और यूनानी इतिहास-लेखक हिन्दुस्तानियोंका वर्णन करते हुए लिखता है—"हिन्दुस्तानी लोग एक सूक्ष्म वस्त्र अपने पैरोंतक पहनते हैं और अपने सिरमें सूती कपड़ा लपेटते हैं तथा पैरोंमें जूता पहनते हैं।" सिरमें लपेटी हुई पगड़ी बहुत करके सादे आकारकी होगी और उसे हर एक मनुष्य अपने हाथसे यों ही लपेट लेता होगा। आजकल पगड़ी बाँधना जैसा मुश्किल काम है, वैसा उस ज़मानेमें न होगा। मामूली रीति आजकल भी यही है कि ग़रीब लोग अपने ही हाथसे या तो पगड़ी लपेट लेते हैं या

साफ़ा बाँध लेते हैं । हाँ, राजाओंके मस्तक पर पगड़ी या साफ़े न थे । उनके मस्तक पर सदैव मुकुटका होना साहजिक है । जिस समय भीम और दुर्योधनका गदा-युद्ध हुआ, उस समय उन दोनोंके मस्तक पर मुकुट होनेका वर्णन है । और मालूम पड़ता है कि युद्धमें इस मुकुट पर भी प्रहार होते होंगे । दुर्योधन जब नीचे गिर गया तब उसका मुकुट हिलातक नहीं, यह आश्चर्यकी बात है । बहुत करके मुकुटको खूब जमाकर बैठानेकी कुछ न कुछ व्यवस्था होगी । या तो सिरके नीचे वह पट्टेसे बँधा रहता होगा या और कोई इन्तज़ाम होगा । नीचे पड़े हुए दुर्योधनके माथेके मुकुटमें भीमने लात मारी थी । इस वर्णनसे मुकुटके बँधे रहनेका ख़याल होता है । इसी तरह अर्जुन और कर्णके युद्ध-वर्णनमें भी लिखा है कि अर्जुनके माथेका मुकुट जब नीचे गिर पड़ा, तब उसने 'अपने सफ़ेद कपड़ेको लपेटकर केशोंको छिपा लिया ।' (कर्ण० अ० ६०) इससे महाभारतके समयका यह रवाज देख पड़ता है कि प्रत्येक मनुष्यके सिरमें लपेटा हुआ वस्त्र—पगड़ी या साफ़ा—अवश्य रहना होगा ।

सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े ।

साधारण रीतिसे ओढ़ने, पहनने और सिरमें लपेटनेके लिए ये कपड़े सूती होंगे । उस समय हिन्दुस्तानमें कपासकी फ़सल होती थी और मिश्र अथवा पर्शिया देशमें उसकी फ़सल न होती थी । यह बात स्थानान्तरमें लिखी जायगी । अर्थात् यूनानियोंको यह पोशाक देखकर बड़ा अचरज हुआ । ये कपड़े होते भी खूब महीन थे । परन्तु धनिक लोग और ख़ास-कर स्त्रियाँ रेशमी कपड़े पहनती थीं । महाभारतमें स्त्रियोंका वर्णन **पीनकौशेय-वासिनी** बार बार आता है । श्रीकृष्णके वर्णनमें भी पीताम्बर यानी रेशमी वस्त्र पहने रहनेका वर्णन कहीं कहीं मिलता है । जिस समय अर्जुन पहलेपहल सुभद्राको इन्द्रप्रस्थमें ले आये, उस समय उसे लाल रेशमी कपड़ा पहनाया गया था और इस पोशाकमें वह गोपकन्यासी जँचती थी ।

सुभद्रां त्वरयामास रक्तकौशेयवासि-नीम् । पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वागोपा-लिका वपुः ॥

(आ० अ० २२१-१६)

इससे देख पड़ता है कि गोपोंके वस्त्र और लोगोंसे कुछ जुदा रहे होंगे और उनकी स्त्रियोंकी साड़ी पहननेकी रीति भी कुछ और ही तरहकी होगी । महाभारतसे जान पड़ता है कि लोग ऊनी कपड़े भी पहनते थे । उत्तरमें पञ्जाब और काश्मीर-के ठण्ढे प्रदेशमें ओढ़ने, पहनने या सिरसे लपेटनेके लिये ऊनी कपड़े यदि व्यवहार-में लाये जाते थे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है । उस समय भी सूक्ष्म कंबल-वस्त्रोंके लिए पञ्जाब और काश्मीर प्रसिद्ध थे । यह निर्विवाद है कि सूती कपड़े इनसे भी महीन होते थे । "सानूनं बृहती गौरी सूक्ष्मकंबलवासिनी" (क० अ० ४४ श्लो० १६) इस वाक्यसे स्पष्ट देख पड़ता है कि पञ्जाबमें महीन ऊनी कपड़े पहने जाते थे । इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रान्तोंकी आबहवा-के अनुसार हिन्दुस्थानमें सूती और ऊनी कपड़े पहने जाते थे । रेशमी वस्त्रोंका व्यवहार तो सभी स्थानोंमें रहा होगा ।

वल्कल ।

इसके सिवा वस्त्रोंके और भी कुछ भेद थे । ये वस्त्र वल्कल और अजिन थे । इनको वैखानस, योगी अथवा अरण्य-में रहनेवाले मुनि और उनकी पत्नियाँ

पहनती थीं। जब राम और सीता वनवासके लिये तैयार हुए, तब उनको पहननेके लिये, कुश नामक घासके बने हुए वल्कल दिये गये। यह वर्णन रामायणमें है। सीता कुश-चीर पहनना न जानती थी। जब वह इस कामकी उलझनमें पड़ी, तब रामचन्द्रने उसके कौशेय वस्त्रके ऊपरसे ही गलेमें कुश-चीर बाँध दिया। यह मनोवेधक वर्णन रामायणमें है। महाभारतमें जब पाण्डव वनवासके लिये निकले तब उनके अजिनोंके उत्तरीय धारण करनेका वर्णन है।

ततः परं जिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम्॥

यहाँ पर पहननेके वस्त्र बदलनेका वर्णन नहीं है। अजिन बहुत करके मृगचर्मसे ही बनाये जाते होंगे। द्रौपदीका वस्त्र अच्छा ही था। उसने और कोई भिन्न वस्त्र नहीं पहना। मुनियोंकी स्त्रियाँ और मुनि भी कुश-चीर या वल्कल पहना करते थे। इसका वर्णन सैंकड़ों स्थानों पर है। यह बतलाना कठिन है कि वल्कल बनाये किस चीजसे जाते थे। रामायणसे तो यही मालूम होता है कि वे कुश-तृणोंसे बनाये जाते थे। किन्तु अब यह प्रश्न सहज ही होता है कि घासके वस्त्र कैसे होंगे। पर इसमें सन्देह नहीं कि कुश-तृणोंके वस्त्र बनाये जाते थे। धृतराष्ट्र जब वानप्रस्थ होकर वनवासके लिए निकले तब वे अजिन और वल्कल वस्त्र धारण करके गये थे।

अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिनसंवृतः।
वधूजनवृतो राजा निर्ययौ भवनात्ततः॥
(आश्रम० अ० २५)

इस वर्णनमें अजिन और वल्कल दोनोंका उल्लेख है। जान पड़ता है कि वल्कल पहनने और अजिन ओढ़नेके काम आता था। पूर्व समयमें केवल कुछ ऋषि, वानप्रस्थ और वैखानस ही अजिनको ओढ़ते थे, बल्कि ब्रह्मचारी भी उसे ही ओढ़ते होंगे। क्योंकि अभीतक यज्ञोपवीत-संस्कारमें लड़केको अजिनके बदले मृगचर्मका एक छोटासा टुकड़ा जनेऊके साथ पहनना पड़ता है। अजिन मृगचर्मके होते हैं और हो सकते हैं। परन्तु यह नहीं कह सकते कि वल्कल किस चीज़से तैयार किये जाते थे। रामायणमें कुश-चीरका वर्णन है। किन्तु कुश-तृणका धोतीकी तरह वस्त्र क्योंकर तैयार किया जा सकेगा? इस दिक्कतके कारण कुछ लोगोंने कहा है कि हिमालयमें उत्पन्न होनेवाले इक प्रकारके पेड़की छालसे वल्कल बनाये जाते हैं। इस छालका चौड़ासा पट्टा निकाला जाता था और उसमें जोड़ भी लग सकता था। किन्तु छालके वस्त्रका उल्लेख न तो रामायणमें है और न महाभारतमें। फिर भी महाभारतमें और संस्कृतके सैंकड़ों प्राचीन ग्रन्थोंमें वल्कलोंका उल्लेख बराबर मिलता है और इस प्रकारके वस्त्रोंका उपयोग प्राचीन कालमें निःसन्देह होता था। आजकल तो कहीं वल्कलोंका उपयोग होता नहीं देखा जाता और न ऐसे वस्त्रोंको किसीने देखा ही है। इतना होने पर भी अन्य प्रमाणोंसे यह निश्चित है कि प्राचीन कालमें वल्कलोंका उपयोग होता था और यह भी निश्चित है कि वे कुश-तृणोंसे ही बनाये जाते थे। आद्य यूनानी इतिहास-लेखक हिरोडोटसने लिखा है कि—"वनमें रहनेवाले हिन्दुस्थानी लोग एक प्रकारकी घास (जैसे मूँज) से तैयार किये हुए वस्त्र पहनते हैं। इस घासको नदीसे काट लाने पर कूटा जाता है और तब दरीकी तरह वह बुनी जाती है। इस तरह मोटी दरीकी तरह बनाये हुए कपड़ेको वे बगडी (कार्सेट)

की तरह पहनते हैं।" इस वर्णनसे प्रकट है कि ये वस्त्र निरी धोतियोंकी तरह न होते थे; तथापि यह निःसन्देह है कि वे वे शरीरमें चारों ओर लपेटे जा सकते थे। इसी कारण वनमें रहनेवाले मुनि और उनकी पत्नियाँ भी इन वस्त्रोंका उपयोग करती थीं। यह ठीक है कि उनका उपयोग समाजमें जाने लायक न था और न उनका उपयोग शोभाके लिए होता था।

शान्ति पर्वके २८८वें अध्यायमें भिन्न भिन्न वस्त्रोंके नाम एक श्लोकमें आये हैं। वह श्लोक यह है—

क्षौमं च कुशचीरं च कौशेयं वल्कलानि च।
आविकं चर्म च समं यस्य स्यान्मुक्त एव सः॥

इनमें क्षौम, कौशेय और आविक गृहस्थोंके वस्त्र हैं और कुशचीर, वल्कल तथा चर्म वानप्रस्थों या तपस्वियोंके हैं। टीकाकारने क्षौमका अर्थ अतसी सूत्रमय किया है। परन्तु क्षौम तो कपासका महीन वस्त्र देख पड़ता है। कौशेय = रेशमी और आविक = ऊनी प्रसिद्ध है। कुश-चीर कुश-तृणका होता है, पर वल्कल काहेका है? चर्म केवल हिरन आदिका चमड़ा है। ऊपरवाले श्लोकसे सन्देह होता है कि कुश-चीरका उल्लेख रामायणकी तरह महाभारतमें भी है। और वल्कल कदाचित् भूर्जकी छालसे भी बनाये जाते हों।

पादत्राण।

हिन्दुस्थानी लोग बहुत करके यूनानियोंकी तरह वैसा जूता पहनते थे जैसा दक्षिण और मद्रास आदिमें इस समय भी पहना जाता है। इसमें सिर्फ़ तला ही तला है, ऊपर अँगूठा आदि फँसानेके लिए कुछ फन्देसे हैं और वहाँ इसका नाम 'वहाणा' है। वे लकड़ीके भी होते थे। रामने भरतको जो पादुकाएँ (खड़ाऊँ) दी थीं वे कुश-तृणकी थीं। इससे जान पड़ता है कि वनवासी मुनियोंकी प्रायः सभी चीज़ें बहुत करके कुश-तृणकी होती थीं। आसन, वस्त्र और खड़ाऊँ आदि कुश-तृणकी बन सकती हैं। ये सारी वस्तुएँ सहज ही और बिना खर्चके तैयार हो जाती हैं। अरायन नामक यूनानी इतिहासकारने 'वाहण' (जूते) का वर्णन खूब किया है। "हिन्दुस्थानी लोग सफ़ेद चमड़ेके बने हुए वाहण* (जूते) पहनते हैं। उन पर तरह तरहका काम किया होता है और उनके तले खूब मोटे होते हैं।" अब यह समझनेके लिए कोई उपाय नहीं है कि इन जूतोंका आकार या बनावट कैसी होती थी। बहुत करके पैर ऊपरसे खुला रहता होगा और प्राचीन यूनानी तथा रोमन लोग जिस तरहका जूता पहनते थे (यह पुतलियोंमें देखा जाता है) उसी तरहका यहाँ भी रहा होगा।

पुरुषकी चोटी।

अब यह देखना है कि जनतामें सिर पर बाल, और डाढ़ी-मूँछ, रखनेकी कैसी और क्या परिपाटी थी। ब्राह्मण लोग बहुत करके डाढ़ी-मूँछ रखकर मुँड़ा डालते होंगे और सिरके भी बाल साफ़ कराकर सिर्फ़ थोड़ीसी शिखा रखते होंगे। इस सम्बन्धमें साफ़ साफ़ वर्णन ध्यानमें नहीं आते। ऋषियोंके सम्बन्धमें सदा उनके मस्तक पर जटा होनेका वर्णन पाया जाता है। किन्तु डाढ़ीके सम्बन्धमें कुछ पता नहीं लगता। परन्तु जब कि ये ऋषि अथवा तपश्चर्या करनेवाले लोग सिरके बाल न मुँड़वाते थे, तब वे डाढ़ी-मूँछ भी रखते ही होंगे। किसी तरह डाढ़ी-मूँछ बनानेके लिए नाईका उनसे

* जेरपाई।

हर्षतक न होता होगा। महाभारतमें नापितोंका उल्लेख है। नख-निकृन्तन अथवा नहरनीका उल्लेख उपनिषदोंमें भी मिलता है। तब यह निर्विवाद है कि बाल बनानेका पेशा करनेवाले नाई लोग प्राचीन कालमें भी थे। नापितका उल्लेख कर्ण-शल्यके भाषणमें है। अनुमानसे जान पड़ता है कि राजा लोग सिरके बाल न मुँड़ाते थे। सिरके बाल न बनवानेकी रीति क्षत्रियोंमें अब भी देखी जाती है। कारण यह बतलाया जाता है कि सिरके बाल बनवाते समय राजाकी चोटी नाईके हाथमें आ जाती है। यह कारण हो चाहे न हो; पर राजाओंमें सिरके बाल न बनवानेकी रीति अब भी—या कमसे कम इस समय तक थी और वह प्राचीन समयमें भी रही होगी; क्योंकि रामचन्द्रने वनवासको जाते समय गङ्गाके तट पर अपने और लक्ष्मणके केशोंकी जटा चटपट, सिर्फ़ बरगदका दूध लगाकर, बना ली। यदि मस्तक पर बाल खूब लम्बे लम्बे बढ़े हुए न होते तो तुरन्त उसी समय जटाएँ कैसे बन सकती थीं। किन्तु राजाओंके डाढ़ी रखनेके सम्बन्धमें सन्देह ही है। शिवाजीकी डाढ़ी तो प्रसिद्ध ही है। मालूम होता है कि मस्तकके बालोंकी भाँति बहुत करके भारती आर्य क्षत्रिय डाढ़ी भी रखते होंगे। मुँड़ानेकी रीति तो संन्यासियोंकी थी। सारी खोपड़ी और डाढ़ी-मूँछ घुटानेका व्रत संन्यासियोंको पालना पड़ता था। किन्तु मालूम नहीं, वे ऐसा किस लिए करते थे। संन्यासियोंका यही लक्षण बौद्ध संन्यासियों या भिक्षुओंने भी अङ्गीकार कर लिया और जैन संन्यासी लोग सारा सिर मुँड़ाते थे; और प्राचीन समयके ऋषि तथा ब्राह्मण खोपड़ी और डाढ़ी-मूँछके सभी बाल रखे रहते थे। गृहस्थाश्रमी लोग डाढ़ी मुँड़ाकर शिखा रखते थे। क्षत्रिय लोग मस्तक और डाढ़ी-मूँछके बाल रखते थे। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वैश्यों और शूद्रोंमें कौन रीति थी। सुन्दोपसुन्द राक्षसोंके विषयमें यह वर्णन है—"ततस्तु तौ जटा भित्वा मौलिनौ संबभूवतुः" (आ० अ० २०९; २९) इससे प्रतीत होता है कि तप करते समय जटाएँ बढ़ा ली जाती थीं और तप पूर्ण हो चुकने पर गृहस्थाश्रममें सिर पर चोटी रखनेका साधारण रीतिके सब वर्णोंमें रवाज था। इस पूरे वर्णनको कुछ सहारा यूनानी ग्रन्थकारोंके वर्णनसे भी मिलता है। महाभारतके वर्णन उपन्यासोंकी भाँति विस्तृत और बहुतही बारीकीसे नहीं लिखे गये हैं, अतएव इस सम्बन्धमें निश्चयात्मक पूर्ण तथ्य बतलाना कठिन है सही; फिर भी समकालीन यूनानी ग्रन्थकारोंके लेखोंसे बहुत कुछ खुलासा हो जाता है। यूनानी इतिहासकार अरायन स्पष्ट कहता है कि हिन्दुस्तानियोंके डाढ़ी होती है और उसे वे रँगते भी हैं। वह कहता है—"कुछ लोग डाढ़ीको सफ़ेद रँगते हैं, इससे वे सफ़ेद ही सफ़ेद दिखाई देते हैं। अर्थात् पैरोंसे लेकर सिरतक बिलकुल सफ़ेद! (सफ़ेद धोतियाँ पहनने और ओढ़नेकी रीतिका वर्णन हुआ ही है और सफ़ेद पगड़ीका उल्लेख भी हो चुका है।) कुछ लोग नीली डाढ़ी रँगते हैं। कुछ लोग लाल डाढ़ी रँगते हैं और कुछ लोग हरी।" डाढ़ीको तरह तरहके रँगोंसे रँगनेकी रीति अब भी देखी जाती है। संयुक्त-प्रदेश और पञ्जाबकी ओर कुछ लोगोंकी, ख़ासकर मुसल्मानोंकी, डाढ़ी रँगी हुई होती है। समस्त वर्णनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि क्षत्रियों,

और ब्राह्मणोंके भी, गृहस्थाश्रमतकमें, महाभारतके समय डाढ़ी रही होगी। सिरके बालोंके सम्बन्धमें अरायनने तो उल्लेख नहीं किया, किन्तु कर्टिअस रूफस नामक इतिहासकारने किया है। वह लिखता है—"हिन्दुस्तानी लोग अपने सिरके बाल कङ्घीसे झाड़ते हैं, परन्तु कुछ थोड़ेसे लोग उन्हें मुँड़ाते भी हैं। डाढ़ीके बाल वे कभी नहीं बनवाते। किन्तु मुँह परके बाल बनवाते हैं जिससे चेहरा मुलायम रहता है।" (मेक्किंडल-कृत सिकन्दरकी चढ़ाईका वर्णन)। इस वर्णनसे देख पड़ता है कि बहुधा सिरके बाल बनवानेका रवाज न था। और यह इतिहासकार यद्यपि डाढ़ीके सम्बन्धमें उस रवाजको नहीं बतलाता तथापि वह भी रहा होगा। जो लोग सिरके बाल बनवाते थे वे डाढ़ी भी न रखते होंगे। मूँछें तो सभी रखते होंगे।

आजकल अग्निहोत्री लोग डाढ़ी-मूँछ साफ़ मुँड़ाये रहते हैं। इसी तरह प्राचीन समयमें यह नियम रहा होगा कि गृहस्थाश्रमीको डाढ़ी-मूँछ बनवा देना चाहिए। सिर पर चोटी, चतुर्थ आश्रमको छोड़कर अन्य आश्रमवाले सब लोग रखते होंगे। शिखाका उल्लेख महाभारतमें अनेक स्थलों पर है। मुसलमानी धर्मने डाढ़ी रखना ज़रूरी माना है और उसने जो सिर पर चोटीका नाम-निशानतक न रखनेका रवाज चलाया है और जो आजकल हिन्दूधर्मकी कल्पनाके बिलकुल विरुद्ध है, वह हज़रत मुहम्मदका ही चलाया नहीं मालूम होता। द्रोण पर्व (अ० १२०) में यह श्लोक है—

दस्यूनां स शिरस्त्राणैः शिरोभिर्लूनमूर्धजैः।
दीर्घकूर्चैर्महीं कीर्णां विबर्हैरण्डजैरिव॥

इससे मालूम होता है कि काम्बोज आदि उत्तर ओरके म्लेच्छ सिर मुँड़ाकर डाढ़ी रखते थे। अर्थात् म्लेच्छोंकी यह बहुत पुरानी चाल है। महाभारतके समय क्षत्रिय लोग बहुधा सिरके बाल और श्मश्रु रखते थे और अन्य लोग साधारण रीतिसे चोटी रखकर सिरके शेष बाल तथा श्मश्रु मुँड़ा देते थे। सनातनधर्मी और बौद्ध संन्यासी सभी मूँड़ मुँड़ाये सफाचट रहते थे; और तपस्वी वैखानस आदि वनमें रहनेवाले लोग सब बाल बढ़ाये रहते थे। इसीसे यूनानियोंका लिखा हुआ विवरण क्षत्रियों और तपस्वियोंके लिये विशेषतासे उपयुक्त मानना पड़ता है।

पोशाककी सादगी।

उपर्युक्त वर्णनसे सिद्ध है कि महाभारतके समय हिन्दुस्तानी आर्य लोग पोशाकके सम्बन्धमें बिलकुल सादे थे; और उनके वर्तमान वंशधर जिस प्रकारसे घरके भीतर या देहातमें कपड़े पहने आजकल देखे जाते हैं, वही हाल उस ज़मानेमें पोशाकका था। आजकल हिन्दुस्तानमें उच्च श्रेणीके लोग जो पोशाक पहनते हैं वह हिन्दुस्तानके बाहरकी है। यह यूनानी, पर्शियन, मुसलमान और इधर अँगरेज़ लोगोंसे ली गई है। ख़ासकर मुसलमानोंकी और उससे भी अधिक अँगरेज़ोंकी नक़ल है। सातवीं शताब्दीमें चीनी यात्री हुएनत्सांग हिन्दुस्तानमें आया था। उस समय यहाँवालोंके जो आचार और रीति-रवाज थे, उनको उसने बड़ी बारीकीसे लिखा है। उसने पोशाकके सम्बन्धमें लिखा है—"यहाँके लोगोंके, घरमें पहने जाने और समाजमें पहने जानेके कपड़ोंमें सिलाईका काम ज़रा भी नहीं है। रङ्गोंके सम्बन्धमें देखो तो खूब साफ़ सफ़ेद रङ्गका विशेष आदर है; और अत्यधिक भिन्न रङ्गोंमें रँगना इन लोगों-

को बिलकुल पसन्द नहीं। मर्द कमरके आसपास एक लम्बा वस्त्र लपेटते हैं और कन्धे पर दूसरा वस्त्र रखकर दाहिने कन्धेको खुला रखते हैं। स्त्रियाँ एक लम्बी साड़ी इस तरह पहनती हैं कि कन्धोंसे लेकर पैरोंतक सारा शरीर छिपा रहता है और वह कुशादा लिपटी रहती है। सिरके बालोंकी चोटी बाँधकर बाकी केश लटकाये रहते हैं। कुछ लोग मूँछें या तो बिलकुल मुँडवा लेते हैं या भिन्न भिन्न रीतियोंसे रखते हैं।" इस वर्णनसे जान पड़ता है कि अँगरखे, कुरते, सलूके, पैजामे आदि कपड़े मुसलमानी ज़मानेमें इस देशमें आये होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि ग़रीब और अमीर, राजा और रङ्क सभी धोतियोंका उपयोग करते थे; परन्तु उनमें अन्तर बढ़िया बारीक सूत-पोत और मोटे-झोटे कपड़ेका था। अथवा धनवानोंके वस्त्र रेशमी या ऊनी होते थे और ग़रीबोंके मामूली सूती। भिन्न भिन्न जातियों और पेशोंवाले लोग तरह तरहसे यही पोशाक पहनते थे, या फिर उनकी कुछ ख़ास पहचान पोशाक या अलङ्कारमें रहती थी। जिस समय विराटके घर पाण्डव लोग तरह तरहकी पोशाक पहनकर भिन्न भिन्न कामों पर नौकर हुए, उस समयका प्रत्येकका वर्णन ऐसा है। युधिष्ठिर, ब्राह्मणकी पोशाक अर्थात् खूब साफ़ सफेद धोती ओढ़े और बगलमें गोटें और पासे लिये हुए द्रुपदके आगे आये। भीम रसोइया बनकर, काली रँगी हुई धोती पहने और चमचा, पलटा, तथा छुरी लिये हाज़िर हुआ; द्रौपदी एक ही मैला वस्त्र पहने अपने केशोंमें गाँठ लगाकर और एक कपड़ेके नीचे दाहिनी ओर छिपाये सैरन्ध्रीकी हैसियतसे सुदेष्णाके आगे आई। अर्जुनने बृहन्नलाकी पोशाक पहनी थी। यानी स्त्रियोंके गहने पहनकर उसने कानोंमें कुण्डल पहने थे। कलाइयों तथा भुजाओंमें शंखके गहने पहने थे और सिरके बालोंको कन्धे पर खोल दिया था। सहदेवने ग्वालेका वेष धारण किया था। किन्तु उसका विशेष वर्णन नहीं है; और चाबुक-सवार बने हुए नकुलकी पोशाकका भी वर्णन नहीं है। उसके हाथमें सिर्फ़ चाबुक होनेका उल्लेख है। विवाहके समय सुभद्राने गोप-कन्याका वेश धारण किया था, यह पहले लिखा जा चुका है। इन भिन्न भिन्न वर्णनोंसे ज्ञात होता है कि वस्त्रोंके रङ्ग और पहननेकी अलग अलग रीतियाँ ही पेशे या जातिकी सूचक रही होंगी। इसके अतिरिक्त उनके अलङ्कार और हाथोंके उपकरण भी पेशेके सूचक होंगे।

अलङ्कार।

भारती आर्योंकी पोशाक जितनी सादी थी, उनके अलङ्कार उतने ही भिन्न भिन्न रूपके और कीमती थे। उनकी पोशाककी सादगीका जैसा वर्णन यूनानी लोगोंने किया है वैसे ही उनके अलङ्कारोंके शौकका भी वर्णन यूनानी इतिहासकारोंने किया है। महाभारतके समय पुरुष और स्त्री दोनोंको ही गहने पहननेका बेढब शौक था। और उस समय हिन्दुस्तानमें सोने, मोती और रत्नोंकी जैसी समृद्धि थी, उसका विचार करने पर हिन्दुस्तानियोंके गहने पहननेके शौक पर कुछ आश्चर्य नहीं होता। सामान्य श्रेणीके लोग सोने-चाँदीके गहने पहनते थे। यही नहीं, बल्कि सुनहले गहनोंसे गाय, हाथी और घोड़ेको भी सिङ्गारते थे। परन्तु धनवान लोग ख़ासकर राजा और ताल्लुक़दार तथा उनकी अङ्गनाएँ मोतियों, रत्नों और हीरे आदिके

जड़ाऊ गहने पहनती थीं। हिन्दुस्तानमें विपुलतासे उपजनेवाले मोतियोंको मिल्टनने जङ्गली मोती कहा है; और यूनानी इतिहासकारने कहा है कि हिन्दुस्तानियोंने सारी दुनियाकी अभिरुचि बिगाड़ दी है—लोगोंको मोतियोंके लिए बेहद कीमत देना सिखलाया है। अस्तु; अब देखना है कि महाभारतके समय किस किस प्रकारके गहनोंका उपयोग स्त्री-पुरुष करते थे।

राजा लोग, रत्नोंसे जड़े हुए सोनेके मुकुट मस्तक पर धारण करते थे। निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि ये मुकुट किस तरहके होते थे। फिर भी यह अन्दाज है कि वे पाश्चात्य मुकुटोंकी तरह न होंगे, बलिक वैसे होंगे जैसे कि इस समय भी मुकुटोंके चित्र बनाये जाते हैं। मुकुट मस्तक भरके लिये होगा और ऊपर गावदुम होना होगा। कर्ण पर्वमें अर्जुनके किरीटका वर्णन है। उससे प्रकट है कि वह सोनेका, मोतियों और हीरोंसे जड़ा हुआ, कामदार तथा बहुत बढ़िया बनावटका था। धारण करनेवालेको वह सुखदायी था। इससे जान पड़ता है कि उसके भीतर मुलायम तह होगी। इसके सिवा राजा लोग कानोंमें हीरेके कुण्डल पहनते थे। इन कुण्डलोंका आकार गोल होगा। गलेमें पहननेके लिए मोतियों और रत्नोंके हार थे। भुजाओंमें पहननेके लिए केयूर या अङ्गद थे। मालूम होता है कि ये अङ्गद सारी बाँहको छिपा लेते थे। धनी लोग पहुँचेमें कड़े और पहुँची पहनते थे। स्त्रियोंके गहने भी इसी प्रकारके होते थे, पर होते थे खूब कीमती। स्त्रियोंके लिये किरीट या मुकुट न था। राजाओंकी स्त्रियोंके मुकुट तो नहीं परन्तु माथे पर बाँधनेके लिए एक पट्ट अथवा सोनेकी तङ्ग जड़ाऊ पट्टी होती थी। और इसी कारण राजाकी प्रधान स्त्रीको पटरानी कहनेका रवाज था। इसके अतिरिक्त स्त्रियोंके मुख्य भूषण कमरमें पहननेके लिये काञ्ची या रशना और पैरोंके लिये नूपुर थे। कानोंके लिये कुण्डल और बाहुओंके लिये केयूर थे ही। यह तो प्रकट है कि स्त्रियोंके कुण्डल और केयूरोंकी बनावट पुरुषोंके केयूर-कुण्डलोंसे भिन्न होती थी, किन्तु स्त्रियोंके इन आभूषणोंका नाम केयूर और कुण्डल ही था। रामायणका यह श्लोक प्रसिद्ध है—

केयूरे नाभिजानामि नाभिजानामि कुण्डले। नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

"सीताके कानोंके कुण्डलों और बाहुओंके केयूरोंको मैं नहीं पहचानता; हाँ, पैरोंके नूपुरोंको भली भाँति पहचानता हूँ। क्योंकि मैं नित्य चरणोंकी ही वन्दना किया करता था।" इस श्लोकमें यह लक्ष्मणकी उक्ति है। इस उदाहरणसे निश्चित है कि कानों और बाहुओंके स्त्रियोंके आभूषणोंका नाम केयूर-कुण्डल ही था। स्त्रियोंके गलेमें तरह तरहके हार पड़े रहते थे और ये हार नाभितक लम्बे होते थे। कमरमें पहननेका पट्टा (करधनी) कड़ा नहीं, डोरीकी तरह लचीला होगा। क्योंकि इस रशनाके लिये 'दाम' अथवा 'सूत्र' शब्द प्रयुक्त देख पड़ते हैं। यूनानियोंकी स्त्रियोंके कमर-पट्टेका जैसा वर्णन है, वैसी अथवा वर्तमानकालीन महाराष्ट्रीय महिलाओंके कमरबन्दकी तरह, यह रशना न थी। प्राचीन रशना तो वैसी होगी जैसी कि मारवाड़ी स्त्रियाँ तागड़ी पहनती हैं; अथवा वैसी होगी जैसी कि भिन्न भिन्न प्राचीन मन्दिरोंमें पाई जानेवाली स्त्रियोंकी मूर्तियोंकी कमरमें देख पड़ती है। रशनादामका उपयोग

कपड़े सँभालनेके लिए नहीं, निरी शोभाके लिए होना होगा। अब, नहीं कह सकते कि पैरोंके नूपुर किस प्रकारके थे। उनकी बनावट दक्षिणी स्त्रियोंके तोड़ोंकी सी तो मानी नहीं जा सकती; क्योंकि नूपुरोंकी रुमझुम ध्वनिका वर्णन अनेक काव्योंमें है। तब वे लच्छोंकी तरह होंगे। इसके अतिरिक्त पैरोंके ऊपरका भाग बहुत कुछ उनसे छिप जाता होगा। फिर लक्ष्मणके लिये उनकी पहचान बनी रहना सम्भव नहीं। उल्लिखित वर्णनके साथ, प्राचीन कालकी यूनानी स्त्रियोंके होमर-लिखित-वर्णनमें भी बहुत कुछ समता देख पड़ती है। क्योंकि कमरपट्टा, गलेका हार, कान छेदकर उनमें पहने हुए भूषण और बाहुओंके भूषण बहुत कुछ एकहीसे हैं। हाँ, पैरोंमें नूपुर पहननेका वर्णन होमरने नहीं किया। पश्चिमी देशोंमें ठण्ढकी विशेषता होनेके कारण सारे पैर ढँके रहनेकी रीति रही होगी और इससे पैरोंके भूषणोंका उल्लेख न होगा।

यहाँपर यह भी कह देना चाहिए कि आजकल हिन्दुस्तानमें समस्त सौभाग्यवती स्त्रियाँ नाकमें जो भूषण—नथ पहनती हैं, उसका भारत या रामायणमें उल्लेख होनेका स्मरण नहीं। नहीं कह सकते, कदाचित् कहीं उल्लेख हो। किन्तु उल्लेख न होनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि महाभारतके समय नथ थी ही नहीं; क्योंकि जहाँ उल्लेख होनेकी ही शर्त हो वहाँ उल्लेखके न होनेका महत्त्व है। यह बात हम कई जगह लिख चुके हैं। दूसरे, महाभारतमें, स्त्रियोंके समग्र आभूषणोंका वर्णन कहीं नहीं है। उपन्यासोंकी तरह स्त्री-पुरुषोंका रत्ती रत्ती वर्णन महाभारतमें नहीं पाया जाता। अतएव, यह नहीं माना जा सकता कि प्राचीन समयमें नथ नामक आभूषण था ही नहीं। नथ पहननेकी रीति प्रायः हिन्दुओंमें ही है और यह शब्द भी 'नव-मौक्तिक' से निकला हुआ जान पड़ता है। अर्थात् यह शब्द यहींका है; तब यह भूषण भी भारती आर्योंका ही होना चाहिए। यही बात अर्वाचीन समयके अन्य भूषणोंकी भी समझनी चाहिए।

महाभारतमें आभूषणोंका जो वर्णन है, उसकी पुष्टिके लिए यूनानियोंके लेखोंका बहुत कुछ आधार मिलता है। इतिहासकार कर्टिअस रूफसने लिखा है कि "कानोंमें रत्नोंके लटकते हुए गहने पहननेकी रीति हिन्दुस्तानियोंमें है; और उच्च श्रेणीके अथवा धनवान् लोग अपने बाहुओं और कलाइयोंमें सोनेके कङ्कण पहनते हैं।" इतिहास-कार स्ट्रेबो लिखता है कि "हिन्दुस्तानियोंकी वस्त्र-प्रावरण आदि बातोंमें यद्यपि बहुत ही सादगी है, तथापि उन्हें गहने पहननेका बेढब शौक है। वे सुनहले कलाबत्तूके कामके कपड़े और रत्नोंके गहने पहनते हैं। ऐसे महीन कपड़े (चिकन) पहनते हैं जिन पर फूल कढ़े होते हैं।"

आसन।

अब अन्तमें यह देखना है कि महाभारतके समय नाना प्रकारके आसनोंका कैसा उपयोग होता था। यह तो स्पष्ट बात है कि उस समय आजकलकी कुर्सियाँ न थीं। किन्तु प्राचीन कालमें मनुष्य सदा धरती पर न बैठते थे। महाभारतमें आसनोंका बहुत कुछ वर्णन है। ये आसन (पीठ) चौकोर चौकियोंकी तरह होते थे जिन पर हाथीदाँत और सोनेकी नक्काशी की होती थी। राजा और उनकी रानियाँ मञ्चक या पलंग पर बैठती थीं और ये पर्यङ्क, पीठोंकी अपेक्षा लम्बे होते थे। श्रीकृष्ण जब कौरवोंकी

सभामें गये तब "तत्र जाम्बूनदमयं पर्यङ्कं सुपरिष्कृतम् । विविधास्तरणास्तीर्णमभ्युपाविशदच्युतः ॥" यह वर्णन है (उद्योग० अ० १०६)। इन पर्यङ्कों पर गद्दे पड़े रहते थे और उन पर सफ़ेद चाँदनियाँ बिछी रहती थीं। टिकनेके लिये तकिये भी रहते थे। द्रौपदीके स्वयम्वरके समय भिन्न भिन्न मञ्चकों पर राजाओंके बैठनेका वर्णन है। इन मञ्चकों पर भी बेशक़ीमती, बड़े बड़े बिछौने बिछे थे। आजकल इस ढङ्गके पर्यङ्क बैठनेके काममें नहीं आते: इस कारण उनकी ठीक ठीक कल्पना भी नहीं की जा सकती। तथापि बङ्गाल और युक्तप्रदेशकी ओर बड़े बड़े तख़्तों पर गद्दे बिछाकर बैठनेकी रीति अब भी है। इसके सिवा रियासतोंमें जिस जगह सरकारी गद्दी होती है, वहाँ इस प्रकारके पर्यङ्क बिछाये जाते हैं। राजाओंके बैठनेके लिये सिंहासन रहनेका भी वर्णन है। यह सिंहासन एक चौकी ही है। परन्तु यह सोने या रत्नोंसे भूषित होता था। चारों पायोंमें सिंहके नक़ली चेहरे लगे होते थे और उन पर गद्दी होती थी। चीनी यात्री हुएनसांगने वर्णन किया है कि—"राजाओंके सिंहासन बहुत ऊँचे, पर तङ्ग होते हैं: और उनमें छोटे मोतियोंकी झालर लगी होती है। सिंहासनके पास, रत्नोंसे भूषित पादपीठ होता है, अर्थात् पैर रखनेके लिए छोटी-सी चौकी होती है।" राजा लोग सोनेकी पालकीमें बैठकर इधर उधर विचरते और इन पालकियोंको मनुष्य कन्धे पर रखकर ले चलते थे: इसीसे इनको नरवाहन कहा गया है। सप्तर्षियों और नहुषकी कथामें ऐसा ही नरवाहन है। इससे ज्ञात होता है कि बहुधा राजा लोग ही इस वाहन से काम लेते थे। इस कारण ये पालकियाँ सोनेसे मढ़ी और रत्नोंसे सुशोभित की जाती थीं। शेष वाहनोंका विचार अन्य स्थानमें किया जायगा।

इस प्रकार महाभारतसे और तत्कालीन यूनानी लेखकोंके लिखित वर्णनोंसे हमें भारती आर्योंके वस्त्रों और आभूषणोंके सम्बन्धमें कुछ कुछ बातें मालूम होती हैं।

(३) रीति-रवाज।

भारती आर्योंके सम्बन्धमें अबतक जो बातें लिखी गई हैं, उनसे मालूम होगा कि भारती-युद्धके समय हिन्दुस्थानमें बाहरसे आये हुए आर्योंके साथ यहाँके रहनेवाले नाग आदि अनार्योंका पूरा पूरा मेल न होने पाया था। भारती-समयमें यह मेल हुआ। और, महाभारतके समय भारती आर्यों तथा अनार्योंका एक समाज बन गया था: तथा भिन्न भिन्न जातियाँ प्रेमसे एक स्थान पर रहने लगी थीं। उनके शादी-ब्याहमें आर्य और अनार्य दोनों रीतियोंका मिश्रण हो गया था। इसी प्रमाणसे उनके शील और रीतियोंमें दोनों जातिवालोंका मिश्रण होकर महाभारतके समय दोनों जातियोंका एकजीव हो गया था। पाश्चात्य आर्य यूनानियोंके साथ जिस समय हिन्दुस्तानमें आये, उस समय उन्हें यहाँ किसी रीतिसे भिन्न भाव नहीं देख पड़ा। और, उन्होंने भारती आर्योंका जो वर्णन किया है, उसमें आर्य-अनार्यका भेद-भाव ज़रा भी नहीं दिखलाया। महाभारतमें भी आर्य-अनार्यका भेद ख़ासकर जातिका नहीं, भले-बुरेका है। फिर भी ध्यान देनेकी बात यह है कि वह शब्द अब भी जातिवाचक था। तथापि लोगोंके शील और रीतियोंका विचार करते समय ऐसा भेद करनेकी हमें आवश्यकता नहीं।

वेशस्त्रियाँ।

पहली बात यह है कि भारती समाज

में स्त्री-पुरुषोंका आचरण एक दूसरेके सम्बन्धमें बहुत ही अच्छा था। स्त्रियोंको पातिव्रत धर्मका उत्तम रीतिसे पालन करनेकी आदत पड़ गई थी और पुरुष भी स्त्रियोंके सम्बन्धमें अपना व्रत पूर्णतया पालनेके लिए तत्पर और उद्यत रहते थे। स्त्रियाँ अथवा पुरुष, इस व्रतका उल्लङ्घन करें तो दोनोंके ही लिए एकसा पातक माना जाता था। यह सारे भारती-समाजकी रीति थी। इसके लिए एक ही अपवाद यह था कि राजा और धनी लोगोंकी अनेक स्त्रियाँ तो होती ही थीं; परन्तु इनके अतिरिक्त, इन लोगोंमें वेशस्त्रियोंको रखनेकी भी रीति थी। इस सम्बन्धमें कहा जा सकेगा कि वेशस्त्रियाँ कुछ वेश्या न थीं, ऐसी रखेली थीं जो कि एक ही पुरुषकी होकर रहती थीं; और इस कारण, परिवारमें उनका मान विवाहित स्त्रियोंसे कुछ ही उतरकर था। अज्ञातवाससे प्रकट होने पर युधिष्ठिरने हस्तिनापुरके स्वजनोंको, सन्धिकी चर्चा करनेके लिए आए हुए सञ्जयके हाथ, भिन्न भिन्न लोगोंके लिए कुशल-प्रश्नके सँदेसे भेजे। उनमें अपने कर्तव्यके अनुसार, अपने बड़े-बूढ़ों और बन्धुओंकी वेशस्त्रियोंको भी कुशल-मङ्गलका सन्देश भेजकर, उनके सम्बन्धमें, युधिष्ठिरने अपना आदर व्यक्त किया है। युधिष्ठिरने उनका बहुत ही मार्मिक वर्णन इन शब्दोंमें किया है:—

अलङ्कृता वस्त्रवत्यः सुगन्धा अबीभत्साः सुखिता भोगवत्यः। लघु यासां दर्शनं वाक् चलाघ्वी वेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः॥ (उद्योग० अ० ३०)

"अलङ्कार पहने, अच्छे अच्छे वस्त्र पहने और नाना प्रकारके सुवास लगाये, सुखमें बढ़ी हुई परन्तु मर्यादाशील रहनेवाली, सब प्रकारके उपभोग भोगनेवाली उन वेशस्त्रियोंसे, मेरी ओरसे, कुशल पूछना कि जिनका रूप और भाषण सुन्दर है।" इस वर्णनसे प्रकट होता है कि वे स्त्रियाँ मर्यादाशील थीं और युधिष्ठिरके लिये आदरणीय भी थीं। प्राचीन-समयमें राजाओंके दरबारमें, प्रत्येक शुभ अवसर पर, वेशस्त्रियोंका गान आदि होता था। इसके लिये राज-दरबारमें इस ढंगकी स्त्रियोंकी ज़रूरत रहती थी। हिन्दुस्तानके राजाओंका यह आचरण, जनताके सरल व्यवहारके मुकाबलेमें, यूनानियोंको आश्चर्यकारक जँचा। उन्होंने लिखा है—"राजाओंका ऐश-आराम या वैभव (उनके कहनेके अनुसार) इतना बढ़ गया है कि पृथ्वी भरमें उसका जोड़ नहीं। और यह ऐश-आराम बिलकुल खुले-खज़ाने होता है; क्योंकि राजा जहाँ जाता है वहाँ उसके साथ सोनेकी पालकीमें बैठी हुई वेशस्त्रियोंकी क़तारकी क़तार रहती है। अन्तर यह होता है कि जलसमें इनकी श्रेणी, रानीके समुदायसे, कुछ हटकर चलती है।" इसमें सन्देह नहीं कि दरबारमें रहनेवाली वेशस्त्रियोंका राजाओंके बर्ताव पर कुछ न कुछ बुरा परिणाम होना ही चाहिए। क्योंकि दरबारके अनेक शुभ प्रसङ्गों पर उनका दर्शन होना प्रकट ही है। तथापि, यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकेगी कि कुटुम्बकी स्त्रियोंकी प्रभुता सदैव रहती होगी; और ये वेशस्त्रियाँ केवल दरबारी ठाठके ही काम आती होंगी।

द्यूत।

हिन्दुस्तानी क्षत्रियोंका दूसरा दोष था उनका द्यूतसे प्रेम। प्राचीन कालके जर्मन लोग जिस तरह मद्य पीने और द्यूत खेलनेमें आसक्त रहा करते थे, उसी तरह भारती आर्य क्षत्रिय द्यूत खेलनेके बेहद शौक़ीन थे। उनमें यह शौक़ इतना

बढ़ा-चढ़ा हुआ था कि यदि कोई द्यूत खेलनेके लिये क्षत्रियोंको बुलावे और वह इन्कार कर दे तो यह काम क्षत्रियोंको अपमानकारक जँचता था। इसी कल्पना-के कारण युधिष्ठिरको द्यूत खेलनेके लिये विवश होना पड़ा; और फिर आगे चल-कर उन्होंने उसमें प्रवीणता प्राप्त करनेका भी यत्न किया। मद्य और द्यूत दोनों व्यसनोंसे बचनेके लिये नारदने युधिष्ठिर-को सचेत किया है। श्रीकृष्णने भी युधि-ष्ठिरको समझाया है कि द्यूतसे दुहरा अनर्थ होता है—एक तो कलह होता है, दूसरे मुफ़्तमें द्रव्य स्वाहा हो जाता है। भारती युद्धके समय यह दोष अधिकतासे था और युधिष्ठिरकी तरह बलराम भी ख़ासे जुआरी थे। महाभारत-कालमें यह व्यसन क्षत्रियोंमें बच रहा होगा और उसकी दुम तो अबतक देखी जाती है। और तो और, प्राचीन कालमें, क्षत्रियोंकी सङ्गतिसे द्यूत खेलनेवाले ब्राह्मण भी थे। क्योंकि वेदमें भी एक द्यूतकारका सूक्त है। और युधिष्ठिर ब्राह्मण होकर ही विराट राजाका द्यूतकार रहा था।

शुद्ध आचरण।

इन दो अपवादोंको छोड़कर, सारे भारती आर्यसमाजका आचरण शुद्ध और सरल था। यूनानियोंने भी यह बात लिख रखी है। उन्होंने लिखा है कि हिन्दुस्तान-के लोग समस्त व्यवहारमें अत्यन्त सच्चे और सत्यवक्ता होते हैं। हुएनसांगने लिखा है कि हिन्दुस्तानी लोगोंका आच-रण स्वभावसे ही शुद्ध और सादा है। इसके लिये उन पर कोई ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं करता। समग्र हिन्दुस्तानकी सत्य-प्रियताके सम्बन्धमें यूनानियोंतकने साक्षी लिख रखी है। अर्थात् महाभारतके समय भी हिन्दुस्तानियोंमें प्राचीन भारती आर्यों-की ही तरह सत्यप्रियता स्थिर थी। भारती आर्य आचरणमें भी साफ़ थे और उनका प्रातः स्नान आदि आचार भी शुद्ध था। रोज़ हाथ-पैर धोकर भोजन करनेके लिये जानेकी उनमें रीति थी। भोजनमें बचा हुआ अन्न फिर किसीको परोसनेके काम न आता था। रसोईके बर्तन सदा माँज धोकर साफ़ रखे जाते थे। और यदि मिट्टीके बर्तन होते तो फेंक दिये जाते थे। नहा चुकने पर कोई किसीको छूता न था; और पेशाब-पाख़ानेको जाने पर स्नान करनेकी रीति थी। रोज़ धोया हुआ कपड़ा पहना जाता था।" इत्यादि बातें हुएनसांगने लिखी हैं। सारांश, स्वच्छ रहनेकी भारती आर्योंकी रीति बहुत प्राचीन कालकी है।

स्पष्टोक्ति।

भारती आर्योंमें सत्यवादिताकी तरह एक प्रशंसनीय गुण साफ़ बात कह देना भी है। महाभारतके समग्र स्त्री-पुरुष जिस तरह सत्य बोलते हैं, उसी तरह खुलकर स्पष्ट भाषण करनेमें भी वे आगा-पीछा नहीं करते। भिन्न भिन्न भाषणोंके अवसरों पर यह स्पष्टवादिता देख पड़ती है। सारांश यह कि दूसरेकी व्यर्थ झूठी स्तुति करके, हाँजी हाँजी करनेका दुर्गुण भारती आर्योंमें न था।

बड़ोंका आदर।

भारती आर्योंमें, समस्त जन-समाजमें, बड़ोंका आदर करना महत्त्वका लक्षण था। प्राचीन कालमें यह रीति थी कि रोज़ तड़के उठकर छोटे, बड़ोंको नम-स्कार-प्रणाम करते थे। बड़ोंकी आज्ञाको शिरसावन्द्य करना छोटोंका कर्तव्य था। युधिष्ठिर बड़े भाई थे, इस कारण उनकी आज्ञाका पालन छोटे भाई जिस तरह करते थे, उसका वर्णन सभापर्वमें द्यूतके

अवसर पर बहुत ही साफ़ है। द्रौपदीकी दुर्दशा देखकर भीमसेन इतने अधिक क्रुद्ध हुए जितने कि युधिष्ठिरके अपने आपको अथवा भाइयोंको दाँव पर लगाकर द्यूतमें हार जानेसे भी न हुए थे। भीमसेन इतने नाराज़ हुए कि युधिष्ठिरका हाथ जला डालने पर उतारू हो गये। तब अर्जुनने उन्हें यह कहकर शान्त किया कि ये साक्षात् बड़े भाई और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं; इनकी अमर्यादा करना ठीक नहीं (स० अ० ६८)। भीष्मने भी अपने पिता पर भक्ति, ज़िन्दगी भर क्वाँरे रहनेका प्रण करके, व्यक्त की। भीष्मकी पितृभक्तिके विषयमें यहाँ थोड़ासा कुछ और विवेचन कर देना ठीक होगा।

भीष्मकी पितृभक्ति।

भीष्मके चरित्रमें वह महाप्रतिज्ञा ही बड़ी उदात्त बात है। यह प्रतिज्ञा उन्होंने पिताके सम्बन्धमें की थी। इस प्रतिज्ञासे हमारे आगे इस स्थितिका चित्र आ जाता है कि महाभारतके समय पिताके लिए पुत्र क्या करनेको तैयार हो जाते थे। रामने भी पिताके लिए उनके वनकी और पूर्व-प्रदत्त वचनकी सत्यता-रक्षाके लिए राज्य त्यागकर वनवास स्वीकार किया; किन्तु वह चौदह वर्षके ही लिये था। भीष्मने अपने पिताको सुख देनेके लिए, केवटके निकट यह प्रतिज्ञा की कि मैं ज़िन्दगी भर न तो विवाह करूँगा और न राज्य करूँगा। "ऐसी प्रतिज्ञा न तो पहले कभी किसीने की है और न अब आगे कोई करेगा।" (आ० अ० १००) *सारांश यह कि सत्यवतीकी सन्तानको* राज्यके सम्बन्धमें उससे जो आशङ्का हो सकती, उसे जड़ समेत नष्ट कर दिया। इतना ही नहीं, बल्कि अपनी भावी सन्तानसे भी उसकी सन्तानके निडर रहनेके लिए उन्होंने विवाह न करके, आजन्म ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी **भीष्म-प्रतिज्ञा** की; और उसे उन्होंने अन्ततक निबाहा। भीष्मके इस आचरणसे कुछ कल्पना हो सकेगी कि प्राचीन समयमें साधारण रीति पर पुत्रका पिताके प्रति क्या कर्तव्य समझा जाता था। भीष्मका आचरण अत्यन्त उदात्त है। उसकी छाया न केवल समस्त महाभारत पर ही, किन्तु हिन्दुस्तानके भावी समाज पर भी पड़ी हुई देख पड़ती है। भीष्म और राम आदिका आचरण आज हज़ारों वर्षसे हिन्दूसमाजके हृत्पटल पर अङ्कित है; और हिन्दुस्तानी पिता-पुत्रका सम्बन्ध, हिन्दुस्तानके पति-पत्नीके सम्बन्धकी ही भाँति, अत्यन्त उदात्त और पवित्र है। परन्तु इधर कुछ लोगोंकी कुत्सित कल्पनाओंसे भीष्मके इस त्यागको गौणता प्राप्त होना चाहती है। वास्तवमें यह बड़ी हानिकारक बात है। यह भी कह सकते हैं कि भीष्मके चरित्रको ओछा दिखलानेका यह प्रयत्न पागलोंका सा है। कुछ आक्षेपकारियोंकी यह दलील है कि भीष्मको स्वयं सन्तान उत्पन्न करके तेजस्वी प्रजा उत्पन्न करनी चाहिए थी; उन्होंने बुड्ढे शन्तनुको विवाह कर लेने दिया, जिससे हीन सन्तान उपजी और इस कारण भारती युद्धसे हिन्दुस्तानको अत्यधिक हानि पहुँचाई। परन्तु स्वदेश-प्रेमसे उपजी हुई यह दलील, दूसरी ओरसे स्वदेशकी हानि करके, पिता-पुत्रके बीच हमारी उदात्त कल्पनाका नाश कर रही है; यह बात उनके ध्यानमें नहीं आती। यह *दलील ग़लत* भी है, सही नहीं। क्या यह बात सच है कि भीष्मके तेजस्वी सन्तान ज़रूर ही होती? अभी इस प्रश्न पर अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। महाभारतमें ही कहा गया है—

"रणशूर और रण-प्रिय भीष्मको, सन्तान होनेके पहले ही, रणमें ही मृत्यु प्राप्त न हो जाती, इसका क्या भरोसा ?" और तो और, भीष्मकी सन्तान उत्पन्न होकर अल्प अवस्थामें ही न मर जाती, इसका भी क्या प्रमाण? होनहारकी बातोंके सम्बन्धमें कोई निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकता। इसके सिवा, और भी एक जवाब है। शन्तनु यद्यपि वृद्ध था, तथापि वह कुछ ऐसा निकम्मा बुड्ढा न था। यह कैसे कहा जा सकता है कि उसकी सन्तान निर्बल होगी ? इसके सिवा, धृतराष्ट्र और पाण्डु कुछ विचित्र-वीर्यके बेटे न थे। वे तो तपोबल-सम्पन्न महर्षि वेदव्यासकी सन्तान थे और ज़रा भी निर्बल न थे। पाण्डव और कौरव भी वीर्यवान् थे। उनका नाश तो सिर्फ़ एक-के हठसे हुआ। दुर्योधन, कैसरकी तरह, तेजस्वी और राजनीतिमें खूब निपुण था। किन्तु अपार महत्त्वाकांक्षा ही दोनोंके नाश करनेके लिये कारणीभूत हुई है। मनुष्यमें ऐसे दुर्गुणका उपजना ईश्वरी इच्छाका एक खेल है। इसमें माता-पिताके अपराधों अथवा भूलोंका कोई कारण नहीं होता। भीष्मकी प्रतिज्ञाकी सी एक बात भारती क्षत्रियोंके भावी इतिहासमें हो गई है। उदयपुरके अत्युच्च क्षत्रिय घरानेमें लखमराणा नामका एक राणा हो गया है। इसके भीष्मकी तरह तेजस्वी और पितृभक्त एक पुत्र था। नाम उसका चन्द था। एक बार इसके लिए एक राजकुमारीका फलदान आया। उस समय चन्द शिकारके लिए गया था। क्षत्रियोंकी रीतिके अनुसार कन्या-पक्षका पुरोहित जो नारियल लाया था उसे भूलसे उसने राजाके आगे रख दिया। तब, राजाने कहा—"बुड्ढेके आगे यह नारियल क्यों रखते हो ?" इस बातसे, राजपुत्र चन्दको उस कुमारीका नारियल ग्रहण कर लेना ठीक न जँचा। उसने कहा—जो लड़की पिताके लिए मनोनीतसी हो गई, उसे मैं ग्रहण नहीं कर सकता। तब, पुरोहितने कहा कि यदि इसके पेटसे उत्पन्न सन्तानको राज्याधिकार दिया जाय तो इसी शर्त पर राजाको यह बेटी ब्याही जा सकती है। इस पर चन्दने अपना और अपनी सन्तानका राज्यका हक़ छोड़कर अपने पिताके ही साथ उसका विवाह करा दिया। उस राजकुमारीके जो लड़का पैदा हुआ, वही आगे उदयपुरकी राजगद्दीपर बैठा। यही नहीं, किन्तु वह अत्यन्त पराक्रमी निकला और उसका वंश भी अबतक मौजूद है। सारांश, लखमराणाके बुढ़ापेमें विवाह कर लेनेसे कुछ भी नुक़सान नहीं हुआ। चन्दके वंशका नाम आजकल चन्दावत है और उदयपुरके दरबारमें इस घरानेका प्रथम श्रेणीका सम्मान प्राप्त है; पहले जब इन्हें तिलक लगा दिया जाता है, तब पीछेसे महाराणाको। अस्तु; चन्दके इस कार्य पर ध्यान देनेसे विदित होगा कि भीष्मके अत्यन्त उदात्त चरित्रका लोगोंके आचरण पर कितना विलक्षण और उत्तम प्रभाव पड़ता है। न केवल महाभारतके ही समय, किन्तु महाभारतके पश्चात् भी हिन्दू समाजमें पिता-पुत्रका सम्बन्ध अत्यन्त उदारतापूर्ण रहा है। पिताकी आज्ञाका पालन करना और उसका परम सम्मान करना भारती लोग उत्तम पुत्रका लक्षण मानते थे; और इसी प्रकारका आचरण जेठे भाईके साथ छोटे भाई करते थे; और बड़े भाईको पिताके समान मानकर उसकी आज्ञाके अनुसार चलते थे। केवल वयसे वृद्ध और ज्ञानसे वृद्ध मनुष्यको उठकर नमस्कार करना छोटोंका कर्तव्य पूर्णतया माना जाता था। विद्वान

ब्राह्मणको राजा लोग भी मान देते थे। यह भी नियम था कि रास्तेमें ब्राह्मण-क्षत्रिय-की भेंट हो जाय तो ब्राह्मणके लिए क्षत्रिय रास्ता दे दे। महाभारतमें अनेक स्थलों पर मार्मिक उल्लेख हैं कि किसके लिए किसे रास्ता देना चाहिए—अर्थात् रास्तेसे हट जाना चाहिए। इस प्रकार, महाभारतके समय, बड़े-बूढ़ोंका आदर करनेके सम्बन्धमें समाजका बहुत ही ध्यान था।

भारतीय आर्य अपने मनोगत भावोंको व्यक्त करनेमें कुछ भी आगा-पीछा न करते थे। मनमें कुछ और, मुँहमें कुछ और, यह उनकी स्थिति न थी। मनोभावको व्यक्त करनेकी रीति कई प्रकारकी थी: और तदनुसार भारती लोग अपने विचारोंको प्रकट किया करते थे। क्रोधके आवेशमें दाँत पीसने, होंठ चबाने या हाथ मलने आदिका महाभारतमें वर्णन है। इसी प्रकार आनन्दसे एक दूसरेकी हथेली पर हथेली बजाना, सिंहनाद करना या वस्त्र उड़ाना आदि बातें महाभारतमें वर्णित हैं।

ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योन्यांश्च तलान्ददुः। सिंहनादरवं चक्रुः वासांस्यादुधुवुश्च ह॥

(क० प० अ० २३)

दुःखमें रोने या क्रोधमें क़सम खाने आदिका वर्णन महाभारतमें बराबर है। सारांश यह कि आजकलकी परिस्थितिमें जो काम कम दर्जेके लोगोंके माने जाते हैं, वे साहजिक रीतिसे छोटे-बड़े सभी लोगोंके वर्णित हैं। अर्थात् स्वतन्त्र और दृढ़ लोगोंके विचार तथा राग-द्वेष जिस प्रकार तीव्र होते हैं और वे उन्हें स्पष्ट तथा निडर भावसे व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार महाभारतके समय भारती लोग भी करते थे।

उद्योगशीलता।

महाभारतके समय समूची जनताका, किसी प्रकारसे, जगत्को निराशापूर्ण दृष्टिसे देखनेका स्वभाव न था। आजकलके हिन्दुस्तानी लोगोंमें जिस प्रकार निराशवादिताका तत्त्व फैल गया है, उस प्रकारका पुराने लोगोंका हाल न था। महाभारतमें अनेक स्थानों पर यह वाद है कि मनुष्यका दैव बलवत्तर है अथवा कर्तृत्व: और इस वादका निर्णय सदा कर्तृत्व या उद्योगके ही पक्षमें किया हुआ मिलता है। यह प्रतिपादन किया गया है कि दैव पङ्गु है, मनुष्यको अपने उद्योग पर सदा भरोसा रखना चाहिए। महाभारतके पहले पर्वके पहले अध्यायके अन्तमें महाभारतके सार रूपसे यही उपदेश दिया गया है कि मनुष्यको धर्म और उसके साथ ही उद्योग पर सदा दृष्टि रखनी चाहिए। 'धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानाम।' में सदैव उद्योग करते हुए धर्म पर श्रद्धा रखनेको कहा गया है। इसी प्रकार ध्यान देने योग्य एक वाक्य यह भी है कि महत्त्वाकांक्षा ही सम्पत्तिकी जड़ है। 'अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च' (उद्योग अ० ३९)। अनुशासन पर्वके ६ ठे अध्यायमें भीष्मसे यही सरल प्रश्न किया गया है कि "उद्योग प्रधान है या दैव?" इस पर भीष्मने उद्योगके पक्षमें निर्णय करते हुए कुछ महत्वकी बातें कही हैं। "देवता भी अपने कर्मसे उच्च स्थितिमें पहुँचे हैं। जो पुरुष यह नहीं जानता कि देना किस प्रकार चाहिए, या भोगना किस प्रकार चाहिए, अथवा उद्योग किस तरह करना चाहिए, और जो समय पर पराक्रम करना या तपश्चर्या करनेकी रीति नहीं जानता, उसे सम्पत्ति कभी न मिलेगी। जो मनुष्य बिना उद्योग किये ही दैवके भरोसे बैठा रहता

है, वह हिजड़े अथवा स्त्रीकी भाँति दुखी होता है।" ११ वें अध्यायमें एक बहुतही मज़ेदार सम्वाद है। यह सम्वाद द्रव्यकी देवी लक्ष्मी और रुक्मिणीके बीच कराया गया है। रुक्मिणीने भाग्य-देवीसे पूछा है—"तुम कहाँ रहती हो?" देवीने उत्तर दिया—

> वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे
> दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने।
> अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे
> जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे।
> नाकर्मशीले पुरुषे वसामि
> न नास्तिके सांकरिके कृतघ्ने॥

'मैं कर्तव्य-दक्ष, नित्य-उद्योगी, क्रोध न करनेवाले, देवताओंकी आराधनामें तत्पर, उपकारको माननेवाले, इन्द्रिय-निग्रही और सदा कुछ न कुछ करनेवाले पुरुषमें वास करती हूँ। जो निरुद्योगी हैं, देवताओं पर जिनकी श्रद्धा नहीं है, जो वर्ण-सङ्करकर्ता और कृतघ्न हैं—मैं उनमें नहीं रहती।'

इस वर्णनसे प्रकट है कि भारती कालमें उद्योगी मनुष्यकी प्रशंसा होती थी। परन्तु धीरे धीरे लोगोंके इस स्वभाव-में फ़र्क़ पड़ता गया; और महाभारतके समय भारती लोगोंका स्वभाव बिलकुल बदल गया। साधारण रीति पर लोग आलसी और निरुद्योगी हो गये। समग्र देशकी आब-हवा गरम और ज़मीन उप-जाऊ होनेके कारण अन्न सस्ता था। इस कारण स्वभाव बदल गया होगा। इसके सिवा सब जगह जनसंख्या बहुत बढ़ गई थी; इससे समाजके कई एक भाग बहुत ही दरिद्र हो गये। इस कारण भी इस प्रकारका स्वभाव बन सका और मनुष्य दैव पर भरोसा रखकर निरुद्योगी बन गये। महाभारतमें सौतिके समय यक्ष-प्रश्नका जो आख्यान सौतिने मिलाया है, उसके आरम्भमें इस स्थितिका उल्लेख देख पड़ता है। यक्षने पूछा है कि आनन्दी और सुखी कौन है। इस पर युधिष्ठिरका यह उत्तर है—

> पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
> अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते॥

"हे यक्ष, जो मनुष्य पाँचवें या छठे दिन निरा शाक स्वयं अपने घरमें राँधता है और जिस पर न तो क़र्ज़ है और न जिसे कहीं बाहर विदेशमें जाना-आना है, वह मनुष्य सदा आनन्द करता है।" (व० अ० ३१३) यद्यपि इसमें वर्णित तत्व सच्चा है, तथापि दारिद्र्य भोगकर भी निरुद्योग द्वारा दिन काटनेकी महाभारत-कालकी प्रवृत्ति, इस संवादसे, खूब साफ़ हो जाती है।

किन्तु महाभारत-कालके प्रथम भारती आर्य लोग बहुत आशावादी, उत्साही और उद्योगी थे; वे सत्य और स्पष्ट बोलते थे—लल्लो-चप्पो उन्हें बिलकुल न सुहाती थी। उनकी वृत्ति केवल स्वाधीन ही न थी, बल्कि और किसीसे भी वे अपनी सादी, सरल और कम खर्चसे रहनेकी पद्धतिमें हार माननेवाले न थे। क्षत्रियों अथवा राजाओंमें मद्य और द्यूतके व्यसनके सिवा और लोगोंमें व्यसन या दुर्गुण बहुधा न थे। यह बात निर्विवाद देख पड़ती है।

चोरीका अभाव।

चोरी करनेकी प्रवृत्ति भारती लोगों-में बहुत ही कम थी। मेगास्थिनीज़ने अचम्भेके साथ लिखा है—"चन्द्रगुप्तकी प्रचण्ड सेनाकी छावनीमें कोई चार लाख आदमी होंगे; परन्तु प्रतिदिन बहुत ही कम चोरियाँ होनेकी ख़बर आया करती थी। और चोरियोंका माल दो सौ ड्राम (रुपये) से अधिक मूल्यका न होता था।"

मतलब यह कि चोरी-चकारी बहुत कम होती थी और वह भी छोटी छोटी। "समस्त लोगोंमें क़ायदे-क़ानून बहुत ही कम हैं और लोग उनको पूरे तौर पर मानते हैं। यूनानियोंमें जिस तरह दस्तावेज़ पर गवाही और (सील) मोहर की जाती है, वैसी रीति इन लोगोंमें नहीं है। न्यायासनके आगे ये लोग बहुत कम अभियोग ले जाते हैं। इसका कारण यह है कि हिन्दुस्थानी लोग जिस समय रेहन रखते या क़र्ज़ देते हैं, उस समय दारमदार विश्वास पर ही रखते हैं।" समकालीन यूनानियोंने हिन्दुस्थानमें आकर आँखों-देखी जो यह गवाही लिख छोड़ी है, उससे महाभारत-कालीन हिन्दुस्तानियोंकी सचाईके विषयमें और उनकी नीतिमत्ताके सम्बन्धमें हमारे मन पर बहुत ही अच्छा असर पड़ता है। हिन्दुस्थानियोंकी वर्तमान परिस्थिति देखते हुए मानना पड़ेगा कि उनके उल्लिखित स्वभावमें बहुत कुछ अन्तर पड़ गया है। यहाँ पर अब यह ऐतिहासिक किन्तु महत्त्व-पूर्ण प्रश्न होता है कि यह अन्तर कब और कैसे पड़ा। तथापि यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना, हमारे कर्तव्यकी सीमासे बाहर है।

यहाँ पर कह देना चाहिए कि कुछ देशोंके लोगोंकी, भिन्न भिन्न गुण-दोषोंके विषयमें, महाभारतके समय भी विशेष प्रसिद्धि थी। और ऐसे भेद लोगोंके स्वभावमें भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें आजकल भी देखे जाते हैं। कर्ण पर्व (अध्याय ४५) में कर्णने शल्यकी निन्दा की है। उस भाषणमें यह श्लोक आया है—

ब्राह्मं पाञ्चालाः कौरवेयाश्च धर्म्यम्
सत्यं मत्स्याः शौरसेनाश्च यज्ञम्।
प्राच्या दासा वृषला दाक्षिणात्याः
स्तेना वाह्लीकाः सङ्करा वै सुराष्ट्राः॥

"पाञ्चाल-देशी लोग वेदाध्ययनके लिए प्रसिद्ध हैं। कुरु देशके लोग धर्माचरणके लिए प्रसिद्ध हैं। मत्स्यदेशवाले सत्यताके लिए और शूरसेनी लोग यज्ञके लिए प्रसिद्ध हैं। परन्तु प्राच्य अर्थात् मगधके लोग दास-स्वभावके होते हैं और दक्षिणवाले अधार्मिक होते हैं। पञ्जाबके यानी वाह्लीक देशके लोग चोर, और सुराष्ट्र (काठियावाड़) वालोंमें वर्णसङ्करता बहुत होती है।" इस वाक्यसे उन देशवालोंके गुण-दोषका महाभारतके समय का परिचय मिलता है। पाञ्चाल देशवालोंका वेदाध्ययन वैदिक कालसे प्रसिद्ध है और महाभारतके पश्चात् भी अहिच्छत्र (पाञ्चालोंकी राजधानी) के ब्राह्मणोंको भिन्न भिन्न देशोंमें सिर्फ़ वेद पढ़ानेके लिये, ले जानेका प्रमाण इतिहासमें मिलता है। आश्चर्यकी बात है कि अधार्मिकताके लिए दाक्षिणात्य प्रसिद्ध थे। (कदाचित् मातुल-कन्या ब्याहने और पलाण्डु-भक्षण करनेका दोष उनमें प्राचीन कालसे ही प्रसिद्ध होगा।)

शीलका महत्त्व।

यद्यपि यह बात है, तथापि महाभारत-कालमें भारती लोगोंका पूर्ण रीतिसे इस बात पर ध्यान रहता था कि हमारा शील उत्तम रहना चाहिए। उस समयका मत यह था कि ब्राह्मणमें यदि सच्छील न हो तो फिर वह ब्राह्मण ही नहीं; अर्थात् उसके साथ ब्राह्मणकासा व्यवहार न करके शूद्रकासा व्यवहार किया जाय। यक्ष-प्रश्नके निम्नलिखित श्लोक बहुत महत्त्वके हैं—

शृणु यक्ष-कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहतः॥

चतुर्वेदोपि दुर्वृत्तः सशूद्रादतिरिच्यते ।
अग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
(वन पर्व० अ० ३१३)

इस वर्णनसे देख पड़ेगा कि महाभारतके समय शुद्ध व्यवहारका कितना मूल्य था। ब्राह्मणत्वके लिए कुल, वेदाध्ययन अथवा विद्वत्ता भी कारण नहीं हैं: वृत्त अर्थात् आचरण अथवा शील ही कारण माना जाता था। चारों वेद पढ़ा हुआ ब्राह्मण भी यदि दुर्वृत्त हो तो वह शूद्रसे भी अधिक निन्द्य है। इसी प्रकार भारती आर्योंकी पूरी धारणा थी कि सम्पत्ति और ऐश्वर्यका मूल वृत्त अथवा शील ही है। शान्तिपर्वके १२४ वें अध्यायमें युधिष्ठिरने पूछा है कि लक्ष्मी किस तरह प्राप्त होती है। उस समय भीष्मने प्रह्लाद और इन्द्रके संवादका वर्णन किया है। उस संवादमें यही तत्त्व प्रतिपादित है। इस सुन्दर आख्यानमें असुरोंका पराभव करनेके लिए इन्द्रने ब्राह्मण रूपसे प्रह्लादके समीप जाकर उनका शील माँगा। प्रह्लादने जब इन्द्रको शील दिया, तब उसकी देहसे शील बाहर निकला और उसके साथ ही श्री अथवा लक्ष्मी भी बाहर हो गई। प्रह्लादने अचरजके साथ पूछा कि तू कौन है, और कहाँ जाती है। उस समय लक्ष्मीने उत्तर दिया कि "मैं श्री हूँ: जहाँ शील रहता है वहीं मैं भी रहती हूँ, और वहीं धर्म, सत्य तथा बल भी वास करते हैं। जब तुमने अपना शील इन्द्रको दे डाला, तब ये सब मेरे साथ, तुमको छोड़कर, इन्द्रकी ओर जा रहे हैं। अच्छे चालचलनकी और उससे निश्चयपूर्वक प्राप्त होनेवाले धर्म, सत्य, बल आदि ऐश्वर्यकी प्रशंसा इससे अधिक सुन्दर रीतिसे होना सम्भव नहीं।

रणमें अथवा वनमें देह-त्याग।

भारती आर्योंका सारा प्रयत्न जिस तरह उम्रभर उदार आचरणसे रहनेका होता था, उसी तरह उनकी यह भी महत्त्वाकांक्षा रहती थी कि हमें उदात्त रीतिसे मृत्यु भी प्राप्त हो। घरमें बीमार होकर किसी रोगसे बिछौने पर मरनेको ब्राह्मण-क्षत्रिय अत्यन्त दुर्दैव मानते थे।

अधर्मः सुमहानेष यच्छय्यामरणं गृहे ।
अरण्ये वा विमुच्येत संग्रामे वा तनुं नरः ॥

क्षत्रियके लिए मरनेका उचित स्थान अरण्य अथवा संग्राम है। गदा-युद्धके समय यही उत्तर दुर्योधनने पाण्डवोंको दिया था जब कि वे उसे शरणमें आनेको कह रहे थे। लड़ाईमें मरना क्षत्रियोंको एक अत्यन्त आनन्द और पुण्यका फल जँचता था। भगवद्गीतामें 'सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम' कहा गया है। लड़ाईमें मरना जिनके लिए सम्भव नहीं, वे बुढ़ापेमें घरमें काँखते हुए न बैठे रहते थे। वे तप करनेके लिए अरण्यमें चले जाते, और तपके द्वारा वहीं शरीर छोड़ देते थे। इस तरह अरण्यमें जाकर धृतराष्ट्रने देह त्याग दी और अन्तमें पाण्डवोंने भी इसी मतलबसे महाप्रस्थान किया। क्षत्रियोंकी भाँति, घरमें मर जानेको ब्राह्मण भी अभाग्य मानते थे: और जो लोग धैर्यवान् होते थे वे महाप्रस्थान द्वारा अथवा चितामें शरीरको जलाकर या पवित्र नदीमें जल-समाधि लेकर प्राण छोड़ देते थे। और लोग वनमें जाकर संन्यासी हो जाते थे और संन्यास-वृत्तिसे मरणकी प्रतीक्षा किया करते थे। ये बातें शायद हमें असम्भव मालूम हों। परन्तु यूनानी इतिहासकारोंने ऐसे प्रत्यक्ष वर्णन लिख रखे हैं। दो ब्राह्मण एथेंस शहरमें जब बीमार हुए, तब वे चिता प्रज्वलित करके उसमें आनन्दके साथ बैठ गये। सिकन्दरके साथ जो कलनस (कल्याण) नामक योगी गया

था, उसके मरणका वर्णन स्ट्रेबो ग्रन्थकारने किया है। "पसरगादी शहरमें जब वह बीमार हुआ तब उसकी उम्रमें वह पहली पहली बीमारी थी। अपनी आयुके ७३ वें वर्षमें उसने, राजाकी प्रार्थना अस्वीकार करके, देहका अन्त कर दिया। एक चिता तैयार करके उस पर सोनेका पलङ्ग रखा और उस पर आरामसे लेटकर तथा ओढ़ना ओढ़कर उसने चितामें आग लगा दी। कोई कोई यह भी कहते हैं कि उसने एक कोठरी बनवाई और उसमें लता-पत्र भर दिये; फिर उसमें आग लगा दी। वह समारम्भसे, गाजे-बाजेके साथ, वहाँ आया और चितामें कूद पड़ा। फिर वह लकड़ीकी तरह जलने लगा।" हिरोडोटसने यों वर्णन किया है—"हिन्दुस्तानी योगी किसी तरहकी हिंसा नहीं करते और न किसी प्रकारका बीज बोते हैं। वे निरी वनस्पति पर अपनी गुज़र करते हैं; और घरमें नहीं, वनमें रहते हैं। जब उनमें कोई किसी रोगसे ग्रस्त होता है तब वह जङ्गलमें एकान्तमें जाकर चुपचाप पड़ रहता है। फिर कोई ख़बर नहीं लेता कि वह मर गया अथवा जीवित है।" महाभारतमें इस प्रकार, देह-त्यागनेकी अनेक रीतियोंका वर्णन है। यही नहीं, उनकी विधि धर्मशास्त्रमें भी है। महाप्रस्थानकी विधि धर्मग्रन्थोंमें और वैदिक साहित्यमें वर्णित है। इसी प्रकार चिता-आरोहण करनेकी विधि और नदीमें जल-समाधि लेनेकी विधि भी वर्णित है। हिरोडोटसने जिस मरण-प्रकारका वर्णन किया है, वह प्रायोपवेशनकी रीति है। श्वासको रोककर प्राण छोड़ देना प्रायोपवेशन है। इस विधिसे प्राण त्यागने पर उस समय आत्म-हत्या न समझी जाती थी।

शव-संस्कार।

महाभारतमें युद्धके प्रत्येक दिन, लड़ाईमें मरे हुए वीरोंकी लोथोंकी व्यवस्था उसी दिन हो जानेका वर्णन एक दिन भी किया हुआ नहीं पाया जाता। यूरोपके महाभयङ्कर युद्धमें भी इस सम्बन्धमें जहाँतक हो सका, प्रयत्न किया गया है। किन्तु भारती युद्धमें ऐसा प्रयत्न किया हुआ नहीं देख पड़ता। उलटा यह देख पड़ता है कि लोथें खानेके लिये गीदड़ों और जङ्गली हिंस्र पशुओंको पूरा २ मौका दिया जाता था। दुर्योधन, कर्ण और द्रोण आदि महाराजों तथा महायोद्धाओंके मरने पर उनकी लोथोंको चटपट गाड़ देने या जला देनेका प्रयत्न बिलकुल नहीं किया गया। इसके लिए पूरा पूरा अवसर था और दोनों ओरसे इस कामके लिए अनुमति मिलनेमें कोई हानि न थी; फिर भी यह अचरजकी बात है कि ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गई। युद्ध समाप्त हो चुकने पर गान्धारीने रण-भूमिका जो वर्णन किया है, उसमें कहा है कि बड़े बड़े राजाओंकी लोथों और हड्डियोंको गिद्ध और गीदड़ खींच रहे हैं। विचित्र देख पड़नेवाली इस स्थितिका समुचित कारण शान्ति पर्वके ९८ वें अध्यायके एक महत्त्वपूर्ण श्लोकमें देख पड़ेगा।

अशोच्यो हि हतः शूरः स्वर्गलोके महीयते। नह्यन्नं नोदकं तस्य न स्नानंनाप्यशौचकम्। ४५

'रणमें मरे हुए शूरके लिए विलाप न करना चाहिए, और न उसे अन्न या पानी ही देना चाहिए; उसके लिए स्नान न करना चाहिए और न सूतक मानना चाहिए।" इस विचित्र श्लोकसे इस बातकी कल्पना हो सकेगी कि और तरहकी मृत्युकी अपेक्षा युद्धकी मृत्यु कितनी पुण्यकारक मानी जाती थी। और इस बातका भी कारण देख पड़ेगा कि मृतक-सम्बन्धी समस्त विधि क्यों छोड़ दी

जाती थी। अठारह दिनका युद्ध समाप्त हो जाने पर युधिष्ठिर तथा अन्य लोगोंने गङ्गा पर जाकर जो तिलाञ्जलि दी, इसका अचरज होता है। रणाङ्गण-में मरे हुए प्रसिद्ध प्रसिद्ध योद्धाओंकी लोथें खोजी जाकर जलाई गईं, ऐसा आगे वर्णन है: यह भी आश्चर्यकी बात है। मालूम नहीं होता कि द्रोण, कर्ण आदिकी लोथें कई दिनोंके बाद भी साबूत मिल गई होंगी। खैर; यह आश्चर्यकी बात नहीं कि महाभारतके समय भी युद्धमें मारे हुए वीरोंकी क्रिया हिंस्र पशु-पक्षियों-के द्वारा लोथोंको खिला देना ही था। क्योंकि यूनानी लोगोंने पञ्जाबके तक्षशिला शहरके आसपासकी इस रीतिका वर्णन किया है कि वहाँ लोथें जङ्गलमें रख दी जाती थीं, जहाँ उन्हें गिद्ध खा जाते थे। इससे ऊपरवाली वीरोंकी लोथोंकी व्यवस्था ठीक जान पड़ती है। और यह बात भी देख पड़ती है कि पञ्जाबके कुछ लोगोंमें ईरानियोंकी चाल अबतक मौजूद थी। सिन्धु नदीके पारके आर्य और इस पारके आर्य पहले किसी समय एक ही थे। पञ्जाबके आर्योंमें सुधार नहीं हुए, और गङ्गा, यमुना तथा सरस्वती-तीर पर आर्योंकी सभ्यता बहुत आगे चली गई। यह पहले देखा ही जा चुका है। इन लोगोंमें मुर्दोंको जलानेकी रीति पूर्णतया प्रचलित थी। इससे, और कुछ और पिछड़ी हुई रीतियोंके कारण, भारती आर्य पञ्जाबी लोगोंकी निन्दा कर उन्हें धर्म-बाह्य मानते थे। कुछ विशेष व्यक्ति जल-समाधि लिया करते थे, इसका उल्लेख अन्यत्र होगा।

यूनानियोंने हिन्दुस्थानियोंके मृतकोंके सम्बन्धमें और भी कुछ रीतियोंका उल्लेख किया है। "हिन्दुस्थानी लोग मृतकोंके उद्देशसे किसी प्रकारके स्मारक नहीं बनाते। उनके मतसे मृत व्यक्तियोंके सद्गुणोंकी चर्चा ही उनका बढ़िया स्मारक है। और मृत व्यक्तियोंकी स्मृति ऐसे सद्गुणोंकी स्थितिसे ही स्थिर रहती है।" यही कारण होगा जिससे प्राचीन कालकी स्मारककी इमारतें हिन्दुस्थानमें नहीं पाई जातीं। मिसर देशमें बड़े बड़े पराक्रमी राजाओंके—फिर चाहे वे सद्गुणी हों या दुर्गुणी—स्मरणार्थ बनाये हुए पिरामिड अबतक मौजूद हैं। किन्तु हिन्दुस्थानमें यह कल्पना ही न थी, इससे ऐसे मन्दिर नहीं बनाये गये। हुएनत्सांगने वर्णन किया गया है कि—"मृत व्यक्तिके अन्त्य-संस्कारके समय उसके रिश्तेदार ज़ोर ज़ोरसे रोते हैं, छाती पीटते हैं और अपने बाल नोचते हैं।" इस रीतिका अवशिष्टांश कुछ जातियोंमें विशेषतः गुजरातियोंमें देखा जाता है। मालूम होता है कि महा-भारतके समय भी इस प्रकारकी रीति रही होगी। "अशोच्यो हि हतः शूरः" श्लोकसे जान पड़ता है कि शूरके सिवा अन्य मृतकोंके सम्बन्धमें शोक करनेकी रीति महाभारतके समय भी रही होगी।

वाहन।

मुख्य मुख्य रीतियोंके विषयमें अब-तक उल्लेख हो चुका। अब कुछ और बातों पर भी ध्यान देना है। धनवान लोगोंका सबसे अधिक प्रिय वाहन हाथी था। बाणने वर्णन किया है कि राजा लोग विशेषतः हथिनी पर सवार होते थे। यूनानी इतिहासकार अरायन लिखता है—"साधारण जन समाजमें ऊँट, घोड़े और गदहे सवारीके काम आते हैं। परन्तु धनवान लोग हाथी रखते हैं: क्योंकि हाथी राजाओंका वाहन है। हाथीके बाद, बड़े लोगोंमें, चार घोड़ोंसे संयुक्त रथका मान है। ऊँटका दर्जा तीसरे नम्बर पर

है और एक घोड़ेकी गाड़ीमें बैठना तो कोई चीज़ ही नहीं।" इस अन्तिम वाक्यसे जान पड़ता है कि संयुक्त प्रदेश और पञ्जाबकी ओरके (वर्तमान) इक्के बहुत प्राचीन होंगे। ये इक्के आकारमें तो छोटे परन्तु होते रथ सरीखे ही हैं। अर्जुन, भीष्म आदि और अन्य योद्धा जिन रथोंमें बैठते थे, वे चार घोड़ोंके रथ आजकल दृग्गोचर नहीं होते। इस बातकी भी कल्पना नहीं होती कि ये चार घोड़े किस प्रकार जोते जाते थे—चारों एक ही पंक्तिमें अथवा दो आगे और दो उनके पीछे। प्राचीन कालमें रथ खिचवानेका काम गदहोंसे लिया जाता था और उन पर सवारी भी होती थी। हाँ, आजकल उनका उपयोग निषिद्ध माना गया है। आदि पर्वमें पुरोचनसे वारणावतको जानेके लिए कहा गया है कि गदहोंके रथमें बैठकर जाओ।

स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु ॥
(आदि० अ० १४३)

यहाँ टीकाकारने कहा है कि रासभ खच्चर होंगे। किन्तु यह उनकी भूल है। खच्चरके लिये तो अश्वतरी स्वतन्त्र शब्द है और इस अर्थमें वह महाभारतमें भी प्रयुक्त है। 'स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा।' (शां० अ० १४१—७०) प्राचीन कालमें पञ्जाब और ईरानमें अच्छे गदहे होते थे। टीकाकारको यह बात मालूम न थी और महाभारत तथा रामायणमें भी युधिष्ठिर और भरतको उत्तर ओरके राजाओं द्वारा गदहे भेंट किये जानेका वर्णन है। भारती युद्धके समय कदाचित् यह नियम न रहा होगा कि गदहोंको छूना न चाहिए: और पञ्जाबमें तो यह नियम अब भी नहीं है। दक्षिण ओरके देशमें गदहे अच्छे नहीं होते, इस कारण यह नियम जारी हो गया। क्योंकि एक स्थल पर महाभारतमें गदहोंको अस्पृश्य बतलाया है। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारतके समय सामानकी गाड़ियाँ खींचनेमें बैलोंका उपयोग होता था। यह वर्णन है कि अश्वत्थामाके रथके पीछे बाणोंसे भरी हुई आठ आठ बैलोंकी गाड़ियाँ जा रही थीं। अन्यत्र कहा ही गया है कि चारण और बनजारे लोग बैलोंसे लादनेका काम लेते थे। "गौर्वोढारं धावितारं तुरङ्गी"—यह प्रसिद्ध श्लोक इसी बातका द्योतक है। लादनेके काममें बैल आते थे और गौएँ दूध देती थीं, इस कारण राजा लोग गौओंके झुंड पालते थे। वनपर्वमें दुर्योधन अपनी गौओंके समुदाय देखने गया था। उसका वर्णन बहुत मनोहर है। "उसने सब गायबैलोंको चिह्नित करा दिया और बड़ी बड़ी बछियों और छोटे बछड़ोंको भी चिह्नित करा दिया। तीन वर्षकी अवस्थाके बैलोंको अलग कर दिया।" बोझ लादनेके काममें इन बैलोंका उपयोग बहुधा किया जाता था। यहाँ पर ग्वालोंने गाकर और नाचकर तथा अपनी लड़कियोंको अलङ्कार पहनाकर दुर्योधनके आगे खेल करवाये। इस वर्णनसे तत्कालीन शूद्रोंका चित्र, आजकलकी भाँति, आँखोंके आगे खड़ा हो जाता है। फिर इन गोपालोंने दुर्योधनको शिकार खिलाया।

शिकार।

शिकार खेलनेकी रीति वैसी ही वर्णित है जैसी कि आजकल हिन्दुस्तानमें प्रचलित है। चारों ओरसे हाँका करके जानवरको मैदानकी ओर आनेके लिए लाचार करनेकी रीति उस समय भी आजकलकी ही भाँति थी। किन्तु मेगास्थिनीज़ने राजाओं (चन्द्रगुप्त) के शिकार-

का वर्णन कुछ भिन्न किया है। वह यहाँ उद्धृत करने लायक़ है। "सैंकड़ों स्त्रियाँ राजाके आसपास खड़ी रहती हैं; और इस चक्र (घेरे) के बाहर हाथमें भाला लिये सिपाही तैनात रहते हैं। रास्तेमें दोनों ओर डोर बाँधकर राजाका मार्ग पृथक् किया जाता है। फिर इन डोरियोंके भीतर यदि कोई स्त्री-पुरुष आ जाय तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता है। राजाके आगे, जलूसमें, नक्कारे और घण्टे बजाते हुए सिपाही लोग चलते हैं। इस तरह ठाठके साथ राजा शिकारके लिये निकलता है। चारों ओरसे घिरी हुई जगहमें वह शिकार खेलता है और एक ऊंचे बनाये हुए मण्डप (शायद मचान) से बाण छोड़ता है। उसके साथ हथियारबन्द दो-तीन स्त्रियाँ पहरेदारिनें रहती हैं। यदि खुले मैदानमें शिकारके लिये राजा चला ही गया तो हाथी पर सवार होकर शिकार खेलता है।" कुल क्षत्रियोंको शिकारका बेहद शौक़ था; और ऐश-आराममें डूबे हुए राजातक, बड़े बन्दोबस्तके साथ, घेरी हुई जगहमें शिकार खेला करते थे।

गाना।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाभारतके समय हिन्दुस्तानी लोग गानेके शौकीन थे। और, गानेका मुख्य वाद्य वीणा था। महाभारत-प्रणेताको गानेका अच्छा ज्ञान था। नीचेवाले श्लोकसे यह बात सिद्ध होती है।

वीणेव मधुरालापा गान्धारं साधु मूर्च्छती।
अभ्यभाषत पाञ्चाली भीमसेनमनिन्दिता॥
(विराट पर्व अ० १७)

वीणाकी भाँति मधुर आलाप करती हुई द्रौपदी, गान्धार स्वरकी मूर्च्छना करती करती बोलने लगी। इसमें यह बात दर्शाई गई है कि वीणाके षड्ज स्वरमें लगे हुए तारसे गान्धार स्वर, पीछेसे, मूर्च्छनाके द्वारा निकलता है। क्षत्रियोंकी बेटियोंको गाना और नाचना दोनों कलाएँ सिखाई जाती थीं; यह बात अन्यत्र लिखी जा चुकी है। अब ऐसी रीति प्रचलित नहीं है।

पर्दा।

महाभारतके समय भारती लोगोंमें पर्देकी रीति थी या नहीं? इस प्रश्न पर अन्य स्थानमें विचार किया जा चुका है। भारती युद्धके समय क्षत्रिय लोगोंकी अथवा ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंके बीच पर्देका चलन न रहा होगा। परन्तु महाभारतके समय ऐसी स्थिति अवश्य थी। महाभारत अथवा रामायणमें और किसी अवसर पर द्रौपदी या सीताके पर्देमें रहनेका वर्णन नहीं है। यदि पर्दा होता तो द्रौपदी पर जयद्रथकी और सीता पर रावणकी नज़र ही न पड़ी होती। तथापि, महाभारत-कालके वर्णनमें यह श्लोक है—

अदृष्टपूर्वा या नार्यः पुरा देवगणैरपि।
पृथक्जनेन दृश्यन्ते तास्तदा निहतेश्वराः॥
(स्त्री पर्व अ० १०)॥

इस श्लोकसे मालूम होता है कि विधवा स्त्रियाँ बाहर निकल सकती थीं। और स्त्रियों अर्थात् सौभाग्यवती स्त्रियोंको उत्तरीय धारण करना पड़ता था। उसीमें वे अपना मुँह छिपा लेती थीं। किन्तु कालिदासके समय इससे भी बढ़कर पर्देका रवाज हो गया। उसने अपनी शकुन्तलाको उत्तरीयके अतिरिक्त एक तीसरा अवगुण्ठन अर्थात् मुसलमान स्त्रियोंकी तरह एक लम्बी चौड़ी चादर उढ़ा दी है। परन्तु महाभारतके समयका वैसा वर्णन नहीं किया गया। महाभारतकी शकुन्तला, ब्राह्मणीकी भाँति अवगुण्ठन-

रहित थी। उसके मुख पर उस समय उत्तरीय भी न था। इस वर्णनको देखिए न—

संरंभामर्ष-ताम्राक्षी स्फुरमणोष्ठसम्पुटा।
कटाक्षैर्निर्दहन्तीव तिर्यग्राजानमैक्षत ॥
(आदि० अ० ७४)

"सन्तापसे होंठ फड़काते हुए उसने राजाकी ओर लाल लाल नेत्र करके, कटाक्षसे मानों जलाते हुए, कनखियोंसे देखा।" यदि उसके मुख पर घूँघट होता तो यह वर्णन तनिक भी उपयोगी न हुआ होता। क्षत्रिय स्त्रियोंके सिवा ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र स्त्रियोंके लिए पर्दा न रहा होगा। क्योंकि साधारण पर्देका काम उत्तरीयसे ही हो जाता था।

एक और महत्त्वका अन्तर इस ओरके समयमें—कालिदासके समयमें और महाभारतके समयमें—यह देख पड़ता है कि महाभारत-कालीन स्त्रियाँ अपने पतिको, नाम लेकर, पुकारती थीं: और कालिदासके ज़मानेमें पतिको आर्य-पुत्र अर्थात् "ससुरका बेटा" कहनेका रवाज था। आजकल तो वह शब्द भी व्यवहृत नहीं होता। और तो क्या, आज-कल सभी लोगोंमें पति-पत्नी परस्पर न तो किसी नामसे सम्बोधन करते हैं और न अन्य विशेषणसे। परन्तु महाभारतमें द्रौपदी, सीता, दमयन्ती और सावित्री आदि बड़ी बड़ी पतिव्रता स्त्रियोंतकने पतिका नाम—और वह भी एकवचनान्त—लेकर पुकारा है। 'दृश्यसे दृश्यसे राजन् एष दृष्टोसि नैषध।' (वन पर्व अध्याय ६३) 'वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं यथा मृता ह्येव अहं पतिं विना।' (वन पर्व २६०) 'उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भीमसेन मृतो यथा।' (विराट पर्व १७) इत्यादि अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु महाभारतके समय भी आजकलकी रीतिका थोड़ासा उद्गम हो गया था, इस अनुमानके लिए गुञ्जाइश है। क्योंकि नीचेवाले श्लोकमें जो वर्णन है, वह अप्रशस्त व्यवहारका समझकर किया गया है।

श्वश्रूश्वशुरयोरग्रे वधूः प्रेष्यानशासत।
अन्वशासच्च भर्तारं समाहूयाभिजल्पति ॥
(शांति० २२८)

"सास और ससुरके आगे बहू नौकरों पर हुकूमत करती है और पतिको बुलाकर (आवाज़ देकर) उसके साथ भाषण करती है।" इस श्लोकमें वर्णित उद्दण्डताका आचरण महाभारतके समय भी निन्द्य माना जाने लगा था। पूर्व कालमें पुरुषों और स्त्रियों अर्थात् पति और पत्नीका सम्बन्ध, विवाहमें दोनोंके बड़े रहनेके कारण, विशेष मित्रताका और आदरयुक्त स्वाधीनताका रहा होगा। परन्तु फिर धीरे धीरे दुजायगी अधिक उत्पन्न हुई और पति अथवा पत्नीका नाम लेना सभ्यताके व्यवहारको लाँघना मान लिया गया। तथापि इस ओरके रवाजमें भी कुछ आदर है।

बाग़-बगीचे।

भारती आर्योंको महाभारतके समय बाग़-बगीचे लगानेका खासा शौक़ था। हिन्दुस्थानकी अत्यन्त उष्ण आबहवामें और निर्वृक्ष मैदानोंमें बाग़ लगाना सचमुच पुण्यका काम है: और इन बाग़ोंमें घूमनेके लिए गाँववाले स्त्री-पुरुषतक जाते थे। भारती कालमें कुछ देशोंके बाग़ प्रसिद्ध थे। अङ्ग देशके चम्पारण्य और उज्जैनके प्रियकारण्यका उल्लेख अन्य स्थानमें किया गया है। मृच्छकटिक नाटकमें ही इस बातका कुछ उल्लेख है कि बाग़ोंमें स्त्री-पुरुष घूमने जाते थे: बल्कि रामायणके अयोध्या काण्डमें भी यह वर्णन है—'नारा-

अके जनपदे उद्यानानि समागताः। सायाह्ने क्रीड़ितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः॥' सुवर्णालङ्कारोंसे भूषित लड़कियाँ सन्ध्या समय एकत्र होकर खेलनेके लिए वहाँ नहीं जातीं जहाँ कि राजा नहीं होता। इस वर्णनसे स्पष्ट है कि पूर्व कालमें स्त्रियाँ बाग़ोंमें घूमने-फिरनेके लिए, आजकलकी ही तरह, जाती थीं। प्रत्येक शहरके आसपास बड़े बड़े बाग़ होते थे और उनमें उत्सव करनेके लिये स्त्री-पुरुष जाते थे। द्वारकाके पास, रैवतक पर्वत पर, यादव स्त्री-पुरुष उत्सव करनेके लिए जाया करते थे। इसका वर्णन महाभारतमें है।

विशेष रीतियाँ।

महाभारतके समय कुछ लोगोंमें विशेष रीतियाँ थीं। महाभारतके कुछ उल्लेखोंसे इस बातका पता लगता है। "आपीड़िनो रक्तदन्ता मत्तमातङ्ग विक्रमाः। नानाविराग-वसना गन्धचूर्णावचूर्णिनाः॥" (कर्ण पर्व अध्याय १२) दक्षिण ओरके केरल, पाण्ड्य और आन्ध्र आदि देशवालोंका यह वर्णन है। सिरमें फूलोंकी माला लपेटे हुए और दाँतोंको लाल रँगे हुए, इसी प्रकार तरह तरहकी रँगी हुई धोतियाँ पहने और शरीरमें सुगन्धित चूर्ण लगाये हुए—यह वर्णन आजकलके मद्रासियोंके लिए भी पूर्णतया उपयुक्त होता है। ये लोग सिर नङ्गा रखते हैं: सिर्फ़ फूलोंकी माला सिर पर डाल लेते हैं। शरीर पर भी कुछ नहीं रहता और देहमें चन्दन लगा रहता है। पहननेकी धोतियाँ लाल, हरी आदि रँगी हुई होती हैं। रङ्गीन धोती पहननेकी रीति और किसी भागमें नहीं है: और ये लोग हाथीकी तरह मोटे ताजे तथा मजबूत भी होते हैं। यह इस बातका एक उदाहरण है कि प्राचीन रीतियाँ किस तरह चिमटी चली आती हैं। पञ्जाबियोंकी भी एक रीति वर्णित है। वह रीति यह है कि ये लोग हाथोंकी अँजुलीसे पानी पीते हैं। अँजुलीसे पानी पीना और प्रान्तोंमें, इस समय, निषिद्ध माना जाता है: और आजकल केवल गरीब आदमी अँजुलीसे पानी पीते हैं।

वन्दन और करस्पर्श।

आर्य्य रीति यह है कि बड़ोंको छोटे नमस्कार करें। परन्तु बराबरीमें सिर्फ हस्तस्पर्श करनेका रवाज देख पड़ता है। उद्योग पर्वमें जब बलराम पाण्डवोंसे मिलने आये, तबका यह वर्णन है—

ततस्तं पाण्डवो राजा करे पस्पर्श पाणिना।
(२२ उ० अ० १५७)

युधिष्ठिर जब बलरामका करस्पर्श कर चुके, तब श्रीकृष्ण आदिने उन्हें नमस्कार किया और उन्होंने विराट तथा द्रुपद दोनों राजाओंको नमस्कार किया। इससे उपर्युक्त अनुमान होता है। (बलरामको यहाँ पर "नीलकौशेयवासनः" कहा गया है। बलराम नीला रेशमी वस्त्र और श्रीकृष्ण पीला रेशमी वस्त्र पहना करते थे।) साधारण रीतिसे नमस्कार ज़रा झुककर और दोनों हाथ जोड़कर किया जाता है: परन्तु द्रोण पर्वके वर्णनसे प्रकट होता है कि सूत आदि जब राजाको नमस्कार करें तो घुटने टेककर, धरतीमें माथा रखकर किया करें। (द्रो० अ० ८२) गुरुके चरणोंको हाथोंसे छूकर ब्रह्मचारी नमस्कार करे। इस विधिका वर्णन अन्यत्र हुआ ही है। साष्टाङ्ग नमस्कार बहुधा देवताओंको अथवा ऋषि या गुरु आदिको किया जाता था।

उत्तम आचरण।

शान्ति पर्वके २२८वें अध्यायमें वर्णन

किया गया है कि अच्छी रीतियाँ कौन हैं; और अवनति होने पर कौनसी बुरी रीतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यहाँ उसका संक्षिप्त अवतरण दिया जाता है। "पहले दानवतक दान, अध्ययन और होम-हवन करके देवता, अतिथि तथा पितरोंका पूजन किया करते थे। घरोंको खूब साफ पाक रखते थे। इन्द्रियोंको वशमें रखते और सत्य भाषण करते थे। किसीसे मत्सर अथवा ईर्ष्या न करते थे। अपनी स्त्रियों, पुत्रों और परिवारका पोषण करते थे। क्रोधके अधीन न होते थे। पराये दुःखसे दुखी होते थे। सेवक और अमात्यको सन्तुष्ट रखते थे। प्रिय भाषण करते थे। योग्यतानुसार सबका मान करते थे। उपवास और तपकी ओर स्वभावसे ही उनकी प्रवृत्ति थी। प्रातःकालके समय कोई सोता न था। सवेरे मङ्गलकारक वस्तुओंको देखकर, ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे। आधी रात नींदमें बीतती थी। दिनको कोई सोता न था। दीनों, वृद्धों, दुर्बलों, रोगियों और स्त्रियों पर सदैव दया की जाती और उन्हें आमदनीका हिस्सा दिया जाता था। बड़े-बूढ़ोंकी सेवा की जाती थी।" इत्यादि अच्छे आचरणोंका वर्णन कर चुकने पर कहा गया है कि दैत्योंमें विपरीत काल हो गया; ये गुण पहलेसे विपरीत हो गये। तब, उनमेंसे धर्म निकल गया। "उस समय सभ्य पुरुष और वृद्ध लोग पुरानी बातें बतलाने लगते; अर्थात् तब और लोग उनका उपहास करते तथा उनके श्रेष्ठ गुणों पर मत्सर करते थे। बड़े-बूढ़ोंके आने पर, पहलेकी तरह, प्रत्युत्थान देकर और नमस्कार करके उनका आदर-सत्कार न किया जाता था। जिन लोगोंको सेवक न होना चाहिए वे भी सेवकपनको प्राप्त करके, निर्लज्जताके साथ, उसे प्राप्त करनेमें आनन्द मानते थे। निन्दनीय काम करके जो लोग बहुत धन संग्रह करते थे वे उन्हें प्रिय जँचने लगे। रातको वे ज़ोर ज़ोरसे बोलने लगे। पुत्र तो पिताकी और स्त्रियाँ पतिकी आज्ञाके बाहर बर्ताव करने लगीं। अनार्य लोग आर्योंकी आज्ञाके बाहर व्यवहार करने लगे। माँ, बाप, वृद्ध, अतिथि और गुरुका—पूज्य समझकर—आदर न किया जाता था। बालकोंका पोषण करना छोड़ दिया गया। बलि और भिक्षाका दान किये बिना भोजन किया जाता था। देवताओंका यज्ञ न किया जाता था; पितरों और अतिथियोंको अन्नमेंसे अवशेष न दिया जाता था। रसोई बनानेवाला पवित्रता न रखता था। तैयार किया हुआ भोजन भली भाँति ढाँक-मूँदकर न रखा जाता था। दूध बिना ढँका ही रखा रहता था। बिना हाथ धोये ही घी छू लिया जाता था। काक और मूषक आदि प्राणी खाये जाने लगे। दीवार और घर विध्वस्त भले ही होने लगें, पर वे लीपे न जाते थे। बँधे हुए जानवरोंको दाना-चारा या पानी न दिया जाता था। छोटे छोटे बच्चे भले ही मुँह ताका करें, तथापि खानेके पदार्थोंको आप स्वयं खा जाते थे—नौकरोंको भी हिस्सा न देते थे। दिन-रात उनके बीच कलह होता रहता था। निकृष्ट लोगोंने श्रेष्ठोंकी सेवा करना छोड़सा दिया। पवित्रता लुप्त हो गई। वेदवेत्ताओंका और एक भी ऋचा न जाननेवाले ब्राह्मणोंका मानापमान एक हीसा होने लगा। दासियाँ दुराचारिणी बन गईं और वे हार, अलङ्कार तथा वेषको इस ढँगसे धारण करने लगीं जो कि दुराचारके लिए फबे। उच्च वर्णमें व्यापार-उद्योग करनेवाले लोग देख

पड़ने लगे और शूद्र तपोनिष्ठ हो गये। शिष्य गुरुकी सेवा छोड़ बैठे और गुरु बन गये शिष्योंके मित्र। माता-पिता, असमर्थ होकर, पुत्रसे अन्नकी याचना करने लगे। सास-ससुरके देखते बहू (पतोहू) लोगों पर हुकूमत करने लगी और पतिको आवाज देकर उसके साथ भाषण करने एवं उसे आज्ञा देने लगी। पिता पुत्रको खुश रखनेकी चेष्टा करने लगा और डरके मारे पुत्रोंमें अपनी सम्पत्ति बाँटकर कष्टसे समय बिताने लगा। मित्र परस्पर एक दूसरेकी हँसी करने लगे और परस्पर शत्रु बनने लगे। सारांश यह कि दैत्य इस प्रकार नास्तिक, कृतघ्न, दुराचारी, अमर्यादशील और निस्तेज हो गये।" उल्लिखित वर्णनसे हमारे सामने इस सम्बन्धकी कल्पना खड़ी हो जाती है कि महाभारतके समय कौन कौन रीतियाँ बुरी समझी जाती थीं।

नवाँ प्रकरण ।

राजकीय परिस्थिति ।

भारती आर्य हिमालयोत्तरसे हिन्दुस्थानमें आये और यहाँ बस गये। उस समयसे महाभारतके समयतक राजकीय संस्थाएँ कैसे उत्पन्न हुईं, भिन्न भिन्न कालोंमें भिन्न भिन्न राज्योंमें राजसंस्था कैसे नियत हुई और राजा तथा प्रजाके पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार निश्चित हुए, इत्यादि बातें महाभारत जैसे बृहत् ग्रन्थसे हमें विस्तारपूर्वक मालूम हो सकती हैं। इस प्रकरणमें इन्हीं बातोंका विचार किया जायगा। भारती आर्य और पाश्चात्य देशोंके आर्य किसी समय एक ही जगह थे। वहाँसे उनकी भिन्न भिन्न शाखाएँ भिन्न भिन्न देशोंको गईं। वहाँ वे प्रारम्भमें अपनी एक ही तरहकी राजकीय संस्थाएँ ले गए। परन्तु हम देखते हैं कि ग्रीस और रोमकी राजकीय संस्थाओंमें और हिन्दुस्थानकी राजकीय संस्थाओंमें, प्राचीन कालसे, बड़ा ही फर्क हो गया है। तथापि इस विचारमें हमें सबसे पहले यह बात देख पड़ती है कि दोनों संस्थाएँ मूलतः एक स्थानमें और एक ही तरहसे उत्पन्न हुई थीं और अनेक कारणोंसे दोनोंकी परिस्थिति आगे चलकर बहुत भिन्न हो गई। जैसे कोई रेलकी सड़क एक ही स्थानसे निकलकर, आगे उसकी दो शाखाएँ हो जायँ, एक उत्तरकी ओर चली जाय और दूसरी दक्षिणकी ओर; तब अन्तमें उन दोनोंके छोर जैसे बहुत अन्तर पर और भिन्न दिशाओंमें गये हुए देख पड़ते हैं, वैसे ही पाश्चात्य और भारती आर्योंके सुधार एक ही स्थानसे उत्पन्न होकर आगे धीरे धीरे भिन्न स्थितिमें बढ़े हैं और अन्तमें अब अत्यन्त विसदृश स्थितिमें देख पड़ते हैं। प्रायः सभी बातोंमें यह फर्क देख पड़ता है; परन्तु राजकीय संस्था और तत्त्व-ज्ञानके सम्बन्धमें तो यह फर्क बहुत ही अधिक दिखाई देता है। इतिहासके प्रारम्भमें उनकी संस्थाएँ प्रायः एक ही सी मिलती हैं, परन्तु कहना पड़ेगा कि महाभारत-कालमें उनमें बहुत ही अन्तर दिखाई देता है।

छोटे छोटे राज्य ।

भारती-कालके प्रारम्भकी हिन्दुस्थानकी राजकीय परिस्थितिका यदि हम सूक्ष्म रीतिसे निरीक्षण करें, तो हमें दिखाई देगा कि उस समय यहाँ, ग्रीस देशके ही समान, छोटे छोटे भागोंमें बसे हुए स्वातन्त्र्य-प्रिय लोगोंके सैकड़ों राज्य थे। इन राज्योंके नाम देशके नामसे नहीं रखे जाते थे, किन्तु वहाँ बसनेवाले लोगों परसे अथवा किसी विशिष्ट राजा परसे वे नाम पड़ गये थे। आधुनिक राज्योंका यदि विचार करें, तो मालूम होगा कि लोगों परसे राज्योंके नाम नहीं पड़े हैं, किन्तु देश परसे लोगोंके नाम पड़ गये हैं। मराठा, मदरासी, बङ्गाली आदि आधुनिक नाम देश परसे लोगोंके हो गये हैं। परन्तु बहुत प्राचीन कालमें इसके विपरीत परिस्थिति थी। उस समय लोगोंके नाम परसे राज्योंके नाम पड़ जाते थे। ग्रीस देशमें राज्योंके और लोगोंके नाम शहर परसे पड़ते थे, परन्तु हिन्दुस्थानमें वैसा भी नहीं था। हिन्दुस्थानमें राजा, निवासी और देशका एक ही नाम रहता था। यहाँके राज्य बहुत छोटे रहा करते थे। इनका विस्तार, ग्रीस देशके नगर-राज्योंसे, कुछ अधिक रहता था। महाभारत-कालमें भी हिन्दुस्थानके प्रदेशोंकी फेहरिस्तमें २१२ लोग बतलाये गये

हैं। ये सब लोग एक-वंशी, एक-धर्मी और एक ही भाषा-भाषी थे। सारांश यह है कि ग्रीस देशके लोगोंके समान ही इनकी परिस्थिति थी और इन भिन्न भिन्न राज्योंके लोगोंका आपसमें विवाह-सम्बन्ध होता था। राजकीय-सम्बन्धमें ये सब स्वतन्त्र थे और ग्रीक लोगोंके समान ही इनके आपसमें नित्य संग्राम हुआ करते थे। परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि इन्होंने एक दूसरेको नष्ट करनेका कभी प्रयत्न नहीं किया। एक जाति दूसरी जातिको जीत लेती थी, परन्तु पराजित लोगोंकी स्वतन्त्रता-का नाश कभी नहीं किया जाता था। ऐसी परिस्थिति भारती कालमें जारी थी। पहले आर्योंने अर्थात् सूर्यवंशी क्षत्रियोंने पञ्जाबसे लेकर हिमालयके किनारे कोसल-विदेहतक राज्य स्थापित किये। दूसरे चन्द्रवंशी आर्य गङ्गाकी घाटियोंमेंसे होते हुए आये; पर उन्होंने पहले आये हुए लोगोंके स्वातन्त्र्य-नाश-का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने दक्षिण-की ओर गङ्गा और जमनाके किनारे तथा मध्य हिन्दुस्थानमें मालवे और गुजराततक सैंकड़ों राज्य स्थापित किये। ये राज्य सिकन्दरके समयतक ऐसे ही छोटे छोटे थे। पञ्जाब और सिन्धमें जिन भिन्न भिन्न लोगोंको सिकन्दरने जीता था, उनकी संख्या ५० के लगभग होगी। यदि पञ्जाब और सिन्धु यही दो राज्य हों, तो भी आधुनिक हिसाबसे वे छोटे समझे जायँगे। कहनेका तात्पर्य यह है कि उस समयके राज्य छोटे छोटे हुआ करते थे। हर एक राज्यका विस्तार इतना ही रहा करता था कि उसकी मुख्य मध्यवर्ती एक राजधानी रहती थी और उसके चारों ओर कुछ प्रदेश रहता था। अर्थात् इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि युधिष्ठिरने पाँच ही गाँव माँगे थे। उस समय क्षत्रियोंकी महत्वाकांक्षा इतनी ही थी और इस समय भी राज-पूतोंकी महत्वाकांक्षा वैसी ही है। नीचे दिये हुए श्लोकमें उपर्युक्त चित्र उत्तम रीतिसे प्रतिबिम्बित देख पड़ेगा।

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियं-कराः। नच साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट् शब्दोहि कृच्छ्रभाक्॥

(सभा० प० अ० १५)

"घर घर राजा हैं, परन्तु उनकी 'सम्राट्' पदवी नहीं है।" इस वाक्यसे अनुमान हो सकता है कि हर एक शहरमें राजा रहता था। कोई राजा विशेष बल-वान् होकर सम्राट् भले ही हो जाय, पर वह इन राजाओंका नाश नहीं करता था। पराजित राजा अपने प्रभुको कुछ कर और नजराना दे दिया करते थे। बस, यही काफ़ी समझा जाता था। शान्ति पर्वमें स्पष्ट कहा है कि जित राजा कभी पदच्युत न किया जाय। यदि वह ज़िन्दा हो तो फिर वहीं गद्दी पर बैठाया जाय। यदि वह मर जाय तो उसके लड़केको या किसी नातेदारको गद्दी पर बैठाना चाहिए*। युधिष्ठिर और दुर्यो-

---

* भारत-कालमें पराजित राष्ट्रोंकी स्वतन्त्रता नष्ट न करनेकी ओर बहुत ध्यान दिया जाता था। यह बात युधिष्ठिरको व्यास द्वारा किये हुए उपदेशसे व्यक्त हो जाती है—"जित भूपतियोंके राष्ट्र और नगरमें जाकर उनके बन्धु, पुत्र या पौत्रोंको उनके राज्यमें अभिषिक्त करो, फिर वे चाहे बाल्यावस्थामें हों या गर्भावस्थामें। जिनके कोई पुत्र न हो उनकी कन्याओंको अभिषिक्त करो। ऐसा करनेसे, वैभवकी इच्छाके कारण, स्त्रियाँ शोकका त्याग करेंगी।" इससे यह देख पड़ता है कि महाभारत-कालमें, पुरुष वारिसके अभावमें, कन्याएँ भी गद्दी पर बैठाई जाती थीं। यह श्लोक देखिये—

कुमारो नास्ति येषांच कन्यास्तत्राभिषेचय।
कामाशयो हि स्त्रीवर्गो शोकमेव प्रहास्यति॥

(शां० अ० ३३—४६)

धनने जब दिग्विजय किया, तब उन्होंने किसीके राज्यको अपने राज्यमें शामिल नहीं कर लिया; सिर्फ़ पराजित राजाओंने उनका साम्राज्य स्वीकार किया और यज्ञके समय उन्हें नजराने दिये। इससे कल्पना की जा सकती है कि भारती-कालके लोग कितने स्वातन्त्र्य-प्रिय थे। इससे आश्चर्य न होगा कि ब्राह्मण-कालसे महाभारत-कालतक लोगोंके एकसे ही नाम क्यों पाये जाते हैं। कोसल, विदेह, शूरसेन, कुरु, पाञ्चाल, मत्स्य, मद्र, केकय, गान्धार, वृष्णि, भोज, मालव, क्षुद्रक, सिन्धु, सौवीर, काम्बोज, त्रिगर्त, आनर्त आदि नाम ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें तथा महाभारतमें भी पाये जाते हैं। कहना होगा कि सैकड़ों वर्षोंके परिवर्तनमें भी ये राज्य ज्योंके त्यों बने रहे, और उन लोगोंने अपनी स्वाधीनता स्थिर रखी। उनके नाम लोगों परसे पड़े थे, इससे भी उनकी स्वातन्त्र्य-प्रियता व्यक्त होती है। केवल एक 'काशी' नाम लोगोंका तथा शहरका समान देख पड़ता है। शेष अन्य नाम कुरु-पाञ्चाल आदि नामोंके समान देशवासी राजा और देशके भिन्न भिन्न थे। लोगोंका नाम दूसरा और नगरका या राजधानीका नाम दूसरा हो, परन्तु लोगोंका और देशका नाम हमेशा एक रहता ही था।

राजसत्ता।

इन अनेक छोटे छोटे राज्योंमें राजकीय व्यवस्था प्रायः राजनिबद्ध रहती थी। यूनानियोंके इतिहासमें भी यही देख पड़ता है कि होमरने जिन अनेक लोगोंका वर्णन किया है, उनमें प्रभु राजा ही थे। इसी प्रकार, हिन्दुस्थानमें भी, इन छोटे छोटे राज्योंमें राजकीय सत्ता राजा लोगोंके ही हाथमें थी। परन्तु सर्वसाधारण प्रायः स्वतन्त्र थे। विशेषतः ब्राह्मण लोगोंकी दशा बहुत स्वाधीन रहा करती थी। वे राजसत्तासे दबे नहीं रहते थे। इसके सिवा यह बात भी थी कि हर मौके पर, ग्रीस देशके समान यहाँ भी, राजा लोग जनताकी राय लिया करते थे। उदाहरणार्थ, युवराजके नातेसे राज्यका प्रबन्ध रामके अधीन कर देना उचित होगा या नहीं, इसका विचार करनेके लिए दशरथने लोगोंकी एक सभा की थी। रामायणमें इसका बहुत सुन्दर वर्णन है। ऐसी सभाओंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य निमन्त्रित किये जाते थे। अर्थात् इन सभाओंमें बैठनेका आर्योंको अधिकार था। राजसत्ता केवल अनियन्त्रित न थी, किन्तु जनताकी राय लेनेमें राजा लोग सावधानी रखते थे। महाभारतमें भी स्पष्ट देख पड़ता है कि लोगोंकी राय लेनेकी परिपाटी थी। युद्धके समय, हस्तिनापुरमें, राजा और ब्राह्मण लोगोंकी ऐसी ही सभा बैठी थी; और वहाँ युद्धके सम्बन्धमें सब लोगोंकी राय लेनेकी आवश्यकता हुई थी। वहीं श्रीकृष्णने भाषण किया। कभी कभी राजाके चुनावका भी अधिकार लोगोंको था। युद्धके पश्चात्, सब ब्राह्मणों और राजा लोगोंकी अनुमतिसे ही, युधिष्ठिरने अपने आपको अभिषिक्त कराया था। ख़ैर; इस प्रकार राजाओंकी सत्ता सभी स्थानोंमें स्थापित हो गई थी, यह बात नहीं है। अन्य प्रकारकी सत्ताका क्या प्रमाण मिल सकता है, यह हमें यहाँ देखना चाहिए।

ग्रीस देशमें जैसे प्रजासत्ताक या अल्पजनसत्ताक राज्य स्थापित हुए थे, वैसे हिन्दुस्थानमें भी कहीं कहीं स्थापित हुए थे। यहाँ इस व्यवस्थाके होनेका कुछ हाल अप्रत्यक्ष रीतिसे महाभारतसे मालूम पड़ता है। यूनानी इतिहासकारोंने लिख रखा है कि हिन्दुस्थानमें प्रजासत्ताक

राज्य थे। बौद्ध ग्रन्थोंमें भी लिखा है कि कपिलवस्तुके शाक्य और लिच्छवी लोगोंमें राजसत्ता कुछ थोड़ेसे प्रमुख लोगोंके अधीन थी। महाभारतमें कुछ लोगोंको 'गण' कहा गया है। यह वर्णन उसी राजसत्ताके सम्बन्धमें है जो कुछ प्रमुख लोगोंके अधीन रहा करती थी।

गणानुत्सवसंकेतान् दस्यून्पर्वतवासिनः।
अजयत् सप्त पाण्डवः॥

इसमें वर्णित है कि पर्वत-वासी सात गणोंको—उत्सव-संकेत नामके लोगोंको—अर्जुनने जीत लिया था। सभापर्वमें वर्णित गण इसी प्रकारके लोग थे। यह बात प्रसिद्ध है कि पहाड़ी प्रदेशोंमें रहनेवाले लोग प्रायः स्वतन्त्र और प्रजासत्ताक-प्रवृत्तिके होते हैं। महाभारतमें कई स्थानोंमें लिखा है कि गणोंमें प्रमुखता किस प्रकार प्राप्त करनी चाहिए। महाभारत-कालमें 'गणपति' एक विशिष्ट पदवी मानी जाती थी, जिसका अर्थ 'गणोंका मुखिया' होता है।

यही निश्चय होता है कि महाभारतमें उत्सव, संकेत, गोपाल, नारायण, संशप्तक इत्यादि नामोंसे जो "गण" वर्णित हैं, वे प्रजासत्ताक लोग होंगे। जान पड़ता है कि ये लोग पञ्जाबके चारों ओरके पहाड़ोंके निवासी होंगे। वर्तमान समयमें वायव्य सीमा-प्रान्तमें जो अफ्रीदी आदि जातिके लोग हैं, वे ही प्राचीन समयके गण होंगे। गणोंके सम्बन्धमें शान्ति पर्वके १०७ वें अध्यायमें युधिष्ठिरने स्पष्ट प्रश्न किया है। उसमें यह कहा है कि इन लोगोंमें बहुत्वके कारण मंत्र नहीं हो सकता और इनका नाश भेदसे होता है:—

भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।
मंत्रसंवरणं दुःखं बहुनामिति मे मतिः॥

ये लोग प्रायः एक ही जाति और वंशके हुआ करते थे; इसलिए इनका नाश केवल भेदसे ही हो सकता था। यथा—

जात्याच सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः॥

ये गण धनवान और शूर भी हुआ करते थे; जैसे

द्रव्यवंतश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः।

परन्तु इन लोगोंमें मंत्र नहीं हो सकता था। भीष्मका कथन है—

न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत।

इस वर्णनसे स्पष्ट देख पड़ता है कि महाभारतमें कहे हुए गण प्रजासत्ताक लोग ही हैं।

यूनानियोंको भी पञ्जाबमें कुछ प्रजासत्ताक लोगोंका परिचय हुआ था। सिकन्दरके इतिहासकारोंने मालव शूद्रकका वर्णन इस प्रकार किया है:—"मालव स्वतन्त्र इण्डियन जातिके लोग हैं। वे बड़े शूर हैं और उनकी संख्या भी अधिक है। मालव और आक्सिड्रे (क्षुद्रक) के, भिन्न भिन्न शहरोंमें रहनेवाले अगुआओं और उनके प्रधान शासकों (गवर्नर) की ओरसे, वकील आये थे। उन्होंने कहा कि हमारा स्वातन्त्र्य आजतक कभी नष्ट नहीं हुआ, इसी लिए हम लोगोंने सिकन्दरसे लड़ाई की।" "उक्त दो जातियोंकी ओरसे सौ दूत आये। उनके शरीर बहुत बड़े और मज़बूत थे। उनका स्वभाव भी बहुत मानी देख पड़ता था। उन्होंने कहा कि आजतक हमने अपनी जिस स्वाधीनताकी रक्षा की है, उसे अब हम सिकन्दरके अधीन करते हैं" (अरायन पृष्ठ १५४) ये लोग मुलतानके समीप—रावी और चन्द्रभागाके सङ्गमके पास रहा करते थे। यह भी लिखा है कि इनके उस ओर अंबष्ठ जातिके लोग—"अनेक शहरोंमें रहते हैं और उनमें प्रजासत्ताक राज्य-व्यवस्था है।" (मैकक्रिंडल कृत सिकन्दरकी चढ़ाईका वर्णन)

यूनानियोंके उक्त वर्णनसे भी यही निश्चय होता है कि गण प्रजासत्ताक व्यवस्थासे रहनेवाले लोग थे। शिला-लेखों-में इन मालवोंको 'मालवगण' कहा गया है। इसका भी अर्थ वही है। इस शब्दके सम्बन्धमें अनेक लोगोंने सन्देह प्रकट किया है; परन्तु गणोंका जो वर्णन महा-भारतके आधार पर ऊपर किया गया है, उससे यह सन्देह नष्ट हो सकता है। यूनानियोंकी चढ़ाईके अनन्तर पञ्जाब-निवासी यही मालव लोग स्वाधीनताकी रक्षाके लिये मालवा प्रान्ततक नीचे उतर आये होंगे और वहाँ उज्जैनतक उनका राज्य स्थापित हो गया होगा। विक्रम इन्हीं लोगोंका अगुआ होगा। उसने पञ्जाब-के शकोंको पराजित किया। मन्दोसरके शिलालेखमें—"मालवगण स्थिति" नामसे जो वर्ष-गणना है, वह इन्हीं लोगोंके सम्बन्धमें है और यही विक्रम संवत् है। इन्हीं लोगोंके नामसे इस प्रान्तको मालवा कहते हैं।

अस्तु; इसके बाद भारती-आर्योंकी राजकीय उत्क्रान्ति तथा यूनानियोंकी उत्क्रान्तिकी दिशा भिन्न दिखाई देती है। उधर पश्चिमकी ओर यूनानियोंमें प्रजा-सत्ताक-प्रवृत्ति धीरे धीरे बढ़ती गई और प्रजासत्ताक राज्य-प्रबन्धकी अच्छी अच्छी कल्पनाएँ प्रचलित हो गईं; और इधर भरतखण्डमें राजसंस्था बलवान् होती गई तथा राजाकी सत्ता पूर्णतया प्रस्था-पित हो गई। इसका कारण हमें ढूँढ़ना चाहिए। जैसे जैसे वर्ण-व्यवस्था दृढ़ होती गई, वैसे वैसे राजाओंके अधिकार मजबूत होते गये; और जैसे जैसे राज्यमें शूद्र वर्णकी वृद्धि होती गई, वैसे वैसे प्रजाका अधिकार घटता गया। जब यह बात निश्चित हो चुकी कि राज्य करना क्षत्रियों-का ही अधिकार है और यह उन्हींका मुख्य धर्म है, तब ब्राह्मण और वैश्य (विशेषतः वैश्य) राज-काजसे अपना मन हटाने लगे। दूसरे, जब राज्य छोटे छोटे थे और अधिकांश लोग आर्य ही थे, उस समय राजकीय प्रश्नोंके सम्बन्धमें लोगोंकी सभा करके उनकी राय लेना सम्भव और उचित भी जान पड़ता था। परन्तु जब राज्य विस्तृत हो गये, शूद्र लोगों और मिश्र वर्णके अन्य लोगोंकी संख्या बहुत बढ़ गई, और इन लोगोंकी राय लेना अनुचित मालूम होने लगा, तब ऐसी सभाओंका निमंत्रण रुक गया होगा। स्वभावतः शूद्रोंको पराजितके नाते राजकीय अधिकारोंका दिया जाना सम्भव नहीं था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि बहुत बड़ी मनुष्य-संख्याकी ओरसे प्रतिनिधि द्वारा सम्मति लेनेकी आधुनिक पाश्चात्य पद्धति प्राचीन-कालमें नहीं थी। यह पद्धति ग्रीक और रोमन लोगोंको भी मालूम न थी। इसलिए ग्रीक और रोमन लोगोंकी प्रजासत्ताक राजव्यवस्था-के अनुसार प्रत्येक ग्रीक या रोमन मनुष्य-को लोक-सभामें उपस्थित होना पड़ता था। अतएव वहाँके प्रजासत्ताक राज्यों-का प्रबन्ध धीरे धीरे बिगड़ता चला गया और अन्तमें वे राज्य नष्ट हो गये। इसी प्रकार, हिन्दुस्थानमें भी जबतक राज्य छोटे थे और राज्यके अधिकारी लोग आर्य थे, तबतक राजकीय बातोंमें इन थोड़े लोगोंकी राय लेनेकी रीति जारी थी। परन्तु आगे जब राज्यका विस्तार बढ़ गया, लोगोंकी संख्या अधिक हो गई, और शूद्र लोग भी चातुर्वर्ण्यमें समा-विष्ट हो गये, तब सर्व साधारणकी राय लेनेकी रीति बन्द हो गई। इसका एक दृढ़ प्रमाण हमें देख पड़ता है। वह इस प्रकार है:—

हिन्दुस्थानमें पश्चिमी प्रदेशके और

विशेषतः पहाड़ी मुल्कके लोग एक ही वंश-के, मुख्यतः आर्य जातिके थे। इसलिए उनकी व्यवस्था निराली थी, यानी वह प्रमुख लोगोंके हाथमें स्वतंत्र प्रकारकी थी। इसके विरुद्ध, पूर्वकी ओर मगध आदि देशोंके राज्य बड़े थे। वहाँकी प्रजा विशेषतः शूद्र वर्णकी या मिश्र वर्णकी अधिक थी, इसलिए वहाँकी राज-व्यवस्था दूसरे ही ढंगकी थी, अर्थात् वह राज-सत्ताक थी। यह बात ऐतरेय ब्राह्मणके नीचे दिये हुए अवतरणसे मालूम हो जायगी। रमेशचन्द्र दत्तने इस अवतरण-को अपनी पुस्तकोंमें लिया है। इसका भावार्थ यह है:—"पूर्व राजाकी 'सम्राट्' पदवी है, दक्षिणके राजाको 'भोज' कहते हैं, पश्चिमी लोगोंमें 'विराट्' नाम है, और मध्यदेशमें राजाको केवल 'राजा' ही कहते हैं।" इससे प्रकट होता है कि पूर्वी लोगों-में सम्राट् अथवा बादशाह संज्ञा उत्पन्न हो गई थी। वहाँके राजाओंके अधिकार पूरी तरहसे बदल गये थे और साधारण लोगोंके अधिकार प्रायः नष्ट हो गये होंगे। अधिक क्या कहें, एकतंत्र राज्य-पद्धति प्रथम पूर्वी देशोंमें ही जारी हुई होगी। म्लेच्छ अथवा मिश्र आर्य इसी देशमें अधिक थे। इतिहाससे मालूम होता है कि पूर्वकी ओर मगधका राज्य बलवान् हो गया और आगे वही हिन्दुस्तानका सार्वभौम राज्य हो गया। यह भी निर्वि-वाद है कि पूर्वी राजाओंकी सम्राट् पदवी थी। उपनिषदोंमें भी देख पड़ता है कि जनकको वही पदवी दी गई थी। अर्थात् मगधके सिवा विदेहके राजाओंकी भी यही संज्ञा थी। महाभारतसे भी प्रकट होता है कि दक्षिणके राजाओंको भोज कहते थे। दक्षिणके बलवान् राजा भीष्मक और रुक्मीको यही 'भोज' संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार देख पड़ता है कि मध्यप्रदेश-के कुरु-पाञ्चाल आदि लोगोंके राजाओंके लिए, महाभारतमें भी केवल 'राजा' पद-का उपयोग किया गया है। मत्स्य देशके विराटके नाममें इस विचार-श्रेणीसे कुछ विशेष अर्थ प्रतीत होता है। अस्तु: ऊपर-के अवतरणसे, और महाभारतसे भी, यही दृढ़ अनुमान निकलता है कि सम्राट्की कल्पना पूर्वकी ओरके मिश्र लोगोंके बड़े विस्तीर्ण राज्योंके आधार पर उत्पन्न हुई होगी।

प्राचीन साम्राज्य-कल्पना।

सम्राट्की कल्पनाकी उत्पत्तिके विषयमें एक चमत्कारिक सिद्धांत महा-भारतके सभापर्वमें बतलाया गया है। जब युधिष्ठिर राजसूय यज्ञका विचार करने लगे, तब उन्होंने श्रीकृष्णकी राय ली। उस समय श्रीकृष्णने जो उत्तर दिया वह यहाँ उद्धृत करने योग्य है। श्रीकृष्णने कहा—"पहले जब परशुरामने क्षत्रियोंका संहार किया था, उस समय जो क्षत्रिय भागकर छिप रहे थे, उन्हींकी यह सन्तान है, इसी लिए उनमें उग्र क्षात्र-तेज नहीं है। उन हीनवीर्य क्षत्रियोंने यह निश्चय किया है कि जो राजा सब क्षत्रियोंको जीतेगा उसीको अन्य राजा भी सार्वभौम मानेंगे। यह तरीका अब-तक चला आता है। इस समय राजा जरा-संध सबसे बलवान है। पृथ्वीके सभी राजा चाहे वे ऐल राजा हों अथवा ऐक्ष्वाक राजा हों, उसको कर देते हैं और अपने-को जरासन्धके अङ्कित कहते हैं। ऐल और ऐक्ष्वाक राजाओंके सौ कुल हैं। उनमें भोज-कुलके राजा इस समय बलिष्ठ हैं, और उनमेंसे जरासन्ध राजाने सबको पादाक्रान्त किया है। सारांश, सब क्षत्रियों-ने जरासन्धका आधिपत्य मान लिया है और उसे सार्वभौम पद पर बैठा दिया

है। जरासन्धके ही भयसे हम लोग मथुरा देश छोड़कर द्वारकामें जा बसे हैं।"
(सभा० अ० १४)

श्रीकृष्णके उपर्युक्त भाषणसे यह मालूम होता है कि सम्राट् या बादशाहको नियुक्त करनेकी जो पद्धति हिन्दुस्थानमें पीछेसे जारी हुई, वह ब्राह्मणोंके भयसे और ब्राह्मणोंके सामर्थ्यको गिरानेके लिए जारी की गई थी। अर्थात् अनुमान यह निकलता है कि एक समय राजाओंको ब्राह्मण असह्य हो गये होंगे। परन्तु यह कल्पना ग़लत होगी। इसका विचार आगे चलकर किया जायगा। यहाँ कहा गया है कि सम्राट् या बादशाहको नियुक्त करनेकी जो नयी रीति चल पड़ी थी, वह सब राजा लोगोंकी सम्मतिसे प्रचलित हुई थी। इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि सम्राट् राजाको सम्राट् होनेका चिह्न प्रकट करना पड़ता था; अर्थात् उसे राजसूय यज्ञ करना पड़ता था; और ऐसे यज्ञके लिए उसे दिग्विजय करके भिन्न भिन्न राजा लोगोंको जीतना पड़ता था। परन्तु यह भी सिद्ध है कि सम्राट्को कई राजा लोग स्वयं अपनी ही इच्छासे मान्य करके कर देते और राजसूय यज्ञकी सम्मति भी देते थे। इसी नियमके अनुसार पाण्डवोंके दिग्विजयके समय श्रीकृष्ण आदि लोगोंने स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी सम्मति दी और कर भी दिया। यहाँ हमें इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि भारत-कालमें साम्राज्यकी जो यह कल्पना शुरू हुई, वह सिकन्दरके समयकी मगधोंके साम्राज्यकी कल्पनासे भिन्न थी। बौद्ध लेखोंसे मालूम होता है कि मगधोंका साम्राज्य न केवल अन्य राजाओंको जीतकर ही स्थापित हुआ था, किन्तु उस समय अन्य राजाओंके राज्य भी उस साम्राज्यमें शामिल कर लिये गये थे और वहाँके राजवंश नष्ट कर दिये गये थे। बुद्धकी मृत्युके बाद मगधोंने प्रथम काशी और कोसलके राज्य अपने राज्यमें मिला लिये। इसके बाद उन्होंने धीरे धीरे पूर्वी तथा पश्चिमी राज्योंको भी जीतकर अपने राज्यमें मिला लिया। हमारा मत है कि इसी समयके लगभग कायरसने जो पर्शियन साम्राज्य स्थापित किया था, उसीके अनुकरण पर यह बात हुई। अन्य राज्योंको जीतकर अपने राज्यमें शामिल करके वहाँ अपने अधिकारियों, गवर्नरों या सॅट्रपोंको नियुक्त करनेकी रीति पर्शियन बादशाहोंने पहले जारी की। इसीके अनुकरण पर मगधके सम्राटोंने अन्य क्षत्रिय राज्योंको नष्ट करनेका क्रम आरम्भ कर दिया। हिन्दुस्थानमें क्षत्रियोंका अन्त करनेवाला मगधाधिपति महानन्दी था। इस बातका वर्णन, महाभारतके अनन्तर जो पुराण हुए, उनमें स्पष्ट पाया जाता है। मगधोंके इन सम्राटोंने, विशेषतः चन्द्रगुप्तने, पर्शियन बादशाह दारियसकी स्थापित की हुई सब रीतियाँ पाटलीपुत्रमें जारी कर दीं। महाभारतमें ऐसे साम्राज्योंका कुछ भी पता नहीं है। यह स्वीकृत करना होगा कि महाभारत चन्द्रगुप्तके साम्राज्यके बाद बना है। इससे कुछ लोग अनुमान करते हैं कि महाभारतकी मगधोंके साम्राज्यकी कल्पना और जरासंधका चित्र चन्द्रगुप्तके साम्राज्यके आधार पर बना है। परन्तु यह अनुमान ठीक नहीं जँचता। जरासंधका साम्राज्य प्राचीन पद्धतिका है। अर्थात्, उसमें जीते हुए राष्ट्रोंको नष्ट करनेका कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया था। साम्राज्यकी कल्पना बहुत पुरानी अर्थात् ब्राह्मण-कालीन है और उसका सम्बन्ध राजसूय यज्ञसे है। उसमें बाद-

शाहतका मुल्क किसी रीतिसे बढ़ाया नहीं जाता था; और न सम्राट्के अधिकार एकतन्त्र होते थे। हमारा यह मत है कि महाभारतमें वर्णित जरासंधका प्राचीन चित्र, प्राचीन समयके वर्णनों और प्राचीन कल्पनाओंके अनुसार, रँगा गया है।

महाभारतकालीन साम्राज्य और राजसत्ता।

महाभारतके समय राजसत्ता पूर्ण रीतिसे अनियन्त्रित हो चुकी थी और सब जगह राज्य भी स्थापित हो चुके थे। प्रजासत्ताक राजव्यवस्था और सर्वसाधारणकी सभाके जो वर्णन कहीं कहीं पाये जाते हैं, उन्हें प्राचीन समझना चाहिए। महाभारतके शांति पर्वमें जो राजव्यवस्था वर्णित है, वह पूर्ण अनियन्त्रित स्वरूपकी है। उस समयके लोग यह मानते थे कि राजाकी इच्छा परमेश्वरकी इच्छाके समान बलवान है और राजाने अपने अधिकार देवताओंसे प्राप्त किये हैं। प्रजा, राजाकी आज्ञाको, देवताकी आज्ञाके समान माने। राजाके विरुद्ध कोई काम या बलवा न किया जाय। राजाके शरीरको किसी तरहकी हानि न पहुँचाई जाय। अनेक देवताओंके योगसे राजाकी देह बनी है और स्वयं भगवान विष्णु राजाकी देहमें प्रविष्ट हैं। उस समय यह एक बड़ा जटिल प्रश्न था कि राजाका अधिकार कहाँसे और कैसे उत्पन्न हुआ। तत्ववेत्ताओंको इसके सम्बन्धमें बड़ी कठिनाई हो रही थी। उन्होंने एक विशिष्ट रीतिसे इस प्रश्नको हल करनेका प्रयत्न किया है। शान्ति पर्वमें राजधर्म-भागके प्रारम्भमें ही युधिष्ठिरने भीष्मसे यह प्रश्न किया है—"राजन् शब्द कैसे उत्पन्न हुआ और अन्य लोगों पर राजाका अधिकार क्यों चलता है? अन्य मनुष्योंके समान ही राजाके दो हाथ और दो नेत्र हैं और अन्य मनुष्योंकी अपेक्षा उसकी बुद्धिमें भी कुछ विशेषता नहीं।" इस पर भीष्मने उत्तर दिया कि पहले कृतयुगमें राजा थे ही नहीं; उस समय सब लोग स्वतन्त्र थे। वे अपनी स्वतन्त्र इच्छासे धर्मका प्रतिपालन करते थे। परन्तु आगे काम, क्रोध, लोभ आदिके ज़ोरसे ज्ञानका लोप और धर्मका नाश हो गया। कर्तव्य-अकर्तव्यको जानना कठिन हो गया। वेद भी नष्ट हो गये। यज्ञादि द्वारा स्वर्गलोकसे वृष्टिका होना बन्द हो गया। तब सब देवताओंने ब्रह्माकी प्रार्थना की। ब्रह्माने अपनी बुद्धिसे एक लाख अध्यायोंके एक ग्रन्थका निर्माण किया। उसमें धर्म, अर्थ और कामका वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त उसमें प्रजापालनकी विद्या भी विस्तारपूर्वक बतलाई गई है। साम, दान, दण्ड, भेद आदिका भी वर्णन उसमें है, और लोगोंको दण्ड देनेकी रीति भी उसमें बतलाई गई है। यह ग्रन्थ ब्रह्माने शङ्करको सिखलाया; शङ्करने इन्द्रको, और इन्द्रने बृहस्पतिको सिखलाया। बृहस्पतिने ३००० अध्यायोंमें उसको संक्षिप्त करके जनतामें प्रसिद्ध किया। वही बृहस्पतिनीति है। शुक्रने फिर उसका १००० अध्यायोंमें संक्षेप किया। प्रजापतिने यह ग्रन्थ पृथ्वीके पहले राजा अनङ्गको दिया और उससे कहा कि इस शास्त्रके अनुसार राज-काज करो। जब उसके नाती वेनने इन नियमोंका उल्लङ्घन किया और वह अपनी प्रजाको कष्ट देने लगा, तब ऋषियोंने उसे मार डाला और उसकी जाँघसे पृथु नामका राजा उत्पन्न किया। उसे ब्राह्मणों और देवताओंने कहा—'राग और द्वेष त्याग करके, सब लोगों-

के विषयमें सम-भाव रखकर, इस शास्त्र-के अनुसार पृथ्वीका राज्य कर। यह भी अभिवचन दे, कि ब्राह्मणोंको दण्ड नहीं दूँगा और वर्ण-सङ्कर न होने दूँगा।" तब पृथुने वैसा वचन दिया और पृथ्वी-का राज्य न्यायसे किया। उसने पृथ्वी पर-से पत्थर अलग कर दिये। इससे पृथ्वी पर सब प्रकारके शस्य और वनस्पतियाँ पैदा होने लगीं। उसने प्रजाका रञ्जन किया जिससे उसे 'राजा' संज्ञा प्राप्त हुई। विष्णुने तपसे उसके शरीरमें प्रवेश किया और यह नियम बना दिया कि उसकी आज्ञाका कोई उल्लङ्घन न करे। अतएव सारा जगत् राजाको देवताके समान प्रणाम करता है। राजा विष्णुके अंशसे जन्म लेता है। उसे जन्मसे ही दण्डनीतिका ज्ञान रहता है" (शान्ति पर्व अ० ६)। इस प्रकार, महाभारत-कालके तत्त्ववेत्ताओंने, राजाकी सत्ताकी उत्पत्ति-के विषयमें विवेचन किया है। ब्रह्माने विष्णुके अंशसे राजाको विभूति इसलिए उत्पन्न की है कि लोगोंमें अधर्मकी प्रवृत्ति न होने पावे। परन्तु उन्होंने यह सिद्धान्त बतलाया है कि राजाके साथ ही साथ ब्रह्माने दण्डनीतिका शास्त्र भी उत्पन्न किया है।

नीति-नियमोंसे राजसत्ताका नियन्त्रण।

राजाकी अनियन्त्रित सत्ताको निय-मित करनेकी व्यवस्था इस तरह की गई थी। अब उस पर कुछ और ध्यान देना चाहिए। यद्यपि हिन्दुस्थानके प्राचीन राजा लोग अनियन्त्रित राजसत्तावाले थे, तथापि वे एक रीतिसे सुव्यवस्थित और नियन्त्रित भी थे। लोगोंकी रक्षाके *लिए जो नियम ब्रह्माने बना दिये थे,* उनका उल्लङ्घन करनेका राजाको भी अधि-कार न था। उन्हें घटाने या बढ़ानेका भी अधिकार राजाको न था। जिस प्रकार राजाके अधिकार परमेश्वरसे प्राप्त हुए थे, उसी प्रकार राज्यशासनके नियम भी परमेश्वरसे निर्मित होकर प्राप्त हुए थे। अतएव उनका अनादर करनेका, उन्हें बदलनेका या नये नियमोंको जारी करने-का अधिकार राजा लोगोंको न था। प्राचीन भारती आर्य तत्त्ववेत्ताओंने राजाओंके अनियन्त्रित अधिकार या राजसत्ताको इस रीतिसे नियन्त्रित कर देनेकी व्यवस्था की थी।

प्राचीन तथा अर्वाचीन अथवा प्राच्य तथा पाश्चात्य राजसत्ता-सम्बन्धी कल्पना-में जो यह महत्वका भेद है, उस पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। राजकीय सत्ताका स्थान चाहे राजा रहे या प्रजासत्ताक राज्यकी कोई लोक-नियुक्त राज-सभा रहे, पाश्चात्य तत्त्वज्ञानियोंकी यह मीमांसा है कि सब नियम या कानून उसी केन्द्र-स्थानसे बनते हैं। पाश्चात्य राजनैतिक शास्त्रका कथन है कि कानूनमें जो कानूनका स्वरूप है, अथवा कानूनका जो बन्धन है, वह राजसत्ताकी आज्ञासे प्राप्त हुआ है। इस रीतिसे देखा जाय तो पाश्चात्य देशोंमें राजा या राजकीय संस्थाओंका मुख्य कर्त्तव्य यही होता है कि राजा, प्रजाके व्यवहारके लिए, समय समय पर कानून बनावे। राजाके अनेक अधिकारोंमेंसे बड़े महत्त्वका एक अधिकार यह है कि राजा नये कानून बना सकता है; और स्वेच्छाचारी राजागण समय समय पर जुल्मसे कानून बनाकर लोगों-को कायदेकी रीतिसे सता सकते हैं। हिन्दुस्थानके भारती आर्योंकी विचार-पद्धति इससे भिन्न थी। उनकी रायमें कायदोंका उद्गमस्थान राजाकी सत्तामें नहीं है; इन कायदों या नियमोंके लिए

प्रत्यक्ष ईश्वर या ब्रह्माकी आज्ञाका ही आधार है। ये आज्ञाएँ बृहस्पतिके दण्ड-नीति-शास्त्रमें वर्णित हैं और श्रुति-स्मृति आदि ग्रन्थोंमें प्रतिपादित हैं। इन आज्ञाओंको बदलनेका या नई आज्ञाओंको प्रकाशित करनेका अधिकार राजा लोगोंको नहीं है। वर्तमान समयमें राजसत्ताका जो प्रधान अंग प्रसिद्ध है वह हिन्दुस्थानके प्राचीन राजाओंका न था। उस समयके राज्योंमें, आजकलकी नाईं, लेजिस्लेटिव कौन्सिलें न थीं। नये अपराध या नये दण्ड उत्पन्न करनेका राजसत्ताको अधिकार न था। वारिसोंके सम्बन्धमें जो पद्धति धर्मशास्त्रमें बतलाई गई है उसे राजा बदल नहीं सकते थे। वे ज़मीनका महसूल बढ़ा नहीं सकते थे। राजा लोगोंका यही काम था कि वे धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्रमें बतलाये हुए नियमोंका परिपालन समबुद्धिसे तथा निष्पक्ष होकर करें। यदि धर्मशास्त्रकी आज्ञाके समझनेमें कुछ सन्देह हो, तो ऐसी सभाकी राय ली जाय जिसमें धर्म-शास्त्रवेत्ता ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सम्मिलित हों; और फिर कायदेका अर्थ समझकर उसका परिपालन किया जाय। हाँ, यह बात सच है कि राजकीय सत्ता-सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्तोंसे उन्नतिमें थोड़ासा प्रतिबन्ध होता होगा। परन्तु स्मरण रहे कि इस व्यवस्थाके कारण राजाओंके अनियन्त्रित और स्वेच्छाचारी व्यवहारको कायदेका स्वरूप कभी नहीं मिल सकता। और इस व्यवस्थासे समाजकी स्थितिको चिरस्थायी स्वरूप प्राप्त हो जाता है। यह कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि इस प्रकार समाजकी स्थिरता सिद्ध हो जानेके कारण, प्राचीन कालमें, हिन्दुस्थानके राज्य अनियन्त्रित राजसत्ताके अधीन होने पर भी बहुत सुखी थे।

उक्त कथासे यह भी अनुमान निकलता है कि जो राजा धर्मशास्त्रके अनुसार प्रजाका परिपालन न करे, उसे अलग कर देनेका अधिकार ऋषियोंको था। प्राचीन कथा है कि ऋषियोंने वेन राजाको मार डाला था। अब यह देखना चाहिए कि ऐसे कुछ और उदाहरण भी महाभारतमें हैं या नहीं। परन्तु उस समय यह कल्पना अवश्य थी कि राज्य करनेका अधिकार राजवंशको ही है, क्योंकि वेन राजाकी जाँघसे नया पुत्र उत्पन्न करके उसे राजा बनाया गया था। जहाँ यह कल्पना होती है कि राजसत्ता ईश्वरदत्त है, वहाँ राजवंशका ही आदर होता है। यह बात पाश्चात्य तथा प्राच्य देशोंके अनेक उदाहरणोंसे सिद्ध हो सकती है। इसी कारण हिन्दुस्थानमें प्राचीन कालसे भारत-कालतक अनेक राजवंश बने रहे। जब बौद्ध धर्मके प्रचारसे धर्मशास्त्रके सम्बन्धमें लोगोंका आदर-भाव घट गया, तब राजसत्ता पूरी अनियन्त्रित हो गई और साथ ही साथ राजवंशका आदर भी घट गया। परिणाम यह हुआ कि जो चाहे सो राजा बनने लगा और मनमाना राज्य करने लगा। यहाँ इतना अवश्य कह देना चाहिए कि यह परिस्थिति महाभारत-कालके लगभग उत्पन्न हुई थी जो उसके बाद विशेष रूपसे बढ़ती चली गई।

राजा और प्रजाके बीच इकरारकी कल्पना।

राजसत्ताकी मूल उत्पत्ति कैसे हुई? और, उस सत्ताके साथ ही साथ न्यायानुसार राज्य करनेकी जवाबदेही राजा लोगों पर कैसे आ पड़ी? इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें एक और सिद्धान्त महाभारतमें पाया जाता है। इस सिद्धान्तमें यह कल्पना की गई है कि राजा और प्रजाके

बीच इकरार हुआ था। पाश्चात्य देशोंमें हॉब्स आदि राजकीय तत्त्ववेत्ताओंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि आरम्भमें राजा और प्रजाके बीच इकरार होता है। इस बात पर ध्यान रहे कि हज़ारों वर्ष पहले भारती आर्योंने यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। शान्ति पर्वके ६७ वें अध्यायमें यह वर्णन है कि पहले राजाके न रहनेसे बली निर्बलको, जलकी मछलियोंकी नाईं खाने लगे। तब सब लोगोंने मिलकर नियम किया कि "जो कोई किसीसे कटु भाषण करेगा, उसे मारेगा, या किसीकी स्त्री या द्रव्यका हरण करेगा, उसे हम त्याग देंगे। यह नियम सब वर्णोंके लिये एकसा है"। परन्तु जब इसका परिपालन न हुआ तब सारी प्रजा ब्रह्माके पास गई और कहने लगी कि हमारा प्रतिपालन करनेवाला कोई अधिपति हमें दो। तब ब्रह्माने मनुको आज्ञा दी। उस समय मनुने कहा—"मैं पापकर्मसे डरता हूँ। असन्मार्गसे चलनेवाले मनुष्यों पर राज्य करना पाप है।" तब लोगोंने कहा,—"राष्ट्रमें जो पाप होगा सो कर्त्ताको लगेगा। तू मत डर। तुझे हम पशुओंका पचासवाँ हिस्सा और अनाजका दशमांश देंगे। कन्याओंके विवाहके समय हम तुझे एक कन्या देंगे। शस्त्र, अस्त्र और वाहन लेकर हमारे मुखिया लोग तेरी रक्षाके लिए तेरे साथ रहेंगे। तू सुख तथा आनन्दसे राज्य कर। हम अपने धर्माचरणका चौथा हिस्सा भी तुझे देंगे।" इसको स्वीकार कर मनु राज्य करने लगा। अधर्मी लोगों और शत्रुओंको दण्ड देकर धर्मके समान उसने राज्य किया। इस कथामें इकरार-सम्बन्धी यह कल्पना की गई है कि राजा, धर्मके अनुसार प्रजा पर राज्य करे तथा अधर्मियोंको दण्ड दे: और प्रजा उसे कर दे, मुख्यतः जमीनकी पैदावारीका दशमांश, पशु तथा व्यापार आदिका पचासवाँ हिस्सा दे। यह मान लेनेमें कोई हर्ज नहीं कि प्राचीन कालमें भरतखण्डके राजा और प्रजा दोनों इस प्रतिज्ञाके अनुसार चलते थे और राजा लोग इससे अधिक कर नहीं लेते थे।

अराजकताके दुष्परिणाम।

प्राचीन कालमें इस प्रकार इकरार-सम्बन्धी और धर्मशास्त्र-सम्बन्धी दोनों कल्पनाओंके प्रचलित होनेसे राजाओंको मनमाना व्यवहार करनेका मौका नहीं मिलता था। यदि कोई राजा अत्याचार करे भी, तो उसके अत्याचारको कायदेका स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता था, इसलिए उसका जुल्म कुछ थोड़ेसे लोगोंको हानि पहुँचाता और सारे राष्ट्रके लिए हानिकर नहीं होता था। इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि राजा चाहे जितना अत्याचारी क्यों न हो, परन्तु जिस समाजमें अराजकता प्रबल है उसकी अपेक्षा, राजसत्तासे शामिल राज्य सदा अधिक बलवान् और सुखी रहता है। अराजकतासे उत्पन्न होनेवाले परिणाम महाभारतमें उत्तम रीतिसे वर्णित हैं। ऐसी अराजक परिस्थिति इतिहासमें बार बार उत्पन्न हुआ करती होगी, इसलिए इसके बुरे परिणामोंकी ओर लोगोंका ध्यान आकर्षित हुआ होगा। शांति पर्वके ६८ वें अध्यायमें यह वर्णन है—"राजा धर्मका मूल है। अधर्मी लोगोंको दंड देकर वह उन्हें रास्ते पर लाता है। जैसे चन्द्र और सूर्यके न होनेसे जगत अँधेरेमें सुस्त हो जायगा, वैसे ही राजाके न होनेसे सब लोग नष्ट हो जायँगे। कोई यह न कह सकेगा कि यह वस्तु मेरी है। राजाके न होनेसे स्त्री, पुत्र, द्रव्य आदि सब नष्ट हो

आयँगे। सर्वत्र शून्याकार हो जायगा। दुष्ट लोग अन्य जनोंके वाहन, वस्त्र और अलंकार जबरदस्ती छीन लेंगे। धनवान लोगोंको प्रति दिन हत्या और बन्धनका भय बना रहेगा। कोई किसीकी बात न मानेगा। लोग डाकू बन जायँगे। कृषि और वाणिज्यका नाश हो जायगा। विवाहका अस्तित्व नष्ट हो जायगा। धर्म और यज्ञ नष्ट हो जायँगे। चारों तरफ हाय हाय मचेगी। विद्याव्रत-सम्पन्न ब्राह्मण वेदोंका अध्ययन न करेंगे। सारांश, सब लोग भयसे व्याकुल होकर इधर उधर भागने लगेंगे। जबतक राजा प्रजाकी रक्षा करता है, तबतक लोग अपने घरोंके दरवाजे खुले रखकर निर्भय सोते हैं।" इस प्रकार अराजकताका वर्णन महाभारतमें अधिकतासे पाया जाता है। अतएव भारती कालमें इस बात पर विशेष जोर दिया जाता था कि हर एक राज्यमें राजाका होना आवश्यक है। युधिष्ठिरने जब प्रश्न किया कि प्रजाका मुख्य कर्तव्य क्या है, तब भीष्मने यही उत्तर दिया कि राजाका चुना जाना ही पहला उद्योग है। यह भी कहा गया है कि बाहरसे कोई बलवान राजा राज्यार्थी होकर आवे तो अराजक राष्ट्र उसका सहर्ष आदर करे, क्योंकि अराजकतासे बढ़कर दूसरी भयानक स्थिति नहीं है।

अथ चेत् अभिवर्तेत राज्यार्थी बलवत्तरः।
अराजकानि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः॥
प्रत्युद्गम्याभिपूज्यःस्यादेतदेव सुमंत्रितम्।
नहि पापात् परतरमस्ति किंचिदराजकात्॥

जबकि अराजकतासे परकीय राजा भला है, तब तो कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अपना स्वकीय अत्याचारी राजा अराजकतासे बहुत ही अच्छा है। मालूम होता है कि अराजकताके भयके कारण हिन्दुस्थानमें प्राचीन कालमें ही राजसत्ता अधिक बलवान हो गई।

राजाका देवता-स्वरूप।

महाभारत-कालमें अनियंत्रित राजसत्ता पूरी तरहसे प्रस्थापित हो गई थी। सब लोगोंमें यह मत प्रचलित हो गया था कि राजाके शरीरको किसी तरहकी हानि न पहुँचने पावे। यदि कोई मनुष्य राजाके सम्बन्धमें अपने मनमें कुछ भी पाप-भाव रखेगा, तो वह इस लोकमें क्लेश पाकर परलोकमें नरकका भागी होगा; यथा—

यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाप्यनुचिंतयेत्।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्यापि नरकं व्रजेत्॥

शांति पर्वका यह श्लोक भी प्रसिद्ध है—

नहि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

"राजाको मनुष्य जानकर कोई कभी उसका अपमान न करे, क्योंकि मनुष्यरूपसे वह एक देवता ही पृथ्वी पर स्थित है।" जब राजा लोगोंको दंड देता है, तब वह यमधर्मरूप है। जब वह पापी लोगोंको सजा देता है, तब वह अग्नि-स्वरूप है। जब वह पृथ्वी पर भ्रमण करके राष्ट्रकी देख-भाल करता है, तब सूर्यस्वरूप है। जब वह अपकार करनेवाले लोगोंकी संपत्ति और रत्न छीनकर दूसरोंको देता है, तब वह कुबेर-स्वरूप है। मनुष्य कभी राजद्रव्यका अपहार न करे। जो अपहार करेगा वह इस लोकमें और परलोकमें निंदित होगा।" सारांश यह है कि राजाओंका देवता स्वरूप महाभारत-कालमें पूर्ण रीतिसे प्रस्थापित हो गया था। और, राजाके सम्बन्धमें लोगोंके मनमें पूज्य भाव इतना अधिक दृढ़ हो गया था कि राजाके शरीरको स्पर्श करना भी महापातक समझा जाता था।

दण्ड-स्वरूप।

प्रजाका पालन करना और प्रजाका न्याय करना ही राजाका प्रधान कर्तव्य था। दुष्ट मनुष्यको दण्ड देनेका अधिकार राजाको था। राजाके इस अधिकारको 'दण्ड' संज्ञा प्राप्त हुई थी। महाभारत-कालमें इस दण्डका एक विलक्षण स्वरूप प्रस्थापित हो गया था। शांति पर्वके १२१वें तथा १२२वें अध्यायोंमें इसका वर्णन है। वह दण्ड कैसा होता है? उसका स्वरूप क्या है? उसका आधार कौनसा है? इत्यादि प्रश्न युधिष्ठिरने किये हैं और इनके उत्तर देते हुए भीष्मने दण्डका वर्णन किया है। यह एक चमत्कारिक रूपक है। "इस दण्डको प्रजापतिने प्रजाके संरक्षणके लिए ही उत्पन्न किया है। उसीका नाम है व्यवहार, धर्म, वाक् और वचन। यदि इस दण्डका सदैव तथा उचित उपयोग किया जाय तो धर्म, अर्थ और कामकी प्रवृत्ति होती है। इसका उपयोग समबुद्धिसे तथा रागद्वेषका त्याग कर किया जाना चाहिए। यह दण्ड श्याम वर्णका है। इसके दंष्ट्रा, चार बाहु, आठ पैर, अनेक नेत्र और शंकुतुल्य कर्ण हैं। वह जटा धारण किये और कृष्णाजिन पहने है*। ब्रह्माने उसे क्षत्रियोंको ही दिया है, अन्य लोगोंको नहीं। राजाको उचित है कि वह उसका मनमाना उपयोग न करे, किन्तु ब्रह्माने जिस दण्ड-नीतिका निर्माण किया है, उसके अनुसार उसका उपयोग करे। राजाके समस्त कर्तव्य इस दण्ड-नीतिके ग्रन्थमें बतलाये गये हैं। मनुष्यकी आयु बहुत छोटी होती है, इसलिए बृहस्पतिने उस ग्रन्थको संक्षिप्त कर दिया है।" ऐसा अनुमान करनेमें कोई हर्ज नहीं कि बृहस्पतिका यह ग्रन्थ और शुक्रकी नीतिका ग्रन्थ, दोनों महाभारत-कालमें प्रसिद्ध थे और उनके तत्व महाभारतांतर्गत शान्ति पर्वके राजधर्म-भागमें दिये गये हैं। मालूम होता है कि ये तत्व बहुत उदात्त स्वरूपके थे, और महाभारत-कालमें राजकाज तथा राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी कल्पना बहुत ही अच्छी थी। परन्तु इस बात पर भी ध्यान रहे कि महाभारत-कालमें राजसत्ता क्षत्रियोंके ही अधीन थी और ब्रह्माने दण्ड उन्हींको सौंप दिया था। समाजमें क्षत्रियोंको राजसत्ताका अधिकार प्राप्त था। परन्तु ब्राह्मण-वर्ग उनसे भी श्रेष्ठ माना जाता था। बहुधा राजा लोगोंकी श्रद्धा धर्ममें पूर्णतासे रहा करती थी, इस कारण धर्मकृत राज-व्यवहारके नियमोंको तोड़ देनेके लिये वे सहसा उद्युक्त नहीं होते थे। यदि वे उद्युक्त हो भी जाँय, तो उन पर ब्राह्मणोंकी धाक रहा करती थी: इस कारण विद्या और व्रतसे सम्पन्न ब्राह्मण उन्हें उपदेश दिया करते थे। अतएव, प्राचीन-कालमें राजसत्ता चाहे कितनी ही अनियंत्रित क्यों न रही हो, परन्तु उससे अत्याचार या अंधाधुन्धी कभी उत्पन्न नहीं हुई। बृहस्पतिकी कथासे यह भी देख पड़ता है कि विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण राजसत्ताके बाहर थे। अब हम विस्तारपूर्वक इस बातका विचार करेंगे कि राजकीय संस्थाएँ दण्डनीतिके अनुसार किस तरह अपना काम करती थीं।

बृहस्पति-नीतिमें वर्णित विषय।

इसमें सन्देह नहीं कि बृहस्पति और शुक्रके ग्रन्थोंके आधार पर ही, शान्ति पर्वके ५९ वें अध्यायमें, दण्ड-नीतिका वर्णन संक्षेपमें किया गया है। शुक्रनीति ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है, परन्तु उसमें

* इस स्वरूपकी कल्पनाको समझा देनेका प्रयत्न टीकाकारने किया है। इस पर आगे विचार किया जायगा।

आधुनिक परिस्थितिका वर्णन दिया गया है। महाभारतमें बतलाई हुई राजनीति बहुत प्राचीन है। बृहस्पतिका ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं। फिर भी शान्ति पर्वके उपर्युक्त अध्यायसे स्पष्ट मालूम हो जाता है कि बृहस्पतिके ग्रन्थमें कौन कौन विषय थे। और इससे यह बात भली भाँति मालूम हो जाती है कि दण्ड-नीतिमें कौन कौन विषय थे, तथा भारती-कालमें प्रजा-शासन-शास्त्र कैसा था। इस ग्रन्थमें सबसे पहले यह बतलाया है कि मनुष्यका इतिकर्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है। दण्डनीतिमें बतलाया गया है कि धर्म या नीतिकी रक्षा कैसे करनी चाहिए। अर्थ-प्राप्तिकी रीति सिखाने वाला शास्त्र 'वार्त्ता' नामसे प्रसिद्ध है। मोक्षका वर्णन करनेवाले शास्त्रको आन्वीक्षिकी कहते हैं। इन विभागोंके अनन्तर राजाके छः अङ्गों—मंत्रिवर्ग, जासूस, युवराज आदि—के सम्बन्धमें विचार किया गया है। इसके बाद यह विषय है कि शत्रुके साथ साम, दान, दण्ड, भेद और उपेक्षाकी रीतिसे कैसे व्यवहार किया जाना चाहिए। इसमें सब प्रकारके गुप्त विचार, शत्रुओंमें भेद करनेके मंत्र, निकृष्ट, मध्यम और उत्तम संधि, दूसरे राज्य पर चढ़ाई, धर्म-विजय और आसुर-विजय, आदि बातोंका वर्णन किया गया है। अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, बल और कोष नामक पाँच वर्गोंके लक्षण बतलाये गये हैं। सेनाके वर्णनमें रथ, गज, अश्व, पदाति, विष्टि, नौका, गुप्तदूत और उपदेशक आठ अङ्ग बताये गये हैं। जारण, मारणादि उपाय, शत्रु, मित्र और उदासीनका वर्णन, भूमिका वर्णन, आत्म-संरक्षण, मनुष्य, गज, रथ और अश्वकी दृढ़ता तथा पुष्टताके अनेक उपाय, नाना प्रकारके व्यूह, इत्यादि बातें बतलाई गई हैं। युद्धके समयकी भिन्न भिन्न कार्रवाई, उत्पात, आगे बढ़ना, पीछे हटना, शस्त्र, शस्त्रोंको उत्तेजित करना, फौजको आनन्दित रखनेके उपाय, सैनिकोंका धैर्य बढ़ानेके प्रकार, दुन्दुभी-की ध्वनिसे प्रयाणादि बातें सूचित करने-के नियम, युद्धके भिन्न भिन्न मन्त्र, उनके चलानेके नियम, आदि बातोंका वर्णन है। दुश्मनोंके मुल्कमें जङ्गली लोगोंके द्वारा किसी प्रान्तका विध्वंस कराना, आग लगा देना, या विष-प्रयोग करना, या भिन्न भिन्न वर्गोंके नेताओंको बह-काना, या अनाज वगैरह काटकर ले जाना, हाथियोंको मस्त करा देना, या भय-ग्रस्त करा देना, और दुश्मनोंके नौकरोंमें दुश्मनी पैदा करना आदि बातें दण्डनीतिमें वर्णित हैं। यह भी वर्णन है कि राज्यकी उन्नति और अवनति किस प्रकार होती है। यह भी बतलाया है कि मित्र-राष्ट्रोंका उत्कर्ष किस रीतिसे करना चाहिए, प्रजाका न्याय कैसे करना चाहिए, चोरोंको कैसे निर्मूल करना चाहिए, बलहीनोंकी रक्षा कैसे करनी चाहिए, और बलवानोंको ठीक समय पर पारितोषिक कैसे दिया जाय। राजाओं और सेनापतियोंके गुण तथा दुराचारका वर्णन करके कहा गया है कि वे अपने दुराचारोंको किस प्रकार छोड़ दें। नौकरोंके वेतनका भी वर्णन है। राजाके लिए कहा गया है कि वह प्रमाद और संशय-वृत्तिका त्याग करे, जो द्रव्य प्राप्त न हो उसे प्राप्त करे, प्राप्तधनकी वृद्धि करे और बढ़ाये हुए धनका सत्पात्रको दान करे, वह अपने आधे धनका उपयोग धर्मके लिए करे, एक चतुर्थांश अपनी इच्छाके अनुसार व्यय करे, और शेष चौथे हिस्सेको संकटके समय काममें लावे। यह भी कहा है कि राजा इन चार व्यसनोंको छोड़ दे—मृगया, द्यूत, मद्य-

पान, और स्त्रियाँ, राजाके आचरण, पोशाक और आभूषणोंका वर्णन करते हुए शरीरको सुदृढ़ करनेके बहत्तर प्रकारोंका वर्णन किया गया है। उद्योग, धर्माचरण, सज्जनोंका आदर, बहुश्रुत लोगोंसे संभाषण, सत्य और मृदु वचन, उत्सव और सभा आदिका भी वर्णन है। यह भी कहा गया है कि राजा स्वयं अपने सेवकोंका काम जाँचे, दण्डनीय पुरुषोंको सज़ा दे और राष्ट्रके विस्तार तथा उत्कर्षके सम्बन्धमें विचार करे। इसमें भिन्न भिन्न जातियोंकी शूरता-क्रूरता आदि गुण-दोषोंका तथा अनेक जातियों, देशों और लोगोंके रीति-रवाजोंका भी वर्णन है। तात्पर्य यह है कि दण्डनीतिमें इस बातका सब प्रकारसे विचार किया गया है कि राष्ट्रके लोग आर्य-धर्मके अनुसार कैसे चलेंगे। उक्त वर्णनसे ज्ञात हो जायगा कि राजाके कर्तव्यों तथा राज-संस्थाके भिन्न भिन्न अङ्गोंकी जानकारी भारत-कालमें कैसी थी। शान्ति पर्वके राजधर्म-भागमें, सभापर्वके कच्चिदध्यायमें और महाभारतके अन्य अनेक भागोंमें, राजधर्म-सम्बन्धी जो बातें पाई जाती हैं, उनका वर्णन यहाँ चार विभागोंमें किया जायगा:—पहला राज-दरबार, दूसरा जमीनका महसूल, तीसरा न्याय और चौथा परराज्य-सम्बन्ध।

राज-दरबार।

पहले राज दरबारका विचार कीजिए। हर एक राजाकी मुख्यतः रहनेकी एक राजाधानी रहती थी। राजधानीसे लगा हुआ एक किला अवश्य रहता था। प्राचीन कालमें राजधानी और राजाकी रक्षाके लिए किलेकी बड़ी आवश्यकता थी। भिन्न भिन्न राजा लोगोंमें सदा शत्रुता रहती थी, इसलिए न जाने कब शत्रुका धावा हो जाय। यदि शत्रु एकाएक आ जाय तो उसका सामना करनेके लिए किलोंसे बहुत लाभ होता था। महाभारतमें छः प्रकारके किले बतलाये गये हैं। प्रथम, निर्जन रेतीले मैदानसे घिरा हुआ किला; दूसरा पहाड़ी किला; तीसरा भूदुर्ग (जमीन परका) किला; चौथा मिट्टीका किला; पाँचवाँ नर-दुर्ग और छठा अरण्य-दुर्ग। नर-दुर्ग केवल अलङ्कारिक नाम है। नर-दुर्ग यानी पलटनकी छावनीसे घिरा हुआ राजाके रहनेका स्थान; अर्थात् इस दुर्गमें सारा दार-मदार फ़ौज पर यानी मनुष्यों पर रहता है। भू-दुर्गके उदाहरण दिल्ली, आगरा आदि स्थानोंमें अनेक हैं। मिट्टीके किले (सह्याद्रिके) उच्च प्रदेशोंमें बहुत हैं। कोंकण प्रान्तमें पहाड़ी किले अनेक हैं। रेतीले मैदानके किले राजस्थानमें हैं। वहाँ बचावका बड़ा साधन यही है कि शत्रुको खुले मैदानमें से आना पड़ता है। अरण्य-दुर्गमें बचावका साधन यह है कि शत्रुको जङ्गल पार करके आना पड़ता है। नर-दुर्गका उदाहरण मराठोंके इतिहासमें पूनेका ही है। जब बाजीराव किला बनवाने लगा, तब शाहूने आज्ञा की थी कि तुम अपने बचावका दार-मदार किले पर न रखकर फ़ौज पर रखो। अस्तु; महाभारत-कालमें हर एक राज्यमें राजधानीका बहुधा एक किला रहता था। उसके चारों ओर बड़ी खाई रहती थी, और खाईके ऊपर ऐसे पुल रहते थे जो चाहे जिस समय निकाल दिये जा सकते थे और रखे जा सकते थे। जब सिकन्दरने पञ्जाबको जीता तब हर एक छोटे शहर और राज्यके ऐसे ही किलोंको उसे धावा करके लेना पड़ा। हर एक किलेमें अनाज तथा शस्त्र भरपूर रखे रहते थे। शान्ति पर्वके ८६ वें अध्यायमें विशेष रीतिसे

कहा है कि किलेमें पानीका सञ्चय होना चाहिए। राजाको किलेमें शस्त्र रखनेके कोठे, अनाज रखनेके कोठे और धन रखनेके कोठे आवश्यक हुआ करते थे। महाभारतमें कहा है कि किलेमें यन्त्र-सामग्री भी तैयार रखनी चाहिए। महाभारतमें युद्धके यन्त्रोंका जो वर्णन है वह प्रायः ग्रीक लोगोंसे लिए हुए यन्त्रोंका मालूम पड़ता है। कारण यह है कि बड़े बड़े किलोंको जीत लेनेके जो यन्त्र थे, वे बड़े भारी चक्रों पर ऊँचे किये हुए केटापल्ट अर्थात् पत्थर फेंकनेके यन्त्र थे, जिन्हें ग्रीक लोग अपने साथ लाये थे और जिनकी सहायतासे सिकन्दरने कई किले जीते थे। यदि इस समयके पहले भारती लोग इन यन्त्रोंको जानते होते, तो वे ग्रीक लोगोंकी चढ़ाईमें अधिक रुकावट डाल सकते। अतएव यह अनुमान हो सकता है कि महाभारत-कालमें इन यन्त्रोंकी जानकारी यूनानियोंसे ही हुई होगी।

दो प्रधान साधनों—राजधानी और किले—का वर्णन हो चुका। अब राजाके लिये महत्त्वका तीसरा साधन मन्त्री अथवा 'प्रधान' है। जिनके साथ राजनीति-सम्बन्धी मन्त्र या सलाह की जाती है, उन्हें मन्त्री कहते हैं। "अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत्"। (शान्ति० अ० ८५) श्लोकसे मालूम होता है कि ये मन्त्री आठ होंगे। (सम्भव है कि ये न्याय-सभाके आठ मन्त्री हों) अतएव, अष्ट-मन्त्री या अष्ट-प्रधानकी संस्था बहुत पुरानी जान पड़ती है। परन्तु महाभारतमें यह कहीं नहीं बतलाया गया कि यह आठ मन्त्री कौन हैं। सभा पर्वके पाँचवें अध्यायमें सात प्रकृतियाँ बताई गई हैं: परन्तु वहाँ भी इन सात प्रकृतियोंका वर्णन नहीं है। यह बात सच है कि राजाके पास इतने अधिकारी अवश्य रहें—मुख्य सचिव, सेनापति, पुरोहित, गुप्तदूत, दुर्गाध्यक्ष, ज्योतिषी और वैद्य। इनके सिवा और भी अधिकारी बतलाये गये हैं। कच्चिद्-ध्यायके एक श्लोकमें १८ अधिकारी बतलाये गये हैं। टीकाकारने उनके ये नाम दिये हैं:—१ मन्त्री या मुख्य 'प्रधान', २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति या चमूपति, ५ द्वारपाल या प्रतिहारी, ६ अन्तरवेशक या अन्तःपुरका अधिकारी, ७ कारागृहका अधिकारी, ८ कोषाध्यक्ष, ९ व्ययाधिकारी, १० प्रदेष्टा, ११ राजधानीका अधिकारी, १२ काम नियत करनेवाला अधिकारी, १३ धर्माध्यक्ष, १४ सभाध्यक्ष अथवा न्यायाधिकारी, १५ दंडाध्यक्ष, १६ दुर्गाध्यक्ष, १७ सीमाध्यक्ष और १८ अरण्याध्यक्ष। ये सब अधिकारी तीर्थ कहलाते थे। मालूम नहीं, यह नाम क्यों दिया गया। ये लोग पूज्य समझे जाते थे, इसीसे उन्हें तीर्थ कहा गया होगा। किसी अन्य स्थानमें चौदह अधिकारी बतलाये गये हैं जिनके नाम ये हैं:-१देशाधिकारी, २ दुर्गाधिकारी, ३ रथाधिपति, ४ गजाधिपाति, ५ अश्वाधिपाति, ६ शूरसैनिक (पदाति मुख्य), ७ अंतःपुराधिपति, ८ अन्नाधिपति, ९ शस्त्राधिपति, १० सेनानायक, ११ आयव्ययाधिपति, १२ धनाधिपति, १३ गुप्त दूत, और १४ मुख्य कार्यकर्त्ता। उक्त दोनों वर्णनोंसे पाठकोंको ज्ञात हो जायगा कि वर्तमान राज-व्यवस्थामें जितने अधिकारी होते हैं, प्रायः उनमें से सभी अधिकारी और उनके महकमे प्राचीन कालमें थे।

शांतिपर्व और सभापर्वमें राजाके व्यवहारका बहुत अच्छा विवेचन किया गया है। "राजा लोग सुखका उपभोग करें, परन्तु उनमें निमग्न न हों। धर्मके

लिए तत्पर रहें, परन्तु अर्थकी ओर दुर्लक्ष न करें। अर्थके लोभसे धर्मको न त्यागें। अर्थात् धर्मकी प्रीति, अर्थके लोभ और सुखकी अभिलाषाको मर्यादित रखें। धर्म, अर्थ और काम तीनों मर्यादाके बाहर न जाने पावें, अतएव तीनोंके लिए विशिष्ट समय निश्चित कर देना चाहिए। पूर्वाह्नमें धर्मकृत्य करना चाहिए, मध्याह्नसे सायंकालतक द्रव्यार्जनके काम करना चाहिए, और रात्रिमें सुखोपभोग करना चाहिए। राजा इन चौदह दोषोंसे दूर रहेः—"नास्तिकता, असत्य, क्रोध, प्रमाद, विलम्ब करना, ज्ञानी लोगोंसे न मिलना, आलस्य, इन्द्रियशक्ति, धनलोभ, दुष्टजनोंकी सलाह, निश्चित कार्यके लिए उदासीनता, रहस्यको खोल देना, देवताओंके उत्सव न करना और शत्रुको कब्जेमें न रखना।" शान्ति पर्वमें राजाके व्यवहारके ३६ नियम बतलाये गये हैं। वे भी अति उदात्त तथा उपयुक्त हैं। राजा राग-द्वेषको छोड़कर धर्माचरण करे, स्नेहका त्याग करे, नास्तिकताका स्वीकार न करे, कार्यका अवलम्ब न कर द्रव्य प्राप्त करे, ऐश्वर्यको स्वीकार न कर विषयोपभोग करे, दीनता न दिखावे, प्रिय भाषण करे, शूर रहे परन्तु आत्मस्तुति न करे, दानशूर रहे, पर कुपात्रको दान न दे। राजामें प्रगल्भता होनी चाहिए, पर निष्ठुरता नहीं। वह नीच लोगोंकी सङ्गति न करे, भाई-बन्धोंसे बैर न करे, ऐसे मनुष्यको दूतका काम न दे जिसकी उस पर भक्ति न हो, अपना हेतु न बतलावे, अपने गुणोंको आप ही न बतावे, सज्जनोंसे कुछ न ले, पूरा पूरा विचार किये बिना दण्ड न दे, गुप्त कार्रवाई प्रकट न करे, अपकार करनेवाले पर विश्वास न रखे, बिना ईर्ष्याके स्त्रियोंकी रक्षा करे, स्त्रीसेवन अतिशय न करे, सदा शुचि रहे, मीठा भोजन करे, पर वह हानिकारक न होने पावे, सन्मानियोंका मान रखे, निष्कपट भावसे गुरुजनोंकी सेवा करे, दम्भको छोड़ देवताओंका पूजन करे, सम्पत्तिकी इच्छा करे, पर इष्ट सम्पत्ति निन्दनीय न हो, सम्पत्तिका उपभोग करे, पर उस पर प्रेम न रखे, सावधान रहे, किन्तु कालज्ञान-शून्य न हो, अश्वासन दे, पर शत्रुको छोड़ देनेका आश्वासन न दे, शत्रु और उसके अपराधको बिना जाने उस पर हथियार न चलावे, शत्रुको मारने पर उसके लिये शोक नहीं करना चाहिए, बिना कारणके कोप न करे, अपराधी तथा अपकारी पर दया न करे।" ये सब नियम महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसा व्यवहार करनेवाला राजा सचमुच प्रजाके लिए सुखदायक ही होगा। इनके सिवा और कुछ नियम हैं: जैसे—राजा प्रातःकाल रात्रिमें किये हुए मन्त्रों पर विचार करे और प्रजाके कल्याणकारी उपायोंको सोचे। वह स्वयं अकेला कोई मन्त्र न करे, किसी दूसरेके साथ विचार करे, पर तीसरेके साथ नहीं। योग्य विचार करने पर जो निश्चय हो जाय उसके अनुसार शीघ्र ही कार्रवाई की जाय। वह मूर्ख लोगोंको अपने पास न रखे, किन्तु हजार मूर्खोंके बदले एक चतुर आदमी रखे। विद्वानोंको सदा पारितोषिक देकर सन्तुष्ट रखे। वह अपने नातेदारों और बुजुर्गोंको मदद दे। समय पर व्यापारियों और कारीगरोंकी सहायता करे और जो नौकर दरिद्रावस्थामें हों उन्हें ठीक समय पर सहायता दे। जो अधिकारी अपना काम ठीक ठीक करते हों, उन्हें बिना अपराधके अलग न करे। मुख्यतः राजा ईश्वरका भय मानकर सत्यको कभी न छोड़े। सारी राजसत्ताका आधारस्तम्भ सत्य है। राजा

विशेषतः सत्य पर पूरा ध्यान दे, क्योंकि कहा है—'यथा राजा तथा प्रजा'। यदि राजा सत्यको छोड़ देगा तो प्रजा भी तुरन्त सत्यको छोड़ देगी। राजा हमेशा उद्योग और परिश्रमका अवलम्ब करे। जो राजा आलसी और अ-तत्पर रहता है उसका सदैव नाश होता है। महाभारतमें—

राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्।
पृथिवी शग्यते राजन् सर्पो बिलशयानिव॥

यह प्रसिद्ध श्लोक है। इसमें वर्णित तत्व अत्यन्त महत्वका है और वह सब देशोंके लिए सब कालमें उपयोगी है। राजा हमेशा युद्ध करे और ब्राह्मण हमेशा प्रवास करे, तभी पहलेकी शूरता और दूसरेकी विद्वत्ता जाग्रत रह सकती है। राजा हमेशा मृदुभाषी और हँसमुख रहे, पर बीच बीचमें वह अपना रोष और तीव्रता भी प्रकट किया करे। वह अपने पास विद्वान लोगोंको एकत्र करे। वह ज़ोरसे कभी न हँसे और न नौकरोंसे कभी ठट्ठा करे। यदि राजा नौकरोंके साथ परिहास करनेकी आदत डालेगा, तो नौकर उसका अपमान करने लगेंगे और उसकी आज्ञा न मानेंगे। वह प्रजाको सदा सन्तुष्ट रखे और उसके कल्याणके लिए प्रयत्न करता रहे। यहाँ गर्भिणीकी उपमा बहुत ही मार्मिक है। जैसे गर्भवती स्त्री अपने सुखकी कल्पनाको छोड़ अपने पेटके बच्चेके कल्याणकी सदा चिन्ता करती है, वैसे ही राजा अपनी प्रजाके सुखकी चिन्ता करे। राजा किसी दूसरेके धनका लोभ न करे, और जिसे जो कुछ देना हो वह पूरा पूरा और समय पर दे दिया जाय। जो पीड़ित या दुःखित हों उनका पालन-पोषण राजा करे। वह किसी शूर पुरुषका अपमान न करे। वृद्ध और अनुभवी लोगोंसे मेल-मिलाप रखे। किसी प्रसङ्गमें धैर्यको न छोड़े। अच्छे आभूषण और वस्त्र पहनकर वह प्रसन्नमुख हो सदा प्रजाको दर्शन दे। किसीके लिए मनाही न रहे। प्रजाकी शिकायतों पर ध्यान दिया जाय। महाभारतका उपर्युक्त उपदेश बहुत ही मार्मिक है। महाभारत-कालमें राजा लोगोंका व्यवहार ऐसा ही रहा करता था। मुख्यतः पूर्व कालमें राजा कैसा ही क्यों न हो, उसकी सत्यनिष्ठा, न्याय और उदारताके सम्बन्धमें कभी किसीको सन्देह नहीं रहता था। प्रजाके साथ उसका प्रेम अपने निजके बच्चेके समान रहता था। फलतः प्राचीन कालमें राजा पर प्रजाकी भक्ति भी अतिशय रहा करती थी। और, अपने राजाके प्रति, हिन्दुस्थानकी प्रजाकी भक्ति इस समय भी प्रसिद्ध है।

महाभारतके वन पर्वमें धौम्यके मुखसे इस बातका बहुत मार्मिक विवेचन कराया गया है कि राज-दरबारमें सेवकोंका व्यवहार कैसा होना चाहिए। जब पाण्डव अज्ञातवासके लिए नौकर बनकर विराट नगरीको जाने लगे, तब धौम्यने यह उपदेश दिया था :-"बिना द्वारपालकी सम्मति लिए राजाके पास नहीं जाना चाहिए। किसीके भरोसे मत रहो। ऐसे स्थानमें बैठो जहाँसे कोई न उठावे, जहाँ बैठनेसे किसीको कुछ सन्देह हो वहाँ न बैठना चाहिए; और जिसके साथ बातचीत करनेसे किसीको कुछ सन्देह हो, उससे नहीं बोलना चाहिए। बिना पूछे राजासे कुछ भी न कहना चाहिए। राजस्त्रियोंसे या राजद्विष्ट लोगोंसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। यदि ऊँचे स्थानमें बैठना हो तो राजाकी आज्ञासे बैठना चाहिए। अग्निके समान राजाकी सेवा करनी चाहिए। उसके बहुत समीप भी न जाना चाहिए

और न उससे बहुत दूर ही रहना चाहिए। राजाके आज्ञानुसार चलना चाहिए। राजाज्ञाकी ओर दुर्लक्ष नहीं करना चाहिए। उसके साथ प्रिय और हितकारी भाषण करना चाहिए। ऐसा कभी न समझना चाहिए कि राजा मुझसे सुप्रसन्न है। राजाकी दाहिनी या बाईं ओर बैठना चाहिए। राजाके पीछे रक्षकोंके बैठनेकी जगह होती है। सामनेका आसन सदा छोड़ दिया जाय। राजाके समक्ष अपनी होशियारीका घमण्ड कभी न करे—यह घमण्ड न करे कि मैं होशियार हूँ या शूर हूँ। घमण्डी पुरुषका राजाके यहाँ अपमान होता है। राजाके सामने किसीके साथ धीरे धीरे बातचीत करते रहने, हाथ पैर हिलाते रहने, या इधर उधर थूकनेकी मनाही है। बहुत जोरसे हँसना न चाहिए। राजाका अपराध न करना चाहिए। राजाके सन्मुख या उसके पीछे उसकी स्तुति ही करनी चाहिए। उसके दोष नहीं ढूँढ़ने चाहिएँ। उसकी मिथ्या प्रशंसा भी न करनी चाहिए। राजाके हितकी ओर सदा ध्यान देना चाहिए। राजा बुलावे तो सेवक तुरन्त ही उसके सामने उपस्थित हो जाय और जो काम हो उसे कर दिखावे। राजकार्यमें पड़ने पर स्त्री, पुत्र, गृह आदिका स्मरण नहीं करना चाहिए। राजाकी पोशाककी नाईं अपनी पोशाक न रखे। किसी अधिकारके पद पर रहते हुए न तो राजाके धनको छुए और न किसीसे रिशवत ले। वाहन, वस्त्र, आभूषण आदि जो कुछ राजासे मिला, उसका आनन्द सहित स्वीकार करे और उसे पहने।" हर एक स्वीकार करेगा कि राजदरबारके नौकरोंके लिए धौम्यके बतलाये हुए उपर्युक्त नियम सर्वकालमें सब अधिकारियोंके पालने योग्य हैं।

अस्तु: और दो तीन बातें राजाके सम्बन्धमें कहने योग्य हैं। प्रथम

राजा गुणशताकीर्ण एष्टव्यस्तादृशो भवेत्।
(शान्ति० ११८-२२)

इत्यादि श्लोकोंमें राजाका देशज एक गुण बतलाया गया है। दूसरे भीष्मने कहा है कि एक हजार शूर और चुने हुए घुड़सवार हों तो पृथ्वीका राज्य जीता जा सकता है।

शक्या चाश्वसहस्रेण वीरारोहेण भारत।
संगृहीतमनुष्येण कृत्स्ना जेतुं वसुंधरा॥
(शान्ति० ११८-२८)

तीसरे, द्रव्य-सञ्चयके सम्बन्धमें इतनी सावधानी होनी चाहिए कि राजा द्रव्य-प्राप्तिकी किसी छोटी मदको भी न छोड़े। "नार्थमल्पं परिभवेत्" (शान्ति १२०-३६)। चौथे, राजा राष्ट्रकी रक्षा करे और राष्ट्र राजाकी रक्षा करे।

राजा राष्ट्रं यथाऽऽपत्सु द्रव्यौघैरपि रक्षति।
राष्ट्रेण राजा व्यसने रक्षितव्यस्तथाभवेत्॥
(शांति० १३०-३१)

धिक् तस्य जीवितं राष्ट्रं राज्ञो यस्यावसीदति।
अवृत्यान्यमनुष्योऽपि यो वैदेशिक इत्यपि॥
(शांति० अ० १३०-३४)

अधिकारी।

यह कहा गया है कि मंत्री, अमात्य आदि पदों पर जो अधिकारी राजाके द्वारा नियत किये जायँ वे होशियार, ईमानदार, सदाचार-सम्पन्न और वंश-परंपरागत हों। उनका सदा उचित सत्कार किया जाय। उन्हें उचित वेतन दिया जाय। यह बात विशेष रूपसे कही गई है कि राजाका एक पुरोहित भी होना चाहिए। उस समयके लोगोंकी धर्म पर श्रद्धा, तथा यज्ञयागादिसे निश्चयपूर्वक होनेवाले सांसारिक लाभोंके सम्बन्धमें विचार करनेसे ठीक ठीक ध्यानमें आ जाता है

कि धार्मिक कृत्योंमें उनकी कितनी श्रद्धा थी। अतएव ऐसा समझा जाता था कि राजाके लिए पुरोहितकी अत्यन्त आवश्यकता है। उसके विषयमें कहा गया है कि वह आचारवान्, कुलीन और बहुश्रुत हो: और राजा अपने पुरोहितका उचित आदर-सत्कार करे। पुरोहित बहुधा वंशपरंपरागत न हो। पाण्डवोंने धौम्य ऋषिको अपना नया पुरोहित बनाया था और ऐसा वर्णन है कि उससे उनका बहुत उत्कर्ष भी हुआ। होमशालाके लिए अलग याजक रहता था। ज्योतिष पर पूरा भरोसा होनेसे यह आज्ञा है कि राज-दरबारमें ज्योतिर्विद् नियत किया जाय। वह सामुद्रिक जाननेवाला, धूमकेतु, भूकम्प, नेत्रस्फुरण आदि उत्पात जाननेवाला, तथा भावी अनर्थोंका अनुमान करनेवाला हो। इसके सिवा राजाके पास एक न्यायाधीश भी अवश्य रहा करता था। इसका वर्णन आगे किया जायगा। इसी प्रकार सेनापति और सेनाके अन्य अधिकारियोंका भी वर्णन आगे किया जायगा। कोषाध्यक्ष, दुर्गाध्यक्ष आदि भिन्न भिन्न विभागोंके अध्यक्षोंको, वर्तमान प्रचलित भाषाके अनुसार, सुपरिण्टेण्डेण्ट कह सकते हैं। इनका दर्जा सचिव या मंत्रीसे कुछ कम था: तथापि वे महत्वके अधिकारी थे और वंशपरंपरासे ईमानदार समझे जाकर नियत किये जाते थे।

इन अधिकारियोंके अतिरिक्त एक महत्वका विभाग गुप्तदूतों या जासूसोंका था। जासूस या डिटेक्टिव सब देशोंमें तथा सब कालमें रहते ही हैं। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि महाभारत-कालमें जासूसोंका महत्व बहुत था। मालूम होता है कि धोखा देकर पर-राज्योंको जीत लेनेका महत्व उस समय बहुत होगा, और भिन्न भिन्न राजाओंको धोखेबाजीका डर भी हमेशा रहता होगा। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय अधिकारी लोगोंकी नीतिमत्ता बहुत सन्देह-युक्त रहती होगी। स्वदेश और स्वराज्यकी प्रीति प्रायः कम रही होगी: क्योंकि राजा बहुधा क्षत्रिय और स्वधर्मी होते थे, इसलिए उनके बदलने पर प्रजाकी बहुत हानि नहीं होती थी। राजाके बदल जानेसे अपराधी-अधिकारी लोगोंका हमेशा फायदा हुआ करता था। यह दशा भारत-कालमें न होगी, पर महाभारत-कालमें अवश्य होगी। इसके आगेके कालमें भी दुर्दैवसे हिन्दुस्थानकी यही दशा देख पड़ती है। दण्ड-नीतिमें विस्तारपूर्वक नियम बतलाये गये हैं कि राजा कैसे और कितने जासूस रखे और किस किसके लिए रखे। अनेक देशोंके राज्योंके उपर्युक्त अठारह अधिकारियों पर, हर एकके पीछे तीन तीन जासूस रखे जायँ। अपने देशके जो तीन अधिकारी छोड़ दिये गये हैं वे मंत्री, युवराज और पुरोहित हैं। इनकी जाँच या परीक्षा चरोंके द्वारा नहीं की जाती थी। इसका कारण समझमें नहीं आता। आशय यह होगा कि इनकी जाँच बहुधा राजा स्वयं करे। अतएव ये तीनों अधिकारी ईमानदार और कभी धोखा न देनेवाले माने जाते होंगे। जासूस एक दूसरेको पहचानते न हों। उनका भेष पाखण्डीके समान रहना चाहिए। ऐसा वर्णन है कि वे सारा हाल प्रभुको अर्थात् राजाको ठीक ठीक बतावें। यह भी बतलाया गया है कि जासूसोंका प्रबन्ध रहते हुए भी राजाको चाहिए कि वह स्वयं हर एक काम पर दक्षतापूर्वक निगाह रखे।

राजाके प्रतिहारी और शिरोरक्ष (आधुनिक शब्दोंमें एडिकांप और बाडी-

गार्ड) दोनों अधिकारी बहुत ईमानदार और कुल-परंपरागत रहते थे। वे विद्वान्, स्वामिभक्त, मिष्टभाषी, सत्यवादी, चपल तथा दक्ष होने चाहिएँ। यह विस्तारपूर्वक कहना आवश्यक नहीं कि इन दोनों अधिकारियोंके लिए इन गुणोंकी कितनी आवश्यकता है। इनका काम बहुत महत्व और जोखिमका रहता है। बाडीगार्डोंको छोड़ और दूसरे सशस्त्र संरक्षक भी राजाकी रक्षाके लिए उसके आस पास रहते थे। सभापर्वके कच्चित् अध्यायमें यह प्रश्न है:—

कच्चित् रक्तांबरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः। *उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिंदम* ॥

इस श्लोकसे मालूम होता है कि संरक्षकोंके वस्त्र भिन्न यानी लाल रंगके रहते थे और उनके शरीर पर सुन्दर आभूषण और हाथमें नंगी तलवारें रहती थीं। इससे यह तुरन्त मालूम हो जाता था कि ये राजाके शरीर-संरक्षक हैं। ये संरक्षक राजाके समीप कुछ अन्तर पर खड़े रहते थे। इन संरक्षकोंके वर्णनसे यह जान पड़ता है कि, कालिदास आदि कवियोंने जो यह लिखा है कि यावनी स्त्रियाँ शस्त्र लेकर हमेशा राजाके आसपास रहती थीं, वह रीति उस समयतक अर्थात् महाभारतकालीन राजदरबारमें प्रचलित नहीं हुई थी। मेगास्थिनीज़ने लिखा है कि चन्द्रगुप्तके समयमें भी राजा लोगोंके आस-पास सुन्दर और बलवान स्त्रियोंका पहरा रखनेकी परिपाटी थी। मनुस्मृतिमें भी "स्त्रीभिः परिवृता राजा" ऐसा वर्णन है। अतएव मनुस्मृतिके कालमें भी यह रीति थी। कालिदासने स्त्रियोंको यावनी कहा है। इससे प्रकट है कि ये स्त्रियाँ यवन जातिकी थीं और यह रीति पर्शियन और ग्रीक बादशाहोंके दरबारके रवाज परसे चन्द्रगुप्तके समय हिन्दुस्थानमें ली गई होगी। अर्थात् महाभारतमें जो कुछ कहा है वह इसके पूर्वके समयके राजा लोगोंकी परिस्थितिका वर्णन है। यहाँ यह शंका होगी कि हमने तो महाभारत-कालको चन्द्रगुप्तके पश्चात्का ठहराया है, इसलिए चन्द्रगुप्तके समयका वर्णन महभारतमें अवश्य आना चाहिए। परन्तु इसका उत्तर यह है कि यद्यपि हमने निश्चय किया है कि महाभारत अशोकके लगभग चन्द्रगुप्तके बाद शीघ्र ही बना है, तथापि हमने अपनी यह भी राय दी है कि वह महाभारत भी अशोककी बौद्धादि नूतन प्रवृत्तिका विरोध करनेके लिए लिखा गया है। इसलिए महाभारतकारने मगधोंकी नई राजधानी पाटलीपुत्रका कहीं उल्लेख नहीं किया। वहाँ जो नूतन बौद्ध धर्म प्रचलित हो रहा था, उसका भी उल्लेख उसने नहीं किया; वहाँ जो नया साम्राज्य स्थापित हुआ था उसका भी उसने उल्लेख नहीं किया; और उस नूतन साम्राज्यकी नई दरबार-पद्धतिका, सम्राट्के आसपास सशस्त्र स्त्रियोंके पहरेका, भी उसने वर्णन नहीं किया। भारती-कालसे छोटे छोटे राज्योंमें जो भिन्न भिन्न संस्थाएँ जारी थीं, उन्हींका उसने वर्णन किया है। मान सकते हैं कि महाभारत-कालमें भी ऐसे राज्य बहुतसे थे।

अन्तःपुर।

अब हम राजा लोगोंके अन्तःपुरका वर्णन करेंगे। राजाका महल अकसर किलेके अन्दर रहा करता था। उसमें कई आँगन या कक्षाएँ रहती थीं। बाहरकी कक्षामें सब लोगोंको आनेकी इजाज़त थी और दूसरी कक्षामें केवल अधिकारी और दरबारी लोग आ सकते थे। तीसरी कक्षामें

वस्त्रशाला, राजाके स्नान तथा भोजनगृह आदिका प्रबन्ध रहता था। चौथी* कक्षामें अन्तःपुर रहता था। यहाँका स्थान विस्तीर्ण रहता था और बड़े बड़े बाग-बागीचे रहते थे। राजाके अन्तःपुरमें स्त्रियाँ रहती थीं। राजाकी एक या अधिक पटरानियाँ होती थीं। परन्तु इनके सिवा, जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, उसकी और भी कई स्त्रियाँ रहती थीं। स्मरण रहे कि ये स्त्रियाँ केवल जबरदस्तीसे नहीं लाई जाती थीं। यह पहले कहा गया है कि ये अनेक स्त्रियाँ किस प्रकार एकत्र की जाती थीं। उससे मालूम होता है कि हर वर्ष विवाहके समय राजाको सुन्दर सुन्दर कन्याएँ अर्पण करनेकी परिपाटी प्राचीन कालमें सचमुच होगी। इसीसे राजाके अंतःपुरमें अनेक स्त्रियाँ एकत्र हो जाया करती थीं। अनियंत्रित राजसत्ता तथा अपरिमित वैभवके कारण राजाओंको अनेक स्त्रियोंकी इच्छा होना स्वाभाविक है और इस परिस्थितिमें जबरदस्ती स्त्रियोंको पकड़ ले जानेकी संभावना है। इसलिए इसके बदले, जो व्यवस्था ऊपर बतलाई गई है, वही अच्छी थी। कुछ भी कहा जाय, पर यह निर्विवाद है कि महाभारत-कालमें राजा लोगोंके अन्तःपुरमें अनेक स्त्रियाँ रहती थीं। इसके सम्बन्धमें, सभापर्वमें, नारदने राजा लोगोंको उचित उपदेश दिया है कि—"ऐसी स्त्रियोंको राजा लोग संतुष्ट रखें, उन पर कड़ा पहरा रखें और उनका विश्वास न करें। उन्हें गुप्त बातें न बतावें।" ये चारों बातें महत्त्वकी हैं। परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि ये बातें युधिष्ठिरके लिए कही गई हों। नारदका प्रश्न युधिष्ठिरके सम्बन्धमें अप्रयुक्त देख पड़ता है।

> कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसि
>
> कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः।
>
> कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां
>
> कच्चिद्गुह्यं न भाषसे॥

इस प्रश्नका उपयोग युधिष्ठिरके लिए कुछ भी नहीं हो सकता। युधिष्ठिरके एक ही स्त्री थी और उस पर पहरा रखनेकी कोई आवश्यकता भी न थी। उस पर उसका पूर्ण विश्वास था और उसे वह सब राजनैतिक गुह्य बतलाया करता था। अस्तु। इसमें सन्देह नहीं कि नारदका यह उपदेश सब राजा लोगोंके लिए बहुत उपयोगी है। समस्त राजा लोगोंके सम्बन्धमें पूरा विचार करनेसे यह प्रकट होता है कि अन्तःपुरकी स्त्रियोंसे कभी कभी हानि अवश्य होती थी। यूनानियोंने भी लिख रखा है कि कभी कभी अन्तःपुरकी स्त्रियोंसे राजाका प्राणघात विषसे या खूनी लोगोंके द्वारा किया जाता था। अतएव नारदको यह सूचना करनी पड़ी कि अन्तःपुरकी स्त्रियों पर कड़ा पहरा रखना चाहिए और उन पर विश्वास नहीं करना चाहिए। ऊपर दिये हुए युधिष्ठिरके और अन्य राजाओंके भिन्न गृह-वर्णनसे यह बात समझमें आ जायगी कि भारत-कालके आरम्भमें राजा लोगोंका गृहस्वास्थ्य कितना अच्छा था और वही महाभारत-कालतक कितना बिगड़ गया था।

हमें इस बातका स्मरण नहीं कि महाभारतके कश्चित् अध्यायमें या शान्ति पर्वके राजधर्म-भागमें या और कहीं, अन्तःपुरमें पहरा देनेके लिए वर्षवरों या खोजा लोगोंको नियत करनेकी पद्धति उल्लिखित है। भयङ्कर रीतिसे पुरुषोंका

---

* नैत्वतीय जनाकीर्णाः कक्षास्तिस्रो नरर्षभ।
अहङ्कारेण राजानामुपतस्थुर्गतव्यथाः॥

जरासन्धवध स० अ० २२ ३०

पुरुषत्व नष्ट करके अन्तःपुरकी स्त्रियोंके लिए उन्हें संरक्षक बनानेकी दुष्ट पद्धति भारती-कालमें हिन्दुस्थानके आर्य लोगोंमें प्रचलित न थी। परन्तु कथासरित्सागर-में लिखा है चन्द्रगुप्त या नन्दके समय हिन्दुस्थानमें पाटलिपुत्रमें वर्षवर थे। तब हमारा अनुमान है कि यह पद्धति, अन्य बादशाही रवाजोंके समान, पर्शियन लोगोंसे चन्द्रगुप्तके समयमें ली गई होगी। और, ऐसे लोग भी वहींसे लाये जाते होंगे। जबतक हिन्दुस्थानमें यवन, शक आदि पाश्चात्य म्लेच्छोंका राज्य बना रहा तभीतक यह पद्धति हिन्दुस्थानमें प्रच-लित रही होगी। परन्तु उनकी सत्ताके नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो गई। बाणने हर्षके अन्तःपुरका जो वर्णन दिया है उसमें वर्षवरोंका वर्णन स्मरण नहीं आता। दुर्दैवसे जब मुसलमानोंका राज्य हिन्दुस्थानमें स्थापित हुआ, तब यह रवाज फिर मुसलमानी राज्यमें घुसा। परन्तु हिन्दुस्थानी राजा लोगोंमें उसका प्रवेश बिलकुल नहीं हुआ। हर्षके इस पारके इतिहासमें यह प्रमाण नहीं पाया जाता कि क्षत्रिय या अन्य हिन्दू राजा लोगोंके अन्तःपुरमें खोजा लोग रहते थे।

राजाकी दिनचर्या।

द्रोण पर्वके ८२ वें अध्यायमें युधि-ष्ठिरकी दिनचर्याका जो कुछ वर्णन किया गया है वह मनोरञ्जक है और यहाँ देने योग्य है। "उँजेला होनेके समय गायन करनेवाले मगध, हथेलियोंसे ताल देते हुए, गीत गाने लगे। भाट तथा सूत युधिष्ठिरकी स्तुति करने लगे। नर्तक नाचने लगे, और सुस्वर कंठवाले गायक कुरुवंशकी स्तुतिसे भरे गीत गाने लगे। जो लोग बाजा बजानेके काममें शिक्षा पाकर निपुण हो गये थे, वे मृदङ्ग, झाँझ, पणव, आनक, शंख और प्रचण्ड ध्वनि करनेवाले दुन्दुभि आदि वाद्य बजाने लगे। तब युधिष्ठिरकी नींद खुली। आव-श्यक कार्योंके लिए उसने स्नानगृहमें प्रवेश किया। वहाँ स्नान किये हुए और शुभ्र वस्त्र पहने हुए १०८ तरुण सेवक उदकसे परिपूर्ण सुवर्णके कुम्भ लेकर खड़े थे। फिर युधिष्ठिर छोटासा वस्त्र परिधान कर चौकी पर बैठा। पहले बल-वान् और सुशिक्षित सेवकोंने अनेक वन-स्पतियोंसे तैयार किया हुआ उबटन उसके शरीरमें रगड़ रगड़कर लगाया। अनन्तर सुगन्धयुक्त उदकसे उसे नह-लाया। माथेके बाल सुखानेके लिए युधि-ष्ठिरने राजहंसके समान स्वच्छ कपड़ा सिरपर लपेटा। फिर शरीर पर चन्दनका लेप कर, धोती पहन, हाथ जोड़कर पूर्वकी ओर मुँह करके वह कुछ समयतक बैठा रहा। जप करनेके बाद वह प्रदीप्त अग्निगृहमें गया। वहाँ समिधा और आज्याहुतिका उसने समन्त्रक हवन किया। बाहर आकर उसने वेदवेत्ता ब्राह्मणोंका दर्शन किया और मधुपर्कसे उनकी पूजा की। उन्हें एक एक निष्क दक्षिणा दी; और दूध देनेवाली ऐसी सवत्स गाएँ दीं जिनके सींगोंमें सोना और खुरोंमें चाँदी लगी थी। फिर पवित्र पदार्थोंको स्पर्श करके युधिष्ठिर बाहरकी बैठकमें आया। वहाँ सर्वतोभद्रक नामका सुवर्णासन रखा था। उस पर उत्तम आस्तरण बिछा हुआ था और उसके ऊपरका भाग छतसे शोभायुक्त हो गया था। वहाँ बैठकर सेवकोंके द्वारा दिये हुए मोतियों और रत्नों-के तेजस्वी आभूषण उसने पहने। तब उस पर चँवर हिलने लगी जिसकी डंडी सोनेकी थी और जो चन्द्रकिरणोंके समान स्वच्छ थी। बन्दीजन उसे वन्दन करके उसकी गुणावली गाने लगे। इतनेमें रथ-

की प्रचण्ड ध्वनि सुनाई देने लगी; कवच और कुण्डल पहनकर हाथमें तलवार लिये हुए एक तरुण द्वारपाल अन्दर आया। उसने जमीन पर घुटने टेककर उस वन्दनीय धर्मराजको शिरसे प्रणाम किया और कहा कि श्रीकृष्ण भेंट करने आ रहे हैं।" उक्त वर्णनसे महाभारत-कालके समृद्ध और धार्मिक राजाओंकी प्रातःकालका दिनचर्या-भाग और दरबारका ठाठ पाठकोंकी दृष्टिके सामने आ जाता है।

मुल्की काम-काज।

महाभारत-कालमें भारती राज्य छोटे होते थे, परन्तु उनकी मुल्की अवस्था अच्छी रहती थी। नीचे दिये हुए वर्णनसे इस बातका परिचय हो जायगा। महाभारत-कालमें राज्यका कोई विभाग वर्णित नहीं दिखाई देता। कारण यह है कि आधुनिक समयके एक या दो ज़िलोंके बराबर महाभारत-कालके राज्य हुआ करते थे। उदाहरणार्थ, महाभारतके भीष्म पर्वमें भूवर्णन अध्यायमें दक्षिणमें पचास लोग या देश बतलाये गये हैं। आधुनिक हिन्दुस्थानमें, कृष्णा से दक्षिणकी ओर, ब्रिटिश राज्यमें इतने ज़िले भी नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि महाभारत-कालके देशों अथवा लोगोंकी मर्यादा लगभग वर्तमान ज़िलेके बराबर रहती थी। महाभारत-कालके बाद जब राज्य बड़े हुए, तब देश, विषय आदि शब्द ही विभाग-वाचक हो गये। महाभारत-कालके देशोंमें ग्राम अवश्य थे। ग्राम ही मुल्की काम-काजकी पहली और अन्तिम संस्था थे। मुल्की कामकाजके लिए हर एक गाँवमें एक मुखिया रहता था। उसे ग्रामाधिपति कहते थे। उससे बड़ा दस गाँवका, बीस गाँवका, सौ गाँवका और हज़ार गाँवका मुखिया होता था। एक गाँवका अधिपति अपने गाँवकी भली-बुरी सब खबरें दस गाँवके अधिपतिको दिया करता था; और वह अपनेसे श्रेष्ठ अधिपतिको बतलाया करता था। गाँवके अधिपतिका वेतन यही था कि वह अपने गाँवके पासके जङ्गलकी पैदावार पर अपना निर्वाह करे और अपने ऊपरवाले दस गाँवके अधिकारीको तथा उसके भी ऊपरवाले अधिकारीको जङ्गलकी पैदावारका हिस्सा दिया करे। सौ गाँवके अधिपतिको एक स्वतन्त्र गाँव उसके निर्वाहके लिए दिया जाता था। एक हजार ग्रामोंके अधिपतिको एक छोटासा नगर दिया जाता था। सम्पूर्ण राष्ट्रका मुल्की काम-काज एक स्वतन्त्र अधिकारीको सौंप दिया जाता था। यह देशाधिकारी मन्त्री राजाके पास रहता था। वह सब देशोंमें घूमकर ग्रामाधिपतियोंका राष्ट्र-सम्बन्धी व्यवहार देखता रहता था और जासूसोंके द्वारा भी उनकी जाँच किया करता था (भीष्म प० अ० ८५)। इनके सिवा, राज्यके सब बड़े बड़े नगरोंमें नगरोंके स्वतन्त्र अधिपति रहते थे। जिस प्रकार नक्षत्रों पर राहु अपना अधिकार जमाता है, उसी प्रकार यह अधिकारी नगरमें मूर्तिमान् भय ही रहता होगा। उपर्युक्त पद्धति कदाचित् काल्पनिक सी मालूम होगी। परन्तु वैसा नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि हर एक गाँवमें और हर एक बड़े नगरमें अधिपति रहते थे; और देशकी परिस्थितिके अनुसार, दस, बीस और सौ गाँवोंके अथवा न्यूनाधिक गाँवोंके अधिपति भी रहते थे। साधारणतः आधुनिक जिलोंके अनुसार, उस समयके राष्ट्रमें पन्द्रह सौसे दो हजारतक या कुछ न्यूनाधिक गाँव रहते होंगे। अर्थात् एक मुख्याधिकारी रहता

था, उसके नीचे दो सहस्राधिकारी रहते थे, और उनके नीचे विंशत्याधिकारी रहते थे। महाभारतमें कहा है कि इन लोगोंकी प्रवृत्ति हमेशा प्रजाको सतानेकी ओर रहती है। अतएव कहा गया है कि प्रधान मन्त्री, परधनका अपहार करनेवाले और शठ अधिकारी पर राहुके समान अपनी धाक रखे और उन लोगोंसे प्रजाकी रक्षा करे।

कर।

जमीन और व्यापारका कर मिलाकर राज्यकी मुख्य आय होती थी। और यह आय अनाज तथा हिरण्यके स्वरूपमें रहा करती थी। जमीनका महसूल बहुत प्राचीन कालसे यानी प्रारम्भमें मनुके कालसे जो लगा दिया गया है, वह एक दशांश ($\frac{1}{10}$) भाग है। परन्तु यह नियम आगे नहीं रहा और यह भाग एक षष्ठांश हो गया। सम्पूर्ण भारती-कालमें और आगे स्मृति-कालमें भी यही कर निश्चित देख पड़ता है

आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये॥
(शान्ति० अ० ६६)

बुद्धिमान् राजा प्रजासे उसकी रक्षाके लिए $\frac{1}{6}$ कर ले। सभा पर्वमें नारदने यही भाग बतलाया है और पूछा है कि इससे अधिक तो नहीं लेते? खेतमें जितना अनाज पैदा होता था उसका $\frac{1}{6}$ भाग लोगोंसे लेकर ग्रामाधिपति एकत्र करता था। अनाजके ऐसे कोठे जगह जगह भरे रहते थे। मालूम होता है कि जमीन पर लोगोंकी सत्ता रहती थी, और पैदावारका यह भाग करके तौर पर दिया जाता था। पशु पालनेवाले बहुतेरे मेषपाल और ग्वाल भी राज्यमें रहते थे और वे भी पशुओंका $\frac{1}{10}$ भाग राजाको देते थे। इस प्रकार राजाकी पशुशालाएँ स्वतन्त्र रीतिसे सम्पन्न रहा करती थीं। वाणिज्य पर केवल $\frac{1}{50}$ ही कर था। किसी वस्तुकी बिक्रीके दाम पर सैंकड़े २) के हिसाबसे सरकारको कर देना पड़ता था। अथवा पैदा की हुई चीज पर जो खर्च लगा हो उसे घटाकर, भिन्न भिन्न चीजों पर भिन्न भिन्न कर लिया जाता था।

विक्रयंक्रयमध्वानं भक्तंच सपरिच्छदम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वाणिजां कारयेत्करान्॥

शान्ति पर्वमें यह नियम बतलाया गया है कि खरीदनेकी कीमत, बेचनेकी कीमत, रास्तोंके किराये, कुल कारीगरोंके खर्च और स्वयं व्यापारियोंके निर्वाह इत्यादि बातोंका विचार करके बनियों पर कर लगाना चाहिए। कारीगरों पर भी कर रहता था; अथवा उनसे सरकारी काम बेगारमें लिया जाता था। समस्त कर इतने ही थे। जिन करोंका भाग नहीं बतलाया गया है वे कर इस रीतिसे लिये जायँ कि प्रजाको किसी प्रकार कष्ट न पहुँचे और उनकी वृद्धिमें भी रुकावट न हो। इस विषयमें वत्सका उदाहरण दिया गया है। हमेशा यही वर्णन पाया जाता है कि प्रजाको वत्स और राष्ट्रको गाय समझकर राजा, प्रजारूपी वत्सका योग्य प्रतिपालन करके राष्ट्ररूपी गायका दोहन करे। जिस समय राष्ट्रमें कोई कठिन सङ्कट उपस्थित हो जाय उस समय लोगोंसे विशेष कर न लेकर सामोपचारसे ऋण लिया जाय और सङ्कटके नष्ट होने पर वह चुका दिया जाय। इसके सम्बन्धमें, शान्ति पर्वमें, वैसा ही करनेके लिए कहा गया है जैसा आधुनिक युद्ध-ऋणके प्रसङ्गमें ब्रिटिश सरकारने किया है। ऐसे समय पर राजाको प्रजाकी जो प्रार्थना करनी चाहिए वह भी राज-धर्ममें दी है—

अस्यामापदि घोरायां संप्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतां प्रार्थयिष्ये धनानि वः॥
प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये।

(शान्ति० अ० ८७)

राजा यह कहे कि—"इस आपत्तिके प्रसङ्गमें दारुण भय उत्पन्न हुआ है, अतएव मैं तुम्हारी ही रक्षाके लिए तुमसे धन माँगता हूँ; भयका नाश होने पर मैं इस सब धनको तुम्हें लौटा दूँगा।" लिये हुए कर्जको चुका देनेका मामूली उपाय यह था कि शत्रुसे धन लिया जाय। परन्तु यदि केवल स्वसंरक्षण ही हो, तो लिये हुए धनको लौटा देनेका अन्य करोंके सिवा और कोई उपाय नहीं; अथवा मितव्ययितासे खर्चेका कम किया जाना भी एक उपाय है। परन्तु इसका यहाँ किसी प्रकार उल्लेख नहीं किया गया है। तथापि इतना मानना पड़ेगा कि यहाँ ऐसी आज्ञा है कि युद्धके समयका ऋण मीठे शब्दोंसे और लोगोंकी राजी-खुशीसे ही लिया जाना चाहिए।

राजाकी आयके लिए और भी कुछ कर महाभारतमें बतलाये गये हैं; उनमेंसे गोमी लोगों अर्थात् बनजारों पर लगाया हुआ कर एक मुख्य कर था। प्राचीन कालमें सड़कोंके न होनेके कारण एक राष्ट्रसे दूसरे राष्ट्रमें अनाज लाने और ले जानेका काम यही गोमी अर्थात् बंजारे लोग किया करते थे। बैलोंके हज़ारों झुंड रखकर उनपर गोनें लादकर अनाज और दूसरा माल लाने-ले जानेका काम यही लोग करते थे; इनपर कर लगाना मानों आयात और निर्यात मालपर कर लगाना है। परन्तु कहा गया है कि इन लोगोंके साथ प्रेमका व्यवहार करके उनसे धीरे धीरे कर लेना चाहिए, क्योंकि इन लोगोंके द्वारा राष्ट्रमें लेन-देनके व्यवहार तथा खेतीका उत्कर्ष होता है। शान्ति पर्वके ८७ वें अध्यायमें कहा है:—

"प्रभावयन्ति राष्ट्रं च व्यवहारं कृषिं तथा।"

यह भी कहा गया है कि राजा धीरे धीरे कर बढ़ावे। इसके लिए बंजारोंका ही उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार बैल पर लादे जानेवाला बोझ क्रमशः बढ़ाते चले जानेसे बैलकी शक्ति बढ़ाई जा सकती है, उसी प्रकार राष्ट्रकी भी कर देनेकी शक्ति बढ़ाई जा सकती है। हर जातिके मुख्य मुख्य लोगोंके साथ कुछ रिआयतें की जायँ, और समस्त जनसमूहके लिए करका हिस्सा साधारणतः अधिक रखा जाय। अथवा प्रमुख लोगोंमें भेद उत्पन्न करके समस्त लोगों पर कर बढ़ा दिया जाय। परन्तु साधारणतः सब श्रीमान् लोगोंके साथ खास रिआयत की जाय क्योंकि धनवान् लोग राजाके आधार-स्तंभ होते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि करोंके सम्बन्धमें ऐसे ही नियम सब समझदार राष्ट्रोंमें होते हैं।

इसके सिवा आमदनीके अन्य विषय खान, नमक, शुल्क, तर और हाथी थे। शान्तिपर्वमें कहा है कि इन सब विषयोंके लिए भिन्न भिन्न ईमानदार अमात्य रखे जायँ।

आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान्हितान्॥

'आकर' का अर्थ है खान। हिन्दुस्थानमें सोने, हीरे, नीलम आदिकी खानें प्राचीन कालमें बहुत थीं। आजकल वे कम हैं। इनसे जो आमदनी होती थी वह सब राजाकी ही होती होगी; परन्तु यहाँ तो केवल कर लेनेका नियम बतलाया गया है। यह स्पष्ट है कि इन कामोंकी पूरी देख रेख करनेके लिए और किसी प्रकारकी धोखेबाजी न होने देनेके लिए

ईमानदार और दक्ष अधिकारी नियत किये जानेकी आवश्यकता थी।

प्राचीन कालमें नमक बड़ी भारी आमदनीका विषय था। इस समय ब्रिटिश राज्यमें भी वह एक महत्त्वका विषय है। नमक समुद्रों या खदानोंमें पैदा होता है। सब स्थानोंमें नहीं होता। परन्तु उसकी आवश्यकता सभी लोगोंको हुआ करती है। अतएव नमक पैदा करनेवाले राष्ट्रमें और न पैदा करनेवाले राष्ट्रमें भी नमकका कर एक महत्त्वका कर होता है और उसके लिए किसी स्वतन्त्र ईमानदार अधिकारीकी आवश्यकता होती है। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि शुल्कसे किस वस्तुका बोध होता है। टीकाकारका कथन है कि जिस स्थानमें अनाज बेचा जाता है, उसे शुल्क कहते हैं। शुल्क वह कर होगा जो आजकल रजवाड़ोंके बाजारोंमें खरीद और बिक्री पर सायरके नामसे लिया जाता है। कन्याके विवाहके समय जो धन कन्याके पिताको दिया जाता है, उसे भी शुल्क कहते हैं। क्योंकि यह भी एक खरीद ही है; अर्थात् शुल्क नामक कर खरीद और बिक्री पर लगाया जाता होगा और पूर्व कथनानुसार वह फी सैंकड़े दो रुपया होगा। इस करके लिए भी एक स्वतन्त्र और ईमानदार अधिकारीकी आवश्यकता है। 'तर' उस करको कहते हैं जो नदी या समुद्र पार करनेके स्थान पर लिया जाता है। समझमें नहीं आता कि यह कर महत्त्वका क्यों होना चाहिए। प्रवासियोंको इधरसे उधर ले जानेका काम नाव चलानेवालोंका है। वे अपनी मजदूरी अलग लेते ही हैं। फिर भी प्राचीन कालसे आधुनिक कालतक यही मान लिया गया है कि तरीपर राजा या सरकारका इसलिए हक होता है कि उनके प्रबन्धसे तरीके विषयमें कुछ झगड़ा नहीं होने पाता और काम ठीक हो जाता है। इस तरीके द्वारा बहुत बड़ी आमदनी होती है। अब अन्तमें नागबलके सम्बन्धमें कुछ कहना चाहिए। प्राचीन कालमें और इस समय भी यही धारणा देख पड़ती है कि जंगलके सब हाथी राजाके हैं। हाथी विशेषतः राजाका धन माना जाता है। पूर्व कालमें हाथी फौजके काममें लाये जाते थे। जिस जंगलमें हाथी पैदा होते थे उस पर राजाका स्वतंत्र हक रहता था। उसमें किसीको शिकार खेलनेकी स्वाधीनता नहीं रहती थी। उसके लिए स्वतंत्र अधिकारी नियत किये जाते थे। हाथियोंके झुँडोंकी वृद्धि करने तथा उनको पकड़नेका सब प्रबन्ध इन्हीं अधिकारियोंके द्वारा हुआ करता था। जिन जंगलोंमें हाथी नहीं रहते थे वे लोगोंके लिए खुले रहते थे। उनमें लकड़ी काटने और ढोरोंको चरानेकी स्वतंत्रता सब लोगोंके लिए रहती होगी। दो राष्ट्रोंके बीचमें हमेशा बड़ा जंगल रहता था; क्योंकि राष्ट्रोंकी सरहद इन्हीं जङ्गलोंसे निश्चित होती थी और ये जङ्गल किसी राष्ट्रके स्वामित्वके नहीं समझे जाते थे। उनपर किसीका स्वामित्व नहीं रहता था।

अटवी पर्वताश्चैव नद्यस्तीर्थानि यानि च।
सर्वाण्यस्वामिकान्याहुर्नास्ति तत्र परिग्रहः॥

(अनुशासन पर्व अ० ६९ श्लो० ३४)

"जङ्गलों, नदियों, पहाड़ों और तीर्थों पर किसीका स्वामित्व नहीं, और किसीका कबजा भी नहीं रह सकता।" इसी कारण प्राचीन कालमें क्षत्रिय और ब्राह्मण निर्भय होकर जङ्गलमें आकर रहते थे। उनसे कोई पूछ नहीं सकता था कि यहाँ तुम क्यों बैठे हो। सैंकड़ों गडरिये जङ्गलमें अपने जानवरोंको लेकर निर्भयताके साथ रहते थे। प्राचीन

कालमें इससे प्रजाको बड़ी भारी सुविधा थी; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपनी मेहनतसे मुफ़्तमें लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, घास आदि ले सकता था।

ज़मीनका स्वामित्व और पैमाइश।

ज़मीनका महसूल अनाजके स्वरूपमें देनेका रवाज सब राज्योंमें जारी था। इसीसे पूर्वकालमें जमीनकी पैमाइश करनेकी आवश्यकता नहीं थी। गाँवकी हद निश्चित थी; और उस हदमें खेतीके लायक जितनी जमीन रहती थी उस पर गाँववालोंका स्वामित्व रहता था। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि स्वामित्व एकत्र रहता था या विभाजित, क्योंकि दोनों प्रकारकी परिपाटी अब भी दिखाई पड़ती है। तथापि यह बात निश्चित है कि जमीनके अलग अलग खंड किये जाते थे और उन पर विशिष्ट लोगोंका स्वामित्व रहता था। जमीनके क्रय-विक्रयका उल्लेख महाभारतमें कई स्थानोंमें आया है। जमीनकी कीमत थी। भूमि-दान बहुत पुण्यकारक समझा जाता था। कहा है कि चतुर मनुष्य कुछ न कुछ ज़मीन खरीदकर दान करे।

'तस्मात्क्रीत्वा महीं दद्यात्स्वल्पामपि विचक्षणः'

(अनुशासन पर्व अ० ६७ श्लो० ३४)।

यदि जमीनका क्रय-विक्रय होता था तो उसकी पैमाइश भी होती होगी। निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता कि महाभारत-कालमें जमीनकी माप किस हिसाबसे होती थी। बीघा तो मुसलमानी माप है और एकड़ अँग्रेजी माप है। टीकासे मालूम होता है कि इसके पहले निवर्तन-माप प्रचलित थी।

यो वै कनाशः शतनिवर्त्तनानि भूमेः कर्षति तेन विष्टिरूपेण राजकीयमपि निवर्तन दशकं कर्षणीयं स्वीयवद्रक्षणीयं च।

'जो किसान निजकी सौ निवर्त्तन जमीन जोतेगा, उसे राजाकी दस निवर्त्तन जमीन मुफ़्तमें जोत देनी चाहिए और बो देनी चाहिए।' इस टीकाके अवतरणसे मालूम होता है कि प्राचीन समयमें निवर्त्तन शब्द बीघेके अर्थमें प्रचलित था। परन्तु वह महाभारतमें नहीं पाया जाता। फिर भी निवर्तन शब्द चाणक्यके अर्थशास्त्रमें है। उसका अर्थ लम्बाईमें बीस हाथ है। अर्थात् क्षेत्र निवर्तनका अर्थ चार सौ वर्ग हाथ होता है। महाभारत-कालमें निवर्तन ही जमीनकी माप प्रसिद्ध रही होगी। इस अवतरणसे यह भी प्रकट होता है कि महाभारत-कालमें लोगोंकी निजकी जमीनको छोड़ खास राजाकी भी अलग जमीन रहती थी। राजधानीमें बाग-बगीचे आदि जमीनके स्वतंत्र भाग राजाके उपभोगके लिए रहते होंगे। परन्तु समस्त देशमें भिन्न भिन्न स्थानोंमें राजाकी जमीन न रहती होगी। हम पहले ही कह चुके हैं कि जमीन पर प्रायः सारा स्वामित्व लोगोंका ही था। राजाकी निजकी जमीनके सिवा उसकी गौओंके बड़े बड़े झुण्ड भी रहते थे। ये झुण्ड भिन्न भिन्न जङ्गलोंमें रहते थे। करके रूपमें लोगोंसे मिले हुए ढोर इसीमें रहते थे। इन झुण्डोंका वर्णन महाभारतमें दो तीन जगह पाया जाता है। पूर्व कालमें प्रत्येक राजाके पास हजारों गाय-बैलोंके झुण्ड रहते थे। बैलोंकी वृद्धि करने, उनके लक्षणोंको जानने और उनके रोगोंको दूर करनेका शास्त्र उस समय उन्नतावस्थामें पहुँच गया था। सहदेव पशु-परीक्षक बनकर विराट राजाकी नौकरीमें रहा था। वह कहता है—"मैं युधिष्ठिरके पशुओंके झुंडों पर

नौकर था। एक झुंडमें सौ पशु होते हैं; ऐसे आठ लाख झुंड युधिष्ठिरके थे। मैं जहाँ रहूँ वहाँसे आस-पासके दस योजनतक इस बातको जान सकता हूँ कि गौओंको पहले क्या हुआ था और आगे उन्हें क्या होगा। मैं अच्छी तरहसे जानता हूँ कि गौओंकी वृद्धि किस उपायसे होती है और क्या करनेसे उन्हें बीमारी नहीं होने पाती। मैं जानता हूँ कि उत्तम बैलोंके लक्षण कौनसे हैं।" (विराट पर्व अ० १०)। दुर्योधनके घोषका, यानी गौओंके झुंडोंके रहनेका स्थान द्वैतवनमें था। वहाँ वह जानबूझकर घोषको देखने गया था। उसने हज़ारों गौएँ देखीं। सबके चिह्नों और संख्याकी उसने जाँच की। बछड़ोंको चिह्न लगवाये। जिन गौओंके बच्चे छोटे थे, उनके सम्बन्धमें उसने यह निश्चय किया कि उन्हें प्रसूत होकर कितना समय बीता होगा। गौओंकी गिनती कराई और तीन सालके ऊपरके बैलोंकी गिनती अलग कराई। (वनपर्व अ० २४०)। उपर्युक्त वर्णनसे ज्ञात होगा कि राजाके स्वामित्वमें रहनेवाली गौओंके झुंडका प्रबन्ध किस प्रकार होता था। इन गौओं पर सरकारी ग्वाल रहते थे और उनपर एक अधिकारी भी रहता था।

बेगार।

राजाओंको बेगार लेनेका अधिकार था। राजधर्ममें कहा गया है कि राजा भिन्न भिन्न शिल्पकारों तथा मज़दूरोंसे बेगार लिया करे। बहुधा ऐसा नियम रहा होगा कि ये लोग दस दिनोंमें राजाके लिए एक दिन मुफ़्तमें काम किया करें। इसी तरह फौज और राजमहलके लिए लगनेवाली वस्तुएँ बेगारसे तैयार कराई जाती थीं। यहाँ यह बतला देना चाहिए कि बेगार सब लोगोंसे ली जाती थी। यह सच है कि ब्राह्मणोंके विशेष अधिकार समस्त राज्योंमें मान्य किये जाते थे। उनके लिए बेगार और महसूल सब माफ था। उन्हें दूसरोंकी नाईं सजा भी नहीं होती थी। यदि उनमेंसे कोई वारिसोंके बिना मर जाता था तो उसकी जायदाद सरकारमें जब्त नहीं होती थी। परन्तु ये सब सुबिधाएँ केवल उन वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंके लिए थीं जो अग्नि रखकर अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन आदि ब्राह्मणोचित उद्योगमें लगे रहते थे—दूसरोंके लिए ये सुबिधाएँ न थीं।

> अश्रोत्रियाः सर्व एव
> सर्वे चानाहिताग्नयः।
> तान् सर्वान् धार्मिकोराजा
> बलिंविष्टिं च कारयेत्॥
> (शान्ति पर्व अ० ७६)

धार्मिक राजा उन सब ब्राह्मणोंसे बेगार और महसूल ले जो वेद न जानते हों और अग्नि रखनेवाले न हों। अर्थात्, ऐसे ब्राह्मण नामसे तो ब्राह्मण पर रोज़गारसे शूद्र होते हैं। इसलिए इन लोगोंसे शूद्रोंका काम करानेमें राजाकी धार्मिकतामें किसी प्रकारका दोष उत्पन्न नहीं होता।

राजाकी आमदनीके मुख्य साधन ये थे:—१ जमीनका महसूल, २ जानवरों पर लगाया हुआ कर, ३ सायर अर्थात् खरीद-फरोख्त पर कर, ४ खानोंकी उपज, ५ नमकका कर, ६ नाव चलानेवालों पर 'तर' नामक कर, ७ जङ्गली हाथी। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि वर्तमान भारत-सरकारकी आमदनीके भी ये ही साधन हैं। इनके सिवा न्याय-विभागकी आमदनी, स्टाम्प और लावारिस मालके साधनोंका विचार हम आगे चलकर करेंगे।

जङ्गल और आबकारी।

वर्तमान भारत-सरकारकी आमदनी-के तीन साधनों—अफीम, आबकारी और जङ्गल—का महाभारत-कालमें होना नहीं पाया जाता। बल्कि इसी बातकी शङ्का उत्पन्न होती है कि पूर्व कालमें भरतखण्ड-में अफीम होती भी थी या नहीं। अफीम-के यहाँसे विदेश भेजे जानेका कहीं उल्लेख नहीं है। (अफीमके लिए संस्कृतमें शब्द भी नहीं है। अहिफेण एक बनाया हुआ शब्द है) आबकारी पर भी सरकारी करका होना दिखाई नहीं पड़ता। शान्ति पर्वमें तो यह लिखा है कि राजा लोग शराबकी दूकानें बन्द कर दें। शराब पर कर होने-का कहीं उल्लेख नहीं है। मद्य आदिके स्थानोंका सर्वथा निरोध करनेके सम्बन्ध-में (शान्ति० अ० ८८) आज्ञा है। यह भी कहा गया है कि शराबकी दूकानों और वेश्याओं पर कड़ी निगरानी हो। इससे मालूम होता है कि शराबकी बहुतेरी दूकानें बन्द कर दी जाती रही होंगी और जो थोड़ी बहुत कहीं कहीं बच जाती थीं उन पर जबरदस्त पहरा लगा दिया जाता था।* जङ्गलकी उपजसे प्रजा प्रकट रीतिसे लाभ उठा सकती थी। जङ्गलके केवल ऐसे भाग सरकारी जङ्गल माने जाकर सुरक्षित रखे जाते थे जिनमें हाथी और उत्तम घास उत्पन्न होती थी। प्रत्येक गाँवके और सीमाप्रान्तके शेष जङ्गल सब लोगोंके स्वतन्त्र उपभोगके लिए मुक्त ही थे। यहाँतक निश्चित हो गया था कि जङ्गलों पर किसीका स्वामित्व नहीं है।

खर्चके मद।

यहाँतक राजाओंकी आमदनीका विचार किया गया है। अब हम नीति-शास्त्रके उन नियमोंका विचार करेंगे जिनके अनुसार निश्चय किया जाता है कि राजा लोग किन किन मदोंमें खर्च किया करें। खर्चका असली मद फौज था जिसका विचार स्वतन्त्र रीतिसे किया जायगा; परन्तु खर्चके दूसरे मदोंकी कल्पना सभा पर्वके कच्चित् अध्यायके आधार पर की जा सकती है। महा-भारत-कालमें राजाओंके क्या क्या कर्तव्य समझे जाते थे, इस विषयका उत्तम वर्णन इस अध्यायमें किया गया है। नारद पूछते हैं—"राष्ट्रको तुझसे, तेरी स्त्रियोंसे या राजपुत्रोंसे, चोरोंसे अथवा लोभी मनुष्योंसे पीड़ा तो नहीं होती?" इस प्रश्नमें इस बातका उत्तम वर्णन है कि अन्धाधुन्ध चलनेवाले राष्ट्रमें लोगोंको प्रायः किनसे पीड़ा हुआ करती है। यह बात इतिहास-प्रसिद्ध है कि राष्ट्रको बहुधा अत्याचारी राजाओंसे, उनके लड़कों या रानियोंसे, राजाके प्रीतिभाजन छोटे नौकरोंसे अथवा चोरोंसे नित्य पीड़ा होती रहती है। इन कारणोंसे हिन्दुस्तानके इतिहासमें प्रजाको कई बार कष्ट होनेका उदाहरण हमें मिलता है। अन्तिम उदाहरण दूसरे बाजीराव पेशवाके समयका है। उस समय स्वयं बाजीराव लोगोंकी आमदनीको लूटकर सरकारी खजानेमें मिला लेता था। उसके प्रिय अधिकारी और अन्य नौकर प्रजाको अलग लूटते थे और सबसे अधिक लूट पिंडारोंके द्वारा होती थी। सारांश यह है कि उसके समयमें सभी तरहकी दुर्व्यवस्था लोगों-

* पूर्वकालमें क्षत्रियोंके सिवा दूसरे लोग शराब नहीं पीते थे। क्षत्रियों और राजा लोगोंके लिए शराब बहुधा उनके घरोंमें ही बनाई जाती थी। इसे देखकर हमारा मत होता है कि शराब पर कर न रहा होगा। अनार्य लोगोंकी शराबकी कुछ दूकानें रही होंगी परन्तु उन पर सरकारकी सख्त निगाह रहती थी और यथा-सम्भव वे दूकानें बन्द कर दी जाती थीं। हमारा मत है कि आबकारीके सम्बन्धमें महाभारत-कालमें इसी तरहकी परिस्थिति थी।

को त्रस्त कर रही थी जिससे लोगोंको विदेशी अँग्रेज़ोंका राज्य प्रिय मालूम हुआ और उन्होंने उसका स्वीकार भी कर लिया। अतएव सिद्ध है कि राजाका पहला कर्तव्य स्वयं अपना तथा दरबारी लोगोंका निग्रह करके द्रव्य लूटनेकी इच्छाको दबाना है। यह तभी हो सकता है जब राजा अपने और दरबारके खर्च-को संयमके अधीन रखे। दूसरा कर्तव्य यह है कि चोरोंके बारेमें अच्छा प्रबन्ध करना चाहिए। विशेषतः दिनदहाड़े लूटनेवाले चोरोंका सत्यानाश कर देना चाहिए। इसके लिए पुलिसका उत्तम प्रबन्ध करनेकी आवश्यकता होगी। प्रत्येक राष्ट्रके शहर, ग्राम और **प्रान्त यानी सीमा** ऐसे तीन भाग नित्य रहा करते थे और इन सीमाओं पर जंगल थे। इन प्रान्तों अथवा जंगलों-में रहकर डाकू प्रजा को लूटा करते थे। हमें इतिहाससे मालूम होता है कि पिंडारों का यही तरीका था। इसके लिए प्रत्येक नगरमें कोट और प्रत्येक गाँवमें गढ़की व्यवस्था थी। नारदने एक प्रश्न किया है जिसमें पूछा गया है कि क्या तेरे राष्ट्र-में प्रत्येक गाँव शहरके सरीखे हैं न? और प्रान्त या सीमा गाँवके सरीखे हैं न? इससे विदित होता है कि ऊपर कहे अनुसार ही व्यवस्था थी। इसके सिवा नारदने यह भी पूछा है कि डाकुओंके छिपनेकी जगहतक घुड़सवारोंको भेजता है न? तात्पर्य यह कि डाकुओंका नाश करने और लोगोंके जानमालकी हिफ़ा-ज़त करनेके सम्बन्धमें आजकल अँग्रेज़ी राज्यमें जो प्रयत्न किये जाते हैं, वे सब प्राचीन कालमें बतलाये गये हैं और सुव्यवस्थित राज्योंमें उनके अनुसार कार्रवाई की जाती थी। इस तरहसे पुलिस-विभागका खर्च प्रधान था।

दूसरा खर्च नहर (इरीगेशन) विभाग का रहा होगा। नारदने पूछा है कि तेरे राज्यमें योग्य स्थानोंमें बनाये हुए और पानीसे भरे हुए तालाब हैं न? तेरे राज्य-में खेती आकाशसे बरसनेवाले पानी पर तो अवलम्बित नहीं है? इन प्रश्नोंसे मालूम होता है कि आजकलकी ही तरह प्राचीन कालमें भी सदा समय पर पानी बरसनेका भरोसा नहीं रहता था और सदैव अकालका डर लगा रहता था। इससे स्थान स्थान पर पानी इकट्ठा कर रखनेकी जिम्मेदारी सरकार पर थी। इस सम्बन्धमें सब खर्च सरकारको करना पड़ता था। तीसरा खर्च तकावी-का था। इसे आजकल कहीं कहीं खाद और बीज-सम्बन्धी खर्च कहते हैं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि खेती करने-वाले लोग प्राचीन कालसे ही सरकारी अथवा साहूकारी सहायताके बिना खेती न कर सकते थे। खेतीका व्यवसाय बहुत करके महाभारतकालमें वैश्य लोगोंके हाथोंसे निकल गया होगा। पूर्व-कालमें और भारतकालमें वैश्योंका मुख्य व्यवसाय कृषि था। भगवद्गीतामें भी वैश्योंका रोजगार कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य बतलाया गया है। परन्तु मालूम होता है कि महाभारतकालमें वैश्योंने पहले दो रोजगारोंको शूद्रोंको सौंप दिया। इसलिए खेतीके लिए आवश्यक बीजकी और चार मासतक यानी फसल-के तैयार होनेतक लगनेवाले अन्नकी कुछ न कुछ सुबिधा सरकार अथवा साहूकारकी ओरसे करा लेनी पड़ती थी। मुसलमानोंके राज्यमें ऐसी सहा-यताका नाम तकावी था और आजकल यही शब्द प्रचलित है। इस तरह सरकारी सहायता देनेकी प्रथा महाभारतकालसे प्रचलित सिद्ध होती है। नारदके प्रश्नमें

इसे बीज और भक्त कहा गया है। ये बीज और भक्त सरकारी कोठोंसे दिये जाते थे। यदि साहूकार देता तो सरकार वसूल करके वापस दिला देती रही होगी। आश्चर्यकी बात यह है कि नारदके इस प्रश्नमें ब्याजकी दर भी निश्चित देख पड़ती है! प्रति मास सौ रुपयों पर १ रुपयेकी दर निश्चित थी: और इस बातका निर्बन्ध कर दिया गया था कि साहूकार लोग इससे अधिक दरसे ब्याज न लें। स्वदेशी राज्योंमें यह नियम चन्द्रगुप्तके समयसे आज २२०० वर्षोंतक प्रचलित है। यह देखकर इस बातकी कल्पना हो सकती है कि हिन्दुस्थानकी प्राचीन संस्था कितनी स्थिर और टिकाऊ होती है। यह नियम था कि "कृषिका उत्कर्ष करनेके लिए राजा किसानोंकी दशा अच्छी रखनेकी ओर ध्यान दे। वह यह देखा करे कि उनके पास निर्वाहके लिए अनाज और बीज पूरा पूरा है या नहीं। और, प्रति मास फी सैंकड़े एक रुपयेसे अधिक ब्याज न लेकर वह दयापूर्वक उन्हें कर्ज दिया करे।"

ग्राम-संस्था।

सभापर्वमें बतलाया गया है कि प्रत्येक गाँवमें पाँच पाँच अधिकारी रहते थे। ये अधिकारी स्थायी अथवा वंशपरम्परागत होते थे। टीकाकारने उनके नाम इस प्रकार बतलाये हैं—प्रशास्ता (सिरपंच), समाहर्ता(वसूल करनेवाला),सम्विधाता लेखक (पटवारी या मुन्शी) और साक्षी। यह नहीं बतलाया जा सकता कि साक्षीकी विशेष क्या आवश्यकता थी। ये पाँचो अधिकारी शूर, सज्जन और एक मनसे काम करनेवाले होते थे। राष्ट्रमें मनुष्योंकी बस्ती प्रान्त, ग्राम, नगर और पुरमें विभक्त रहती थी। आजकल प्रान्त शब्दका अर्थ देशका विभाग होता है। परन्तु प्राचीन कालमें प्रान्तका अर्थ अन्तके निकटका यानी राष्ट्रकी सीमाके पासका प्रदेश होता था। पुरका अर्थ राजधानी था। अकालके डरसे एकत्र किया हुआ अनाज बहुधा नगर या राजधानीमें जमा किया जाता था।

इसके सिवा कहा गया है कि कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यकी तरक्कीके लिए राजा विशेष प्रयत्न करे। इसके सम्बन्धमें एक स्वतन्त्र शास्त्र वार्ता ही बनाया गया था। उसके अनुसार कृषि और वाणिज्यकी उन्नति करके देशकी दशाको उत्तम बनानेका प्रयत्न करना वैश्य लोगोंका और द्रव्यकी सहायता देना राजाओंका काम था। राजाओं पर चौथी जवाबदारी अकालग्रस्त लोगोंको अन्न देनेकी थी। अन्धे, मूक, लङ्गड़े आदि लोगोंकी जीविकाकी जिम्मेदारी भी राजा पर थी।

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पंगून् व्यंगानबांधवान्। पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्राजितानपि॥

अर्थात् जो अन्धे, मूक, लङ्गड़े, व्यङ्ग शरीरवाले हों, जिनकी रक्षा करनेवाला कोई न हो और जो विरक्त होकर संसारका त्याग करके संन्यासी हो गये हों उनका पालन-पोषण राजा पिताकी तरह करे। इसी तरह वह राष्ट्रको अग्नि, सर्प और बाघ तथा रोगके भयसे बचानेका उपाय करे। आजकलके प्रत्येक उन्नत राष्ट्र अपने ऊपर इस तरहकी जिम्मेदारीका होना मानते हैं और महाभारतकालके राज्योंमें भी ऐसी ही जिम्मेदारी समझी जाती थी। इससे पाठक समझ सकेंगे कि पूर्वकालसे ही राजाओंके कर्तव्यकी कल्पना कितनी दूरतक पहुँच गई थी। नारदने उपदेश किया है कि इनाम और

अग्रहार-सम्बन्धी पूर्व राजाओंके किये हुए सब दानोंका पालन राजाके द्वारा होना चाहिए।

ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च परिबर्हांश्च पार्थिव।
पूर्वराजाभिपन्नांश्च पालयत्येव पाण्डवः॥
(आश्रमवासि पर्व १०)

कोई राजा जब किसी दूसरेका राज्य जीत ले तब पूर्व राजाके द्वारा दिये हुए इनामों, अग्रहार (ब्राह्मणोंको दिये हुए पूरे गाँव) और परिवर्ह (अर्थात् दिये हुए अन्य अधिकार या हक़) का उसे पालन करना चाहिए; इसके साथ यह भी कहा गया है कि इस तरहसे युधिष्ठिरने दुर्योधनके द्वारा दिये हुए सब हकोंका पालन किया। यह तत्त्व भी उन्नत राष्ट्रोंके मुल्की कार्योंमें मान्य समझा जाता है। सारांश यह है कि आजकलके ब्रिटिश राज्यके रेविन्यू या माल विभागके सभी उदार नियम प्राचीन कालमें प्रचलित थे। अधिक क्या, प्रत्येक गाँवमें लेखकोंका रखा जाना देखकर यह मान लेनेमें भी कोई हर्ज दिखाई नहीं पड़ता कि मुल्की कामोंके कागज-पत्र भी तैयार किये जाते थे। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि महाभारत-कालके राज्योंमें हिन्दुस्थानमें मुल्की शासन उत्तम प्रकारका होता था।

जमाखर्च-विभाग।

अब हम आयव्यय अर्थात् फाइनेन्स विभागका विचार करेंगे। हम पहले ही बतला चुके हैं कि राज्यमें व्ययाधिकारी स्वतन्त्र रहते थे। परन्तु यह भी कहा गया है कि राजा राज्यके जमाखर्च पर स्वयं नित्य दृष्टि रखा करे; बल्कि नियम ऐसा था कि राज्यके जमाखर्चका दैनिक नकशा प्रतिदिन दोपहरके पहले तैयार हो आया करे। मालूम होता है कि इसके लिए आयव्यय-सम्बन्धी बहुतसे कर्मचारी रहा करते थे। नारदका प्रश्न है कि:—

कच्चिदायव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः।
अनुतिष्ठंति पूर्वाह्णे नित्यमायंव्ययं तव॥
(स० ५-७२)

राजाको तीन काम खुद रोज करने पड़ते थे। जासूसोंकी खबर रखना, खजाना और न्याय। इन तीनों कामोंको वह दूसरों पर नहीं सौंप सकता था। उसको जमासे खर्च कभी बढ़ने न देनेकी सावधानी रखनी पड़ती थी। कहा गया है कि राजाकी मुख्य सामर्थ्य भरा हुआ खजाना है क्योंकि उसकी सहायतासे फौज भी उत्पन्न हो सकती है। नारदने कहा है कि खर्च जमाका आधा अथवा ¾ हो।

कच्चिदायस्य चार्द्धेन चतुर्भागेन वा पुनः।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुध्यते तव॥

इसका ठीक ठीक अर्थ मालूम नहीं होता। हमारे मतानुसार इसका यही अर्थ होगा कि आधा अथवा तीन चतुर्थांश, अथवा ¼ जैसा पसन्द करे उसके अनुसार राजा खर्च किया करे। आजकलके प्रजासत्ताक राज्योंमें आयव्ययकी नीति भिन्न है। यहाँ पर ध्यान रखना होगा कि प्राचीन कालमें राजाओंको बचत रखनेकी बड़ी जरूरत रहती थी क्योंकि आजकलकी तरह मनमाने नये कर नहीं लगाये जा सकते थे। पुराने कर भी बढ़ाये नहीं जा सकते थे। इसी लिए दण्डनीतिका यह कड़ा नियम था कि बची हुई रकमको राजा अपने कामके लिए यानी चैन करनेके लिए और धर्म करनेके लिए भी खर्च न करे।

सिक्के।

अब हम महाभारत-कालके सिक्कोंका विचार करेंगे। उस समय वर्तमान रुपयों-

का, इस तरहके सिक्कोंका, प्रचार न था। बौद्ध ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि उस समय ताँबे अथवा चाँदीके "पण" प्रचलित थे। परन्तु महाभारतमें यह शब्द कहीं नहीं मिलता। महाभारतमें निष्कका नाम बारबार आता है। यह सोनेका सिक्का था। मालूम नहीं इसका क्या मूल्य था। 'हुन' और पुतलीकी अपेक्षा वह बड़ा होगा; क्योंकि निष्क दक्षिणा मिलने पर ब्राह्मणोंको आनन्द होता था और ऐसा आनन्द-सूचक वर्णन पाया जाता है कि—"तुझे निष्क मिल गया, तुझे निष्क मिल गया।" अनुमान है कि निष्क सिक्के वर्तमान मुहरके बराबर रहे होंगे। यह भी वर्णन है कि श्रीमान् लोगोंकी दासियोंके गलेमें पहननेके लिए इन निष्कोंकी माला तैयार की जाती थी; और राजाओंकी दासियोंलिए निष्ककण्ठी विशेषणका बारबार प्रयोग किया गया है। महाभारत-कालके सिक्के आजतक कहीं नहीं मिले हैं। इससे पाश्चात्य विद्वानोंका तर्क है कि महाभारत-कालमें यानी चन्द्रगुप्त कालमें सिक्कोंका प्रचार ही नहीं था। सोनेके रजकण एक छोटीसी थैलीमें रखकर विशिष्ट वजनके सिक्कोंके बदले काममें लाये जाते थे। उनका कथन है कि सिक्के बनानेकी कला हिन्दुस्थानियोंने ग्रीक लोगोंसे सीखी। यह बात सच है कि प्राचीन कालमें इस तरहसे सोनेके रजका उपयोग किया जाता था। सोनेके रज तिब्बत देशसे आते थे। उनका वर्णन आगे होगा। परन्तु पाश्चात्य इतिहासोंमें लिखा है कि हिन्दुस्थानके भागोंसे पर्शियन बादशाहोंको दिया जानेवाला राजकर रज स्वरूपमें ही दिया जाता था। हम पहले बतला चुके हैं कि हरिवंशके एक श्लोकमें दीनार शब्द आया है। पर यह श्लोक पीछेका है। परन्तु यह कहना कठिन नहीं है कि महाभारत-कालमें निष्क **सिक्के** थे और सोनेके रजकणकी थैलियाँ नहीं थीं। क्योंकि यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि उनका उपयोग पुतलीकी तरह माला बनानेमें किया जाता था। चाणक्यके अर्थशास्त्रमें चन्द्रगुप्तके खजानेका वर्णन करते समय स्वर्णशालाका उल्लेख हुआ है। उसमें विस्तारपूर्वक बतलाया गया है कि भिन्न भिन्न धातुओंको परीक्षा कैसे करनी चाहिए। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि हम लोगोंने धातुसंशोधन और सिक्के बनानेकी कला ग्रीक लोगोंसे सीखी। इसके सिवा नीचेके श्लोकमें मुद्रायुक्त सिक्केका स्पष्ट वर्णन है। यद्यपि उसका अर्थ गूढ़ है तथापि उसमें मुद्रा शब्द स्पष्ट है।

माता पुत्रः पिता भ्राता भार्या मित्रजनस्तथा।
अष्टापदपदस्थाने दक्ष मुद्रेव लक्ष्यते॥
(शां० अ० २०८—४०)

न्याय-विभाग।

आजकलके उन्नत ब्रिटिश राज्यकी मुल्की व्यवस्था प्राचीन कालके भारती आर्योंके राज्योंकी मुल्की व्यवस्थासे बहुत भिन्न न थी। परन्तु प्राचीन कालकी न्याय-व्यवस्थामें और आजकलकी न्याय-व्यवस्थामें बड़ा अन्तर है। कारण यह है कि हिन्दुस्थानकी ब्रिटिश राज्यकी मुल्की व्यवस्था हिन्दुस्थानकी पुरानी व्यवस्थाके आधार पर ही रची गई है; परन्तु आजकलकी न्याय-पद्धति बिलकुल विदेशी है। हिन्दुस्थानकी प्राचीन न्याय-पद्धतिसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह इंग्लैण्ड देशकी न्याय-पद्धतिके आधार पर बनाई गई है। इस कारण हिन्दुस्थानके लोगोंका बड़ा नुकसान हुआ है। क्योंकि यह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्थानके लोगोंमें आजकल मुक-

दुर्योधनजीकी रुचि उत्पन्न हो गई है और उनकी सत्यवादितामें भी न्यूनता आ गई है। ख़ैर; इस विषयमें अधिक न कह-कर हम यहाँ पर भारतकालीन न्याय-पद्धतिका वर्णन करेंगे। उससे हमें यह मालूम हो जायगा कि ब्रिटिश राज्यके आरम्भ होनेतक थोड़े बहुत रूपान्तर-से भारत-कालीन न्यायपद्धति ही हिन्दु-स्थानमें प्रचलित थी।

महाभारतकालमें राज्य छोटे होते थे अतएव स्मृतिशास्त्रके इस नियमका बहुधा पालन हो जाया करता था कि न्याय-दरबारमें स्वयं राजा बैठे। यह नियम पहले बताया जा चुका है कि राजा विवादके न्याय करनेका काम किसीको न सौंपे। तदनुसार राजा प्रतिदिन राज-दरबारमें आकर न्याय किया करता था। न्यायकार्यमें राजाको सहायता देनेके लिए एक राजसभा रहती थी। इस राजसभाका वर्णन शांतिपर्वके ८५वें अध्या-यमें किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह अध्याय विवादोंके ही निर्णयके बारेमें है। युधिष्ठिरने उसी विषय पर प्रश्न किया था। तब भीमने जो अमात्य (मंत्री) बतलाये हैं वे न्यायसभाके ही हैं और इस अध्यायके सम्पूर्ण वर्णनसे यही सिद्ध होता है। यह नियम था कि सभामें चार वेदवित् गृहस्थाश्रमी और शुद्ध आचरणके ब्राह्मण, शस्त्र चलाने-वाले आठ बलवान् क्षत्रिय, इक्कीस धन-वान वैश्य और पवित्र तथा विनयसंपन्न तीन शूद्र हों। सारांश, यहाँ आज्ञा दी गई है कि सभी वर्णोंके लोगोंसे भरी हुई ज्यूरी सरीखी न्याय-सभाकी सलाहसे विवादोंका निर्णय किया जाय। इसके सिवा यह भी कहा गया है कि राजा विद्यासम्पन्न, प्रौढ़, सूत जातिके, पचास वर्षकी अवस्थाके, तर्कशास्त्र-ज्ञान रखने-वाले और ब्रह्मज्ञान संयुक्त मनुष्यको पौरा-णिक बनावे और आठ मंत्रियोंके बीचमें बैठकर न्याय करे। न्याय करते समय किसी पक्षकी ओरसे राजा अन्तस्थ द्रव्य न ले, क्योंकि इससे राजकार्यका विघात होता है और देने और लेनेवाले दोनोंको पाप लगता है। "यदि ऐसा करेगा तो राजाके पाससे प्रजा ऐसे भागेगी जैसे श्येन अथवा गरुड़के पाससे पक्षी भागते हैं और राष्ट्रका नाश हो जायगा। जो निर्बल मनुष्य बलवान्से पीड़ित होकर 'न्याय न्याय' चिल्लाता हुआ राजाकी ओर दौड़ता है, उसे राजासे न्याय मिलना चाहिए। यदि प्रतिवादी स्वीकार न करे तो साक्षीके प्रमाणसे इन्साफ करना चाहिए। यदि साक्षी न हो तो बड़ी युक्तिसे निर्णय करना चाहिए। अपराधके मानसे सज़ा देनी चाहिए। धनवान आदमियोंको जुर्माना करना चाहिए, गरीबोंको कैदकी सजा और दुराचरणी लोगोंको बेंतकी सजा देनी चाहिए। राजाके खून करनेवालेके प्राण लेनेके पहले उसकी खूब दुर्दशा करनी चाहिए। इसी तरह आग लगानेवाले, और जातिभ्रष्ट करनेवालेका भी वध करना चाहिए। न्याय और उचित दण्ड देनेमें राजाको पाप नहीं लगता। परन्तु जो राजा मनमानी सज़ा देता है, उसकी इस लोकमें अपकीर्ति होकर अन्तमें उसे नरकवास करना पड़ता है। इस बात पर पूरा ध्यान रखना चाहिए कि किसी एक-के अपराधके बदले किसी दूसरेको सजा न मिल जाय" (शान्ति पर्व अ० ८५)। इस वर्णनमें समग्र न्याय-पद्धतिके तत्वका प्रतिपादन थोड़ेमें किया गया है। न्यायके कामोंमें राजाको चारों वर्णोंके मनुष्योंकी ज्यूरीकी सहायता मिलती थी। इस ज्यूरी-में वैश्योंकी संख्या अधिक है। परन्तु यह

स्पष्ट है कि न्यायासनके सामने बहुधा लेनदेनके यानी वैश्योंके सम्बन्धके विवाद ही अधिक आते थे और इतने वैश्योंकी सहायतासे लेनदेनके व्यवहारकी रीति-रस्मोंके अनुकूल निर्णय करनेमें सुभीता पड़ता था। हमें इतिहाससे मालूम होता है कि इस प्रकारकी चातुर्वर्ण्यकी न्याय-सभा महाभारत-कालके बाद बन्द हो गई।* मृच्छकटिकमें राजाके बदले एक न्यायाधीश और राजसभाके बदले एक श्रेष्ठी अथवा सेठ आता है। जिस समय न्यायसभामें स्वयं राजा बैठता था उस समय निर्णयके लिए बहुत थोड़े झगड़े राजसभामें आते रहे होंगे, क्योंकि साधारणतः लोग राजाके सामने झगड़े पेश करनेमें हिचकते रहे होंगे। उन झंझटोंका निर्णय वे लोग आपसमें कर लेते थे अथवा न्यायसभाके बाहर वादी और प्रतिवादीकी मंजूरीसे पञ्चकी सहायतासे समझौता हो जाता था। जब कोई उपाय न रह जाता था तब मुकदमा राजाके सामने पेश होता था। सारांश यह है कि आज-कलके हिसाबसे उस समय मामलोंकी संख्या बहुत ही थोड़ी होती थी। पूर्व कालमें बहुत करके यह पद्धति थी कि वादी और प्रतिवादी अथवा अर्थी और प्रत्यर्थी राजाके सामने एक साथ ही जायँ और गवाह भी साथमें ही रहें। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि राजाका किसी पक्षसे रिशवत लेना पाप समझा जाता था। यदि प्रतिवादी वादीके दावेसे इन्कार करता था तो गवाहोंसे शपथ लेकर निर्णय किया जाता था। शपथ लेनेकी क्रिया बड़े समारम्भसे होती थी और गवाहके मन पर उसका बहुत ही अच्छा परिणाम होता था। इसके बाद न्यायसभाके सभासदोंकी जानकारीके आधार पर राजा अपना निर्णय बतलाता था और शीघ्र ही उसकी तामील होती थी। तात्पर्य यह है कि पूर्व कालमें न्याय झटपट हो जाता था और स्वयं राजाके न्यायकर्ता होनेके कारण कहीं अपील करनेकी कल्पनाका उत्पन्नतक होना सम्भव न था। अपीलकी कल्पना अँगरेजी राज्यकी है और उसके भिन्न भिन्न दर्जे होनेके कारण आजकल लोग पागलसे हो जाते हैं।

पहले जमानेमें स्टाम्पकी व्यवस्था न थी। यह व्यवस्था ब्रिटिश-शासनके नये सुधारका द्योतक है। पर प्राचीन कालमें वादी और प्रतिवादीको सरकारमें दण्ड भरना पड़ता था। यदि वादी हार जाता था तो उसे दण्डके स्वरूपमें दावेकी रकमका दूना सरकारको देना पड़ता था; और यदि प्रतिवादी हारता था तो वह दण्डके स्वरूपमें उतनी ही रकम देता था। इस दण्डकी व्यवस्थाके कारण भी न्याय-दरबारमें आनेवाले मुकदमे बहुत ही थोड़े रहते थे। परन्तु महाभारतमें इस दण्डकी व्यवस्थाका उल्लेख कहीं नहीं है। टीकाकारने यह उल्लेख बादकी स्मृतियोंके अनुसार किया है। हमारा तर्क है कि बहुत करके महाभारत-कालमें दण्डकी व्यवस्था प्रचलित न थी। क्योंकि यह कहा जा चुका है कि प्रजाको न्याय-दान करने और दुष्टोंको सजा देनेके लिए ही राजाको कर देना पड़ता है। तथापि इस सम्बन्धमें कोई बात निश्चयके साथ नहीं कही जा सकती। यह भी कहा गया है कि जब वादी और प्रतिवादी दोनोंके कोई गवाह न हों तब बड़ी युक्तिके साथ इन्साफ करना चाहिए। ऐसे प्रसङ्गोंमें युक्तिकी योजना करनेके बारेमें अनेक कथाएँ प्रचलित हैं जिनका उल्लेख करनेकी यहाँ कोई आव-

* काश्मीरके इतिहाससे मालूम होता है कि स्वयं राजा भी न्यायसभामें बैठता था।

श्यकता नहीं। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि जहाँ युक्तिसे भी निर्णय नहीं हो सकता था वहाँ क्या किया जाता था। स्मृति-ग्रन्थोंमें दिव्यकी प्रथाका वर्णन है। परन्तु महाभारतके उक्त अवतरणोंमें उसका उल्लेख नहीं है। तो भी यह प्रथा हिन्दुस्थानमें अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित है। छान्दोग्य उपनिषद्में तप्त-परशु-दिव्यका उल्लेख है। चोर पकड़कर लाया जाता था; फिर जब वह चोरी करनेसे इन्कार करता था तब उसके हाथमें तपा हुआ परशु दिया जाता था। यदि उसका हाथ जल जाता तो वह चोर समझा जाता था और यदि उसका हाथ न जलता तो वह मुक्त समझा जाता था। यह वर्णन छान्दोग्य उपनिषद्में है। अस्तु: जब किसी उपायसे न्याय होना सम्भव न रह जाता था तब महाभारत-कालमें भी इसी प्रकारके दिव्योंसे काम चलाया जाता रहा होगा। पूर्व कालमें विवादोंमें दीवानी और फौजदारीका भेद न था। दोनों विषयोंकी जाँच एक ही तरहसे होती थी और वह भी बहुधा चटपट हो जाती थी। वादी और प्रतिवादी दोनों अपनी खुशीसे न्यायसभामें उपस्थित हो जाते थे। प्रतिवादीको सरकारी अधिकारी भी पकड़कर न्यायासनके सामने ले आते थे। सजाके दण्ड, कैद, प्रहार और बध चार भेद थे। बध शब्दका अर्थ केवल प्राण लेना न था। उसमें हाथ-पैर तोड़नेकी सजा भी सूचित होती है। इस कथनमें कदाचित् आश्चर्य मालूम होता होगा कि धनवान् लोगोंको (आर्थिक) दण्ड देना चाहिए: ऐसा नियम है। परन्तु हत्या, चोरी आदिके अपराधोंमें अमीर-गरीब सबको बधकी ही सजा मिलती थी। प्रहार अर्थात् बेंतकी सजा है। यह सजा आजकलके कायदोंके अनुसार दुष्ट और कुवृत्तिवाले लोगोंके ही लिए है। ऐसा ही पूर्वकालीन न्याय-पद्धतिमें भी होता था। अन्य देशोंकी प्राचीन न्याय-पद्धतिकी अपेक्षा हिन्दुस्थानकी प्राचीन न्याय-पद्धतिमें यह एक बड़ा भारी विशेष गुण था कि अपराधका स्वीकार करानेके लिए किसी प्रतिवादीकी कुछ भी दुर्दशा नहीं की जाती थी। चीन देशमें तथा पश्चिमके स्पेन देशमें ईसाई राज्यके अन्तर्गत अपराध लगना ही बड़ा भयङ्कर था। इन देशोंकी यही धारणा थी कि अभियुक्तसे स्वीकृतिका उत्तर लेना आवश्यक है। वहाँ अभियुक्तकी दुर्दशा कई दिनोंतक भिन्न भिन्न रीतियोंसे कानूनके आधार पर प्रकट की जाती थी। यह बात भारती आर्योंके लिए भूषणप्रद है कि हिन्दुस्थानकी प्राचीन न्याय-पद्धतिमें इस तरहकी व्यवस्था न थी। आजकलकी दृष्टिसे कुछ सजाएँ कड़ी मालूम होती हैं। परन्तु प्राचीन कालमें सभी देशोंमें कड़ी सजा दी जाती थी। चोरोंको बधकी अर्थात् प्राण लेनेकी सजा अथवा हाथ तोड़नेकी सजा दी जाती थी। इस विषय पर महाभारतमें एक मनोरञ्जक कथा है। स्नानके लिए जाते समय एक ऋषिने रास्तेमें मक्केका एक सुन्दर खेत देखा। उसकी इच्छा मक्का लेनेकी हुई और उसने एक भुट्टा तोड़ लिया। परन्तु थोड़ी देरके बाद उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह उसे लेकर राजाके पास गया और अपना अपराध खुद प्रकट करके अपने हाथके तोड़े जानेके लिए प्रार्थना करने लगा। राजाने उसकी विनतीको नामंजूर किया। तब वह कहने लगा कि—"जो राजा अपराधियोंको सज़ा देता है वह स्वर्गको जाता है। परन्तु जो उन्हें सज़ा नहीं देता वह नरकको जाता है।" यह वचन सुनकर

और निरुपाय होकर राजाने उसे अभीष्ट दण्ड दिया और उसका हाथ टूटते ही देवताओंकी कृपासे उस हाथकी जगह पर सुवर्णका दूसरा हाथ उत्पन्न हो गया। इससे सिद्ध है कि दण्डनीय लोगोंको सज़ा देना प्राचीन न्याय-पद्धतिमें राजाका पवित्र कर्तव्य और अत्यन्त महत्वकी बात समझी जाती थी। परन्तु पूर्व कालमें यह तत्व भी मान्य समझा जाता था कि बिना अपराधके किसीको सज़ा न हो और बिना कारण किसीकी जायदाद ज़ब्त न की जाय। यदि इस तत्वके विरुद्ध प्राचीन कालके अथवा आजकलके ही राजा जुल्म करें तो यह उस पद्धतिका दोष नहीं है। ऊपर बतलाई हुई न्याय-पद्धति हिन्दुस्थानके लोगोंके स्वभावके अनुकूल उनके इतिहाससे उत्पन्न हुई थी जिससे वे सुखी रहते थे। वे उसे योग्य समझते थे। पूर्व कालमें अपराधोंकी संख्या बहुत थोड़ी रहती थी और लोगोंकी सत्यवादिता किसी तरहसे भङ्ग न होती थी। गवाहोंका इजहार बड़ी कड़ी शपथोंके द्वारा और प्रत्यक्ष राजाके सन्मुख होता था, अतएव बहुधा वे झूठ न बोलते थे। उस समय वादी और प्रतिवादीके वकील नहीं होते थे और मुख्य इजहार, जिरह, बहस आदिका कोई बखेड़ा भी न रहता था। प्रत्येक मुकदमेमें राजाको जानकार लोगोंकी सलाहकी आवश्यकता रहती थी और न्यायसभाके सभासद चारों वर्णोंके होनेके कारण गवाहोंसे परिचित रहते थे। भिन्न भिन्न दर्जेकी अपील-अदालतें बिलकुल न थीं। प्रत्यक्ष राजा अथवा जानकार लोगोंके सन्मुख स्थिर न्याय होता था। इससे मनमाने गवाह देने और मनमाने झगड़े उत्पन्न करनेके सभी रास्ते पूर्व कालमें बन्द थे। बहुधा लोग झगड़ोंका तस्फिया आपसमें ही कर लेते थे और झूठ बोलनेको कभी तैयार न होते थे। यह बात ग्रीक लोगोंके वर्णनसे भी सिद्ध होती है कि महाभारतकालमें ऐसी स्थिति सचमुच थी। हिन्दुस्थानके लोगोंकी सचाईके सम्बन्धमें उन्होंने प्रमाण लिख रखे हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि चन्द्रगुप्तकी प्रचण्ड सेनामें बहुत ही थोड़े अपराध होते थे। उनके लेखसे हिन्दुस्थानमें दीवानी दावोंका बिलकुल न होना प्रकट होता है। उनके वर्णनसे मालूम होता है कि यदि किसीने किसी दूसरेको द्रव्य दिया और वह द्रव्य उसे वापस न मिला तो वह दूसरे पर भरोसा करनेके कारण अपनेको ही दोष देता था।

चन्द्रगुप्त और महाभारतके समयके बाद राज्य बड़े हो गये। इससे यह नियम ढीला होता गया कि सब मुकदमोंका निर्णय स्वयं राजा करे। फिर न्यायाधीश अथवा अमात्य रखनेकी पद्धति शुरू हुई। इसका उल्लेख महाभारतमें ही है। हमारा मत है कि अदालतमें होनेवाले सभी इजहारोंका पूर्व कालमें लेख नहीं रखा जाता था। इजहार शब्दके सच्चे अर्थके अनुसार सभी बातोंका मुँहसे बतलाया जाना प्रशस्त मालूम होता है। परन्तु मृच्छकटिकमें अदालतके वर्णनके सम्बन्धमें कहा गया है कि लेखक, वादी और उसके गवाहका इजहार लिख लेता था। यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि मुल्की कामोंके लिए लेखक रहते थे। इससे न्यायके काममें भी लेखकका रहना असम्भव नहीं मालूम होता।

महाभारतमें दण्डका जो वर्णन किया गया है उसका उल्लेख पहले हो चुका है। परन्तु यहाँ हमें इस बातका विचार करना चाहिए कि कूट श्लोक सरीखे दिखाई पड़नेवाले इन श्लोकोंका सच्चा सच्चा

अर्थ क्या है। टीकाकारोंने उनका अर्थ स्मृतिशास्त्रमें दी हुई न्याय-पद्धतिके अनुरूप किया है। इस पद्धतिका जैसा विस्तारपूर्वक उल्लेख स्मृतियोंमें हुआ है, उस तरहका यद्यपि महाभारतमें नहीं है तौ भी यह अनुमान निर्विवाद रूपसे निकालना पड़ता है कि उस तरहकी पद्धति महाभारत-कालमें भी रही होगी। दण्डका वर्णन ऐसा किया गया है—

नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ।
अष्टपानैकनयनः शंकुकर्णोर्ध्वरोमवान् ॥
जटी द्विजिव्हस्ताम्रास्यो मृगराजतनुच्छदः ।
(शांति पर्व अ० १२१ श्लोक १५)

अर्थात् दण्ड काला है: उसके चार दाँत, चार भुजाएँ, आठ पैर, अनेक आँखें, शंकुकर्ण, खड़े केश, जटा, दो जीभें, ताम्र रङ्गकी आँखें और सिंहकी खालका वस्त्र है। टीकाकारने इस वर्णनकी सङ्गति इस तरहसे लगाई है। चार दाँतोंका अर्थ चार प्रकारकी सजा है—दण्ड, कैद, मार और बध। चार भुजाएँ यानी द्रव्य लेनेके चार तरीके हैं—नगर-दण्ड लेना, वादीसे ली हुई रकमकी दूनी जमानत, प्रतिवादीसे ली हुई रकमके बराबर जमानत और जायदादकी प्राप्ति। (महाभारतमें इन भेदोंका वर्णन नहीं किया गया है।) दण्डके आठ पैरोंका अर्थ विवादको जाँचकी आठ सीढ़ियां हैं—१ वादीकी फरियाद, २ वादीका इजहार, ३ प्रतिवादीका इन्कार करना अथवा ४ आधा कबूल करना, ५ अन्य झगड़े अथवा शिकायतें (यह स्पष्ट है कि जब प्रतिवादी वादीका दावा कबूल करता है तब दण्डके लिए स्थान नहीं रह जाता।) ६ असामियोंसे दण्डके नाम पर ली हुई जमानत, ७ प्रमाण, ८ निर्णय। टीकाकारके द्वारा बतलाई हुई इन आठ सीढ़ियोंका वर्णन किसी दूसरे ग्रन्थमें नहीं है। तथापि वह बहुत कुछ युक्तिपूर्ण मालूम होता है। बहुत सी आँखोंका अर्थ राजाके आठ मन्त्री और ३६ सभासद भी ठीक जँचता है। शंकुकर्ण पूरी तौरसे ध्यान देनेका और ऊर्ध्वरोम आश्चर्यका चिह्न है। इसी तरह सिर पर जटा रहना मुकदमेके प्रश्नों और विचारोंकी उलझनका लक्षण है और दो जीभें वादी और प्रतिवादीके सम्बन्धमें हैं। रक्त वर्ण आँखोंका होना क्रोधका चिह्न है और सिंह-चर्म पहनना न्यायासनके सन्मुख होनेवाली जाँचकी अत्यन्त धार्मिकता और पवित्रता सूचित करता है। यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता कि ऊपरके श्लोकका सच्चा अर्थ यही है, तथापि यह बात सच है कि इसमें सौतिके समयकी न्याय-पद्धतिके स्वरूपका वर्णन किया गया है; और उसका असली चित्र इस स्वरूपसे हमारे सामने खड़ा हो जाता है। न्यायाधिकारियोंका उल्लेख महाभारतमें कच्चिदध्यायमें ही है। जो वादी और प्रतिवादी सन्मुख आवें उनके कथनको शान्तचित्त होकर सुन लेना और उचित निर्णय करना राजाका पहला कर्तव्य है। अतएव तू इस काममें आलस तो नहीं करता है? ऐसा स्पष्ट प्रश्न किया गया है। इसमें भारत-कालकी परिस्थिति बतलाई गई है। परन्तु आगे प्रश्न किया गया है कि—"यदि किसी निर्मल आचारणवाले साधु पुरुष पर चोरी, निन्दा आदि कर्मोंका अपराध लगाया जाय तो उसे व्यर्थ दंड होना अनुचित है। ऐसे सदाचरणवाले मनुष्योंकी धनदौलतका हरणकर उसे मृत्युकी सजा देनेवाले लोभी अमात्योंको मूर्ख समझना चाहिए। तेरे राज्यमें तो ऐसे अनाचार नहीं होने पाते? इससे मालूम होता है कि महाभारतकालमें न्याय करनेवाले अमात्य उत्पन्न हो चुके थे।

कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चोरकर्मणि।
अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ॥
(सभा० अ० ५—१०४)

मालूम होता है कि यह नियम सभी समयोंमें था कि न्याय-अमात्य मृत्युकी सजा न दे। मृच्छकटिकमें भी चारुदत्तको प्राणदण्ड राजाकी आज्ञासे हुआ है। मुसलमानों और पेशवाओंकी अमलदारीमें भी यही नियम था। परन्तु ऊपरके वाक्यसे दिखाई पड़ता है कि अमात्य मृत्युकी सजा बाला-बाला देता था। (जब कि इसे प्रधान रूपसे अनाचार कहा गया है तब सम्भव है कि यह बात कानूनसे न होती होगी।)

परराज्य-सम्बन्ध।

राजकीय संस्थाओंका विचार करते समय परराज्य-सम्बन्धका विचार करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुस्थानमें छोटे राज्य यद्यपि धर्म और वंशसे एक हो अर्थात् आर्य लोगोंके थे, तथापि उनमें आपसमें सदैव युद्ध हुआ करता था और परस्पर एक दूसरेको जीतनेकी महत्वाकांक्षा रहती थी। इस बातसे आश्चर्य न करना चाहिए। शूर और लड़ाके लोगोंमें ऐसा हमेशा होता ही रहता था। यूनानियोंके इतिहासमें भी यही दशा सदैव पाई जाती है। ग्रीक देशके शहरोंके राज्य एक भाषा बोलते हुए और एक देवताकी पूजा करते हुए भी परस्पर बराबर लड़ते थे। हर्बर्ट स्पेन्सरने लिखा है कि राजकीय संस्थाओंकी उत्क्रान्ति और उन्नत दशा इन्हीं कारणोंसे हुई है। परस्पर एक दूसरेको जीतनेकी महत्वाकांक्षा हमें आजकलके यूरोपियन राष्ट्रोंमें भी दिखाई पड़ती है। उनका भी धर्म एक है और वह भी शम-प्रधान ईसाई-धर्म है। इतना सब कुछ होने पर भी और इन लोगोंके एक ही आर्य वंशके होने पर भी गत महायुद्धसे हमें मालूम होता है कि ये यूरोपियन राष्ट्र एक दूसरेको निगल जानेके लिए किस तरह तैयार बैठे रहते हैं। स्पेन्सरके सिद्धान्तके अनुसार राष्ट्रोंकी स्पर्धा (चढ़ा-ऊपरी) ही उनकी उन्नतिका कारण है, यह बात भी इस युद्धसे जान पड़ेगी। राष्ट्रोंका एक दूसरेको हरानेका प्रयत्न करना युद्ध-शास्त्रकी उन्नतिका कारण हुआ है; यही नहीं, बल्कि इस तत्त्वका भी पूर्ण विकास हो गया है कि मनुष्यके क्या हक हैं, राष्ट्रोंका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और राष्ट्रोंका शत्रुमित्र-सम्बन्ध कैसे होता है। महाभारत-कालमें भी इस सम्बन्धमें भारती आर्योंकी उन्नति बहुत दूरतक हुई थी। उस समय इन सब बातोंका ज्ञान हो चुका था कि शत्रुको कैसे जीतना चाहिए, अपनी स्वतन्त्रता कैसे स्थिर रखनी चाहिए, मित्रराष्ट्र कैसे बनाने चाहिएँ, माण्डलिक राजाओंको अपने अधीन कैसे रखना चाहिए, इत्यादि। अतएव हम इस परराज्य-सम्बन्धी तत्त्वका यहाँ विचार करेंगे।

महाभारत-कालमें जो भिन्न भिन्न आर्य राष्ट्र थे, उनमें आपसमें चाहे जितने झगड़े और युद्ध होते रहे हों, परन्तु उन राष्ट्रोंमें बड़ी तीव्रता और प्रज्वलित रूपसे यह भाव जाग्रत रहता था कि उनकी निजी स्वतन्त्रताका नाश न होने पावे। आजकलके यूरोपियन राष्ट्रोंकी तरह उनका इस विषय पर बड़ा ध्यान रहता था। आजकलके पाश्चात्य राजशास्त्रवेत्ताओंका सिद्धान्त है कि स्वतन्त्र और एक मतके लोग चाहे कितने ही थोड़े क्यों न हों, परन्तु उनका स्वातन्त्र्य किसीसे नष्ट नहीं किया जा सकता। प्राचीन भारती आर्य राष्ट्रोंकी परिस्थिति इसी सिद्धान्तके अनुकूल थी। उनका स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अभिमान सदैव जाग्रत रहता था। यदि

कभी कोई राष्ट्र किसी दूसरेको जीत लेता था तो भी वह उस दूसरेको पादाक्रान्त अथवा नष्ट नहीं कर सकता था। इस कारण भारती-कालके प्रारम्भसे प्रायः अन्ततक हमें पहलेके ही लोग दिखाई पड़ते हैं। महाभारत-कालके लगभग अन्य राज्योंको नष्ट करके चन्द्रगुप्तके राज्यकी तरह बड़े बड़े राज्योंका उत्पन्न होना शुरू हो गया था। परन्तु भारती-कालमें आर्य लोगोंकी स्वातन्त्र्य-प्रीति कायम थी जिसके कारण—आजकल यूरोपमें जैसे पुर्तगाल, बेल्जियम आदि छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य कायम हैं उसी तरह—प्राचीन कालमें भारतीय आर्योंने अपने छोटे छोटे राज्यों-को सैंकड़ों वर्षोंतक कायम रखा था।* आर्य राष्ट्रोंके समुदायका लक्ष्य ऐसा ही था। वर्तमान यूरोपीय राष्ट्र-समुदायोंकी जो यह नीति है कि किसी राष्ट्रको नष्ट नहीं होने देना चाहिए, उसी तरह प्राचीन कालमें भारती आर्योंकी भी यही नीति थी। उस समय यह निश्चित हो चुका था कि यदि कोई राजा हरा दिया गया हो तो उसका राज्य उसके लड़के अथवा रिश्तेदारोंको ही दिया जाय। यह नियम था कि राष्ट्रके स्वातन्त्र्यका नाश न किया जाय। इस बातका उदाहरण भारती युद्ध ही है कि राष्ट्रकी स्वतन्त्रताके लिए भार-तीय आर्य कितने उत्साह और दृढ़तासे लड़ते थे। एक छोटेसे पाण्डव-राष्ट्रके लिए भरतखण्डके सब राजा एक युद्धमें शामिल हुए और इतने उत्साहसे लड़े कि युद्धके आरम्भमें जहाँ ५२ लाख मनुष्य थे, वहाँ अन्तमें केवल आठ आदमी जीते बचे। यह कदाचित् अतिशयोक्ति हो, परन्तु वर्तमान यूरोपीय युद्धमें लड़ने और मरनेवालोंकी संख्याका विचार करने पर हमें उत्साहके सम्बन्धमें वर्तमान यूरो-पीय युद्धका साम्य दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार भारती राष्ट्रोंकी स्वातन्त्र्य-प्रीति बहुत दृढ़ थी और इसीसे राष्ट्रोंका नाश न होता था। तथापि इन सब आर्य राष्ट्रोंमें सदैव शत्रुताका सम्बन्ध रहनेके कारण एक दूसरे पर आक्रमण करनेकी तैयारी हमेशा रहती थी। बल्कि महा-भारतमें राजधर्ममें कहा गया है कि राजाको हाथ पर हाथ धरे कभी नहीं बैठना चाहिए। किसी दूसरे देश पर चढ़ाई अवश्य करनी चाहिए।* इस कारण प्रत्येक राष्ट्रमें फौजकी तैयारी हमेशा रहती थी, लोगोंकी शूरता कभी मन्द नहीं होती थी और उनकी स्वातन्त्र्य-प्रीतिमें बाधा नहीं आती थी। फिर भी आर्योंकी नीतिमत्ताके लिए यह बड़ी भारी भूषणप्रद बात है कि लड़ाईके नियम धर्मसे खूब जकड़े रहते थे और साथ ही वे दयायुक्त रहते थे। इस बातका वर्णन

---

* जब कोई राजा पीछा करे तब अवरोधोंकी अर्थात् स्त्रियोंकी भी परवा न करनी चाहिए। (क्या उन्हें मार डालना चाहिये? क्या राजपूतोंकी नाईं स्त्रियोंका नाश किया जाय?)

अवरोधान् जुगुप्सेत का सपत्नधनेदया।
न त्वेवात्मा प्रदातव्यः क्षमे सति कथंचन॥
(शां० १३१—८)

अथवा—

हतो वा दिवमारोहेत् हत्वा वा क्षितिमावसेत्।
युद्धे हि संत्यजन् प्राणान् शक्रस्येति सलोकताम्॥
(अ० १३१—१२)

यह भी वर्णन है कि राजा मर जाय पर उद्योगका त्याग न करे अथवा किसीकी शरणमें न जाय।

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम्।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित्॥
अप्यरण्यं समाश्रित्य चरेन्मृगगणैः सह।
न त्वेवोद्धृतमर्यादैर्दस्युभिः सहितश्चरेत्॥

इन वाक्योंसे पता चलता है कि सिकन्दरके समय भारतीय क्षत्रियोंने स्वाधीनताके लिए किस प्रकार प्राण-त्याग किया था। इस अध्यायके वर्णनसे मालूम होता है कि यह प्रसङ्ग यूनानियोंकी लड़ाईका ही है।

* भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥

आगे होगा। भारतीय आर्य राजाओंकी यह कल्पना कभी नहीं होती थी कि दूसरेको हरा देनेकी अपनी इच्छाको तृप्त करनेके लिए अधार्मिक युद्धका आश्रय लिया जाय—उनकी स्पर्धा भारतीय सेनाकी उत्कृष्ट परिस्थितिके बारेमें ही रहती थी। इस कारण भारतीय आर्य लोग लड़ाईमें अजेय हो गये थे। यूनानियोंने उनके युद्ध-सामर्थ्यकी बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने यह भी लिख रखा है कि प्राचीन कालमें हिन्दुस्थान पर सिकन्दरके पहले किसीने चढ़ाई नहीं की थी। चन्द्रगुप्त और अशोकके समयसे राजकीय और धार्मिक दोनों परिस्थितियाँ बदल गईं जिससे भारतीय आर्योंका युद्ध-सामर्थ्य और स्वातन्त्र्य-प्रेम घट चला। अतएव हिन्दुस्थानके इतिहासकी दिशा भी इसी समयसे बदलती गई।

यद्यपि शत्रुको जीतनेके लिए दण्ड और फ़ौज मुख्य उपाय थे, तथापि इस कामके लिए दूसरे उपाय भी उस समय मालूम थे। महाभारतमें नीतिशास्त्रके जो नियम कश्चित् अध्याय और शान्तिपर्वके राजधर्ममें दिये गये हैं, उनमें शत्रुका पराजय करनेके लिए साम, दान, भेद दण्ड, मन्त्र, औषध और इन्द्रजालके सात उपायोंका वर्णन किया गया है। कहा गया है कि शत्रुके बलाबलकी परीक्षा करके विजयेच्छु पुरुष उक्त उपायोंमेंसे किसी उपायकी योजना करे। इनमेंसे मन्त्र दैवी उपाय है। हमें इसका विचार नहीं करना है। हम इन्द्रजालका भी विचार नहीं करेंगे। सामका अर्थ सन्धि है। यह शत्रुसे सुलह करके आपसका वैमनस्य मिटानेका उपाय है। इस सम्बन्धमें एक बात आश्चर्यकारक मालूम होती है कि महाभारतमें लड़ाई अथवा सन्धि करनेका अधिकारी कोई ख़ास मन्त्री या अमात्य नहीं बतलाया गया है। तथापि ऐसा सन्धि-विग्रह करनेवाला अधिकारी अवश्य रहता होगा। गुप्तकालीन शिलालेखोंमें इन अमात्योंका नाम महासान्धि-विग्रहिक बतलाया गया है। यह आजकलका "फारेन मिनिस्टर" है। ऐसे अमात्योंका पर राष्ट्रोंसे नित्य-सम्बन्ध रहता ही था। ये महाभारतकालकी राज-व्यवस्थामें अवश्य रहे होंगे। युद्धकी अपेक्षा सामका मूल्य अधिक है। यह बात सब उपायोंमें सामको अग्रस्थान देनेसे सिद्ध होती है। भारती युद्धके समय श्रीकृष्ण युद्धके पहले सन्धि करनेके लिए भेजे गये थे। शत्रुको द्रव्य देकर उसके मनको प्रसन्न करना दान है। इस तरह एक किस्मका कर देकर राष्ट्रोंको अपनी स्वतन्त्रता रखनी चाहिए। दण्ड और लड़ाईके उपायोंका अलग वर्णन किया जायगा।

प्राचीन कालमें भेदको बड़ा भारी महत्त्व दिया गया था। राजनीतिमें प्रकट रीतिसे कहा गया है कि प्रत्येक राजा दूसरे राज्यमें द्रोह उत्पन्न करनेका प्रयत्न करे। यद्यपि यह बात आजकल प्रकट रीतिसे नहीं बतलाई जाती, तथापि प्रत्येक उन्नत राष्ट्र इस समय भी इस उपायका स्वीकार करता है। पहले बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक राजा परराज्यमें गुप्तचर भेजे और वहाँके भिन्न भिन्न अधिकारियोंके आचरण पर दृष्टि रखे। मानना पड़ता है कि पूर्व कालमें परराज्यके अधिकारियोंको द्रव्यका लालच देकर वश कर लेनेका उपाय बहुधा सफल हो जाता था। यह बतला सकना कठिन है कि राष्ट्रकी स्वातन्त्र्य-प्रीतिका मेल इस विरोधी गुण—दग़ाबाज़ीसे कैसे हो जाता था। तथापि यह बात प्रकट रीतिसे जारी थी। इसका प्रमाण नारदके प्रश्नसे मिलता है। नारदने युधिष्ठिरसे पूछा कि

शत्रुसेनाके अगुआ पुरुषोंको वशमें कर लेनेके लिए तू रत्नादिककी गुप्त भेंट भेजता है न? इससे उस जमानेमें प्रत्येक राजाको इस बातका डर लगा रहता होगा कि न जाने कब उसकी सेना अथवा अधिकारी धोखा दे दें। केवल भारत-कालमें ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े मिलेंगे: पर अर्वाचीन कालके इतिहासमें ऐसे उदाहरण बराबर मिलते हैं।

कुटिल राजनीति।

महाभारतकालमें मुख्य नीति यह थी कि शत्रुसे किसी तरहका कपट न करना चाहिए। परन्तु यदि शत्रु कपटका आचरण करे तो कहा गया है कि आप भी कपटका आचरण करे। इसके सिवा जिस समय राज्य पर आपत्ति आवे उस समय कपट आचरण करनेमें कोई हर्ज नहीं। समग्र राजनीतिके दो भेद बतलाये गये हैं। एक सरल राजनीति और दूसरी कुटिल राज-नीति। यदि सरल राजनीतिके आचरणसे काम चलता हो तो स्पष्ट रीतिसे कहा गया है कि राजा उसका त्याग न करे। "वह मायावीपन अथवा दांभिकतासे ऐश्वर्य पानेकी इच्छा न करे। दुष्टता करके शत्रु-को कभी न फँसावे और किसी तरहसे उसका सत्यानाश न करे।" (शांतिपर्व अ० ६६) तथापि युधिष्ठिरने शांतिपर्वके १४० वें अध्यायमें प्रश्न किया है कि जब दस्युओंसे अतिशय पीड़ा होती है उस समय क्या करना चाहिए? पहले जमाने-की राजनीति भारतीय आर्य राजाओंके पारस्परिक सम्बन्धकी है। और इस समय भीष्मने जो आपत्तिप्रसंगकी नीति बत-लाई है वह म्लेच्छोंके आक्रमणके समयकी है। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि यह प्रसङ्ग महाभारतके समय सिकन्दरकी चढ़ाईके अवसरको लक्ष्यकर बतलाया गया है कि युगक्षय हो जानेके कारण धर्म क्षीण हो गया है और दस्युओंसे पीड़ा हो रही है। यह बात यवनोंके आक्रमणके लिए ही ठीक हो सकती है। भीष्मने उत्तर दिया था कि—"ऐसे आपत्तिप्रसंग पर राजा प्रकट रीतिसे शूरता दिखलावे। अपनेमें किसी तरहका छिद्र न रखे। शत्रुके छिद्र दिखाई पड़ते ही तत्काल आक्रमण करे। साम आदि चार उपायोंमें दण्ड श्रेष्ठ है। उसीके आधार पर शत्रुका नाश करे। आपत्तिकालमें योग्य प्रकारकी सलाह करे। योग्य रीतिसे पराक्रम दिखलावे: और यदि मौका आ पड़े तो योग्य रीति-से पलायन भी करे। इस विषयमें विचार न करे। शत्रुका और अपना हित हो तो संधि कर ले। परन्तु शत्रु पर विश्वास न रखे। मधुर भाषणसे मित्रकी तरह शत्रु-की भी सान्त्वना करता रहे। परन्तु जिस तरह सर्पयुक्त घरके निवाससे सदा डरना चाहिए उसी तरह शत्रुसे भी सदैव डरता रहे। कल्याण चाहने-वाला प्रसङ्गके अनुसार, शत्रुके हाथ जोड़ ले और शपथ कर ले, परन्तु समय आने पर कन्धेके मटकेकी तरह उसे पत्थर पर पटककर चूर चूर कर डाले। मौका आने पर क्षण भरके ही लिए क्यों न हो, आगकी तरह बिलकुल प्रज्व-हो जाय: परन्तु भूसेकी तरह बिलकुल ज्वालाहीन होकर चिरकालतक भभ-कता न रहे। उद्योग करनेके लिए सदैव तत्पर रहे। अपनी आराधना करनेवाले लोगों और प्रजाजनोंके अभ्युदयकी इच्छा रखे। आलसी, धैर्यशून्य, अभिमानी, लोगोंसे डरनेवाले और सदैव अनुकूल समयकी प्रतीक्षा करनेवालेको अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती *। राज्यके सभी

* यह वाक्य अत्यन्त मार्मिक है:—
नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीबा नाभिमानिनः।
न च लोकरवाद्भीता न वै शश्वत्प्रतीक्षिणः॥
(शां० अ० १४०—२३)

अङ्गोंको गुप्त रखे। बककी तरह अभीष्ट वस्तुकी चिन्ता करता रहे। सिंहकी तरह पराक्रम दिखलावे। तीरकी तरह शत्रु पर टूट पड़े। मृगकी तरह सावधानीसे सोवे। अवसर आने पर बहरा अथवा अन्धा भी बन जाय। योग्य देश और कालके आते ही पराक्रम करे। यद्यपि उद्योगका फल पूर्णताको न पहुँच चुका हो, तथापि पहुँचे हुएके समान आचरण करे। समय प्राप्त होने पर शत्रुको आशा दिलावे और उसे समयकी मर्यादा बतलावे। फिर उसके सफल होनेमें विघ्न डाल दे। फिर विघ्नोंका कारण बतलावे और कारणोंके मूलमें कोई हेतु बतलावे। जबतक शत्रुका डर उत्पन्न न हुआ हो तबतक डरे हुएके समान व्यवहार करे। परन्तु डरके उत्पन्न होते ही निर्भय मनुष्यकी तरह उस पर प्रहार करे। सङ्कटमें पड़े बिना मनुष्यकी दृष्टिमें कल्याण नहीं देख पड़ता; परन्तु सङ्कटमें पड़ने पर जीते रहनेके बाद, कल्याणका होना अवश्य दिखाई पड़ेगा। जो शत्रुसे सन्धि करके उस पर विश्वास रखकर सुखसे पड़ा रहता है, वह वृक्षकी चोटी पर सोनेवाले मनुष्यकी तरह नीचे गिरता है। चाहे सौम्य हो या भयङ्कर, जैसा चाहिए वैसा कर्म करके दीन दशासे अपना उद्धार कर लेना चाहिए; और सामर्थ्य आने पर धर्म करना चाहिए। शत्रुके जो शत्रु हों उनका सहवास करना चाहिए। उपवन, विहार-स्थल, प्याऊ, धर्मशाला, मद्यप्राशनगृह, वेश्याओंके स्थल और तीर्थ-स्थानमें ऐसे लोग आया करते हैं जो धर्मविध्वंसक, चोर, लोककण्टक और जासूस हैं। उनको ढूँढ़ निकालना और नष्ट कर देना चाहिए। विश्वासके कारण भय उत्पन्न होता है। अतएव परीक्षा किये बिना विश्वास नहीं करना चाहिए। जिस विषय पर शङ्का करनेका कोई कारण न हो उस पर भी शङ्का करनी चाहिए। शत्रुका विश्वास जम जाने पर काषाय वस्त्र, जटा आदि वैराग्य-चिह्नोंका स्वीकार करके उसका नाश करना चाहिए। दूसरे-का मर्मभेद किये बिना अथवा हिंसा किये बिना सम्पत्ति नहीं मिलती। जन्मसे कोई मित्र अथवा शत्रु नहीं रहते। वे केवल सामर्थ्यके सम्बन्धसे शत्रु या मित्र होते हैं। शस्त्रपात करना हो तो भी प्रिय भाषण करे और प्रहार कर चुकने पर भी प्रिय भाषण करे। अग्नि और शत्रुका शेष न रखे। कभी असावधान न रहे। लोभी आदमीको द्रव्य देकर वशमें करे। समानताके शत्रुसे संग्राम करे। अपनी मित्र-मण्डली और अमात्योंमें भेद उत्पन्न न होने दे और उनमें एक-मत भी न होने दे। सदैव मृदु अथवा सदैव तीक्ष्ण न बने। ज्ञान-सम्पन्न पुरुषोंसे विरोध न करे। इस तरहसे मैंने तुझे नीतिशास्त्रमें बतलाया है। इस नीतिका पातकसे सम्बन्ध है, इसलिए इस तरहका आचरण सदैव नहीं करना चाहिए। जब शत्रु इस तरह-के आचरणका प्रयोग करे तब इस नीति-से काम लेनेका विचार करना चाहिए।" तात्पर्य, यह नीति राजाओंके उस समयके आचरणके लिए बतलाई गई है जब वह दस्युओं अथवा म्लेच्छोंसे ग्रस्त हो गया हो। इसमें यह स्पष्ट बतलाया गया है कि ऐसा आचरण सदैव नहीं करना चाहिए; सदैव करनेसे पाप होगा। पाठकोंको स्मरण होगा कि म्लेच्छोंसे लड़ते हुए आपत्ति-प्रसङ्गोंमें शिवाजी महाराजने इसी नीतिका अवलम्बन किया था।

इस नीतिका नाम कणिक नीति है। धृतराष्ट्रने पाँडवोंके बल, वीर्य और पराक्रमको देखकर और उनके तथा अपने

पुत्रोंके बीच वैर-भावका विचार करके कणिक नामक मंत्रीसे सलाह की; तब उसने इस नीतिका उपदेश किया था। परन्तु उस समय धृतराष्ट्र पर किसी तरहकी आपत्ति न आई थी। इसलिए कहनेकी आवश्यकता नहीं कि धृतराष्ट्रने कणिककी नीति सुनकर उसी तरहका आचरण कर डालनेमें बहुत बुरा काम किया। आदिपर्वमें यह कणिक नीति वर्णित है। उसका तात्पर्य यह है—"शत्रु तीन प्रकारके होते हैं—दुर्बल, समान और बलिष्ठ। दुर्बल पर सदैव शस्त्र उठाये रहना चाहिए, जिसमें वह कभी अपना सिर ऊँचा न कर सके। समान शत्रुकी दृष्टिमें सदैव अपने पराक्रमको जाग्रत रखना चाहिए और अपने बलकी वृद्धि कर उस पर आक्रमण करना चाहिए। बलिष्ठ शत्रुके छिद्रको देखकर और भेद उत्पन्न करके उसका नाश करना चाहिए। एक बार शत्रु पर अस्त्र उठाकर फिर उसका पूरा विनाश कर देना चाहिए—अधूरा नहीं छोड़ना चाहिए। शरणमें आये हुए शत्रुको मार डालना प्रशस्त है। प्रबल शत्रुका विष आदि प्रयोगोंसे भी प्राण-घात करना चाहिए। शत्रुके सेवकोंमें स्वामिद्रोह उत्पन्न कर देना चाहिए। शत्रु-पक्षके सहायकोंको भी इसी तरहसे मार डालना चाहिए। अपना विपरीत समय देखकर शत्रुको सिर पर भी बैठा ले, परन्तु अनुकूल समय आते ही उसे सिरके मटकेकी तरह जमीन पर पटककर चूर चूर कर डाले। पुत्र, मित्र, माता, पिता आदि भी यदि वैर करें तो उनका बध करनेमें ही उत्कर्ष चाहने-वाले राजाका हित है। अपने हृदयकी बात किसीको मालूम न होने देनी चाहिए। जिसको मारना हो उसके घरमें आग लगा देनी चाहिए और अपने विषयमें कोई सन्देह न करने पावे, इसलिए नास्तिक, चोर आदि लोगोंको देशसे बाहर निकाल देना चाहिए। अपनी वाणीको मक्खनके समान मृदु और हृदय-को उस्तरेके समान तीक्ष्ण रखना चाहिए। अपने कार्योंका हाल मित्रों अथवा शत्रुओंको कुछ भी मालूम न होने दे।" उपर्युक्त नियम कणिकने धृतराष्ट्र-को बतलाये और उसे अपने भतीजों—पाण्डवोंका नाश करनेके लिए उपदेश किया। इस प्रश्नका ठीक ठीक उत्तर दे सकना कठिन है कि इन तत्त्वोंको भारतीय आर्योंने ग्रीक लोगोंसे सीखा था अथवा उन लोगोंमें ही इस तरहकी कुटिल राजनीति-के तत्त्व उत्पन्न हो गये थे। इसमें सन्देह नहीं कि भारती-कालके राजाओंकी शत्रु-विषयक नीति अत्यन्त सरल और उदात्त थी। भारती-युद्धकालमें राजाओंके अधि-कारी धोखा देने या विश्वासघात करनेसे अलिप्त रहते थे। भीष्म, द्रोण आदिका आचरण अत्यन्त शुद्ध था। सौतिने अपने समयकी परिस्थितिके अनुसार, उनके सम्बन्धमें, महाभारतमें कहीं कहीं वर्णन किया है कि वे विपत्तियोंमें मिल गये थे और उन्होंने पाण्डवोंको अपने मरनेका उपाय भी बतला दिया था। परन्तु यथार्थमें भीष्म या द्रोणने ऐसा आच-रण कभी नहीं किया, ऐसा हमारा निश्चय है। महाभारतमें जो यह वर्णन है कि श्रीकृष्णने कर्णको गुप्त सलाह देकर अपने पक्षमें मिला लेनेका प्रयत्न किया था, वह प्रसङ्ग भी पीछेसे जोड़ा हुआ मालूम पड़ता है। कर्णने भी इस अवसर पर, उदार आचरणके मनुष्यकासा ही व्यवहार किया है। सारांश, जब कि भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, कृप आदि भारती योद्धाओंने स्वामिनिष्ठ तथा राष्ट्रनिष्ठ अधिकारियोंके योग्य ही आचरण किया

है, तब यह माननेमें कोई हर्ज नहीं कि कुटिल नीतिकी जो बातें कणिकनीतिके अध्यायमें दिखाई पड़ती हैं, वे महाभारत-कालमें नई उत्पन्न हुई होंगी। यह नीति मेकियावेली नामक यूरोपके प्रसिद्ध कुटिल राजनीति-प्रतिपादकके मतकी तरह ही कुटिल थी; और चाणक्य तथा चन्द्रगुप्तके इतिहाससे मालूम होता है कि उस समय हिन्दुस्थान पर इस नीतिका बहुत कुछ प्रभाव भी जम चुका था। चाणक्यके ग्रन्थसे मालूम होता है कि उसकी नीति भी इसी तरहकी थी। मुद्रा-राक्षसमें उस नीतिका अच्छा चित्र खींचा गया है। सारांश यह है कि चन्द्रगुप्तके समयमें पहलेकी सरल राजनीति दब गई थी और कुटिल राजनीतिका अमल जारी हो चुका था।

प्राचीन स्वराज्य-प्रेम।

यदि इसका कारण सोचा जाय तो मालूम होगा कि महाभारतकालमें राजाओं-की सत्ता अतिशय प्रबल हो गई थी और प्रजाके अन्तःकरणमें जैसा चाहिए वैसा स्वराज्य-प्रेम नहीं था, जिससे यह भिन्न प्रकारकी राजकीय परिस्थिति उत्पन्न हो गई। जब यह मान लिया जाता है कि खानगी जायदादकी तरह राज्य राजाकी मिल्कियत है, तब प्रजामें इस भावका स्थिर रहना असम्भव है कि यह राज्य हमारा है। जबतक यह भाव जाग्रत रहता है कि समग्र देश सभी लोगोंका है, तबतक प्रजाके अन्तः-करणमें परराज्य द्वारा किये हुए भेद-प्रयत्न-की प्रबलता अधिक अंशोंमें सफल नहीं हो सकती। जहाँ राजाओंकी सत्ता अतिशय प्रबल होती है, वहाँ लोगोंकी यह धारणा रहती है कि राजा तो राज्यका स्वामी है—उसकी जगह पर यदि कोई दूसरा राजा हो तो वह भी पहले राजाकी तरह स्वामी ही रहेगा। स्वराज्यका प्रधान लक्षण यही है कि राज्य और राजा दोनोंको अपना समझनेकी दृढ़ भावना प्रजामें जाग्रत रहे। राज्यका प्रत्येक परिवर्तन लोगोंकी सम्मतिसे होना चाहिए। लोगोंकी यह कल्पना होनी चाहिए कि प्रत्येक परि-वर्तनसे हमारे सुख-दुःखका सम्बन्ध है। जिस समय सभी लोग एक ही वंशके, समान बुद्धिवाले और सदृश सभ्यतावाले रहते हैं, उस समय उनमें ऐसी राजकीय भावना जाग्रत रहती है। परन्तु जिस समय राज्यमें भिन्न भिन्न दर्जे और सभ्यताके लोग जित और जेताके नातेसे एक जगह आ रहते हैं, उस समय राष्ट्रीय भावना कम हो जाती है: लोग राजकीय परिवर्तनकी कुछ परवा नहीं करते और फिर राजा राज्यका पूरा स्वामी बन जाता है। ऐसी परिस्थितिमें महत्वाकांक्षी लोगों-को, नाना प्रकारके उपायों और वैभवके लालचसे सहज ही, राजद्रोही बनाकर हर एक षड्यन्त्रमें शामिल करना सम्भव हो जाता है। क्योंकि जब यह भाव नष्ट हो जाता है कि राज्य प्रजाका है और उसीके समान मेरा भी है, तब उक्त दुष्ट वासनाका विरोध किसी तरहकी उच्च मनोवृत्ति नहीं करती। जहाँ स्वराज्यकी कल्पना जाग्रत नहीं रहती वहाँ लोग भेदके बलि होनेको सदा तैयार रहते हैं; और एक राजाके नाश होने पर दूसरे राजाके आनेसे उन्हें यही मालूम होता है कि हमारी कुछ भी हानि नहीं हुई। बल्कि किसी विशेष अवसर पर उनका लाभ भी होता है।

भारती-कालके आरम्भमें हिन्दुस्थान-के राज्योंकी स्थिति पहले वर्णनके अनुसार थी। राज्यमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रत्येक राजकीय मामलोंमें अपना मन लगाते थे। उनकी यह भावना पूरी

पूरी जाग्रत रहती थी कि यह राज्य हमारा है। इस बातको प्रजाके सन्मुख समझा देना पड़ता था कि राजाने अमुक काम क्यों किया। इसका एक मनोरञ्जक उदाहरण श्रीकृष्णके ही भाषणमें उद्योग पर्वमें पाया जाता है। लोगोंको इस बातको समझा देनेकी आवश्यकता थी कि कौरव-पाण्डवका युद्ध क्यों हो रहा है और इसमें अपराध किसका है। "मैं चारों वर्णोंको समझाकर बतलाऊँगा। चारों वर्णोंके इकट्ठे होने पर मैं उन्हें विश्वास दिला दूँगा कि युधिष्ठिरके कौनसे गुण हैं और दुर्योधनके क्या अपराध हैं।" श्रीकृष्णने कहा है कि:—

गर्हयिष्यामि चैवैनं पौरजानपदेष्वपि।
वृद्धबालानुपादाय चातुर्वर्ण्यं समागते॥
(उ० अ० ७३-३३)

अर्थात् राजकीय मामलोंमें चातुर्वर्ण्यको समझा देना आवश्यक था। जहाँ राज्यके लोग इस तरहसे राज्यको अपना समझकर राजकीय कामोंमें मन लगाते हैं वहाँ राजद्रोहका उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। महाभारतमें यह भी कहा गया है कि—"एक राजा दूसरेके राज्यको जीत लेने पर वहाँके लोगोंसे कहे कि मैं तुम्हारा राजा बनता हूँ—तुम मुझे राज्य सौंपो।" अर्थात् लोक-सम्मतिके बिना राज्यके कामोंमें अथवा व्यवस्थामें परिवर्तन नहीं होता था। परन्तु यह परिस्थिति महाभारतकालमें बहुत कुछ बदल गई। विशेषतः पूर्वके राज्य विस्तृत हो गये और वहाँके बहुतेरे लोग शूद्र जातिके और हीन सभ्यताके थे; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी संख्या अतिशय थोड़ी होनेके कारण राज्यके झगड़ोंमें उनका बहुत कम हाथ था और वे ध्यान भी नहीं देते थे। पाटलिपुत्रके राज्य पर नन्द क्षत्रिय बैठे अथवा चन्द्रगुप्त शूद्र बैठे, जनसमूहको इस सम्बन्धमें कुछ भी परवा न थी। उनको बोलनेका अधिकार भी न था और सामर्थ्य भी न था। अतएव ऐसे राज्योंमें षड्यन्त्रकारी और राजद्रोही लोगोंकी बन पड़ी। इसलिए आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि राजा लोग साम, दान, दण्ड, भेदके उपायोंमेंसे भेदका ही अधिक उपयोग करने लगे। भारती-कालके आरम्भमें उच्च कोटिकी राजनीति थी; परन्तु महाभारत-कालमें कुटिल राजनीतिका बहुत कुछ प्रभाव हो गया और राजकीय अधिकारियोंकी नीति बहुत कुछ भ्रष्ट हो गई।

भीष्मका राजकीय आचरण।

इस सम्बन्धमें भारती-युद्धके समय भीष्मका आचरण अत्यन्त उदात्त और अनुकरणीय हुआ है। बहुतेरे लोग प्रश्न करते हैं कि युद्धके समय भीष्मने दुर्योधनकी ओरसे जो युद्ध किया, वह योग्य है या नहीं। भीष्मने दुर्योधनसे स्पष्ट कहा था कि तेरा पक्ष अन्यायपूर्ण है। उन्होंने उससे यह भी कहा था कि शर्तके अनुसार पाण्डवोंको राज्य अवश्य देना चाहिए। उसी तरह दूसरा प्रश्न यह किया जाता है कि जब श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओर थे और भीष्म श्रीकृष्णको ईश्वरका अवतार मानकर उनकी पूरी पूरी भक्ति करते थे, तब क्या भीष्मका दुर्योधनकी ओर होकर श्रीकृष्णसे विरोध करना ठीक कहा जा सकता है? रामायणमें बिभीषणका आचरण ऐसा नहीं है। वह रावणको छोड़कर रामसे मिल गया। रावणका कृत्य दुर्योधनकी तरह ही निन्द्य था और विभीषण भीष्मकी तरह रामका भक्त था। अतएव यह प्रश्न होता है कि ऐसी स्थितिमें भीष्मने जो आचरण किया वह अधिक न्यायका है, या विभीषणने जो आचरण किया वह अधिक न्यायपूर्ण है। परन्तु इसमें

सन्देह नहीं कि राजनीतिकी दृष्टिसे भीष्मका ही आचरण श्रेष्ठ है। जिसके अन्तःकरणमें स्वराज्यका सच्चा तत्व जम गया है वह स्वराज्यके पक्षको कभी छोड़ नहीं सकता। दुर्योधनका पक्ष अन्यायका था; तथापि वह स्वराज्यका पक्ष था और भीष्मने अपने स्वराज्य-सम्बन्धी कर्तव्यका पालन योग्य रीतिसे किया। रामायणमें भी विभीषणको आश्रय देते हुए रामने स्पष्ट कहा है कि यह अपने भाईसे लड़कर आया है, अतएव राज्यार्थी होनेके कारण यह भेद हमें उपयोगी होगा। उच्च सभ्यता और हीन सभ्यतामें यही अन्तर है। यह निर्विवाद है कि राजकीय नीति-सम्बन्धमें भीष्मका आचरण ही अतिशय श्रेष्ठ है और रामभक्तके नातेसे विभीषणका महत्व कितना ही अधिक क्यों न हो, परन्तु राजनीतिकी दृष्टिसे उसका आचरण हीन ही है।

महाभारतमें वर्णन है कि युद्धके आरम्भमें जब युधिष्ठिर भीष्मको नमस्कार करने गये, तब भीष्मने कहा कि—"पुरुष अर्थका दास होता है; इसलिये मैं दुर्योधनकी ओरसे लड़ रहा हूँ, अर्थात् आजतक मैंने इस राजाका नमक खाया है अतएव मैं इसीकी ओरसे लड़ूँगा।" यह कथन भी एक दृष्टिसे अपूर्ण ही है। वे इससे भी अधिक उदात्त रीतिसे कह सकते थे। तथापि उनका उक्त वचन भी उदार मनुष्यका सा है। वनपर्वमें युधिष्ठिरने भीमका इसी तरहसे समाधान किया है। जब भीम आग्रहके साथ कहने लगा कि वनवासकी शर्तको तोड़कर अपने बलसे हम कौरवोंको मारेंगे, और जब इस कामको अधर्म कहे जाने पर भी उसका समाधान न हुआ, तब युधिष्ठिरने उससे कहा—"तू अपने ही बलकी प्रशंसा करता है; परन्तु कौरवोंकी ओर प्रबल वीर भीष्म और द्रोण तो हैं न। इन लोगोंने जो नमक खाया है उसको वे अवश्य अदा करेंगे।" (वनपर्व अ० ३६) इसे सुनकर भीम चुप रह गया। सारांश यह है कि सब लोगोंका यही विश्वास था कि भीष्म और द्रोण अत्यन्त राजनिष्ठ हैं और वे अपने राजाका पक्ष कभी न छोड़ेंगे। महाभारतमें आगे जो यह वर्णन है कि युद्ध-प्रसङ्गमें भीष्मने युधिष्ठिरसे अपनी मृत्युका उपाय बतला दिया, वह पीछेसे जोड़ा गया है। महाभारतकालीन राजनीति बिगड़ गई थी; इसलिए सौतिके समयमें यह धारणा थी कि कैसा ही राज्याधिकारी क्यों न हो, नीतिसे भ्रष्ट किया जाकर अपने पक्षमें मिला लिया जा सकता है। और इसी धारणाके अनुसार सौतिने भीष्मके भ्रष्ट होनेका यह एक प्रसङ्ग जोड़ दिया है। परन्तु जब भीष्मकी नीतिमत्ता उच्च और उदात्त थी, तब यह सम्भव नहीं है कि वह इस तरहकी नमकहरामी करे। भीष्मने अपने मुँहसे युद्धके आरम्भमें कहा था कि मैंने दुर्योधनका नमक खाया है; और वनपर्वमें युधिष्ठिरने भी भीमसे इसी बातको दुहराया है। यह सम्भव नहीं है कि भीष्म इन दोनों मतोंके विरुद्ध आचरण करे। यह प्रसङ्ग, "कर्णका मनोभङ्ग मैं करूंगा" इस विश्वासघातपूर्ण शल्यके वचनकी तरह, असम्भव तथा पूर्वापर-विरोधी है; और वह महाभारतकालीन राजनीतिकी कल्पनाके अनुसार सौतिके द्वारा पीछेसे गढ़ा गया है। भीष्मपर्वके १०७ वें अध्यायमें दिये हुए वर्णनके अनुसार यदि सचमुच युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण कौरवोंकी फौजमें भीष्मके मारनेका उपाय पूछने गये हों, तो सम्भव नहीं कि यह बात दुर्योधनसे छिपी रहे। इसके सिवा यह भी नहीं माना जा सकता कि श्रीकृष्ण

खुद भीष्मके वधका उपाय नहीं बतला सकते थे। सारांश यह है कि भीष्मके उज्वल शीलको कलङ्क लगानेवाला यह कथाभाग पीछेका है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि अपना राजा अनीतिका आचरण करता है और उसका पक्ष सरासर अन्याय-पूर्ण है, तो क्या उसकी ओरसे लड़ना भी अन्याय नहीं है? ऐसे मौके पर नीतिमान्‌को क्या करना चाहिए? इस प्रश्नके सम्बन्धमें महाभारतमें एक मनोरञ्जक सम्वाद पाया जाता है। यह सम्वाद भीष्म और श्रीकृष्णके दरमियान उस समय हुआ जब भीष्मने अतिशय पराक्रम करके अर्जुनको मूर्च्छित कर दिया और जब श्रीकृष्णने अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर भीष्म पर चक्र उठाया। उस समय जब श्रीकृष्ण चक्र लेकर दौड़े तब उन्होंने भीष्मसे कहा कि—"सब अनर्थोंकी जड़ तू ही है; तूने दुर्योधनका निग्रह क्यों नहीं किया?" तब अपने आचरणका समर्थन करनेके लिए भीष्मने उत्तर दिया कि (राजापरं दैवतमित्युवाच—) "राजा सबका परम देवता है।" भीष्मने यह भी कहा है कि—"तू मुझ पर चक्र उठाता है, यही बात मेरे लिए त्रैलोक्यमें सम्मानसूचक है; मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।" यह कहकर भीष्म चुपचाप खड़े रहे। इतनेमें अर्जुनने होशमें आकर श्रीकृष्णको वापस लौटाया। यह कथाभाग भीष्मपर्वके ५६ वें अध्यायमें है। परन्तु बहुतसी प्रतियोंमें यहाँके मृत्युके श्लोक नहीं हैं। यहाँके श्लोक ये हैं:—

श्रुत्वा वचः शांतनवस्य कृष्णो।
वेगेन धावंस्तमथाभ्युवाच॥
त्वं मूलमस्येह भुवि क्षयस्य।
दुर्योधनं चाद्य समुद्धरिष्यसि॥
दुर्द्यूतदेवी नृपतिर्निवार्यः
सन्मंत्रिणा धर्मपथि स्थितेन।
त्याज्योथवा कालपरीतबुद्धि-
र्धर्मातिगो यः कुलपांसनः स्यात्॥
भीष्मस्तदाकर्ण्य कुरुप्रवीरं
राजापरं दैवतमित्युवाच॥

ये श्लोक अत्यन्त महत्वके हैं। इनमें एक अत्यंन्त महत्वके प्रश्नके सम्बन्धमें पूर्व कालमें दो मतोंका होना दिखाई पड़ता है। जब यह प्रश्न उठे कि यदि राजा दुराचारी हो तो क्या किया जाय, तब इसके सम्बन्धमें भीष्मने इस तत्वका प्रतिपादन किया है कि उसकी आज्ञाको सर्वथा मान्य समझकर उसका पक्ष कभी नहीं छोड़ना चाहिए: और श्रीकृष्णने इस तत्वका प्रतिपादन किया है कि जो उत्तम मन्त्री हैं, उन्हें राजाका निग्रह करना चाहिए और यदि वह कुछ भी न माने तो उसका त्याग कर देना चाहिए। अर्थात्, उसे गद्दीसे उतारकर दूसरे राजाको बैठा देना चाहिए। ये दोनों पक्ष उदात्त राजनीतिके हैं, पूज्य हैं और इन्हें भीष्म तथा श्रीकृष्णने अपने आचरणसे भी दिखा दिया है। परन्तु ऐसी परिस्थितिमें शत्रुसे मिल जानेके तीसरे मार्गका विभीषणने जो स्वीकार किया, वह हीन और निन्द्य है। स्मरण रहे कि भारतमें वर्णित उदात्त आचरणके किसी व्यक्तिने उस हीन तत्वका स्वीकार नहीं किया है।

उद्धर्षण-विदुला-संवाद।

पराजित होनेवाले राजाको धीरज देनेवाला तथा उत्साहयुक्त बनानेवाला उद्धर्षण-विदुला-संवाद राजकीय धर्ममें एक अत्यन्त महत्त्वका भाग है; अतएव वह अन्तमें उल्लेख करने योग्य है। भारतमें तत्वज्ञानका सर्वस्व जैसे गीता है, उसी

तरह यह संवाद राजधर्मका सर्वस्व है। हम इसे यहाँ पर सारांश रूपसे देते हैं। यह बात नहीं है कि यह संवाद केवल दैन्यावस्थामें पहुँचे हुए क्षत्रियोंको लक्ष्य करके लिखा गया हो। विपत्तिके समय **संसारमें प्रत्येक** मनुष्यको इस उपदेश-का ध्यान रखना चाहिए। इसमें व्यव-हार तथा राजकीय परिस्थितिकी उदात्त तथा उत्साहयुक्त नीति भरी हुई है। इसमें किसी तरहकी कुटिलताकी अथवा कपट-युक्त नीति नहीं है—केवल उत्साह उत्पन्न करनेवाली नीति है। इसलिए हम यहाँ उसे थोड़ेमें लिखते हैं। सञ्जय नामक राजपुत्र पर सिन्धु राजाके आक्रमण करने पर सञ्जय रणसे भाग आया। तब उसकी राजनीतिनिपुण और धैर्यवती माता विदुला कहने लगी (उद्योग० अ० १३३—१३६)

वि:—आत्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभर।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष माशेष्वैवं पराजितः॥१॥
अलातं तिंदुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः२
उद्भावयस्व वीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम्।
धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा किंनिमित्तं हि जीवसि३
दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः४
नातः पापीयसीं कांचिदवस्थां शंबरोऽब्रवीत्।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते॥५॥
निर्विण्णात्मा हतमना मुञ्चैतां पापजीविकाम्
एकशत्रुवधेनैव शूरो गच्छति विश्रुतिम्॥६॥
न त्वं परस्यानुचरस्तात जीवितुमर्हसि।
भयाद्वृत्तिसमीक्षो वा न भवेदिह कस्यचित्
उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम्।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित्॥८॥
पु:—ईदृशं वचनं ब्रूयाद्भवती पुत्रमेकजम्।
किं नु ते मामपश्यंत्याः पृथिव्या अपि सर्वया९
वि:—खरीवात्सल्यमाहुस्त-
निःसामर्थ्यमहैतुकम्।
तव स्याद्यदि सद्वृत्तं
तेन मे त्वं प्रियो भवेः॥१०॥
युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः
संजयेह जयाय च।
जयन्वा वध्यमानो वा
प्राप्नोतींद्रसलोकताम्॥११॥
पु:—अशोकस्यासहायस्य
कुतः सिद्धिर्जयो मम।
तन्मे परिणतप्रज्ञे
सम्यक् प्रब्रूहि पृच्छते॥१२॥
वि:—पुत्र नात्माऽवमन्तव्यः
पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
अभूत्वाहि भवंत्यर्था
भूत्वा नश्यन्ति चापरे॥१३॥
अथ ये नैव कुर्वन्ति
नैव जातु भवन्ति ते।
ऐकगुण्यमनीहाया-
मभावः कर्मणां फलम्॥१४॥
अथ द्वैगुण्यमीहायां
फलं भवति वा न वा।
उत्थातव्यं जागृतव्यं
योक्तव्यं भूतिकर्मसु॥
भविष्यंतीत्येव मनः
कृत्वा सततमव्यथैः।
मंगलानि पुरस्कृत्य
ब्राह्मणांश्चेश्वरैः सह॥
प्राज्ञस्य नृपतेराशु
वृद्धिर्भवति पुत्रक।
यदैव शत्रुर्जानीयात्
सपत्नं त्यक्तजीवितम्॥
तदैवास्मादुद्विजते
सर्पाद्वेश्मगतादिव।
नैव राज्ञा दरः कार्यो
जातु कस्यांचिदापदि॥
अथ चेदपि दीर्णःस्या-
न्नैव वर्तेत दीर्णवत्।
दीर्णं हि दृष्ट्वा राजानं
सर्वमेवानुदीर्यते॥

राष्ट्रं बलममात्याश्च
पृथक्कुर्वन्ति ते मतिः ।
य एवात्यन्तसुहृद-
स्तएनं पर्युपासते ॥
शोचन्तमनुशोचन्ति
पतितानिव बान्धवान् ।
ये राष्ट्रमभिमन्यन्ते
राज्ञो व्यसनमीयुषः ॥
मादीदरस्त्वं सुहृदो
मा त्वां दीर्णं प्रहासिषुः ।
यदेतत्संविजानासि
यदि सम्यग् ब्रवीम्यहम ॥
कृत्वाऽसौम्यमिवात्मानं
जयायोत्तिष्ठ संजय ।

इस तरहसे माताका उद्धर्षण उपदेश सुनकर सञ्जय उठा और फिर पराक्रम करके उसने राज्य प्राप्त किया। सौतिने इस संवादकी प्रशंसा और फलश्रुति भी योग्य रीतिसे कही है। शत्रुपीड़ित राजा-को यह उद्धर्षण और भीमतेजोवर्धन संवाद् अवश्य सुनना चाहिए; परन्तु यह भी कहा है कि—

इदं पुंसवनं चैव वीराजननमेवच ।
अभीक्ष्णं गर्भिणी श्रुत्वा ध्रुवं वीरं प्रजायते ॥
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ।
ईदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपराक्रमम् ॥

इस उपदेशमें पराक्रम, धैर्य, निश्चय, परतन्त्र और हीन कभी न रहनेकी मानसिक वृत्ति, और उद्योग इन पर जोर दिया गया है। यदि इष्ट हेतु सिद्ध न हो तो मृत्युका भी स्वीकार कर लेना चाहिए। परन्तु उद्योग न करनेसे फल कभी नहीं मिलेगा। उद्योग करनेसे फल मिलनेकी सम्भावना तो रहती है। इस व्यवहार-शुद्ध सिद्धान्तके आधार पर दैन्यावस्था-में पहुँचे हुए राजा, राष्ट्र, कुटुम्ब अथवा मनुष्यके विश्वास रखनेके विषयमें यह अत्यन्त मार्मिक उपदेश किया गया है।

दसवाँ प्रकरण।

सेना और युद्ध।

भारतीय कालमें भिन्न भिन्न राज्योंमें स्पर्धाके कारण युद्ध-प्रसङ्ग बराबर उपस्थित हुआ करते थे; इसलिए भारती सेनाकी व्यवस्था बहुत ही उन्नतावस्थाको पहुँच गई थी और उसके युद्धके प्रकार भी बहुत कुछ सुधर गये थे। परन्तु सबमें विशेष बात तो यह है कि युद्ध आपसमें आर्य लोगोंमें ही होते थे, अतएव युद्धके तत्त्व, धार्मिक रीतिसे चलनेवाले वर्तमान समयके उन्नतिशील राष्ट्रोंकी युद्ध-पद्धतिके अनुसार ही, नियमोंसे बँधे हुए थे। धर्म-युद्धका उस समय बहुत आदर था और धर्म-युद्धके नियम भी निश्चित थे। कोई योद्धा उन नियमोंका उल्लंघन नहीं करता था। यह पद्धति महाभारतके समयमें कुछ बिगड़ी हुई देख पड़ती है। इसका कारण यूनानी लोगोंकी युद्ध-पद्धति है। पाश्चात्य देशोंमें भी इस समय युरोपियन राष्ट्रोंके बीच जब युद्ध शुरू हो जाता है, तब दया और धर्मके अनुकूल जो नियम निश्चित किये गये हैं, उनका बहुधा अतिक्रमण नहीं होता। परन्तु वही युद्ध जब किसी यूरोपियन और एशियाटिक राष्ट्रके बीच शुरू होता है, तब दूसरे ही नियमोंसे काम लिया जाता है। इसी प्रकार यूनानियोंने एशियाटिक राष्ट्रोंसे युद्ध करते समय क्रूरताके नियमोंका अवलम्ब किया और परिणाम यह हुआ कि स्वभावतः महाभारतके समयमें क्रूरताके कई नियमोंका प्रवेश भारती-युद्ध-पद्धतिमें हो गया। महाभारतमें सेनाका जो वर्णन किया गया है और धर्म-युद्धके जो नियम बतलाये गये हैं, उनसे पाठकोंको इस बातकी कल्पना हो जायगी कि प्राचीन कालकी युद्ध-पद्धति कितनी सुधरी हुई थी और वर्तमान पाश्चात्य सुधरे हुए राष्ट्रोंके युद्ध-नियमोंके समान ही उस पद्धतिके बारेमें भी अपने मनमें कैसा आदर-भाव उत्पन्न होता है।

प्रत्येक राष्ट्रमें प्राचीन समयमें कुछ न कुछ फ़ौज हमेशा लड़नेको तैयार रहा करती थी। समय पर अपनी खुशीसे सैनिक होनेके नियम उस समय भी प्रचलित न थे; क्योंकि उन दिनों युद्ध-शास्त्रकी इतनी उन्नति हो गई थी, कि प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार जब चाहे तब तलवार और भाला लेकर युद्धमें शामिल नहीं हो सकता था। प्रत्येक सिपाहीको कई वर्षतक युद्ध-शिक्षा प्राप्त करनेकी ज़रूरत थी। सेनाके चार मुख्य विभाग थे—पदाति, अश्व, गज और रथ। अर्थात् प्राचीन समयकी फ़ौजको चतुरंग दल कहते थे। आजकल सेनाएँ त्र्यंग हो गई हैं क्योंकि गज नामक अंग अब लुप्त हो गया है। इस कारण आजकल सेनाओंको 'थ्री आर्म्स' कहनेकी रीति है। गजरूपी लड़नेका साधन प्राचीन समयमें बहुत भयदायक था। अन्य लोगोंको हिन्दुस्थानी फ़ौजोंसे, हाथियोंके कारण ही, बहुत भय मालूम होता था। केवल एक सिकन्दरकी बुद्धिमत्ताने इस भयको दूर कर दिया था। फिर भी कई सदियोंतक, अर्थात् तोपोंके प्रचलित होनेके समयतक, गजोंकी उपयुक्तता लड़ाईके काममें बहुत कम नहीं हुई थी। सेल्यूकसने चन्द्रगुप्त राजाको अपनी लड़की देकर ५०० हाथी लिये। इसी प्रकार यह भी वर्णन है कि फ़ारसके बादशाह, रोमन लोगोंके विरुद्ध लड़ते समय, हाथियोंका उपयोग करते थे। तैमूरलंगने तुर्कोंके घमंडी और बलाढ्य सुलतान बजाजतको जो

हराया वह हाथियोंकी सहायतासे प्राप्त की हुई अन्तिम विजय थी। इसके पश्चात् इतिहासमें हाथियोंका उपयोग नहीं देख पड़ता। हाथियोंके स्थान पर अब तोपखाना आ गया है।

फ़ौजके प्रत्येक आदमीको समय पर वेतन देनेकी व्यवस्था प्राचीन समयमें थी। यह वेतन कुछ तो अनाजके रूपमें और कुछ नक़द द्रव्यके रूपमें दिया जाता था। कच्चित् अध्यायमें नारदने युधिष्ठिरको उपदेश दिया है कि सिपाहियोंको समय पर वेतन दिया जाय और उसमेंसे कुछ काट न लिया जाय।

कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
संप्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि॥
(सभापर्व अ० ५)

नारदने इस स्थान पर यह बतलाया है कि यदि सिपाहियोंको समय पर वेतन और अनाज न मिले तो सिपाहियोंमें अप्रबन्ध हो जाता है जिससे स्वामीकी भयानक हानि होती है। मरहठोंके राज्यमें शिवाजीके समयसे लेकर नानासाहब पेशवाके समयतक इस बातकी ओर अच्छी तरह ध्यान दिया जाता था। परन्तु इसके पश्चात् जब पतन-कालमें सेनाकी तनख्वाह ठीक समय पर न दी जाने लगी, तभीसे अनेक भयङ्कर कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगीं। ये बातें सिंधिया, भोसला, होलकर आदिके इतिहासमें प्रसिद्ध ही हैं। पतन-कालमें ऐसे प्रसंग सब राज्योंमें देखे जाते हैं। सेनाको समय पर वेतन देना सुव्यवस्थित राज्यका पहिला अंग है। इस बातका अन्दाज करनेके लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं है कि प्राचीन समयमें सेनाको क्या वेतन दिया जाता था; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह अनाज और नक़दके रूपमें दिया जाता था। यह बात स्पष्ट है कि अनाज सरकारी कोठीसे दिया जाता था। पहले बतला दिया गया है कि किसानोंसे कर अनाजके रूपमें ही लिया जाता था। रणमें मारे हुए वीरोंके कुटुम्बों (स्त्रियों) का पालन-पोषण करना अच्छे राजाका कर्तव्य समझा जाता था। नारदने प्रश्न किया है किः—

कच्चिद्दारान् मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम्।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ॥

सेनाके चारों अंगोंमें प्रत्येक दस मनुष्यों पर, सौ पर और हजार पर एक एक अधिकारी रहा करता था—

दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा।
ततः सहस्राधिपतिं कुर्यात् शूरमतंद्रितम्॥
(शान्ति पर्व अ० १००)

इस प्रकारकी व्यवस्थाका होना असम्भव नहीं है। ऐसी ही व्यवस्था आजकल भी प्रचलित है। एक हजार योद्धाओंका सबसे मुख्य अधिकारी, कर्नलके दर्जेका समझा जाता था। वह राजाके द्वारा सम्मानित होनेके योग्य समझा जाता था।

कच्चिद्बलस्य ते मुख्याः
सर्वे युद्धविशारदाः।
धृष्टावदाता विक्रान्ताः
त्वया सत्कृत्य मानिताः॥
(स० अ० ५)

भिन्न भिन्न चारों अङ्गोंके भी एक एक अधिकारी, जैसे अश्वाधिपति आदि रहते थे। इसके सिवा सब फ़ौजमें एक मुख्य कमाण्डर-इन्-चीफ अर्थात् सेनापति रहता था। उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है। नारदने पूछा है कि तेरा सेनापति धृष्ट, शूर, बुद्धिमान्, शुचि, कुलीन, अनुरक्त और दक्ष है न? शान्ति पर्वमें यह भी बतलाया गया है कि वह व्यूह, यन्त्र और आयुधके शास्त्रको जाननेवाला हो। उसी प्रकार वर्षा, ठण्ढ और गर्मी सहनेकी ताकत उसमें होनी चाहिए और उसे

शत्रुओंके छिद्रोंको पहचान सकना चाहिए (शां० अ० ८५-१३)।

चतुरङ्ग दलके सिवा फौजके और चार महत्वपूर्ण विभाग थे। उन्हें विष्टि (ट्रान्स्पोर्ट), नौका, जासूस और देशिक कहा गया है। इनमेंसे 'विष्टि' सब प्रकारके सामानको लादकर ले जानेकी व्यवस्था और साधनोंको कहते हैं। इस बातका महत्व पूर्वकालीन युद्धोंमें भी बहुत बड़ा था। बाणों और आयुधोंसे हजारों गाड़ियाँ भरकर साथ ले जाना पड़ता था। 'नौका' में, समुद्र तथा नदियोंमें चलनेवाली नौकाओंका समावेश होता है। प्राचीन समयमें नौकाओंसे भी लड़नेका अवसर आता होगा। उत्तर हिन्दुस्थानकी नदियाँ बड़ी बड़ी हैं और उन्हें पार करनेके लिए नौकाओंका साधन आवश्यक था। समुद्र किनारेके राष्ट्रोंमें बड़ी बड़ी नौकाओंका लड़ाईके लिए और सामान लाने-ले जानेके लिए उपयोग किया जाता होगा। 'जासूसों' का वर्णन पहले कर ही दिया गया है। लड़ाईमें उनका बड़ा उपयोग होता है। इस बातकी अच्छी तरह कल्पना नहीं हो सकती कि 'देशिक' कौन थे। उनका वर्णन भी ठीक ठीक नहीं किया गया है। तथापि कहा जा सकता है कि ये लोग स्काउट्स अर्थात् भिन्न भिन्न मौकों पर आगे जाकर रास्ता दिखलानेवाले और शत्रुओंका हाल बतानेवाले होंगे। फौजके ये समस्त आठों अङ्ग निम्न लिखित श्लोकमें बतलाये गये हैं।

रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमः॥
(शान्ति पर्व अ० ५६)

पैदल और घुड़सवार।

पदाति या पैदल सेनाके पास रहनेवाले आयुध ढाल और तलवार थे। इनके सिवा अन्य आयुध भी बतलाये गये हैं, जैसे प्रास (भाला), परशु (कुल्हाड़ी), भिंडीपाल, तोमर, ऋष्टी और शुक्र। यह नहीं बतलाया जा सकता कि भिंडीपाल आदि हथियार कैसे थे। खड्ग एक छोटी तलवार है। गदा नामक आयुध पदातियोंके पास न था, क्योंकि इस आयुधका उपयोग करनेके लिए बहुत शक्तिकी आवश्यकता होती थी। इस आयुधका उपयोग द्वन्द्व-युद्धमें किया जाता था। इसी तरह हाथियोंसे लड़नेके समय भी गदाका उपयोग होता था। गदाका उपयोग विशेष बलवान् क्षत्रिय लोग ही किया करते थे। घुड़सवारोंके पास तलवारें और भाले रहते थे। भाला कुछ अधिक लम्बा रहता था। इस बातका वर्णन है कि गान्धारके राजा शकुनीके पास दस हजार अश्वसेना विशाल नुकीले भालोंसे लड़नेवाली थी।

अनीकं दशसाहस्रमश्वानां भरतर्षभ।
आसीद्गांधारराजस्य विशालप्रासयोधिनाम्॥
(शल्य पर्व अ० २३)

घुड़सवारोंकी लड़ाईका वर्णन इस स्थान पर उत्तम प्रकारसे किया गया है। दोनों प्रतिपक्षियोंके घुड़सवार जब एक दूसरे पर हमला करते करते आपसमें भिड़ जाते हैं, तब भालोंको छोड़कर बाहुयुद्ध होने लगता है और एक घुड़सवार दूसरेको घोड़े परसे नीचे गिरानेका प्रयत्न करता है। यह सम्भवनीय नहीं मालूम होता कि प्रत्येक आदमीके पास कवच रहता हो। कवचका अर्थ जिरहबख्तर है। यह बहुधा भारी रहता है और यदि हलका हो तो उसकी कीमत बहुत होती है। इस कारण पैदल और घुड़सवारोंके पास कवच न रहता था। तथापि ऐसे पदातियोंका भी वर्णन है जिन्होंने कवच पहना हो। रथी और हाथी पर बैठनेवाले योद्धाके पास हमेशा

कवच रहता था । कवचका उपयोग रथी और सारथी बहुत करते थे । बाणोंकी वृष्टि बहुधा रथियों और सारथियों पर ही होती थी, इस कारण उनको कवचकी बहुत आवश्यकता थी। और ये योद्धा भी बड़े बड़े क्षत्रिय होते थे; इसलिए वे मूल्यवान् कवचका उपयोग कर सकते थे। हाथी परसे लड़नेवालेकी भी यही स्थिति थी। वे ऊँचे स्थान पर रहते थे, अतएव उन पर बाणोंकी अधिक वृष्टि होती थी, और उन्हें कवच पहनना आवश्यक था । हाथी परसे लड़नेवाला योद्धा धन-सम्पन्न होनेके कारण कवच पा सकता था ।

भिन्न भिन्न लोगोंकी भिन्न भिन्न युद्धके सम्बन्धमें ख्याति थी। पाश्चात्य देश गान्धार, सिन्धु और सौवीर अश्वसेनाके सम्बन्धमें प्रसिद्ध थे। इन देशोंमें प्राचीन समयमें उत्तम घोड़े पैदा होते थे और अब भी होते हैं । फारस तथा अफगानिस्तानके घोड़ोंकी इस समय भी तारीफ होती है। इन देशोंके वीर घोड़ों पर बैठकर तीक्ष्ण भालोंसे लड़ते थे । उशीनर लोग सब प्रकारके युद्धमें कुशल थे। प्राच्य लोग मातङ्ग-युद्धमें प्रसिद्ध थे । हिमालय और विन्ध्याद्रीके जङ्गलोंमें हाथी बहुतायतसे पाये जाते थे, इसलिए प्राच्य, मगध इत्यादि देशोंके लोगोंका हाथियोंके युद्धमें कुशल होना स्वाभाविक ही है। मथुराके लोग बाहुयुद्धमें कुशल थे। यह उनकी कुश्ती लड़नेकी कीर्त्ति अबतक कायम है। दक्षिणके योद्धा तलवार चलानेमें कुशल होते थे। मरहठोंकी वर्तमान समयकी कीर्त्ति घोड़ों परसे हमला करनेके सम्बन्धमें है । यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि उपर्युक्त दाक्षिणात्य विदर्भ देशके रहनेवाले हैं (शान्ति अ० ६६)।

हाथी ।

अब हम हाथीके विषयमें विचार करेंगे । हाथीकी प्रचण्ड शक्ति और महावतके आज्ञानुसार काम करनेकी तैयारीके कारण हाथीको फौजमें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ था। परन्तु उसकी सूँड़, नरम होनेके कारण, सहजही तोड़ी जा सकती है। इसलिए गण्डस्थलसे सूँड़की छोरतक हाथीको लोहेका जिरह-बख्तर पहनाते थे: और उसके पैरोंमें भी जिरहबख्तर रहता था । इस कारण हाथी लड़ाईमें विपत्तियोंकी खूब खबर लेते थे। यद्यपि बात ऐसी थी, तथापि मल्ल लोग हाथोंमें कुछ भी हथियार न लेकर हाथीसे लड़ा करते थे। हाथीके पेटके नीचे चपलतासे घुसकर, घूँसोंकी मारसे उसको व्याकुल कर देनेके पश्चात् उसे चक्कर खिलानेका वर्णन भीम और भगदत्तके युद्धमें किया गया है (द्रोणपर्व० अ० २६)। वर्तमान समयमें भी हिन्दुस्थानी रजवाड़ोंमें कभी कभी होनेवाले गजयुद्धोंसे लोगोंका विश्वास हो गया है, कि इस प्रकारके धैर्य और शक्तिके काम असम्भवनीय नहीं हैं। दतिया संस्थानमें अबतक कभी कभी यह खेल हुआ करता था, कि हाथीके दाँतमें पाँच सौ रुपयोंकी एक थैली बाँध दी जाती थी और खिलाड़ी उस हाथीसे लड़ाई करके थैलीको छीन लिया करता था। अस्तु; प्राचीन समयमें हाथी पर महावत और युद्ध करनेवाला योद्धा दोनों बैठते थे। युद्ध करनेवाला धनुष्यबाणका, विशेषतः शक्ति अथवा बरछीका, उपयोग किया करता था । गज-सेनाकी कभी कभी हार भी हो जाती थी। इस प्रकार गजसेनाका पहला हमला सहन करके जब वह सेना एक बार लौटा दी जाती थी तब वह अपनी ही फौजका नाश कर डालती थी या

स्वयं उसका ही नाश हो जाता था। गजसेनासे लड़नेकी पहली युक्ति जो सिकन्दरने खोज निकाली वह यह है। बाण चलानेवालोंके कवच न पहने हुए पदातियोंको यह आज्ञा दी गई थी कि वे दूरसे पहले हाथियोंके महावतों पर बाण चलावें और उन्हें मार गिरावें। फिर कवच पहने हुए पदाति हाथियोंके पैर काट डालें अथवा उन्हें घायल करें। सिकन्दरने खास तौर पर लंबी और बाँकुरी तलवारें बनवाई थीं जो उस फौजको दी गई थीं। इन तलवारोंसे हाथियोंकी सूँड़ें काटनेकी आज्ञा थी। इस रीतिसे सिकन्दर गजसेनाका पराभव किया करता था। यह बात महाभारतके अनेक युद्ध-वर्णनोंसे देख पड़ती है कि गजसेना जिस प्रकार शत्रुके लिए भयंकर थी उसी प्रकार स्वपक्षके लिए भी भयंकर अर्थात् हानिकारक थी।

रथी और धनुष्यबाण।

भारती-कालमें रथी सबसे अधिक अजेय योद्धा हुआ करता था। वर्तमान कालके लोग रथीके महत्वकी कल्पना नहीं कर सकते। इस विषयकी कुछ भी कल्पना नहीं की जा सकती कि वे किस प्रकार युद्ध करते थे और इतना प्राणनाश करनेका सामर्थ्य उनमें क्योंकर था। कारण यह है कि आजकल कहीं रथका उपयोग नहीं होता और धनुष्यबाणका भी अब नामनिशान मिट गया है। अब तो धनुष्यबाणके स्थान पर बंदूक और गोली आ गई है। प्राचीन कालमें धनुष्यबाण ही सब शस्त्रोंमें दूरसे शत्रुको घायल करने अथवा मार डालनेका अस्त्र था। इस कारण उस समय शस्त्रास्त्रोंमें धनुष्यबाणका नम्बर पहला था। अस्त्रों अथवा फेंककर मारनेके हथियारोंमें दो हथियार—'शक्ति' अथवा बरछी और 'चक्र' बहुत तेजस्वी और नाश करनेवाले थे। दोनों हथियारोंका भारती आर्य उपयोग करते थे। शक्तिकी अपेक्षा चक्र अधिक दूरतक जाता था। चक्रका उपयोग इस समय भी पंजाबके सिक्ख लोग करते हैं। परन्तु चक्रसे धनुष्यबाणकी शक्ति अधिक है। बाण, मनुष्यके जोर पर एक मील भी जा सकता है। प्राचीन समयमें धनुष्यबाणकी विद्या आर्य लोगोंने बहुत उन्नतिको पहुँचाई थी। धनुष्यबाणके उपयोगमें विशेष सुबिधा थी। बरछी या चक्र फिरसे लौटकर हाथमें नहीं आता और कोई आदमी बहुत सी बरछियों या चक्रोंको अपने हाथमें ले भी नहीं सकता। परन्तु कोई योद्धा दस बीस बाणोंको स्वयं अपने पास रख सकता था और अनेक बाणोंको गाड़ियोंमें भरकर अपने साथ ले जा सकता था। आजकल जिस प्रकार बारूद और गोलोंकी गाड़ियाँ फौजके साथ साथ रखनी पड़ती हैं, उसी प्रकार पूर्व समयमें भी बाणोंकी गाड़ियाँ रखी जाती थीं। इस कारण रथोंकी उपयोगिता धनुष्यबाणका उपयोग करनेवाले योद्धाओंके लिए बहुत थी। इसके सिवा रथ अनेक स्थानों पर जोरसे चलाया जा सकता था और वहाँसे शत्रु पर बाणों द्वारा हमला करनेमें योद्धाओंके लिए रथका बहुत उपयोग होता था। प्राचीन समयमें सब लोगोंको धनुष्यबाणकी जानकारी थी और रथोंकी भी कल्पना सब लोगोंको थी। होमर द्वारा वर्णित युद्धसे मालूम होता है कि यूनानियोंमें रथी भी थे और रथ-युद्ध हुआ करते थे। परन्तु यूनानियोंके ऐतिहासिक कालके युद्धोंमें रथोंका वर्णन नहीं मिलता। इजिप्शियन् लोगोंमें बहुत प्राचीन समयमें लड़ाईके रथके उपयोग करनेका वर्णन है; असी-

रियन और बेबीलोनियन लोगोंमें भी रथोंका वर्णन किया गया है। फ़ारस-निवासियोंकी फौजमें भिन्न प्रकारके रथ थे। उनके चक्कों में छुरियाँ बँधी रहती थीं जिनसे शत्रुकी सेनाके लोगों-को बहुत ज़ख्म लगते थे। भारती-आर्यों-की फौजमें रथ सिकन्दरके समयतक थे। यूनानियोंने लिख रखा है कि भारती आर्योंकी धनुष्यबाण-सम्बन्धी कला अन्य लोगोंसे बहुत बढ़ी चढ़ी है और अनुमान-से मालूम होता है कि अन्य लोगोंके रथों-की अपेक्षा भारती-आर्योंके रथ बड़े होंगे। यूनानियोंने इस बातका वर्णन किया है कि हिन्दुस्थानियोंके धनुष्य आदमीके सिरतक ऊँचे और उनके बाण तीन हाथ लम्बे होते थे। बाणोंका लोहा या फल बहुत तीक्ष्ण और भारी रहता था। ऐसे धनुष्योंको खींचनेवाले मनुष्यकी भुजामें बहुत ताकतकी आवश्यकता होती थी। यद्यपि यूनानियोंके समयमें यहाँ धनुष्य-बाणकी कला कुछ घट गई थी, तथापि यूनानियोंको यह देखकर आश्चर्य होता था कि उस समयके आर्य योद्धाओं द्वारा चलाए हुए बाण कितने जोरसे आते हैं। उन्होंने यह लिख रखा है कि ऐसे बाणोंसे लोहेकी मोटी पट्टियाँ भी छेदी जा सकती थीं। यह बात इतिहासमें लिखी गई है कि भारतीय क्षत्रियोंकी धनुर्विद्याकी कीर्ति और उनके विलक्षण सामर्थ्यके सम्बन्धमें संसारके लोगोंको पृथ्वीराजके समयतक आश्चर्य मालूम होता था। इतिहासमें इस बातका उल्लेख है कि भारती आर्योंमें इस अन्तिम धनुर्वीरने बाणसे लोहेके मोटे तवे छेदे थे।

लम्बा धनुष्य लेकर वज़नी बाण चलानेकी हाथोंको आदत होनेके लिए स्वभावतः शारीरिक शक्तिकी आवश्यकता थी। परन्तु बाणोंका निशाना ठीक साधने-के लिए धनुष्यबाणका व्यासङ्ग भी रात-दिन करना पड़ता था। जिस प्रकार बन्दूकका निशाना मारनेके लिए अंशतः ईश्वर-दत्त गुणकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धनुष्यबाणका भी निशाना ठीक मारनेके लिए ईश्वरदत्त शक्तिकी आव-श्यकता होती है। परन्तु इस प्रकार गुण-का उपयोग होनेके लिए निरन्तर अभ्यास-की भी आवश्यकता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य धनुर्वीर नहीं हो सकता। स्वाभा-विक गुण, दीर्घ अभ्यास और उत्तम गुरु, इन तीनों बातोंका मेल हो जानेसे ही अर्जुन प्रख्यात धनुर्धर हुआ।

तदभ्यासकृतं मत्वा रात्रावपि स पाण्डवः।
योग्यां चक्रे महाबाहुर्धनुषां पंडुनन्दनः।
(आदि० अ० १३२)

इस बातको जानकर ही अर्जुनने रात्रिके समय भी धनुष्यबाण चलानेकी मेहनत (योग्या) की थी कि अभ्याससे ही निपुणता प्राप्त होगी। इसमें दो बातों-की ओर ध्यान रहता था। पहले तो निशाना ठीक लगे, और फिर बाण भी जल्दी चलाया जा सके। धनुर्धरको भिन्न भिन्न वेग और रीतिसे धनुष्यबाणका उपयोग कर सकना चाहिए। धनुष्यका लगातार उपयोग करते रहनेके कारण अर्जुनके बाएँ हाथ पर घट्टे पड़ गये थे। उन्हें उसने बाहुभूषणोंको धारण करके बृहन्नडाके वेशमें छिपा लिया था।

धनुर्वीरकी शक्ति रथकी सहायतासे दस गुनी बढ़ जाती है। पादचारी धनु-र्धर उतने ही बाणोंको ले जा सकेगा जितने एक मनुष्यसे उठाये जा सकते हैं; परन्तु रथमें जितने चाहें उतने बाण रखे जा सकते हैं। इसके सिवा, जहाँसे बाण चलाना हो उस स्थानको पादचारी वीर आसानीसे बदल नहीं सकता; परन्तु रथकी सहायतासे यह लाभ होता है कि

धनुर्वीर निशाना मारनेके भिन्न भिन्न स्थानों पर जल्दीसे जा सकता है। फिर भी रथके वेगके कारण निशाना जमानेमें अन्तर पड़ जाता है। इस कारण रथ परसे निशाना मारनेका भी अभ्यास करना पड़ता है। रथके घोड़ों और सारथियों पर भी हमला किया जा सकता है। इस कारण, रथ-योद्धाको शत्रुका नाश करनेकी शक्ति यद्यपि अधिक प्राप्त होती थी, तथापि उसकी जवाबदेही भी अधिक बढ़ जाती थी। हालके यूरोपियन युद्धसे यह अनुमान किया जाता है कि आजकल भी युद्धमें रथका उपयोग धीरे धीरे होने लगेगा। वर्तमान समयमें, मैक्सिम् गनको मोटर गाड़ीमें रखकर भिन्न भिन्न स्थानोंमें शीघ्रतासे ले जाकर वहाँसे निशाना मारनेकी युक्ति चल पड़ी है। वह रथके समान ही है। इस मोटर पर गोला न लगे, इसलिए गत युद्धमें टैंककी जो कल्पना निकली है, वह भी रथके समान ही है। पूर्व समयके युद्धोंमें रथका उपयोग वर्तमान तोपखानेके समान विशेषतः घोड़ोंकी तोपोंके समान, होता था। भिन्न भिन्न स्थानोंसे निशाना मारनेके लिए, रथोंको दौड़ाते हुए इधरसे उधर ले जाना पड़ता था। परन्तु वर्तमान तोपखानोंके समान ही बारूद-गोलेके स्थान पर बाणोंका संग्रह करना आवश्यक था। मरहठोंके युद्ध-वर्णनमें बाणोंकी कैंचियोंका बराबर उल्लेख किया गया है। कर्णपर्वमें अश्वत्थामाका कथन है कि— 'बाणोंसे भरी हुई सात गाड़ियाँ मेरे पीछे रहने दो।' अन्य स्थानमें वर्णन है कि अश्वत्थामाने, तीन घण्टोंकी अवधिमें ही, ऐसी आठ गाड़ियोंके सब शस्त्रास्त्रोंको चला दिया और गाड़ियाँ खाली कर दीं, जिनमें आठ आठ बैल जुते थे। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि वर्तमान तोपखानोंके समान ही रथी-योद्धाओंको बाणोंका संग्रह करनेकी बहुत आवश्यकता थी। इससे यह भी मालूम होता है कि आधुनिक समयके अनुसार ही प्राचीन समयके युद्धोंमें वाहनरूपी साधनोंका बहुत उपयोग होता था।

अस्त्र।

इस स्थान पर यह प्रश्न होता है कि रथी बहुधा जिन अस्त्रोंका उपयोग करते थे वे अस्त्र क्या थे। पाठकोंको यह जाननेकी इच्छा सहज ही होगी कि अस्त्रोंके विषयमें विवेचक दृष्टिसे कौनसा मत दिया जा सकता है। यह वर्णन पाया जाता है कि अस्त्रोंका उपयोग बहुधा रथी ही करते थे। यह वर्णन भी है कि धनुष्यको बाण लगाकर उस पर कुछ मन्त्रोंका प्रयोग करके बाण चलाये जाते थे; उस समय दैविक शक्ति द्वारा विलक्षण शस्त्र या पदार्थ, जैसे अग्नि, वायु, विद्युत्, वर्षा, आदि उत्पन्न होते थे जिनके कारण शत्रु-सेनाका भयङ्कर नाश हो जाता था। इन अस्त्रोंके अग्न्यस्त्र, वाय्वस्त्र आदि नाम थे। ये दैविक मन्त्र बहुधा बाणों पर योजित रहते थे। इनमें विलक्षण दैविक शक्ति भरी रहती थी। यह न समझ लिया जाय कि केवल बाणों पर ही अस्त्रोंका मन्त्र जपा जाता था। भगदत्तने अंकुश पर वैष्णवास्त्रका मन्त्र जपा था और फिर उसे चलाया था। अश्वत्थामा युद्धके पश्चात् भागीरथीके किनारे व्यासजीके पास बैठा था। उस समय जब पाण्डव उसे मारनेके लिए आये तब उसने दर्भकी एक सींक पर ब्रह्मशिरः नामक अस्त्रका जप कर वह सींक पाण्डवों पर फेंकी थी। सारांश, यह नहीं कहा जा सकता कि अस्त्रोंको धनुष्य या बाणकी ही आवश्यकता थी। धनुर्वेदमें बतलाए हुए विशिष्ट अस्त्रोंके मन्त्रोंको कभी कभी हाथ-

में पानी लेकर शुद्ध अन्तःकरणसे जपना पड़ता था। फिर उसके अनुसार भयङ्कर अस्त्र या ज्वाला, बिजली आदिकी उत्पत्ति होती थी। अस्त्रोंकी योजनामें चार भाग थे। वे चार भाग, मन्त्र, उपचार, प्रयोग और संहार हैं। उद्योग पर्व अ० ३ में कहा है कि 'योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे।' संहार शब्दसे यह मालूम होता है कि जिस योद्धाने जिस अस्त्रका प्रयोग किया हो, उसमें उस अस्त्रको लौटा लेनेकी शक्ति थी। धनुर्वेदमें शस्त्रोंके वर्णनके साथ अस्त्रोंका भी विस्तृत वर्णन था। भारती कालमें यह नियम था कि प्रत्येक क्षत्रिय इस धनुर्विद्याका अभ्यास करे। यह बात गुरुसे धनुर्वेदकी सहायतासे क्षत्रियोंको सीखनी पड़ती थी कि अस्त्रोंका प्रयोग और संहार किस प्रकार किया जाता है। वेदकी शिक्षा देनेका अधिकार ब्राह्मणोंको था इसलिए धनुर्वेदके इन अस्त्रोंके मन्त्रोंको सिखाने और उनके प्रयोग तथा संहार प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा बतलानेका काम भी ब्राह्मणोंको ही करना पड़ता था। महाभारतमें दिये हुए अस्त्रोंके वर्णनोंसे ये सब बातें मालूम होती हैं। अब इस बातका निर्णय नहीं किया जा सकता कि ये अस्त्र वास्तविक हैं या काल्पनिक। मन्त्रोंमें अद्भुत दैविक शक्ति रह सकती होगी। परन्तु यहाँ दो तीन बातें और भी बतला देनी चाहिएँ। अस्त्रविद्या धनुर्विद्यासे बिलकुल भिन्न थी। अस्त्रविद्या एक मन्त्र-विद्या है, और धनुर्विद्या धनुष्य-सम्बन्धी मानवी विद्या है। धनुर्विद्यामें प्रवीणता प्राप्त करनेके लिए अर्जुनको रात-दिन धनुष्यबाणका अभ्यास करना पड़ा था, परन्तु अस्त्र-विद्या उसे गुरु-प्रसादसे बहुतही जल्द प्राप्त हो गई थी। शङ्करसे उसे जो पाशुपतास्त्र मिला था, वह शङ्करके प्रसादसे एक क्षणमें ही प्राप्त हुआ था। सारांश, अस्त्र-विद्या दैवी विद्या थी और धनुर्विद्या मानवी विद्या थी। दूसरी बात यह है कि उस समयके धर्मयुद्धका यह नियम था कि अस्त्र जाननेवाला, अनस्त्रविद् पर अर्थात् अस्त्रके न जाननेवाले पर, अस्त्रोंका उपयोग न करे। जिस प्रकार बन्दूक लिए हुए लोगोंका निःशस्त्र लोगों पर बन्दूक चलाना अन्याय और क्रूरता समझा जाता है, उसी प्रकार यह नियम था कि अस्त्रके समान भयङ्कर दैविक शक्ति जिसके पास हो वह अस्त्रके न जाननेवालों पर अर्थात् दैविकशक्ति-विहीन लोगों पर अस्त्र न चलावे। कहा गया है कि द्रोणने क्रोधमें आकर जो ऐसा भयङ्कर काम किया था वह उचित न था।

ब्रह्मास्त्रेण त्वया दग्धा अनस्त्रज्ञा नरा भुवि।
यदेतदीदृशं कर्म कृतं विप्र न साधु तत्॥
(द्रोणपर्व अ० १८०)

अर्थात्, यह बात निश्चित हो गई थी कि इस अस्त्रका सदा सर्वदा उपयोग न करना चाहिए। तीसरी बात यह है कि ये वैदिक मन्त्र प्रसङ्गवशात् याद भी न आते थे। कर्णको ऐन मौके पर ब्रह्मास्त्र याद न आया। अर्जुनको भी, श्रीकृष्णकी मृत्युके पश्चात्, दस्युओंके युद्धके समय, अस्त्र याद न आये। इन सब बातोंका विचार करने पर यहाँ कहना पड़ता है, कि यद्यपि यह मान भी लिया जाय कि ये दैविक शक्तिके अस्त्र प्राचीन अर्थात् भारती-युद्धके समयमें थे, तथापि लड़ाईके अन्तिम परिणाममें उनका बहुत उपयोग नहीं हुआ।

सिकन्दरके समयका रथ-युद्ध।

यह बात सच है कि अस्त्र-युद्धके सिवा भारती-युद्धके रथियोंके युद्धका वर्णन भी महाभारतमें बहुत है। परन्तु आजकल हम लोग इस बातकी कल्पना नहीं

कर सकते कि रथियोंका युद्ध किस प्रकार होता था। कारण यह है कि वर्तमान समयके लोगोंकी बुद्धिमें तोपखानोंके युद्धोंके वर्णन ही खूब भरे हैं। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन समयमें अस्त्रके सिवा रथी बहुत महत्त्वपूर्ण योद्धा रहा होगा। शांतिपर्वके १००वें अध्यायमें इस विषयमें नियम बतलाया गया है कि रथीका युद्ध किस समय और किस ज़मीन पर होना चाहिए। यह बतलाया गया है कि जिस फौजमें पदाति हों वह सबसे अधिक बलवान् है (वर्तमान कालका भी अनुभव ऐसा ही है); और जिस स्थान पर, गड्ढे वगैरह न हों उस स्थान पर, जिस समय पानी न बरसता हो उस समय, अश्वसेना और रथका बहुत उपयोग होता है। यह सूचना महाभारतके समयके प्रत्यक्ष रथयुद्धोंसे दी गई है। यदि यहाँ इस बातका वर्णन किया जाय कि यूनानियोंकी चढ़ाईके समय रथोंकी लड़ाइयाँ प्रत्यक्ष किस प्रकार होती थीं, तो वह पाठकोंको मनोरञ्जक मालूम होगा। पञ्जाबकी वितस्ता (झेलम) नदीके किनारे सिकन्दरके साथ जिस पोरस राजाका कुछ युद्ध हुआ उस पोरसकी सेनामें रथ ही प्रधान अङ्ग था। इतिहासकार कर्टियस रूफस्ने यह बात लिख रखी है कि उनकी लड़ाई किस प्रकार हुई और उनका पराभव किस प्रकार हुआ। "लड़ाईके प्रारम्भमें ही वर्षा होने लगी, अतएव कहीं कुछ देख न पड़ता था। परन्तु कुछ समयके बाद आकाश निरभ्र हुआ। उस समय परस्पर सेनाएँ दिखाई देने लगीं। राजा पोरसने यूनानियोंको रोक रखनेके लिए एक सौ रथ और चार हजार घोड़े सामने भेजे। इस छोटीसी सेनाकी प्रधान शक्ति रथों पर ही निर्भर थी। ये रथ चार घोड़ोंसे खींचे जाते थे। प्रत्येक रथमें छः आदमी थे। उनमेंसे दो हाथमें ढाल लिये खड़े थे। दो, दोनों तरफ, धनुष्य लिए खड़े थे और दो सारथी थे। ये सारथी लड़नेवाले भी थे। जिस समय मुठभेड़की लड़ाई होने लगी, उस समय ये सारथी बागडोरको नीचे रख हाथोंसे शत्रुओं पर भाले फेंकते थे। परन्तु उस दिन ये रथ विशेष उपयोगी न हुए, क्योंकि पानी खूब जोरसे बरसा था, जमीन बहुत चिकनी हो गई थी और घोड़े दौड़ न सकते थे। इतना ही नहीं, वरन् वर्षाके कारण रथोंके पहिये कीचड़में फँसने लगे और उनके अधिक वजनके कारण रथ एक जगहसे दूसरी जगह ले जाने लायक न रहे। इधर सिकन्दरने उन पर बहुत जोरसे हमला किया, क्योंकि उसकी फौजके पास शस्त्रोंका बहुत बोझ न था। पहले सीथियन लोगोंने भारती लोगों पर हमला किया। फिर राजाने अपने घुड़सवारोंको उनकी पूर्व दिशा पर हमला करनेकी आज्ञा दी। इस प्रकार मुठभेड़ लड़ाईका आरम्भ हुआ। इतनेमें ही रथके सारथी अपने रथोंको पूरे वेगसे दौड़ाते हुए लड़ाईके मध्य भागमें ले गये और समझने लगे कि उन्होंने अपने मित्रोंकी बहुत सहायता की है। परन्तु इस बातका निर्णय नहीं किया जा सकता कि इस कारण किस सेनाका अधिक नाश हुआ। सिकन्दरके जो पैदल सिपाही सामने थे और जिन्हें इस हमलेका प्रथम धक्का लगा वे जमीन पर गिर पड़े। कुछ रथोंके घोड़े बिगड़ गये। रथोंको गड्ढों या नदीमें गिराकर वे छूट गये। जो थोड़े बाकी बचे, उन पर शत्रुके बाणोंकी वर्षा होने लगी, इसलिए वे पोरसकी सेनाकी ओर वापस लौटे।"

उक्त वर्णनसे इस बातकी कल्पना

होगी कि महाभारतके समय, अर्थात् यूनानियोंकी चढ़ाईके समय, रथोंसे किस प्रकार युद्ध किया जाता था और लड़ाई-में उनका कितना उपयोग होता था। यह बात उक्त वर्णनसे भी देख पड़ती है कि भारती-युद्धके समयसे यूनानियोंके समय-तक रथोंकी युद्ध-पद्धतिमें बहुत अन्तर हो गया था। भारती-युद्धमें सैंकड़ों रथों-के एक ही स्थान पर लड़नेका वर्णन प्रायः नहीं है। प्रत्येक रथी अलग अलग लड़ता था, और वह भी दूरसे। अश्वसेनाकी नाईं एक ही समय दौड़कर किसी पर हमला करना रथोंका उद्देश न था। युद्ध-के भिन्न भिन्न स्थानों पर शीघ्रतासे पहुँच-कर बाणोंकी वृष्टि करना ही रथका मुख्य काम था। भारती-युद्ध कालमें भी रथके चार घोड़े रहते थे, परन्तु रथमें एक ही धनुर्धर और एक ही सारथी रहता था। यूनानियोंके वर्णनानुसार दो धनुर्धर या दो सारथी न रहते थे। धनुर्धरकी रक्षा-के लिए ढालवालोंकी आवश्यकता न थी। युद्धके वर्णनसे मालूम होता है कि रथके दो चक्र-रक्षक रहते थे। रथों पर दोनों तरफ़से हमला न होने पावे, इस-लिए रथोंके दोनों ओर पहियोंके पास और भी दो रथ चलते थे और उनमें जो धनुर्धर रहते थे उन्हें चक्ररक्षक कहते थे। रथोंका मुख्य काम एक स्थानसे दूसरे स्थान पर आने-जानेका था, अतएव उनके घूमने-फिरनेके लिए खुली जगहकी बहुत आवश्यकता होती थी। इस कारण जान पड़ता है कि रथोंका उपयोग भारती-युद्ध कालमें हमलोंके लिए नहीं होता था।

अपंका गर्तरहिता रथभूमिः प्रशस्यते।
रथाश्वबहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते॥

रथ चलानेके लिए पङ्करहित, सूखी और गर्तरहित अर्थात् जिसमें गड्ढे न हों, ऐसी भूमि ठीक है। जिसमें बहुतसे रथ और घुड़सवार हों, ऐसी सेना उस दिन प्रशस्त है जिस दिन पानी न बरसे। यह भी कहा गया है कि—

पदातिनागबहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते।
गुणानेतां प्रसंख्याय देशकालौ प्रयोजयेत्॥
(शान्तिपर्व अ० १००)

आश्चर्यकी बात है कि जलकी वृष्टि होने पर भी पोरसने रथों और घुड़-सवारोंका उपयोग किया। महाभारतमें युद्ध-शास्त्रके अनुभवके आधार पर ही युद्ध-सम्बन्धी नियम बतलाये गये हैं। यहाँतक कि उस समयके नीतिशास्त्रमें भी यही नियम दिये गये हैं। आश्चर्यकी बात नहीं कि इन नियमोंका अतिक्रम हो जाने-से पोरसके रथोंकी हार हुई। यह देख पड़ता है रथयुद्धकी पद्धति महाभारतके समय बहुत कुछ बिगड़ गई थी; फिर भी महाभारतके उक्त वाक्यसे यह बात निर्वि-वाद है कि जहाँ अस्त्र-युद्ध नहीं होता वहाँ रथ, अश्व या हाथीकी सहायतासे युद्ध करनेकी रीति, या अनुभवजन्य नियम, युद्ध-शास्त्रमें भली भाँति बतलाये गये थे।

रथ-वर्णन।

रथका कुछ और भी वर्णन किया जाना चाहिए। रथमें हमेशा चार घोड़े लगाये जाते थे; रथ अच्छी तरहसे सजाये जाते थे; इसी प्रकार घोड़े भी खूब सजाये जाते थे, और उनका सब साज सोना-चाँदी मढ़कर सुन्दर बनाया जाता था। रथ पर मन्दिरके शिखरकी नाईं गोल शिखर रहता था और उस पर ध्वजा फहराया करती थी। प्रत्येक वीरकी ध्वजा-पताकाका रङ्ग और उसके चिह्न भिन्न रहते थे। इन चिह्नोंसे, दूरसे ही, पहचान हो जाती थी कि यह वीर कौन है। द्रोण पर्वके २३ वें अध्यायमें भिन्न भिन्न रथों और ध्वजाओंका वर्णन किया

गया है। भीमके रथके घोड़े काले रङ्गके थे, और उनका साज सोनेका था। नकुलके घोड़े काम्बोज देशके थे। उनका माथा, कन्धा, छाती और पिछला भाग विशाल होता है; गर्दन और देह लम्बी होती है, और वृषण सँकरा होता है। द्रोणके रथकी ध्वजा कृष्णार्जुनयुक्त तथा सुवर्णमय कमण्डलु-युक्त थी। भीमसेनकी ध्वजा पर प्रचण्ड सिंह था। कर्णकी ध्वजा पर हाथीकी शृङ्खलाका चिह्न था। युधिष्ठिरकी ध्वजा ग्रहगणान्वित चन्द्रके समान सुशोभित थी। नकुलकी ध्वजा पर शरभका चिह्न था जिसकी पीठ सोनेकी थी। यह भी वर्णित है कि रथमें एक ढोलक लगी रहती थी। कुछ रथों पर दो मृदङ्ग रहते थे, जो रथके चलने लगने पर, आप ही आप किसी युक्तिसे बजने लगते थे।

मृदङ्गौ चात्र विपुलौ दिव्यौ नन्दोपनन्दनौ।
यन्त्रेणाहन्यमानौच सुस्वनौ हर्षवर्धनौ॥

यह बात असम्भवनीय नहीं कि भिन्न भिन्न योद्धागण मृदङ्ग या ढोलककी आवाज़से मस्त होकर लड़ते होंगे। आजकल पाश्चात्य युद्धोंमें भी यह बात देख पड़ती है। हाईलेंडर लोगोंकी फ़ौज हमला करनेके लिए जब आगे बढ़ती है, तब उसके साथ 'पाइप' बाजा बजता रहता है। जब लड़ाई होने लगती है तब बाजा बजानेवाला खूब ज़ोरसे रणवाद्य बजाता रहता है, और उसकी वीरता इसी बातमें समझी जाती है कि स्वयं न लड़ते हुए यदि वह जखमी हो जाय तो भी वह अपना रणवाद्य बजाता ही रहे। लड़ाईके समय जब प्रत्यक्ष युद्ध होने लगता है, तब सुरीले रणवाद्योंकी, मस्त कर देनेवाली ध्वनिकी, आवश्यकता होती है। यह बात उक्त उदाहरणसे स्पष्ट मालूम हो जायगी। रथ बहुत बड़े रहते थे। स्थान स्थान पर उनके लिए 'नगराकार' विशेषणका उपयोग किया गया है। उनमें बाण, शक्ति, आदि मौके पर उपयोगी होनेवाले, अनेक शस्त्र भरे रहते थे। रथीके शरीर पर सदा जिरहबख़्तर रहता था। हाथोंके लिए गोधांगुलित्राण—उंगलियोंकी रक्षाके लिए गोहके चमड़ेका बना हुआ, दस्तानेकी नाईं, एक आवरण—रहता था। 'बद्धगोधांगुलित्राणः' बार बार कहा गया है। रथीके समान सारथीके लिए भी कवच रहता था। रथोंके सम्बन्धमें और कुछ बातें बताने योग्य हैं। मालूम होता है कि भारती-युद्ध-कालमें रथके दो ही चक्के होंगे। उदाहरणार्थ, द्रोण० अ० १५४ के आरम्भमें यह प्रश्न किया गया है कि द्रोणके दाहिने चक्के (एकवचन) की रक्षा कौन करता था और बायें (एकवचन) की रक्षा कौन करता था। प्राचीन समयके अन्य देशोंके रथोंके जो वर्णन और चित्र उपलब्ध हैं, उनमें दो ही चक्के दिखाये जाते हैं। बाबिलोनिया, खाल्डिया, असीरिया, इजिप्ट और ग्रीस देशोंमें प्राचीन समयमें रथ थे। परन्तु वर्णन यही पाया जाता है कि उन सबके केवल दो ही चक्के थे। इसी प्रकार महाभारतमें भी दो ही चक्कोंके रथोंका वर्णन है। चार चक्के भी रहते होंगे। इस बातका भी वर्णन है कि घटोत्कचके रथके आठ चक्के थे। घटोत्कचके रथका वर्णन यहाँ देने योग्य है। "उसका रथ चार सौ हाथका था, उसमें घुँघरू लगे थे और उस पर लाल रङ्गकी ध्वजा-पताका फहराती थी। चार सौ हाथ लम्बे-चौड़े रथ पर रीछके चमड़ेका आवरण लगा था। उसमें अनेक शस्त्रास्त्र भरे थे। उसमें आठ चक्के थे, और वेगवान् तथा बलवान् सौ घोड़े जुते थे। बड़ी बड़ी आँखोंवाला उसका एक

सारथी था। आकाशसे टकरानेवाली अति प्रचण्ड ध्वजा उस पर फहराती थी और लाल मस्तकवाला अत्यन्त भयानक गृध्र-पक्षी उस ध्वजा पर बैठा था। उसका धनुष्य बारह मुंडे हाथ लम्बा था और उसका पृष्ठभाग ठीक एक हाथ था।" इस वर्णनसे साधारण रथकी भी कल्पना की जा सकती है। अन्तर केवल यही है कि उक्त वर्णनमें रथका सब परिमाण राक्षसोंके लिए बढ़ा दिया गया है। यह बात मालूम नहीं होती कि ध्वजा पर जो चिह्न रहता था, वह लकड़ीकी स्वतन्त्र आकृतिके रूपमें था या ध्वजाकी पताका पर ही खींचा जाता था। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि दोनों रीतियाँ प्रचलित होंगी। यूनानियोंके किये हुए वर्णनके अनुसार एक सारथीके सिवा कभी कभी रथमें दूसरा सारथी भी रहता था। उसे पार्ष्णि-सारथी कहा है। यह कल्पना होगी कि एकके मरने पर दूसरा उपयोगी हो। ध्वजा और पताका दोनों भिन्न भिन्न हों। रथसे ध्वजा अलग कर दी जा सकती थी। वर्णन है कि उत्तर-गोग्रहणके समय उत्तरकी ध्वजामें सिंह था और उसे अर्जुनने निकालकर शमी वृक्षके नीचे रख दिया था। "ध्वजं सिंहं (सिंहाकार—टीका।)

अपनीय महारथः।
प्रणिधाय शमीमूले प्रायादुत्तर-सारथिः॥"
(वि० अ० ४६)

यह वर्णन भी पाया जाता है कि अर्जुनने अपने रथके वानर-चिह्नका ध्यान किया और उसे रथ पर लगा दिया। अमुक वीरके अमुक ध्वज-चिह्नको देख कर बड़े योद्धाओंका भय होता होगा।

सम्भव है कि साधारण रथ आजकलकी दो चक्केवाली मामूली गाड़ीके समान हों। परन्तु बड़े बड़े योद्धाओंके भी रथ दो चक्केवाले ही रहते थे। यह बात प्रसिद्ध है कि बैबिलोनियन, असीरियन, यूनानी, इजिप्शियन आदि पाश्चात्य लोगोंके लड़ाईके रथ दो चक्केवाले ही रहते थे। इसी प्रकार भारती लड़ाईके रथ भी दो चक्केवाले थे। जब मुझे लोकमान्य तिलकका यह मत मालूम हुआ कि अर्जुनके रथमें दो ही चक्के थे, तब मैंने महाभारतके युद्ध-वर्णनोंको फिरसे ध्यानपूर्वक पढ़ देखा। मेरी राय है कि उन्हींका मत ठीक है और आजकल अर्जुनके रथके जो चित्र देख पड़ते हैं वे सब गलत हैं। कर्ण पर्वके ५३वें अध्यायमें अर्जुन और संशप्तकके युद्ध-वर्णनमें यह श्लोक है—

ते हयान् रथचक्रे च रथेषां चापि मारिष।
निगृहीतुमुपाक्रामन् क्रोधाविष्टाःसमन्ततः१४

इसमें 'रथचक्रे' कहा गया है। संस्कृतमें द्विवचन स्वतन्त्र है, इसलिए हिन्दी या मराठीके समान यहाँ सन्देह नहीं रह सकता। अर्जुनके रथको संशप्तकोंने घेर लिया था, उसमें दो ही चक्के बताये गये हैं। मालूम होता है कि कर्णके रथमें भी दो ही चक्के थे। द्रोणपर्वके १८९ वें अध्यायमें यह श्लोक है—

रथचक्रं च कर्णस्य बभंज स महाबलः।
एकचक्रं रथं तस्य तमूहुः सुचिरं हयाः
एकचक्रमिवार्कस्य रथं सप्तहया इव ॥५४

यहाँ इस बातका वर्णन है कि एक चक्केके टूट जाने पर भी कर्णके रथको एक ही चक्के पर घोड़े बहुत समयतक खींच रहे थे; अस्तु; ऐसा मालूम होता है कि बड़े बड़े योद्धाओंके रथोंमें दो ही चक्के रहते थे; परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे रथोंमें बहुतसे आयुध और सामान किस प्रकार रह सकते होंगे और ऐसे रथोंको 'नगराकार' क्यों कहा है? खैर; लोकमान्य तिलककी स्मरणशक्ति यथार्थमें प्रशंसनीय है। अनेक वर्णनोंसे यही बात

निर्विवाद सिद्ध है कि जहाँ जहाँ रथोंका रूपक दिया गया है, वहाँ वहाँ चक्र तो दो ही दिखाई देते हैं, पर घोड़े रहते हैं चार। घोड़ोंके सम्बन्धमें द्विवचनका प्रयोग कहीं नहीं किया गया है। रूपकमें सदा चार वस्तुओंका वर्णन घोड़ोंके स्थान पर किया जाता है। यह भी एक महत्त्वपूर्ण और कठिन प्रश्न है कि ये घोड़े, पाश्चात्य देशोंके पुराने चित्रोंके अनुसार, एक ही कतारमें जोते जाते थे या नहीं; क्योंकि दो ही डण्डियोंका हमेशा वर्णन किया गया है। इसके सम्बन्धमें अनुमान करनेके लिए जो कुछ वर्णन पाये जाते हैं उनका अब विचार करना चाहिए।

विराट पर्वके ४५ वें अध्यायमें उत्तर-से अपने रथके घोड़ोंका निम्नलिखित वर्णन किया है:—

दक्षिणां यो धुरं युक्तः सुग्रीवसदृशो हयः।
योयं धुरं धुर्यवहो वामं वहति शोभनः॥
तं मन्ये मेघपुष्पस्य जवेन सदृशं हयम् ॥२१
योयं कांचनसन्नाहः पार्ष्णिं वहति शोभनः।
समं शैब्यस्य तं मन्ये जवेन बलवत्तरम्।
योयं वहति मे पार्ष्णिं दक्षिणामभितः स्थितः।
बलाहकादपि गतः स जवे वीर्यवत्तरः ॥२३॥

टीकाकारका कथन है—

पुरः स्थितयोरश्वयोः पृष्ठभागं पाश्चात्यं युगं पार्ष्णिमिति।

खैर; इन श्लोकोंसे और टीकासे भी पूरा पूरा बोध नहीं होता। बहुधा दो घोड़े सामने जोते जाते थे और उनके पीछे दूसरे दो घोड़े रहते थे, अर्थात् साधारणतः आजकलकी चार घोड़े जोतने-की रीति ही देख पड़ती है। परन्तु चारों घोड़े एक ही कतारमें अर्थात् दो बाईं ओर और दो दाहिनी ओर रह सकते होंगे। पार्ष्णि शब्द यहाँ भी संदिग्ध है। सौप्तिक पर्वके १३ वें अध्यायमें श्रीकृष्णके रथका इस प्रकार वर्णन है—

दक्षिणामवहच्छैब्यः सुग्रीवः सव्यतोऽभवत्।
पार्ष्णिवाहौ तु तस्यास्तां मेघपुष्पबलाहकौ॥

यहाँ भी वही शङ्का शेष रह जाती है। वनपर्वमें कहा गया है कि एक उदार राजाने अपने रथके घोड़े एकके बाद एक निकालकर ब्राह्मणको दान कर दिये (वन० अ० १९८)। यह बात गूढ़ है कि उसका रथ तीन घोड़ोंसे या एक घोड़ेसे कैसे चल सका। यह प्रश्न अनिश्चित ही रह जाता है। अस्तु; निश्चयपूर्वक मालूम होता है कि रथके दो ही चक्र रहते थे। वन० अ० १७२—८ में, इन्द्रके रथ पर बैठकर अर्जुन निवातकवचसे युद्ध कर रहा था, उस समय यह कहा गया है कि

व्यगृह्णन्दानवा घोरा रथचक्रे च भारत॥

यहाँ उसके दो ही चक्रोंका वर्णन है। इसी प्रकार जब श्रीकृष्ण दूतका काम करनेके लिए गये थे, उस समयके उनके रथका वर्णन उद्योग पर्वमें किया गया है। वहाँ भी दो चक्रोंका उल्लेख किया गया है (अ० ८३)

सूर्यचन्द्रप्रकाशाभ्यां चक्राभ्यां समलंकृतम्॥

सारांश, सब बड़े बड़े व्यक्तियोंके रथोंमें दो ही चक्रोंके रहनेका वर्णन पाया जाता है। अर्थात् निश्चय हो जाता है कि उस समयके रथ दो चक्रवाले ही होते थे। यह साधारण समझ कि रथ चार चक्रोंके होते थे, ग़लत है। वन पर्वके एक संवादमें यह वाक्य है:—

द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि चक्रे।

इससे तो वही बात स्पष्ट होती है। रथ-सम्बन्धी साधारण धारणामें और भी कुछ भूल देख पड़ती है। रथके भिन्न भिन्न अवयवोंके जो नाम पाये जाते हैं उनकी ठीक ठीक कल्पना नहीं की जाती। वे नाम ये हैं—

युगमीषां वरूथं च तथैव ध्वजसारथी।
अश्वास्त्रिवेणुं तल्पंच तिलशोत्यधमच्छरैः॥

इसी प्रकार वनपर्वके २४२ वें अध्यायमें 'गिरिकूबरपादाक्षं शुभवेणु त्रिवेणुमत्' यह वाक्य भी है। इस वाक्यसे तथा और कई उल्लेखोंसे मालूम होता है कि युग, ईषा, कूबर, अक्ष, त्रिवेणु, ध्वज, छत्र, वरूथ, बन्धुर और पताका रथके भिन्न भिन्न अङ्ग थे। इन अङ्गोंकी ठीक ठीक कल्पना नहीं होती। युद्धवर्णनमें 'ध्वजयष्टिं समालंब्य' यह कथन बार बार देख पड़ता है। अर्थात्, योद्धा बाणबिद्ध हो जाने पर ध्वजयष्टिको पकड़ लिया करता था, इससे वह नीचे न गिरने पाता था। इससे प्रकट है कि यह यष्टि ध्वजाके नीचे रथमें होगी। तब यह बात समझमें नहीं आती कि यह ध्वजयष्टि किस तरहकी होगी।

रथियोंका द्वन्द्वयुद्ध।

महाभारतमें रथियोंके युद्धका वर्णन अनेक बार किया गया है। ये युद्ध बहुधा द्वन्द्वयुद्ध होते थे। इन द्वन्द्वयुद्धोंका वर्णन केवल काल्पनिक नहीं है। प्राचीन कालमें यही रीति थी कि दोनों फौजोंके मुख्य सेनापति सामने आते और युद्ध करते थे। आजकलकी नाईं पीछे रहनेका नियम नहीं था। सेनापति या विशिष्ट वीर प्रत्यक्ष युद्धमें रणशूर होते थे और आपसमें खूब लड़ते भी थे। ये सेनापति प्रायः रथी होते थे, इसलिए रथोंका द्वन्द्वयुद्ध प्रायः होता था। इस बातका भी वर्णन किया गया है कि ऐसे समय पर दूसरे सैनिक अपना युद्ध बन्द कर देते और उनकी ओर देखते रहते थे। इस प्रकारके द्वन्द्वयुद्धोंका वर्णन होमरने भी किया है। जब मुठभेड़ लड़ाई ठन जाती, तब दोनों पक्षके योद्धागण कुछ देरतक ठहरकर प्रसिद्ध वीरोंका द्वन्द्वयुद्ध देखनेके लिए तैयार रहते थे। ऐसे समय पर, धर्मयुद्धके नियमानुसार, द्वन्द्वयुद्ध करनेवाले वीरोंकी दूसरे लोग मदद न करते थे। धर्मयुद्धके नियमानुसार प्रत्येक मनुष्य किसी दूसरे एक ही मनुष्य पर हमला कर सकता है। जब अन्य प्रकारके युद्ध होते थे तब द्वन्द्वयुद्ध नहीं होते थे। महाभारतमें किये हुए इस द्वन्द्वयुद्धके वर्णनका सबसे बड़ा उदाहरण कर्णार्जुन-युद्ध ही है। रथोंके युद्धमें सारथियोंका भी बहुत महत्व था। सम और विषम भूमि देखकर रथका चलाना, ऐसे भिन्न भिन्न स्थानों पर रथको वेगसे ले जाना जहाँसे ठीक निशाना मारा जाय और रथीको बार बार प्रोत्साहन देना इत्यादि काम सारथीको करने पड़ते थे। दो रथियोंमें जब युद्ध शुरू होता तब रथ एक ही स्थान पर खड़े नहीं रहते थे। रथोंका स्थानान्तर बाणोंकी मार टालनेके लिए भी किया जाता था, पर इस बातकी कल्पना ठीक ठीक नहीं की जा सकती। जब कर्णके रथका पहिया गड्ढेमें घुस गया था तब वह उस पहियेको ऊपर खींचने लगा। इस वर्णनसे यह बात मालूम होती है कि द्वन्द्वयुद्धमें रथ मण्डलाकार घूमते थे। अब हम इस बातका वर्णन करेंगे कि भारतीयुद्ध-कालमें धर्मयुद्धके नियम कैसे थे और भिन्न भिन्न प्रकारके बाण कौनसे थे।

धर्मयुद्धके नियम।

कई बाण बहुत छोटे अर्थात् लम्बाईमें बित्ता भर ही होते थे। जब शत्रु बहुत निकट आ जाता तभी ये बाण उपयोगमें लाये जाते थे। कुछ बाण सीधे छोरवाले न होकर अर्धचन्द्रके समान छोरवाले रहते थे। ऐसे बाणोंका उपयोग, गर्दन काटकर सिरको धड़से अलग कर देनेमें,

किया जाता था। कुछ बाणोंके छोरमें विष लगा रहता था। यह नियम था कि धर्मयुद्धमें विषदग्ध बाणोंका उपयोग कभी न किया जाय। आजकलके युद्धोंमें भी सभ्य राष्ट्रोंका यह नियम है कि फैलनेवाली गोलियाँ (एक्सपान्डिंग बुलेट्स) उपयोगमें न लाई जायँ। अर्थात् आजकल तथा प्राचीन कालके धर्मयुद्धोंमें इसी तत्त्वका अवलम्बन किया गया है कि धर्मका अर्थ दया है। कई बाण कर्णी रहते थे अर्थात् उनमें सीधे छोरके स्थान पर दो उलटे सिरे रहते थे। जब शरीरमें घुसा हुआ यह बाण बाहर निकाला जाता था तब ये उलटे सिरे जखमको और भी अधिक बढ़ा देते थे। ये बाण भी धर्मयुद्धमें प्रशस्त नहीं माने जाते थे। महाभारतमें बाणोंकी भिन्न भिन्न प्रकारकी, विशेषतः दस प्रकारकी, गतियोंका वर्णन किया गया है। बाण सामने, तिरछे या गोल जाते थे। यद्यपि धनुष्य-बाणकी कला भारती युद्ध-कालमें बहुत उत्तम दशामें पहुँच गई थी, तथापि यह बात सम्भवनीय नहीं मालूम होती कि बाण गोल अर्थात् वर्तुलाकार चलता हो। बाणोंके सम्बन्धमें इस बातका भी वर्णन किया गया है कि वे अपना काम करके फिरसे चलानेवालेके हाथमें आ जाते थे। परन्तु यह भी अतिशयोक्ति है। सम्भव है कि बाण कवचको भेदकर किसीके शरीरमें घुस जाय। परन्तु यह भी देख पड़ता है कि यद्यपि बाण इस प्रकार जोरसे चलाये जाते थे, तथापि योद्धाओंकी भिन्न भिन्न गतिके कारण बहुत ही नीचे गिरते होंगे और इसी लिए योद्धाओंको अनेक बाण छोड़ने पड़ते होंगे।

धर्मयुद्धमें यह नियम था कि रथी रथी पर, हाथी हाथी पर और घुड़सवार घुड़सवार पर हमला करे। इस नियमसे सङ्कुल-युद्धका होना सम्भव नहीं। परन्तु स्पष्ट मालूम होता है कि द्वन्द्वयुद्धका यह नियम होगा। जो लोग घोड़ों पर बैठे हों वे रथारूढ़ मनुष्यों पर हमला न करें और रथारूढ़ मनुष्योंको अश्वों पर हमला न करना चाहिए (शां० प० अ० ६५)। यह भी नियम था कि दोनों योद्धाओंके शस्त्र एकसे ही हों। दुर्योधनने गदायुद्धके समय कहा था कि मुझ पर रथसे हमला न करो, गदासे युद्ध करो। यदि प्रतिपक्षी दुःखाकुल स्थितिमें हो तो उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए। भयभीत हो जानेवाले पर, पराजित मनुष्य पर या भागनेवाले पर शस्त्र नहीं चलाना चाहिए। बाण विषलिप्त अथवा उलटे काँटेवाला न हो। भारती-युद्ध-कालमें धर्मयुद्धके ऐसे नियम थे। यह भी नियम था कि यदि किसी प्रतिपक्षीके शस्त्रका भङ्ग हो जाय, उसकी प्रत्यञ्चा टूट जाय, उसका कवच निकल जाय या उसके वाहनका वध हो जाय, तो उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए (शान्ति० पर्व अ० ६५)। युद्धमें जखमी होनेवाले शत्रुको अपने राष्ट्रमें रखकर उसे औषध देना चाहिए। अथवा, यह भी बतलाया गया है कि, उसे अपने घर पहुँचा देना चाहिए। जखमी शत्रुको, उसका जखम अच्छा कर देने पर, छोड़ देना सनातनधर्म है। इन बातोंसे अच्छी तरह देख पड़ता है कि धार्मिक युद्धकी कल्पना प्राचीन समयमें किस दर्जेतक पहुँच गई थी। आजकलके सभ्य पाश्चात्य राष्ट्रोंमें भी यही नियम पाला जाता है। गत यूरोपीय युद्धोंमें, इसी नियमके अनुसार, दोनों पक्षोंके जखमी योद्धागण बड़े बड़े अस्पतालोंमें पहुँचा दिये जाते थे और वहाँ उनके जखमोंका अच्छा इलाज किया जाता था। यह देखकर

आश्चर्य होता है कि भारती युद्ध-कालमें इस दयायुक्त नियमके अनुसार ही कार्य किया जाता था।

राजा धर्म-युद्धके नियमोंका कभी त्याग न करे। शान्ति पर्वके ९५ वें अध्याय-में बतलाया गया है कि यदि इन नियमों-का पालन करनेमें राजाकी मृत्यु भी हो जाय तो उत्तम है। परन्तु यह देख पड़ता है कि महाभारत-कालपर्यन्त यह नियम बदल गया था। भीष्मने—

निक्षिप्तशस्त्रे पतिते विमुक्तकवचध्वजे।
द्रवमाणे च भीते च तवचास्मीतिवादिनि॥
स्त्रियां स्त्रीनाम धेयेच्च विकले चैकपुत्रिणि।
अप्रशस्ते नरे चैव न युद्धं रोचते मम॥

यह कहकर, धर्मयुद्धका जो श्रेष्ठ ध्येय बतलाया है, वह महाभारत-कालमें छूट गया था। कहा है कि उस मनुष्य पर शस्त्र न चलाया जाय जो सोया हो, तृषित हो, थका हो, अपना कवच छोड़ने-की तैयारीमें हो, पानी पी रहा हो या खा रहा हो या घास-दाना ला रहा हो। प्राचीन कालमें धर्मयुद्धका यही नियम था। परन्तु महाभारत-कालमें ये नियम बदल दिये गये थे और कूटयुद्धके नियमों-के अनुसार कार्य किया जाता था। यूना-नियोंने भयभीत आर्योंके धर्मयुद्धके सम्बन्धमें यह लिख रखा है कि, युद्ध-के समय किसी जमीन जोतनेवालेका अथवा किसी फसलका नाश नहीं होता। युद्धके चलते रहने पर भी किसान लोग अपना अपना काम मजेमें करते रहते हैं। इससे यह देख पड़ता है कि प्राचीन कालके भारती आर्योंके धर्मयुद्धसे प्रजा-को कुछ भी तकलीफ नहीं होती थी। परन्तु महाभारत-कालमें कुछ प्रसङ्गों पर इनके विरुद्ध नियम भी बतलाये गये हैं, और उनके अनुसार कार्य भी किया जाता था। अब इसी विषयका विचार किया जायगा।

कूटयुद्ध।

धर्म-युद्धमें कपट, प्रजाका नाश और अशक्त तथा पराजित लोगोंको कष्ट देना इत्यादि बातोंकी मनाही थी। परन्तु कूट-युद्धमें इन सब बातोंका प्रवेश होने लगा। शान्ति पर्वके ६९ वें अध्यायमें निम्न-लिखित नियम इस बातके दिये गये हैं कि लड़ाईके समय राजाको क्या करना चाहिए। राजाको पहले अपने मुख्य दुर्गका आश्रय करना चाहिए। अपनी सब गौओंको जङ्गलमें निकालकर रास्ते पर ला रखना चाहिए और गाँवोंको उजाड़-कर देशको उध्वस्त कर देना चाहिए। गाँवोंमें रहनेवाले लोगोंको मुख्य मुख्य शहरोंमें ला रखना चाहिए। श्रीमान् लोगोंको किलोंमें स्थान देना चाहिए और वहाँ फौजी पहरा रखना चाहिए। जो माल और सामान अपने साथ न लिया जा सके उसे जला डालना चाहिए। इसी प्रकार घास भी जला दी जाय। खेतोंका अनाज भी जला दिया जाय। नदीके पुल और रास्तोंका विध्वंस कर डालना चाहिए। सब जलाशयोंको तोड़ देना चाहिए और जो तोड़े न जा सकें उन्हें विष आदिकी सहायतासे दूषित कर डालना चाहिए। किलेके चारों ओर-के सब जङ्गलोंको काट डालना चाहिए, बड़े बड़े वृक्षोंकी शाखाओंको तोड़ डालना चाहिए, परन्तु अश्वत्थ वृक्षका एक पत्ता भी न तोड़ा जाय। मन्दिरके आसपासके वृक्षोंको भी न तोड़ना चाहिए। किले पर शत्रुओंको देखनेके लिए ऊँचे स्थान बनाये जायँ और शत्रुओं पर निशाना मारनेके लिए संरक्षित स्थान तथा छेद बनाये जायँ। खाईमें पानी भर देना चाहिए, उसके

अन्दर गुप्त कीलें लगा देनी चाहिएँ और उसमें मगरोंको छोड़ देना चाहिए। किले और शहरसे बाहर जानेके लिए गुप्त मार्ग बनाये जायँ, किलेके दरवाजे पर यन्त्र लगाये जायँ और शतघ्नी रख दी जाय। यह नहीं बताया जा सकता कि शतघ्नी क्या थी। बहुतेरोंका मत है कि तोप होगी। कई वर्णनोंसे मालूम होता है कि शतघ्नीमें पहिये रहते थे, परन्तु कहीं कहीं इस बातका भी वर्णन किया गया है कि शतघ्नी हाथमें रहती थी। (पूर्व समयके वर्णन पर ध्यान देनेसे हमें ऐसा मालूम होता है कि यह तोप न होगी।) यह नियम बतलाया गया है कि किलेमें ईंधन, लकड़ी आदि इकट्ठा की जाय, नये कुएँ खोदे जायँ और पुराने कुओंकी मरम्मत की जाय। जिन घरों पर घास हो, उनपर गीली मिट्टी लीप दी जाय। केवल रातको ही भोजन पकाना चाहिए। दिनको अग्निहोत्रके सिवा और किसी तरहकी आग न सुलगाई जाय। यदि कोई आग जलावे तो उसको दंड देना चाहिए। भिक्षा माँगनेवाले, गाड़ीवाले, नपुंसक, उन्मत्त और जड़ (पागल) लोगोंको शहरके बाहर निकाल देना चाहिए। शस्त्रागार, यंत्रागार, अश्वशाला, गजशाला, सेनाके निवासस्थानों और खाइयों पर कड़ा पहरा रखना चाहिए। स्वराज्यकी रक्षा करनेवाले नियमोंके साथ ही साथ शत्रुओंके राज्यका विध्वंस करनेके लिए जो रीतियाँ बतलाई गई हैं, वे भी इसी प्राकर भयंकर हैं। कहा गया है कि आग लगानेवाले, विष मिलानेवाले, चोर या डाकू और जंगली लोगोंको भेजकर पर-राष्ट्रका विध्वंस करना चाहिए। अर्थात्, परराष्ट्रके गाँवोंको जला देना चाहिए, लूट लेना चाहिए अथवा पीनेके पानीको विषद्वारा दूषित कर देना चाहिए। खेतोंका अनाज काट डालना चाहिए। पेड़ोंको तोड़कर शत्रुकी फौजके हाथियोंको मस्त कर देना चाहिए। शत्रुकी फौजमें भेद या द्रोह उत्पन्न करना चाहिए। ये सब नियम निर्दयतापूर्ण हैं और पूर्वकालीन धर्मयुद्धके नियमोंसे बिलकुल उलटे हैं। इन नवीन नियमोंका प्रचार बहुधा यूनानियोंकी चढ़ाईके समयसे ही हुआ होगा। प्राचीन कालमें आर्य-राज्योंके जो युद्ध आपसमें होते थे, उनमें केवल क्षत्रियोंका ही युद्ध होता था; अन्य प्रजा-गणों तथा कृषकोंको दुःख देनेका विचार राजाओंके मनमें न रहता था। यदि किसी राजाका पराभव भी हो जाय तो उसके राज्यको अपने राज्यमें शामिल कर लेनेकी प्रथा न थी। अतएव विजयी राजाको क्रूर कर्म करने तथा परराष्ट्रको बलहीन या उध्वस्त करनेकी इच्छा न होती थी। फलतः भारती-कालमें धर्मयुद्धके नियम बहुत ही अच्छे थे। परन्तु सिकन्दरके समय यूनानियोंने भिन्न युद्ध-पद्धतिका स्वीकार किया था। उनके युद्ध-शास्त्रका यह नियम था कि जिस प्रकार हो, शत्रुको पराजित करना चाहिए—युद्धमें सभी बातें न्याय्य हैं। यही नियम हिन्दुस्थानियोंने यूनानियोंसे सीख लिया और तभीसे धर्मयुद्धके नियम प्रायः लुप्त हो गये। आगे चलकर मुसलमानोंके युद्धोंमें तो अनेक भयानक बातें होने लगीं और हजारों निरपराध आदमियोंकी हत्या करके जुल्म किया जाने लगा।

अयुध्यमानस्य वधो दारामर्षः कृतघ्नता।
ब्रह्मवित्तस्य चादानं निःशेषकरणं तथा॥
स्त्रियामोषः पतिस्थानं दस्युष्वेतद्विगर्हितम्।
संश्लेषं च परस्त्रीभिर्दस्युरेतानि वर्जयेत्॥

(शा० १३४-१७)

यह बात यूनानियोंके इतिहाससे

मालूम होती है कि इस प्रकारका आचरण वे स्वयं अपने लोगोंके साथ भी किया करते थे। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है कि वे हिन्दुस्थानियोंके साथ इस प्रकारका आचरण करते हों। परन्तु यह सब बातें निंद्य हैं और वे भारती लोगोंके युद्ध-में नहीं देख पड़ती थीं। इस स्थानमें कहा गया है कि ऐसा व्यवहार दस्युओंतकको भी न करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि दस्यु यूनानी ही हैं। यूनानियोंने क्रूरता और अधर्मकी युद्धपद्धति हिन्दुस्थानमें पहलेपहल प्रचलित की; क्योंकि दस्युओं-का गुण-वर्णन इस प्रकार किया गया है:—
दस्यूनां सुलभा सेना रौद्रकर्मसु भारत।

विमानोंके द्वारा आक्रमण।

महाभारतमें विमानोंसे आक्रमण करनेका भी वर्णन आया है। जब शाल्व राजाने द्वारका पर चढ़ाई की थी, उस समय उसने विमानोंसे द्वारकाके ऊपर जाकर पत्थरों और बाणोंकी वर्षा की थी। इस वर्णनके पढ़ने पर सौतिकी उक्तिका स्मरण हो आता है कि 'ऐसा कुछ नहीं जो महाभारतमें न हो।' यह प्रसंग उसी तरहका है जैसा गत युद्ध-में जर्मन विमानोंके द्वारा लंदन शहर पर हो रहा था। वनपर्वके पंद्रहवें अध्यायमें द्वारकाकी तैयारीका वर्णन इस तरह दिया गया है—"जब शाल्वने द्वारका पर आक्रमण किया उस समय नगरीसे सभी ओर इतने आयुध छोड़े गये कि कहीं छिद्रतक दिखाई नहीं पड़ता था। द्वारकामें स्थान स्थान पर शतघ्नी और यंत्र लगाये गये थे। किलोंके बुर्जों पर मोर्चे बाँधे गये थे। शत्रुके द्वारा फेंके हुए तोप-के गोलोंको मार गिरानेके लिए शक्ति-संज्ञक आयुध थे। वहाँ अग्नि-उत्पादक पदार्थोंसे भरे हुए गोलोंको चलानेके लिए शृंगाकार यंत्र भी थे। शहरमें स्थान स्थान पर गुल्मसंज्ञक भाग पर चढ़े हुए सैनिक शत्रुओं पर प्रहार करनेके लिए तैयार थे। यह मुनादी कर दी गई थी कि कोई असावधान न रहे और मद्यपान भी न करे। नगरीमें रहनेवाले आनर्त-देशवासी नट, नर्तक, गवैये बाहर भिजवा दिये गये। नौकाओंका आना-जाना बंद कर दिया गया। चारों ओर एक कोसतक सुरंग लगा दी गई। द्वारकाका किला स्वभावतः ही सुरक्षित है; परन्तु राजाके मुहरछापका अनुमतिपत्र (पासपोर्ट) लिए बिना न कोई नगरीमें आ सकता था और न कोई बाहर जा सकता था। सेनाको आयुध, द्रव्य और इनाम भी दिये गये थे। किसी सिपाहीको सोने और चाँदीके सिक्कोंके सिवा दूसरा वेतन नहीं मिलता था और किसीका वेतन बाकी न रह गया था। शाल्वने नगरीको घेर लेनेके सिवा सौभनगर अर्थात् विमानोंमें बैठकर द्वारका पर चढ़ाई की। उस सौभ-नगरमें जो दैत्य बैठे थे वे शहर पर शस्त्र चलाने लगे। तब प्रद्युम्नने लोगोंको धैर्य दिया और उन सौभों पर बाणोंकी वर्षा की। फिर यथेष्ट संचार करनेवाले सौभ-नगरसे नीचे उतरकर शाल्व प्रद्युम्नसे युद्ध करने लगा। शाल्व राजाका रथ मायासे बनाया गया था और सोनेसे मढ़ा हुआ था। इसके आगे वर्णन है कि जिस तरह रथियोंमें हमेशा युद्ध होता है, उस तरह शाल्व और प्रद्युम्नका द्वंद्वयुद्ध हुआ। यह सौभ विमान ही होगा। उसे दैत्योंने बनाया था, इससे मालूम होता है कि वह काल्पनिक होगा। परन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि पक्की दीवारों से घिरे हुए शहरों पर विमानोंसे चढ़ाई करनेकी कल्पना आज नई नहीं उत्पन्न हुई है—हजारों वर्षोंकी पुरानी है।

सेनाका जमाव और व्यूह ।

अभीतक सेनाके भिन्न भिन्न भागों और लड़ाईके दो भेदोंका अर्थात् धर्मयुद्ध तथा कूटयुद्धका वर्णन हुआ है। परन्तु यह जान लेना बड़े महत्वका है कि प्रत्यक्ष युद्धमें सैनिकोंका जमाव कैसे किया जाता था और युद्ध किस प्रकार होता था। पहले अक्षौहिणीके परिमाणको समझ लेना चाहिए। आजकलके डिवीजिनसे अक्षौहिणीकी कल्पना हो सकेगी। जिस तरह जर्मन अथवा ब्रिटिश फौजकी संख्या आजकल डिवीजिनके परिमाणसे बतलाई जाती है, उसी तरह भारतीयुद्ध-कालमें अक्षौहिणी नाम प्रचलित था। भारतके प्रारम्भमें ही अक्षौहिणीकी संख्या दी हुई है। "एक गज, एक रथ, तीन घोड़े और पांच पैदल मिलाकर एक पत्ति होती है। ३ पत्तियोंका एक सेनामुख: ३ मुखोंका एक गुल्म: ३ गुल्मोंका एक गण: ३ गणोंकी एक वाहिनी: ३ वाहिनी-की एक पृतना: ३ पृतनाकी एक चमू: ३ चमूकी एक अनीकिनी और दस अनी-किनीकी एक अक्षौहिणी।" इसमेंके बहुतेरे शब्द केवल सेनावाचक हैं। हिसाब करने पर सब मिलाकर अक्षौहिणीमें २१८७० रथ, उतने ही हाथी ६५६१० घोड़े और १०९३५० पैदल होते हैं। इसमें रथों और हाथियोंकी संख्या बहुत ही बड़ी मालूम होती है। आरम्भमें पत्तिका जो लक्षण बतलाया गया है, उससे यह नहीं माना जा सकता कि युद्धके समय एक रथ, एक गज, तीन अश्व और पाँच पैदलका एक स्वतन्त्र समूह बनाया जाता होगा। अर्थात्, यह नहीं माना जा सकता कि प्रत्येक रथके पास एक हाथी, तीन घुड़-सवार और पाँच पैदल खड़े रहते थे। हाथियोंकी सेना, रथोंकी सेना और पैदलोंकी सेना भिन्न भिन्न रही होगी। क्योंकि पहले ऐसा वर्णन आ ही चुका है कि १०, १०० और १००० सैनिकों पर एक एक अधिकारी रहते थे। इससे प्रकट है कि पैदल सेना अलग और अश्व-सेना अवश्य अलग रही होगी। कुछ राजाओंके पास केवल अश्वसेना ही थी। पहले बतलाया जा चुका है कि शकुनीके पास १२००० घुड़सवार थे। इसलिए मालूम होता है कि पत्तिसे लेकर अक्षौहिणीतककी उक्त संख्या, कोष्टक (हिसाब) के लिये और साधारणतः भिन्न भिन्न अङ्गोंका एक दूसरेसे सम्बन्ध दिखलानेके लिए, प्रमाणके तौर पर दी गई है। लड़ाईके समय सेनाको किस तरहसे खड़ा करना चाहिए, यह बात शान्तिपर्वके ९९ वें अध्यायमें बतलाई गई है। सेनाके सामने बहुधा हाथी खड़े किये जाते थे। हाथियोंके मध्य भागमें रथ, रथोंके पीछे घुड़सवार और घुड़-सवारोंके मध्य भागमें कवच धारण किये हुए पैदलोंको रखनेके लिए कहा गया है। जो राजा अपनी सेनामें इस तरहकी व्यूह-रचना करता है, वह अवश्य ही अपने शत्रुका पराजय करता है।" (शांतिपर्व) यह वर्णन काल्पनिक नहीं है। महाभारत-कालमें रणभूमि पर सेनाका जमाव इसी रीतिसे होता रहा होगा। परन्तु भारती-युद्धके वर्णनमें इस तरहके जमाव किये जानेका उल्लेख नहीं है। लड़ाईके समय सेनाका जो संचालन किया जाता है उसे अँग्रेजीमें टैक्टिक्स कहते हैं; और समस्त महायुद्धकी भिन्न भिन्न रणभूमियों पर अलग अलग सेनाओंको जुटाने, युद्ध जारी करने अथवा रोकनेकी रीतियोंको स्ट्रेटेजी कहते हैं। भारती युद्ध एक विशेष लड़ाई थी। उसमें केवल टैक्टिक्सका ही उपयोग था। महाभारतमें इस बातका बहुत वर्णन है कि रोज़ सबेरे सेनापतिने

अपनी सेनाके भिन्न भिन्न विभागोंको कैसे चलाया और समग्र रणभूमि पर युद्ध कैसे शुरू हुआ। परन्तु एक बार व्यूह-रचना हो जाने पर सेनाके भिन्न भिन्न विभागोंसे सेनापतिका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। व्यूह-रचना बहुधा प्रातः-काल युद्धके आरम्भमें हुआ करती थी। यह नहीं कहा जा सकता कि फिर यह व्यूह आगे कायम रहता था या नहीं। अक्षौहिणीके परिमाणको देखकर कहना पड़ता है कि सेनाका फैलाव कई कोसों-तक रहता होगा। यह वर्णन कहीं नहीं पाया जाता कि इतनी दूर फैली हुई सेनाके अधिपतियोंसे सेनापतितक खबर देने-वाले लोगोंकी श्रेणियाँ थीं। महाभारतमें वर्णित व्यूहोंका आकार बहुधा पक्षीका सा देख पड़ता है। यह कल्पना सहजहीं सूझ सकती थी और सभी समयोंमें सब देशोंमें यही प्रचलित थी। क्योंकि सभी जगह "सेनाकी दोनों भुजाओंको पक्ष" या "विंग्स" (पंख) कहते हैं। सेनाके ये भाग हमेशा रहते हैं—एक रहता है मध्य-भाग और दोनों ओर दो पक्ष रहते हैं। उनमें थोड़ा थोड़ा अन्तर रहता है और उनको परस्पर एक दूसरेसे सहारा रहता है। भारती युद्धके समयके भिन्न भिन्न सब व्यूहोंमें इसी तरहका सैन्यविभाग था। उदाहरणार्थ, पाण्डवोंने पहलेही दिन जो क्रौंचव्यूह बनाया था उसका भी मुख्य भाग ऐसा ही था। पक्षीके शिरस्थानमें द्रुपद था। नेत्रस्थानमें कुंतिभोज और चैद्य थे। अर्थात् ये तीनों मिलकर सेनाके अग्र भागमें थे। अन्य लोगोंके साथ युधि-ष्ठिर पृष्ठस्थानमें यानी मध्य भागमें था। धृष्टद्युम्न और भीमसेन पक्षोंके स्थान पर अर्थात् दाहिनी और बाईं ओर थे। द्रौपदीके पुत्र तथा अन्य राजा लोग दाहिने पक्षकी सहायतामें थे। बाईं ओरकी सहायतामें भी अन्य राजा थे। विराट, शैब्य और काशिराज पीछेकी ओर थे। इस तरहसे क्रौंचारुण-महाव्यूहका जो वर्णन है उसका तात्पर्य यही है कि सेनाके वही विभाग किये गये थे जो हमेशा रहते हैं; जैसे अग्र, मध्य दो पक्ष, और पिछवाड़ा। कौरवोंकी सेनाका भी विभाग, इसके सन्मुख, इसी तरहसे किया गया था। भीष्म और द्रोण अग्र भागमें थे। दुर्योधन और शकुनि मध्यमें थे। भगदत्त, विंद, अनुविंद, शल्य और भूरिश्रवा बाईं ओर थे। सोमदत्ती, सुशर्मा और कांबोज दाहिनी ओर थे। अश्वत्थामा, कृप और कृतवर्मा 'रीयर' में रखवालीमें थे। प्रत्येक दिनके युद्धके आरम्भमें ऐसा ही वर्णन मिलेगा। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि युद्धके शुरू हो जाने पर भिन्न भिन्न पक्षोंमें सामने-वालोंका सामनेवालोंसे और मध्यवालोंका मध्यवालोंसे ही युद्ध होता था। युद्धके प्रायः रथियोंके द्वंद्वयुद्धका ही अधिक वर्णन किया गया है। उनका व्यूह-रचनासे विशेष सम्बन्ध नहीं मालूम होता। इसी प्रकारके व्यूह प्रति दिन नये नये नामोंसे बनते थे। उदाहरणार्थ, दूसरे दिन कौरवोंने गरुड़-व्यूह बनाया था और पाण्डवोंने उसके उत्तरमें अर्धचन्द्र व्यूह रचा था। अब यह बतला सकना कठिन है कि क्रौंचव्यूहमें और गरुड़व्यूहमें क्या फर्क था। इन भिन्न भिन्न व्यूहोंका वर्णन दण्डनीतिशास्त्रमें है। परन्तु वर्तमान समयकी स्थितिकी भिन्नताके कारण उनका यथार्थ ज्ञान नहीं होता और उनके युद्धकी रीति भी समझमें नहीं आती।

चक्रव्यूहकी कल्पना तो अब बिलकुल हो ही नहीं सकती। पहला प्रश्न यही होता है कि द्रोणने जो चक्रव्यूह बनाया था, वह स्वसंरक्षणके लिए था या शत्रुका नाश करनेके लिए था। यदि वह शत्रुके

नाश अथवा पराभवके लिए बनाया गया था, तो यह बात निर्विवाद है कि यह काम चक्रव्यूहके द्वारा नहीं हो सकता। आजकल चक्रव्यूहके सम्बन्धमें जो कल्पना प्रचलित है वह भी गलत मालूम होती है। आजकल यह धारणा है कि भ्रममें डाल देनेवाली एक गोल आकृतिका नाम चक्रव्यूह है। अँग्रेजीमें इसे लेबरिंथ कहते हैं जिसका अर्थ 'भूल-भुलैयां' है। इस प्रकारके लेबरिंथ बागीचोंमें बनाये जाते हैं। उनमें एक बार प्रवेश करने पर बाहर निकलना कठिन हो जाता है। यह नहीं माना जा सकता कि द्रोणने इस तरहकी व्यूहरचना की होगी। चक्रका अर्थ रथका पहिया है और उसी तरहके व्यूहके बनाये जानेका वर्णन है। "पहियेके आरोंकी जगह पर तेजस्वी राजकुमार खड़े किये गये। स्वयं दुर्योधन व्यूहके मध्य भागमें थे और उनके चारों ओर कर्ण, दुःशासन, कृपाचार्य आदि महारथी वीर थे। सेनाके मुखके पास खुद द्रोणाचार्य थे और इनके पास सिन्धुपति जयद्रथ था। उनकी बगलमें अश्वत्थामा खड़ा था। दूसरी तरफ गांधारराज, शकुनी, शल्य आदि थे।" अर्थात् यह रचना नित्यके सदृश थी। यह कहा जा सकता है कि इस चक्रव्यूहकी रचना दुर्योधनकी रक्षाके लिए की गई थी। मध्यमें द्रोण, बाईं ओर द्रोणपुत्र और जयद्रथ तथा दाहिनी ओर शकुनी और शल्य थे। इस समूहके पीछे चक्रव्यूह था। परन्तु इस बातकी कल्पना नहीं हो सकती कि इस चक्रके परिघ पर फौज किस तरह और किसकी खड़ी थी। यहाँ यह भी नहीं बतलाया गया है कि ये मुख खुले थे। हम पहले कह चुके हैं कि चक्रव्यूहकी ठीक ठीक कल्पना करनेके लिए इससे अधिक साधन नहीं हैं। यह भी मालूम नहीं होता कि इस व्यूहमें अकेले अभिमन्युके ही जानेका क्या प्रयोजन था।

हाँ, महाभारतमें पाये जानेवाले संकुल-युद्धके वर्णनमें और आजकलके युद्ध-वर्णनोंमें बहुत कुछ मेल है। संकुल-युद्धका प्रायः यह क्रम था कि रथदलसे रथदलका, अश्वसे अश्वका, गजसे गजका और पैदलसे पैदलका युद्ध हो। इसके सिवा रथ भी हाथीवाले पर और हाथीवाले रथ पर टूटकर उसको चूर कर देते थे। रथी गजारोहियों पर बाण चलाते थे और पैदलोंको भी तीक्ष्ण शरोंसे मारते थे। पैदल लोग पैदलोंको गोफन और फरसे-से मारते थे और रथ पर भी आक्रमण करते थे। हाथी पैदलोंको पीस देते थे और पैदल गजारोहियोंको गिरा देते थे। यह स्पष्ट है कि हाथी और घोड़े पैदलोंकी हानि करते थे। तथापि पैदल भी उन पर आक्रमण करते थे। इस तरहके (भीष्म अ० ५७) संकुल-युद्धोंके वर्णन महाभारतमें अनेक हैं। परन्तु अन्तिम दिनके युद्धका वर्णन बहुत ही उत्तम है। वह युद्ध बहुत कुछ पानीपतके आखिरी युद्धके समान है। बल्कि शल्यने आरम्भ-से ही सब लोगोंको द्वंद्वयुद्ध न कर संकुलयुद्ध करनेकी सूचना दे दी थी। अनन्तर भिन्न भिन्न पार्श्वोंका युद्ध मध्योंका युद्ध और पिछवाड़ोंका युद्ध हुआ। विश्वासरावकी तरह शल्य भी बारह बजेके लगभग गिरा, परन्तु लड़ाई बन्द नहीं हुई। शकुनीने घुड़सवारोंके साथ पांडवोंके पीछेकी ओर आक्रमण किया। तब युधिष्ठिरने भी उसकी ओर सहदेवको घुड़सवारोंके साथ भेजा। दोनों घुड़सवारोंके युद्धका वर्णन अत्यन्त सुन्दर है। अन्तमें कौरवोंकी हार होने लगी और उनका दल दो तीन बजेके लगभग तितर-बितर होने लगा। भाऊके समान दुर्योधन

युद्धभूमिको छोड़कर गायब हुआ। अस्तु; महाभारतमें संकुलयुद्धके जो वर्णन हैं वे कई अंशोंमें आजकलके युद्धों से मिलते हैं।

अन्य बातें।

सेनाके साथ साधारण लोगोंकी भी आवश्यकता रहती थी। उनका वर्णन उद्योगपर्वके अन्तमें इस तरह है। "सामानोंकी गाड़ियाँ, व्यपारियों और वेश्याओंके वाहन, हाथी, घोड़े, स्त्रियाँ, पंगु आदि निरुपयोगी लोग, द्रव्यकोष और धान्यकोष आदि सामानसे लदे हुए हाथी अपने साथ लेकर युधिष्ठिरकी सवारी चली।" पूर्व कालमें क्या, और अर्वाचीन कालमें क्या, सेनाके साथ वेश्याएँ रहती ही हैं। केवल इतना ही अन्तर है कि वे आजकलके कड़े नियमों-की अमलदारीमें नहीं रहतीं। इस तरहसे भिन्न भिन्न अवयवों और युद्धोंके भेदोंका वर्णन, महाभारतमें दिये हुए अनेक स्थलों-के वर्णनोंके आधार पर किया गया है। प्राचीन कालकी तथा आजकलकी युद्ध-पद्धति और शस्त्रास्त्रोंमें बड़ा अन्तर हो गया है। इसलिए हमें प्राचीन युद्ध-की कल्पना पूरे तौर पर नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, युद्धोंके वीरोंका परस्पर भाषण हमें असम्भव मालूम होता है। आजकल एक दूसरेकी निन्दा करना और अपनी शूरताकी बड़ाई करना असम्भव है; परन्तु धर्म-युद्धकालमें वीरोंके पास पास रहनेके कारण वह सम्भव था। यह भी वर्णन है कि योद्धा लोग एक दूसरेको अपने अपने नाम सुनाते थे। जिस तरहसे स्वयंवर भूमि पर राजाओं-के नाम सुने जाते थे, उसी तरह रण-भूमि पर भी सुने जाते थे (स्वयंवर-इवाहवे) यह भी आश्चर्यकी बात नहीं। महाभारत-कालमें आजकलकी फौजी कवायद न थी। तथापि यहाँसे वहाँ समाचार अथवा आज्ञा पहुँचानेके लिए घुड़सवार दूत थे।

दूतैः शीघ्राश्वसंयुक्तैः समन्तात् पर्यवारयन्।
(भी० अ० १२०-२६)

अक्षौहिणीकी संख्या।

भारती युद्ध-कालमें अक्षौहिणीकी संख्या सचमुच कितनी थी, इसका बिल-कुल मेल नहीं जमता। आदि-पर्वके आर-म्भमें उपर्युक्त वर्णनमेंसे कोष्टक रूपसे और अँकोंमें जो बात बतलाई गई है उससे भिन्न बात उद्योग पर्वके १५५ वें अध्यायमें दी हुई है।

सेना पंचशतं नागा रथास्तावन्त एव च।
दशसेना च पृतना पृतना दश वाहिनी॥

इस तरहसे कोष्टक देकर फिर तुर-न्त कहा गया है कि सेना, वाहिनी, पृतना, ध्वजिनी, चमू, अक्षौहिणी, वरू-थिनी सब पर्यायवाची शब्द हैं। परन्तु बात यहींतक नहीं रही। इसके आगे तुरन्त दूसरी गणना दी गई है।

नराणां पञ्चपञ्चाशदेषा पत्तिर्विधीयते।

इसमें, आदिपर्वकी तरह, कोष्टक-का प्रारंभ पत्तिसे किया गया है। परन्तु पत्तिका और ही अर्थ ५५ मनुष्य बत-लाया गया है। आगे ३ पत्तिका सेना-मुख, ३ सेनामुखका गुल्म और ३ गुल्मका गण बतलाकर कहा है कि गण दस हजारके होते हैं। यहाँ टीकाकार भी घबरा गया है। तात्पर्य, यही कहना पड़ेगा कि अक्षौहिणी, चमू, आदि प्राचीन शब्द पाश्चात्य फौजोंकी तरह आर्मी, डिवीजन, कोर सरीखे ही अनिश्चित थे।

शल्यके सेनानायकत्वमें अर्थात् युद्धके अठारहवें दिन कौरवोंके पास ३ करोड़

पैदल और ३ लाख सवार तथा पांडवोंकी ओर २ करोड़ पैदल और १० हजार सवार बाकी थे। (श० अ० ८) इसी तरह स्त्रीपर्वके अन्तमें वर्णन है कि "इस संग्राममें सब मिलकर ६६ करोड़ १ लाख ३० हजार मनुष्य मरे।" (स्त्री० अ० २६) स्पष्ट है कि यह संख्या १८ अक्षौहिणीकी संख्यासे अधिक है। हम समझते हैं कि सौतिने जानबूझकर अन्य स्थलोंके समान इन संख्याओंको भी कूट रखा है। उनका स्पष्टीकरण करना बड़ा ही कठिन है।

ग्यारहवाँ प्रकरण।

व्यवहार और उद्योग-धन्धे।

हम इस प्रकरणमें इस बातका विचार करेंगे कि महाभारत-कालमें हिन्दुस्थानके व्यापार और उद्योग-धन्धोंकी दशा कैसी थी। पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि उस समय हिन्दुस्थानके जो राज्य थे, उन सबकी राज्य-व्यवस्थाओंमें व्यापार और उद्योगकी वृद्धिकी ओर सरकारकी पूरी दृष्टि थी। यह विषय एक स्वतन्त्र राज्य-विभागके अधीन कर दिया गया था। यह देखकर आश्चर्य होता है कि इस विषय पर, इतने प्राचीन कालमें भी, राज्य-प्रबन्ध-कर्त्ताओंका ध्यान था। सभा पर्वमें राज्य-व्यवस्थाके सम्बन्धमें नारदने युधिष्ठिरसे जो मार्मिक प्रश्न किये हैं, उनमेंसे एक यह भी है कि—

कच्चित्स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः।
वार्तायां संश्रिते नूनं लोकोयं सुखमेधते॥

"वार्तामें सब लोगोंके अच्छी तरहसे लग जाने पर लोगोंका सुख बढ़ता है: अतएव तेरे राज्यमें वार्ताकी ओर अच्छे लोगोंकी योजना तो है न?" इस प्रश्नमें वार्ताके सम्बन्धमें राजाके कर्तव्यका महत्व पूरा पूरा दिखलाया गया है। सारांश यह है कि आजकलके उन्नत राजाओंके कर्तव्योंकी कल्पनामें और पूर्व कालकी कल्पनामें कुछ भी अन्तर नहीं है। आजकल वार्ताका अर्थ, लोगोंकी वृत्तिका अर्थात् उद्योग और जीविका-साधनका, शास्त्र है। इसमें वैश्योंके समस्त धन्धोंका समावेश होता था। महाभारत-कालमें ये धन्धे मुख्यतः तीन थे; कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा। इनका उल्लेख भगवद्गीताके वाक्योंमें हुआ है; अर्थात् कृषि, और गौकी रक्षा करना और व्यापार ही उस समय मुख्य धन्धे थे। व्यापारमें ही 'कुसीद' यानी ब्याज-बट्टेका धन्धा सम्मिलित है। हम पहले बतला चुके हैं कि महाभारत-कालमें उद्योग-धन्धोंके सम्बन्धमें, खेतीके सम्बन्धमें, गोरक्षाके सम्बन्धमें, यानी समग्र वार्ताके सम्बन्धमें, भिन्न भिन्न ग्रन्थ थे। पहले यह भी बतलाया जा चुका है कि धर्मशास्त्रको दण्डनीति, अर्थशास्त्रको वार्ता और मोक्षशास्त्रको आन्वीक्षिकी कहते थे। दुर्भाग्यवश ये ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं जिसके कारण हमें यह नहीं मालूम होता कि महाभारत-कालमें उद्योग-धन्धों और खेती आदिके सम्बन्धमें कहाँतक बढ़ा-चढ़ा ज्ञान था और इन कामोंमें सरकारसे किस तरहकी सहायता मिलती थी। तथापि उन ग्रन्थोंसे अवतरण लेकर दण्डनीति अथवा मोक्षशास्त्रके मत जैसे महाभारतमें कहीं कहीं दिये गये हैं, वैसे ही महाभारतमें वार्ताके सम्बन्धमें भी कहीं कहीं उल्लेख पाया जाता है जिससे हम इस विषय पर थोड़ासा प्रकाश डाल सकते हैं। इससे हमें महाभारत-कालीन उद्योग-धन्धोंकी परिस्थितिका कुछ अन्दाज हो सकेगा।

खेती और बागीचे।

महाभारत-कालमें आजकलकी तरह लोगोंका मुख्य धन्धा खेती ही था और आजकल इस धन्धेका जितना उत्कर्ष हो चुका है, कमसे कम उतना तो महाभारत-कालमें भी हो चुका था। आजकल जितने प्रकारके अनाज उत्पन्न किये जाते हैं, वे सब उस समय भी उत्पन्न किये जाते थे। उपनिषदोंमें भी इन अनाजोंका उल्लेख पाया जाता है। बृहदारण्यमें

चावल, तिल, गेहूँ, ज्वार आदिका उल्लेख हुआ है।

दश ग्राम्यानि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा। अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च ॥

(तैत्तिरीय ब्राह्मण अध्याय ८)—(इस फेहरिस्तमें चनेका उल्लेख नहीं है।)

खेतीकी रीति आजकलकी तरह थी। वर्षाके अभावके समय बड़े बड़े तालाब बनाकर लोगोंको पानी देना सरकारका आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था। नारदने युधिष्ठिरसे प्रश्न किया है कि—"तेरे राज्यमें खेती वर्षा पर तो अवलंबित नहीं है न? तूने अपने राज्यमें योग्य स्थानोंमें तालाब बनाये हैं न?" यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि पानी दिये हुए खेतोंकी फसल विशेष महत्वकी होती थी। उस जमानेमें ऊख, नीलि (नील) और अन्य वनस्पतियोंके रंगोंकी पैदावार भी सींचे हुए खेतोंमें की जाती थी। (बाहरके इतिहासोंसे अनुमान होता है कि उस समय अफीमकी उत्पत्ति और खेती नहीं होती रही होगी।) उस समय बड़े बड़े पेड़ोंके बागीचे लगानेकी ओर विशेष प्रवृत्ति थी और खासकर ऐसे बागीचोंमें आमके पेड़ लगाये जाते थे। जान पड़ता है कि उस समय थोड़े अर्थात् पाँच वर्षोंके समयमें आम्र-वृक्षमें फल लगा लेनेकी कला मालूम थी।

चूतारामो यथाभग्नः पंचवर्षः फलोपगः।

यह उदाहरण एक स्थान पर द्रोणपर्वमें दिया गया है। 'फल लगे हुए पाँच वर्षके आमके बागीचेको जैसे भग्न करें' इस उपमासे आजकलके छोटे छोटे कलमी आमके बागीचोंकी कल्पना होती है। यह स्वाभाविक बात है कि महाभारतमें खेतीके सम्बन्धमें थोड़ा ही उल्लेख हुआ है। इसके आधार पर जो बातें मालूम हो सकती हैं वे ऊपर दी गई हैं। हम पहले बतला चुके हैं कि किसानोंको सरकारकी ओरसे बीज मिलता था; और चार महीनोंकी जीविकाके लिए अनाज उसे मिलता था, जिसे आवश्यकता होती थी। किसानोंको सरकार अथवा साहूकारसे जो ऋण दिया जाता था, उसका ब्याज फी सैंकड़े एक रुपयेसे अधिक नहीं होता था।

खेतीके बाद दूसरा महत्वका धंधा गोरक्षाका था। जंगलोंमें गाय चरानेके खुले साधन रहनेके कारण यह धंधा खूब चलता था। चारण लोगोंको बैलोंकी बड़ी आवश्यकता होती थी, क्योंकि उस जमानेमें माल लाने-ले जानेका सब काम बैलोंसे होता था। गायके दूध-दहीकी भी बड़ी आवश्यकता रहती थी। इसके सिवा, गायके सम्बन्धमें पूज्य बुद्धि रहनेके कारण सब लोग उन्हें अपने घरमें भी अवश्य पालते थे। जब विराट राजाके पास सहदेव तंतिपाल नामक ग्वाल बनकर गया था, तब उसने अपने ज्ञानका वर्णन इस तरहसे किया थाः—

क्षिप्रं च गावो बहुला भवंति।
न तासु रोगो भवतीह कश्चन ॥

इससे मालूम होता है कि महाभारतकालमें जानवरोंके बारेमें बहुत कुछ ज्ञान रहा होगा। अजाविक अर्थात् बकरी-भेड़ोंका भी बड़ा प्रतिपालन होता था। उस समय हाथी और घोड़ोंके सम्बन्धकी विद्याको भी लोग अच्छी तरह जानते थे। जब नकुल विराट राजाके पास ग्रंथिक नामका चाबुक-सवार बनकर गया था, तब उसने अपने ज्ञानका यह वर्णन किया थाः—

अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः। दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं च चिकित्सितम् ॥

उसने कहाः—मैं घोड़ोंका लक्षण, उन्हें सिखलाना, बुरे घोड़ोंका दोष दूर करना और रोगी घोड़ोंकी दवा करना जानता हूँ। महाभारतमें अश्वशास्त्र अर्थात् शालिहोत्रका उल्लेख है। अश्व और गजके सम्बन्धमें महाभारत-कालमें ग्रंथ अवश्य रहा होगा। नारदका प्रश्न है कि "तू गजसूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र इत्यादिका अभ्यास करता है न?" मालूम होता है कि प्राचीन कालमें बैल, घोड़े और हाथीके सम्बन्धमें बहुत अभ्यास हो चुका था और उनकी रोग-चिकित्साका भी ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

त्रिः प्रस्रुतमदः शुष्मी षष्टिवर्षो मतंगराट् ॥४॥ (अ० १५१)

साठवें वर्षमें हाथीका पूर्ण विकास अर्थात् यौवन होता है और उस समय उसके तीन स्थानोंसे मद टपकता है। कानोंके पीछे, गंडस्थलोंसे और गुह्यदेशमें। महाभारतके जमानेकी यह जानकारी महत्वपूर्ण है। इससे विदित होता है कि उस समय हाथीके सम्बन्धका ज्ञान कितना पूर्ण था।

रेशमी, सूती और ऊनी कपड़े।

अब हम वार्ताके तीसरे विषय अर्थात् व्यापारका विचार करेंगे। इसके साथ ही भिन्न भिन्न धन्धोंका भी विचार करेंगे। प्राचीन कालमें माल लाने-ले जानेके साधनोंकी आजकलकी तरह, विपुलता न होनेके कारण हिन्दुस्थानके भिन्न भिन्न राज्योंमें ही कम व्यापार रहा होगा। हिन्दुस्थानके बाहर भी कम व्यापार रहा होगा। उसमें भी अनाजका आयात और निर्गत व्यापार थोड़ा ही रहा होगा। हिन्दुस्थानमें विशेष रूपसे होनेवाले पदार्थ ही बाहर जाते रहे होंगे और बाहरके देशोंसे यहाँ वे ही पदार्थ आते रहे होंगे जो यहाँ उत्पन्न न होते होंगे। यह अनुमान करनेके लिए कारण पाये जाते हैं कि भारत-कालमें भी समुद्र द्वारा व्यापार होता था। बाहर जानेवाली वस्तुओंमें सबसे पहला नाम **कपाससे तैयार किये हुए सूक्ष्म वस्त्रों**का है; आजकल यहाँसे बाहर जानेवाली वस्तुओंमें मुख्य कपास ही है। प्राचीन कालमें कपास हिन्दुस्थानमें ही होती थी। यूनानियोंने हिन्दुस्थानकी कपासका वर्णन करते हुए उसे पेड़ पर उत्पन्न होनेवाला ऊन कहा है। अर्थात् उन लोगोंने कपासके पौधे हिन्दुस्थानमें ही देखे थे। आजकल भी कपास खासकर हिन्दुस्थान, ईजिप्ट और अमेरिकामें ही होती है; और ईजिप्ट तथा अमेरिकामें हिन्दुस्थानसे ही कपास गई थी। कुछ लोगोंका कथन है कि कपास संस्कृत शब्द नहीं है, वह पहलेपहल मनुस्मृतिमें पाया जाता है। परन्तु इसमें भूल है। यह शब्द महाभारतमें अनेक स्थानों पर आया है और हम देख चुके हैं कि महाभारत ग्रन्थ मनुस्मृतिके पहलेका है। द्राविड़ भाषामें कार्पासके सदृश कोई शब्द नहीं है। यह स्वाभाविक है कि जब भारतीय आर्य हिन्दुस्तानमें आये तब उन्हें कपासके पेड़ दिखलाई पड़े। कदाचित् इसी कारण, वेदान्त ग्रन्थमें उनका उल्लेख नहीं है। परन्तु कार्पास नाम उन्होंने ही रखा है। इसके सिवा कपासका एक पर्यायवाची तूल शब्द है। वह उपनिषदोंमें भी मिलता है। यूनानियोंके आदि इतिहासकर्त्ता हिरोडोटस और डिसीअसने कपासके बने हुए कपड़ोंका वर्णन किया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि हिन्दुस्तानके लोग ऊनके कपड़े पहनते थे। कपाससे सूत निकाल कर उनसे कपड़े बनानेकी कला हिन्दु-

स्थानमें अत्यन्त प्राचीन कालसे थी। हमारे 'तुरी' और 'वेम' (स्पिन्डल और लूम) इन पुराने यन्त्रोंके अनुकरण पर आजकल विलायत आदि देशोंमें सुधरे हुए यन्त्र बनाये गये हैं। भारतीय तत्त्व-ज्ञानमें आनेवाले तन्तु और पट शब्द बहुत पुराने हैं और कपड़े बुननेवाला कोष्टी या जुलाहा पुराना शिल्पी है। महाभारत-कालमें अतिशय सूक्ष्म वस्त्र बनानेकी कला पूर्णताको पहुँच गई थी। इसका प्रमाण यूनानी ग्रन्थोंसे मिलता है। ये महीन कपड़े पर्शिया, ग्रीस, रोम, आदि स्थानोंमें भेजे जाते थे। इतिहाससे मालूम होता है कि रोमन स्त्रियोंको हिन्दुस्थानके बने हुए महीन कपड़ोंसे बड़ा प्रेम था। महाभारतमें भी कपासके सूक्ष्म वस्त्रोंका वर्णन है। राजसूय यज्ञमें युधिष्ठिरको जो अनेक प्रकारके कर दिये गये थे, उनके वर्णनमें कहा गया है कि—

शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनां।
बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः॥
(सभा पर्व ५१)

भरुकच्छ (भड़ौच) में रहनेवाले लोग सूक्ष्म कार्पास-वस्त्र पहने हुई एक लाख दासियोंको कर-स्वरूपमें लेकर आये थे। भड़ौच शहर अब भी कपासके लिए प्रसिद्ध है। बल्कि वहाँकी कपास हिन्दुस्तानकी कपासोंमें सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। अतएव कपासके सम्बन्धमें भड़ौचका प्राचीन कालमें वर्णन पाया जाना आश्चर्यकी बात नहीं है। भड़ौच नर्मदा नदीका प्राचीन बन्दरगाह भी था। महाभारत-कालमें भड़ौचकी तरहके कपासके सूक्ष्म वस्त्रोंके सम्बन्धमें पाण्ड्य और चोल देशोंकी भी ख्याति थी और मद्रासके पूर्वी किनारेका नाम सूक्ष्म वस्त्रोंके सम्बन्धमें आज भी है।

मणिरत्नानि भास्वन्ति कार्पाससूक्ष्मवस्त्रकं।
चोलपाण्ड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्युपस्थितौ॥

इस तरहसे हमें महाभारतमें चोल और पाण्ड्य देशोंके सूक्ष्म वस्त्रोंकी ख्यातिका वर्णन मिलता है। दक्षिणके बन्दरगाह और देश (जैसे सूक्ष्म कार्पास-वस्त्रोंके लिए प्रसिद्ध थे, उसी तरह उत्तरके देश) ऊनी और रेशमके सूक्ष्म वस्त्र बनानेके काममें विख्यात थे। ये वस्त्र कई रङ्गोंके, बड़े नरम और कलाबत्तू मिलाकर बनाये जाते थे। सभापर्वमें राजसूय यज्ञके समय ऐसे वस्त्रोंके नज़रानेके तौर पर आनेका वर्णन है।

प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाल्हीचीनसमुद्भवम्।
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा॥
कुटीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः।
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम्॥

इसमें और्ण अर्थात् ऊनसे बनाये हुए कपड़ोंका, राङ्कव अर्थात् रंकु मृगके रोएँसे बनाये हुए कपड़ोंका और कीटजं अर्थात् रेशमके कपड़ोंका स्पष्ट वर्णन है। परन्तु पट्टजंका अर्थ समझ नहीं पड़ता। ये वस्त्र पञ्जाब और अफगानिस्तानकी ओर बनते रहे होंगे। चीनसे रेशमी कपड़े आते रहे होंगे। शालके लिए पञ्जाब और काश्मीर आज भी प्रसिद्ध हैं। इसमें जो कुटीकृतका वर्णन है, उससे आजकलके पञ्जाबमें ऊनसे तन्तु निकाले बिना बनाये जानेवाले वस्त्रोंका ध्यान होता है। कपास, रेशम और ऊनके मिश्रित धागोंसे वस्त्र बनानेकी कला महाभारत-कालमें भी प्रचलित थी। इस रीतिसे वस्त्रोंकी कीमत कम होती है: अतएव ऊपरके श्लोकमें अकार्पास विशेषण रखा गया है। भेड़ोंके ऊनके सिवा अन्य जानवरोंके मुलायम रोएँसे भी वस्त्र बनानेकी कला मालूम थी।

श्रौर्णान् बैलान्वार्षदन्तान् जातरूपपरिष्कृतान। प्रावाराजिनमुख्यांश्च कांबोजः प्रददौ बहून् ॥

"श्रौर्णान् अर्थात् बकरेके ऊनके, बैलान् यानी बिलोंमें रहनेवाले जन्तुओंके ऊनके, बिल्लियोंके ऊनके और कलाबत्तूके द्वारा सुन्दर बने हुए कपड़े कांबोज राजाने दिये।" महाभारत-कालमें कलाबत्तू बनानेकी कला जारी रही होगी और इसी कारण परदेश तथा स्वदेशके श्रीमान् लोग हिन्दुस्थानमें बने हुए पतले, रेशमी, ऊनी और कपासके वस्त्र पहनते थे। ये कपड़े परदेशमें समुद्रसे और खुश्कीकी राहसे जाते थे। विशेषतः स्त्रियोंको इन कपड़ोंकी अधिक चाह थी। धनवान् स्त्रियोंके लिए महाभारतमें सूक्ष्मकम्बलवासिनी विशेषण प्रायः रखा गया है। इसमें कम्बल शब्दका अर्थ मामूली कम्बल नहीं लेना चाहिए—उससे केवल ऊनी वस्त्र समझना चाहिए। इस विशेषणकी तरह सूक्ष्मकौशेयवासिनी विशेषण भी प्रायः प्रयुक्त हुआ है। इससे मालूम होता है कि स्त्रियोंको बारीक रेशमके पीले कपड़े अतिशय प्रिय थे।

कारीगरोंकी सहायता।

इस तरहके मूल्यवान् कपड़े तैयार करनेका मुख्य साधन बहुत बड़ी पूंजी है। वह कारीगरोंको मिल नहीं सकती। उन्हें सरकार अथवा साहूकारके द्रव्यकी सहायताकी जरूरत रहा ही करती है। मालूम होता है कि प्राचीन कालमें सरकारसे ऐसी सहायता मिलनेकी पद्धति प्रचलित थी। नारदकी बतलाई हुई अतिशय महत्वपूर्ण और मनोरञ्जक राजनीतिमें इस बातका भी उल्लेख है।

द्रव्योपकरणं कच्चित्सर्वदा सर्वशिल्पिनाम्।
चातुर्मास्यवरं सम्यक् नियतं संप्रयच्छसि ॥

'हे युधिष्ठिर, तू सब कारीगर लोगोंको द्रव्य और उपकरण अर्थात् सामान चार महीनोंतक चलनेके योग्य नित्य देता है न?' नारदके इस प्रश्नमें दिखलाया गया है कि सरकारको अपनी प्रजाकी उद्योग-धन्धे-सम्बन्धी वृद्धिके लिए कितनी खबरदारी रखनी पड़ती थी। अहिल्याबाई महाभारत आदि पुराणोंका जो श्रवण करती थी, वह कुछ व्यर्थ नहीं जाता था; क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि राजनीतिका नारदका यह महत्वपूर्ण उपदेश उसके मनमें पूरा पूरा जम गया था। महेश्वरमें सरकारी दूकान खोलकर उसने चीनसे रेशम मँगाकर कारीगरोंको दिलानेकी व्यवस्था की थी। इससे महेश्वरकी कारीगरीकी दशाका सुधर जाना और वहाँ साड़ियों और धोतियोंका बहुत बारीक और सफ़ाईके साथ बनना जगत्प्रसिद्ध इस सरकारी दूकानमें ही रेशमवाले अधिकारी थे। कच्चित् अध्यायमें कहा है। गया है कि लोगोंके उद्योगधन्धोंके सम्बन्धमें निगरानी रखकर समय समय पर उन्हें सहायता देनेके लिए सरकार अधिकारी नियुक्त करे। सारांश यह है कि महाभारत-कालमें वार्ता अर्थात् उद्योग-धन्धोंके उत्कर्षकी ओर राजाका पूरा पूरा ध्यान रहता था।

रंग।

यह स्पष्ट है कि कपासके, विशेषतः ऊन और रेशमके कपड़े बनानेके लिए रङ्गकी कलाका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक था। महाभारत-कालमें हिन्दुस्थानमें रङ्गकी कला पूर्णताकी अवस्थाको पहुँच चुकी थी। ये रङ्ग बहुधा वनस्पतियोंसे बनाये जाते थे और उनके योगसे कपड़ोंमें दिया हुआ रङ्ग स्थिर तथा टिकाऊ होता था। प्राचीन कालमें रंगकी कला कितनी उत्कृष्ट

अवस्थामें पहुँच गई थी, इसका पाठकोंको विश्वास दिलानेके लिए यह बतलाना काफी होगा कि एजेन्टाकी गुफाओंमें चित्र बनानेके लिए जो रङ्ग काममें लाये गये हैं वे आज हजार बारह सौ वर्षोंके बाद भी ज्योंके त्यों चमकते हुए और तेजस्वी दिखाई पड़ते हैं। मालूम होता है कि यह कला महाभारत-कालमें भी ज्ञात थी। क्योंकि यूनानियोंने भी हिन्दुस्थानकी रङ्ग-की कलाके सम्बन्धमें उल्लेख कर रखा है। उन्होंने यह भी लिख रखा है कि हिन्दुस्थानके लोगोंको रँगे हुए कपड़े पहननेका बड़ा शौक है। इस रंगकी कलाका ज्ञान और उसकी क्रिया, जर्मन लोगोंके रासायनिक रंगोंके आ जानेके कारण, दुर्दैव-वश प्रायः भूल गई और नष्टप्राय हो गई है।

सब धातुओंकी जानकारी।

अब हम यह देखेंगे कि इस कपड़ेके धन्धेके सिवा हिन्दुस्थानके लोगोंको दूसरे किन किन धन्धोंका ज्ञान था। भारतीय आर्योंको महाभारत-कालमें प्रायः सब धातुओंका ज्ञान था और उन्हें उनके गुण भी मालूम थे। छान्दोग्य उपनिषद्के चौथे प्रपाठकमें एक महत्वपूर्ण वाक्य है जिससे मालूम होता है कि हिन्दुस्थानके लोगोंको इतने प्राचीन कालमें भिन्न भिन्न धातुओंके सम्बन्धमें अच्छी जानकारी थी। "जिस प्रकार सोना क्षारसे जोड़ा जाता है, चाँदी सोनेसे जोड़ी जाती है, जस्ता चाँदीसे, शीशा जस्तेसे, लोहा शीशेसे, लकड़ी लोहेसे और चमड़ा लकड़ीसे जोड़ा जाता है।" इस वाक्यसे प्राचीन कालमें भिन्न भिन्न धातुओंके धन्धोंका ज्ञान होना सिद्ध होता है। (उस समय लोहेके काँटे बनानेका ज्ञान था।) इसी वाक्यकी तरह महाभारतमें उद्योगपर्वके ३९ वें अध्यायमें एक वाक्य है:—

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु।
ज्ञेयं त्रपुमलं शीसं शीसस्यापि मलं मलम्॥

इसका अर्थ ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता। तथापि महाभारत-कालमें इन सब धातुओंकी प्रक्रिया कारीगरोंको मालूम रही होगी। उस ज़मानेमें हिन्दुस्थानमें सुनारोंका धन्धा अच्छा चलता था। उस समय यहाँ सुवर्णकी उत्पत्ति बहुत होती थी। हिन्दुस्थानके प्रायः सब भागोंमें सोनेकी उत्पत्ति होती थी। हिमालयके उत्तरमें बहुत सोना मिलता था। उत्तर हिन्दुस्थानकी नदियोंमें सुवर्णके कण बहकर आते थे। दक्षिणके पहाड़ी प्रदेशोंमें सोनेकी बहुतसी खानें थीं और अब भी हैं। सभापर्वके ५१ वें अध्यायमें युधिष्ठिरको भिन्न भिन्न लोगोंसे जो नज़राने मिलनेका वर्णन है उसमें बहुधा सोनेका नाम आता है। विशेषतः चोल और पांड्य नामक दक्षिणी मुल्कोंके राजाओंसे कांचनके दिये जानेका उल्लेख है। हिमालयकी ओरसे आनेवाले लोगोंने भी सोना दिया था। इनमेंसे एक वर्णन तो बड़ा ही मनोरञ्जक है।

खसाः एकासनाः ह्यर्हाः प्रदरादीर्घवेणवः।
पारदाश्च कुलिंदाश्च तंगणाः परतंगणाः॥
तद्वैपिपीलिकं नाम उद्धृतं यत्पिपीलिकैः।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशोनृपाः॥
(सभापर्व ५२)

हिमालयके उस पार रहनेवाले खस आदि तङ्गण और परतङ्गण लोग भी एक प्रकारका सोना लेकर युधिष्ठिरको नजर करनेके लिए आये थे। यह सोना कुछ भिन्न प्रकारका था। उसे जातरूप कहते थे। उसके मिलनेका वर्णन भी अत्यन्त भिन्न प्रकारका है। उस सोनेके कणोंको पिपीलिका अर्थात् च्यूँटियाँ अपने बिलोंसे बाहर निकालकर इकट्ठा किया करतीं

थीं। वे कण छोटी छोटी थैलियोंमें भरकर लाये जाते थे। यह सोना वे लोग युधिष्ठिरको नजर करनेके लिए एक द्रोण (एक पुरानी नाप) लाये थे। इसी कारणसे उस सोनेका पिपीलिक नाम था। यह बात झूठ नहीं मालूम होती, क्योंकि मेगास्थिनीज़ और सिकन्दरके साथ आये हुए ग्रीक इतिहासकारोंने इसी बातको कुछ अतिशयोक्तिके साथ लिख रखा है। "ये च्यूँटियाँ कुत्तोंके समान बड़ी होती हैं। वे सोनेके कणोंको अपने पैरोंसे घसीटकर बाहर ला रखती हैं। यदि कोई मनुष्य उस सुवर्ण-राशिको लेनेके लिए जाय तो वे उस पर आक्रमण करके उसके प्राण ले लेती हैं। अतएव लोग सिर पर कम्बल ओढ़कर, रात्रिके समय, गुप्त रीतिसे जाकर, इस सुवर्णकणकी राशिको ले आया करते हैं।" यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। परन्तु यह बात निर्विवाद है कि तिब्बतकी ओर हिमालयके समधरातल पर बिलकुल भू-पृष्ठके पास सुवर्णकण बहुतायतसे पाये जाते थे और इन कणोंको एक प्रकारके जन्तु जमीनमेंसे खोदकर ऊपर ला रखते थे। यह बात तिब्बतमें आजकल भी कई स्थानोंमें दिखाई पड़ती है। इन सुवर्ण-कणोंको तङ्गण आदि तिब्बती लोग छोटी छोटी थैलियोंमें भरकर हिन्दुस्थानमें ले आया करते थे। पर्शियन लोगोंको हिन्दुस्थानके एक हिस्सेसे जो कर दिया जाता था वह इन्हीं सुवर्णकणोंसे भरी थैलियोंमें भेजा जाता था।

यह सच है कि हिमालयके आगे और नदीकी रेतमें सुवर्णरज मिलते थे और इस तरहसे निर्मल सोना अनायास मिल जाता था। तथापि यह बात भी नीचेके श्लोकसे स्पष्ट मालूम होती है कि महाभारत-कालमें पत्थरकी खानोंसे सुवर्ण-मिश्रित पत्थरोंसे सोना निकालनेकी कला विदित थी।

अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इवकांचनम्॥
(उद्योग० ३४)

प्राचीन कालमें पत्थर तोड़कर और उसकी बुकनी बनाकर भट्टीमें गलाकर सोना निकालनेकी कला प्रसिद्ध रही होगी: अर्थात् उस जमानेमें सुनारीकी कला अच्छी उन्नत दशामें पहुँच चुकी थी। सुवर्णके तो अनेक भूषणोंका वर्णन है। परन्तु महाभारतमें तलवार, सिंहासन, चौरङ्ग, ज़िरहबख्तर आदि भिन्न भिन्न शस्त्रों पर सुवर्णके काम किये जानेका वर्णन भी पाया जाता है। बल्कि सुवर्णसे भूषित किये हुए रथ और घोड़ोंके सामानका भी वर्णन मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि सुनारीका काम बड़ी कुशलताके साथ होता था। उसी तरह लुहारोंका धन्धा भी पूर्णावस्थाको पहुँच चुका था। प्राचीन कालमें लोहेसे फौलाद बनानेकी कला भी अवगत थी। किंबहुना, उपनिषदोंमें भी फौलाद अथवा कार्ष्णायसका उल्लेख पाया जाता है। इसका उपयोग शस्त्रोंके लिए किया जाता था। नख काटनेकी छोटीसी नहरनीसे लेकर तलवारतक धारवाले हथियार फौलादके ही बनाये जाते थे। लुहार लोग तलवार, भाले, बाण, चक्र, जिरहबख्तर, बाहु-भूषण, गदा आदि लोहे और फौलादके हथियार बनाते थे। यह लोहा पूर्वके देशोंमें विशेष रीतिसे होता था, क्योंकि वहाँके लोग जो कर या नज़राना दिया करते थे उसके वर्णनमें इन हथियारोंका उल्लेख किया गया है। इसके सिवा हाथीदाँतके काम करनेवाले बहुत ही निपुण थे। लिखा है कि नाना प्रकारके कवच, हथियार, व्याघ्राम्बरसे आच्छादित एवं सुवर्ण-

जटित रथ, तथा नाराच, अर्ध नाराच आदि बाण और अन्य आयुध रखे हुए रथ, हाथीकी चित्र-विचित्र झूलें आदि द्रव्य लेकर पौर्वात्य राजाओंने युधिष्ठिरके यज्ञ-मण्डपमें प्रवेश किया (सभापर्व अ० ५२)। यह विदित ही है कि पूर्वके देशोंमें अब भी लोहेकी खानें हैं। हाथीदाँतके काम पूर्व और दक्षिणकी ओर उत्तम होते थे और इस समय भी होते हैं।

रत्न।

अब हम हीरे और मोतीके सम्बन्धमें विचार करेंगे। प्राचीन कालमें हिन्दुस्थानसे बाहर जानेवाली मूल्यवान वस्तुओंमें, सोनेकी तरह ही, रत्न और मोती भी मुख्य थे। रत्न और मोती दक्षिणी पहाड़ोंमें और सिंहलद्वीपके निकटवर्ती समुद्रमें पहले पाए जाते थे और अब भी मिलते हैं। दक्षिणके गोलकुण्डामें हीरेकी खान अबतक मशहूर है। पहले दिए हुए श्लोकके अनुसार चोल और पाण्ड्य देशोंके राजा लोग—"मणिरत्नानि भास्वन्ति" चमकनेवाले हीरे नज़राना लेकर आये थे। इसी तरह हिमालयके पूर्वी भागमें भी भिन्न भिन्न रत्न पाये जाते थे। महाभारत-कालमें ऐसा माना जाता था कि हिमालयके शेष भागोंमें रत्न नहीं मिलते। ऐसा होनेका कारण भृगुका शाप कहा जाता है (शां० अ० ३४२) और यह धारणा आज भी ठीक पाई जाती है। लिखा है कि प्राक्ज्योतिषके राजा भगदत्तने युधिष्ठिरको रत्नोंके अलङ्कार और शुद्ध हाथीदाँतकी मूठवाले खड्ग नज़र किये थे। वर्तमान आसाम ही प्राक्ज्योतिष है। यहाँ लोहे, हाथीदाँत और रत्नोंकी उपज होती थी। प्राचीन कालसे आजतक पाण्ड्य और सिंहलद्वीपके किनारे पर मोतीकी उपज होती है।

समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासंघास्तथैव च।
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन्॥

सिंहल देशसे जो नज़राने आये थे उनका वर्णन इस श्लोकमें अक्षरशः सत्य है। समुद्रसे उत्पन्न होनेवाले मोती, मूँगे और वैदूर्य जितने विख्यात हैं, उतने ही 'कुथ' भी यानी एक विशिष्ट प्रकारकी घाससे बनी हुई चटाई आजतक विख्यात है। प्राचीन कालमें हिन्दुस्थानमें हीरे आदि भिन्न भिन्न रत्नों और मोतियोंकी उपज होती थी और उनका विदेशोंमें व्यापार होता था। इस कारण उस ज़मानेमें हिन्दुस्थान सुवर्णभूमिके नामसे प्रसिद्ध हो गया था और प्रत्येक देशको इस देशके बारेमें आश्चर्य और लालसा होती थी। कई यूनानी इतिहासकारोंने लिखा है कि परदेशोंके लोग हिन्दुस्थानके मोतियोंके लिए केवल मूर्खतासे मनमाना मूल्य देते थे।

वास्तुविद्या (इमारतका काम)।

अब हम वास्तुविद्याका विचार करेंगे। इस बातका विचार करना चाहिए कि महाभारत-कालमें भिन्न भिन्न घरों और मन्दिरोंके बनानेकी कला किस स्थितिमें थी। भारती-कालमें पत्थरोंसे उत्कृष्ट काम करनेकी शिल्पकलाका उन्नत अवस्थामें होना नहीं पाया जाता। इस कलामें ग्रीक लोग बहुत ही बढ़े-चढ़े थे। जिस समय ग्रीक लोग हिन्दुस्थानमें आये उस समय उन्हें उत्तम इमारतोंका काम यहाँ दिखाई नहीं पड़ा। हिन्दुस्थानमें प्राचीन कालमें प्रायः लकड़ी और मिट्टीके मकान थे। दुर्योधनने पाण्डवोंके रहनेके लिए जो लाक्षागृह बनवानेकी आज्ञा दी थी, उसमें लकड़ी और मिट्टीकी दीवार बनानेको कहा गया था। इन दीवारोंके भीतर राल, लाख आदि ज्वालाग्राही

पदार्थ डाल दिये गये थे और ऊपरसे मिट्टी लीप दी गई थी। जब पाण्डवों सरीखे राजपुत्रोंके रहनेके लिए ऐसे घर बनानेकी आज्ञा दी गई थी तब यही बात दृढ़ होती है कि महाभारतकालमें बड़े लोगोंके घर भी मिट्टीके होते थे। पांडवोंके लिए मयासुरने जिस सभाका निर्माण किया था, उसका वर्णन पढ़नेसे वह सभा प्रायः काल्पनिक दिखाई पड़ती है। परन्तु इस तरहसे अनुमान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। मय असुर था। इससे मालूम होता है कि महाभारतकालमें लोगोंकी यही धारणा थी कि इस तरहकी बड़ी बड़ी इमारतोंके बनवानेका काम असुर अथवा पारसी और पश्चिमके यवनों द्वारा ही उत्तम रीतिसे हो सकता था। मयासुरके द्वारा बनाई हुई युधिष्ठिरकी सभाके सम्बन्धमें यह तर्क किया गया है कि, पाटलिपुत्रमें चन्द्रगुप्तके लिए एक अनेक स्तंभकी बनी हुई इमारतकी कल्पनासे सौतिने युधिष्ठिरके लिए सहस्रों स्तंभवाली इस सभाकी कल्पना कर ली होगी। हालमें पाटलिपुत्रमें खुदाईका काम करके प्राचीन इमारतों को ढूँढ़ निकालनेका जो प्रयत्न किया गया था उसमें चन्द्रगुप्तकी अनेक स्तंभवाली सभाके अवशेषका पता लगा है। बुद्धिमानोंने अनुमान किया है कि दरायस नामक पर्शियन बादशाहने पर्सिपुलिसमें जो स्तंभगृह बनवाया था, उसी नमूने और लम्बाई-चौड़ाईका सभागृह चन्द्रगुप्तने पाटलिपुत्रमें अपने लिए बनवाया था। पर्शियन बादशाहका पर्सिपुलिसमें बनवाया हुआ सभागृह आजतक ज्योंका त्यों खड़ा है। वह एक अतिशय दर्शनीय इमारत है। हमने किसी स्थानमें कहा है कि चन्द्रगुप्तने अपने साम्राज्यमें बहुतसी बातें पर्शियन साम्राज्यसे ली थीं। उसी तरह बादशाहके लिए एक प्रचण्ड सभागृह बनानेकी कल्पना भी उसे पर्शियन बादशाहके अनुकरणसे सूझी थी। दिल्लीके **दीवाने-आम**में भी यही कल्पना पाई जाती है। चन्द्रगुप्तकी इस सभाके प्रत्यक्ष उदाहरणसे महाभारतकारने कदाचित् युधिष्ठिरकी सभाकी कल्पना की हो तो असम्भव नहीं। और, जब हम देखते हैं कि उस सभाका बनानेवाला मयासुर था, तब तो उस सभाका सम्बन्ध पर्शियन बादशाहकी सभासे जा पहुँचता है। इस सभाका यहाँ संक्षिप्त वर्णन देने लायक है। "सभामें अनेक स्तंभ थे; उनमें स्थान स्थान पर सुवर्णके वृक्ष निर्मित किये गये थे। उसके चारों तरफ एक बड़ा परकोटा था। द्वार पर हीरे, मोती आदि रत्नोंके तोरण लगाये गये थे। सभाकी दीवारमें अनेक चित्र बनाये गये थे और उनमें अनेक पुतले बैठाये गये थे। सभाके भीतर एक ऐसा चमत्कार किया गया था कि सभाके बीचमें एक सरोवर बनाकर उसमें सुवर्णके कमल लगाये गये थे और कमललताके पत्ते इन्द्रनील मणिके बनाये गये थे तथा विकसित कमल पद्मरागमणिके बनाये गये थे। सरोवरमें भिन्न भिन्न प्रकारके मणियोंकी सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। उस जलके संचयमें जलके स्थानपर जमीनका भास होता था। बगलमें मणिमय शिलापट होनेके कारण पुष्करणीके किनारे खड़े होकर देखनेवालेको ऐसा मालूम होता था कि आगे भी ऐसी ही मणिमय भूमि है; परन्तु आगे जाने पर वह देखनेवाला पानीमें गिर पड़ता था (सभापर्व अ० ३)। इसके आगे यह भी वर्णन किया गया है कि जहाँ दीवारमें दरवाजा दिखाई देता था वहाँ वह नहीं था और जहाँ नहीं दिखाई देता था वहाँ दरवाजा बना रहता था। ऐसे स्थानमें दुर्योधनको भ्रम हो

गया और वह धोखा खा गया।" एक जगह स्फटिकका स्थल बनाकर उसमें यह चतुराई की गई थी कि वहाँ पानीके होनेका भास होता था। दूसरी जगह स्फटिकके एक हौज़में शंख सरीखा पानी भरा हुआ था। उसमें स्फटिकका प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण ऐसा मालूम होता था कि वहाँ पानी बिलकुल नहीं है। एक स्थानमें दीवार पर ठीक ऐसा चित्र खींचा गया था जिसमें एक सच्चा दरवाजा खुला हुआ देख पड़े। वहाँ मनुष्यका सिर टकरा जाता था। दूसरी जगह स्फटिकका दरवाजा बंद दिखाई पड़ता था, परन्तु यथार्थमें वह दरवाजा खुला था (सभापर्व अ० ४७)। यह वर्णन पर्शियन बादशाहकी पर्सिपुलिस्मवाली सभाके आधार पर नहीं किया गया है। इसकी कल्पना नहीं की जा सकती कि यह वर्णन कहाँसे लिया गया है। फिर भी निश्चयपूर्वक मालूम होता है कि ये सब बातें सम्भव हैं। यह भी कहा गया है कि इस सभाका सामान असुरोंकी सभामें लाया गया था। हिमालयके आगे बिंदुसरोवरके पास वृषपर्वा दानवकी एक बड़ी भारी सभा गिर पड़ी थी। उसमें कई प्रकारके स्तंभ, नाना प्रकारके रत्न, मंदिर रँगनेके लिए चित्र-विचित्र रंग और भिन्न भिन्न प्रकारके चूर्ण थे। इस वृषपर्व-सभाका काम समाप्त होने पर बचे हुए सामानको मयासुर अपने साथ ले आया और उसीसे उसने सभा तैयार की। चूर्ण अर्थात् चूना कई तरहका बनाया जाता है। एक प्राचीन मराठी ग्रंथमें पानी सरीखे दिखाई पड़नेवाले चूनेके बनानेकी युक्ति लिखी है। हमें तो युधिष्ठिरकी सभाकी सब बातें सम्भव मालूम होती हैं। यह स्पष्ट कहा गया है कि उसके बनानेवाले कारीगर पर्शियन देशके, अर्थात् असुर, थे। इस बातका प्रत्यक्ष अनुमान करनेके लिए साधन नहीं है कि महाभारत-कालके पहलेकी इमारतें, पत्थरके पुतले आदि कैसे बनाये जाते थे और तत्कालीन शिल्पकला कहाँतक उन्नत दशाको पहुँच चुकी थी।

व्यापार।

उद्योग-धंधोंका विचार हो जानेपर अब हमें व्यापारका विचार करना चाहिए। पूर्व कालसे वैश्य लोग व्यापारका काम करते थे और अब भी वे करते हैं। भगवद्गीतामें कहा गया है कि वैश्योंका काम वाणिज्यभी है। भिन्न भिन्न देशोंसे भिन्न भिन्न वस्तुओंको खरीदकर लाने और यहाँकी वस्तुको परदेश ले जाने आदिके लाभदायक कामोंको बहुतेरे वैश्य करते थे और खेती तथा गौरक्षाके धंधोंको भी वे ही करते थे: परन्तु अब वैश्य लोगोंने इन्हें छोड़ दिया है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि हिन्दुस्थानके ही किसी दूसरे भागमें माल लाने-ले जानेके साधन पूर्व कालमें बैलोंके टाँड़े थे। महाभारतमें एक दो स्थानों पर गोमी (बंजारे) लोगोंके हजारों बैलोंके टाँड़ोंका वर्णन किया गया है। ये गोमी लोग किसी राजाकी अमलदारीके अधीन नहीं रहते थे। जंगलोंमें रहनेकी आदत होनेके कारण वे मज़बूत और स्वतंत्र वृत्तिके होते थे। और इसी सबबसे वे कभी कभी राजा लोगोंको कष्ट भी दिया करते थे। महाभारतमें एक जगह कहा गया है कि राजा लोगोंको ध्यान रखना चाहिए क्योंकि इन गोमी लोगोंसे उन्हें भय है। वे कभी कभी लूटमार भी करते थे। उनके द्वारा माल भेजनेमें कभी कभी धोखा भी होता था। महाभारतमें कहा गया है कि राजाओंको राज्यके मार्गोंको सुरक्षित रखनेकी खबरदारी रखनी चाहिए। यह निर्विवाद है कि खुश्कीकी

राहकी तरह मालका लाना-ले जाना नदी और समुद्रके द्वारा भी होता था। इसका बहुत वर्णन नहीं है, परन्तु महाभारतके अनन्तरकी मनुस्मृतिमें समुद्रके द्वारा माल लाने-ले जानेके सम्बन्धमें विस्तारपूर्वक वर्णन है। समुद्रके द्वारा माल भेजनेमें बड़ा धोखा रहता है। अतएव ऐसी स्थिति-में समुद्रके पार-देशोंमें माल भेजते समय उसके सम्बन्धमें दिये हुए कर्जके ब्याजके बारेमें मनुस्मृतिकी आज्ञा है कि सदैवकी अपेक्षा अधिक ब्याज लेना चाहिए क्योंकि ऐसे व्यापारोंमें डर भी अधिक है और लाभ भी। यह पहले बतलाया जा चुका है कि सदैवके ब्याजकी दर प्रतिमास फी सैंकड़े एक रुपया थी। इस वर्णनसे सिद्ध होता है कि महाभारत-कालमें समुद्र-पारके देशोंसे व्यापार होता था।

महाभारतकालीन देनलेनका विचार करनेसे अनुमान होता है कि इस सम्बन्धमें लिखापढ़ी भी की जाती थी। यूनानियोंने लिखा है कि हिन्दुस्थानके लोग दस्तावेजों पर साक्षी अथवा मुहर नहीं कराते। अतएव लिखापढ़ी तो अवश्य होती रही होगी। ब्याज-बट्टेका काम करना ब्राह्मणोंके लिए निन्द्य समझा जाता था। क्योंकि यह स्पष्ट है कि ऐसे मनुष्योंको निर्दय होना पड़ता है। व्यापारकी वस्तुओंमें बारीक सूती और रेशमी कपड़े, रत्न, हीरे, पुखराज, माणिक और मोती थे। परन्तु इसका वर्णन नहीं है कि इनके सिवा सुगन्धित मसालोंके पदार्थ भी व्यापारमें आते थे और विदेशोंमें जाते थे अथवा नहीं। आजकल पाश्चात्य देशोंमें इन्हीं पदार्थोंके बारेमें हिन्दुस्थानकी बड़ी ख्याति है, परन्तु महाभारतमें उनके उल्लेख होनेका प्रसङ्ग नहीं आया। इतिहाससे मालूम होता है कि महाभारत-कालमें भी पश्चिमी किनारेसे ग्रीक और अरब लोगोंका व्यापार होता था। इससे यह मान लेने-में कोई हर्ज नहीं कि प्राचीन कालमें भी इन वस्तुओंका व्यापार होता था। अनाज विदेशोंको नहीं भेजा जाता होगा, क्योंकि पहले तो उसके सस्ते होनेके कारण उसको ले जानेके लायक प्राचीन कालमें बड़े बड़े जहाज न थे; और फिर अन्य देशोंमें उसकी आवश्यकता भी न थी। सभी जगहोंमें लोक-संख्या कम होनेके कारण प्रत्येक देशमें आवश्यकताके अनु-रूप अनाजकी उपज होती ही थी। इसके सिवा हिन्दुस्थानमें भी जङ्गल बहुत थे; अतएव केवल आवश्यकताके अनुसार अनाज उत्पन्न होता होगा। यहाँसे आज-कलकी तरह अनाज अथवा अन्य कच्चा माल नहीं भेजा जाता था। प्राचीन हिन्दु-स्थान कच्चे मालका निर्गत न कर पक्का माल ही बाहर भेजता रहा होगा। बल्कि यह स्थिति सभी देशोंकी थी॥

हिन्दुस्थानमें दास अथवा गुलाम नहीं थे।

अब खेतीके सम्बन्धमें कुछ और विचार किया जायगा। यह एक महत्व-का प्रश्न है कि पूर्व कालमें दास थे या नहीं। प्राचीन कालमें शारीरिक परिश्रम-के काम बहुधा दासोंसे करानेकी प्रथा सभी देशोंमें थी। उसी तरह कदाचित् वैदिक कालमें हिन्दुस्थानमें भी थी। लड़ाईमें जीते हुए लोग ही दास होते थे। वैदिक कालमें यहाँके मूल निवासियों-को दास कहा है; और ये लोग जीते ही गये थे। अन्तमें इसी वर्गका शूद्र वर्ण बना और शूद्रोंका विशिष्ट धन्धा जेता आर्यों अर्थात् त्रिवर्णकी सेवा करना निश्चित हुआ। भगवद्गीतामें "परिचर्या-त्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।" कहा गया है। इसके सिवा, भारती-युद्ध कालमें

मालूम होता है कि, जीते जाने पर आर्य लोग भी दास होते थे। चाहे यह जीतना युद्धमें हो अथवा द्यूतमें। द्यूतमें जीतना इस प्रकार होता था कि जब कोई आदमी स्वयं अपनेको दाँव पर लगाकर हार जाता तो दास बन जाता था। जब पाण्डव स्वयं अपनेको दाँव पर लगाकर हार गये तब वे दुर्योधनके दास हो गये। इस तरहके दाँव लगानेकी प्रथा महाभारत-कालमें भी रही होगी। क्योंकि मृच्छकटिकमें भी ऐसा होनेका वर्णन है। युद्धमें जीतकर शत्रुको मार डालनेकी अपेक्षा उसे दास बना लेनेकी प्रथा बहुत कम रही होगी। वन पर्वमें कथा है कि भीम जयद्रथको जीतकर और बाँधकर लाया और यह संदेशा भेजा—"द्रौपदीको खबर दे दो कि इसे पाण्डवोंने दास बना लिया है" (वन पर्व अ० २७२) अर्थात् इस तरहसे दास बनानेका उदाहरण कभी कभी होता था। 'कभी कभी' कहनेका कारण यह है कि आर्य लोगोंमें अपने ही भाई-बन्धुओंको इस तरह दास बनानेकी चाह अथवा इच्छा न रही होगी। दास होने पर सब प्रकारके सेवा-कर्म तो करने ही पड़ते थे, परन्तु उसकी स्वतन्त्रता भी चली जाती थी। बल्कि उसका वर्ण और जाति भी भ्रष्ट हो जाती थी। द्रौपदीका दासी हो चुकना मान लेने पर यह समझा गया कि उसके साथ मनमाना, लौंडीकी तरह भी, व्यवहार करनेका हक प्राप्त हो गया है। अर्थात् क्षत्रिय लोगोंको तथा समस्त आर्य लोगोंको दास बनानेकी प्रथा भारती-युद्ध-कालमें भी नहीं दिखाई देती। क्योंकि दोनों प्रसङ्गोंमें ये पराजित आर्य क्षत्रिय दासत्वसे मुक्त कर छोड़ दिये गये हैं। इससे मालूम होता है कि भारती युद्ध-कालमें, युद्धके कड़े नियमोंके कहीं कहीं प्रचलित रहने पर भी, वे धीरे धीरे बन्द होते गये। तात्पर्य, पाश्चात्य देशोंकी तरह, परदेश अथवा स्वदेशके भी लोगोंको जीतकर, दास अथवा गुलाम बनानेकी प्रथा महाभारत-कालमें हिन्दुस्थानमें नहीं थी।

उस ज़मानेमें यह प्रथा ग्रीस, रोम, ईजिप्ट आदि देशोंमें प्रचलित थी। उन देशोंके इतिहासको पढ़नेसे हमें खेदके साथ साथ आश्चर्य भी होता है कि आज उत्तम दशामें रहनेवाले हजारों स्त्री-पुरुष, पराजित होनेके कारण, कल भयङ्कर दासत्व अथवा गुलामीमें कैसे पड़ जाते थे। किसी शहर पर आक्रमण होने पर यह नियम था कि जब शहर पराजित और हस्तगत हो जाय तब वहाँके लड़नेवाले पुरुष कत्ल कर दिये जायँ और उनकी सुन्दर स्त्रियाँ गुलामीमें रखी जायँ। होमरमें बार बार ऐसा ही वर्णन है और ग्रीक लोग अपने वीरोंको यह कहकर प्रोत्साहन देते हैं कि तुम्हारे उपभोग करनेके लिए ट्रायमें सुन्दर स्त्रियाँ मिलेंगी। यह बात महाभारत कालमें हिन्दुस्थानमें बिलकुल न थी। पाश्चात्य देशोंकी तरह, हिन्दुस्थानमें गुलामीकी प्रथा न पाकर यूनानियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने इस बातको अपने ग्रन्थोंमें लिख भी डाला है। "हिन्दुस्थानके लोग अपने देशके अथवा परदेशके लोगोंको दास या गुलाम नहीं बनाते।" यूनानी इतिहासकारोंने लिखा है कि हिन्दुस्थानी स्वयं स्वतन्त्र थे; अतएव दूसरोंकी स्वतन्त्रताका हरण करनेकी इच्छा उनमें बिलकुल न थी। इस दुहरे प्रमाणसे भी सिद्ध होता है कि महाभारत कालमें दास अथवा गुलाम नहीं थे।*

* नीचेके श्लोकमें दास अथवा गुलामका उल्लेख मालूम होता है:—

महाभारत-कालमें दासका निश्चित-अर्थ शूद्र मालूम होता है। "गौर्वोढारं धावितारं तुरंगी शूद्री दासं ब्राह्मणी याचकं च"—गायका बछड़ा होगा तो उसे बोझ ही ढोना पड़ेगा, घोड़ीका बच्चा होगा तो उसे दौड़ना पड़ेगा, शूद्र स्त्रीके पुत्र हो तो दास बनना पड़ेगा और ब्राह्मणीका पुत्र होगा तो उसे भीख ही माँगना पड़ेगा। इस श्लोकमें जिस मर्मका वर्णन है वह बड़ा ही मजेदार है। अस्तु; इससे दासका अर्थ शूद्र ही मालूम होता है और शूद्रका निश्चित काम परिचर्या करना ही माना गया था। परन्तु यह नहीं था कि सभी शूद्र सेवा करते थे। जैसे सभी ब्राह्मण भिक्षा नहीं माँगते थे वैसे ही सभी शूद्र दास नहीं थे। बहुतेरे स्वतंत्र धंधोंमें लगकर अपना पेट भरते थे और उनके पास द्रव्यका संचय भी होता था। वे श्राद्धादि कर्म करनेके भी योग्य समझे जाते थे और दान भी करते थे। परन्तु उन्हें तप करनेका अधिकार न था। सब शूद्र दास नहीं थे, परन्तु यह सच है कि सब दास शूद्र थे। सभी ब्राह्मण भीख नहीं माँगते थे, परन्तु सभी भीख माँगनेवाले ब्राह्मण थे। अर्थात्, जैसे भीख माँगने का अधिकार ब्राह्मणोंको ही था, वैसे ही सभी दास शूद्र होते थे। मालूम होता है कि महाभारत-कालमें शूद्रोंके सिवा दूसरोंसे नौकरीके काम नहीं लिये जाते थे। यह तो कलियुगकी भयानक लीला है कि ब्राह्मण शूद्रोंका काम करने लग जायँ। ऐसे शूद्रोंकी भी हैसियत पाश्चात्य देशोंके दासोंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ थी। स्वामीको उन्हें मारने-पीटनेका हक न था। परन्तु पाश्चात्य देशोंमें तो उनके प्राण ले लेनेतकका भी हक था। बल्कि यह कहना झूठ न होगा कि यहाँ दास ही न थे। महाभारतमें यहाँ-तक नियम बतलाया गया है कि घरके नौकरोंको अन्न देकर फिर स्वयं भोजन करना चाहिए। पुराने वस्त्र शूद्रको दे देनेका नियम था। इसी तरहसे पुराने जूते, छाते, परदे आदि दे दिये जाते थे। यह बात केवल दासके ही लिए उपयुक्त है कि शूद्रको द्रव्य संचय करनेका अधिकार नहीं, अर्थात् उसका द्रव्य मालिकका ही है। ब्राह्मणोंके पास शूद्रके आने पर उन्हें उसका पोषण करना ही पड़ता था। बल्कि यहाँतक कहा गया है कि यदि वह दास बिना सन्तानके मर जाय तो उसे पिण्ड भी देना चाहिए (शां० अ० ६०)। यदि शूद्र दास न हो तो ऐसा वर्णन है कि, वह अमंत्रक पाकयज्ञ करे। अर्थात्, दास्यका स्वरूप शूद्रकी परिस्थितिका बिलकुल न होता था तथापि दास्य दास्य ही है। सप्तर्षिकी कथा (अनु० अ० ९३) में उनका शूद्र-सेवक शपथ लेते समय कहता है कि—"यदि मैंने चोरी की हो तो मुझे बारबार दासका ही जन्म मिले।" घरके शूद्र-सेवकों और दासोंको कुछ भी वेतन नहीं दिया जाता था—उन्हें अन्न-वस्त्र देना ही वेतन देना था।

ऐसे शूद्र दासोंके सिवा अन्य मज़दूर और भिन्न भिन्न धन्धेवाले शिल्पी भी अवश्य रहे होंगे। मछुए, जुलाहे, बढ़ई आदि कारीगर भी रहे होंगे। इसका खुलासा नहीं मिलता कि इन्हें क्या वेतन दिया जाता था। बहुधा खेतोंके कामोंमें मजदूरोंका उपयोग नहीं होता था। महाभारत-कालमें खेती करनेवाले स्वयं आर्य

मनुषा मानुषानेव दासभावेन भजते।
वधबंधनिरोधेन कारयंति दिवानिशम ॥
(शान्ति० अ० २६२-३८)

इस वर्णनसे ऐसा मालूम होता है कि भारती आर्योंको गुलामीसे घृणा थी और इसी कारण उनमें इस प्रथाका अन्त हो गया।

वैश्य ही थे। इन्हीं लोगोंमेंसे आजकलके जाट और दक्षिणके कृषक मराठे भी हैं। ये वैश्य, शूद्र दासोंकी मददसे, खेतोंके सब काम करते थे। आजकल वैश्य लोग स्वयं खेतीका काम नहीं करते, इसलिए यह धन्धा सबसे अधिक शूद्रोंके हाथोंमें चला गया है। तथापि खेती करनेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय (अनुलोम वृत्तिके द्वारा) अब भी उत्तर तथा दक्षिण देशोंमें पाये जाते हैं।

संघ।

निश्चयपूर्वक मालूम होता है कि महाभारत-कालमें व्यापारी वैश्यों तथा कारीगरीका काम करनेवाले शूद्रों अथवा मिश्र जातियोंमें कहीं कहीं संघकी व्यवस्था थी। इन लोगोंके संघोंका नाम गण अथवा श्रेणी देख पड़ता है। इन गणोंके मुखिया होते थे। राजधर्ममें कहा गया है कि इन लोगों पर कर लगाते समय श्रेणीके मुखिया लोगोंको बुलाकर उनका सम्मान करना चाहिए। ऐसे संघोंको राजासे द्रव्य द्वारा सहायता मिलनेका प्रबन्ध था। कहा गया है कि राजा राष्ट्रको व्याजपर द्रव्य दे और राष्ट्रकी वृद्धि करे। प्राचीन शिलालेखोंमें ऐसे संघोंका उल्लेख बहुत पाया जाता है। ये संघ बहुत बड़े नहीं होते थे—ये राष्ट्रके, शहरके अथवा गाँवके एक ही धन्धेवाले लोगोंके ही होते थे और उनके मुखिया नियत रहते थे।

तौल और माप।

अब हम तौल और मापका विचार करेंगे। अनाजकी मुख्य तौल—मुष्टि—का वर्णन महाभारतमें कई स्थानों पर आया है। इसीका नाम प्रस्थ था। शां० अ० ६० में कहा गया है कि दो सौ छप्पन मुष्टिका एक पूर्णपात्र होता है।* इस तरह धान्यकी बड़ी तौल द्रोण था। यह नहीं बतलाया जा सकता कि द्रोणका और आजकलके मनका कैसा सम्बन्ध है। कौटिल्यका अर्थशास्त्र हालमें ही प्रकाशित हुआ है। उसमें वजन और तौल दिये हुए हैं। यद्यपि इनका उल्लेख महाभारतमें नहीं है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि ये उस ज़मानेमें नहीं थे। यह मामूली बात है कि प्रसङ्गके न आनेसे उल्लेख भी नहीं होता। जब कि सोना, चाँदी धातुका चलन था तब वजनकी छोटी तौल अवश्य ही होगी। रत्नोंकी बिक्री होनेके कारण सूक्ष्मतर बाटोंकी आवश्यकता भी अवश्य रही होगी। इसके सिवा बड़े पदार्थोंकी भी तौल थी और द्रोण अन्नकी तौल था। युधिष्ठिरके यज्ञमें वर्णन है कि उत्तरके लोगोंने द्रोणमेय सोना लाकर दिया था। कदाचित् यह सुवर्णकणोंका हो और द्रोण मापसे नापा गया हो। लम्बाईके माप किष्क, धनुष्य, योजन आदि हैं। हाथकी उँगलियोंसे मालूम होनेवाले ताल, वितस्ति आदि भिन्न भिन्न मापोंका भी उल्लेख महाभारतमें आया है (मासतालाभिः भेरीरकारयत्—सभा: बारह वित्तोंके परिमाणसे भेरी बनाई गई)।

* अष्टमुष्टिर्भवेत् किञ्चित् किञ्चिदष्टौ च पुष्कलम्।
पुष्कलानि च चत्वारि पूर्णपात्रं प्रचक्षते॥
यह श्लोक टीकामें दिया हुआ है। (३८)

बारहवाँ प्रकरण।

भूगोलिक ज्ञान।

अब इस प्रकरणमें हम इस विषयका वर्णन करेंगे कि, महाभारत-कालमें भारतवर्षके लोगोंका भूगोलिक ज्ञान कितना था। महाभारतके अनेक वर्णनोंसे हमें यह मालूम होता है कि, इस कालमें, अर्थात् ई० सन् पूर्व लगभग २५० वर्ष, भारतवर्षका सम्पूर्ण ज्ञान था। ग्रीक लोगोंके वृत्तान्तसे भी यही जान पड़ता है। पञ्जाबमें आये हुए सिकन्दरको कन्याकुमारीतकके देशोंका, लम्बाई-चौड़ाई सहित, पक्का ज्ञान प्राप्त हो गया था: और कनिंगहमने स्वीकार किया है कि यह ज्ञान बिलकुल ठीक यानी वास्तविक दशाके अनुकूल था। इसके विरुद्ध अनेक लोग अनुमान करते हैं: पर वह गलत है। महाभारतसे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि, इसके पहले, अर्थात् भारतीय युद्ध-कालमें, आर्योंको भारतवर्षका कितना ज्ञान था। महाभारत-कालमें न केवल भारतवर्षका सम्पूर्ण ज्ञान था, बल्कि आसपासके देशोंकी, अर्थात् चीन, तिब्बत, ईरान इत्यादि देशोंकी भी बहुत कुछ जानकारी थी। यह उनको जानकारी प्रत्यक्ष होगी। हाँ, सम्पूर्ण पृथ्वीके विषयमें उन्होंने जो कल्पना की थी, सो अवश्य ही प्रत्यक्ष ज्ञानसे नहीं की थी, किन्तु केवल अपनी कल्पनाके तरङ्गोंसे निश्चित की थी। आजकल जो वास्तविक दशा है, उसके वह अनुकूल नहीं है। प्राचीन कालके लोगोंको सम्पूर्ण पृथ्वीका ज्ञान होना सम्भव भी नहीं था। महाभारतके भीष्म पर्वमें और अन्य जगह, विशेषतः भिन्न भिन्न तीर्थ-यात्राओंके वर्णनसे और दिग्विजयोंके वर्णनसे जो भूगोलिक ज्ञान अथवा कल्पना आर्योंकी जानी जाती है, उसका हम यहाँ पर विस्तारसे वर्णन करते हैं।

जम्बूद्वीपके वर्ष।

पहले हम इस बातका विचार करेंगे कि, उस समय पृथ्वीके सम्बन्धमें क्या कल्पना थी। यह वर्णन मुख्यतः भीष्मपर्वके अध्याय ५-६-७-८ में है। प्राचीन कालमें यह कल्पना थी कि पृथ्वीके सात द्वीप हैं। सातों द्वीपोंके नाम महाभारतमें हैं: और यह स्पष्ट कहा गया है कि द्वीप सात हैं। इनमें मुख्य जम्बू द्वीप अथवा सुदर्शन द्वीप है, जिसमें हम लोग रहते हैं। यह द्वीप गोल अथवा चक्राकार है और चारों ओर लवण-समुद्रसे घिरा हुआ है। जैसा कि, अन्यत्र नकशेमें दिखलाया गया है, इसके सात वर्ष अथवा भाग किये हुए हैं। बिलकुल नीचेका यानी दक्षिण ओरका भाग भारतवर्ष है। इसके उत्तरमें हिमालय पर्वत है। हिमालय पर्वतके सिरे पूर्व-पश्चिम समुद्रमें डूबे हुए हैं। हिमालय पर्वतके उत्तरमें हैमवत-वर्ष है: और उसके उत्तरमें हेमकूट पर्वतकी श्रेणी है। यह श्रेणी भी पूर्व-पश्चिम समुद्रतक फैली हुई है। इसके उत्तर ओर, कितने ही हजार योजनोंके बाद, निषध पर्वतकी श्रेणी पूर्व-पश्चिम समुद्रतक फैली हुई है। यहाँतकका ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा सुनकर महाभारतकालमें था। क्योंकि यह स्पष्ट है कि, इन तीन पर्वतोंकी श्रेणियाँ हिमालय, केनलन् (काराकोरम) और अलताई नामक पर्वतोंकी पूर्व-पश्चिम श्रेणियाँ हैं। महाप्रस्थानिक पर्वमें यह वर्णन है कि, जिस समय पांडव हिमालयके उत्तरमें गये, उस समय उन्हें बालुकामय समुद्र मिला। यह समुद्र गोबीका रेगिस्तान है। ये तीन श्रेणियाँ अवश्य ही
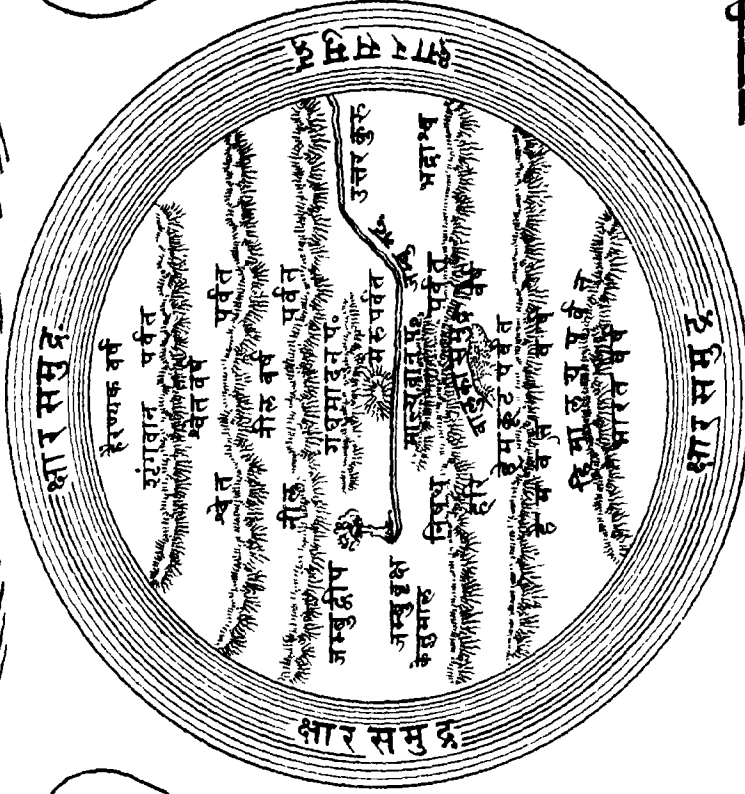
जम्बुद्वीपका नकशा.

पुना लिथो वर्क्स, ६८१ सदाशिव पुणें.

जानकारीसे लिखी गई हैं। हेमकूट और निषध पर्वतके बीचके भागको हरिवर्ष कहते थे। हरिवर्षमें जापान, मङ्गोलिया, तुर्किस्तान, रूस, जर्मनी, इङ्गलैंड इत्यादि देशोंका समावेश होता है। हैमवत वर्षमें चीन, तिब्बत, ईरान, ग्रीस, इटली, इत्यादि देश होंगे। महाभारतसे जान पड़ता है कि इनका ज्ञान भारतवासियोंको था।

हाँ, अब इसके आगे जो वर्णन दिया हुआ है, वह अवश्य ही काल्पनिक हो सकता है। निषधके उत्तर ओर मध्यमें मेरु पर्वत है; और मेरुके उत्तर ओर फिर तीन श्रेणियाँ नील, श्वेत और शृङ्गवान् नामक, दक्षिणकी पंक्तियोंकी भाँति ही, पूर्व-पश्चिम समुद्रोंतक फैली हुई मानी गई हैं। इनका वास्तविक दशासे मेल नहीं मिलता। यह भी स्पष्ट है कि, ८४ सहस्र योजन ऊंचा सुवर्णका मेरु पर्वत काल्पनिक है। उत्तर ध्रुवकी जगह यदि मेरुकी कल्पना की जाय, तो मेरुके उत्तर ओर, अर्थात् अमेरिका खण्डमें पूर्व-पश्चिम पर्वतोंकी श्रेणियाँ नहीं हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि नील, श्वेत और शृङ्गवान् पर्वतोंकी श्रेणियाँ काल्पनिक हैं। प्राचीन लोगोंने यह कल्पना की है कि दक्षिण ओरकी श्रेणियोंकी भाँति ही, उत्तर ओरकी श्रेणियाँ होंगी। इस मेरु पर्वतके दो तरफ माल्यवान् और गन्धमादन नामकी दो छोटी श्रेणियाँ, उत्तर-दक्षिणकी ओर, कल्पित की गई हैं। नील पर्वत श्वेतपर्वत और शृंगवान् पर्वतके उत्तर ओरके प्रदेशको नीलवर्ष, श्वेतवर्ष और हैरण्यक अथवा ऐरावतवर्ष नाम दिये गये हैं। मेरुपर्वतके चारों ओर चार अति पुण्यवान् प्रदेश उत्तर कुरु, भद्राश्व, केतुमाल और जम्बूद्वीप नामक कल्पित किये गये हैं। इन प्रदेशोंके लोग अत्यन्त सुखी, सुन्दर और दस हजार वर्षकी आयुके होते हैं। वे पुण्यवान् और तपस्वी हैं। इसके सिवा उनके विषयमें यह भी कल्पना है कि, उत्तरोत्तर सात वर्षों या भागोंमें अधिकाधिक पुण्य, आयु, धर्म और काम है। यह कल्पना की गई है कि किमवान् पर्वत पर राक्षस, हेमकूट पर गुह्य, निषध पर सर्प, श्वेत पर देवता और नील पर ब्रह्मर्षि रहते हैं। जम्बू द्वीपमें एक बहुत बड़ा जम्बूवृक्ष अर्थात् जामुनका पेड़ है, जो सब काम पूर्ण करनेवाला है। इसकी ऊँचाई ११०१ योजन है। इसके बड़े बड़े फल जमीन पर गिरते हैं। उनसे शुभ्र रसकी एक नदी निकलती है, जो मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा करती हुई उत्तर कुरुमें चली जाती है। इस मीठे जम्बु-रसको पीकर लोगोंका मन शान्त हो जाता है और वे भूख-प्याससे रहित हो जाते हैं। इस रससे इन्द्रगोपकी तरह चमकदार जाम्बूनद नामक सुवर्ण उत्पन्न होता है। देवता लोग इस सुवर्णके आभूषण पहनते हैं (भीष्मपर्व)। उपर्युक्त वर्णनसे पाठकोंको यह मालूम हो जायगा कि हमारे इस द्वीपको जम्बूद्वीप क्यों कहते हैं। इसके सिवा, यह भी पाठकोंके ध्यानमें आ जायगा कि जाम्बुनद शब्दका—लाल रङ्गका सोना—यह अर्थ क्योंकर हुआ है। मेरुके आस-पासके प्रदेशमें, आजकलके हिसाबसे साइबेरिया और कनाडा प्रान्तोंका समावेश होता है। इन प्रान्तोंमें आजकल भी सोना पृथ्वीके पृष्ठ भाग पर फैला हुआ मिलता है। साइबेरियाकी नदियोंसे बहुत सुवर्णकण बहकर आते हैं। इससे जान पड़ता है कि, इस प्रदेशकी कल्पना केवल मस्तिष्कसे ही नहीं निकाली गई है, किन्तु उसके लिए प्रत्यक्ष स्थितिका भी कुछ आधार है। इसके सिवा, लोकमान्य तिलकके मतानुसार आर्योंका मूल निवास यदि उत्तर ध्रुवके प्रदेशमें था, तो कहना

पड़ता है कि उत्तर कुरु, भद्राश्व, केतुमाल और जाम्बुनद देशोंके पुण्यवान्, सुखी और दीर्घायु लोगोंका जो अतिशयोक्तियुक्त वर्णन है, उस वर्णनके लिए कुछ न कुछ दन्तकथा अथवा पूर्व-स्मृतिका आधार अवश्य होगा। यह माना जा सकता है कि 'आर्योंके पूर्वज उत्तर ध्रुवके प्रदेशमें थे'-इस सिद्धान्तको पुष्ट करनेवाला उत्तरकुरु शब्द भी है। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि आर्योंके मुख्य कुरु लोगोंकी, उत्तर ओरकी मूल भूमि उत्तरकुरु है; और उसका स्थान महाभारतकालमें लोगोंकी कल्पनामें मेरु पर्वतके पास अर्थात् उत्तर ध्रुवके पास था।

अन्य द्वीप।

हम लोग जिस द्वीपमें रहते हैं उस जम्बूद्वीपका, महाभारत-कालमें प्रचलित मतके अनुसार, यहाँतक वर्णन किया गया। शेष छः द्वीपोंका वर्णन महाभारतके भिन्न भिन्न अध्यायोंमें किया गया है। तथापि "सप्तद्वीपा वसुन्धरा" यह वाक्य संस्कृत साहित्यमें प्रसिद्ध है। ये छः द्वीप जम्बूद्वीपके किस ओर और कैसे थे, इसका वर्णन महाभारतमें विस्तृत रीतिसे कहीं नहीं पाया जाता। इस विषयमें कुछ गूढ़ार्थके श्लोक महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय ६ के अन्तमें हैं। उनका अनुवाद यह है:—"हे राजा, तूने मुझसे जिस दिव्य शशाकृति भागका वर्णन पूछा था वह मैंने तुझसे यहाँतक बतलाया। इस शशाकृतिके दक्षिण और उत्तर ओर भारत और ऐरावत, ये दो वर्ष मैंने तुझको बतलाये ही हैं। अब यह समझ कि नाग और काश्यप, ये दो द्वीप, इस शशकके दोनों कर्णोंके स्थानमें हैं; और हे राजा, वह रमणीय मलय-पर्वत, जिसकी शिलाएँ ताम्रपत्रके समान हैं, इस शशाकृति द्वीपके दूसरे आधे भागमें दिखाई पड़ता है।" इन श्लोकोंमें वर्णित शशाकृति कौनसी है, और शशाकृति कौन सी है, यह बिलकुल ही समझमें नहीं आता। इसका भी उल्लेख नहीं कि, मलय-पर्वत कौनसा है। शशाकृति-द्वीप कौन सा है, और उसका दूसरा अर्धभाग कौनसा है, इसका भी बोध नहीं होता। पिछले अध्यायके अन्तिम श्लोकमें लिखा है कि सुदर्शनद्वीप चन्द्रमण्डलकी जगह सूक्ष्म-रूपसे प्रतिबिम्बित दिखाई देता है; उसके एक भाग पर संसाररूपी पीपल दिखाई देता है; और दूसरे आधे भाग पर शीघ्रगामी—शशकरूपसे परमात्मा दिखाई देता है। ये श्लोक भी कूट ही हैं। जो हो, इन दोनों अध्यायोंसे प्रकट होता है कि तीन द्वीपोंके नाम ऐरावतद्वीप, नागद्वीप, और काश्यपद्वीप थे। उनमें नागद्वीप और काश्यपद्वीप शशकके कानोंकी जगह दिखलाये गये हैं। इससे हमने नागद्वीप और काश्यपद्वीपको गोल चक्राकार न मानते हुए शशकके कानोंके समान लम्बे आकारमें जम्बूद्वीपके दोनों ओर नकशेमें दिखलाया है। इसके बाद हमने मलयद्वीपको, एक मलयपर्वतके नामसे मानकर, पृथ्वीके दूसरे आधे भागमें अर्थात् जम्बूद्वीपके दक्षिण दिखलाया है। पर यह कल्पना महाभारत-कालमें थी कि जैसे पृथ्वी पर सात द्वीप हैं वैसे ही सात समुद्र भी हैं। आजकल भी हम "सात समुद्र पार" कहा करते हैं। पीत समुद्र, लाल समुद्र, काला समुद्र, सफेद समुद्र—ये चार समुद्र आजकल नकशेमें हैं। सूर्यकी किरणें भी सात रङ्गोंकी हैं; परन्तु पूर्व कालमें समुद्रोंकी कल्पना रङ्गों पर न थी। किन्तु लवण समुद्र, क्षीर समुद्र, दधि समुद्र इत्यादि प्रकारकी थी। अब महा-

भारतमें इसकी कल्पना बहुत अस्पष्ट है कि उक्त समुद्र कहा है। हाँ, एक जगह यह अवश्य लिखा है कि जम्बूद्वीपके चारों ओर समुद्र खारा है। रामायणमें ऐसी कल्पना है कि जम्बूद्वीपके दक्षिण ओर खारा समुद्र है और उत्तर ओर क्षीर समुद्र है। अच्छा, अब हम यह बतलाते हैं कि महाभारतमें अगले अध्यायोंमें इसकी कल्पना और द्वीप-सम्बन्धी कल्पना कैसी है।

सम्पूर्ण भूवर्णन हो जाने पर ग्यारहवें अध्यायमें भीष्म पर्वमें द्वीपोंका वर्णन फिर दिया हुआ है। उसमें पहले यह कहा है कि पृथ्वी पर **अनेक** द्वीप हैं। यह नहीं कि सात ही द्वीप हैं; परन्तु सात द्वीप मुख्य हैं*। यहाँ पर यह नहीं बतलाया गया कि सात द्वीप कौनसे हैं। तथापि प्रारम्भमें तीन द्वीप बतलाये हैं; और फिर यहाँ चार और बतला दिये हैं—शाक, कुश, शाल्वलि और क्रौंच। पहले तीन द्वीप अर्थात् जम्बू, काश्यप, और नागको मिलाकर कुल सात द्वीप समझने चाहिएँ। शाकद्वीपका वर्णन बहुत ही विस्तृत रीतिसे दिया हुआ है। शाकद्वीप जम्बूद्वीपसे दुगुना है: और उसके आसपास क्षीरसमुद्र है। यहाँ पर यह नहीं बतलाया गया कि यह द्वीप जम्बूद्वीपके किस ओर है। परन्तु यह शायद उत्तर ओर होगा। इसमें भी जम्बूद्वीपकी भाँति सात पर्वत हैं; और उतनी ही तथा वैसी ही नदियाँ हैं। मलय और रैवतक, ये दो नाम भारतवर्षके नामोंकी ही भाँति हैं। यहाँके लोग अत्यन्त पुण्यवान् होते हैं। अन्य द्वीपोंमें गौर वर्ण और अर्धगौर वर्ण तथा **श्याम वर्णके** लोग होते हैं, पर यहाँ सभी लोग श्याम वर्णके हैं। यह बात यहाँ खास तौर पर बतलाई गई है। इस द्वीपके भी सात वर्ष, अर्थात् खण्ड, हुए हैं: और यहाँ भी जम्बू वृक्षके समान एक बड़ा शाक वृक्ष है, जिसकी ऊँचाई और मोटाई जम्बू वृक्षके समान ही है। यहाँके लोग इस वृक्षकी सेवामें लगे रहते हैं। यहाँ नदियोंका जल बहुत पवित्र है—प्रत्यक्ष गङ्गा अनेक रूपसे बहती है। इस द्वीपमें चार पवित्र और लोकमान्य देश हैं—मग, मशक, मानस और मंदग। इनमेंसे मग ब्राह्मण हैं जो ब्रह्मकर्ममें निमग्न रहते हैं। मशकमें धर्मनिष्ठ क्षत्रिय रहते हैं। मानसके सब निवासी वैश्य वृत्तिसे उपजीविका करते हैं; और मन्दगमें धर्मशील शूद्र रहते हैं। यहाँ कोई राजा नहीं है। सब अपने अपने धर्मसे चलकर एक दूसरेकी रक्षा करते हैं।

उपर्युक्त वर्णन प्रायः काल्पनिक है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। वह जम्बूद्वीपके वर्णनसे और कुछ बातोंमें अतिशयोक्ति करके लिखा गया है। पर आश्चर्यकी बात है कि इस वर्णनमें लोगोंके जो नाम दिये हुए हैं, वे सच्चे और ऐतिहासिक हैं। द्वीपका नाम शाक बतलाया गया है। यदि यह नाम शकसे निकला हो तो इतिहाससे यह मालूम होता है कि शक और पार्सी जिस देशमें रहते थे, उस देशमें उपर्युक्त नामके ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र रहते थे। मग-ब्राह्मण पार्सी लोगोंके अग्निपूजक और सूर्यपूजक **मागी** धर्मगुरु हैं। इनके विषयमें कहा जाता है कि ये बड़े जादूगर होते हैं। ये लोग हिन्दुस्थानमें भी आये हैं; और आजकल "मग ब्राह्मण" के नामसे प्रसिद्ध हैं। वे सूर्योपासक हैं, परन्तु यह मानना

* त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन् पुरूरवाः। आदि० अ० ७५ में १३ द्वीप बतलाये हैं। सो टीकाकारने कहींके कहीं मिला दिये हैं। संख्यायुक्त कूट सौतिने जगह जगह भर दिये हैं।

सम्भवनीय नहीं कि ये ब्राह्मण महाभारतमें वर्णन किये हुए शाकद्वीपमें रहनेवाले हैं, और क्षार समुद्र तथा क्षीरसमुद्र लाँघकर आये हैं। तात्पर्य यह है कि इस काल्पनिक द्वीपमें जैसे नदियों और पर्वतोंके नाम जम्बूद्वीपसे ले लिये गये हैं, वैसे ही लोगोंके नाम मग, मंदग इत्यादि और शक नाम भी, जम्बूद्वीपसे ही वहाँ ले लिये गये हैं।

अब हम शेष द्वीपोंका वर्णन करते हैं। इन द्वीपोंको उत्तरद्वीप कहा है। इसलिए वे उत्तरकी ओर होने चाहिएँ। इनके पास घृतसमुद्र, दधिसमुद्र, सुरासमुद्र, जलसमुद्र, (मीठे पानीका) ये चार समुद्र हैं। ये द्वीप दुगुने परिमाणसे हैं। पश्चिम द्वीपमें नारायणका कृष्ण संज्ञक पर्वत है, जिसकी रक्षा स्वयं श्रीकृष्ण करते हैं। कुशद्वीपमें लोग कुशदर्भकी पूजा करते हैं। शाल्मली द्वीपमें एक शाल्मली वृक्ष है। उसकी लोग पूजा करते हैं। क्रौंच द्वीपमें क्रौंच नामक पर्वत है। उसमें अनेक रत्न हैं। प्रत्येक द्वीपमें छः पर्वत हैं, जिनसे सात वर्ष अथवा खंड हो गये हैं। उन पर्वतों और वर्षोंके भिन्न भिन्न नाम यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं। इनके निवासी गौर वर्णके हैं; इनमें म्लेच्छ कोई नहीं है। एक और पुष्कर द्वीपका भी वर्णन किया गया है। उस पर स्वयं ब्रह्माजी रहते हैं, जिनकी देवता और महर्षि पूजा करते हैं। इन सब द्वीपोंके निवासियोंकी आयुका परिमाण ब्रह्मचर्य, सत्य और दमके कारण दूना बढ़ गया है। सब लोगोंका धर्म एक ही है, अतएव सभी द्वीप मिलकर एक ही देश माना जाता है। यहाँकी प्रजाका राजा प्रजापति ही है। इस द्वीपके आगे सम नामकी बस्ती है। वहाँ लोकमान्य, वामन, ऐरावत, इत्यादि चार दिग्गज हैं, जिनकी ऊँचाई और आकार-परिमाण कुछ नापा नहीं जा सकता। ये दिग्गज अपने शुँडोंसे वायुका निग्रह करके फिर उच्छ्वास रूपसे उसे छोड़ते हैं। बस, यही वायु सारी पृथ्वी पर बहती है।

जान पड़ता है, इन द्वीपोंकी कल्पना केवल पुण्यवान् लोक या निवासस्थान कल्पित करनेके लिए की गई है; और वह जम्बूद्वीपकी कल्पना रची गई है। इस कल्पनाका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि पृथ्वी पर भिन्न भिन्न सुखी लोक अर्थात निवासस्थान हैं; परन्तु चार दिग्गजोंकी कल्पना सबसे अधिक आश्चर्यकारक है। एक ही देशमें एक ही ओर ये चार दिग्गज बतलाये गये हैं; परन्तु हमारी समझमें ये चार दिग्गज चार दिशाओंमें और चार भिन्न भिन्न भूमियोंमें होने चाहिएँ। दिग्गजोंकी कल्पना शायद इस बातकी उपपत्ति लगानेके लिए की गई होगी कि, वायु कैसे बहती है। यहाँ चार ही दिग्गज बतलाये गये हैं। परन्तु इसके आगेके ग्रन्थोंमें और जैन तथा बौद्ध ग्रन्थोंमें आठ दिग्गजोंकी कल्पना पाई जाती है। उपर्युक्त सात द्विपोंके अतिरिक्त, एक और भी द्वीप, महाभारतके शान्तिपर्वमें नारायणीय आख्यानमें श्वेतद्वीपके नामसे बतलाया गया है। वहाँ नारायण अपने भक्तों सहित रहते हैं। इसका अधिक उल्लेख आगे किया जा सकेगा।

पांडवोंके महाप्रस्थानके वर्णनमें जम्बूद्वीपका जो वर्णन किया गया है, वह यहाँ देने योग्य है। पांडव पूर्वकी ओर जाते जाते उदयाचलके पास लौहित्य सागरके निकट जा पहुँचे। वहाँ अग्निने उनका मार्ग रोका। उसके कहनेसे अर्जुनने गांडीव धनुष समुद्रमें डाल दिया। इसके बाद वे दक्षिणकी ओर घूम पड़े; और क्षाराब्धिके उत्तरी तटसे नैर्ऋत्य दिशाकी ओर गये। इसके बाद

फिर पश्चिमकी ओर घूमकर पृथ्वी-प्रदक्षिणा करते हुए उत्तरकी ओर गये। तब उन्हें हिमालय नामक महागिरि मिला। उसके आगे उन्हें बालूका समुद्र दिखाई दिया। उसके आगे पर्वतश्रेष्ठ मेरु दिखाई देने लगा: मेरुपर्वतके सिर पर स्वर्ग था। स्वर्गके किनारे आकाश-गङ्गा बह रही थी, जहाँ उन्हें इन्द्र मिला। उपर्युक्त वर्णनसे जान पड़ता है कि लोहित्यसागर अर्थात् रक्तका समुद्र और उदयागिरि पर्वत पूर्वकी ओर थे। अन्य समुद्रोंका वृत्तान्त ऊपर दिया गया है। यह निश्चयपूर्वक जान पड़ता है कि लवण समुद्र नैर्ऋत्य और पश्चिमसे मिला हुआ, दक्षिणकी ओर था।

पृथ्वीके पूर्वमें उदयाचल और पश्चिममें अस्ताचल है। यह कल्पना प्राचीनकालसे है। ये पर्वत पश्चिम समुद्रके आगे माने गये हैं। महाभारतमें यह वर्णन है कि, मेरुपर्वत उत्तरकी ओर है, और उसके आसपास सूर्य और नक्षत्र घूमते हैं। आकाशकी ज्योतियोंका नायक आदित्य इस मेरुके ही आसपास चक्कर लगाया करता है। इसी प्रकार नक्षत्रों सहित चन्द्रमा और वायु भी इसीकी प्रदक्षिणा किया करते हैं (भीष्मपर्व अ० ६)। उस समय यह गूढ़ बात थी कि, जब सूर्य पूर्वको ओर उदय होकर पश्चिमकी ओर अस्ताचलको जाता है, तब फिर वह उत्तर दिशामें स्थित मेरुपर्वतके आसपास कैसे घूमता है। कुछ लोगोंके मतानुसार सूर्य पश्चिमकी ओर अस्ताचलको जाने पर फिर रातको उत्तर ओर जाकर और मेरुकी प्रदक्षिणा करके, फिर सुबह पूर्वकी ओर उदयाचलके सिर पर आता है। परन्तु यह कल्पना अन्य लोगोंको ठीक न जान पड़ी; अतएव उन्होंने, और विशेषकर रामायणकारने, मेरुपर्वतको पश्चिमकी ओर बतलाया है। परन्तु उनकी यह कल्पना बिलकुल ही भ्रमपूर्ण है। जम्बूद्वीपका जो वर्णन महाभारतकारने दिया है, वही प्रायः सब प्राचीन ग्रन्थोंमें देख पड़ता है।

जम्बूद्वीपके देश।

इस प्रकार यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जम्बूद्वीपके सात वर्ष अर्थात् सात खंड माने गये हैं: उनमेंसे भारतवर्ष, हैमवतवर्ष और हरिवर्ष वास्तविक दशाके अनुकूल हैं; और उनमेंसे कितने ही लोकोंका ज्ञान महाभारत-कालमें भारतीय आर्योंको था। हैमवत अथवा इलावर्षमें विशेषतः चीन, तिब्बत, तुर्किस्तान, ईरान, ग्रीस, इटली इत्यादि देश शामिल हैं। इन देशोंके लोगोंका बहुत कुछ ज्ञान महाभारतकालमें था। उत्तर ओरके लोग (म्लेच्छ) भीष्मपर्वमें इस प्रकार बतलाये गये हैं:—

यवनाश्चीनकाम्बोजादारुणा म्लेच्छजातयः।
सकृद्ग्रहाः पुलत्थाश्च हूणाः पारसिकैःसह॥

इस श्लोकमें यवन (यूनानी), चीन, काम्बोज (अफगान), सकृद्ग्रह, पुलस्थ, हूण और पारसीक लोक बतलाये गये हैं। कितने ही इतिहासकारोंकी यह धारणा है कि ईसवी सनके पूर्व लगभग २५० वर्षमें भारती लोगोंको शायद इन लोगोंका ज्ञान न होगा। परन्तु पूर्व ओर चीनतक और पश्चिम ओर ग्रीसतक भारतवर्षके लोगोंका हेलमेल बहुत प्राचीन कालसे था। कमसे कम पर्शियन लोगोंका बादशाह दारीयस भारतवर्षके कुछ भागमें आकर राज्य करता था। ग्रीक इतिहासकार हिरोडोटस ईसवी सनके ४५० वर्ष पहलेके लगभग हुआ। उसने यह वर्णन किया है कि, दारीयसकी फौजमें उसके अठारहों सूबोंकी सेना जमा होती थी। उसमें यवन, शक, पारसीक, काम्बोज इत्यादि और भारतीय आर्योंकी सेना रहती थी। इससे भी यही सिद्ध होता है कि भार-

तीय आर्योंको बहुत प्राचीन कालसे इन लोगोंकी अच्छी जानकारी थी। इनके सिवा हूण और चीन लोगोंका भी उनको बहुत कुछ ज्ञान अवश्य ही होना चाहिए। यह सच है कि हूण लोगोंका नाम पश्चिमी इतिहासमें ईसवी सन्के बाद आता है, तथापि पूर्व ओरके यह म्लेच्छ, हूण और चीनी, बहुत प्राचीन हैं। चीनियोंका इतिहास ईसवी सन्के २००० वर्ष पहलेसे अबतकका बराबर मिलता है। अवश्य ही उन लोगोंके बड़े बड़े बादशाह, तिब्बत और नेपालके बीचसे, अपने वकीलों और व्यापारियोंको भारतवर्षमें भेजते होंगे। हूण लोग चीन देशके पश्चिममें रहते थे: और उनका नाम भी बहुत पुराना है। यह नहीं कहा जा सकता कि, भारतवर्षमें आने पर ही भारतीय आर्योंको हूण लोगोंका परिचय हुआ। सारांश यह है कि इन लोगोंका ज्ञान, प्रत्यक्ष और परम्परासे, भारतके लोगोंको प्राचीन कालमें और महाभारत-कालमें अवश्य ही था।

शान्तिपर्वके शुकाख्यानमें भूगोलिक उल्लेख बड़े महत्वका आया है। वह इस प्रकार है। शुकदेवजी मेरु पर्वतसे चलकर जनकको गुरु करनेके लिए विदेहको आये। उनके मार्गका वर्णन करते हुए कहा गया है:—

मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं तथा। क्रमेणैव व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत्॥ स देशान् विविधान् पश्यन् चीनहूणनिषेवितान्। आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः॥ (शां० अ० ३२५)

इन श्लोकोंमें उत्तर ओर मेरु, दक्षिण ओर हरिवर्ष, उसके दक्षिण ओर हैमवत और अन्तमें भारतवर्ष बतलाया गया है। ऐसी दशामें मेरुको साइबेरियामें ही कल्पित करना चाहिए। इसके सिवा चीनी और हूण, इन दो जातियोंके लोग, आर्यावर्त और मेरुके बीचमें रहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि ईसवी सन्के ३०० वर्ष पहलेके लगभग ये हूण और चीनी एक दूसरेके पड़ोसमें हरिवर्षमें रहते थे। चीनका पुराना इतिहास यह बतलाता है कि, हूण लोग चीनकी सरहद पर रहते थे। इससे यह अच्छी तरह मालूम हो जायगा कि, आर्य लोगोंको ईसवी सन्के पहले ही इन हूण लोगोंका कैसा ज्ञान था। उस समय ये लोग चीनके उत्तर-पश्चिम ओर थे।

महाभारत-कालमें भारतवर्षका पूर्ण ज्ञान।

जब कि भारतवर्षके बाहरके देशोंका बहुत कुछ ज्ञान यहाँके लोगोंको महाभारत-कालमें था, तब फिर इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि, स्वयं भारतवर्षका ज्ञान महाभारत-कालमें उनको सम्पूर्ण और विस्तृत रूपसे था। वेद-कालमें आर्योंको पञ्जाब और मध्यदेशका ज्ञान था। फिर आगे चलकर धीरे धीरे उन्हें सारे देशकी जानकारी हो गई; और महाभारतसे जान पड़ता है कि उस कालमें उनको इस देशका सम्पूर्ण ज्ञान हो गया था। कितने ही लोगोंने यह तर्क किया है कि, पाणिनिके कालमें दक्षिणके देशोंका विशेष ज्ञान न था। यह सम्भवनीय जान पड़ता है। पाणिनिका काल ईसवी सन्के ८००-६०० वर्ष पूर्व माननेमें कोई हर्ज नहीं। इस कालके बाद बुद्धके समयतक दक्षिण और ठेठ कन्याकुमारीतक भारतीय आर्योंका फैलाव हो गया था और उनके राज्य भी स्थापित हो चुके थे। विशेषतः चन्द्रवंशी आर्य भोजों और यादवोंने दक्षिणमें निवास किया था; और वहाँ वैदिक धर्म पूर्णतया स्थापित हो गया था। यह बात निर्विवाद है कि, बौद्ध धर्मके पहले, वैदिक-धर्मका

दक्षिणमें पूर्ण साम्राज्य था। प्रो० रिस्ट-डेविड्सने लिखा है कि—"दक्षिण देशमें सीलोनतक ईसवी सन्के २०० वर्ष पहले-तक आर्योंका प्रसार न हुआ था: क्योंकि निकाय नामक बौद्ध-ग्रन्थमें विन्ध्याचलके दक्षिण ओरके लोगोंमेंसे किसीका नाम नहीं है। सिर्फ एक गोदावरीके तीरका राज्य सोलह राज्योंकी सूचीमें पाया जाता है। दक्षिण भारतका नाम इसमें है ही नहीं। उड़ीसा, बङ्गाल और दक्षिणका भी नाम नहीं है। निकाय-ग्रन्थके समय, दक्षिणमें, आर्योंका फैलाव हुआ। विनय-ग्रन्थमें भरुकच्छ (भड़ौच) का नाम है: और उदानग्रन्थमें शूर्पारक (सोपारा) का नाम है।" परन्तु यह कथन बिलकुल भ्रमपूर्ण है। निकाय-ग्रन्थमें दक्षिण ओर-के देशोंका नाम यदि नहीं आया, तो इतनेसे ही यह कहना कि, दक्षिण ओरके देश मालूम नहीं थे, बिलकुल भूलकी बात है। उल्लेखाभावका प्रमाण चाहे देखने-में सुन्दर जान पड़ता हो, परन्तु है वह बिलकुल लँगड़ा। जबतक यह निश्चय न हो कि, जिस ग्रन्थमें उल्लेख नहीं है उसमें उसका उल्लेख होना आवश्यक ही था, तब-तक इस प्रमाणकी कुछ भी कीमत नहीं है। बौद्धोंके निकाय अथवा विनय ग्रन्थ धार्मिक ग्रन्थ हैं। ये कुछ इतिहास अथवा भूगोलके ग्रन्थ नहीं हैं; अतएव इन ग्रन्थों-में उल्लेखका न होना किसी प्रकारका सिद्धान्त निकालनेके लिए प्रमाणभूत आधार नहीं हो सकता। इससे यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि दक्षिण ओर-का ज्ञान उस समय था अथवा नहीं था।

परन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि अलेक्ज़ेण्डरके पहलेसे भारतीय आर्योंको दक्षिण ओरका ज्ञान था: और इसके अस्ति-पक्षका सबल प्रमाण भी मौजूद है। सिकन्दरके साथ आये हुए इरेटॉस्थनीस आदि भूगोल ग्रन्थकारोंने लिख रखा है कि भारतवर्षकी पूरी जानकारी, लम्बाई-चौड़ाईके परिमाण सहित, अलेक्ज़ेण्डर-को पञ्जाबमें प्राप्त हुई थी। वही जान-कारी इरेटॉस्थनीसने अपने ग्रन्थमें लिख रखी है। कन्याकुमारीसे सिन्धुनदके मुख-तककी जो लम्बाई उसने दी है, वह आजकलकी प्रत्यक्ष स्थितिसे प्रायः बिल-कुल मिलती है। यह देखकर जनरल कनिं-गहमको बड़ा आश्चर्य हुआ; और उन्होंने लिख रखा है कि, सिकन्दरके समयमें भी भारतीय लोगोंको अपने देशके आकार और लम्बाई-चौड़ाईका सम्पूर्ण ज्ञान था। मतलब यह है कि ईसवी सन्के ८०० वर्ष पहलेके बाद, अर्थात् पाणिनिके बाद परन्तु सिकन्दरके पहले, दक्षिणमें आर्यों-का फैलाव हो गया: और पांड्य इत्यादि आर्य राज्य भी वहाँ स्थापित हो गये। महाभारतके भीष्मपर्वमें भारतवर्षका जो वर्णन दिया हुआ है, उसमें भारतवर्षके कन्याकुमारीतकके सब राज्य दिये हुए हैं। यह भाग भूगोल-वर्णनका ही है। इस भागमें यदि किसी देशका नाम न आया हो, तो अवश्य ही यह अनुमान करनेके लिए स्थान है कि वह देश महा-भारत-कालमें ईसवी सन्के २५० वर्ष पहलेके लगभग अस्तित्वमें नहीं था। महा-भारतके भीष्म-पर्वके ६ वें अध्यायमें भरत-खण्डके वर्णनमें सम्पूर्ण देशकी नदियों, पर्वतों और देशोंकी सूची दी हुई है। इस सूचीका हमारे लिए यहाँ बड़ा उपयोग था। परन्तु दुर्भाग्यसे वह सूची सिल-सिलेवार दिशाओंके क्रमसे नहीं दी गई है; अतएव यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे देश कौनसे और कहाँ हैं, अथवा थे। तथापि महाभारतमें अन्य सैंकड़ों जगह भूगोलिक उल्लेख हैं। उन सबका उल्लेख करके उपयोग करना

असम्भव ही है। परन्तु जितना हो सका है, प्रयत्न करके, विशेषतः तीर्थयात्राके वर्णनकी सहायतासे हमने यह निश्चित किया है कि देशों, नदियों और पर्वतोंकी स्थिति कैसी थी; और उसके अनुसार भारतवर्षका महाभारत-कालीन नकशा भी तैयार किया है। उन सबका वर्णन आगे किया जायगा।

सात कुलपर्वत अथवा पर्वतोंकी श्रेणी।

महाभारत (भीष्म पर्व, अध्याय ६) में हिमालय पर्वतके अतिरिक्त भारतवर्षके निम्नलिखित सात मुख्य पर्वत बतलाये गये हैं।

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षवानपि।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥

इसमें बतलाये हुए कुलपर्वतों अर्थात् बड़े बड़े पर्वतोंकी श्रेणियाँ इस प्रकार हैंः—(१) महेन्द्रपर्वत—यह पूर्व ओर है। इसीसे महानदी निकलती है। इसीसे मिले हुए पूर्व ओरके घाट हैं। कहते हैं कि इसी पर परशुराम तपस्या करते हैं। (२) मलयपर्वत—यह पूर्वघाट और पश्चिम-घाटको जोड़ता है। इस कुलपर्वतमें नील-गिरि बड़ा शिखर है। (३) सह्यपर्वत, अर्थात् सह्याद्रि, प्रसिद्ध ही है। यह महा-राष्ट्रमें है। इसकी श्रेणी त्र्यम्बकेश्वरसे नीचे पश्चिम-समुद्रके किनारेकी समा-नान्तर रेखामें मलाबारतक चली गई है। (४) शुक्तिमान्—यह कौन कुलपर्वत है, सो ठहराना कठिन है। शायद काठिया-वाड़के पर्वतकी यह श्रेणी होगी, जिसमें गिरनारका बड़ा शिखर है। इस पर्वतके जङ्गलोंमें अबतक सिंह मिलते हैं। (५) इसके आगेकी पर्वतश्रेणी ऋक्षवान् शायद राजपूतानेकी अरावली पर्वतकी श्रेणी होगी। इसका मुख्य शिखर आबूका पहाड़ है। इसको अर्बुदपर्वत भी कहते हैं। इसका उल्लेख वनपर्व के ८२वें अध्यायमें हिमा-लयपुत्र अर्बुदके नामसे आया है। (६) विन्ध्यका पर्वत प्रसिद्ध ही है। यह नर्मदा-के उत्तर बड़ौदा प्रान्तसे पश्चिम पूर्व फैला है। उत्तर ओर गंगाके किनारेतक थोड़ी सी विन्ध्याद्रिकी श्रेणी गई है। मिर्ज़ापुर-के पास विन्ध्यवासिनी देवी इसी पहाड़-की एक टेकरी पर है। (७) अब यह निश्चित करना चाहिए कि पारियात्र पहाड़ कौन-सा है। इसके विषयमें बहुत ही मतभेद दिखाई देता है। कितने ही अर्वाचीन ग्रन्थों-में लिखा है कि विन्ध्यके पश्चिम भागको पारियात्र कहते हैं। परन्तु यदि ऐसा हो, तो विन्ध्य और पारियात्र नामके दो भिन्न भिन्न कुलपर्वत कैसे हो सकते थे? हमारे मतसे पारियात्र पर्वत सिन्धु नदीके आगे-का पर्वत होना चाहिए। इस श्रेणीको आजकल सुलेमान पर्वत कहते हैं। यात्राकी परिसमाप्ति वहाँ होती है, इसी विचारसे उसका पारियात्र नाम पड़ा होगा। महा-भारत कालमें इस पर्वततक आर्योंकी बस्ती थी। फिर कई शताब्दियोंके बाद उधर मुसलमानोंकी प्रबलता हुई, अतएव वहाँ-तक हिन्दू लोगोंकी यात्रा न होने लगी। तब इस विषयमें मतभेद उत्पन्न हुआ कि पारियात्र पर्वत कौनसा है; और शायद इसीसे विन्ध्य पर्वतको ही पश्चिम भागमें पारियात्र कहने लगे होंगे। रामायणमें किष्किन्धा कांडमें जो भूवर्णन दिया हुआ है, उसमें पारियात्र पर्वत सिन्धु नदीके आगे बतलाया गया है। जो हो, इस प्रकार ये मुख्य सात कुलपर्वत हैं। इनके अतिरिक्त, इस भूवर्णनमें बतलाया गया है कि, और भी अनेक छोटे अथवा बड़े पर्वत हैं। इन अन्य पर्वतोंमें, महाभारतमें जिनका नाम आया है ऐसा एक रैवतक पर्वत है। यह द्वारका-के पास है। शुक्तिमान पर्वतकी यह शाखा होगी। इसके सिवा नर्मदा और ताप्तीके

बीचके वर्तमान सतपुड़ा पर्वतके विषयमें भी कहीं कहीं उल्लेख पाया जाता है। हिमालयके गन्धमादन और कैलास पर्वतका भी महाभारतमें बहुत वर्णन है।

भारतके लोग अथवा राज्य।

भीष्मपर्वमें यह स्पष्ट कहा है कि, भारतवर्षमें महाभारत कालमें तीन प्रकारके लोग थे। अर्थात् यह स्पष्ट कहा गया है कि आर्य लोग, म्लेच्छ लोग और दोनोंके मिश्रणसे पैदा हुई जातियाँ रहती थीं। परन्तु आगे देशोंके जो नाम दिये हैं, उनमें यह अलग नहीं बतलाया है कि आर्य कौनसे हैं, म्लेच्छ कौनसे हैं और मिश्र लोग कौनसे हैं। यह एक बड़ी न्यूनता है। सम्भव है कि उस समय यह बात पूर्णतया मालूम थी, अतएव उस समय उसका कुछ विशेष महत्व न समझा गया होगा। हाँ, यह उत्तर ओरके म्लेच्छ अवश्य अलग बतलाये गये हैं। परन्तु वे भी भारतवर्षके बाहरके हैं। इससे यह निश्चित करना हमारे लिए कठिन है कि, भारतवर्षके भीतर म्लेच्छ देश कौनसे थे। फिर भी अन्य प्रमाणोंसे हम इस बातके निश्चित करनेका प्रयत्न करेंगे। कुल १५६ देश भारतवर्षमें बतलाये गये हैं। दक्षिण भारतमें ५० देश और उत्तर ओर म्लेच्छ देशके अतिरिक्त २६ देश बतलाये गये हैं। उनके नाम बतलानेके पहले यह बात हमारे ध्यानमें आनी चाहिए कि, इन देशोंके नाम सिलसिलेवार अथवा पूर्व-पश्चिम इत्यादि दिशाओंके अनुरोधसे भी नहीं बतलाये गये हैं। इस कारण, अनेक विषयोंमें हम इस बातका निश्चय नहीं कर सकते कि, ये देश अथवा लोग कौन हैं। उनकी सूची हम आगे देते हैं। उनमें जितनेका हमको निश्चयपूर्वक बोध हुआ, उतनेका हम यहाँ निर्देश करते हैं। इस सूचीसे एक यह बात बतलाई जा सकेगी कि, साधारणतः जिस देशमें आर्योंकी अधिक प्रबलता थी, उस भरतखंडकी सीमा दक्षिणकी ओर बहुत ही दूर, अर्थात् गोदावरीके आगेतक, फैली हुई थी। अर्थात् वर्तमान महाराष्ट्र देश उस समय भरतखंडमें शामिल माना जाता था। दक्षिण ओरके लोगोंकी जो सूची दी हुई है, उसके सम्बन्धमें एक बड़े महत्वकी बात ध्यानमें रखने लायक यह है कि, यदि साधारण तौर पर गोदावरीके मुखसे पश्चिम ओर बम्बईतक एक रेखा खींची जाय, तो उसके नीचे दक्षिण ओरके देश आते हैं। हम इन देशोंकी सूचीसे और दिग्विजयमें उल्लिखित देशोंकी सूचीसे तुलना करेंगे; और महाभारत कालमें अर्थात् चन्द्रगुप्तके समयमें जो देश अथवा लोग प्रसिद्ध थे, वे कौन थे, इसका विचार करेंगे।

पूर्व ओरके देश।

पहले हम कुरुसे प्रारम्भ करेंगे। इसको इस सूचीमें कुरु-पांचाल कहा है। कुरुपांचालोंकी राजधानी हस्तिनापुर थी। वह गंगाके पश्चिम किनारे पर थी। इनके पूर्व ओर पांचालोंका राज्य था। आदिपर्वमें यह वर्णन है कि, द्रोणने इस देशका आधा भाग जीतकर कौरवोंके राज्यमें शामिल कर दिया था। पांचाल देश गंगाके उत्तर ओर और दक्षिण ओर यमुनातक था। गंगाके उत्तर ओरका भाग द्रोणने जीतकर कौरव-राज्यमें शामिल किया; और गंगाके दक्षिणका भाग द्रुपदके लिए रखा। शामिल किये हुए भागकी राजधानी अहिच्छत्रपुरी थी। यह अहिच्छत्र नगर पूर्व कालमें प्रसिद्ध था; और वर्तमान रामपुरके पास था। ऐसी दंतकथाएँ प्रचलित हैं, जिनसे जान पड़ता है कि, यहाँ

के हजारों ब्राह्मण दक्षिण और पूर्व ओर बङ्गाल और मैसूरतक गये हैं। द्रुपदके लिए जो राज्य रह गया, उसमें गंगाके तीर पर माकन्दी और कांपिल्य नामक दो शहर थे।

राजासि दक्षिणे तीरे भागीरथ्याहमुत्तरे।

इत्यादि (आदिपर्व अ० १३८) श्लोक देखिये। इसके बाद पूर्व ओर दूसरा राज्य कोसल था। इसके भी दो भाग उत्तरकोसल और दक्षिणकोसल थे। उत्तरकोसल गंगाके उत्तर ओर और दक्षिण कोसल दक्षिण ओर, विन्ध्यपर्वततक था। अयोध्याके नष्ट होने पर उत्तरकोसल-की राजधानी विन्ध्यपर्वतमें कुशावती थी। इसके पूर्व ओर मिथिलराज्य था। उसकी पश्चिमी सीमा सदानीरा नदी थी। मिथिल देश गंगातक न था। गंगाके किनारे पर काशीका भी राज्य था। काशीके दक्षिण ओर मगधोंका राज्य था। यह राज्य बहुत ही उपजाऊ और जनसंख्यामें भी बढ़ा हुआ था। इन मगधोंकी राजधानी उस वक्ततक पाटलिपुत्र नहीं थी; किन्तु राजगृह अथवा गिरिव्रज थी। इसके आसपास पाँच टेकरियाँ हैं। उनपर जो पुरानी इमारतें हैं, उनसे अब भी उसका परिचय मिलता है। महाभारतके आदि पर्वमें यह बतलाया गया है कि मगधोंके राज्यको वसुके एक पुत्र बृहद्रथने स्थापित किया था। हस्तिनापुरसे अर्जुन, भीम और कृष्ण जब जरासन्धको मारनेके लिए राजगृह अथवा गिरिव्रजकी ओर चले, तब उन्हें जो देश, नदियाँ इत्यादि पार करनी पड़ीं, उनका महाभारतमें बहुत सूक्ष्मतासे वर्णन किया गया है, जो यहाँ देने योग्य है। वे कुरु-जांगल देशसे रमणीय पद्मसरोवर पर आये। इसके बाद उन्होंने कालकूट पर्वत पार किया। महाशोण और सदानीरा नदी उतरकर वे सरयू नदी पर आये। वहाँसे उन्होंने पूर्व-कोसल देशमें प्रवेश किया। इसके बाद वे मिथिला और माला देशोंमें गये; और चर्मण्वती, गंगा तथा शोणनद उतरकर उन्होंने पूर्व दिशाकी ओर पयान किया। तब वे मागध देशमें पहुँचे। इसके आगे उन्हें गोरखपर्वत मिला। वहाँ सब समय गौएँ चरा करती थीं; और विपुल जलके झरने थे। उस पर्वत पर चढ़कर उन्होंने मागधपुर गिरिव्रज देखा। (सभा पर्व अ० ११६) गिरिव्रजकी राजधानी बदलकर पाटलिपुत्र राजधानी गंगा पर महाभारत कालके पहले ही बसी थी; परन्तु महाभारतमें उसका बिलकुल ही वर्णन नहीं है। अवश्य ही यह आश्चर्यकी बात है। परन्तु वहाँ उस समय बौद्ध राजा थे, इसलिए प्राचीन राजधानीका ही उल्लेख महाभारतमें किया गया है।

यहाँ आर्य देशोंकी सीमा समाप्त हुई। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इसके पूर्व ओर, अर्थात् वर्तमान बङ्गाल प्रान्तमें, मिश्र आर्य थे। ये देश अंग, वंग, कलिंग नामसे प्रसिद्ध हैं। ऐसा माना जाता था कि इन देशोंमें जानेसे ब्राह्मण पतित होता है। आदि पर्व अध्याय १०४ में यह वर्णन किया गया है कि दीर्घतमा ऋषिके अंग, वंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुह्म नामक पाँच पुत्र, बलिकी स्त्रियोंके पेटसे, उत्पन्न हुए। इस वृत्तान्तसे ही सिद्ध होता है कि यहाँके आर्य मिश्र आर्य हैं। अंग, वंग, कलिंगको आजकल चम्पारन, मुर्शिदाबाद और कटक कह सकते हैं। पौण्ड्र और सुह्म दोनों देश महाभारतकी सूचीमें नहीं मिलते। यह आश्चर्यकारक है। कदाचित् महाभारत कालमें ये देश भरतखण्डके बाहरके माने जाते होंगे। इनके सिवा पूर्व ओरके और भी देश बतलाये गये हैं। वे ताम्रलिप्तक और ओड्र हैं।

ताम्रलिप्ति शहर कलकत्तेके पास था। वह तामलक नामसे ग्रीक लोगोंको मालूम था। ओड्र आजकलका उड़ीसा है। उत्कल लोग भी उड़ीसेके पास ही बसते थे; और अब भी पञ्चगौड़ ब्राह्मणों में उत्कल ब्राह्मणोंकी एक जाति है। इससे उत्कल लोगोंका अस्तित्व बङ्गालकी ओर अब भी दिखाई देता है। प्रागज्योतिष लोगोंका राजा भगदत्त भारती-युद्धमें मौजूद था। प्रागज्योतिष देश आजकलका आसाम है। आश्चर्यकी बात है कि भरतखण्डकी सूचीमें इसका नाम भी नहीं है। कदाचित् सुह्मकी तरह यह भी महाभारत-कालमें भरतखण्डके बाहर समझा जाता हो। यही हाल मणिपुर अथवा मणिमत् देशका है। अर्जुन इस देशमें अपने पहले वनवासके समय गया था। वहाँ उसे चित्राङ्गदा नामक स्त्री मिली और बभ्रुवाहन नामक लड़का हुआ। उस मणिपुर राज्यका इसमें नाम नहीं है। वह शायद म्लेच्छ देश था। यहाँ पर स्पष्ट वर्णन है कि अंग, वंग, कलिंगके आगे जब अर्जुन जाने लगा तब उसके साथके ब्राह्मण लौट आये।

अब हमें यह देखना चाहिए कि पूर्व दिशाकी ओर भीमके दिग्विजयमें कौनसे देश बतलाये गये हैं। सभा पर्वमें कहा गया है कि पुमाल, कोसल, अयोध्या, गोपालकच्छ, मल्ल, सुपार्श्व, मलङ्ग, अनघ, अभय, वत्स, मणिमान्, शर्मक, वर्मक, विदेह (मिथिला), शकबर्बर, सुह्म, मागध, दण्डधार, अंग, पुण्ड्र, वंग, ताम्रलिप्त, लौहित्य इत्यादि देश उसने जीते। इनमेंसे कितने ही देशोंका उल्लेख ऊपर किया ही गया है। परन्तु कुछके नाम महाभारतकी सूचीमें नहीं हैं।

दक्षिण ओरके देश।

अब हम दक्षिणकी ओर आते हैं। कुरुक्षेत्रसे दक्षिण ओर चलने पर पहले-पहल हमें शूरसेन देश मिलता है। इसकी राजधानी मथुरा यमुनाके किनारे प्रसिद्ध ही है। उसके पश्चिम ओर मत्स्य देश था। मत्स्य देश जयपुर अथवा अलवरके उत्तर ओर था। इसकी राजधानी क्या थी, सो नहीं बतलाया जा सकता। विराट पर्वमें यह वर्णन है कि जब पांडव अज्ञातवासके लिए निकले, तब वे गङ्गाके किनारेसे नैर्ऋत्यकी ओर गये। जान पड़ता है कि यह खास तौर पर लोगोंको बहकानेके लिए होगा। वे आगे यमुनाके दक्षिण तीरके पर्वत और अरण्यको लाँघकर, पाञ्चाल देशके दक्षिण ओरसे और दशार्ण देशके उत्तर ओरसे, यकृल्लोम और शूरसेन देशोंसे मृगोंका शिकार करते हुए और यह कहते हुए कि हम बहेलिये हैं, विराट देशको गये। इससे यह जान पड़ता है कि दशार्ण देश और यकृल्लोम देश यहीं कहीं पास ही होंगे। इसके बाद कुन्ति-भोजोंका देश चर्मण्वती नदी पर था। यह आजकलके ग्वालियर प्रान्तमें है*। इसके बाद निषध देश हमारे ध्यानमें आता है। यह निषध देश राजा नलका है। यह देश आजकल नरवर प्रान्त, जो कि सेंधिया सरकारके अधिकारमें है, माना जाता है। नल-दमयन्ती आख्यानमें भी, निषधसे वनमें जाने पर, नलने दमयन्तीसे यह कहते हुए कि तुम अपने बापके घर विदर्भको जाओ, जो मार्ग

* वनपर्वके ३०८ वें अध्यायमें कर्णजन्मकी कथा है। उसमें यह वर्णन है कि, कर्णको पेटीमें रखकर वह पेटी अश्वनदीमें डाल दी गई थी। वह फिर वहाँसे चर्मण्वती नदीमें गई। वहाँसे वह यमुनामें, यमुनासे गङ्गामें गई और गङ्गामें चम्पादेश (अङ्ग) में अधिरथको मिली। इस वर्णनमें यह जान पड़ता है कि, कुन्तिभोज देश चम्बल नदीसे मिला हुआ दक्षिणकी ओर था। ग्वालियर रियासतके कोतवाल स्थानको लोग कुन्तिभोजपुर मानते हैं। यह उपर्युक्त वर्णनसे मत जान पड़ता है।

दिखलाया है, वह भी इसी देशके लिए उपयुक्त होता है। निषधसे दक्षिणकी ओर जो मार्ग दिखलाया है, वह अवन्ती और ऋक्षवान् पर्वतको पार करके विन्ध्य महाशैल और पयोष्णी नदीकी ओर दिखलाया है। ऋक्षवान् पर्वत राजपूताने में है। परन्तु निषध देशके दक्षिणकी ओर उसकी अनेक शाखाएँ गई हैं। उन शाखाओंको पार करनेके बाद अवन्ती देश मिलता है। अवन्ती देश आजकलका मालवा है। अवन्ती देशको पार करने पर विन्ध्य पर्वत है; और विन्ध्यके आगे नर्मदा नदी है। पर यहाँ नर्मदा नदीका नाम नहीं दिया है; किन्तु पयोष्णीका बतलाया है; सो शायद इसलिए बतलाया होगा कि वह विदर्भके पासकी है। अवन्ती तो मालवा और उज्जयिनी है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। परन्तु विदर्भ देश कौनसा है, इस विषयमें शङ्का अथवा मतभेद है। कितने ही लोग मानते हैं कि वर्तमान बरार ही विदर्भ है। इस विदर्भकी राजधानी भोजकट कही गई है और इसकी नदी पयोष्णी मानी गई है। भोजकट, पयोष्णी और विदर्भ, तीनों बातें विन्ध्यके पश्चिम ओर नर्मदाके उत्तर भी मानी जाती हैं। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि उन्हीं देशों और नदियोंके नाम दो दो बार और तीन तीन बार भी आये हैं। इससे यह भी अनुमान निकल सकता है कि आर्य लोग जहाँ जहाँ गये, वहाँ वहाँ वे अपने पहलेके कुछ कुछ नाम अपने साथ ले गये। विदर्भका सम्बन्ध जैसे दमयन्तीसे मिलता है, वैसे ही रुक्मिणीसे भी मिलता है। हरिवंशमें यह वर्णन है कि श्रीकृष्ण जब रुक्मिणीको हरण करके लिये जाते थे, तब नर्मदा नदी पर ही रुक्मीसे उनकी भेंट हुई थी। आजकलका बरार यदि विदर्भ माना जायगा, तो यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्णको नर्मदा नदी पार करके जाना पड़ेगा। परन्तु वैसा करनेका वर्णन नहीं है। जो हो, यह विषय संशयित है, क्योंकि रुक्मिणीके विषयमें दोनों स्थानोंमें अबतक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। बरार प्रान्तके अमरावती नगरमें देवीका वह मन्दिर दिखलाया जाता है, जहाँसे श्रीकृष्णने रुक्मिणीको, जब वह देवीके दर्शनोंको आई थी, हरण किया था। इसी प्रकार अवन्तीके पश्चिम ओर विन्ध्याचलसे मिला हुआ अंबझरा नामक एक प्रान्त है। वहाँ भी देवीका एक मन्दिर है, जहाँ यह प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्णने यहींसे रुक्मिणीका हरण किया था। इसके सिवा एक तीसरा भी विदर्भ गोदावरीके दक्षिण ओर किसी समय प्रसिद्ध होगा। मुसलमानोंके समय यह विदर्भ प्रसिद्ध था। फरिश्ताने अपने इतिहासमें लिख रखा है कि बेदर नाम उसी शब्दसे निकला है। यही नहीं, किन्तु उसने नल-दमयन्ती और रुक्मिणीकी कथाका भी वहीं उल्लेख किया है। शङ्करदिग्विजयमें भी सायणाचार्यने इसी विदर्भका उल्लेख इसी ठिकानेका किया है। महाभारतके अस्पष्ट वचनोंका विचार करते हुए हमारे मतसे यही जान पड़ता है कि महाभारत-कालमें बरार-विदर्भ अवश्य प्रसिद्ध होगा। इस विदर्भके पास पूर्व ओर प्राक्कोसल नामका देश महाभारत और हरिवंशमें भी बतलाया गया है। विदर्भ देश साधारणतः दाक्षिणात्य देशोंमें गिना जाता था। यह बात महाभारतमें उस समय कही गई है, जब कि रुक्मी अपनी सेना लेकर पाण्डव-पक्षमें मिलने गया। उद्योग पर्वके १५८वें अध्यायके प्रारम्भमें ही यह कहा है कि भोज वंशोद्भव दक्षिण देशाधिपति भीष्मकका विश्रुत पुत्र रुक्मी पाण्डवोंकी ओर

आया। इससे यही सिद्ध होता है कि यह विदर्भ देश दक्षिण देशोंमें ही था। इस देशकी राजधानी कुण्डिनपुर थी; और भोजकट नामक एक दूसरा नगर रुक्मीने बसाया था।

विदर्भका विचार करनेके बाद स्वभावतः ही हमारे सामने महाराष्ट्रका विचार उत्पन्न होता है। परन्तु महाराष्ट्रका नाम सम्पूर्ण महाभारतमें कहीं नहीं है। इससे कुछ यह नहीं माना जा सकता कि महाराष्ट्रका जन्म उस समय न था। यदि विदर्भ अर्थात् बरारमें भोजोंकी बस्ती हुई थी, तो यह माननेमें भी कोई हर्ज नहीं कि महाराष्ट्रमें यादवोंकी बस्ती उसी समय हुई थी। परन्तु उस समय महाराष्ट्रको बड़ा स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। उसके छोटे छोटे भाग उस समय थे। इन भागोंके नाम महाभारतमें देशोंकी सूचीमें आये हैं। यह कहनेमें हमको बिलकुल शङ्का नहीं मालूम होती कि वे नाम रूपवाहित, अश्मक, पाण्डुराष्ट्र, गोपराष्ट्र और मल्लराष्ट्र हैं। विदर्भके बाद ही इस सूचीमें इनके नाम आये हैं। पाण्डुराष्ट्र, गोपराष्ट्र और मल्लराष्ट्रका 'राष्ट्र' शब्द महत्वपूर्ण है। यही राष्ट्रिक नामसे, उसी समय और आगे भी प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि आगे चलकर इन्हीं तीन राष्ट्रोंके मिल जानेसे महाराष्ट्र बना है। भोजोंके जैसे महाभोज हुए, वैसे ही राष्ट्रोंके महाराष्ट्रिक हुए। अन्य प्रमाणोंसे यह भी मालूम होता है कि इन देशोंका स्थान भी इसी महाराष्ट्रमें था। अगले अनेक लेखोंसे यह सिद्ध हुआ है कि अश्मक देश देवगिरिके आसपासके प्रदेशसे ही मिला हुआ था। हरिवंशके पूर्वार्धमें कहा है कि जब रुक्मीने बलरामके साथ द्यूत खेला, तब दाक्षिणात्य राजाओंने आपसमें बलरामको जीतनेका सङ्केत किया। लिखा है उन राजाओंमें मुख्य अश्मकाधिप था। अर्थात्, दक्षिणके आर्य राज्योंमें अश्मक देश मुख्य था। बौद्ध ग्रन्थोंमें भी अस्सक रूपसे दक्षिणके इन अश्मक लोगोंका उल्लेख किया गया है। मतलब यह है कि महाराष्ट्रके लोगोंमेंसे अश्मक मुख्य थे। कितने ही ताम्रपटों और लेखोंसे यह सिद्ध हुआ है कि गोपराष्ट्र नामक देश नासिकके आसपासका प्रदेश है। पाण्डुराष्ट्र भी उसीके पास होना चाहिए। मल्लराष्ट्र भी महाराष्ट्रका एक भाग होगा। इन चारों-पाँचों लोगोंके एक लोग बनकर वे महाराष्ट्र नामसे प्रसिद्ध हुए; और उनकी भाषा महाराष्ट्रीय नामसे प्रसिद्ध हुई। यह बात महाभारत कालके बाद ईसवी सनके पहले ही हुई होगी। इस सूचीमें महाराष्ट्रका नाम नहीं है, इसलिए यह भी माना नहीं जा सकता कि महाराष्ट्री प्राकृत भाषा इससे पहले अथवा इस समय उत्पन्न न हुई होगी। क्योंकि यह स्पष्ट है कि राष्ट्रका नाम लोगोंके विषयमें इस समयमें ही प्रसिद्ध था।

अब गुजराती लोगों और गुजरात देशके विषयमें विचार किया जायगा। इनका नाम सूचीमें बिलकुल नहीं है। इससे यही मानना पड़ता है कि गुर्जर लोग गुजरातमें महाभारत कालतक नहीं आये थे। वर्तमान गुजरात प्रान्तके जो देश इस सूचीमें दिखाई देते हैं, वे सिर्फ आनर्त और स्वराष्ट्र हैं। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि सुराष्ट्र नाम भी इस सूचीमें नहीं है। इससे यह नहीं माना जा सकता कि सुराष्ट्र नाम महाभारत कालके बाद उत्पन्न हुआ; क्योंकि सुराष्ट्र नाम महाभारतमें अनेक अन्य जगह पाया जाता है। वन पर्वमें धौम्यने

जो तीर्थयात्रा बतलाई है, उसमें प्रभास-तीर्थ सुराष्ट्र देशमें ही समुद्र किनारे पर बतलाया है। इससे जान पड़ता है कि सुराष्ट्र काठियावाड़ ही है। अब आनर्त देश कौनसा है? इस विषयमें थोड़ासा मत-भेद होगा। परन्तु आनर्त आजकलका उत्तर गुजरात देश है; क्योंकि धौम्यके बतलाये हुए इसी तीर्थयात्राके वर्णनमें, पश्चिम ओरके आनर्त देशमें पश्चिमवाहिनी नर्मदा नदी बतलाई गई है। अतएव आजकलके गुजरातके मुख्य देश आनर्त और सुराष्ट्र उस समयके प्रसिद्ध देश हैं। इनमें आर्योंकी बस्ती बहुत प्राचीन कालमें हो गई थी। यह सम्भव नहीं कि ऐसा उपजाऊ देश बहुत समयतक आर्यों-की बस्तीके बिना बना रहे। अर्थात्, यहाँ-की आर्य बस्ती बहुत पुरानी है। जिन गुर्जर लोगोंने इस देशको अर्वाचीन कालमें अपना नाम दिया है, वे लोग अवश्य ही उस समयतक इस देशमें नहीं आये थे, ऐसा अनुमान निकालनेके लिए स्थान है। इस प्रश्नका इस ग्रन्थसे कोई सम्बन्ध नहीं, कि गुर्जर लोग आगे चल-कर कब आये; और वे आर्य थे अथवा आर्येतर थे। अतएव हम इस प्रश्नको यहीं छोड़े देते हैं। हाँ, इतना अवश्य ही अपना मत हम यहाँ लिख देते हैं कि वे आर्य हैं और ईसवी सनके ४०० वर्ष पूर्व इस प्रान्तमें आये।

समुद्रके किनारे किनारे उत्तरसे नर्मदातक आर्योंकी बस्ती हो गई थी। यही नहीं, किन्तु महाभारत कालमें नर्मदाके दक्षिण ओर वर्तमान थाना प्रान्ततक भी बस्ती हो गई थी। इस ओर-के दो देश महाभारतने उत्तर देशोंकी गणनामें परिगणित किये हैं। वे दो देश परान्त और अपरान्त हैं। अपरान्तका नाम महाभारतके बादके अनेक ग्रन्थोंमें आता है। इन अनेक ग्रन्थोंसे यह मालूम होता है कि अपरान्त हालका उत्तर कोंकण है। अपरान्तका मुख्य शहर प्राचीन कालमें शूर्पारक था। उसको आजकल सोपारा कहते हैं। शूर्पारकका नाम प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंमें भी प्रसिद्ध है। पाण्डवोंकी तीर्थयात्राके वर्णनमें शूर्पारकका नाम आया है। लिखा है कि उन्होंने यहाँ यात्रा की; और भीतर सह्याद्रिकी ओर जाकर परशुरामकी वेदी-के दर्शन किये। परशुरामकी बस्तीका स्थान पूर्व ओर महेन्द्र पर्वत पर था; और वहाँ वैतरणी नदी तथा भूमिकी वेदी थी। परन्तु उपर्युक्त वर्णनसे यह जान पड़ता है कि परशुरामको अन्य स्थान पश्चिम किनारे पर महाभारत समयके पहले दिया गया था। अब भी इस जगह, अर्थात् सोपाराके पूर्व ओर पहाड़में, वैतरणी नदी और परशुरामकी वेदी वज्रेश्वरीके पास लोग दिखलाते हैं। तात्पर्य यह है कि शूर्पारक क्षेत्र बहुत पुराना है; और वह अपरान्तमें मुख्य था। अप-रान्तका नाम महाभारतमें अन्यत्र दो जगह आया हुआ है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि अपरान्तसे मतलब थाना जिलेसे है। और इसी दृष्टिसे, परान्तको वर्त-मान सूरतका जिला मानना चाहिए। अपरान्ततक महाभारत कालमें आर्योंकी बस्ती हो गई थी। द्रोण पर्वमें एक जगह एक ऐसे हाथीका वर्णन किया गया है, जो अपरान्तमें उत्पन्न हुआ था और जिसे वहाँके हस्तिशिक्षकोंने सिखाया था। इससे जान पड़ता है कि थाना जिलेके जङ्गलमें उस समय हाथी बहुत थे; और लड़ाईके काममें वे बहुत प्रसिद्ध थे। कानडा जिले और मैसूरके जङ्गलमें अब भी हाथी मिलते हैं। जो दूसरा उल्लेख महाभारतमें अपरान्तके विषयमें है, वह

शान्ति पर्वके ३९वें अध्यायमें परशुराम-चरित्रके सम्बन्धसे आया है। परशुरामने जब सारी पृथ्वी काश्यपको दान दे दी, तब कश्यपने उसको पृथ्वीके बाहर जानेके लिए कहा। उस समय समुद्रने उनके लिए शूर्पारक देश उत्पन्न किया।

ततः शूर्पारकं देशम् सागरस्तस्य निर्ममे।
सहसा जामदग्न्यस्य सोपरान्तो महीतलम्॥

इसमें यह स्पष्ट कहा है कि, शूर्पारक देश ही अपरान्त महीतल है। इससे जान पड़ता है कि अपरान्त देशकी ही शूर्पारक राजधानी है। और, अपरान्त देश वर्तमान थाना जिलेका प्रदेश है, इस विषयमें बिलकुल शङ्का नहीं रहती।

इस जगह एक महत्त्वकी बात यह बतलाने लायक है कि, परशुरामका क्षेत्र और परशुरामके लिए समुद्रकी दी हुई जगह आजकल शूर्पारक नहीं मानी जाती, किन्तु दक्षिण ओर कोंकणमें चिपलूनमें और चिपलूनके आसपास मानी जाती है; और परशुरामका क्षेत्र और मन्दिर भी इस समय चिपलूनमें ही है। इस कारण दक्षिण कोंकण ही परशुरामका क्षेत्र माना जाता है; परन्तु महाभारतमें शूर्पारक भूमिको परशुराम-क्षेत्र माना है। इसके अतिरिक्त अपरान्त देशकी गणना भरतखण्डके देशोंमें की गई है और कोंकणका नाम दक्षिणके देशोंकी सूचीमें दिया गया है। इससे यह अनुमान निकलता है कि, महाभारत-कालमें आर्योंकी बस्ती कोंकणमें नहीं हुई थी। उत्तर ओरसे, जब शूर्पारक देशसे दक्षिणकी ओर कोंकणमें आर्योंकी बस्ती गई, तब आर्योंने परशुरामका स्थान शूर्पारकसे हटाकर दक्षिण कोंकणमें किया। यही कारण है कि, अब शूर्पारकमें परशुरामका क्षेत्र नहीं रहा। वर्तमान सोपारा एक क्षेत्र है। यह वसईके पास है। अर्थात्, ईसवी सन्के पहले ३०० वर्षके बाद ब्राह्मणोंकी बस्ती वसईसे चिपलूनकी ओर गई। पेरिप्लसके ग्रन्थमें लिखा है कि, सन् १५० ईसवीके लगभग थानेके पासके प्रदेशको आर्य देश कहने लगे। विचित्रता यह है कि, इसके बाद मुसल्मानों और पोर्चगीज़ोंके कष्टके कारण, इस देशमें ब्राह्मण बस्ती बिलकुल ही नहीं रही। आगे चलकर मराठोंके शासनकालमें वह फिर दक्षिण कोंकणसे उत्तर कोंकणमें आई। इतिहासमें यह परिवर्तन ध्यानमें रखने लायक है। अस्तु; दक्षिण ओरके जो देश बतलाये गये हैं उनमें कोंकण और मालव देश हमारे परिचयके हैं। घाटमाथाके मावले लोग शायद मालव होंगे। ये भी आजकलके आर्य हैं। मालव शब्द घाटमाथाके प्रदेशके लिए उपयुक्त होता है। ऐसे तीन प्रदेश भारतवर्षमें हैं। सह्याद्रिके घाटमाथे पर, तथा बिन्ध्याद्रीके घाटमाथे पर और पञ्जाबके पास भावलपुर रियासतके पहाड़ोंके घाटमाथे पर—इन तीनों जगह मालव लोगोंका नाम पाया जाता है। दक्षिणके मालव मावले लोग ही होंगे। उत्तर ओरका और पञ्जाबका मालव क्षुद्रक नामसे महाभारतमें अनेक जगह आया है; और इसीको ग्रीक इतिहासकार "मल्लॉय ऑक्सिड्रे" कहते हैं।

दक्षिणके और प्रसिद्ध लोग चोल, द्रविड़, पांड्य, केरल और माहिषक हैं। इनके नाम क्रमशः पूर्व पश्चिम किनारेके अनुसार, जैसा कि ऊपर कहा गया है, अब भी प्रसिद्ध हैं। चोलसे मतलब मदरासले है। चोलमण्डल वर्तमान कारोमण्डल है। उसके दक्षिण ओर तंजौर ही द्रविड़ है। पाण्ड्य आजकलका तिनेवली है। केरल त्रावनकोर है। माहिष मैसूर है। इतने नाम हम निश्चयपूर्वक ठहरा सकते हैं। अमवासी नाम भी अबतक प्रसिद्ध

है। यह देश मैसूरके उत्तर ओर है। वनवासी ब्राह्मण अबतक प्रसिद्ध हैं। कहाड़के पासका कुन्तल देश होगा। इनके अतिरिक्त, महाभारतकी दक्षिण ओरकी सूचीके अन्य देश हम निश्चयपूर्वक नहीं बतला सकते। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि, इस देशमें महाभारत-कालमें आर्योंकी बस्ती हो चुकी थी। परन्तु शायद वह इतनी बड़ी न होगी कि इस देशकी द्राविड़ी भाषा बन्द हो जाती; और कृष्णाके उत्तर ओरके प्रदेशकी भाँति वहाँ भी आर्य भाषाओंका प्रचार हो जाता। यही कारण है महाभारत-कालमें यहाँ द्रविड़भाषा प्रचलित थी; और इसी लिए यह प्रान्त देशोंकी सूचीके हिसाबसे महाभारतमें अलग गिना गया है।

अब हम दक्षिण ओरके उन देशोंका विचार करेंगे जिनको दिग्विजयमें सहदेवने जीता था। इनमें अनेक देश हैं, जो भीष्म पर्वके देशोंकी सूचीमें नहीं हैं। नर्मदाके उत्तर ओर सेक और अपरसेक नामक दो देश बतलाये गये हैं। इसके बाद अवन्तिका नाम बतलाकर भोजकट और कोसलदेश बतलाये गये हैं। किष्किन्धामें मैंद और द्विविद वानरोंके साथ युद्ध होनेका वर्णन है। इसके बाद माहिष्मती नगरी बतलाई गई है। यह नर्मदा पर होगी। अर्थात् सहदेव फिर लौट आये; और लिखा है कि, पहले बतलाये हुए लोगोंके अतिरिक्त उन्होंने कोंकणमें शूर्पारक, तालाकट (कालीकट), दण्डक, करहाटक, आन्ध्र, यवनपुर भी जीते। यहाँ यवनपुरका उल्लेख कैसे आया, इसका हमें विचार करना चाहिए। इतिहासमें यह प्रमाण मिलता है कि, अलेक्ज़ेंडरकी चढ़ाईके बाद यवनोंने पश्चिम समुद्र पर दो तीन जगह शहर स्थापित किये थे। "गर्स्टेव ऑपर्ट" ने "दक्षिणका प्राचीन व्यापार" विषय पर (सन् १८७८ के मदरास जर्नलमें) एक लेख लिखा था। उसमें लिखा है कि—"अलेक्ज़ेंडरके बाद कराचीके पास, गुजरातमें, और मालाबार किनारे पर तीन शहर स्थापित किये गये थे। अन्तके शहरका नाम व्यज़नशम् था।" इसी शहरका नाम महाभारत-कालमें भरतखण्डमें 'यवनपुर' प्रसिद्ध होगा, जिसे सहदेवने जीता था।

दक्षिणके इन लोगोंकी सूचीमें कुछ विचित्र लोगोंके नाम आये हैं; परन्तु वे दिग्विजयके वर्णनमें हैं। ऊपर बतलाये हुए वानरोंके अतिरिक्त एकपाद और कर्णप्रावरण लोग तथा पुरुषाद भी बतलाये गये हैं। महाभारत-कालमें ये लोग काल्पनिक ही माने गये होंगे। एक पैरके, कानसे अपनेको ढक लेनेवाले, और मनुष्योंको खानेवाले लोग महाभारत-काल में प्रत्यक्ष न होंगे। इस कारण उनके नाम भीष्म पर्वकी सूचीमें नहीं दिये गये हैं।

पश्चिम ओरके देश।

अब यह देखना चाहिए कि पश्चिम ओरके देश और लोग कौनसे थे। पश्चिम ओरके देशोंकी सूचीमें सिन्धु, सौवीर और कच्छ देश हैं। सिन्धु आजकलका सिन्ध प्रान्त है। इसके और काठियावाड़के बीचका प्रान्त सौवीर है, जो समुद्र किनारेसे मिला हुआ है। इसीमें आजकलका कराँची बन्दर होगा। इसीका नाम बाइबिलमें ऑफीर कहा गया है। पश्चिम ओर इन्हीं प्रान्तोंसे समुद्रके द्वारा खूब हेलमेल था। बाइबिलमें कहा है कि सोना, मोर और वानर इन प्रान्तोंसे आया करते थे। कच्छ देश आजकलका कच्छ प्रसिद्ध ही है। इसका नाम अनूप भी दिया गया है। सिन्धु, सौवीर और कच्छके उत्तर ओर गान्धार देश सिन्धुके आगे था, यह भी प्रसिद्ध है। इसकी

वर्तमान राजधानी पेशावर है। पेशावर अथवा पुरुषपुरका नाम महाभारतमें नहीं आया। परन्तु गान्धारका नाम बराबर आता है। गान्धारके उत्तर ओर और सिन्धुके आगे काश्मीर देश भी प्रसिद्ध है। इसीके बीचसे सिन्धु नदी और सतलज नदी बहती है। ये चारों-पाँचों देश पश्चिम ओरके नकशेमें अन्तके देश हैं: और इनके नाम महाभारतके देशोंकी सूचीमें एक ही जगह दिये हुए हैं।

इनके इस पार, कुरुक्षेत्रके पश्चिम ओर, मरु अर्थात् मारवाड़ और पञ्जाब, आजकलके बड़े बड़े दो प्रान्त हैं। इनमें महाभारत-कालमें सैंकड़ों प्रकारके लोग होंगे; और उनके बहुतसे नाम भी महाभारतमें जगह जगह पाये जाते हैं। परन्तु सबका ठीक ठीक पता लगाना अत्यन्त कठिन है। नकुलके पश्चिम दिग्विजयमें ऐसा वर्णन है:—"रोहितिक पर्वतको पार करके उसने मत्तमयूरको जीत लिया: मरुभूमि, शैरीषक, महत्थ, दशार्ण, शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ट, मालव, पञ्चकर्पट, वाटधान देश जीते; और मद्र देशमें शाकल नगरमें जाकर उसने अपने मामा शल्यको वश कर लिया।" इससे जान पड़ता है कि महाभारत-कालमें शाकल नगर प्रसिद्ध था। इस नगरीका उल्लेख ग्रीक लोगोंने भी किया है। इतिहासमें लिखा है कि, इस नगरमें आगे चलकर बड़े बड़े यवन राजाओं और कनिष्कादिकोंने राज्य किया। पञ्जाबके शाल्व और केकय लोग भी महाभारतमें बराबर उल्लिखित हैं; और तक्षशिला नगरीका भी बराबर उल्लेख किया गया है। परन्तु इनका नाम भीष्मपर्वके देशोंकी सूचीमें नहीं दिखाई देता। बाल्हिकोंका नाम महाभारतमें बारम्बार आता है। इसी प्रकार क्षुद्रकोंका नाम भी बारम्बार आता है। अलेक्ज़ेंडरने जब पञ्जाब और सिन्ध प्रान्तोंको जीता, तब यहाँके अनेक लोगोंके नाम उनके इतिहासमें आये हैं। परन्तु नामोंका परिवर्तन ग्रीक भाषामें हो गया है, अतएव उन नामोंका महाभारतकी सूचीके नामोंसे मेल बैठाना बहुत सम्भव नहीं है।

उत्तर ओरके लोग।

अर्जुनके दिग्विजयके वर्णनसे उत्तर ओरके लोगोंका कुछ वर्णन किया जा सकता है। कुविन्द, आनर्त, तालकूट इत्यादि देशोंका वर्णन हो चुकने पर लिखा है कि, शाकलद्वीप आदि सप्तद्वीपोंके राजाओंसे उसका युद्ध हुआ। यहीं यह भी लिखा है कि, प्राग्ज्योतिष देशके राजा भगदत्तको उसने जीता। अन्तर्गिरि और बहिर्गिरि इत्यादि लोगोंको भी उसने जीता। इसके बाद त्रिगर्त्त, दार्व, कोकनद, काम्बोज, दरद इत्यादि लोगोंको जीता। काम्बोज और दरद अफगानिस्तानमें और पश्चिम तिब्बतमें रहनेवाले लोग हैं। इसके आगे किंपुरुष, गुह्यक इत्यादि काल्पनिक लोगोंका उल्लेख है। वहाँसे, लिखा है कि, अर्जुन हरिवर्षमें गया। अस्तु: कुरुपाञ्चाल देश प्रायः उत्तर ओर हिमालयसे मिला हुआ है। इससे, उसके आगे तिब्बत इत्यादि देशोंके विषयमें, अर्जुनके दिग्विजयका जो वर्णन आया है, उसे प्रायः काल्पनिक माननेमें कोई हर्ज नहीं दिखलाई देता। (शान्ति० अ० २०३ में) कहा है कि, हिमालयके दूसरे ओर आजतक किसीने नहीं देखा। इससे यह तर्क होता है कि, महाभारत-कालमें भारती आर्य हिमालयके आगे तिब्बत देशमें न जाते होंगे। जाम्बुद्वीपकी जो कल्पना उन्होंने की है, उसमें हिमालयके आगेका वृत्तान्त उन्होंने सुनकर दिया होगा। अर्जुनके उत्तर

दिग्विजयमें लिखा है कि वह हिमालय पार करके हरिवर्षमें गया था। वहाँ उसे एक नगर मिला। वहाँ हृष्टपुष्ट और तेजस्वी द्वारपालोंने उसे पीछे हटा दिया; और यह कहा कि "इस शहरको तुम नहीं जीत सकते। इसके आगे उत्तरकुरुमें मनुष्य-देहसे किसीका प्रवेश नहीं हो सकता।" इसके बाद उन्होंने, अपनी खुशीसे, अर्जुनको दिव्य आभरण और दिव्य वस्त्र इत्यादि यज्ञके लिए दिये (सभा० अ० २८)। इससे जान पड़ता है कि तिब्बत देशमें भारती आर्य न केवल नहीं जाते थे, बल्कि उनको वहाँ जाने ही न दिया जाता था। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि तिब्बत देशके लोग अबतक अपने देशमें किसीको न आने देते थे। अवश्य ही इस बीसवीं शताब्दीमें तिब्बत प्रान्त परकीय लोगोंके लिए कुछ न कुछ खुल गया है। उत्तर ओर उत्तर-कुरु रहते हैं, इस कल्पनाके लिए यही आधार देख पड़ता है कि, चन्द्रवंशी कुरु लोग उत्तरकी ओरसे गङ्गाकी घाटियोंमेंसे आये थे। और इस विषयकी प्राचीन दन्तकथाओंसे यह धारणा दृढ़ हो गई कि हमारी जन्मभूमि उत्तर ओर है। तथापि ये लोग तिब्बती न थे। आर्योंका मूलस्थान उत्तर ध्रुवकी ओर था, यही सिद्ध है: और यह हमने पहले ही कहा है कि भारती आर्योंका मूलस्थान कहीं न कहीं साइबेरियामें होगा। तथापि इतनी बात यहाँ अवश्य बतला देनी चाहिए कि, त्रिगर्त अथवा आनर्त इत्यादि लोग यदि उत्तरकी ओर फिर बतलाये गये हों, तो इसमें आश्चर्य नहीं: क्योंकि आर्योंकी बस्ती उत्तरकी ओरसे ही दक्षिणकी ओर आई है। अतएव उत्तर ओरके लोगोंके नाम यदि दक्षिण ओरके लोगोंको फिर प्राप्त हो गये हों, तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं।

उपर्युक्त वर्णनमें हमने यह विचार किया है कि, दिग्विजयके आधार पर भीष्म पर्वके देशोंकी सूचीके लोग भारतवर्षके भिन्न भिन्न भागोंमें किस प्रकार दिखलाये जा सकते हैं। जान पड़ता है; मेगास्थिनीज़ने भारतवर्षके रहनेवाले लोगोंकी सूची तैयार की थी। लिखा है कि उस सूचीमें ११८ नाम थे। स्ट्रेबोने वह सूची अपने ग्रन्थमें उद्धृत की है। मेगास्थिनीज़का ग्रन्थ अब नहीं मिलता। परन्तु दुर्भाग्यसे स्ट्रेबोके ग्रन्थमें हमको यह सूची नहीं मिली। भीष्म पर्वकी सूचीका वैगुण्य हमने पहले ही बतलाया है। उसमें जो देश दिये हैं, उनके नाम किसी विशिष्ट अनुक्रमसे नहीं बतलाये गये हैं। बल्कि कुछ जगह केवल वर्णसादृश्यसे नाम एक जगह दिये हुए पाये जाते हैं। तथापि देशोंका क्रम लगानेका, जहाँ तहाँ हो सका है, प्रयत्न किया गया है। तङ्गण और परतङ्गण नामक दो देश अथवा लोग जो दक्षिणके लोगोंके अन्तमें दिये हैं, सो शायद भूलसे दिये गये हैं। यहाँ यह बतला देना चाहिए कि ये लोग उत्तर ओरके अर्थात् तिब्बतके हैं। वन पर्वके २५४ वें अध्यायमें, कर्णने दुर्योधनके लिए जो दिग्विजय किया था, उसका वर्णन संक्षेपमें दिया गया है। उसमें जो देश आये हैं वे इस प्रकार हैं:—प्रथम द्रुपदको जीतकर वह उत्तर ओर गया। वहाँ उसने **नेपाल** देश जीता। पूर्व ओर अंग, वंग, कलिंग, शुंडिक, मिथिल, मागध और कर्कखण्डको जीता। फिर वह वत्सभूमिकी ओर चला। वहाँ जो केवल मृत्तिकायुक्त भूमियाँ थीं उन्हें उसने जीत लिया। इसके बाद **मोहन** नगर, त्रिपुर और कोशलको उसने जीता। तब वह दक्षिणकी ओर चला। वहाँ पहले रुक्मीको जीता। फिर पाण्ड्य और शैल

प्रदेशकी ओर चला। इसके बाद कोरल और नील देशोंको जीता। अनन्तर शिशुपालको जीतकर अवन्ति देशको जीता; और फिर वह पश्चिमकी ओर गया, तथा यवन और बर्बर लोगोंको कर देनेके लिए उसने बाध्य किया। इस छोटेसे दिग्विजय-वर्णनमें नवीन देश बहुतसे आये हैं; अतएव यह शङ्का होती है कि, क्या यह वर्णन महाभारतकी अपेक्षा अर्वाचीन तो नहीं है। तथापि ऐसा न मानकर देशोंकी सूचीमें निम्नलिखित नाम और बढ़ाने चाहिए:—**उत्तर** १ नेपाल पूर्व, २ शुलिङक, ३ कर्कखण्ड; **मध्यदेश** ४ वत्स, ५ मोहन, ६ त्रिपुर, **दक्षिण** ७ शैल, ८ नील और **पश्चिम** ओर ९ बर्बर। ये नाम देशोंकी सूचीमें अलग बढ़ा दिये गये हैं।

नदियाँ।

अब हम भारतकी नदियोंके विषयमें विचार करेंगे। इन नदियोंकी जो सूची भीष्मपर्वमें दी है, वह भी दिशाओंके अनुरोधसे नहीं दी गई है, इधर उधरसे मनमानी दे दी है। अतएव यह निश्चित करना बहुत मुशकिल है कि वे नदियाँ कौनसी हैं। तथापि महाभारतके अन्य स्थानोंके उल्लेखों परसे हम कुछ प्रयत्न कर सकेंगे। पहले हम उत्तर ओरकी अर्थात् पञ्जाबकी नदियोंका विचार करेंगे। ऋग्वेदके दसवें मण्डलमें नदीसूक्त है। उसमें बतलाई हुई नदियाँ ऋग्वेदकालमें प्रसिद्ध थीं। उनके विषयमें यह क्रम देख पड़ता है कि वे पूर्व ओरसे पश्चिमकी ओर बतलाई गई हैं।

इमंमे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।

इस सूक्तसे यह कहा जा सकेगा कि प्राचीन कालमें आर्य लोग कहाँतक फैले हुए थे। पहले गङ्गा, उसके पश्चिममें यमुना, बादको सरस्वती, फिर शुतुद्री, इसके बाद परुष्णी, फिर असिक्नी, तदनन्तर मरुद्वृधा और वितस्ता आती है। शुतुद्री आजकलकी सतलज है। परुष्णी आजकलकी ऐरावती अथवा रावी है। असिक्नी विपाशा अर्थात् आजकलकी व्यासा है; और वितस्ता झेलम है। मरुद्वृधा कौनसी नदी है, यह अभीतक अच्छी तरह निश्चित नहीं हुआ। सिन्धुनद प्रसिद्ध ही है। कुभा काबुल नदी है; और गोमती तथा सुवस्तु अथवा स्वात सिन्धुके उस पारसे मिलनेवाली नदियाँ हैं। सरयूनदी पञ्जाबके उस पारकी है परन्तु वह इस सूक्तमें नहीं कही गई है। जेन्द ग्रन्थमें उसका नाम 'हरयू' पाया जाता है। इसी प्रकार सरस्वती (हरहवती) नाम भी जेंद ग्रन्थमें है। इन प्राचीन आर्य नदियोंके नाम सरस्वती और सरयू उत्तर भारतकी नदियोंको प्राप्त हुए, इसमें आश्चर्य नहीं। रामायणके वर्णनसे हम यह कह सकते हैं कि, अश्वपतिका केकय देश रावी और विपाशाके बीचमें था। ग्रीक लोगोंने इन नदियोंके नाम बिलकुल ही भिन्न कर दिये हैं। महाभारतमें लिखा है कि सरस्वती, शतद्रु और यमुनाके बीच हिमालयमें उत्पन्न हुई; और कुरुक्षेत्रसे जाते जाते मरुदेशके रेगिस्तानमें गुप्त हो गई। परन्तु महाभारतकालमें भी एक ऐसी दन्तकथा प्रचलित होगी कि यह नदी किसी समय पश्चिमकी ओर बहती हुई कच्छके रणसे अरब समुद्रमें जा मिली। इसका आगे सरस्वती-तीर्थ-यात्राके वर्णनमें हम विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। पञ्जाब देशकी अन्य कौन कौन सी नदियाँ महाभारतकी नदियोंकी सूचीमें बतलाई हैं, यह बात हम इससे अधिक निश्चयपूर्वक नहीं बतला सकते। चन्द्रभागा नदी पञ्जाबकी है। इस नदीका यही नाम इस समय भी

प्रसिद्ध है। यह नदी, जिसका पहले जिक्र आ चुका है, वैदिक आसिक्नी है। इसके सिवा दृशद्वती नदी कुरुक्षेत्रमें सरस्वती और यमुनाके बीच बतलाई गई है। इस पुण्य नदीका वर्णन सरस्वती-के समान ही किया गया है। सरस्वती और दृशद्वतीके बीचका पुण्य-देश सबसे अधिक पवित्र है; और इसीको ब्रह्मर्षि देश मानते हैं।

अब हम इस बातका विचार करते हैं कि कुरुपांचालोंके पूर्व ओर कौन कौन-सी नदियाँ हैं। जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन जब यहाँसे मगधको जाने लगे, तब उन्हें गण्डकी, महाशोण और सदा-नीरा नदियाँ मिली थीं। इसके बाद उन्हें सरयू मिली। अयोध्याकी सरयू नदी प्रसिद्ध है। परन्तु सरयू और गङ्गाके बीच गण्डकी, महाशोण और सदानीरा नदियाँ नहीं हैं। ये तीनों नदियाँ सरयूके पूर्व ओर हैं। सरयू और गङ्गाके बीच जो गोमती नदी है, सो यहाँ बिलकुल ही नहीं बतलाई गई है। इस प्रकारका भ्रम उत्पन्न करनेवाले अनेक स्थल महाभारतमें हैं। गण्डकी* और सदानीरा बिहार प्रान्तकी नदियाँ हैं। इसलिए यह माने बिना काम नहीं चलेगा कि, सरयूके पश्चिम ओर इसी नामकी दूसरी छोटी नदियाँ हैं। यह वर्णन ठीक है कि गङ्गा और शोणनद उतरकर वे मगधमें गये। शोणनद मगधमें है; और दक्षिण ओरसे वह गङ्गामें मिलता है। अब यह देखना चाहिए कि बङ्गाल प्रान्तकी कौन कौनसी नदियाँ महाभारतमें बतलाई गई हैं। लौहित्या नदी ब्रह्मपुत्रा है। परन्तु ब्रह्मपुत्राका नाम नदियोंकी सूचीमें नहीं है। कौशिकी नामक एक और नदी बङ्गालकी जान पड़ती है। तीर्थ-वर्णनमें गयाके पासकी फल्गु नदी आई है, परन्तु नदियोंकी सूचीमें नहीं। कर-तोया बङ्गालकी एक नदी जान पड़ती है। अब हम दक्षिणकी नदियोंकी ओर आते हैं।

प्रथम गङ्गामें मिलनेवाली यमुना नदी प्रसिद्ध ही है। उस यमुनामें मिलनेवाली और मालवासे आनेवाली चर्मण्वती अथवा चंबल नदी भी वैसीही प्रसिद्ध है। इस नदीके किनारे एक राजाने हजारों यज्ञ किये थे; वहाँ यज्ञमें मारे हुए पशुओंके चमड़ोंकी राशियाँ एकत्र हो गई थीं; इसलिए इसका नाम चर्मण्वती पड़ा। वेत्रवती अथवा बेतवा नदी चम्बलकी भाँति ही मालवासे निकलकर यमुनामें मिलती है। सिन्धु अथवा काली सिन्धु भी मालवाकी नदी है। इसका नाम नदियोंकी सूचीमें नहीं दिखाई पड़ता। महानदी पूर्व ओर महेन्द्र पर्वतके पाससे जाती है। बाहुदा नदी भी इसी जगह है। विन्ध्यके दक्षिण ओर नर्मदा नदी प्रसिद्ध ही है। इसी भाँति पयोष्णी अर्थात् ताप्ती नदी भी प्रसिद्ध है। परन्तु ताप्तीका नाम महाभारतमें कहीं पाया नहीं जाता। वैतरणी नदी पूर्व ओर जाकर पूर्वसमुद्रमें गिरती है। इधर, महाराष्ट्रके सह्याद्रिसे

---

* गङ्गा गत्वा समुद्राम्भः सप्तधा समपद्यत ॥१९॥

(आ० अ० १७०)

'गङ्गा सप्तधा गत्वा' यह अर्थ करके टीकाकारने हिमालय-में ही सात गङ्गाएँ बतलाई हैं। वे इस प्रकार हैं:—वस्वोक-सारा, नलिनी, पावनी, सीता, सिन्धु, अलकनन्दा और चक्षु। पर हमारे मतसे ऐसा आशय दिखाई देता है कि, अगले श्लोकमें बतलाई हुई नदियाँ सात ही हैं।

गङ्गा च यमुना चैव प्लक्षजातां सरस्वतीम्।
रथस्थां सरयूं चैव गोमतीं गण्डकीं तथा॥
अपर्युषितपापास्ते नदीः सप्त पिबन्ति ये॥

गङ्गा, यमुना, प्लक्षावतरण तीर्थसे निकली हुई सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती और गण्डकी—ये बड़ी नदियाँ हिमालयसे निकलकर एकत्र होकर समुद्रमें जा मिलती हैं। आदिपर्वमें दी हुई जानकारी यहाँ लेने योग्य है।

निकलकर पूर्व ओर जानेवाली नदियाँ गोदावरी, भीमरथी अर्थात् भीमा, वेणा और कृष्णा बतलाई गई हैं। कृष्ण-वेणा एक नदी अलग बतलाई गई है। कृष्णाके दक्षिण ओरकी कावेरी नदी भी इन नदियोंकी सूचीमें लिखी गई है। इसके भी दक्षिणमें त्रावनकोरकी ताम्रपर्णी नदी है। परन्तु इसका नाम नदियोंकी सूचीमें नहीं दिखाई देता; तथापि तीर्थ-वर्णनमें इसका नाम आया है। कोंकणकी नदियाँ बिलकुल ही छोटी हैं। उनके नाम इस सूचीमें आये हैं अथवा नहीं, सो नहीं बतलाया जा सकता। पश्चिम ओर बहनेवाली नदियोंमें नर्मदा और पयोष्णी-का उल्लेख पहले ही आ चुका है। मही नदी गुजरातमें है, उसका उल्लेख इस सूचीमें नहीं है। सिन्धुका उल्लेख प्रारम्भ-में ही है। यहाँ यह बतलाया गया है कि सबसे बड़ी नदी गङ्गा है और उसीके भगीरथी, मन्दाकिनी इत्यादि नाम हैं। इन नदियोंकी सूची देशोंकी ही सूचीकी तरह हम यहाँ देते हैं: और जिन नदियों-का हम इसमें आजकलकी नदियोंसे मेल मिला सके हैं, उन पर तारका-चिह्न कर दिया है।

महाभारत कालके तीर्थ।

अब जिन भिन्न भिन्न तीर्थोंका वर्णन महाभारतमें किया गया है, उनका वृत्तान्त यहाँ दिया जाता है। पाण्डवोंकी इस तीर्थयात्राके वर्णनके पहले तीर्थोंकी दो सूचियाँ वनपर्वमें दी हुई हैं। अर्थात्, एक बार नारदके मुखसे और दूसरी बार धौम्य ऋषिके मुखसे। इन दोनों सूचियोंमें थोड़ासा फर्क है। पाण्डव प्रत्यक्ष जिन जिन तीर्थोंमें गये थे उन उन तीर्थोंका वर्णन वनपर्वमें विस्तार सहित दिया हुआ है। जहाँ जहाँ पाण्डव गये थे, उन स्थानोंका आजकलकी तीर्थयात्राके स्थानोंसे मेल मिलानेका मनोरञ्जक कार्य करने योग्य है। हम इसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे। लिखा है कि, पहले पाण्डव काम्यक वनमें थे। प्राचीन कालमें प्रत्येक देशके भिन्न भिन्न भागोंमें वन थे। उन वनोंमें हर किसीको रहनेकी परवानगी थी। वन पर किसी देशके राजाकी सत्ता न थी। वन-वासी क्षत्रिय ऐसे वनोंमें मृगया पर उदर-निर्वाह किया करते थे; और तपस्या करनेवाले ब्राह्मण कन्दमूलफल खाकर अपना निर्वाह करते थे। यह बात कुछ काल्पनिक नहीं है। इस प्रकारकी परि-स्थिति महाभारत-कालतक थी। ग्रीक लोगोंने वनमें निर्भयताके साथ रहनेवाले तत्ववेत्ता मुनियोंका वर्णन किया है। बौद्धों-के ग्रन्थोंमें भी ऐसे अनेक वर्णन हैं। लिखा है कि बुद्ध, राज्य त्याग करनेके बाद, ऐसे ही अनेक जङ्गलोंमें रहा। उनमेंसे प्रत्येक वनका भिन्न भिन्न नाम है। लुंदिनी वनका नाम बौद्ध ग्रन्थोंमें बरा-बर आता है। अस्तु; महाभारतमें लिखा है कि पांडव वनवासके समय कितने ही वनोंमें रहे। उन्हीं वनोंका स्थल पहले हम यहाँ निश्चित करेंगे। लिखा है कि, पाण्डव पहलेपहल काम्यक वनमें रहे। वे भागीरथीके तीर परसे पहले कुरुक्षेत्रकी ओर गये। सरस्वती, दृशद्वती और यमुनाका दर्शन करके वे पश्चिमकी ओर चले। तब गुप्त रूपसे रहने-वाली सरस्वतीके तीरके निर्जल मैदानमें ऋषिप्रिय काम्यक वन उन्हें दिखाई दिया (वनपर्व अध्याय ५)। इससे यह ध्यानमें आ जायगा कि काम्यक वन मरु देशमें था। उस वनको छोड़कर फिर वे द्वैतवन-में गये। द्वैतवन उत्तर ओर हिमालयकी तराईमें होगा। उसमें पशु, पक्षी, मृग और हाथियोंके झुंड थे, और उसमें सरस्वती

नदी बहती थी। लिखा है कि इसी द्वैत वनसे वे तीर्थ-यात्राको निकले; और फिर काम्यक वनमें आये। यहाँसे पहले पूर्व ओर नैमिषारण्य है। यह पुण्य-देश अयोध्याके पश्चिममें है। लिखा है कि इसके पूर्व ओर गोमती तीर्थ है। इसके बाद वर्णन किया है कि नैमिषारण्यमें पहले आनेके बाद गोमतीका स्नान करके वे बाहुदा नदी पर गये। यह बाहुदा नदी यहाँ दूसरी आई है। इसके बाद पांडव प्रयागको आये। यह प्रयाग गङ्गा-यमुना-का सङ्गम ही है। लिखा है कि, गङ्गा-सङ्गम पर उन्होंने ब्राह्मणोंको दान दिया। यहाँ यह कहा गया है कि प्रयाग-भूमि देवोंकी यज्ञभूमि है। फिर लिखा है कि, प्रयागसे पांडव गयाको गये। गयामें गयाशिर नामक एक पर्वत है, और रेत-से सुशोभित महानदी नामकी अर्थात् फल्गु नदी है। इसके अतिरिक्त यहाँ ब्रह्मवेदी भी पास है; और लिखा है कि, अक्षयवट भी है। यही अक्षयवट श्राद्ध करनेके लिए सर्वश्रेष्ठ स्थान कहा गया है। यहाँ अक्षयपद-फलकी प्राप्ति होती है। यहाँ गय राजाका वर्णन भी दिया है। इसके बाद लिखा है, कि पांडव लोग गयासे चल-कर मणिमती नामक दुर्जया नगरीमें रहे; और फिर उन्होंने अगस्त्याश्रमका दर्शन किया। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह तीर्थ कहाँ है; तथापि उस वर्णनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भागीरथी पर वह आश्रम था। अगस्त्यने जो वातापी-को मारा था, सो भी वर्णन दिया हुआ है। इसके बाद कौशिकी नदीका वर्णन दिया है। यह नदी भागीरथीमें उत्तर ओर-से मिलती है। लिखा है कि कौशिकी नदी पर विश्वामित्रने तपस्या करके ब्राह्मण्य प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त भागीरथी पर भगीरथने जो यज्ञ किया, उसका भी वर्णन दिया हुआ है। यहाँसे फिर, लिखा है कि, पांडव नन्दा और अपरनन्दा नामक दो नदियों पर गये; और फिर हेमकूट पर्वत पर गये। इस पर्वत पर अदृश्य वेदघोष सुनाई देता है। कौशिकी नदीके पास उक्त नदियाँ होंगी। यहीं विभांडकपुत्र ऋष्यशृंगका आश्रम है। ऋष्यशृंगकी कथा यहाँ दी हुई है। कौशिकीसे चलकर पांडव समुद्र पर गये, और जिस जगह गङ्गा समुद्रसे मिली है, उस जगह पाँच सौ नदियोंके मध्य भागमें उन्होंने समुद्रमें स्नान किया। यह वर्णन प्रसिद्ध है कि, गङ्गा नदी समुद्रमें सहस्रमुखसे मिलती है। उसीका उल्लेख इन ५०० नदियोंके नामसे किया हुआ जान पड़ता है। यहाँ पूर्व ओरके तीर्थ समाप्त हुए। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि, इस वर्णनमें काशी जानेका वर्णन नहीं है। तथापि धौम्यने जो तीर्थ-वर्णन किया है, उसमें दो तीन और तीर्थ लिखे हैं। उनका यहाँ समावेश किया जा सकेगा। कालिंजर पर्वत पर हिरण्यबिन्दु नामक एक बड़ा स्थान है। इसके बाद भार्गवरामका महेन्द्र पर्वत बतलाया गया है। लिखा है कि उस पर्वत पर भागीरथी नदी मणिकर्णिका सरोवरमेंसे आई है। ऐसा अनुमान करनेमें कुछ भी बाधा नहीं जान पड़ती कि महेन्द्र पर्वतका यह मणिकर्णिका तीर्थ वास्तवमें काशीमें ही होगा। तथापि, यह आश्चर्यकी बात है कि, काशी अथवा वाराणसीका विस्तृत वर्णन इस तीर्थ-वर्णनमें नहीं है। जो हो; अब हम दक्षिणके तीर्थोंकी ओर आते हैं।

पाण्डव गङ्गामुख पर स्नान करके समुद्र तीरसे कलिंग देशको गये। वहाँ उन्हें पहले वैतरणी नदी मिली। इस नदीमें स्नान करके वे पवित्र हुए। इस नदीमें स्नान करनेसे उनको मालूम हुआ कि, मह

तपोबलके योगसे मृत्युलोकसे बहुत दूर चले गये। यहाँसे पास ही महेन्द्र पर्वत है। उस पर्वत पर परशुराम रहे हैं। पृथ्वी जब कश्यपको दान दी गई, तब वह समुद्रमें डूबने लगी। उस समय कश्यपके तपःप्रभावसे वह सागरसे बाहर वेदीके रूपसे यहाँ रह गई है। यह वेदी समुद्रमें एक छोटासा टापू है। पाण्डवोंने समुद्रमें स्नान करके उस वेदी पर आरोहण किया; और इसके बाद महेन्द्र पर्वत पर ठहर गये। प्रत्येक चतुर्दशीको वहाँ परशुरामका दर्शन होता है। तदनुसार उस दिन दर्शन करके पाण्डव समुद्रके किनारे किनारे दक्षिण दिशाकी ओर चले। समुद्र-किनारेके तीर्थ यहाँ नामनिर्देशके बिना बतलाये गये हैं। प्रशस्ता नदी देखकर वे समुद्रगामिनी गोदावरी नदी पर आये। इसके बाद द्रविड़ देशमें समुद्र किनारे अगस्त्य तीर्थ पर आये। वहाँसे नारीतीर्थ पर आये। उसके बाद अन्य पवित्र समुद्रतीर्थों पर क्रमशः जानेके बाद वे शूर्पारकक्षेत्रमें आये। दक्षिण और पूर्वके इन तीर्थोंके वर्णनमें दो तीन नाम हमको दिखाई नहीं देते। मुख्यतः पूर्व और जगन्नाथके स्थानका अथवा पुरीका वर्णन नहीं है। ऐसी दशामें हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि, क्या इस क्षेत्रका माहात्म्य पीछेसे उत्पन्न हुआ है? धौम्यके बतलाये हुए तीर्थ-वर्णनमें भी पुरीका नाम नहीं है; और नारदके वर्णनमें भी पुरीका नाम नहीं आया। इसी प्रकार रामेश्वरका नाम भी पाण्डवोंकी तीर्थ-यात्रामें नहीं आया। इससे यह संशय होता है कि, ये तीर्थ इस समयके बाद उत्पन्न हुए होंगे। परन्तु यह बात हमने अनेक जगह कही है। कि, उल्लेखके अभावका प्रमाण लँगड़ा है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि, पाण्डव समुद्रके किनारे किनारे थलसे गये हैं, नौकामें बैठकर नहीं गये हैं। इस कारण यह सम्भव है कि, वे प्रायः अगस्त्य तीर्थसे द्रविड़ देशमें होते हुए एकदम पश्चिम किनारे पर आ गये हों। पश्चिम किनारे पर जो गोकर्ण महाबलेश्वरका तीर्थ है, उसका भी वर्णन नहीं किया गया। इससे यह नहीं माना जा सकता कि, वह तीर्थ उस समय नहीं था। अच्छा, धौम्यने दाक्षिण ओरके जो तीर्थ बतलाये हैं, उन्हें अब देखिये। पहले गोदावरी, वेणानदी, भीमरथी नदी और पयोष्णी, ये नदियाँ बतलाई हैं। लिखा है कि, पयोष्णीके किनारे राजा नृगने सैंकड़ों यज्ञ किये थे। पाण्ड्योंके देशके अगस्त्य तीर्थ और वरुण तीर्थका वर्णन है; और अन्तमें ताम्रपर्णी और गोकर्ण तीर्थका वर्णन है। नारदतीर्थयात्रामें जो और अधिक तीर्थ बतलाये गये हैं, वे कावेरी नदी और कुमारी तीर्थ हैं। अर्थात् दक्षिणी सिरेमें कन्या कुमारीका यहाँ उल्लेख है। कृष्णा, वेणा और दण्डकारण्यका भी उल्लेख है। सप्त गोदावरीका भी उल्लेख है; अर्थात् गोदावरीके सात मुखोंका यहाँ निर्देश किया गया है। सबसे विशेष बात यह है कि, उज्जयिनीके महाकालका वर्णन किया गया है; और वहाँके दोनों स्थान, कोटितीर्थ और भद्रवट, जो अब भी प्रसिद्ध हैं, उल्लिखित हैं। उपर्युक्त वर्णनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि दक्षिण ओरका अधिकाधिक ज्ञान कैसे होता गया। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि, पाण्डवोंकी तीर्थ-यात्राकी अपेक्षा धौम्यके तीर्थ-यात्रा-वर्णनमें अधिक तीर्थोंके नाम आये हैं; और उनसे भी अधिक नारदकी तीर्थ-यात्राके वर्णनमें तीर्थोंके नाम आये हैं।

अब हम पश्चिम ओरके तीर्थोंका उल्लेख करते हैं। पाण्डव शूर्पारक तीर्थ-

में आये; वहाँ उन्होंने वनमें प्राचीन राजाओंके किये हुए यज्ञ देखे; और किनारेसे भीतर जाने पर तपस्वी ब्राह्मणों-से भरी हुई परशुरामकी वेदी देखी। वसु, अश्विनीकुमार, यम, सूर्य, कुबेर, इन्द्र, विष्णु, विभु, शङ्कर इत्यादिके सुन्दर मन्दिरोंका अवलोकन किया। इसके बाद वे फिर शूर्पारक तीर्थ पर आये; और वहाँसे प्रभास तीर्थ पर गये। प्रभास तीर्थ काठियावाड़में दक्षिण समुद्रके किनारे पर द्वारकासे दूर है। यहाँ उन्हें श्रीकृष्ण और यादव मिले। यहाँसे पाण्डव विदर्भ देशके अधिपति द्वारा बढ़ाई हुई पवित्र पयोष्णी नदी पर आये। इससे यह अनुमान निकलता है कि विदर्भ देशकी यह नदी गुजरातमें होगी। परन्तु यह भी सम्भव है कि पाण्डव पीछे फिर-कर पयोष्णी नदी अर्थात् ताप्ती पर आये हों। क्योंकि फिर लिखा है कि यहाँसे वे वैदूर्य पर्वत और नर्मदा नदी पर गये। अथवा, प्रभास तीर्थ काठियावाड़का न होगा। जो हो; नर्मदा नदीमें स्नान करके वे राजा शर्यातिके यज्ञप्रदेश और च्यवन-के आश्रममें आये। ये दोनों स्थान नर्मदा-के तीर पर ही थे। यहाँ च्यवन मुनि और शर्यातिकी कन्या सुकन्याकी कथा है। यहाँसे फिर वे लोग सिन्धु नदके तीर्थ पर गये; और वहाँके अरण्यमें जो सरोवर था उसे देखा। इसके बाद वे पुष्कर तीर्थ पर आये और आर्थिक पर्वत पर रहे। तदनन्तर गङ्गा, यमुना और सरस्वतीके किनारेके तीर्थ उन्होंने देखे। पाण्डवोंकी इस पश्चिम-तीर्थयात्राका वर्णन बहुत विचित्र और बहुत ही थोड़ेमें किया गया है। विशेषतः पुष्करका वर्णन जो कि अन्य स्थानोंमें बहुत अधिक किया गया है, यहाँ वैसा नहीं पाया जाता। नारदकी तीर्थयात्रा और धौम्यकी तीर्थ-यात्रामें पुष्करका बहुत वर्णन है। पुष्कर-का क्षेत्र ब्रह्माजीका है। पुष्कर एक बड़ा तालाब है, नदी नहीं। वह राजपूतानेके मध्य भागमें है। इसके पासका अर्बुद अर्थात् आबूका पहाड़ वहाँ बतलाया गया है। नारदकी तीर्थयात्राके वर्णनमें द्वारका-का वर्णन है। वास्तवमें पाण्डवोंके समयमें द्वारकाको तीर्थत्व नहीं प्राप्त हुआ था; और इसी कारण पाण्डव द्वारका-को नहीं गये। नारदकी वर्णन की हुई तीर्थयात्रा महाभारतके समयकी है। उस समय द्वारका स्वभावतः एक बड़े तीर्थका स्थान बन गई थी। इस स्थान-का बहुत ही विस्तृत वर्णन किया गया है। (द्वारकामें) पिंडारक तीर्थ पर स्नान करनेसे सुवर्ण-प्राप्ति होती है। यह आश्चर्यकी बात है कि उस तीर्थमें अब भी पद्मरूपी चिह्नोंसे युक्त मुद्रा (सोनेके सिक्के) दृष्टिगोचर होते हैं। वहाँ ऐसे कमल दिखाई पड़ते हैं जिन पर त्रिशूलके चिह्न होते हैं। यहाँ सदैव शंकरका निवास है। इस वर्णनसे जान पड़ता है कि महाभारत-कालमें द्वारका एक प्रसिद्ध तीर्थ बन गया था। परन्तु जब हम इन बातों पर ध्यान देते हैं कि द्वारकाकी स्थापना श्रीकृष्णने नवीन ही की, रैवतक पर्वत पर उन्होंने नवीन दुर्ग बनवाये, और उनके निज-धाम जाने पर द्वारका पानीमें डूब गई, तब स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि श्रीकृष्ण अथवा पाण्डवोंके समयमें यह तीर्थ नहीं था। इससे स्वभावतः अनुमान होता है कि यह वर्णन और यह सम्पूर्ण नार-दोक्त तीर्थयात्रा महाभारत-कालकी, अर्थात् ईसवी सन्के पहले २५० वर्षके लगभगकी है।

इसके बाद उत्तर ओरके तीर्थोंके वर्णनमें युगन्धर, अच्युतस्थल और भूत-लय नामक, यमुना परके तीर्थोंका वर्णन

है। गङ्गावतरण तीर्थका उल्लेख होकर आगे कुरुक्षेत्रमें पाण्डवोंके जानेका वर्णन है। कुरुक्षेत्रसे सरस्वतीके विनशन तीर्थका वर्णन है। इसके बाद विपाशा अर्थात् व्यासा नदी आई है। विपाशासे फिर वे काश्मीरको गये। इसके आगे फिर वे मानस सरोवर पर गये। वहाँ उन्हें वितस्ता नदी दिखाई दी। वितस्ता नदीके पास जला और उपजला नामक दो नदियाँ उन्हें मिलीं। आगे मैनाक तथा श्वेतगिरि पर्वत परसे वे कैलाश पर्वत पर गये। वहीं उनको भागीरथीका दर्शन हुआ। इसके बाद वे गन्धमादन पर्वत पर आ पहुँचे; और जहाँ कि विशाला-संज्ञक बदरी (बेरी) है और नरनारायण-का आश्रम है, तथा जहाँसे अलकनन्दा नदी निकलती है, वहाँ वे जा पहुँचे। नरनारायणके आश्रममें पहुँचने पर घटो-त्कचकी सहायतासे आगे जाकर फिर उन्होंने भागीरथी नदीमें स्नान किया और अपनी तीर्थ-यात्रा समाप्त की।

पुष्कर और कुरुक्षेत्रका महत्त्व।

महाभारत-कालमें दो तीर्थ अथवा तीर्थोंके स्थान बहुत ही प्रसिद्ध थे। एक अर्बुदके पासका पुष्कर तीर्थ और दूसरा कुरुक्षेत्र। पुष्कर तीर्थ सब तीर्थोंका राजा है। पुष्करका जो सुबह-शाम स्मरण करेगा उसे भी सब तीर्थोंके स्नान करनेका फल मिलेगा। पुष्कर तीर्थके विषयमें एक बात और यह है कि, ब्रह्माजीका एक मात्र यही क्षेत्र है। शेष सब तीर्थ शिव, विष्णु अथवा अन्य देवताओंके हैं। नारद-की बतलाई हुई तीर्थ-प्रशंसामें इस तीर्थ-को सब तीर्थोंका आदिभूत कहा है। दूसरा तीर्थ कुरुक्षेत्र है। नारद-तीर्थ-वर्णन-में इस तीर्थके लिए एक बहुत बड़ा स्वतन्त्र अध्याय (वन पर्वका ८३ वाँ अध्याय) दिया गया है। यह कहनेवाला मनुष्य भी कि मैं कुरुक्षेत्रको जाऊँगा, कुरुक्षेत्रमें रहूँगा, पापसे मुक्त हो जाता है। दृशद्वती-के उत्तर और सरस्वतीके दक्षिण जितना क्षेत्र है, वह सब पुण्यभूमि है। इतने ही क्षेत्रमें, अनेक किंबहुना सैंकड़ों तीर्थोंका वर्णन इस अध्यायमें किया गया है, जिनमें तीन मुख्य हैं। पहला पृथूदक है। लिखा है कि, सब क्षेत्रोंमें कुरुक्षेत्र पवित्र है। कुरुक्षेत्रमें सरस्वती और सरस्वतीमें पृथू-दक सबसे अधिक उत्कृष्ट है। दूसरा तीर्थ स्यमन्तपञ्चक है। कहते हैं कि, ये पाँच तालाब परशुरामने क्षत्रियोंका नाश करके उनके रक्तसे भरे थे। तीसरा तीर्थ सन्निहती नामक है। लिखा है कि, सूर्य-ग्रहणके समय जो मनुष्य इस तीर्थमें स्नान करेगा वह सौ अश्वमेध करनेका पुण्य पावेगा। इस तीर्थमें सब तीर्थ आये हैं; और इसी लिए इसका नाम सन्निहती है। भागवतमें लिखा है कि, सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें कौरव, पाण्डव, यादव, गोपाल, सब एक जगह इकट्ठे हुए थे। और, आज भी सूर्यग्रहणके समय कुरु-क्षेत्रमें ही जानेकी विशेष महिमा मानी जाती है। वहाँ लाखों मनुष्य यात्रामें एकत्र होते हैं।

उस समय यह धारणा थी कि कुरु-क्षेत्रमें जो युद्धमें मरेगा, वह मुक्ति पावेगा। इसी कारण कौरव-पाण्डव इस क्षेत्रमें युद्धके लिए जमा हुए थे। परन्तु यह बात सम्भव नहीं कि, इतनी बड़ी सेना कुरुक्षेत्रमें रह सकी हो। स्वयं महाभारतमें ही लिखा हुआ है कि, कुरु-क्षेत्रको बीचमें रखकर दोनों ओरकी फौजें बहुत विस्तीर्ण प्रदेशमें फैली हुई थीं। पञ्जाबका कुछ भाग, पूरा कुरुजाङ्गल, रोहितकारण्य और मरुभूमितक सेना फैली हुई थी। अहिच्छत्र, कालकूट, गङ्गा-

पूल, वारण और वाटधान तथा यमुनाके दक्षिणके पहाड़तक फौजें फैली हुई थीं। बहुत लोगोंकी ऐसी कल्पना रहती है कि, भारती-युद्ध किसी छोटेसे भागमें हुआ था। परन्तु महाभारतमें अन्यत्र वर्णन किया गया है कि कुरुक्षेत्र, अहिच्छत्र (आजकलका रामपुर) और वारण वाटधान नामक ग्राम दक्षिण ओर हस्तिनापुरसे बहुत अन्तर पर हैं। यहाँतक फौजें थीं। इससे जान पड़ता है कि, सौ कोस लम्बे और पचाससे सौ कोसतक चौड़े प्रदेशमें भारती-युद्ध हुआ होगा।

सरस्वतीके विषयमें महाभारतमें एक स्वतन्त्र आख्यान शल्य पर्वमें दिया हुआ है। उससे हमको सरस्वतीका बहुतसा वृत्तान्त मालूम हो जाता है। बलराम युद्धमें न जाकर सरस्वतीकी तीर्थयात्राको गये। लिखा है कि उस समय वे सरस्वतीकी उलटी दिशासे, अर्थात् मुखकी ओरसे उद्गमको ओर गये। वास्तवमें सरस्वती समुद्रमें नहीं मिलती। आजकल भी वह घाघरा नदीमें जाकर मिलती है। परन्तु प्राचीन कालमें कभी न कभी यह नदी अरब समुद्रमें कच्छके रणके पास मिलती होगी। बलरामने अपनी यात्रा प्रभास तीर्थसे प्रारम्भ की। यह तीर्थ आजकल द्वारकाके दक्षिणमें पश्चिम किनारे पर है। इसके बाद वे चमसोद्भेद तीर्थ पर गये। वहाँसे फिर उदपान तीर्थ पर गये। लिखा है कि यह तीर्थ केवल एक कूआँ था। परन्तु यह भी कहा है कि इस जगहके लतावृक्षोंकी हरियालीसे और भूमिकी स्निग्धतासे सिद्ध लोग सहजमें ही पहचान सकते हैं कि यहाँसे सरस्वती नष्ट हो गई है। अवश्य ही वह कूआँ मारवाड़के रेगिस्तानमें होगा। इसके बाद बलराम विनशन तीर्थ पर गये। इस जगह शूद्राभीरोंके द्वेषके कारण सरस्वती नष्ट हुई, अर्थात् रेतमें गुप्त हो गई, इसी लिए इसका नाम विनशन है। इस जगह उन्होंने सरस्वती नदीमें स्नान किया। यहाँसे उत्तर जाते हुए उन्होंने सरस्वतीके किनारेके अनेक तीर्थ देखे। आगे चलते चलते वे द्वैत वनमें पहुँचे। इस वनका वर्णन हम पहले कर ही चुके हैं। यह वन हिमालयकी तराईके आसपास था। इसके आगे सरस्वती दक्षिणकी ओर घूमी है। आगे चलकर यहाँ यह लिखा है कि हिमालयसे सात नदियाँ निकलीं; और वे सब मिलकर सरस्वती बन गईं। इस कारण उसे सप्तसारस्वत नाम प्राप्त हुआ है। वहाँसे आगे अनेक तीर्थ देखते हुए वे हिमालयके भीतर प्रविष्ट हुए; और सरस्वतीके उद्गमतक उन्होंने यात्रा की। सरस्वतीके किनारे अनेक ब्राह्मण प्राचीन कालसे रहते थे। एक बार बारह वर्षकी अनावृष्टि हुई, अतएव ब्राह्मणोंको कुछ भी खानेको न मिलने लगा। तब सारस्वत मुनिने सरस्वतीकी आज्ञासे मत्स्यों पर अपना उदरनिर्वाह किया और वेदोंकी रक्षा की। जो ब्राह्मण भटककर अन्य स्थानोंमें चले गये थे उन्हें सारस्वत मुनिने, अवर्षण समाप्त होनेके बाद, वेदोंका अध्याय बतलाया, इसलिए वे सब सारस्वत मुनिके शिष्य बन गये; और तभीसे मत्स्य खानेकी चाल इन ब्राह्मणोंमें पड़ी। अस्तु; इसके बाद यमुनाके किनारे किनारे चलकर बलदेव कुरुक्षेत्रमें स्यमन्तपञ्चकमें उतरे; और गदायुद्धके समय वे उपस्थित हुए। इस प्रकार सरस्वती आख्यानमें सरस्वतीके मुखसे उद्गमतकका वर्णन आगया है। इस आख्यानसे यह अनुमान करनेमें कुछ भी बाधा नहीं जान पड़ती कि प्राचीन कालमें सरस्वती नदी प्रत्यक्ष मारवाड़से बहती हुई पश्चिम-समुद्रमें जा मिलती थी।

नगर।

महाभारतमें किन किन नगरोंका नाम आया है, इसका उल्लेख प्रायः उपर्युक्त वर्णनमें हो चुका है। कौरवोंकी मुख्य राजधानीका शहर हस्तिनापुर, जो गङ्गाके किनारे था, इस समय नष्ट हो गया है। परन्तु यह निश्चित है कि, वह दिल्लीके उत्तर-पूर्व था। पांडवोंकी राजधानीका ग्राम इन्द्रप्रस्थ यमुनाके पश्चिम किनारे पर प्रसिद्ध है। वह अब भी दिल्लीके दक्षिण ओर इसी नामसे प्रसिद्ध है। पांडवोंने जो पाँच गाँव माँगे थे उनमेंसे चार तो यह हैं--इन्द्रप्रस्थ, वृकप्रस्थ, माकन्दी और वारणावत। अन्य कोई एक मिलाकर पाँच गाँव माँगे थे। इन्द्रप्रस्थके दक्षिण ओर यमुनाके किनारे पर वृकप्रस्थ था। गङ्गाके किनारे पर एक माकन्दी और यमुनाके किनारे पर दूसरी माकन्दी थी। चौथा गाँव वारणावत गङ्गाके किनारे पर था। यह हाल आदि-पर्वसे मालूम होता है (आदि० अध्याय १४६)। मत्स्योंकी राजधानी विराट नगर थी। इसके उत्तर ओर और इन्द्रप्रस्थके दक्षिण ओर उपप्लव्य नामका शहर था। विराट नगर जयपुरके पास था। ऐसी दशामें उपप्लव्य जयपुर और दिल्लीके बीचमें होना चाहिए। पांडवोंने युद्धकी तैयारी उपप्लव्यमें की थी। शूरसेनोंकी राजधानी मथुरा थी। वही आजकलकी मथुरा नगरी है, जो यमुनाके किनारे है। द्रुपदोंकी राजधानी, गङ्गाके उत्तर ओर, अहिच्छत्र थी। अहिच्छत्र आजकल संयुक्त प्रान्तके रामपुरके पास है। द्रुपदकी दूसरी राजधानी कांपिल्य थी। यह गङ्गाके पश्चिम किनारे पर होगी। कान्य-कुब्ज गाधिकी राजधानी थी। यह गङ्गाके पश्चिम किनारे पर आजकलका कन्नौज शहर है। यमुनाके दक्षिण किनारे पर चेदीका राज्य था। उनकी राजधानी शुक्तिमती वनपर्वके २२ वें अध्यायमें वर्णित है। महाभारतमें देशोंकी सूचीमें वत्स देशका नाम नहीं आया; और वत्सराजकी राजधानी कौशाम्बीका नाम भी यद्यपि महाभारतमें प्रत्यक्ष नहीं आया, तथापि मालूम अवश्य था। आदि-पर्व (अ० ६३) में लिखा है कि, राजा वसुके चार पुत्रोंने चार राज्य और नगर स्थापित किये थे। उनमें एक कुशाम्ब था। अतएव यह स्पष्ट है कि, उसने जो राजधानी स्थापित की, वह कौशाम्बी है। गङ्गा-यमुनाके सङ्गम पर प्रयागका नाम प्रसिद्ध है। वह वर्तमान प्रयाग ही है। उत्तर ओर अयोध्या शहर आजकलका ही अयोध्या है। मिथिला विदेह देशका शहर प्रसिद्ध है। अङ्ग देशकी चम्पा राजधानीका नाम महाभारतमें आया है। वह आजकलके बिहार प्रान्तका चम्पारन है। भारती युद्धकालमें गङ्गा-यमुनाके प्रदेशमें भारती आर्योंकी पूरी बस्ती हो गई थी; परन्तु यह आश्चर्यकी बात है कि, उस समयके बहुत थोड़े शहरोंका वर्णन महाभारतमें आया है; और उनमेंसे बहुत थोड़े शहर आजकल शेष हैं। भीष्म काशिराजकी लड़कियाँ हरण कर लाये थे, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि, काशी शहर उस समय था। मगधोंकी राजधानी पाटलिपुत्र नहीं थी, किन्तु राजगृह थी। इसका वर्णन ग्रन्थोंमें भी है। बुद्ध इसी शहरमें गये थे। यह शहर आजकल नष्ट हो गया है। मगधका पुण्यक्षेत्र गया उस समय अवश्य प्रसिद्ध होगा। संयुक्तप्रान्तके एक और नगरका नाम एकचक्रा पाया जाता है। बकासुर यहीं मारा गया था। यह शहर गङ्गाके उत्तर ओर होगा। इसके बाद पञ्जाब प्रान्तके दो ही शहरोंके नाम आये हैं। एक शाकल और दूसरा तक्षशिला। दोनों शहर आजकल नष्टप्राय हैं। शाकल

स्यालकोटके पास था; और तक्षशिला रावलपिण्डीके पास थी। बम्बई प्रान्तके तीन शहरोंका उल्लेख हुआ है—द्वारका, भरुकच्छ (भड़ौच) और शूर्पारक (सोपारा, जो बसईके पास है)। ये तीनों शहर अब भी मौजूद हैं। इनके सिवा अन्य जिन शहरोंका उल्लेख हुआ है, वे विदर्भके कौंडिन्यपुर और भोजकट हैं। ये अमरावतीके पास होंगे।

भरतखण्डके देशोंके नाम, भीष्म पर्व अध्याय ६। जो देश नकशे पर दिखलाये गये हैं, उन पर × चिह्न कर दिया है। जिन पर कोष्ठक ( ) लगाया है, उनका नाम दो बार आया है।

आर्यभागके अथवा उत्तर ओरके देश।

१ कुरु ×
२ पाञ्चाल ×
३ शाल्व
४ माद्रेय
५ शूरसेन ×
६ पुलिन्द ×
७ बोध
८ माल
९ मत्स्य ×
१० कुशल्य
११ सौशल्य
१२ कुन्ति
१३ कान्तिकोशल
१४ चेदि ×
१५ मत्स्य ( )
१६ करूष *
१७ भोज *
१८ सिन्धु ×
१९ पुलिन्दक
२० उत्तम
२१ दशार्ण ×
२२ मेकल
२३ उत्कल ×
२४ पाञ्चाल
२५ कोसल ×
२६ नैकपृष्ठ
२७ धुरन्धर
२८ गोध
२९ मद्र *
३० कलिङ्ग ( )
३१ काशि ×
३२ अपरकाशि
३३ जठर
३४ कुकुर
३५ दशार्ण ( )
३६ कुन्ति ( )
३७ अवन्ति ×
३८ अपरकुन्ति
३९ गोमन्त
४० मन्दक
४१ सगड
४२ विदर्भ ×
४३ रूपवाहिक
४४ अश्मक ×
४५ पाण्डुराष्ट्र
४६ गोपराष्ट्र ×
४७ कारीति
४८ आधिराज्य
४९ कुशाद्य
५० मल्लराष्ट्र
५१ वारवास्य
५२ यवाह
५३ चक्र
५४ चक्राति
५५ शक
५६ विदेह ×
५७ मगध ×
५८ स्वक्ष
५९ मलज
६० विजय
६१ अङ्ग ×
६२ वङ्ग ×
६३ कलिङ्ग ×
६४ यकृल्लोम ×
६५ मल्ल
६६ सुदेष्ण
६७ प्रह्लाद
६८ माहिक
६९ शशिक
७० बाह्लिक ×
७१ वाटधान ×
७२ आभीर ×
७३ कालतोयक
७४ अपरान्त ×
७५ परान्त ×
७६ पाञ्चाल ( )
७७ चर्ममण्डल
७८ अटवीशिखर
७९ मेरुभूत
८० उपावृत्त
८१ अनुपावृत्त
८२ स्वराष्ट्र ×
८३ केकय ×
८४ कुन्दापरान्त
८५ माहेय
८६ कक्ष
८७ समुद्रनिष्कुट
८८ आन्ध्र ×
८९ अन्तर्गिर्य
९० बहिर्गिर्य
९१ अङ्ग ( )
९२ मलय
९३ मगध
९४ मानवर्जक
९५ समन्तर
९६ प्रावृषेय
९७ भार्गव
९८ पुण्ड्र ×
९९ भर्ग
१०० किरात
१०१ सुदृष्ट
१०२ यामुन
१०३ शक
१०४ निषाद
१०५ निषध ×
१०६ आनर्त ×
१०७ नैर्ऋत
१०८ दुर्गाल
१०९ प्रतिमत्स्य
११० कुन्तल ( )
१११ कोसल ( )
११२ तीरग्रह
११३ शूरसेन ( )
११४ ईजिक
११५ कन्यकागुण
११६ तिलभार

११७ मसीर
११८ मधुमन्त
११९ सुकन्दक
१२० काश्मीर ×
१२१ सिन्धु ×
१२२ सौवीर ×
१२३ गान्धार ×
१२४ दर्शक
१२५ अभिसार
१२६ उलूत
१२७ शैवल
१२८ बाल्हिक ( )
१२९ दार्वीचव
१३० नवदर्व
१३१ वातजाम
१३२ रथोरग
१३३ बाहुवाद्य
१३४ सुदामान
१३५ सुमल्लिक
१३६ वध्र
१३७ करीषक
१३८ कुलिन्द ( )
१३९ उपत्यक
१४० बनायु
१४१ दश
१४२ पार्श्वरोम
१४३ कुशाबिन्दु
१४४ कच्छ ×
१४५ गोपालकच
१४६ जाङ्कल
१४७ कुरुवर्णक
१४८ किरात ×
१४९ बर्बर ×
१५० सिद्ध
१५१ वैदेह ( )
१५२ ताम्रलिप्तक ×
१५३ औड्र ×
१५४ म्लेच्छ
१५५ शैशिरिध्र
१५६ पार्वतीय

दक्षिण ओरके लोग ।

१ द्रविड़ ×
२ केरल ×
३ प्राच्य
४ भूषिक
५ वनवासिक ×
६ कर्णाटक ×
७ माहिषक ×
८ विकल्प
९ मूषक ×
१० झिल्लिक
११ कुन्तल ×
१२ सौहृद
१३ नभकानन
१४ कौकुट्ट
१५ चोल ×
१६ कोंकण ×
१७ मालव ×
१८ समङ्ग
१९ करक
२० कुकुर
२१ आंगार
२२ मारिष
२३ ध्वजिन्युत्सव-संकेत
२४ त्रिगर्त
२५ शाल्वसेनि
२६ व्यूक
२७ कोकवक
२८ प्रोष्ठ
२९ समवेगवश
३० विन्ध्यचुलिक
३१ पुलिन्द
३२ वल्कल
३३ मालव ( )
३४ बल्लव
३५ अपरबल्लव
३६ कुलिन्द
३७ कालद
३८ कुण्डल
३९ करट
४० मूषक
४१ स्तनवाल
४२ सनीप
४३ घटसृंजय
४४ अठिद्
४५ पाशिवाट
४६ तनय
४७ सुनय
४८ ऋषिक
४९ विदभ
५० काक

उत्तर ओरके म्लेच्छ ।

१ तङ्गण } यह दक्षिणके लोगोंमें भूलसे
२ परतङ्गण } बतलाये गये हैं ।

१ यवन ×
२ चीनकांबोज ×
३ सकृद्ग्रह
४ कुलत्थ
५ हूण ×
६ पारसीक ×
७ रमण
८ चीन ×
९ दशमालिक
१० शूद्राभीर
११ दरद ×
१२ काश्मीर
१३ पशु
१४ खाशीर ×
१५ आंतचार
१६ पल्हव ×
१७ गिरिगह्वर
१८ आत्रेय
१९ भरद्वाज
२० स्तनपोषिक
२१ प्रोषक
२२ कलिङ्ग
२३ किरात जाति
२४ तोमर
२५ हन्यमान
२६ करभंजक

२७ लंपाक । यह नाम नीचेके श्लोकमें आया है । लंपाकाश्च पुलिन्दाश्च चिक्षिपुः स्ताश्च सात्यकिः

(द्रो० अ० १२०) इसके सिवा उत्तर ओर

(सभापर्व-वनपर्व) अर्जुनके दिग्विजयमें आनेवाले लोग इस प्रकार हैं:—

१ कुविन्द
२ आनर्त
३ तालकूट
४ प्राग्ज्योतिष ×
५ अन्तर्गिरि ( )
६ बहिर्गिरि ( )
७ त्रिगर्त
८ दार्व

९ कोकनद
१० काम्बोज
११ परद
१२ किंपुरुष
१३ गुह्यक

दक्षिण ओर सहदेवके दिग्विजयमें

१४ सेक
१५ अपरसेक
१६ किष्किन्धा
१७ माहिष्मती
१८ शूर्पारक
१९ कालकूट
२० दण्डक
२१ करहारक
२२ आन्ध्र
२३ यवनपुर
२४ कर्णप्रावरण
२५ एकपाद
२६ पुरुषाद

भीमके दिग्विजयमें पूर्व ओर

२७ पुमाल
२८ अयोध्या
२९ गोपालक
३० मल्ल
३१ सुपार्श्व
३२ मलग
३३ अनघ
३४ अभय
३५ वत्स ×
३६ मणिमान् ×
३७ शर्मक
३८ वर्मक
३९ शकबर्बर
४० सुह्म
४१ दंडधार
४२ लौहित्य
४३ मणिपूर

अर्जुनकी पहली यात्रामें।

नकुलके पश्चिम दिग्विजयमें।

४४ मत्तमयूर
४५ शैरीषक
४६ महत्थ
४७ अम्बष्ठ ×
४८ मालव ×
४९ पञ्चकर्पट
५० शाल्व
५१ केकय
५२ तक्षशिला
५३ वाहीक
५४ क्षुद्रक

कर्णके दिग्विजय (वनपर्व) में जो अधिक हुए।

उत्तर ओर

५५ नेपाल ×

पूर्व ओर

५६ शुंडिक
५७ कर्कखंड

मध्य देश।

५८ वत्स
५९ मोहननगर
६० त्रिपुर

दक्षिण ओर

६१ शैल
६२ नील

पश्चिम ओर

६३ बर्बर

भीष्म पर्वके ९वें अध्यायकी नदियोंके नाम। जो नदियाँ नकशेमें दिखलाई हैं, उन पर × चिह्न किया है।

१ गंगा ×
२ सिंधु ×
३ सरस्वती ×
४ गोदावरी ×
५ नर्मदा ×
६ बाहुदा ×
७ महानदी ×
८ शतद्रु ×
९ चन्द्रभागा ×
१० यमुना ×
११ दृषद्वती ×
१२ विपाशा ×
१३ विपापा
१४ वेत्रवती ×
१५ कृष्णा ×
१६ वेण्या ×
१७ इरावती
१८ वितस्ता ×
१९ देविका
२० वेदस्मृता
२१ वेदवती
२२ त्रिविदा
२३ इक्षुला
२४ कृमि
२५ करीषिणी
२६ चित्रवाहा
२७ चित्रसेना
२८ गोमती ×
२९ धूतपापा
३० गण्डकी ×
३१ कौशिकी ×
३२ निचिता
३३ रोहतारणा
३४ रहस्या
३५ शतकुंभा
३६ शरयू ×
३७ चर्मण्वती ×
३८ वेत्रवती ×
३९ हस्तिसोमा ×
४० दिक्
४१ शरावती
४२ पयोष्णी ×
४३ वेणा ( )
४४ भामरथी ×
४५ कावेरी ×
४६ चुलुका
४७ वाणी
४८ शतबला
४९ नीवारा
५० अहिता
५१ सुप्रयोगा
५२ पवित्रा
५३ कुंडली
५४ राजनी
५५ पुरमालिनी
५६ पूर्वाभिरामा
५७ वीरा
५८ भीमा ( )
५९ मोघवती
६० पाशायनी
६१ पापहरा
६२ महेन्द्रा
६३ पाटलावती
६४ करीषिणी
६५ असिक्नी ×
६६ कुशचीरा ×
६७ मकरी
६८ प्रवरा ×
६९ मेना
७० हेमा

७१ धृतवती
७२ पुरावती
७३ अनुष्णा
७४ शैव्या
७५ कापी
७६ सदानीरा ×
७७ अधृष्णा
७८ कुशधारा
७९ सदाकान्ता
८० शिवा
८१ वीरवती
८२ वस्त्रा
८३ सुवस्त्रा
८४ गौरी
८५ कंपना
८६ हिरण्यवती
८७ वया
८८ वीरकरा
८९ पंचमी
९० रथचित्रा
९१ ज्योतिरथा
९२ विश्वामित्रा
९३ कपिंजला
९४ उपेन्द्रा
९५ बहुला

९६ कुवीरा
९७ अम्बुवाहिनी
९८ विनती
९९ किंजला
१०० वेणा
१०१ तुङ्गवेणा
१०२ विदिशा
१०३ कृष्णवेणा ×
१०४ ताम्रा
१०५ कपिला
१०६ खलु
१०७ सुनामा
१०८ वेदाश्वा
१०९ हरिश्रवा
११० शीघ्रा
१११ पिच्छिला
११२ भारद्वाजी
११३ कौशिकी ( )
११४ शोणा ×
११५ बाहुदा
११६ चंद्रमा
११७ दुर्गा
११८ चित्रशिला
११९ ब्रह्मवेध्या
१२० बृहद्वती

१२१ यवक्षा
१२२ रोही
१२३ जांबूनदी
१२४ सुनसा
१२५ तमसा
१२६ यासी
१२७ वसामन्या
१२८ वाराणसी
१२९ नीला
१३० धृतवती
१३१ पर्णाशा
१३२ माधवी
१३३ वृषभा
१३४ ब्रह्ममेध्या
१३५ बृहध्वनि
१३६ कृष्णा
१३७ मंदवाहिनी
१३८ ब्राह्मणी
१३९ महागौरी
१४० दुर्गा

१४१ चित्रोपला
१४२ चित्ररथा
१४३ मंजुला
१४४ मंदाकिनी
१४५ वैतरणी ×
१४६ कोषा
१४७ शुक्तिमती
१४८ अनंगा
१४९ वृषसी
१५० लौहित्या ×
१५१ करतोया ×
१५२ वृषका
१५३ कुमारी
१५४ ऋषिकुब्जा
१५५ मारिषा
१५६ सरस्वती
१५७ मंदाकिनी
१५८ सुपुण्या
१५९ सर्वा
१६० गंगा

"इनके सिवा अनेक अज्ञात और क्षुद्र नदियाँ हैं; और महानदियोंमेंसे जिनकी याद आई, वही यहाँ बतलाई गई हैं।" अर्थात् कुछ नदियाँ इनमें भी रह गई हैं। उदाहरणार्थ उज्जैनकी क्षिप्रा।

तेरहवाँ प्रकरण।

ज्योतिर्विषयक ज्ञान।

अब देखना चाहिए कि महाभारतके समय भारती आर्योंको ज्योतिष-शास्त्रका कितना ज्ञान था। महाभारतमें ज्योतिर्विषयक उल्लेख अनेक स्थलों पर हैं; और उन उल्लेखोंसे सिद्ध है कि महाभारतके समयतक ज्योतिषशास्त्रकी बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो चुकी थी। इससे बहुत पूर्व वेदाङ्गज्योतिषका निर्माण हो चुका था और ज्योतिषशास्त्रमें गणितशास्त्रका बहुत कुछ प्रवेश भी हो चुका था। सूर्य और चन्द्रका गणित कर लेनेकी पद्धति लोगोंको मालूम हो गई थी। तथापि समग्र रीतिसे ज्योतिषशास्त्रकी उन्नति महाभारत-कालके पश्चात् ही हुई—इससे इनकार नहीं हो सकता। यूनानियोंका भी ज्योतिष-विषयक ज्ञान महाभारत-कालके पश्चात् ही बढ़ा और सन् ईसवीके प्रारम्भके लगभग उस ज्ञानका भारती ज्योतिष-शास्त्रके ज्ञानके साथ मेल हुआ; और फिर इसके पश्चात्, सिद्धान्त आदि बड़े बड़े उत्तम विस्तृत ग्रन्थ भारतवर्षमें तैयार हुए। अब इस भागमें इस बातका विचार किया जायगा कि भारती-कालमें ज्योतिषकी जानकारी किस तरह बढ़ती गई।

भारती-कालके प्रारम्भ अर्थात् वैदिक-कालके अन्तमें भारतीय आर्योंको २७ नक्षत्रोंका, और उनके बीच चन्द्रकी गतिका, अच्छा ज्ञान हो गया था। यजुर्वेदमें सत्ताईस नक्षत्र पठन किये गये हैं। यही नाम महाभारतमें भी आते हैं। चन्द्र प्रति दिन सत्ताईस नक्षत्रोंमेंसे किसी न किसी एक नक्षत्रमें रहता है, यह भी इशारा हुआ था। आजकल जिस तरह तारीखका उपयोग किया जाता है उसी तरह भारती कालमें नक्षत्रोंका उपयोग किया जाता था। जिस तरह आजकल यह कहा जाता है कि अमुक तारीखको अमुक बात हुई, उसी तरह महाभारत-कालमें कहा जाता था कि अमुक बात अमुक नक्षत्र पर हुई थी। समग्र 'सत्ताईस' नक्षत्रोंकी संख्या एक हिसाबसे कम पड़ती थी, क्योंकि चान्द्र मास अट्ठाईस दिनोंकी अपेक्षा कुछ जरासा बड़ा है। अतएव किसी समय सत्ताईस नक्षत्रोंके बदले अट्ठाईस नक्षत्र माननेकी रीति पड़ गई थी। परन्तु यह अट्ठाईसवाँ नक्षत्र असलमें काल्पनिक ही था। और उसके लिए काल्पनिक स्थान भी दिया गया था। इस अभिजित् नक्षत्रके विषयमें महाभारत (वनपर्व) में एक अद्भुत कथा लिखी है। वनपर्वके २३०वें अध्याय-में ये श्लोक आये हैं:—

अभिजित्स्पर्धमाना तु रोहिण्या कन्यसी स्वसा। इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता॥ तत्र मूढोस्मि भद्रं ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम्। कालं त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय॥ धनिष्ठादिस्तदा-कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः। रोहिणी त्वभवत्पूर्वं एवं संख्या समाभवत्॥ एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः। नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद्वह्निदैवतम्॥

इन श्लोकोंका ठीक ठीक अर्थ नहीं लगता। परन्तु स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि अभिजित् नक्षत्र आकाशसे गिर पड़ा क्योंकि बड़प्पनके लिए उस नक्षत्रका रोहिणीके साथ झगड़ा हो गया था। उस समय स्कन्दने, ब्रह्मदेवके साथ इस बातका विचार करके, धनिष्ठासे काल-गणना शुरू कर दी। इससे पहले रोहिणी मुख्य थी। इस प्रकार व्यवस्था करने पर संख्या पूर्ण हो गई और कृत्तिका

आकाशमें चली गई। वह सात मस्तकोंवाला नक्षत्र अग्निदैवत है और आजकल आकाशमें चमक रहा है। समझमें नहीं आता कि इस कथाका सम्बन्ध अगली पिछली कथाके साथ कैसा और क्या है। हाँ, आजकल उपलब्ध होनेवाली गर्गसंहितासे भी देख पड़ता है कि, ज्योतिषशास्त्रके साथ स्कन्द देवताका सम्बन्ध था। इस ग्रन्थमें शिव और स्कन्दके सम्भाषणरूपसे समस्त ज्योतिषकी जानकारी दी गई है। तात्पर्य यह जान पड़ता है कि प्राचीन-कालमें नक्षत्रोंके आरम्भमें रोहिणी नक्षत्र था: फिर वह संपातके पीछे हट जानेके कारण विरुद्ध होने लगा और काल-गणनामें गड़बड़ होने लगी: अतएव एक नक्षत्रको पीछे हटाकर कृत्तिका नक्षत्रसे नक्षत्रोंकी गणना होने लगी। महाभारतमें "धनिष्ठादिस्तदा कालः" यह भी उल्लेख है और कहा गया है कि यही कृत्तिकादि गणना है। पहले रोहिणी आदि गणना थी, अब अश्विनी आदि गणना है। इनके बीचके श्रवण नक्षत्र पर उत्तरायण होनेका भी उल्लेख महाभारतमें है। अनुस्मृति (अश्वमेधपर्व) में कहा है—"श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः।" दीक्षितका कथन है कि यह वेदाङ्गज्योतिषके अनन्तरकी अर्थात् (ईसवी सनके पहले १४००के अनन्तरकी) और ईसवी सनके पहले ४०० के लगभगकी स्थिति है। इसका उल्लेख किसी अन्य स्थानमें किया ही गया है। लोकमान्य तिलकने सिद्ध किया है कि वैदिक-कालके पहले मृगशीर्षमें नक्षत्रका आरम्भ होता था। अस्तुः इसका मर्म अगले विवेचनसे समझमें आवेगा।

भारती कालके आरम्भसे लेकर महाभारतकाल पर्यन्त नक्षत्रोंके आरम्भमें कृत्तिकाएँ ही थीं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भी कृत्तिका ही प्रारम्भमें हैं। महाभारतके अनुशासन पर्वके ६४ वें अध्यायमें समस्त नक्षत्रोंकी सूची देकर बतलाया है कि प्रत्येक नक्षत्र पर दान करनेसे भिन्न भिन्न प्रकारका क्या पुण्य मिलता है। इस सूचीमें भी प्रारम्भमें कृत्तिकाएँ ही हैं। सात नक्षत्रोंकी एक पंक्ति बनाकर सब नक्षत्रोंकी फेहरिस्त यहाँ दी जाती है:—

१ कृत्तिका	१५ अनुराधा
२ रोहिणी	१६ ज्येष्ठा
३ मृगशिर	१७ मूल
४ आर्द्रा	१८ पूर्वाषाढ़ा
५ पुनर्वसु	१९ उत्तराषाढ़ा
६ पुष्य	२० अभिजित्
७ आश्लेषा	२१ श्रवण
८ मघा	२२ धनिष्ठा
९ पूर्वा	२३ शतभिषक्
१० उत्तरा	२४ पूर्वाभाद्रपदा
११ हस्त	२५ उत्तराभाद्रपदा
१२ चित्रा	२६ रेवती
१३ स्वाती	२७ अश्विनी
१४ विशाखा	२८ भरणी

बिलकुल पूर्व कालमें प्रारम्भ मृगशीर्षसे होता था। फिर जब रोहिणीसे शुरू हुआ तब अवश्य ही शतभिषक् नक्षत्र पर कालारम्भ होता था। जब कृत्तिकासे प्रारम्भ हुआ तब धनिष्ठादिकाल हो गया। यह बात पाठकोंके ध्यानमें आ जायगी। आजकल महाभारतकालकी यह गणना छूट गई है, अश्विनीसे नक्षत्रका आरम्भ होने लगा है और कालारम्भ (वसन्तारम्भ) अभिजित् नक्षत्रसे होता है। महाभारत-कालके अनन्तरके इस समयमें अश्विन्यादि गणना शुरू हुई और उसका मेल, वृषभ इत्यादि बारह राशियोंके चन्द्रके साथ मिलाया गया। सन् ईसवीके आरम्भसे लेकर

अबतक यही नक्षत्र-गणना चली आ रही है। पिछले क्रमके अनुसार, सम्पातगति-के कारण, आगे कभी न कभी नक्षत्रारम्भ एक या दो नक्षत्रोंके पीछे हटकर रेवती अथवा उत्तरा भाद्रपदसे करना पड़ेगा।

पहले रोहिणी नक्षत्र किसी समय सब नक्षत्रोंमें प्रमुख था, इस बातको दर्शानेवाली एक और कथा महाभारतमें है। ये सत्ताइसों नक्षत्र दक्ष प्रजापतिकी कन्याएँ हैं: उसने इनका विवाह चन्द्रमा-के साथ कर दिया: किन्तु चन्द्रमाने सब पर एकसी प्रीति न करके रोहिणी पर अत्यधिक प्रेम करना आरम्भ कर दिया। तब, औरोंने दक्षसे इस बातकी शिकायत की। किन्तु इधर चन्द्रमा दक्षकी एक न सुनता था। तब दक्षने चन्द्रमाको शाप दिया कि जा तू क्षयी हो जायगा। इस कारण चन्द्रमाको क्षय होता है और प्रभास तीर्थमें स्नान करनेसे वह मुक्त हो जाता है (शल्य पर्व सरस्वती आख्यान)। इस कथाका तात्पर्य इतना ही है कि चन्द्रमा-की गति न्यूनाधिक परिमाणसे शीघ्र अथवा मन्द रहती है। इस कारण ऐसा देख पड़ता है कि रोहिणी नक्षत्रमें वह बहुत समयतक रहता है। प्रभास तीर्थ पश्चिमकी ओर है, और अमावस्याके पश्चात् चन्द्रमाका उदय पश्चिममें होता है। इससे यह कल्पना हुई है कि प्रभास तीर्थमें स्नान करनेसे चन्द्रमा क्षय रोगसे मुक्त हो जाता है।

भिन्न भिन्न नक्षत्रोंसे चन्द्रमाकी गति-का ज्ञान महाभारत-कालमें अच्छा हो गया था। इसी तरह नक्षत्रोंमें सूर्यके गमनका भी ज्ञान महाभारतके समय खासा हो गया था। इसमें सन्देह नहीं कि रातका समय होनेसे नक्षत्रोंमें चन्द्रमाकी गति देख लेना सहज है; परन्तु सूर्यकी गतिकी ओर सूर्य उगनेके पूर्व और डूबनेके पश्चात् ही यह देखकर ध्यान देना सम्भव है कि कौन कौन नक्षत्र क्षितिज पर देख पड़ते हैं। इस तरह भारती आर्योंको यह बात मालूम थी कि नक्षत्र-मण्डलमें सूर्य भी घूमता है। सूर्यके समग्र मण्डलके चक्करके लिए ३६५। दिन लगते हैं। इतने समयमें चन्द्रमा ३५४ दिनोंमें बारह परिक्रमाएँ करता है, और कुछ दिन बच रहते हैं। यह स्पष्ट है कि महीनोंकी कल्पना चन्द्रमाके घूमनेसे ही होती है और अमावस्या-पूर्णिमासे महीनों-का ज्ञान होता है। वर्षकी कल्पना सूर्यकी गतिसे है। इस तरह एक वर्षमें बारह महीने और ११। दिन होते हैं। इस रीतिसे यद्यपि चान्द्र महीनोंसे सौर वर्षका मेल नहीं मिलता, तथापि भारती आर्योंने न तो चान्द्र महीनोंको ही छोड़ा और न सौर वर्षको ही। क्योंकि पूर्णिमा अमावस्या पर उनका विशेष यज्ञ होता था और वे सौर वर्षको भी छोड़ न सकते थे। कारण यह है कि ऋतुमान सौर वर्ष पर अवलम्बित है। इसके लिए उन्होंने चान्द्र मासके साथ सौर वर्ष-का मेल मिलानेका प्रयत्न किया। महा-भारत-कालमें उन्हें मालूम न था कि सौर वर्ष ठीक ३६५। दिनोंका है। नाक्षत्र सौर वर्ष लगभग ३६६ दिनोंका होता है। इस हिसाबसे उन्होंने पाँच वर्षके युगकी कल्पना की और इन पाँच वर्षोंमें दो महीने अधिक मिलानेकी रीति चलाई। स्पष्ट है कि पाँच वर्षमें लगभग दो महीने अधिक (१२ × ५ = ६० दिन) चान्द्र मासमें बढ़ जाते हैं। हमने पहले एक स्थान पर दिखलाया ही है, कि आरम्भमें ये दोनों महीने अर्थात् समूची एक ऋतु, एक ही समय, बढ़ा देनेकी रीति भारती युद्ध-कालमें रही होगी। भारती युद्धके समय कुछ लोग तो ३५४ दिनका चान्द्र वर्ष

मानते रहे होंगे और कुछ लोग ३६६ दिनोंका सौर वर्ष। इसी कारण, पाण्डवों-ने तेरह वर्षोंके वनवास और अज्ञात-वासका, शर्तके अनुसार, पालन किया अथवा नहीं—इस विषयमें झगड़ा उप-स्थित होने पर भीष्मने इसका फैसला करते हुए कहा है कि—

पंचमे पंचमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः।
एवमप्यधिका मासाः पंच च द्वादश त्तपाः॥
त्रयोदशानां वर्षाणां इति मे वर्तते मतिः।

हर पाँचवे साल दो महीने उत्पन्न होते हैं। इन दो महीनोंको वेदांगज्योतिष-में पाँच वर्षोंके युगमें दो बार अलग अलग मिलानेकी रीति कही गई है। पहला महीना तो पहले २½ वर्षोंमें श्रावण-के पहले और दूसरा महीना पाँच वर्षोंके युगके अन्तमें माघसे पहले: अर्थात् महा-भारत-कालमें श्रावण और माघ यही दो महीने अधिक (लौंद) हुआ करते थे। इन अधिक महीनोंका उल्लेख महाभारतमें अन्यत्र कहीं नहीं है।

सूर्य-चन्द्रकी गतिका ज्ञान हो जाने पर पाँच वर्षोंका युग महाभारत-कालमें प्रचलित था। इनकी सूक्ष्म गणनाके लिए समयके जो सूक्ष्म विभाग किये गये थे वे ये हैं:—कला, काष्ठा, मुहूर्त, दिन, पक्ष, महीना, ऋतु, वर्ष और युग। इनका कोष्ठक भी महाभारतके शांति पर्वमें है।

काष्ठा निमेषा दशपञ्च चैव त्रिंश-त्काष्ठा गणयेत्कलानाम्। त्रिंशत्कलश्चापि भवेन्मुहूर्तो भागः कलाया दशमश्च यः स्यात्॥
(शान्ति पर्व अ० २३१)

यहाँ निमेष अर्थात् पलक मारनेसे ही गणना की है।

१५ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
३०$\frac{1}{10}$ कला	=	१ मुहूर्त
३० मुहूर्त	=	१ दिन
३० दिन	=	१ महीना
१२ महीने	=	१ वर्ष
५ वर्ष	=	१ युग

हर एक कला और काष्ठाके लिए भिन्न भिन्न नाम नहीं हैं: परन्तु दिन भरके प्रत्येक मुहूर्तके लिए भिन्न भिन्न नाम हैं। महाभारतके समय इन मुहूर्तोंका सम्बन्ध प्रत्येक धार्मिक कर्मके साथ भला या बुरा (शुभ-अशुभ) समझा जाता था। इसीके अनुसार प्राचीन कालसे लेकर अबतक यह धारणा है, कि अमुक मुहूर्त-में कौन काम करना चाहिए और अमुक मुहूर्तमें कौन काम न करना चाहिए। परन्तु महाभारतके समय मुहूर्त शब्दका जो अर्थ था वह तो गया भूल, और आजकल मुहूर्तका अर्थ कोई न कोई शुभ अथवा अशुभ समय हो गया है। आज-कल बहुधा किसीको यह मालूम नहीं रहता कि मुहूर्तसे मतलब कितने समयसे है। आजकल तो मुहूर्तका समय साधा-रण एक आध मिनट लिया जाता है; परन्तु उल्लिखित नक्शेके अनुसार मुहूर्त दो घड़ी या ४८ मिनिटोंका होता है। उल्लिखित नक्शेमें और अमरकोशमें दिये हुए नकशेमें थोड़ासा फर्क है।

अष्टादश निमेषास्तु काष्ठा त्रिंशत्तु ताःकला।
त्रिंशत्कलो मुहूर्तस्तु त्रिंशत्रात्र्यहनी च ते॥

इसमें यह भेद स्पष्ट है। इससे देख पड़ता है कि महाभारतके अनन्तर, पहलेकी ज्योतिषकालगणना-पद्धतिमें ज़रा अन्तर पड़ गया और भिन्नता आ गई। दोनों ही गणनाओंमें दिन मात्र एक है। एक सूर्योदयसे लेकर दूसरे सूर्योदयतक दिन अथवा अहोरात्र दोनोंने एकसा माना है। दिनके आगेका परिमाण महाभारतके समय और उसके अनन्तर बहुत कुछ भिन्न हो गया। महाभारतके समयके पश्चात् सात दिनोंका एक सप्ताह बन

गया। भिन्न भिन्न ग्रहोंके नाम पर प्रत्येक दिनके भिन्न भिन्न नाम रखे गये और इस प्रकार वार उत्पन्न हो गये। महाभारतमें ये वार हैं ही नहीं। जानना चाहिए कि इन वारोंकी उत्पत्ति आगे चलकर कैसे हो गई। ये वार (दिन-नाम) पहलेपहल खाल्डियन लोगोंमें उत्पन्न हुए और वहाँसे संसार भरमें फैल गये हैं। हिन्दुस्थानमें ये वार महाभारत-कालके अनन्तर बैक्ट्रियन यूनानियोंके साथ उनके ज्योतिषियोंकी रीति समेत हमारे अर्वाचीन ज्योतिषशास्त्रमें प्रविष्ट हो गये।

वैदिक कालमें प्रचलित छः दिनोंके पृष्ठ्य नामक दण्डकका नाम महाभारतमें नहीं पाया जाता। यह छः दिनका दण्डक, यज्ञके उपयोगके लिए, वैदिक कालमें कल्पित किया गया था। ३५४ दिनोंका चान्द्र वर्ष, ३६० दिनोंका सामान्य वर्ष और ३६६ दिनोंका नाक्षत्र सौर वर्ष होता है। ये तीनों वर्ष वैदिक कालमें माने गये थे और उनमें छः छः दिनोंका अन्तर था। साधारण महीनेके ३० दिन होते हैं। छः दिनका यह विभाग यज्ञके काममें बहुत कुछ उपयोगी होता था। यह छः दिनका पृष्ठ्य अर्थात् सप्ताह, महाभारतके समय, यज्ञकी प्रबलता घट जानेसे पीछे रह गया होगा।

तिथि और नक्षत्रके कारण चान्द्र मासकी गणनामें, दिनका महत्त्व भिन्न भिन्न होता था। जिस दिन जिस नक्षत्र पर चन्द्र हो, वही उस दिनका नक्षत्र है। महाभारत-कालमें तिथिकी अपेक्षा नक्षत्रका महत्त्व अधिक था। २७ नक्षत्रोंके २७ भिन्न भिन्न देवता माने गये थे। और उन देवताओंके स्वभावके अनुसार, उस उस नक्षत्रसे गुण अथवा अवगुण होनेकी बात मानी जाती थी। इस प्रकार, महाभारतके समय फल-ज्योतिषकी दृष्टिसे नक्षत्रोंका उपयोग अधिकतासे होता था। कहीं यात्राके लिए जाना, विवाह करना या युद्ध करना हो, तो नक्षत्र देखकर उचित नक्षत्र पर करना पड़ता था। जिस नक्षत्रमें मनुष्यका जन्म हुआ हो उस नक्षत्रके अनुसार उस मनुष्यकी आयुमें सुख-दुःख होनेकी कल्पना महाभारतके समय पूर्ण रूपसे चल चुकी थी। इसी कारण, जन्म-कालका नक्षत्र देनेकी रीति महाभारतसे दृग्गोचर होती है। युधिष्ठिरका जन्म जिस अच्छे नक्षत्रादि गुणों पर और समय पर हुआ था उसका वर्णन यों किया है।

ऐन्द्रे चन्द्रसमारोहे मुहूर्तेऽभिजिदष्टमे।
दिवोमध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेति पूजिते॥

इसमें कहा गया है कि चन्द्र-समारोह अर्थात् नक्षत्र ऐन्द्र है अर्थात् इन्द्र देवताका है। इससे यह सूचित होता है कि जिस प्रकार इन्द्र सब देवताओंका राजा है, उसी प्रकार युधिष्ठिर भी सबका राजा होगा। यह ज्येष्ठा नक्षत्र है। यद्यपि महाभारतके समय नक्षत्रोंका महत्त्व सबसे श्रेष्ठ माना जाता था, और यह समझा जाता था कि जन्म-नक्षत्रके अनुसार ही मनुष्यकी सारी आयु बीतती है, तथापि फल-ज्योतिषकी निन्दा करनेवाले और उस पर अविश्वास करनेवाले लोग तब भी थे।

बहवः संप्रदृश्यन्ते तुल्यनक्षत्रमंगलाः।
महत्तु फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंगिषु॥
(वनपर्व)

फल-ज्योतिष पर अब भी यह आक्षेप किया जाता है कि यद्यपि बहुतसे लोग एक ही नक्षत्र पर होते हैं; परन्तु उनके कर्मके अनुसार आयुष्यके फलमें अत्यन्त विषमता दिखाई देती है। यही आक्षेप महाभारत-कालमें भी किया जाता था।

अस्तु; नक्षत्रोंके देवता अलग अलग माने गये थे। यह विश्वास था कि उन देवताओंके अनुसार फल होता है। ज्योतिषके इसी सिद्धान्तके अनुसार, महाभारतके युद्धके समय, सौतिने अनेक अशुभ चिह्न वर्णन किये हैं। सौतिने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि ब्राह्मण और क्षत्रियके अभिमानी नक्षत्रों पर क्रूर ग्रहोंकी दृष्टि आई हुई है। इसका विवेचन पहले हुआ ही है। अस्तु; स्पष्ट है कि महाभारतके समय समस्त भारती-ज्योतिष नक्षत्र-घटित था। महाभारतके बाद नये बैक्ट्रियन ग्रीक लोगोंकी सहायतासे जो सिद्धान्त-ज्योतिष बना, उसमें नक्षत्र पीछे पड़े और राशि तथा लग्नकी ही प्रधानता हुई। वही रवाज अबतक चल रहा है। नक्षत्रोंका भी कुछ उपयोग इस समय होता है; परन्तु इस बातकी जाँच नहीं की जाती कि नक्षत्रोंके देवता कौन हैं। और कहाँतक कहा जाय, आजकल ज्योतिषियोंतकको भी बहुधा इसका ज्ञान नहीं रहता।

महाभारत-कालमें नक्षत्रोंके अनन्तर दिनका महत्त्व तिथिके नाते बहुत कुछ था। तिथिका अर्थ है पक्ष भरके दिनोंकी संख्या। समग्र तिथियोंमें पञ्चमी, दशमी और पौर्णिमा शुभ मानी गई हैं और इन्हें पूर्णा कहा गया है। युधिष्ठिरके जन्म-विषयमें 'तिथौ पूर्णेऽतिपूजिते' का उल्लेख हो ही चुका है। महाभारतमें कोई समाचार कहते समय जितना उपयोग नक्षत्रोंका किया गया है, उतना तिथियोंका नहीं पाया जाता। फिर भी कुछ स्थलों पर तिथियोंका उल्लेख मिलता है। यह वर्णित है कि विराट नगरमें गो-ग्रहणके लिए सुशर्मा तो सप्तमीको गया और कौरव गये अष्टमीको। स्कन्दको देव-सेनाका आधिपत्य पञ्चमीके दिन दिया गया और षष्ठीको उसने तारकासुरका पराभव किया। परन्तु यह नहीं बतलाया गया कि ये घटनाएँ किस महीने और पक्षमें हुईं। यह बड़े आश्चर्यकी बात है। आगे इस विषयका उल्लेख होगा। यह कहनेकी अवश्यकता नहीं कि पक्ष दो थे। एक शुक्ल अथवा सुदी और दूसरा कृष्ण अथवा बदी। शुक्ल पक्षको पहला और कृष्ण पक्षको दूसरा माननेकी प्रथा महाभारत-कालमें रही होगी। यह प्रथा यूनान और अन्य देशोंकी रीतिके विरुद्ध थी, इस कारण यूनानी इतिहास-प्रणेताओंका ध्यान इस ओर सहज ही पहुँच गया। सिकन्दरके समय हिन्दुस्थानमें जो काल-गणना प्रचलित थी, उसका वर्णन करते हुए इतिहास-लेखक कर्टियस रूफसने कहा है कि—"यहाँके लोग प्रत्येक महीनेके, पन्द्रह पन्द्रह दिनके, दो पक्ष मानते हैं। तथापि समग्र वर्षकी गणनामें फर्क नहीं होता। (अर्थात् एक वर्ष ३६६ दिनोंका माना जाता है)। परन्तु और बहुतेरे लोग जिस तरह चन्द्रके पूर्ण होनेकी तिथिसे गणना आरम्भ करते हैं, उस तरह भिन्न भिन्न महीनोंको नहीं जोड़ते। जिस समय चन्द्र तुरन्त ही उगने लगता है, उसी समयसे यहाँवाले गणनाका आरम्भ करते हैं।" इससे सिद्ध है कि सिकन्दरके समय—महाभारत-कालमें—अन्य देशोंकी तरह महीने पौर्णिमान्त न थे, किन्तु आजकलकी भाँति अमान्त थे।

किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि सर्वत्र ऐसी ही स्थिति थी। पौर्णिमान्त महीनेकी रीति भारती-कालमें, वैदिक कालकी ही भाँति, कहीं कहीं प्रचलित थी। वनपर्वके १६२ वें अध्यायमें कुबेर, युधिष्ठिरसे कहते हैं—"यहाँ पर तुम कृष्ण-पक्ष भर रहो।" इस पर टीकाकारने खूब

लम्बी चौड़ी टीका की है। "इस पर कुछ लोगोंका यह कहना है कि उस जमानेमें कृष्णपक्ष प्रथम रहता था। किन्तु यह कथन भ्रान्त है; क्योंकि पक्षके लिए पूर्व और अपर, सुदी और बदी, ये संज्ञाएँ हैं। इसी तरह पौर्णिमाका नाम पूर्णिमासी है। इससे कुछ यह अर्थ नहीं लेना है कि यहाँ महीना पूरा हो जाता है; किन्तु मास शब्दका अर्थ चन्द्र भी है और इसीसे पौर्णिमाको पूर्णमासी कहते हैं।" यहाँ पर सिर्फ इतना ही कहना है कि समस्त भाषाओंमें चन्द्र और महीनेका निकट सम्बन्ध है। अँग्रेजीमें भी 'मन्थ' शब्दका 'मून' (चन्द्र) शब्दसे सम्बन्ध है। इसी तरह संस्कृतमें 'मास' शब्द मूलमें चन्द्र-वाचक है, फिर महीनेका बोधक हो गया है। फारसीमें भी माह शब्द चन्द्रवाची है; उसका अर्थ भी महीना हो गया है। इस सम्बन्धमें कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि सभी लोगोंमें पहले महीने चन्द्रसे निश्चित किये गये थे। हाँ, बहुतेरे स्थलों पर चन्द्र पूर्ण होने पर महीना गिननेकी रीति थी। इसी प्रकार भारती लोगोंमें भी पूर्ण चन्द्रसे महीना गिननेकी रीति रही होगी और महाभारतमें उसका उल्लेख आदि क्वचित् पाया जाता है। वैदिक साहित्यमें तो वह है ही। परन्तु निश्चय है कि महाभारतके समय उत्तरी हिन्दुस्थानमें—निदान पञ्जाबमें—यूनानियोंको अमान्त महीने प्रचलित मिले। महाभारत-कालके पश्चात् उत्तरी हिन्दुस्थानमें पौर्णिमान्त महीनेकी रीति चल पड़ी और वह अब भी विक्रमी संवत्के साथ साथ प्रचलित है। विक्रमी संवत् पौर्णिमान्त महीनेका होता है—यह चाल कब निकली? यह एक महत्त्वका प्रश्न है। परन्तु शक-वर्ष सदा अमान्त महीनोंका माना जाता है और सब ज्योतिष-ग्रन्थोंमें यही गणना दी हुई है। इस समय हिन्दुस्थानमें दोनों रीतियाँ प्रचलित हैं। नर्मदाके उत्तरमें संवत्के साथ पूर्णिमान्त महीना प्रचलित है, और दक्षिणमें शक-वर्षके साथ अमान्त महीना प्रचलित है।

साधारण रीतिसे महीना ३० दिनका माना जाता था और प्रत्येक पन्धरवाड़े (पखवाड़े) में पन्द्रह तिथियाँ मानी जाती थीं। तिथियोंके नाम प्रतिपदा, द्वितीया आदि संख्या पर थे। परन्तु चन्द्रका सूर्यसे सङ्गम उन्तीस दिनोंमें और कभी कभी अट्ठाईस दिनोंमें ही हो जाता है; इस कारण एक आध पखवाड़ेमें एक या दो तिथियाँ घट जाती थीं अथवा कभी कभी एक तिथि ज्यादा भी हो जाती थी। चन्द्रका ग्रहगणित जिस समय मालूम न था, उस समय पहलेसे समझमें न आता था कि किस पखवाड़ेमें कितनी तिथियाँ होंगी; और यह बात अन्तमें प्रत्यक्ष अनुभवके भरोसे ही छोड़नी पड़ती थी। महाभारतसे प्रकट होता है कि भारती-कालमें एक ऐसा भी समय था। जिस तरह अरब लोग इस समय भी प्रत्यक्ष चन्द्रको देखकर तदनुसार महीना मानते हैं, वही दशा पहले, एक समय भारती आर्योंकी थी और पहलेसे ही तिथिकी वृद्धि अथवा क्षयको जान लेना उनके लिए कठिन था। भीष्मपर्वके आरम्भमें धृतराष्ट्रसे व्यास कहते हैं—

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वांच षोडशीम्।
इमान्तु नाभिजानेहममावास्यां त्रयोदशीम्॥

"मैंने चतुर्दशी, पञ्चदशी और षोडशी अर्थात् सोलहवीं तिथिको भी अमावास्या देखी है (अर्थात् एक दिनकी वृद्धि या क्षयको देखा है)। परन्तु मैं तेरहवें दिन अमावस्याको नहीं जानता।" इस वाक्यसे सिद्ध है कि भारती-युद्धके समय तिथियोंके निश्चित किये जानेका गणित

उत्पन्न न हुआ था। परन्तु इस समय यह गणित मालूम हो गया है और सभी जानते हैं कि तेरह दिनोंका पखवाड़ा कई बार होता है। इससे कुछ यह नहीं कहा जा सकता कि हम व्यासकी अपेक्षा चतुर हैं। वेदाङ्ग-ज्योतिषमें तिथियोंका गणित है। अर्थात् भारतीय युद्धका समय--व्यासका समय--वेदाङ्ग-ज्योतिषके पहले ही निश्चयपूर्वक निश्चित होता है। यानी यह निश्चित हुआ कि सन् ईसवीसे १४०० वर्ष पूर्व भारतीय युद्ध हुआ था। अस्तु: यह पहले ही कहा जा चुका है कि महाभारत, वर्तमान स्वरूपमें, वेदाङ्ग-ज्योतिषके अनन्तर आया। महाभारतके समय यह बात मालूम होगी कि सूर्य और चन्द्रका योग २८ दिनोंमें होता है और नीचेवाले श्लोकसे यही देख पड़ता है—

अष्टाविंशतिरात्रं च चंक्रम्य सह भानुना।
निष्पतन्ति पुनः सूर्यात्सोमसंयोगयोगतः॥

सूर्यके साथ नक्षत्र २८ रात्रियाँ घूमकर, चन्द्रके संयोगके पश्चात, फिर सूर्यसे बाहर होते हैं। इस श्लोकका ऐसा ही अर्थ जान पड़ता है। अस्तु: यह बात तो प्रदर्शित की गई है कि सूर्य-चन्द्रका संयोग २८ रात्रियोंके पश्चात होता है (उ० अ० ११०)।

कुल महीने बारह हैं और महाभारतके समय उनके वही नाम थे जो आजकल प्रचलित हैं। अर्थात् मार्गशीर्ष आदि नामोंका चलन था। इनके सिवा दूसरे नाम, जो कि आजकल भी प्रचलित हैं, शुचि, शुक्र आदि वे भी प्रचलित थे। जिस नक्षत्र पर पूर्णिमाको चन्द्रमा आता है उस नक्षत्रका नाम महीनेको देकर प्राचीन कालमें पहले नाम रखे गये थे; अर्थात् यह प्रकट ही है कि ये नाम पौर्णिमान्त महीनोंके समयके हैं। महीनोंके नाम इस प्रकार हैं—मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक। इनका आरम्भ मार्ग-शीर्षसे होता है। ध्यान देनेकी बात यह है कि आजकलकी तरह चैत्रसे आरम्भ नहीं होता। मार्गशीर्ष महीनेको आग्रहायण कहा है। अनुशासन पर्वके १०६ठे और १०९वें अध्यायमें प्रत्येक महीनेमें उपवास करनेका फल लिखा है। उसमें भी प्रारम्भ मार्गशीर्षसे ही है। इसके अतिरिक्त गीतामें भी "मासानां मार्गशीर्षोहम" कहा है। इससे जान पड़ता है कि भारतीकालमें महीनोंके आरम्भमें मार्गशीर्ष होना चाहिए। यह एक महत्वका प्रश्न है कि पहले महीनोंके आरम्भमें मार्गशीर्ष क्यों था। परन्तु यहाँ पर हमें इस कठिन प्रश्नका विचार नहीं करना है। समूचे भारती-कालमें महीनोंका क्रम मार्गशीर्षादि है और अब लगभग ईसवी सनके प्रारम्भसे चैत्रादि हो गया है। इसी तरह नक्षत्र-गणना भी महाभारतमें कृत्तिकादि थी और लगभग ईसवी सनके प्रारम्भमें ही वह अश्विन्यादि हो गई है।

ब्राह्मण ग्रन्थोंमें और यजुःसंहितामें महीनोंके जो अन्य नाम हैं वे महाभारतमें कहीं देख नहीं पड़ते। परन्तु अगले श्लोकमें श्रीकृष्णका समझौतेके लिए जानेका समय बतलाया गया है।

कौमुदे मासि रेवत्यां शरदंते हिमागमे।

इसमें टीकाकारने कौमुद नाम कार्तिकका बतलाया है; परन्तु किसी फेहरिस्तमें यह नाम नहीं पाया जाता। अर्थात् न तो मार्गशीर्षादि फेहरिस्तमें है, न शुचि, शुक्र आदि फेहरिस्तमें है और न उस तीसरी फेहरिस्तमें ही है जो कि यजुर्वेदमें है। यह अचरजकी बात है। एक बात और लिखने लायक यह है कि

पूर्व वर्णित गो-ग्रहणकी तिथियोंके साथ किसी महीनेका नाम नहीं बतलाया गया। बिना महीनेके तिथि बतलाना असम्भव है, इसलिए यह माननेमें कोई क्षति नहीं कि भारती-युद्धके समय प्राचीन यजुर्वेदके महीनोंके नाम अरुण अरुणरजः आदि प्रचलित थे और भारती-कालमें मार्गशीर्ष आदि नामोंका प्रचार हो जानेके कारण लोगोंको वे पुराने नाम दुर्बोध हो गये। इस कारण यह माना जा सकता है कि महाभारत-कालमें वे नाम सौतिके ग्रन्थसे निकाल दिये गये हों। इस विषयका विचार अन्यत्र हुआ ही है। अब ऋतुओंकी ओर चलें।

ऋतुएँ वैदिक हैं और गिनतीमें छ थीं। महाभारतके समय वही प्रचलित थीं। ये ऋतुएँ वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर थीं। भगद्गीतामें कहा है 'मासानां' मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः' अर्थात् ऋतुओंके आरम्भमें वसन्त था और महीनोंके आरम्भमें मार्ग-शीर्ष। इन दोनोंका मेल नहीं मिलता। यह एक छोटीसी पहेली ही है। ये छहों ऋतुएँ हिन्दुस्थानसे बाहरकी और वेद-कालीन हैं। ऋतुओंकी वही गणना महा-भारत-काल पर्यन्त रही और अब भी चैत्रादि गणनाके साथ चल रही है। मार्गशीर्ष आदि गणना और नाम भारती-कालमें उत्पन्न हुए: पर उनका मेल ऋतुओंके साथ नहीं किया गया। श्रीकृष्ण-के उपर्युक्त वर्णनमें 'शरदन्ते हिमागमे' कहा है और महीना बतलाया है कार्तिक। इसके सिवा यह वर्णन है कि सर्वसस्य-सुखे काले—सब प्रकारका अन्न और घास तैयार हो जानेसे लोग सुखी हो गये हैं। इससे जान पड़ता है कि वर्त-मान समयमें और महाभारतके समयमें, ऋतुओंके सम्बन्धमें, कुछ ज्यादा अन्तर नहीं पड़ा। सूर्यकी गति पर ऋतुएँ अव-लम्बित हैं और अयनबिन्दुके पीछे जानेके कारण वसन्तारम्भ धीरे धीरे पीछे हटता जाता है; इससे ऋतुका पीछे हटना प्रसिद्ध ही है। यह ऊपरवाला वर्णन महाभारत-कालका अर्थात् सन् ईसवीसे लगभग २५० वर्ष पूर्वका है—यह मान लेने पर देख पड़ेगा कि एक महीनेके लगभग ऋतुचक्र पीछे घसिट गया है। क्योंकि आजकल बहुधा अन्न और घास कुआरमें पककर तैयार होती है; और उस ज़मानेमें कार्तिकमें तैयार होनेका वर्णन है। फिर भी हम लोग अबतक चैत्रा-रम्भसे ही वसन्तका आरम्भ मानते हैं। यह गणना महाभारतके पश्चात्की है; और वह लगभग ईसवी सनके प्रारम्भकी है। इसमें आश्विन और कार्तिक शरद्के महीने हैं; ज्येष्ठ और आषाढ़ ग्रीष्मके महीने हैं; और श्रावण, भाद्रपद बर-सातके। आजकलके हिसाबसे बरसात बहुधा आषाढ़से आरम्भ हो जाती है। सभापर्वमें कहा है 'शुचि शुक्रागमे काले शुष्येत्तोयमिवाल्पकम्।' यह उल्लेख ऐसी स्थितिका बोधक है कि ज्येष्ठ और आषाढ़ महीने ही ग्रीष्म ऋतुके हैं। शुचि और शुक्र, ज्येष्ठ और आषाढ़के नाम हैं। अर्थात् महाभारत-कालसे लेकर अबतक सरसरी तौर पर ऋतुएँ एक महीने पीछे हट गई हैं। हिन्दुस्थानमें वास्तविक बर-सात चार महीनेकी है। विशेषतः ऋतुओं-का यह भेद दक्षिणमें अधिक देख पड़ता है। प्राचीन ऋतु-चक्रमें वर्षा ऋतुके दो ही महीने माने गये हैं। रामायणके किष्किन्धा काण्डमें यह श्लोक है—

पूर्वोयं वार्षिको मासः श्रावणः सलि-लागमः। प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिताः॥

इससे रामायण-कालमें भी वर्षा

ऋतुका पहला महीना श्रावण ही माना गया है और उसको सलिलागम कहा गया है। अर्थात् बरसातका प्रारम्भ ही कहा है। इससे प्रकट है कि रामायणके समयमें भी ऋतुएँ, वर्तमान समयसे, एक महीने आगे थीं और वर्षा ऋतुके चार महीने माने जाते थे। इससे रामायण-महाभारतका समय कोई दो हजार वर्ष पहले निश्चित होता है।

सूर्यकी उत्तर और दक्षिण गतिसे ऋतुओंका चक्र उत्पन्न होता है। महाभारतके समय यह बात ज्ञात थी। वनपर्वके १६३ वें अध्यायमें कहा है कि—"सूर्यके दक्षिण ओर जानेसे शीत उत्पन्न होता है और उत्तर ओर लौट आने पर वह पानीको सोख लेता है। फिर वह पानी छोड़ता है: और तब पृथ्वी पर शस्य आदिकी उत्पत्ति करता हुआ दक्षिणकी ओर चला जाता है। इस प्रकार सुखोत्पत्तिके लिए कारणीभूत यह महातेजस्वी सूर्य वृष्टि, वायु और उष्णताके योगसे प्राणियोंकी अभिवृद्धि करता है।"

ऋतु-चक्रके एक बार घूमनेसे एक वर्ष होता है और वर्षकी कल्पना ऋतुओंसे ही उपजती है। सूर्यकी गतिसे ऋतुएँ उत्पन्न होती हैं। सूर्य दक्षिणमें या उत्तरमें जैसा हो वैसेही ऋतुएँ बदलती हैं। अर्थात, वर्षको सूर्य पर अवश्य अवलम्बित रहना चाहिए। इस सौर वर्षकी ठीक अवधि कितनी है, इसे निश्चित करना महत्त्वका काम है; परन्तु यह काम कुछ कठिन नहीं है। सूर्य जब बिलकुल दक्षिणमें चला जाय, तब उस बिन्दुसे अवधिकी गणना करते हुए, फिर उस बिन्दु पर दुबारा सूर्यके आनेका समय देखकर ठीक ठीक अवधि स्थिर की जा सकती है। इस प्रकारकी माप और गणना करनेकी आवश्यकता, धार्मिक सत्रके कारण, भारती आर्योंको होती थी और इस कारण उन्हें वर्षकी ठीक ठीक जानकारी प्राप्त हो गई थी। वर्षके, उत्तरायण और दक्षिणायन दो भाग थे और इन दो भागोंका मध्य-बिन्दु अर्थात् विषुवका दिन उन्हें मालूम था। महाभारतमें स्पष्टतापूर्वक कहा गया है कि उत्तरायण तो पुण्यकारक और पवित्र है तथा दक्षिणायन पितरों और यमका है। प्राचीन कालमें यह माना जाता था कि उत्तरायणमें मृत्यु होने पर ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, और दक्षिणायनमें योगी मरे तो चन्द्रलोकमें जाकर वह फिर लौट आवेगा। भगवद्गीतामें ऐसी धारणाका स्पष्ट उल्लेख है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

यह श्लोक प्रसिद्ध है। महाभारतमें लिखा है कि शर-पञ्जर पर पड़े हुए भीष्म, देह त्यागनेके लिए, उत्तरायणकी बाट जोह रहे थे। महाभारतके समय उत्तरायण उस समयको कहते थे, जब सूर्य बिलकुल दक्षिण दिशामें जाकर वहाँसे लौटने लगता था। यह ध्यान देनेकी बात है: क्योंकि यह लिखा है कि सूर्यको उत्तर ओर आते देखकर युधिष्ठिर, भीष्मके यहाँ जानेके लिए चले (अनुशासनं अ० १६७)। इससे प्रकट है कि विषुव वृत्त पर सूर्यके आनेसे लेकर उत्तरायण माननेकी प्रथा महाभारत-कालमें न थी। दूसरी बात यह है कि महाभारत-कालमें, निदान भारती-युद्धके समय, उत्तरायण माघ महीनेमें हुआ करता था। भीष्मने मरण-समय पर कहा है—"माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर।" अब उत्तरायण पौष महीनेमें होता है। महाभारत-कालमें इस बातकी कल्पना न थी कि सूर्य दक्षिणको क्यों जाता है। महाभारत-

कालमें भारती आर्योंको इस बातका मालूम रहना सम्भव ही नहीं कि पृथ्वी-की कील, सूर्यके आसपास घूमनेकी सतहकी ओर कुछ अंशोंमें झुकी हुई है। उन्हें यह कल्पना भी न थी कि पृथ्वी सूर्यके इर्द गिर्द घूमती है। उन्हें यह भी मालूम न था कि पृथ्वी अपने ही चारों ओर घूमती है। सन्ध्या समय सूर्य पश्चिममें अस्त होकर प्रातःकाल पूर्वकी ओर कैसे उदित होता है, इसकी उन्होंने अद्भुत कल्पना की है। वे पृथ्वीको चौरस या चपटी समझते थे, इसलिए ऐसी ही कल्पना कर लेना सम्भव है।

अस्तं प्राप्य ततः सन्ध्यामतिक्रम्य दिवाकरः
उदीचीं भजते काष्ठां दिवमेष विभावसुः॥
स मेरुं अनुवृत्तः सन् पुनर्गच्छति पाण्डव।
प्राङ्मुखः सविता देवः सर्वभूतहितेरतः॥

वन पर्वके १६३वें अध्यायमें इस प्रकार वर्णन है। सूर्य उत्तर दिशामें जाकर मेरुकी प्रदक्षिणा कर फिर पूर्वमें उदित होता है। इसी प्रकार चन्द्र भी मेरुकी प्रदक्षिणा करके, नक्षत्रोंमें होकर, पूर्वमें आता है।

दक्षिणायन, उत्तरायण और इनके मध्यबिन्दुका ज्ञान पूर्णतया हो गया था और वर्षकी अवधि भी भारती-कालमें ज्ञात हो चुकी थी। इस वर्षमें बारह चान्द्र महीने और कुछ ऊपर दिन होते थे। इसलिए पाँच वर्षोंका युग मानकर उसमें दो महीने अधिक मिला देनेकी रीति महाभारतमें वर्णित है। यह पहले लिखा ही जा चुका है। इन युगोंके पाँच वर्ष भिन्न भिन्न नामोंसे वेदाङ्ग-ज्योतिष और वेदोंमें कथित हैं। महाभारतमें दो एक स्थानों पर वे नाम संवत्सर, परि-वत्सर और इदावत्सर इत्यादि उल्लिखित हैं। एक स्थान पर पाँचों पाण्डवोंको पञ्च संवत्सरोंकी उपमा दी गई है। इन पाँच वर्षोंके युगकी अपेक्षा बड़े युगकी कल्पना महाभारत-कालमें पूर्ण हो गई थी, इसमें आश्चर्य नहीं। इन चार बड़े युगोंके नाम कृत, त्रेता, द्वापर और कलि निश्चित हुए थे। ब्राह्मण-कालमें भी इनका चलन था। तब, इसमें अचरज नहीं कि महाभारत-कालमें यह कल्पना परिपूर्ण हो गई। भिन्न भिन्न युगोंकी कल्पना सभी प्राचीन लोगोंमें थी। इसी तरह वह भारती आर्योंमें भी थी। यह कल्पना भी सार्व-त्रिक है कि पहला युग अच्छा होता है; और फिर उत्तरोत्तर युगोंमें बुरा समय आता है। ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है—

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥

इन चारों युगोंका एक चतुर्युग अथवा महायुग मान लिया गया है। इन चतु-र्युगोंका उल्लेख भगवद्गीतामें भी है।

चतुर्युगसहस्रान्तमहर्यत् ब्रह्मणोविदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

यह श्लोक प्रसिद्ध है और इससे कभी कभी चतुर्युगको ही सिर्फ युग कहा जाता था। महाभारतमें वन पर्वके १८८वें अध्यायमें कलि, द्वापर, त्रेता और कृत चारों युगोंकी वर्ष-संख्या एक हजार, दो हजार, तीन हजार और चार हजार वर्ष दी है; और प्रत्येक युगके लिए सन्ध्या और सन्ध्यांश एक, दो, तीन और चार शतक दिये हैं। अर्थात् चतुर्युगोंकी वर्ष-संख्या बारह हजार वर्ष होती है। इन बारह हजारोंका चतुर्युग अथवा महायुग या केवल युग होता था; उसके हजार युगका ब्रह्मदेवका एक दिन होता था। महा-भारत-कालमें ऐसी ही कल्पना थी।

एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्तिता।
एतत्सहस्रपर्यन्तमहो ब्राह्ममुदाहृतम्॥
(वन पर्व अ० १८८)

इन बारह सहस्रोंकी संज्ञा युग है; ऐसे ऐसे हजार युगोंमें ब्रह्माका एक दिन

पूर्ण होता है। मनुस्मृतिमें यही गणना है। और भारतीय ज्योतिःशास्त्रके आधुनिक ग्रन्थोंमें भी यही गणना ग्रहण की गई है। उनमें इतना और कह दिया है कि चतुर्युगोंके बारह हजार वर्ष मानवी नहीं, देवताओंके वर्ष हैं। मानवी एक वर्ष = देवताओंका एक दिन; और मनुष्योंके ३६० वर्ष = देवताओंका एक वर्ष। ज्योतिःशास्त्रके मतसे ऐसा ही हिसाब निश्चित है। इस हिसाबसे पहला चतुर्युग ४३ लाख ३२ हजार मानवी वर्षोंका होता है। यह ध्यान देने लायक बात है।

कुछ आधुनिक भारतीय विद्वानोंकी राय है कि महाभारत और मनुस्मृतिमें जो कल्पना है, उससे भारतीय ज्योतिषकारोंने वह कल्पना बढ़ा दी। अर्थात्, भारती आर्योंकी समझसे महाभारत-कालमें चतुर्युग बारह हजार **मानवी** वर्षोंका ही था। परन्तु उल्लिखित विद्वानोंका यह मत हमें मान्य नहीं। कलियुग एक हजार मानवी वर्षोंका ही है, यह कल्पना होना कदापि सम्भव नहीं। देवताओंका एक दिन मनुष्योंका एक वर्ष है, यह कल्पना बहुत पुरानी है। उत्तरमें उत्तरध्रुव पर मेरु है; वहाँ छः महीनोंका दिन और इतने ही महीनोंकी रात होनेका अनुभव है। और, कल्पना यह है कि देवता लोग मेरु पर रहते हैं। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि उत्तरायण और दक्षिणायन ही देवताओंके दिन-रात हैं। यहाँ पर यह भी लिखा है कि हजार चतुर्युगोंका ब्रह्माका एक दिन होता है; और गीतामें स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्माकी रात उतनी ही बड़ी है। इस गणनासे स्पष्ट देख पड़ता है कि महाभारत और मनुस्मृतिमें जो बारह हजार वर्ष बतलाये गये हैं वे देवताओंके ही वर्ष हैं। वे मनुष्योंके वर्ष नहीं हैं। यदि मनुष्योंके वर्ष माने जायँ, तो युगोंका परिमाण बहुत ही ओछा पड़ता है। हजार वर्षका ही कलियुग माना जाना कदापि सम्भव नहीं। ब्राह्मण-कालमें यद्यपि यह निश्चित न था कि भिन्न भिन्न युगोंकी वर्ष-संख्या कितनी है, तथापि उस समय यह स्पष्ट माना जाता था कि कलियुग दस हजार वर्षसे अधिक बड़ा है। अथर्ववेदमें ही, जैसा कि प्रो० रङ्गाचार्यने दिखलाया है, (८—२—११) यह वाक्य है—"हम तुम्हारी अवधि सौ वर्ष, दस हजार वर्ष, एक, दो, तीन, चार युगके बराबर मानते हैं।" अर्थात् युगकी अवधि दस हजार वर्षसे अधिक है। वन पर्वमें चतुर्युगके बारह हजार वर्ष लिखे हैं। वहाँ पर दिव्य वर्ष ही अर्थ करना चाहिए। समयके अनन्तत्वके सम्बन्धमें भारती आर्योंकी कल्पना इतनी उदात्त थी कि कलियुगको एक हजार वर्षका समझनेकी सङ्कुचित कल्पना उन्होंने कदापि न की होगी। विशेषतः उनकी यह कल्पना होना सम्भव नहीं कि महाभारत-कालतक कलियुगके हजार वर्ष पूरे होते जा रहे थे। शान्ति पर्वके ३११वें अध्यायसे ज्ञात होता है कि महाभारत-कालमें समय-गणनाकी कल्पना कितनी बड़ी हो गई थी। पहले ब्रह्मदेवका एक दिन एक कल्पका ही माना जाता था; परन्तु इसमें साढ़े सात हजार वर्षोंका दिन होनेकी कल्पना की गई है। मतलब यह कि महाभारत-कालमें और मनुस्मृति-कालमें कलियुग एक हजार दो सौ दिव्य वर्षोंका अर्थात् चार लाख बत्तीस हजार (४३२०००) वर्षोंका माना था।

शान्तिपर्व (२३१ अ०) में युगोंके वर्ष फिर गिनाये गये हैं। यहाँ टीकामें कृतयुगके ४००० वर्ष देवताओंके ठीक बतलाये गये हैं; क्योंकि इससे प्रथम देव-

ताओंके दिन-रातका वर्णन है। "पहले जो मनुष्य-लोकके दिन और रात बतलाये गये हैं उनके अनुरोधसे इन वर्षोंकी गणना की गई है।" यहाँ दिव्य वर्षका उद्बोध होता है। यदि यहाँ कुछ सन्देह रह जाता हो तो वह पूर्वोक्त उपनिषद्-वचनोंसे मिटा दिया जा सकता है। तात्पर्य, महाभारतमें इस कल्पनाका होना कदापि सम्भव ही नहीं कि कलियुग एक हजार मानवी वर्षोंका था। चार लाख बयालीस हजार वर्षोंके युगकी कल्पना कुछ हिन्दुस्थानमें ही न थी; किन्तु पाश्चात्य देशोंमें जिन खाल्डियन लोगोंने ज्योतिष-शास्त्रका विशेष अभ्यास किया था उनमें भी यही कल्पना थी। युगका कुछ न कुछ बड़ा परिमाण माने बिना ज्योतिषके लिए और कोई गति नहीं है; और ज्योतिषके लिए उपयोगी बड़ा अङ्क है (३० × १२ × १२ × १०० = ४३२००० ।) गणितके लिए यह बहुत ही उपयोगी है। वर्षके ३६० दिनोंको फिरसे १२००० से गुणने पर यह अङ्क प्राप्त हुआ है। और यह युगकी कल्पना प्राचीन कालसे प्रचलित है।

१००० मानवी वर्षका कलियुग माननेकी कल्पना तो ओछी है ही; किन्तु इससे भी ओछी कल्पना कुछ लोगोंने की है। वे समझते हैं कि महाभारतमें एक युगका अर्थ एक वर्ष और चतुर्युगका चार वर्ष है; और भिन्न भिन्न चारों वर्षोंके नाम कृत, त्रेता, द्वापर और कलि हैं। किन्तु यह कल्पना निर्मूल है। वनपर्वमें दो स्थलों पर कुछ विरोधाभासी वचन हैं; उन्हींके आधार पर यह तर्क किया गया है। "सन्धिरेष त्रेताया द्वापरस्य च," वनपर्वके १२१वें अध्यायमें, एक तीर्थके सम्बन्धसे कहा गया है; फिर १४१वें अध्यायमें हनुमान् और भीमकी भेंटके समय "एतत्कलियुगं नाम अचिराद्यत्प्रवर्तते" कहा है। तब, प्रश्न होता कि एक वर्षकी ही अवधिके भीतर त्रेता-द्वापरकी सन्धि और फिर आगे कलियुग किस प्रकार आ सकेगा? किन्तु पहले वर्णनमें 'एष' शब्द-से समयका बोध नहीं होता, देशका ही बोध होता है। अगले-पिछले सन्दर्भसे यह बात जानी जा सकती है। यहाँ शर्याति राजा और च्यवन ऋषिकी कथा दी है। च्यवन ऋषि तप करनेवाले अर्थात् त्रेता-युगके दर्शक हैं और शर्याति राजा, यज्ञ-कर्ता होनेसे, द्वापरका बोधक है। यह वर्णन किया है कि त्रेतामें तप प्रधान और द्वापरमें यज्ञ प्रधान है। यहाँ १२५वें अध्याय-तक यह कथा है कि च्यवन ऋषिको शर्याति राजाने अपनी बेटी सौंप दी। अर्थात् क्षेत्र-प्रशंसाके सम्बन्धमें यहाँ कहा गया है कि यह देश और तीर्थ, त्रेता और द्वापरकी सन्धि ही है।

महाभारतमें स्थान स्थान पर वर्णन किया है कि भिन्न भिन्न युगोंमें भिन्न भिन्न धर्म प्रचलित रहते हैं। इस बातका यहाँ अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। कलियुगसे द्वापरके दूने, त्रेताके तिगुने और कृतके चौगुने होनेकी कल्पना प्राचीन है। उपनिषदोंसे देख पड़ता है कि प्राचीन कालमें इन शब्दोंका उपयोग द्यूतमें होता था। उस समय इनका अर्थ पाँसेके ऊपर-वाले एक, दो, तीन, चार चिह्नोंका होता था। इस अर्थके प्राचीन उपयोग पर ध्यान देनेसे भी यह कल्पना ठीक नहीं जँचती कि 'कृतयुग एक ही वर्षका नाम है'। एक और स्थान पर ऐसा जान पड़ता है कि युग शब्द वर्ष-वाचक है, परन्तु वह ऐसा है नहीं।

तस्मिन्युगसहस्रान्ते सम्प्राप्ते चाक्षुषे युगे।
अनावृष्टिर्महाराज जायते बहुवार्षिकी॥

वनपर्वके १८८वें अध्यायमें यह श्लोक

है। इसमें युग सहस्रान्तेका अर्थ वर्ष-सहस्रान्ते नहीं है; किन्तु 'चतुर्युगसहस्रान्ते' है। अर्थात् कल्पके अन्तमें जिस समय सृष्टिका लय होगा, उस समयका यह वर्णन है; और यहाँ युगका अर्थ चतुर्युगहीस मझना चाहिए। क्योंकि युग-सहस्रान्तमें अर्थात् एक वर्षसहस्रके कलियुगके अन्तमें—ऐसा अर्थ करने पर मानना पड़ेगा कि प्रत्येक कलियुगके अन्तमें सृष्टिका नाश होता है। अस्तु; महाभारतमें कहीं युग शब्द एक वर्षके अर्थमें नहीं आया: फिर यह कल्पना ही ग़लत है कि कृत, त्रेता, द्वापर और कलि वर्षोंके नाम हैं।

कल्पकी कल्पना बहुत पुरानी है। 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस वैदिक वचनसे कल्प शब्द निकला है और इसका अर्थ ब्रह्मदेवकी उत्पन्न की हुई सृष्टिका काल (समय) है। भगवद्गीता-कालमें भी मान लिया गया था कि यह काल एक हज़ार चतुर्युगोंका है। 'कल्पादौ विसृजाम्यहम्' इस श्लोकमें जैसा वर्णन किया गया है, तदनुसार कल्पके आरम्भमें परमेश्वर सृष्टि उत्पन्न करता है और कल्प समाप्त होने पर सृष्टिका लय होता है। इस कल्पकी समग्र मर्यादा ४३२०००० (चतुर्युग) × १००० होती है, अर्थात् ४३२०००००० होती है। पाठकोंको ज्ञात हो जायगा कि यह कल्पना इस समयके भूगर्भशास्त्रकी वर्ष-संख्याकी कल्पनासे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इस कल्पकी बृहत् अवधिमें भिन्न भिन्न मन्वन्तर महाभारत-कालमें भी माने गये थे। मनुकी कल्पना भी बहुत पुरानी, वैदिक कालसे है: और यह माना गया था कि कल्पकी अवधिमें भिन्न भिन्न मनु होते हैं। भगवद्गीतामें चार मनुओंका उल्लेख 'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा' इस श्लोकार्धमें आया है। आधुनिक ज्योतिष-शास्त्रके मतानुसार एक कल्पमें चौदह मनु रहते हैं। नहीं कह सकते कि इन चौदह मनुओंकी कल्पना महाभारत-कालमें थी या नहीं। इस ओरके ज्योतिषियोंकी कल्पना है कि प्रत्येक मन्वन्तरमें सन्धि-काल रहता है। भिन्न भिन्न युगोंके सन्धि-कालकी भाँति यह कल्पना की गई है। चार युगोंके समाप्त होते ही फिर दूसरे चार युग मन्वन्तरमें आते हैं। आजकल जो कलियुग वर्तमान है, इसके समाप्त होते ही फिर कृतयुग आवेगा। वर्तमानकालीन कलियुग भारती युद्ध-कालसे शुरू हुआ है। महाभारत-कालमें यह कल्पना पूर्ण प्रचलित थी। हनुमानके पूर्वोक्त वचनके सिवा, गदा-युद्धके अनन्तर श्रीकृष्णने बलरामको समझाते हुए कहा है—"प्राप्तं कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञां पाण्डवस्य च"। भारती-युद्धके अनंतरही आनेवाली चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको कलियुगका आरम्भ हुआ। अब, जब यह कलियुग समाप्त होगा और कृतयुग आरम्भ होगा तब चन्द्र, सूर्य, पुष्य नक्षत्र और बृहस्पति एक स्थान पर आवेंगे। यह कल्पना है।

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती।
एकराशौ समेष्यन्ति प्रवर्त्स्यति तदाकृतम्॥
(वनपर्व अध्याय १८८)

गणितसे नहीं मालूम किया जा सकता कि यह योग कब आवेगा। क्योंकि इन सबका एक राशि पर आना असम्भव है। राशि शब्दका अर्थ यहाँ साधारण मेषादि राशि नहीं है, किन्तु यहाँ पर युति अर्थ है। हम देख चुके हैं कि महाभारत-कालमें मेषादि राशियाँ ज्ञात नहीं थीं। चन्द्र, सूर्य, बृहस्पति और पुष्य नक्षत्रकी युति असम्भव देख पड़ती है। तथापि यह एक शुभ योग माना गया होगा।

हम बिलकुल निमेष अर्थात् आँखोंकी

पलक हिलनेके समयसे लेकर चतुर्युग, मन्वन्तर और कल्प नामक अन्तिम काल-मर्यादातक अर्थात् ब्रह्माके दिनतक आ पहुँचे। कालकी यह कल्पना हिन्दुस्तान-में उपजी और यहीं बढ़ी। खाल्डियन लोगोंमें एक युग अथवा 'सृष्टिवर्ष' ४३२००० वर्षका था; परन्तु यह देख लिया गया कि उससे हमारी कल्पना नहीं निकली है। क्योंकि सृष्टिकी आयुकी वर्ष-मर्यादा ४३ करोड़ वर्षतक पहुँची है। यह कल्पना भारती-कालमें ही उत्पन्न हुई थी। ब्राह्मण-कालमें युगकल्पना दस हज़ार वर्षसे ज्यादा किसी कालके समान थी। क्योंकि उपनिषदोंमें एक, दो, दस हज़ार वर्ष और अधिकका उल्लेख है। भारतीय ज्योतिषियोंने भारतकालमें युगकी मर्यादा निश्चित करके कल्पकी भी मर्यादा निर्णीत कर दी। यह काम बहुत करके गर्ग ज्योतिषीने किया होगा। महाभारतमें विख्यात ज्योतिषी गर्ग है। स्पष्ट कहा गया है कि गर्गने सरस्वती-तीर पर तपश्चर्या करके कालज्ञान प्राप्त किया।

तत्र गर्गेण वृद्धेन तपसा भावितात्मना।
कालज्ञानगतिश्चैव ज्योतिषां च व्यतिक्रमः॥
उत्पाता दारुणाश्चैव शुभाश्च जनमेजय।
सरस्वत्याः शुभे तीर्थे विदिता वै महात्मना॥
(शल्यपर्व)

इससे ज्ञात होता है कि सरस्वतीके तीर पर गर्गने कुरुक्षेत्रमें यह युग-पद्धति ढूँढ़ निकाली। जब कि शक-यूनानियोंमें यह पद्धति नहीं देख पड़ती, तब कहना पड़ता है कि यह भारती आर्योंकी ही है; और यह भी प्रकट है कि वह यूनानियोंसे पहलेकी होगी। यद्यपि यह नहीं बतलाया जा सकता कि गर्ग कब हुआ, तथापि वह महाभारतसे पहलेका अर्थात् सन् ईसवीसे ३०० वर्ष पूर्वका है। वर्तमान कालमें प्रसिद्ध, गर्ग-संहिता ग्रन्थ उसीका होगा; परन्तु उसका कदाचित् थोड़ासा रूपान्तर हो गया होगा। यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि उसमें राशि नहीं है। इससे प्रकट है कि वह राशिका चलन होनेसे पहलेका अर्थात् ईसवी सन् पूर्व १०० वर्षके पहले का होगा।

उल्लिखित अवतरणमें 'ज्योतिषां च व्यतिक्रमः' कहा गया है। अर्थात् यह कहा गया है कि गर्गको ग्रहोंकी तिरछी गतिका ज्ञान हो गया है। इससे प्रकट है कि भारती-युद्ध-कालके लगभग ग्रहोंकी गतियोंका ज्ञान अधिक न था, पर महा-भारत-कालमें उसे बहुत कुछ पूर्णता प्राप्त हुई थी। सदा नक्षत्रोंको देख-भाल करने-वाले भारती आर्योंको यह बात पहले ही मालूम हो गई होगी कि नक्षत्रोंमें होकर ग्रहोंकी भी गति है। सूर्य-चन्द्रके सिवा, नक्षत्रोंमें सञ्चार करनेवाले ये ग्रह बुध, शुक्र, मङ्गल, गुरु और शनि थे।

ते पीडयन्भीमसेनं क्रुद्धाः सप्त महारथाः।
प्रजासंहरणे राजन्सोमं सप्तग्रहा इव॥
(भीष्म पर्व अध्याय १३०)

इस श्लोकमें चन्द्रके सिवा सात ग्रह कहे गये हैं; तब राहुको अलग ग्रह मानना चाहिए, अथवा यहाँ सप्तग्रह अलग ही माने जायँ। 'राहुरर्कमुपैति च' इस वाक्यसे निश्चयपूर्वक देख पड़ता है कि महाभारत-कालमें ग्रह रूपमें राहुका परिचय भली भाँति हो गया था। भारती-कालमें गर्गके पहले ही इस बातकी कल्पना रही होगी कि नक्षत्र-चक्रमें होकर जानेके लिए प्रत्येक ग्रहको कितना समय लगता है। ग्रहोंके व्यतिक्रम-सम्बन्धसे गर्गको विशेष जानकारी प्राप्त हो गई होगी। यह भी अनुमान हो सकता है कि गर्गके समयतक सूर्य-चन्द्रके सिवा अन्य ग्रहोंके चक्रकी ठीक कालमर्यादा मालूम न हुई होगी और गर्गको यह

मालूम था कि ग्रह वक्री होते हैं तथा एक स्थान पर स्थिर होते हैं। महाभारतमें ग्रहोंके बहुतेरे उल्लेख हैं। यहाँ उन सबको उद्धृत करनेकी अवश्यकता नहीं। महाभारतके समय यह कल्पना थी कि कुछ ग्रह, विशेष-तथा शनि और मङ्गल, दुष्ट होते हैं। मङ्गल लाल रङ्गका और रक्तपात करने-वाला समझा जाता था। अकेला गुरु ही शुभ और सब प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला माना जाता था। कई एक दो ग्रहों और नक्षत्रोंके योग अशुभ समझे जाते थे।

यथा दिवि महाघोरौ राजन् बुधशनैश्चरौ।
(भीष्मपर्व अ० १०४)

इस वचनमें बुध और शनैश्चरका योग भयङ्कर माना गया है। भीष्मपर्वके आरम्भमें व्यासने धृतराष्ट्रको भयङ्कर प्राणि-हानि-कारक जो दुश्चिह्न बतलाये हैं, उनमें और उद्योगपर्व अ० १४३ के अन्त-में इससे प्रथम श्रीकृष्ण और कर्णकी भेंटमें जिन दुश्चिह्नोंके होनेका कर्णने वर्णन किया है, उनमें ग्रहों और नक्षत्रोंके अशुभ योगोंका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। गर्गके ग्रन्थमें वर्णित योगोंमेंसे लेकर बहुधा सौतिने इन योगों-को महाभारतमें शामिल कर दिया होगा। क्योंकि गर्ग-सम्बन्धी उल्लिखित अवतरण-में 'उत्पाता दारुणाश्चैव शुभाश्च' कहा गया है। अर्थात् अशुभ अथवा भयङ्कर उत्पातों और शुभ शकुनोंका ज्ञान गर्गको था। यानी इनकी परिगणना गर्गने पहले कर ली थी। गर्ग संहितामें भी आजकल ये शुभाशुभ योग पाये जाते हैं। ये अशुभ योग मूल भारती-युद्धके समयके लिखे हुए नहीं हैं, इस विषयमें पहले विवेचन हो ही चुका है। तब यहाँ उन योगोंके लिखनेकी आवश्यकता नहीं। हाँ, यहाँ पर यह कह देना चाहिए कि गर्गके समय अथवा महाभारतके समय ग्रहोंकी गति बतलाई जाती थी और उनके फल नक्षत्रों परसे कहे जाते थे; क्योंकि उस समय राशियोंका तो बोध ही न था। दूसरे, ग्रहोंकी वक्र और वक्रानुवक्र गति महा-भारतमें तथा गर्ग संहितामें भी बतलाई गई है। तीसरी बात यह है कि श्वेतग्रह अथवा धूमकेतु महाभारतके समय ज्ञात था और वह अत्यन्त अशुभ माना जाता थ। इस श्वेतग्रहसे और कितने ही काल्पनिक ग्रहों अथवा केतुओंकी कल्पना महाभारत-कालमें हो गई थी; एवं उनका उल्लेख इन अशुभ चिह्नोंमें है। इसी लिए 'सप्त महा-ग्रहाः' सदृश वचनोंको सन्दिग्ध मानना पड़ता है। चौथी बात यह है कि महा-भारत-कालमें राहुको एक ग्रह माननेकी कल्पना हो गई थी—अर्थात् उस समय यह धारणा थी कि राहु क्रान्तिवृत्त पर घूमनेवाला, तमोमय, और न देख पड़नेवाला ग्रह है। बिना इसके यह कथन सम्भव न होता कि राहु सूर्यके पास आता है। महाभारतमें, कुछ स्थलों पर, राहुके लिए सिर्फ़ ग्रह शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। राहुकी पुरानी कल्पना भी—यानी यह कल्पना कि वह सूर्य-चन्द्र पर आक्रमण करनेवाला एक राक्षस है—महाभारतमें है। क्योंकि एक स्थान पर राहुका कबन्ध स्वरूप वर्णित है। सूर्यके खग्रास-ग्रहणके समय ऐसा प्रत्यक्ष अनु-भव होने पर कि राहु केवल कालिखकी बाढ़ है, वह बिना सिरका राक्षस मान लिया गया और उसके रहनेका स्थान समुद्र माना गया।

अत्र मध्ये समुद्रस्य कबन्धः प्रतिदृश्यते।
स्वर्भानोः सूर्यकल्पस्य सोमसूर्यौ जिघांसतः॥
(उद्योगपर्व ११०)

इसमें राहुके धड़को पश्चिम समुद्रमें खड़ा वर्णन किया गया है। मालूम नहीं

पश्चिम समुद्रमें राहुकी कल्पना क्यों की गई है। यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि चन्द्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहणकी ठीक कल्पना महाभारतके समय हो गई थी। क्योंकि शान्ति पर्वमें आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए बड़ी बढ़िया रीतिसे कहा है कि राहु राक्षस नहीं, निरी छाया है; और वह छाया आकाशमें नहीं, सिर्फ़ सूर्य-चन्द्र पर देख पड़ती है। अन्यत्र यह बात लिखी जा चुकी है; यानी तत्त्वज्ञानके विचारमें, शान्तिपर्वके २०३रे अध्यायमें, यह विषय आया है।

ऊपरी विवेचनसे पाठकोंको पता लग गया होगा कि भारती कालमें भारती आर्योंका ज्योतिर्विषयक ज्ञान कैसा था और वह किस प्रकार बढ़ता गया होगा। यह ज्ञान, मुख्य करके यज्ञके सम्बन्धमें सूर्य-चन्द्रकी गति, महीने और वर्षका मेल मिलानेके लिए, उत्पन्न हुआ और उसमें फल-ज्योतिषके शुभाशुभ योगोंकी दृष्टिसे उन्नति होती गई। केवल ज्योतिर्विषयक शोध करनेकी इच्छा भले ही न रही हो, तथापि इन कारणोंसे भारती आर्योंने महाभारत-कालतक ज्योतिष-ज्ञानमें बहुत कुछ उन्नति कर ली थी। शकयवन अथवा बैक्ट्रियन यूनानियोंने आगे चलकर हिन्दुस्थान पर आक्रमण करके मुद्दततक इस देशमें राज्य किया। उस समय उनकी राजधानी उज्जैनमें थी। सन् ईसवीके आरम्भके लगभग भारती ज्योतिष अथवा यवन ज्योतिषकी सहायता प्राप्त करके आजकलके सिद्धान्तादि ज्योतिषकी वृद्धि हुई। यह नहीं कि प्रत्यक्ष ज्योतिष विषयक जिज्ञासासे आकाशके ग्रहों और नक्षत्रोंकी चौकस दृष्टिसे छानबीन करनेकी उमङ्ग भारती आर्योंको न थी।

यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा।
न दृष्टपूर्वं मनुजैः न च तन्नास्ति तावता॥
(शांतिपर्व २०३)

इस श्लोकार्धमें कहा है कि चन्द्रका पृष्ठ नहीं देख पड़ता, इसलिए उसके अस्तित्वसे इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसा ही दृष्टान्त आत्माके अस्तित्वके सम्बन्धमें दिया गया है। इससे 'चन्द्रका एक ही ओर हमें देख पड़ता है' यह बात, चन्द्रका वारंवार चिन्ताके साथ निरीक्षण करके भारती आर्यों द्वारा निश्चित की हुई देख पड़ती है। हालके पाश्चात्य ज्योतिषशास्त्रने भी इस सिद्धान्तको मान्य कर लिया है। भिन्न भिन्न सत्ताईस नक्षत्रोंके सिवा और नक्षत्रोंको भी भारती आर्योंने देखा था और उनके भिन्न भिन्न नाम रखे थे। सप्तर्षिका उल्लेख विशेष रूपसे करना चाहिए। आकाशकी ओर देखनेवाले किसी मनुष्यके मन पर, उत्तर ध्रुवके इर्द गिर्द घूमनेवाले इन सात तारोंके समूहका परिणाम हुए बिना नहीं रहता। तदनुसार, भारती आर्योंने अपने प्राचीन सप्त ऋषियोंके साथ इन सात नक्षत्रोंका मेल मिला दिया तो इसमें आश्चर्य नहीं। परन्तु उन्होंने जो यह कल्पना की थी कि ये सप्तर्षि उत्तरमें हैं, और इसी प्रकार पूर्व, दक्षिण और पश्चिममें भी भिन्न भिन्न सप्तर्षि हैं, सो यह बात कुछ अजीब देख पड़ती (शां० प० अ० २०८)। यह प्रकट है कि दक्षिण ओरके काल्पनिक सप्तर्षियोंका दर्शन भारती आर्योंको कभी नहीं हो सकता। तथापि दक्षिणकी ओर जो एक तेजस्वी तारा देख पड़ता है और कुछ दिन दिखाई देकर डूब जाता है, उस तारेको महाभारत-कालमें अगस्ति ऋषिका नाम दिया गया था। अस्तु; महाभारत-कालमें आकाशके ग्रहों अथवा नक्षत्रोंका निरीक्षण करनेके लिए

कोई यन्त्र था या नहीं, इस बातका विचार करते हुए नीचे लिखे श्लोकसे यह कल्पना की जा सकती है कि ऐसा एक न एक यन्त्र अथवा चक्र महाभारत-कालमें रहा होगा। वन पर्वके १३३वें अध्यायमें कहा है—

चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्णाभिद्वादश प्रधि।
तत्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति॥

हे राजन्! वह चक्र तुम्हारा सदा कल्याण करे जिसमें चौबीस पर्व हैं, छः नाभियाँ अथवा तूँबे हैं और बारह घेरे तथा ३६० आरे हैं। यह बात अष्टावक्रने कही है। यह रूपक संवत्सर-चक्रका है। संवत्में चौबीस पौर्णिमा-अमावस्याएँ तो पर्व हैं, छः ऋतुएँ नाभि और बारह घेरे यानी महीने, तथा ३६० दिन ही आरे हैं। यह चक्र बहुत पुराना है और वैदिक साहित्यमें भी पाया जाता है। इस चक्रसे आकाशस्थ ग्रहोंके वेध लेनेका चक्र उत्पन्न होना असम्भव नहीं है। ऐसे एक आध चक्रके बिना सूर्यकी दक्षिण और उत्तर-गतिका सूक्ष्म ज्ञान एवं दिशाओंका भी सूक्ष्म ज्ञान होना सम्भव नहीं। इतिहाससे सिद्ध है कि भारत-कालमें आर्योंको इन दोनों बातोंका सूक्ष्म ज्ञान हो गया था।

ज्योतिष-शास्त्रके दूसरे स्कन्ध अथवा भाग, यानी संहिता और जातकके विषयमें दो शब्द लिखने चाहिएँ। ये भाग अबतक अलग अलग नहीं हुए थे और उनकी विशेष उन्नति भी न हुई थी। तथापि ये बातें मान ली गई थीं कि नाना प्रकारके उत्पात और दुर्भिक्ष आदि आपत्तियाँ ग्रहोंकी चाल पर अवलम्बित हैं; किंबहुना मनुष्यका सुख-दुःख जन्म-नक्षत्र पर अवलम्बित है; और इस दृष्टिसे गर्ग आदि ज्योतिषियोंकी खोज और कल्पनाएँ जारी थीं। उदाहरणके लिए अगले श्लोकमें, अवर्षणके साथ शुक्रका सम्बन्ध देखिए।

भृगोः पुत्रः कविर्विद्वान् शुक्रः कविसुतो ग्रहः। त्रैलोक्यप्राणयात्रार्थं वर्षावर्षे भयाभये॥ स्वयम्भुवा नियुक्तः सन् भुवनं परिधावति॥४२॥ (अनु० अ० ३६)

इस प्रकारके वाक्य भारती-युद्धके सम्बन्धमें बहुतेरे हैं। समस्त समाज अथवा प्रत्येक व्यक्तिके सुख-दुःख ग्रहों पर अवलम्बित रहते हैं। इस सम्बन्धके संहिता और जातकशास्त्र, महाभारतके पश्चात् यूनानी और खाल्डियन ज्योतिषियोंके मतोंकी सहायता प्राप्त कर, आगे बहुत अधिक बढ़ गये। परन्तु यहाँ पर उसका विशेष उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं।

चौदहवाँ प्रकरण।

साहित्य और शास्त्र।

संसारकी प्रत्येक भाषा, किसी समय, बोलचालकी भाषा रही होगी—इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता; और इस सिद्धान्तके अनुसार यह निर्विवाद है कि एक समय संस्कृत भाषा भी बोली जाती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारती-कालके प्रारम्भमें, भारतीय आर्य लोग संस्कृत भाषा बोलते थे और यह भी ठीक है कि व्यासजीका मूल ग्रन्थ, प्रत्यक्ष बोलचालमें आनेवाली भाषामें लिखा गया था। महाभारत-कालमें संस्कृत-भाषा बोलचालकी भाषा थी या नहीं, यह महत्त्वका प्रश्न है। भगवद्गीताके सदृश जो भाग निःसन्देह पुराने भारत-ग्रन्थके हैं, उनकी भाषा सरल और ज़ोरदार है, उस भाषामें किसी प्रकारके बन्धन नहीं हैं, और वह लम्बे एवं दुर्बोध समासोंसे भी रहित है। अतः हमारे मन पर परिणाम होता है कि वह प्रत्यक्ष बोलनेवालोंकी भाषा है। समूचे महाभारतकी भाषा भी बोलचालकी भाषाकी तरह जँचती है। भारती-कालमें संस्कृत भाषा बोली जाती थी। पञ्जाबकी स्त्रियोंके भाषणमें ग्राम्य भाषाके कुछ निन्द्य भेद थे। उन भेदोंके जो उदाहरण कर्णने दिये हैं, उनसे उपर्युक्त अनुमान निकलता है।

आहुरन्योन्यसूक्तानि प्रब्रुवाणा मदोत्कटाः।
हे हते हे हते त्येवं स्वामि-भर्तृ-हतेति च॥
(कर्णपर्व ४४)

संस्कृत भाषामें 'हे हते, हे हते' ये गालियाँ हैं, इनका उपयोग स्त्रियोंके मुँहसे हुआ करता था। इससे देख पड़ता है कि संस्कृत भाषाका उपयोग स्त्रियाँ भी किया करती थीं।

संस्कृत भाषा।

महाभारत-कालके पूर्व अर्थात् यूनानियोंके आक्रमणसे पहले, हिन्दुस्तानमें निम्न श्रेणीके लोगोंमें संस्कृत भाषा न बोली जाती थी; इस भाषाका प्रचार विद्वान् ब्राह्मण और विद्वान् क्षत्रिय आदि उच्च जातिवालोंमें ही था। यदि ऐसा न होता तो बुद्धने अपने नवीन धर्मका उपदेश लोगोंको मागधी भाषामें न किया होता। अनार्य असंस्कृत लोगोंके कारण संस्कृत भाषाका अपभ्रंश हो जानेसे भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें तरह तरहकी प्राकृत भाषाएँ उत्पन्न हो गई थीं। अनार्य लोगोंको संस्कृत भाषाका कठिन उच्चारण आना सम्भव न था। इसी प्रकार संस्कृत भाषाके कठिन रूप और अपवाद वैश्यों और शूद्रोंके भाषणमें नष्ट हो गये और सरल तथा सादे रूपोंका प्रचार होने लगा था। सारांश यह कि सरल उच्चारण और सादे रूपोंके कारण प्राकृत भाषाएँ उठ खड़ी हुई थीं। इसके सिवा, अनार्योंकी म्लेच्छ भाषाएँ भी इधर उधर बोली जाती थीं; सो उनके शब्द भी संस्कृत भाषामें घुसते रहते थे।

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिः
मायया न चरन्त्युत।
(आदिपर्व)

इस वचनसे यह अर्थ निकलता है कि आर्य लोग म्लेच्छ शब्दोंका व्यवहार नहीं करते। परन्तु टीकाकारने म्लेच्छ शब्दका अर्थ भूल करना लिखा है, सो वह भी ठीक है। अनार्य अथवा म्लेच्छ लोग संस्कृत बोलनेमें भूलें करते थे; अथवा यह भी सम्भव है कि अनार्य लोग संस्कृतका कठिन उच्चारण मनमाना—कुछका कुछ—करते हों; और इससे यह प्रयोग

उपयोगमें आ गया हो कि आर्योंको भाषा बोलनेमें म्लेच्छोंकी तरह भूलें न करनी चाहिएँ। जो हो, धीरे धीरे महाभारत-काल पर्यन्त अनार्य लोग और उनके मिश्रणसे उत्पन्न हुए लोग, समाजमें बहुत बढ़ गये तथा उनकी प्राकृत भाषाएँ ही महत्त्वकी हो गईं। संस्कृत केवल विद्यापीठों और यज्ञशालाओंमें रह गई। महाभारतकी उच्च वर्णकी स्त्रियाँ संस्कृत बोलती हैं; परन्तु सुबन्धु और कालिदास आदिके नाटकोंमें उच्च वर्णकी भी स्त्रियाँ प्राकृत बोलती हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि महाभारत-कालमें प्राकृत भाषा उच्च वर्णकी स्त्रियोंमें प्रविष्ट न थी।

ऐसा मालूम होता है कि बाहरी देशोंके म्लेच्छोंके साथ व्यवहार करनेके लिए, भारती आर्योंको, बिलकुल भिन्न म्लेच्छ भाषा बोलनेके लिए अभ्यास करना पड़ता होगा। पञ्जाब पर सिकन्दरका आक्रमण हो चुकनेके पश्चात् यह बात और भी आवश्यक हो गई होगी। आदि पर्वमें विदुरने युधिष्ठिरको एक म्लेच्छ भाषामें भाषण करके सावधान किया है कि वारणावतमें "तुम जिस घरमें रहनेके लिए जा रहे हो, उस घरमें लाख आदि ज्वालाग्राही पदार्थ भरे हुए हैं।" उस भाषामें कही हुई बातको और लोग नहीं समझ सके। यह भाषा हमारी समझमें बहुत करके यूनानी रही होगी। इस बातका वर्णन पहले किया ही जा चुका है; और आजकल भी एक आध भाषा समझमें न आवे, तो अँगरेज़ीमें यह कहनेकी प्रथा है कि तुम तो यूनानी बोलते हो। अस्तु; भारती आर्यों द्वारा बोली गई संस्कृत भाषामें बाहरी भाषाओंके शब्दोंका, क्वचित् प्रसङ्ग पड़ने पर, आ जाना सम्भव है। तदनुसार महाभारतमें सुरङ्ग शब्द यूनानी भाषासे आया है। तथापि ऐसे शब्दोंकी संख्या बहुत ही कम है। खास प्राकृत भाषाके शब्द अर्थात् देशी भाषामें प्रचलित शब्द भी महाभारतमें थोड़े ही हैं। ऐसे शब्दोंमें ही एडूक शब्द है, यह बात अन्यत्र लिखी जा चुकी है। ऋग्वेदमें भी क्वचित् अनार्य भाषाके शब्द आते हैं—इस बातको उस वेदका अभ्यास करनेवाले मानते हैं। परन्तु पूर्ण दृष्टिसे देखने पर कहना चाहिए कि महाभारतकी संस्कृतमें प्राकृत, देशी अथवा अनार्य म्लेच्छ एवं यूनानी भाषाके शब्द बहुत ही थोड़े—उँगलियों पर गिनने लायक हैं।

प्राकृतका उल्लेख नहीं।

महाभारत-कालमें प्राकृत भाषाएँ प्रचलित हो गई थीं, परन्तु अचरजकी बात यह है कि महाभारतमें कहीं उन भाषाओंका उल्लेख नहीं है। बहुधा ऐसा उल्लेख करनेका अवसर ही न आया होगा। महाभारतके चाण्डाल अथवा श्वपचतक संस्कृत बोलते हैं, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। व्यासजीका मूल ग्रन्थ संस्कृतमें ही लिखा गया और यह प्रकट है कि उस समय प्राकृत भाषाओंका जन्म भी न हुआ था। सौतिने सन् ईसवीसे लगभग २५० वर्ष पहले जब महाभारतको वर्तमान रूप प्रदान किया, तब प्राकृत भाषाएँ उत्पन्न हो गई थीं; किंबहुना यह भी सच है कि जनसाधारण उन्हीं भाषाओंको बोलने लगे थे। परन्तु मूल ग्रन्थ संस्कृतमें होनेके कारण, उसकी छाया इस बढ़े हुए ग्रन्थ पर पड़ी। इसके सिवा पहले यह दिखाया ही गया है कि बौद्ध धर्मके विरोधसे यह महाभारत ग्रन्थ तैयार हुआ। बौद्ध धर्मने प्राकृत मागधीको हथियाया था। अर्थात् उसके विरोधसे सौतिने, सनातनधर्मियोंकी पुरानी संस्कृत

भाषाको ही अपने ग्रन्थमें स्थिर रखा। क्योंकि भारती आर्योंके सनातन धर्म-ग्रन्थ वेद, वेदाङ्ग आदि संस्कृतमें ही थे, और बौद्ध धर्मसे विरोध होनेके कारण सौतिने संस्कृतका अभिमान किया। इस प्रकार, महाभारतके समय यद्यपि प्राकृत भाषाएँ उत्पन्न हो गई थीं, तथापि महाभारतमें संस्कृतका ही उपयोग किया गया है। यही नहीं, बल्कि उस समय विद्वानोंकी भाषा संस्कृत ही थी और बौद्ध साहित्य अभी अस्तित्वमें ही न आया था। अर्थात् महाभारत-कालमें भिन्न भिन्न शास्त्रों पर जो साहित्य था वह संस्कृतमें ही था। अब देखना है कि वह साहित्य क्या था।

वैदिक साहित्य।

पहले वैदिक साहित्यका ही विचार करना चाहिए। महाभारतके समय वैदिक साहित्य करीब करीब सम्पूर्ण तैयार हो गया था। सब वेदोंकी संहिताएँ तैयार हो गई थीं और उनके ब्राह्मण भी तैयार हो चुके थे। अनुशासन पर्वके इस वाक्यमें* स्पष्ट कहा है कि ऋग्वेदमें दस हजार ऋचाएँ हैं—

दशेदं ऋक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमुद्धृतम्।
(शान्तिपर्व अ० २४६)

महाभारतमें लिखा है कि वेदोंकी रचना अपान्तरतमा ऋषिने की है; और यह बात तो महाभारतके आरम्भमें ही कह दी गई है कि वेदोंके विभिन्न भाग स्वयं महाभारत-कर्ता व्यासजीने किये हैं—

विव्यास वेदान्यस्मात्सः वेदव्यास इत्युच्यते।

अपान्तरतमा ऋषिका अन्य नाम प्राचीन गर्भ था और इन्हींके अवतार व्यासजी महाभारत (शां० अ० ३४९) में कहे गये हैं। यह प्रकट है कि वेदोंकी व्यवस्था करनेवाले अपान्तरतमा पुराने ऋषि रहे होंगे। शौनकने ऋग्वेदकी सर्वानुक्रमणिका बनाई है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये शौनकजी व्यासदेवसे पहलेके हैं या पीछेके। तथापि ऋग्वेदके सम्बन्धमें शौनकका विशेष महत्त्व है, क्योंकि उन्होंने नियम बना दिया है कि ऋग्वेदके मन्त्रोंका कहाँ पर और कैसा उपयोग करना चाहिए। अनुशासन पर्वके ३० वें अध्यायमें शौनककी वंशावली है। इस अध्यायमें यह कथा है कि पहले वीतहव्य नामक एक क्षत्रिय था जो भृगु ऋषिके सिर्फ वचनसे ही ब्रह्मर्षि बन गया। इस राजाका गृत्समद नामक पुत्र था। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रका ऋषि यही है। इसका पुत्र सुचेता, और सुचेताका पुत्र वर्चस् हुआ जिसके वंशमें रुरु उपजा। शुनक इसी रुरुके पुत्र हैं और शुनकके पुत्र हैं शौनक। परम्परा यह है कि सौतिने इन्हीं शौनकजीको महाभारत सुनाया था। यदि ये शौनकजी महाभारत-कालके अर्थात् सन ईसवीसे लगभग ३०० वर्ष पहलेके माने जायँ तो माना जा सकता है कि पूर्वोक्त शौनकके वंशमें ये दूसरे शौनक रहे होंगे। अथवा यह मेल मिलाया गया होगा कि, जिस तरह भारतके प्रणेता व्यास ही वेदोंकी व्यवस्था करनेवाले हैं, वैसे ही महाभारतके प्रथम श्रोता शौनक भी वेदोंकी सर्वानुक्रमणिकाके रचयिता हैं।

वेद तीन हैं और कहीं कहीं चौथे अथर्व वेदका भी उल्लेख है। प्रत्येक वेदका ब्राह्मण भाग अलग है। अनुशासन पर्वमें कहा गया है कि तण्डि ऋषिने यजुर्वेदका ताण्ड्य महाब्राह्मण शिवजीके प्रसादसे बनाया है। यह भी लिखा है कि

* टीकाकारने कहा है कि वास्तवमें ऋचाएँ कुछ अधिक हैं।

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्चैतत्पारायणमुच्यते॥

इस तण्डिने शिवका सहस्रनाम बनाया। यदि यह न माना जाय कि महाब्राह्मणके कर्ता तण्डिने ही यह शिवसहस्रनाम बनाया है, तो सम्भव है कि उसे उपमन्युने बनाया होगा। अनुशासन पर्वके १७ वें अध्यायमें यह कहा गया है। अनुशासन पर्वके १६ वें अध्यायमें तण्डिका वृत्तान्त है। शुक्ल यजुर्वेदमें शतपथकी कथा महाभारतमें शान्ति पर्वके ३१८ वें अध्यायमें है। इन दोनोंका कर्ता याज्ञवल्क्य है। उसने अपने मामा वैशंपायनसे यजुर्वेद पढ़ा था; परन्तु मामाके साथ कुछ झगड़ा हो जानेसे उसने वह वेद कै (वमन) कर दिया और सूर्यकी आराधना करके उसने नवीन यजुर्वेद उत्पन्न किया। आख्यायिकाके अनुसार यही शुक्ल यजुर्वेद है। सूर्यने उसे यह वरदान दिया था कि—"दूसरी शाखाओंसे ग्रहण किये हुए प्रकरणों एवं उपनिषदों समेत साङ्ग यजुर्वेद तुझमें स्थिर होगा और तेरे हाथसे शतपथकी रचना होगी।" इसके अनुसार याज्ञवल्क्यने घर आकर सरस्वतीका ध्यान किया। सरस्वतीके प्रकट होने पर उसकी और प्रकाशदाता सूर्यकी पूजा करके उसने ध्यान किया। तब, कथाके वर्णनानुसार, याज्ञवल्क्य स्वयं अपने विषयमें जनकसे कहते हैं—"संपूर्ण शतपथ, रहस्य, परिशिष्ट और अन्य शाखाओंसे लिये हुए भागों समेत मैं आविर्भूत हो गया। इसके पश्चात् मैंने सौ शिष्य इसलिए किये कि जिसमें मामाको बुरा लगे। फिर जब तेरे (अर्थात् जनकके) पिताने यज्ञ किया, तब यज्ञका सारा प्रबन्ध मैंने अपने हाथमें लिया और वेदपाठकी दक्षिणाके लिए वैशम्पायनसे झगड़ा करके—देवताओंके समक्ष—आधी दक्षिणा ले ली। सुमन्त, जैमिनि, पैल तेरे पिता और अन्य ऋषियोंको यह व्यवस्था मान्य हो गई। सूर्यसे मुझे १५ यजुर्मन्त्र प्राप्त हुए। रोमहर्षणके साथ मैंने पुराणोंका भी अध्ययन किया।" इस वर्णनसे कई एक महत्वपूर्ण अनुमान निकलते हैं। पहला यह कि यजुर्वेदी वैशम्पायन और याज्ञवल्क्यके झगड़ेके कारण शुक्ल यजुर्वेदकी उत्पत्ति हुई। याज्ञवल्क्यने उसे सूर्यसे प्राप्त किया। उसमें पन्द्रह मन्त्र सूर्यने अलग दिये हैं, और बाकी पुरानी शाखाओंके ही हैं। (सिर्फ इनके पढ़नेकी पद्धति ही कृष्ण यजुर्वेदसे भिन्न है)। इस वेदका प्रसिद्ध शतपथ-ब्राह्मण याज्ञवल्क्यने ही बनाया है। सिर्फ इसी ब्राह्मणमें स्वर हैं (अन्य वेदोंके ब्राह्मणोंमें स्वर नहीं हैं, उनमें स्वरहीन गद्य है) इससे जान पड़ता है कि यह ब्राह्मण सबसे पुराना होगा। इस कथासे इसका रचना-काल भी देख पड़ता है; अर्थात् यह ब्राह्मण भारती-युद्धके पश्चात् रचा गया है। क्योंकि व्यास-शिष्य सुमन्तु, जैमिनि, पैल और वैशम्पायनका समकालीन यह याज्ञवल्क्य था; किम्बहुना उसके शिष्य-वर्गमें था। आरम्भमें हम अन्तः प्रमाणोंसे निश्चित कर चुके हैं कि भारतीय-युद्धके पश्चात् शतपथ-ब्राह्मण बना है; और उससे भारती-युद्धका समय भी निश्चित किया गया है। उल्लिखित कथासे देख पड़ता है कि महाभारतके समय यही दन्तकथा परम्परासे मान्य थी। याज्ञवल्क्यने सिर्फ जुदा शुक्ल यजुर्वेद ही नहीं बनाया, बल्कि पुराने यजुर्वेदके साथ झगड़ा करके यज्ञमें उस वेदके लिए प्राप्त होनेवाली दक्षिणामें वैशम्पायनसे आधा हिस्सा भी ले लिया। इस प्रकार यह कथा बहुत ही मनोरञ्जक और ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण है।

इसके सिवा वनपर्वके १३८ वें अध्यायमें वर्णन है कि अर्वावसुने रहस्य

सौरवेद बनाया है (प्रतिष्ठां चापि वेदस्य सौरस्य द्विजसत्तमः)। यह जान पड़ता है कि सौरवेद सूक्तवेदमें है। काठक ब्राह्मणमें नीलकण्ठ द्वारा वर्णित एक आदित्यका अष्टाक्षरी मन्त्र यहाँ उद्दिष्ट है। इस विषय पर वैदिक लोग अधिक लिख सकते हैं। हम तो यहाँ इसका उल्लेख ही कर सकते हैं।

वेद कहते हैं मन्त्र और ब्राह्मणको: ब्राह्मणोंमें ही उपनिषदोंका भी अन्तर्भाव होता है। तथापि कहीं कहीं उनका निर्देश अलग किया गया है। सभापर्वके ५ वें अध्यायके आरम्भमें नारदकी स्तुति इस प्रकार की गई है—

वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः।

नहीं कह सकते कि महाभारतके समय कौन कौनसे उपनिषद् प्रसिद्ध थे। दशोपनिषद् बहुत करके महाभारतसे पहलेके ही होंगे। वेदोंके दशोपनिषदोंके अतिरिक्त आजकल अनेक उपनिषद् प्रसिद्ध हैं। शान्तिपर्वके ३४२ वें अध्यायमें, ऋग्वेदमें २१००० शाखाएँ होनेका वर्णन किया गया है: और सामवेदमें १००० शाखाएँ तथा यजुर्वेदकी ५६,८,३७ = १०१ शाखाएँ होनेका वर्णन है। परन्तु आजकल वेदोंकी इतनी शाखाएँ उपलब्ध नहीं हैं। इस कारण, भिन्न भिन्न उपनिषदोंको चाहे जिस वेदका उपनिषद् कहा जाने लगा है।

नारदके वर्णनमें आगे 'इतिहासपुराणज्ञः पुरा कल्पविशेषवित्' कहा गया है। इन पुरा-कल्पोंका सम्बन्ध वेदोंसे ही है। ये पुरा-कल्प और कुछ नहीं, वेदोंमें बतलाई हुई भिन्न भिन्न बातें ही हैं। आजकल हम लोगोंको इन पुरा-कल्पोंका कहीं पता भी नहीं लगता; तथापि प्राचीन कालमें पुरा-कल्प नामक भिन्न भिन्न छोटे ग्रन्थ रहे होंगे। उपनिषदोंकी ही भाँति ये वेदोंके भाग समझे जाते रहे होंगे। परन्तु आजकल उनका अन्तर्भाव पुराणोंमें अथवा ब्राह्मणोंमें वर्णित कथाओंमें होता है।

(१) वेदाङ्ग व्याकरण।

वेदोंके जो अङ्ग कहे गये हैं, उन पर अब विचार किया जाता है। महाभारतमें षडङ्गका नाम बारम्बार आता है। नारदको 'न्यायविद्धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः' भी कहा गया है। महाभारतमें ये षडङ्ग बतलाये गये हैं। अगले श्लोकमें इन षडङ्गोंका वर्णन है।

ऋक् सामांगांश्च यजूंषि चापि
छन्दांसि नक्षत्रगतिं निरुक्तम्।
अधीत्य च व्याकरणं सकल्पं
शिक्षां च भूतप्रकृतिं न वेद्मि॥
(आदि-पर्व अ० १७०)

इस श्लोकमें कहे हुए षड्ङ्ग छन्द, निरुक्त, शिक्षा, कल्प, व्याकरण और ज्योतिष हैं। इन सब शास्त्रोंका अभ्यास महाभारतके समय प्रायः पूर्ण रीतिसे हो गया था और उन विषयोंमें भारती आर्योंकी प्रगति हो गई थी। विशेषतया व्याकरणका अभ्यास पूर्ण रीतिसे होकर पाणिनिका महाव्याकरण भारत-कालमें ही बना था। पाणिनिका व्याकरण संसारके समस्त व्याकरणोंमें श्रेष्ठ है। पाणिनिने व्याकरणके जो नियम बनाये हैं वही नियम आजकल भिन्न भिन्न भाषाओंके उस तुलनात्मक व्याकरणमें गृहीत हुए हैं जिसे कि पाश्चात्य पण्डितोंने तैयार किया है। यथार्थमें आजकलके तुलनात्मक व्याकरणकी नींव पाणिनिके व्याकरणने ही जमाई है। यह व्याकरण संसार भरके समस्त भाषा-पण्डितोंके लिए आदरणीय हो गया है। यह स्पष्ट है कि पाणिनि कुछ आद्य-व्याकरण-कार न थे। क्योंकि उनका बनाया हुआ अद्वितीय व्याकरण कुछ

उनके अकेलेके ही बुद्धि-बलका परिणाम नहीं माना जा सकता। उनसे पहले भी व्याकरण-शास्त्रका अभ्यास बहुत कुछ होता था; और उनसे प्रथम इस विषय पर कितने ही ग्रन्थ भी बन गये होंगे और शास्त्रकार भी हो चुके होंगे। मतलब यह कि व्याकरण था वेदाङ्ग, इसलिए उसका अभ्यास भारती-युद्ध-कालसे लेकर महाभारतकालतक अवश्य होता रहा होगा। परन्तु महाभारतमें किसी व्याकरण-शास्त्र-कारका नाम नहीं आया। यहाँ तक कि महाभारतमें पाणिनिका भी नाम नहीं है। परन्तु इससे यह न माना जा सकेगा कि पाणिनि महाभारत-कालके पश्चात् हुए हैं। इस बातको हम अनेक बार कह चुके हैं कि उल्लेखका अभाव लङ्गड़ा प्रमाण है। महाभारत-कालके पूर्व ही पाणिनिका अस्तित्व माननेके लिए कारण है। महाभारतमें भाष्यका नाम है। पाणिनिका व्याकरण वेदाङ्ग समझा जाता है और वैदिक लोग उसे पढ़ा करते हैं। इस व्याकरण पर कात्यायनके वार्तिक हैं और पतञ्जलिका महाभाष्य है। अनुशासन पर्वके ८० वें अध्यायमें यह श्लोक है—

ये च भाष्यविदः केचित् ये च व्याकरणे रताः। अधीयन्ते पुराणञ्च धर्मशास्त्राण्यथापि ते॥

इसमें भाष्य शब्द व्याकरणके उद्देशसे है और पहलेपहल ऐसा जान पड़ता है कि यह पतञ्जलिकृत भाष्यके लिए प्रयुक्त है। परन्तु हमारी रायमें ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि हम निश्चित कर चुके हैं कि पतञ्जलि, महाभारत-कालके पश्चात् हुए हैं। तब, उनके महाभाष्यका महाभारतमें उल्लेख होना सम्भव नहीं। स्पष्ट देख पड़ता है कि यहाँ पर भाष्य शब्दका व्याकरणके साथ विरोध है, और इस कारण यह भाष्य या तो वेदका होगा या किसी और ही शास्त्रका। निदान यह माननेमें कोई हानि नहीं कि पतञ्जलिका महाभाष्य यहाँ उद्दिष्ट नहीं है क्योंकि यहाँ निरा भाष्य शब्द है। इसके सिवा, अनुशासन पर्वके १४ वें अध्यायमें दो ग्रन्थकर्त्ताओंका उल्लेख है।

शाकल्यः सङ्गितात्मा वै नववर्षशतान्यपि। आराधयामास भवं मनोयज्ञेन केशव॥ भविष्यति द्विजश्रेष्ठः सूत्रकर्त्ता सुतस्तव। सावर्णिश्चापि विख्यात ऋषिरासीत्कृते युगे॥ ग्रन्थकृल्लोकविख्यातो भविता ह्यजरामरः॥

(अनु. १४, श्लोक. १००-१०४)

इन श्लोकोंमें एक शाकल्य सूत्रकार और दूसरे सावर्णि, दो ग्रन्थकारोंका उल्लेख है। शाकल्यने किस शास्त्र पर सूत्र बनाये, यह बात यहाँ पर नहीं बतलाई गई, और न यही लिखा है कि सावर्णिने अमुक शास्त्र पर ग्रन्थ लिखा। परन्तु शाकल्यका नाम पाणिनिके सूत्रों (लोपः शाकलस्य आदि) में आता है; इससे जान पड़ता है कि यह शाकल्य-सूत्रकार पाणिनिसे पुराना सूत्रकर्त्ता होगा। यह अनुमान करने लायक है।

(२) ज्योतिष ग्रन्थ।

व्याकरणके बाद ही ज्योतिषका महत्त्व है। नहीं कहा जा सकता कि यह ज्योतिष ग्रन्थ कौनसा था। आजकल लगधका ग्रन्थ वेदाङ्ग-ज्योतिष प्रसिद्ध है और वैदिक लोग इसीको पढ़ते हैं। पाणिनिकी भाँति ही लगधका भी नाम महाभारतमें उल्लिखित नहीं है; तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वे महाभारतसे पुराने हैं। दूसरे ज्योतिष-ग्रन्थकार गर्ग हैं। ज्योतिषमें गर्ग-पराशरका नाम प्रसिद्ध है। ऐसा वर्णन है कि ये गर्गजी सरस्वती-तट पर तपश्चर्या करके ज्योतिष-शास्त्र

हुए थे। आजकल गर्गकी जो एक संहिता उपलब्ध है उसका अस्तित्व महाभारत-कालमें भी रहा होगा। यह पहले लिखा ही जा चुका है कि गर्गजी महाभारतसे पुराने हैं। ज्योतिषमें गर्गके मुहूर्त वारम्वार मिलते हैं और श्रीकृष्णके चरित्रमें गर्गाचार्य ही ज्योतिषी वर्णित हैं।*

(३) निरुक्त, (४) कल्प, (५) छन्द और (६) शिक्षा।

अब निरुक्त अथवा शब्द-प्रवचन पर विचार करना है। यास्कका निरुक्त आजकल वेदाङ्गके नामसे प्रसिद्ध है और यह निर्विवाद है कि यास्क, महाभारत-कालसे पूर्वके हैं। इनका नाम महाभारतमें आया है और इनके नैघण्टुक अर्थात् शब्द-कोषका भी उल्लेख (शान्ति पर्वके ३४३वें अध्यायमें) आया है। अब एक अङ्ग छन्द बाक़ी रह गया। इस अङ्गके कर्त्ता पिङ्गल हैं। वैदिक लोग इन्हींका छन्दःशास्त्र पढ़ते हैं। परन्तु इस पिङ्गलका उल्लेख महाभारतमें नहीं है। उल्लेख नहीं है तो न सही, उससे कुछ अनुमान नहीं निकलता: और इन पिङ्गलको महाभारतसे पूर्वका मानना चाहिए। आजकल पाणिनिकी 'शिक्षा' प्रसिद्ध है। परन्तु प्रत्येक वेदकी शिक्षा भिन्न भिन्न है। महाभारतमें (शां० प० अ० ३४२) एक शिक्षाके प्रणेताका उल्लेख है। "बाभ्रव्य-कुलके गालवने क्रम-शास्त्रमें पारङ्गतता प्राप्त करके, 'शिक्षा' और 'क्रम' दो विषयों पर ग्रन्थ लिखे।" अब रह गया कल्प। कल्पका अर्थ है, भिन्न भिन्न वेदोंकी यज्ञसम्बन्धी जानकारी दर्शानेवाले सूत्र। इन कल्प-सूत्रोंके कर्त्ता अनेक हैं, पर उनका उल्लेख महाभारतमें

---

* अनुशासन पर्वके १८वें अध्यायमें यह श्लोक है—

चतुःषष्ठ्यंगमददत्कलाज्ञानं ममाद्भुतम्।
सरस्वत्यास्तटे तुष्टो मनोयज्ञेन पाण्डव॥

इसमें ६४ अंगोंकी कलाओंका ज्ञान वर्णित है। ६४ अंगोंके उल्लेखसे निश्चय होता है कि यह ग्रन्थ वर्तमान समयमें प्रसिद्ध गर्ग-संहिता ही है। वृद्ध गर्ग संहिताकी प्रति पूनेके डेक्कन कालेजमे है। इसके प्रथम अध्यायमें ६४ अंगोंका होना बतलाकर फिर प्रत्येकका विषय भी बतलाया गया है। निश्चय होता है कि महाभारतमे पाये जानेवाले ज्योतिर्विपयक उल्लेख इसी संहितासे लिये गये है। महाभारतके बहुतेरे वचन इस ग्रन्थके वाक्योंसे मिलते है। इसमें भी कहा गया है कि नक्षत्र 'मृर्याद्विनिसृताः।" चन्द्रका समुद्रसे उत्पन्न होना और दक्षके शापसे उसकी क्षयवृद्धिका होना भी इसमे बतलाया गया है। इसमे कहा गया है कि राहु तमोमय है और वह आकाशमें घूमता है। इसमे राहुचार, गुरुचार, शुक्रचार आदि भी वर्णित हैं। इनके आधार पर, युद्धमे होनेवाले जयापजय और राजाओके जीवन-सम्बन्धी अनेक शुभ-अशुभ फल बतलाये गये है। मङ्गलके वक्रका और वक्रानुवक्रका बहुत बुरा परिणाम बतलाया गया है। महाभारतके भीष्म पर्वके आरम्भमें दुश्चिह्नसूचक मंगलके जो वक्र और वक्रानुवक्र बतलाये गये है वे इसीके आधार पर हैं। उनकी व्याख्या भी यहां दी गई है—

अगांरराशिप्रतिमं कृत्वा वक्रं भयानकम्।
नक्षत्रमेतियत्पश्चादनुवक्र तदुच्यते।
तथा वक्रानुवक्रेण भौमो हंति महीक्षिताम्॥

इस संहितामें सारा विषय नक्षत्रों पर प्रतिपादित है। इसमें राशियोंका बिलकुल उल्लेख नहीं है, अतएव इस ग्रन्थका शक-पूर्व होना निश्चित है। इसमे सप्तर्षिचार नही वर्णित हैं, इससे जान पड़ता है कि यह कल्पना पीछेकी है। इसमें युग पुराण नामक एक अध्याय है। परन्तु वह ६४ अंगोकी सूचीमे नहींहै, इससे यद्यपि कहना पड़ता है कि वह पीछेसे शामिल किया गया है, तथापि वह है बहुत प्राचीन। उसमे पाटलीपुत्रकी स्थापना, शालि, शुक राजा आदिका वर्णन है और 'साकेते सप्तराजानो भविष्यन्ति' इस प्रकार शक राजाओंतक उल्लेख है। युग-परिमाण नहीं दिया गया है तथापि कृतयुगके विषयमे "शतवर्षसहस्राणि आयुस्तेषां कृते युगे" कहा है। इस वाक्यसे यह नहीं कहा जा सकता कि चतुर्युग बारह हजार वर्षका होता है।

शतंशतसहस्राणां मेप कालः सदा स्मृतः।
पृग युगसहस्रान्तो कल्पो निःशेष उच्यते॥

यह एक और श्लोक है। अस्तु; इन बातोंसे निश्चय होता है कि उक्त वृद्ध गर्ग-मंहिता ग्रन्थका ही उल्लेख महाभारतमे है। इसमे ६४ अंग है और ४० उपागोंके होनेका वर्णन है।

नहीं पाया जाता। हाँ, निरे सूत्र शब्दका उल्लेख महाभारतमें है। अनुमान होता है कि इस सूत्र शब्दसे श्रौतसूत्रोंका उल्लेख ग्रहण करना चाहिए। शान्ति पर्वके २६९ वें अध्यायमें यह श्लोक है—

अशक्नुवन्तश्चरितुं किञ्चिद्धर्मेषु सूत्रितम्।

पाणिनिमें अनेक सूत्रोंका उल्लेख है। ये सूत्र भिन्न भिन्न विषयों पर रहे होंगे। अस्तु; यहाँतक वैदिक साहित्यका उल्लेख हुआ। इसके अतिरिक्त, प्रथम भागमें भी अधिक उल्लेख किया जा चुका है। महाभारतमें उपनिषद् शब्दके लिए रहस्य, ब्राह्मवेद और वेदान्त, ये भिन्न भिन्न संज्ञाएँ दी हुई मिलती हैं; और क्वचित् महोपनिषत् शब्द भी प्रयुक्त है। द्रोण पर्वके १४३ वें अध्यायमें भूरिश्रवा अपनी देह, प्रायोपवेशन करके, छोड़नेका विचार कर रहा है। इस उपनिषद्में ॐ प्रणव पर ध्यान करना पड़ता है।

इतिहास-पुराण।

अब हमें इतिहास और पुराणों पर विचार करना है। वैदिक साहित्य समाप्त होने पर, दूसरा साहित्य इतिहास और पुराणोंका है। इतिहास और पुराणोंमें थोड़ासा अन्तर है। इतिहासमें प्रत्यक्ष घटित बातें होती होंगी और पुराण होंगे पुरानी दन्तकथाएँ तथा राजवंश। उपनिषदोंसे ज्ञात होता है कि ये पुराण, महाभारतसे पहले, उपनिषत्कालमें भी थे। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे अनेक थे या एक। वेदों और उपनिषदोंका अध्ययन करना जिस तरह ब्राह्मणोंका काम था, उसी तरह इतिहास और पुराणोंका पढ़ना सूतोंका काम था। अन्यत्र लिखा जा चुका है कि सूतोंका यह व्यवसाय महाभारतमें भी कहा गया है। अनुशासन-पर्वके ४८ वें अध्यायमें लिखा है कि राजाओंका स्तुति-पाठ करना सूतोंका पेशा है। महाभारत भी सौतिने ही शौनकको सुनाया है। इतिहास स्वतन्त्र ग्रन्थ-समुदाय होगा। परन्तु महाभारतके अनन्तर, यह समस्त ग्रन्थ-समुदाय, महाभारतमें ही मिल जानेके कारण, लुप्त हो गया। परन्तु अब यह प्रश्न होता है कि उपनिषदोंमें जो इतिहास वर्णित है, वह कौनसा है। रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थ इतिहास हैं—यह बात उन ग्रन्थोंमें स्पष्ट रूपसे कही गई है। इनके मूल ग्रन्थ उपनिषद्-कालमें भी रहे होंगे, यह मान लेनेमें कोई हानि नहीं; और इनके सिवा अन्य इतिहास छोटे छोटे रहे होंगे। महाभारतके लम्बे चौड़े चक्करमें उनके आ जानेसे, उनका अस्तित्व लुप्त हो गया और महाभारतके पश्चाद्वर्ती ग्रन्थोंमें यही समझा गया कि इतिहासके मानी 'भारत' है। परन्तु महाभारतमें ही कुछ स्थलों पर इतिहास शब्द मिलता है, वहाँ पर महाभारत कैसे ग्रहण किया जा सकता है? उदाहरणार्थ, द्रोणके सम्बन्धमें यह वर्णन है—

योऽधीत्य चतुरो वेदा-
न्साङ्गानाख्यानपञ्चमान्।

यहाँ पर टीकाकारने आख्यान शब्दका अर्थ पुराण भारतादि किया है। किन्तु भारती-युद्धमें वर्तमान द्रोण उस 'भारत' का अध्ययन कैसे कर सकेंगे जो कि भारत-युद्धके पश्चात् बना है। अर्थात् महाभारत-कालमें 'भारत' एक अलग ग्रन्थ था और वह बहुत पुराना था। वेदोंके साथ भारत पढ़नेकी रीति बहुत प्राचीन थी। इस कारण, वेदोंके साथ भारतका उल्लेख करनेकी परिपाटी पड़ गई है। अब पुराणोंके विषयमें कुछ अधिक लिखना है। हम अन्यत्र लिख ही चुके हैं कि वायुपुराणका उल्लेख महाभारतमें है।

तब, अठारह पुराण भी महाभारत-कालमें रहे होंगे। वन पर्वके १६१ वें अध्यायका यह श्लोक है—

एवम्ते सर्वमाख्यातं अतीतानागतं तथा।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम्॥

असलमें पुराणोंमें, पुराण अर्थात् जो अतीत होगा वही बतलानेका उद्देश रहा होगा। परन्तु आगे आनेवाला अनागत भी भविष्य रूपसे पुराणमें कहनेकी परिपाटी महाभारत-कालमें रही होगी। शान्ति पर्वके ३१८ वें अध्यायमें कहा गया है कि लोमहर्षण सूत ही समस्त पुराणोंके कथनकर्त्ता हैं। इन्हीं लोमहर्षणके पुत्र सौतिने महाभारतकी कथा कही है। अर्थात् अठारहों पुराण महाभारतसे पहलेके हैं। महाभारतमें एक स्थान (स्वर्गारोहण पर्व अध्याय ५) में कहा गया है कि व्यासने पुराणोंका पाठ किया। इससे मालूम होता है व्यासजीका एक आदि पुराण था। उनके आगे लोमहर्षणने भिन्न भिन्न अठारह ग्रन्थ बनाये। परन्तु ये आरम्भिक पुराण और आजकलके पुराण एक नहीं हैं। क्योंकि वन पर्वमें वायुप्रोक्त कहकर कलियुगका जो वर्णन किया है, उसमें और आजकलके वायुपुराणमें अन्तर देख पड़ता है। वायुपुराणमें—जैसा कि हापकिन्स साहबने दिखाया है—वर्णन है कि कलियुगमें सोलह वर्षसे भी छोटी लड़कियाँ बच्चे जनेंगी और महाभारतमें वर्णन है कि पाँच छः वर्षकी अवस्थावाली लड़कियोंके सन्तान होगी। इसमें आश्चर्य नहीं कि महाभारतवाला वर्णन वायुपुराणसे भी दस कदम आगे है। परन्तु महाभारतवाला वर्णन प्राचीन वायुपुराणसे लेकर बढ़ाया गया है। महाभारतमें पुराण, आख्यान, उपाख्यान, गाथा और इतिहास भिन्न भिन्न शब्द आते हैं। उनके भिन्न भिन्न भेद यों देख पड़ते हैं कि आख्यान एक ही वृत्तके सम्बन्धमें रहता है और इतिहास शब्द, इति+ह+आस इस अर्थसे, बहुत कुछ प्राचीन वृत्तके अर्थमें देख पड़ता है।

न्यायशास्त्र।

सभा पर्ववाली नारदकी स्तुतिमें यह और श्लोक है—

ऐक्यसंयोग्यनानात्वसमवायविशारदः।
पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्॥
उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोपि बृहस्पतेः॥

इसमें जो ऐक्य, संयोग्य, नानात्व आदिका वर्णन है, वह किस शास्त्रका है, इसका उत्तर देना कठिन है। टीकाकारने लिखा है कि यह वर्णन सभी शास्त्रोंके लिए एकसा उपयोगी हो जाता है। परन्तु हमारे मतसे यह वर्णन और विशेषतः 'समवाय' शब्द न्यायशास्त्रका दर्शक होगा। यह माननेमें कोई हानि नहीं कि गौतमका न्यायशास्त्र महाभारत-कालमें प्रचलित रहा होगा। 'पंञ्चावयवयुक्त' वाक्य, गौतम-कृत न्यायशास्त्रके सिद्धान्तोंके ही लिए उपयुक्त जान पड़ता है। महाभारतमें गौतमका उल्लेख नहीं है; और अबतक यह भी निश्चित नहीं देख पड़ता कि गौतमका न्यायशास्त्र कब उत्पन्न हुआ। आजकल जो न्यायसूत्र प्रसिद्ध हैं वे महाभारतके पश्चात्‌के हैं। परन्तु शान्ति पर्वके २१० वें अध्यायमें लिखा है कि न्यायशास्त्र महाभारतसे पहलेका है। वह श्लोक यह है—

न्यायतन्त्राण्यनेकानि-
तैस्तैरुक्तानि वादिभिः।

स्पष्ट देख पड़ता है कि इस न्यायका उपयोग वाद-विवादमें हुआ करता था; क्योंकि इसमें वादी शब्द मुख्य रूपसे प्रयुक्त है।

नारदको बृहस्पतिसे भी उत्तरोत्तर-

वक्ता कहा है। इससे मालूम होता है कि न्यायशास्त्र (लाजिक) के साथ ही वक्तृत्व-शास्त्र (र्‌हेटारिक) भी महाभारत-कालमें प्रचलित रहा होगा। श्रोताके मन पर अपने भाषणसे पूर्ण परिणाम करनेकी इच्छा हो, तो वक्ताके लिए र्‌हेटारिक यानी वक्तृत्वशास्त्र अवश्य सिद्ध रहना चाहिए। प्राचीन कालमें, भिन्न भिन्न धर्मोंके वाद-विवादमें, हेतुविद्या तथा वक्तृत्वशास्त्र दोनोंका ही उपयोग होता था। यह कहनेकी जरूरत नहीं कि एकके बोल चुकने पर, दूसरेका और अधिक प्रभाव-शाली भाषण करना, वाद-विवादमें बहुत ही उपयोगी हुआ करता है। और, भारती-कालमें प्राचीन राजाओंको तत्त्वज्ञान विषय पर ऐसे वाद-विवाद प्रत्यक्ष सुननेका खूब शौक था। इस प्रकारकी रुचि यूनानियोंमें भी थी। और इस ढङ्गके, प्लेटोके लिखे हुए, उसीके संवाद अस्तित्वमें हैं जोकि अबतक संसार भरके मनुष्योंको आनन्द दे रहे हैं। इस कारण वक्तृत्व-शास्त्रका उगम जिस प्रकार यूनानम हुआ, उसी प्रकार हिन्दुस्थानमें भी महाभारत-कालमें हुआ था। परन्तु फिर यह शास्त्र पनपा नहीं। इसके एवज़में अलङ्कार-शास्त्र उत्पन्न हुआ जिसने संस्कृतकी गद्य-पद्य-रचनामें एक प्रकारकी कृत्रिमता उत्पन्न कर दी। वक्तृत्वशास्त्र महाभारत-कालमें अवश्य रहा होगा, इसका साक्षी महाभारतका जनक-सुलभा-संवाद है। यह संवाद कुछ कुछ प्लेटोके संवादकी भाँति है, जिसमें यह देख पड़ता है कि एक वक्ता दूसरे वक्तासे बहुत ही बढ़िया भाषण कर रहा है। इस संवादमें सुलभाने अपने उत्तरके आरम्भमें वाक्य कैसा होना चाहिए और कौन कौनसे उसके गुण-दोष हैं, इस विषयमें विवरण किया है। यहाँ उसका अवतरण देनेकी आवश्यकता नहीं। यह समूचेका समूचा जनक-सुलभा-संवाद पढ़ने लायक है। अस्तु; वक्तृत्वशास्त्रके एवजमें अलङ्कार-शास्त्र उत्पन्न हो जानेसे महाभारतके बादवाले साहित्यमें ऐसे संवाद नहीं मिलते जैसा कि सुलभा-जनक-संवाद है, या आत्मा-सम्बन्धी जैसे प्रवचन उपनिषदोंमें भी हैं।

धर्मशास्त्र।

धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत्कृतनिश्चयः।
तथा भुवनकोशस्य सर्वस्यास्य महामतिः॥

यह नारदका और भी वर्णन है। इससे जान पड़ता है कि धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र, ये चार शास्त्र अवश्य ही रहे होंगे। स्वयं महाभारतको धर्मशास्त्र और कामशास्त्र संज्ञा दी गई है। महाभारतमें धर्मशास्त्रका उल्लेख कई बार हुआ है। हम अन्यत्र कहीं कह चुके हैं कि सौतिने महाभारतको मुख्यतः धर्म-शास्त्र बनाया है। महाभारतमें नीतिशास्त्र-का भी उल्लेख है। इस बातका निश्चय नहीं हो सकता कि यह नीतिशास्त्र किस प्रकारका था। तथापि वह राजनीति और व्यवहारनीति दोनोंके आधार पर रहा होगा। अर्थशास्त्रको वार्ताशास्त्र भी कहा गया है और मोक्षशास्त्रकी संज्ञा आन्वीक्षिकी है। (सभा और शान्तिपर्व अ० ५९) एक स्थान पर मानव धर्मशास्त्र-का उल्लेख है और एक स्थल पर राज-धर्मोंका भी उल्लेख हुआ है। महाभारतमें अनेक स्थलों पर यह बात कही गई है कि समग्र नीतिधर्म मुख्यतः शुक्र और बृह-स्पतिने कहे हैं। शान्तिपर्वके आरम्भमें ही कहा है कि बृहस्पतिने एक लक्ष श्लोकोंका नीतिशास्त्र बनाया और उशनसने उसे लघु किया। इसके आगे शान्तिपर्वके ५८ वें अध्यायमें राजशास्त्र-

प्रणेता मनु, भरद्वाज और गौरशिरस् बतलाये गये हैं। इन ग्रन्थोंका अथवा बृहस्पति-प्रणीत नीतिशास्त्रका आजकल कहीं पता भी नहीं लगता। परन्तु शुक्र-नीति ग्रन्थ अब भी अस्तित्वमें है। इस नीतिमें सन्धि, विग्रह आदि राजकीय विषयोंकी बहुत कुछ जानकारी है।

तथा भुवनकोषस्य सर्वस्यास्य महामतिः।

इस वाक्यमें कथित शास्त्र भुवनशास्त्र होना चाहिए। इस शास्त्रमें कदाचित् ये बातें होंगी कि समग्र पृथ्वी कितनी बड़ी है, उसके कितने विभाग हैं, और सारा विश्व कैसा है। अँग्रेज़ीमें जिसे कॉस्मॉलोजी कहते हैं, वह शास्त्र महाभारत-कालमें अलग रहा होगा। महाभारतमें-का भू-वर्णन आदि वहींसे लिया गया होगा। इस प्रकार, विद्वान् मनुष्यके अध्ययनके समस्त विषय नारदके वर्णनमें आ गये। उन्हें भिन्न भिन्न मोक्षशास्त्रों-का भी ज्ञान था। ये शास्त्र सांख्य, योग और वेदान्त आदि हैं। नारदका और भी वर्णन किया गया है कि—

सांख्ययोगविभागज्ञः निर्विवित्सुः सुरासुरान्।

यह बात निर्विवाद है कि महाभारत-कालमें सांख्य, योग, वेदान्त आदि तत्त्व-ज्ञानके अनेक ग्रन्थ थे। परन्तु अब उनमें-से एक भी ग्रन्थ शेष नहीं। उनके बहुतसे तत्त्व महाभारतमें आ ही गये हैं। महा-भारतके अनन्तर इस तत्त्वज्ञान पर भिन्न भिन्न सूत्र बने और वही मान्य हो गये। इस कारण, कह सकते हैं कि महाभारत भी पीछे रह गया। तथापि, यदि इन तत्त्वज्ञानोंका ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करना हो तो वह महाभारतसे ही हो सकता है; और तदनुसार हम अन्य स्थल पर इस ग्रन्थमें विचार करेंगे।

राजनीति।

सन्धिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित्।

ऐसा वर्णन नारदका और भी है। इसमें वर्णित सन्धि, विग्रह और षाड्-गुण्य-विधियुक्तशास्त्र, पूर्वोक्त नीतिशास्त्र-का स्पष्टीकरण है। इसमें अन्य शास्त्र उल्लिखित नहीं हैं। यह बृहस्पतिकी नीति-का ही भाग है—"राजनीतिमें सन्धि, यान, परिगृह्यासन, द्वैधीभाव, अन्यनृपा-श्रय और विगृह्यासन, इन षड्गुणोंके गुण-दोष बतलाये गये हैं।" इसी प्रकार 'अनुमानविभागवित्' वाक्य न्यायशास्त्रके उद्देशसे है। अस्तु; नारदका अन्तिम वर्णन है कि—

युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राप्रतिघस्तथा।

इसमें कहा गया है कि नारदको युद्ध-शास्त्र और गान्धर्वशास्त्रका भी ज्ञान था। महाभारतमें अनेक स्थानों पर युद्धशास्त्र उल्लिखित है और इस युद्धशास्त्रके अनेक सूत्र भी थे। अश्वसूत्र, गजसूत्र, रथसूत्र और नागरसूत्र जिसमें इस बातका वर्णन था कि शहरों और किलोंकी रचना कैसी की जानी चाहिए। पूरा युद्ध-शास्त्र धनुर्वेदके नामसे प्रसिद्ध था। इस धनुर्वेद अथवा सूत्रोंके प्रणेता भरद्वाज थे और, गान्धर्व यानी गायनशास्त्रके कर्ता नारद ही थे।

गान्धर्वं नारदो वेद, भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्। देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयः चिकित्सितम्॥

(शान्तिपर्व २१०)

इससे सिद्ध है कि नारद ही गान्धर्व अथवा गान इत्यादि शास्त्रोंके मुख्य प्रव-र्तक हैं। महाभारत-कालमें इस शास्त्रकी उन्नति बहुत कुछ हो गई थी। देवर्षि-चरित (ज्योतिष) के प्रवर्तक गार्ग्य और वैद्यशास्त्रके प्रवर्तक कृष्णात्रेयके ग्रन्थ आजकल प्रचलित नहीं हैं। तथापि उन

ग्रन्थोंका कुछ थोड़ासा ज्ञान कश्चित् अध्यायमें आ गया है।

स्मृतियाँ और अन्य विषय।

नारदकी उल्लिखित स्तुतिमें उन सब शास्त्रोंका उल्लेख है जो कि महाभारत-कालमें ज्ञात थे। अर्थात्, महाभारतका हेतु नारदको सर्व-विद्या-पारङ्गत दिखलानेका जान पड़ता है। इससे यह माननेमें कोई हानि नहीं कि यह सूची बहुत कुछ सम्पूर्ण हो गई है। इस सूचीमें स्मृतियोंका नाम बिलकुल ही न देखकर पहलेपहल कुछ अचरज होता है। परन्तु हमारा तो यह मत है कि महाभारत-कालमें किसी स्मृतिका अस्तित्व न था। मनुस्मृति भी पीछेकी है और अन्य-स्मृतियाँ तो पीछेकी देख ही पड़ती हैं।* मनुका धर्मशास्त्र कदाचित् महाभारतसे पूर्वका हो, क्योंकि मनुके वचनोंका उल्लेख अथवा मनुकी आज्ञाओंका उल्लेख महाभारतमें बार बार आता है। यहाँ स्मृतियोंका उल्लेख नहीं है। कदाचित् यह प्रमाण स्मृतियोंके अस्तित्वके सम्बन्धमें मान्य होने योग्य नहीं है। क्योंकि यह माना जा सकता है कि केवल नारदके अधीन विषयोंकी ऊपरवाली सूची सम्पूर्ण न हो। इसी जगह छान्दोग्य उपनिषद्का एक अवतरण देने योग्य है। क्योंकि उसमें नारदने अपने ही मुखसे सनत्कुमारको बतलाया है कि मैंने कौन कौन विषय पढ़े हैं। जब नारद शिष्य बनकर सनत्कुमारके पास अध्यात्म-ज्ञान सीखनेके लिए गये, उस समय सनत्कुमारने नारदसे पूछा कि तुमने अबतक क्या क्या अध्ययन किया है? तब नारदने उत्तर दिया--"मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, पित्र्य, राशि, दैवनिधी, वाको वाक्यमेकायनम्, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या और सर्पदेवजनविद्या पढ़ी है।" नारदने यहाँ पर १६ विद्याएँ गिनाई ही हैं। इनमेंसे कुछ विषयोंके सम्बन्धमें निर्णय करना कठिन है कि ये कौनसी हैं। उदाहरणार्थ, यहाँ पर व्याकरणको 'वेदानां वेदम्' कहा है। टीकाकारने नक्षत्र-विद्याका अर्थ ज्योतिष और ब्रह्मविद्याका अर्थ छन्दःशास्त्र बतलाया है: और पित्र्य शब्दसे कल्पसूत्रको ग्रहण किया है। राशिका अर्थ गणितशास्त्र है पर निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'वाकोवाक्यमेकायनम्' क्या था। आचार्योंने देवविद्याका अर्थ शिक्षा किया है। सर्पदेवजन-विद्यासे सर्पोंके विष पर देनेकी ओषधियाँ मालूम होती हैं; एवं नृत्य, गीत, शिल्पशास्त्र और कला इत्यादि इसमें आ जाती हैं। आचार्योंने ऐसा ही वर्णन किया है। उपनिषत्कालमें राशि अर्थात् गणितशास्त्र प्रसिद्ध था और मानना चाहिए कि महाभारत-कालतक उसका अभ्यास बहुत कुछ हो चुका था। राशि शब्द त्रैराषिकमें आता है। इस गणितशास्त्रका उल्लेख यद्यपि महाभारतमें नहीं है तथापि अनेक प्रमाणोंसे यह बात अब मान्य हो गई है कि गणितशास्त्र असलमें भरतखण्डमें ही उत्पन्न हुआ। विशेषतः दस अङ्कोंका गणित यहींसे सर्वत्र फैला। उल्लिखित सूचीमें भिन्न भिन्न शास्त्रोंका उल्लेख है। उसमें महाभारतकी अपेक्षा गणित और वैद्यक दो विषय अधिक हैं। नारदकी समग्र विद्याओंमें यद्यपि स्मृतियोंका उल्लेख नहीं है, तथापि

* महास्मृतिं पठेद्यस्तु तथैवानुस्मृतिं शुभाम्।
ताभ्यांयेनेन विधिना गच्छेतात्मसलोकताम ॥३०॥
यह श्लोक शान्तिपर्वके २०० वे अध्यायमें आया है। टीकाकारका कथन है कि यहां महास्मृतिसे मनुस्मृति अर्थ लेना चाहिए। परन्तु अनुस्मृति क्या है? और, यहां जपका प्रश्न है। हमारी रायमें यहां पर भगवद्गीता और अनुगीतासे अभिप्राय रहा होगा।

उक्त अनुमानसे यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि स्मृतियाँ थीं ही नहीं। वैदिक साहित्यके अतिरिक्त शेष प्रामाणिक ग्रन्थ ही स्मृति हैं, यह अर्थ श्रुति शब्दके विरोधसे महाभारत-कालके अनन्तर उत्पन्न हुआ होगा। क्योंकि बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृतेश्च', 'इति च स्मर्यते' इत्यादि प्रयोगोंमें महाभारतका ही आधार लिया गया है।

अन्य शास्त्र और उल्लेख।

जान पड़ता है कि नीतिशास्त्रका वर्णन करनेवाला एक शंबर था। दो तीन स्थानों पर उसका नाम आया है।

नातः पापीयसींकाञ्चिदवस्थां शंबरोऽब्रवीत्। यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ २२ ॥

(उ० अ० ७२)

महाभारतमें संख्यावाचक पद्म शब्द कई बार आया है।

तस्थौ पद्मानि षट्चैव पञ्चषट् चैव मानद ॥

(शान्ति० अ० २५८, १६)

सभापर्वमें संख्याके वे सभी शब्द आये हैं जिनका आजकल चलन है। यहाँ पर वे उद्धृत करने योग्य हैं।

अयुतं प्रयुतं चैव शंकुं पद्मं तथार्बुदम्।
खर्वं शंखं निखर्वं च महापद्मंच कोटयः ॥
मध्यं चैव परार्धं च सपरं चात्र पण्यताम् ॥

(स० अ० ६५–४)

इससे प्रकट है कि महाभारत-कालमें गणितशास्त्रमें अङ्कगणितकी बहुत कुछ उन्नति हो गई थी। यह परम्परा सत्य देख पड़ती है कि अङ्कगणितशास्त्र भारती आर्योंका है और वह यहींसे सर्वत्र फैला है। ऐसा वर्णन है कि गणितशास्त्रमें पेड़ोंके पत्ते और फलतक गणितके द्वारा गिन लेनेकी कला ऋतुपर्णको ज्ञात थी। शालिहोत्रमें घोड़ोंके बदन परकी शुभ-अशुभ भौंरियोंका भी वर्णन था। जरासन्धकी कथामें कुश्तीके दाँव-पेंचोंके नाम आये हैं। इसी प्रकार थकावट न मालूम होनेकी ओषधि और उपाय वर्णित हैं; वैद्यशास्त्रमें कषाय और घृतोंका उल्लेख है।

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च। दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥

(शान्ति० ३३२)

आकाशके भिन्न भिन्न वायुओंका भी वर्णन है। अनुशासन पर्वमें बतलाया है कि भिन्न भिन्न प्रकारके गन्ध (धूप) किस भाँति तैयार किये जाते हैं। यह श्लोक ध्यान देने योग्य है—

तलवद्दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव।
न चैवास्ति तलो व्योम्नि खद्योतेव हुतावहः ॥

महाभारतमें एक स्थान पर स्मृतिशास्त्रका भी उल्लेख देख पड़ता है। अनुशासन पर्व (अ० १४१-६५) के उमा-महेश्वर-संवादमें—

वेदोक्तः प्रथमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः।
शिष्टाचीर्णोपरः प्रोक्तस्त्रयोधर्मः सनातनाः॥

जो स्मृतिशास्त्र कहा है वह धर्मशास्त्र, मानवादि और बौद्धायन आदिके उद्देशसे है। आपस्तम्ब धर्मशास्त्र आदि धर्मशास्त्रके छोटे ग्रन्थ महाभारतके पहले थे। परन्तु महाभारतमें और किसीका नहीं, केवल मनुका नाम मिलता है। मनुके वचनके कुछ दृष्टान्त भी पाये जाते हैं। परन्तु मनुस्मृतिका अथवा अन्य स्मृतियोंका नाम महाभारतमें नहीं आया, यह पहले लिखा ही गया है। यह बात सन्दिग्ध है कि इस वचनको लेकर ही स्मृतिमें धर्मकी व्याख्या की गई है, अथवा इसकी व्याख्या किसी और स्थानसे ली गई है; यह संवाद बड़ा मजेदार है और इसमें समस्त धर्म संक्षेपमें बतलाया गया है। (अ० १३६-१४८)

विद्या जंभकवार्तिकैः ब्राह्मणैः।

यह उल्लेख उद्योग पर्वमें है और पीतक-माक्षिक (सुवर्णमाक्षिक) का भी उल्लेख है। (६४ वें अध्यायमें) ऐसा जान पड़ता है कि जंभक यानी कुछ रसायन-क्रिया उस समय मालूम रही होगी। अन्यत्र कहा ही गया है कि धातुओंकी जानकारी थी ही।

सभापर्वके ११ वें अध्यायमें यह श्लोक है—

भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशाम्पते। नाटका विविधाः काव्यकथाख्यायिककारिकाः॥

तर्कयुक्त भाष्य देह धारण किये प्रजापतिकी सभामें रहते हैं; इसी प्रकार नाटक, काव्य, कथाएँ आख्यायिकाएँ और कारिकाएँ भी रहती हैं। इस वर्णनसे प्रकट है कि आधुनिक साहित्यके बहुतेरे भेद महाभारतमें प्रसिद्ध थे। ये ग्रन्थ किसके थे, इसका उल्लेख नहीं है। इसका पता नहीं कि भाष्य किन विषयों पर थे। ये भाष्य छोटे होंगे। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय पतञ्जलिका भाष्य था। पतञ्जलि-कृत भाष्यका नाम 'महाभाष्य' है। यहाँ भारत और महाभारत जैसा ही भेद देख पड़ता है। महाभाष्यका नाम कहीं नहीं आया। प्रजापतिकी सभामें सदेह ग्रन्थ तो रहते ही थे, परन्तु सभामें कहीं ग्रन्थकारोंके विद्यामान होनेका वर्णन नहीं है। ग्रन्थ पूज्य हों तो यह आवश्यक नहीं कि ग्रन्थकार भी पूज्य हों, किंबहुना अनेक बार नहीं भी रहते। निदान महाभारत-कालमें भाष्य, नाटक, काव्य और आख्यायिका इत्यादिके पूज्य ग्रन्थकार उत्पन्न नहीं हुए थे, यही मानना पड़ता है।

अध्ययनके जो विषय अथवा शास्त्र समूचे महाभारत-कालमें प्रसिद्ध थे, वे ऊपरकी भाँति हैं। ये विषय वेद, धर्मशास्त्र, तत्त्वज्ञान, राजनीति, व्याकरण, गायन, भाषाशास्त्र अथवा निरुक्त और युद्ध, कृषि, वैद्यक*, गणित, ज्योतिष और शिल्पशास्त्र थे। इनमेंसे कई एक विषय बिलकुल पूर्ण हो चुके थे; अर्थात् तत्त्वज्ञान, व्याकरण और राजनीति आदि विषय इतनी पूर्णता पर पहुँच गये थे कि उससे अधिक वृद्धि हिन्दुस्थानोंमें उस समयके पश्चात् नहीं हुई। काव्य अथवा ललित-वाङ्मय उस वक्त निर्माण न हुआ था। महाभारतमें नाटकोंका उल्लेख है। नाटक करनेवाले ब्राह्मणोंका, और नटके स्त्री-वेश धारण करनेका भी उल्लेख है। किन्तु किसी ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकारका उल्लेख नहीं है। महाभारतके पश्चात् इसका भी आप्त वाङ्मय उत्पन्न हुआ और कुछ शतकोंमें उसे ऊर्जितावस्था प्राप्त हुई। महाभारत और रामायण, इन आर्ष काव्योंसे ही उसका आरम्भ हुआ। भारती कालमें तत्त्वज्ञानका जो पूर्ण विचार हुआ था, उसीका निष्कर्ष षड्दर्शनोंने अपने विशेष सूत्रोंके द्वारा किया। ये सूत्र अत्यन्त पूर्ण और सब ओरसे विचार करके संक्षेपमें कहे गये हैं; इस कारण सबको मान्य हो गये हैं। अतएव, तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे, भगवद्गीताके सिवा, महाभारत कुछ पीछे रह गया है। तो भी महाभारतमें तत्त्वज्ञानकी चर्चा बहुत है।

* अगले श्लोकसे ज्ञात होगा कि भारती आर्योंकी कल्पना और तर्कशक्ति कितनी विशाल थी। "सूक्ष्मयोनीनिभूतानि तर्कगम्यानिकानिचित। पक्ष्मणोपि निपातेन येषा स्यात्स्कंध पर्ययः॥ (शा० अ० १५-२६) यहाँ आजकलके "बैसिला" यानी सूक्ष्म जन्तुओंका उल्लेख है।

पन्द्रहवाँ प्रकरण ।
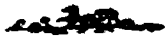
धर्म ।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि भारती कालके प्रारम्भसे भारती आर्योंका धर्म वैदिक था। वैदिक कालके अन्तमें भारती युद्ध हुआ। इस युद्धमें जो भिन्न भिन्न जनसमुदाय थे वे वैदिक धर्मके अभिमानी थे, इसमें अचरजकी कोई बात नहीं। वैदिक धर्मके मुख्य दो अङ्ग थे, ईशस्तुति अथवा स्वाध्याय और यज्ञ। प्रत्येक मनुष्यको ये दोनों काम प्रति दिन करने पड़ते थे। वैदिक धर्ममें अनेक देवता हैं। और, ये देवता सृष्टिके भिन्न भिन्न भौतिक चमत्कार—मेघ, विद्युत्, आदिके अधिष्ठाता स्वरूप माने जाते हैं। इनमें इन्द्र, सूर्य, विष्णु और वरुण मुख्य हैं। भौतिक स्वरूपके साथ इन देवताओंका तादात्म्य करनेकी यहाँ पर आवश्यकता नहीं। यद्यपि भिन्न भिन्न देवता भिन्न भिन्न भौतिक शक्ति-स्वरूप कल्पित किये गये हों, तो भी समस्त देवताओंका एकीकरण करनेकी प्रवृत्ति भारती आर्योंमें प्राचीन कालसे ही थी।

उनके मतानुसार ईश्वर एक है और ये भिन्न भिन्न स्वरूप उसीके हैं। यही नहीं, किन्तु समस्त जगत् और ईश्वर भी एक ही है। एक शब्दमें कहें तो सृष्टि और स्रष्टा एक ही है, अलग नहीं। जैसा कि मेक्समूलरने कहा है, इसी प्रवृत्तिसे एक देवताको अन्य समस्त देवताओंका स्वरूप देना अथवा उसमें सर्वेश्वरको कल्पित करना भारती आर्योंके लिए बहुत ही सहज था। इन देवताओंकी ऐसी एकत्व-प्रतिपादक कल्पनाओंसे भरी हुई स्तुतियाँ जिस ऋग्वेदमें हैं, वह ऋग्वेद भारती युद्ध कालमें सम्पूर्ण हो गया था और उसके विषयमें लोगोंकी यह पूज्य बुद्धि प्रस्थापित हो चुकी थी कि यह आर्य-धर्म प्रतिपादक मूल दैवी ग्रन्थ है। इसी प्रकार यजुर्वेद और सामवेद भी सम्पूर्ण हो गये थे और उनके विषयमें धर्मश्रद्धा स्थिर हो गई थी। ऋषियोंने भिन्न भिन्न देवताओंके जो स्तुति-प्रधान सूक्त बनाये हैं, उनकी रचना स्वयं ऋषियोंके द्वारा नहीं हुई, किन्तु परमेश्वरी प्रेरणासे अथवा उसकी इच्छासे ऋषियोंके मुखसे वे सहज ही निकल पड़े हैं। भारत-कालमें ऐसी दृढ़ धारणा पूर्ण हो गई थी। अर्थात् उस समय पक्की धारणा हो गई थी कि वेदोंके सूक्त अपौरुषेय हैं। ऋग्वेदमें देवताओंकी स्तुतिके मन्त्र थे। और यजुर्वेदमें यज्ञ-यागकी क्रिया बतलाई गई थी। ऋग्वेदके सूक्तोंसे ही सामवेद बना था, और ये सूक्त सिर्फ़ पढ़नेके लिए न थे, किन्तु गानेके लिए थे। अर्थात् सामवेदका पठन गानेकी भाँति था। यह नियम था कि तीनों वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, प्रत्येक आर्यको मुखाग्र कर लेने चाहिएँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंके लोग वेदविद्या पढ़ते थे। बाल्यावस्थामें प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य वेद पढ़नेका था। कमसे कम एक न एक वेद प्रत्येकको याद रखना पड़ता था। यह उनका धार्मिक कर्तव्य था। अनुमान किया जा सकता है कि भारती युद्धकालमें लोग इस कर्तव्यका पालन बहुत कुछ श्रद्धासे करते थे। कदाचित् वैश्य लोग अपने व्यवसायकी अड़चनके कारण, महाभारत-कालमें, वेद-विद्या पढ़ना धीरे धीरे छोड़ने लगे होंगे।

किन्तु भारती युद्ध-कालमें क्षत्रिय और ब्राह्मण लोग वेदविद्यामें एक हीसे

तत्पर रहते थे। महाभारतके किसी क्षत्रिय योद्धाको देखिये, उसे वेदविद्या कण्ठाग्र थी और वह विद्या अवसर पर उपस्थित भी रहा करती थी। वेदविद्या पारङ्गतताके सम्बन्धमें राम और युधिष्ठिरका वर्णन सदा आता है। परन्तु देख पड़ता है कि भारती कालके अन्तमें महाभारत-कालके लगभग, क्षत्रिय लोगतक विद्याकी ओर दुर्लक्ष्य करने लगे। अनेक ब्राह्मण भी जब वेद-विहीन हो गये देख पड़ते हैं, तब क्षत्रियोंकी बात ही क्या? उस समय वेदविद्यामें क्षत्रियोंका प्रवीण होना उनकी एक न्यूनता समझी जाने लगी। कर्णने युधिष्ठिरका उपहास करके कहा है—

ब्राह्मे भवान्बले युक्तः स्वाध्याये यज्ञकर्मणि। मास्म युध्यस्व कौन्तेय मास्म वीरान्समासदः॥

ब्राह्मणोंके कर्तव्य अर्थात् वेद-पाठ करनेमें और यज्ञ करनेमें तुम प्रवीण हो, परन्तु न तो तुम युद्ध करनेके लिए आगे बढ़ो और न वीरोंसे मुकाबिला करो। (कर्ण० अ० ४६)। तात्पर्य यह कि, उस समय वीरको वेदविद्याका आना एक न्यूनताका लक्षण माना जाने लगा था। परन्तु इससे प्रथम अर्थात् रामके समय वह परिस्थिति न थी। राम जिस प्रकार धनुर्विद्यामें अग्रणी थे, उसी प्रकार वेदविद्यामें भी थे। रामायणमें ऐसा ही वर्णन है।

वैदिक आह्निक, सन्ध्या और होम।

स्पष्ट देख पड़ता है कि प्रत्येक आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्रति दिन सन्ध्या एवं यज्ञ किया करते थे। कमसे कम भारती योद्धाओंके वर्णनमें इस बातकी कहीं कमी नहीं है। जिस तरह यह नहीं देख पड़ता कि कहीं समय पर सन्ध्या करना राम और लक्ष्मण भूल गये हों, इसी तरह समझौतेके लिए जाते हुए श्रीकृष्णका जो वर्णन महाभारतमें है, उसमें प्रातः-सायं सन्ध्या करनेका वर्णन करनेमें कविने भूल नहीं की। सन्ध्यामें मुख्य भाग था उपस्थान करना, जो वैदिक मन्त्रोंसे किया जाता है। लिखा है कि भारती युद्धके समय समस्त क्षत्रिय प्रातः स्नान करके सन्ध्यासे छुट्टी पाकर रणभूमि पर सन्नद्ध होते थे। रातको एक ही दिन युद्ध हुआ और समस्त सैनिकोंने युद्धभूमिमें ही आराम किया। उस समयका वर्णन है कि प्रातःकाल होनेसे पहले ही युद्ध छिड़ गया, तब सूर्य निकला। उस समय, समस्त सैन्यमें युद्ध रुक गया और सभी क्षत्रियोंने रणाङ्गणमें ही सन्ध्या अर्थात् सूर्यका उपस्थान किया। इससे देख पड़ता है कि भारत-कालमें सन्ध्या और सूर्यके उपस्थानका कितना माहात्म्य था (द्रोणपर्व अ० १८६)। "पूर्वमें अरुणके द्वारा ताम्रवर्णीकृत रविमण्डल सोनेके चक्रकी भाँति दिखाई देने लगा; तब उस सन्ध्या समयमें कौरव और पाण्डव दोनों ओरके योद्धा अपने अपने रथ, घोड़े और पालकी आदि सवारियाँ छोड़ छोड़कर सूर्यकी ओर मुँह करके, हाथ जोड़कर जप करने लगे।" इससे यह भी देख पड़ता है कि प्रातः सन्ध्याके समयको अर्थात् सूर्यके उदय होनेके समयको निकलने न देनेके सम्बन्धमें भारती-युद्ध-कालके समय भारती आर्य सावधान रहते थे। किंबहुना, ऐसे अवसर पर स्नान करनेकी भी आवश्यकता न मानी जाती थी। क्योंकि यहाँ रणभूमिमें स्नान करके सूर्योपस्थान करनेका वर्णन नहीं है।

दूसरा कर्तव्य था अग्निमें आहुति

देना। यह बात निश्चयपूर्वक सिद्ध है कि प्रत्येक आर्य वर्णवाला मनुष्य अपने घरमें अग्नि स्थापित रखता था। द्रोणपर्व-के ८२वें अध्यायमें युधिष्ठिरका जो वर्णन किया गया है, उसे हम पहले दिखला ही चुके हैं। युधिष्ठिर तड़के उठकर स्नान करके सन्ध्या कर और फिर यज्ञशालामें जाकर अग्निमें आज्याहुतिके साथ समिधा, वैदिक मन्त्र पढ़कर, वश करनेको नहीं भूले।

समिद्भिश्च पवित्राभिरग्निमाहुतिभिस्तदा।
मन्त्रपूताभिरर्चित्वा निश्चक्राम ततो गृहात्॥

इस वर्णनसे देख पड़ता है कि स्वयं होम करनेकी आवश्यकता थी और यह होम सादी समिधा तथा आज्याहुतिका होता था। इस काममें बहुत समय न लगता होगा। इसी तरह उद्योग पर्वके ८३ वें अध्यायमें जब श्रीकृष्ण हस्तिना-पुरको जानेके लिए चले, तब वर्णन है।

कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः।
उपतस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः॥

अर्थात् सूर्य और अग्निकी उपासना—यानी उपस्थान एवं आहुति दोनों काम भारती युद्ध-कालमें प्रत्येक आर्यको करने पड़ते थे। सायंकालमें, सूर्यके अस्त होते समय, सन्ध्या-वन्दन और होम करना पड़ता था। वाल्मीकिने रामायणमें राम-के सम्बन्धमें ऐसा ही वर्णन किया है। विश्वामित्रके साथ जाते हुए अथवा वन-वासमें जाने पर जहाँ जहाँ प्रभात और सन्ध्या हुई, वहाँ वहाँ राम और लक्ष्मणके सन्ध्या करनेका वर्णन छूटने नहीं पाया। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी भाँति वैश्य भी प्रातः और सायंकाल सन्ध्या एवं होम किया करते थे। भारती धर्मका यही मुख्य पाया है। ऐसा देख पड़ता कि वह महाभारत-कालमें ब्राह्मणोंके बीच आधा-तीहा रह गया होगा और अब तो यह कहनेमें भी शङ्का ही है कि ब्राह्मणोंमें उसका सोलहवाँ अंश कदाचित् रह गया होगा।

लिखा है कि श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरने सन्ध्या एवं होम करके ब्राह्मणोंको दान दिया और कुछ मङ्गल पदार्थोंका अव-लोकन करके उन्हें छूनेका भी वर्णन है। मङ्गल पदार्थोंमें गायकी पूँछ छूनेका उल्लेख है। इससे देख पड़ता है कि यह सम्प्र-दाय प्राचीन कालसे है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह वर्णन महाभारत-कालका ही होगा।

नित्यके होमके अतिरिक्त नैमित्तिक अथवा अधिक पुण्यप्रद समझकर क्षत्रिय और ब्राह्मण लोग प्राचीन कालमें अनेक वैदिक यज्ञ करते थे। इन यज्ञोंमें खर्च और झंझटें बहुत अधिक रहती थीं और इनके करनेमें समय भी बहुत लगता था। महाभारतमें इनके अनेक नाम आये हैं। अश्वमेधके सिवा पुण्डरीक, गवामयन, अतिरात्र, वाजपेय, अग्निजित्, और बृह-स्पतिसव आदि नाम पाये जाते हैं। उनका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं।

मूर्तिपूजा।

यह बात निर्विवाद है कि इस वर्णन-में कहीं मूर्तिपूजाका वर्णन नहीं है। यद्यपि श्रीकृष्ण अथवा युधिष्ठिरकी आह्निक क्रियाओंका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है, तथापि उसमें किसी देवताकी धातुमयी अथवा पाषाण-मयी मूर्तिके पूजे जानेका वर्णन नहीं है। उस समय यदि लोगोंकी आह्निक क्रियामें देवताओंकी पूजाका समावेश हुआ रहता, तो उस विषयका उल्लेख इस वर्णनमें अवश्य आया होता। इससे निश्चयपूर्वक अनुमान होता है कि भारती-युद्धकालमें और महाभारतकाल पर्यन्त

आर्योंके आह्निक-धर्ममें किसी प्रकारके देवताकी पूजा समाविष्ट न हुई थी। किसी घरमें देवताकी मूर्ति रखकर उसकी पूजा शुरू न हुई थी। भिन्न भिन्न गृह्यसूत्रोंमें भी देवताओंकी पूजाकी विधि नहीं बतलाई गई है। इससे यह बात निर्विवाद है कि देवपूजाकी आह्निक विधि महाभारतकालके पश्चात् अनेक वर्षोंमें उत्पन्न हुई है। मूर्ति-पूजाका उद्गम भरत-खण्डमें कबसे हुआ, यह प्रश्न अत्यन्त महत्वका और गूढ़ है। कुछ लोगोंकी धारणा है कि बौद्ध धर्मका प्रचार होनेके पश्चात् मूर्तिपूजा चल पड़ी। देखना चाहिए कि बुद्धका मरण हो जाने पर उनकी मूर्तियाँ कितनी जल्दी बनने लगीं। बौद्ध धर्ममें अन्य देवता नष्ट हो गये थे और सभी देवताओंका सफाया हो चुका था। आगे अज्ञानी लोगोंने बुद्धको ही देवता मानकर उनकी छोटी बड़ी प्रतिमाएँ गढ़ना शुरू कर दिया। इस कारण एक समय हिन्दुस्थानमें बुद्धकी इतनी अधिक मूर्तियाँ प्रचलित हुईं कि जहाँ देखो, वहीं बुद्धकी मूर्तियाँ और मन्दिर देख पड़ते थे। बुद्ध धर्म बाहरी देशोंमें भी फैला था, इस कारण वहाँ भी बौद्धोंके अनेक मन्दिर और बुद्धकी हजारों प्रतिमाएँ हो गई थीं। जिस समय मुसलमानी मजहब फैला, उस समय मुसलमानोंने मूर्तियाँ तोड़ना शुरू कर दिया। उनके इस हमलेमें पहले सहज ही हिन्दुस्थानके बाहरी देशोंमें बने हुए हजारों बौद्ध मन्दिरोंकी मूर्तियाँ तहस-नहस की गईं। इसी तरह मुसलमानी भाषा यानी अरबी-फारसीमें बुध (बुत) शब्द मूर्तिके अर्थमें प्रचलित हो गया। मुसलमानोंने बुध (बुत) शिकन् और बुध (बुत) परस्त, ये दो भेद कर दिये—अर्थात् मूर्ति तोड़नेवाले और मूर्ति पूजनेवाले। इस साहचर्यसे बौद्धधर्म और मूर्ति-पूजाका अटूट सम्बन्ध हो गया। परन्तु शुरू शुरूमें बौद्ध-धर्ममें मूर्ति न रही होगी; क्योंकि देवता तो सभी नष्टप्राय हो गये थे और अबतक बुद्धकी मूर्ति न थी। बुद्धकी देहके अवशिष्ट केश, नख, हड्डियाँ आदि जो जिसे मिला, उसने वही लेकर उसपर पत्थरोंकी ढेरी बनाई और उसकी पूजा प्रारम्भमें शुरू हुई। महाभारतमें ऐसे स्थानोंको 'एडूक' संज्ञा दी है। एडूक शब्द अस्थिके अपभ्रंशसे निकला हुआ मालूम पड़ता है। एडूकका अर्थ टीकाकारने अस्थि-गर्भ-रचना विशेष किया है। महाभारतके वनपर्वमें जो यह वर्णन है कि कलियुगमें लोग एडूक पूजने लगेंगे वह इन बौद्धोंके ही पूजावर्णनके उद्देश्यसे है। सारांश, यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि महा-भारत-कालमें अर्थात् सौतिके समय हिन्दु-स्थानमें बुद्धकी मूर्तियोंके मन्दिर बहुतसे हो गये होंगे। परन्तु महाभारतमें मन्दिरों-का और मन्दिरोंमें स्थित मूर्तियोंका वर्णन बहुत मिलता है। यह बात सच है कि मूल वैदिक धर्ममें मन्दिरों अथवा मूर्तियोंका माहात्म्य न था और न लोगोंके नित्यके धार्मिक कृत्यमें मूर्तिका समावेश था। महाभारतमें सौतिने जो नवीन अध्याय जोड़े हैं उनमें मूर्तियों और मन्दिरोंका वर्णन है। उदाहरणार्थ, भीष्म पर्वके प्रारम्भमें दुश्चिह्न-कथनके अध्यायमें मन्दिरों और देव-प्रतिमाओंका वर्णन है।

देवताप्रतिमाश्चैव, कम्पन्तिच हसन्तिच।
वमन्ति रुधिरंचास्यैः स्विद्यन्ति प्रपतन्तिच॥

"देवताओंकी प्रतिमाएँ काँपती हैं, हँसती हैं, मुखसे रुधिर वमन करती हैं, देहसे पसीना डाल रही हैं अथवा गिरती हैं।" पत्थरकी प्रतिमाका ऐसे ऐसे काम करना बुरा लक्षण समझा जाता था। द्वारकामें भी यादवोंके नाशके समय ऐसे दुश्चिह्न होनेका वर्णन है। अर्थात् यह बात निर्वि-

वाद है कि सार्वजनिक मन्दिर थे जिनमें प्रतिमा पूजी जाती थी। यह कहना ठीक नहीं जँचता कि ये मूर्तियाँ बौद्धोंसे ली गई हैं। हिन्दूधर्ममें महाभारतके समय मूर्तियाँ प्रचलित थीं और वे शिव, विष्णु और स्कन्द आदि देवताओंकी भक्तिसे शुरू हुई थीं। महाभारतसे ही देख पड़ता है कि शिव, विष्णु और स्कन्द आदिकी भक्ति महाभारतकालमें बहुत प्रचलित थी। इसी तरह पाणिनिके सूत्रसे भी निश्चयपूर्वक ज्ञात होता है कि इन देवताओंकी मूर्तियाँ महाभारतके पहलेसे ही प्रचलित रही होंगी। पाणिनिके सूत्रोंका समय बुद्धके अनन्तरका अथवा पूर्वका माना जाय तो भी यह निर्विवाद है कि उस समय शिव, विष्णु और स्कन्दकी मूर्तियाँ होंगी। यद्यपि मन्दिर और मूर्तियाँ रही हों तथापि आर्योंके आह्निक धर्मकृत्यमें अबतक देवताओंकी पूजा न थी–यह बात महाभारतसे और गृह्यसूत्रोंसे भी निश्चित देख पड़ती है। वैदिक देवता कुल ३३ माने गये थे। परन्तु तेंतीस देवताओंमेंसे बहुत थोड़ोंकी प्रतिमाएँ बनीं अथवा मन्दिर तैयार हुए।

३३ देवता।

तेंतीस देवताओंकी गणना महाभारतमें भिन्न भिन्न है। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति–ये नाम बृहदारण्य उपनिषद्में हैं, और उसीमें कहा है कि वैसे देवता तो अनन्त हैं, यह उनकी एक महिमा है।

महिमान एवैषां एते त्रयस्त्रिंशत्वेव देवाः इति। कतमेते त्रयस्त्रिंशत् इत्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादश आदित्यः ते एक त्रिंशत् इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च। त्रयस्त्रिंशाइति॥

इसके आगे बृहदारण्यक उपनिषद्में इस प्रकार वर्णन किया है कि देवता तीन ही हैं, दो ही हैं और एक ही हैं। महाभारतमें, अनुशासन पर्वके १५० वें अध्ययनमें तेंतीस देवताओंकी गिनती इस प्रकार बतलाई है—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और दो अश्विन्। ग्यारह रुद्र ये हैं- १ अजैकपाद, २ अहिर्बुध्न्य, ३ पिनाकी, ४ अपराजित, ५ ऋत, ६ पितृरूप, ७ त्र्यंबक, ८ महेश्वर, ९ वृषाकपि, १० शम्भु, और ११ हवन। बारह आदित्य ये हैं—१ अंश, २ भग, ३ मित्र, ४ वरुण, ५ धाता, ६ अर्यमा, ७ जयन्त, ८ भास्कर, ९ त्वष्टा, १० ऊशन, ११ इन्द्र और १२ विष्णु। आठ वसु इस प्रकार हैं—१ धरा, २ ध्रुव, ३ सोम, ४ सवितृ ५ अनिल, ६ अनल, ७ प्रत्यूष, और ८ प्रभास। दोनों अश्विन नासत्य और दस्र हैं। नहीं कह सकते कि इस प्रकारकी गणना कबसे शुरू हुई। परन्तु इसमें बहुत करके सभी वैदिक देवता आ जाते हैं। अचरजकी बात यह है कि वरुण, इन्द्र और विष्णु इन विशेष देवताओंका समावेश आदित्योंमें किया गया है। अदितिके पुत्र ही आदित्य हैं। अर्थात् अधिकांश देवता आदित्य ही हैं। परन्तु इसमें प्रजापतिका अन्तर्भाव कहीं नहीं किया गया। वसु बहुत करके पृथ्वीके देवता हैं। धरा, वायु और अग्नि तो स्पष्ट ही हैं। प्रत्यूषका अर्थ सवेरा है। इसीमें वैदिक देवता उषाका समावेश किया हुआ देख पड़ता है। परन्तु यह अचरजकी बात है कि सवितृ अथवा सूर्यकी गणना वसुओंमें भी करके आदित्योंमें भी किस तरह की जाती है। रुद्रोंके बहुतेरे नाम आजकल महादेवके नाम हैं। सिर्फ वृषाकपि नाम विष्णुका हो गया देख पड़ता है। वसु, रुद्र और आदित्य ये देवताओंके भेद हैं। यह कल्पना वैदिक कालसे लेकर महाभारतकाल पर्यन्त चली

आई है और आजकल भी वैदिक क्रियामें, विशेषतः श्राद्धके समय, प्रचलित है।

शिव और विष्णु।

भारती-कालमें इन वैदिक देवताओंमें-से शिव और विष्णुके ही सम्बन्धसे तत्त्व-ज्ञानके दो पन्थ भी उपस्थित हुए, जिनकी संज्ञा पाञ्चरात्र और पाशुपत है। इन्हीं दो देवताओंके सहस्रनाम महाभारतमें दिये गये हैं। इससे देख पड़ता है कि महाभारतके समय इनका महत्त्व पूर्णतया प्रस्थापित हो गया था। ब्राह्मण-कालमें भी यह तत्व स्थापित हो गया था कि विष्णु देवताओंमें श्रेष्ठ है। 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः प्रथमः।' इस वाक्यसे स्पष्ट देख पड़ता है कि अग्नि सब देवताओंमें छोटा और विष्णु श्रेष्ठ है। वैदिक देवताओंमें इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है; पर यह ब्राह्मण-काल-में और भारती-कालमें कैसे पीछे रह गया, इसका अचरज होता है। तथापि, बुद्धके समय भी इंद्रका बहुत कुछ महत्व था; क्योंकि बौद्ध ग्रन्थोंमें इन्द्रका उल्लेख बार-बार किया गया है, वैसा शिव-विष्णुका नहीं है। महाभारत-कालमें शिव और विष्णुका, देवताओंके बीच अग्रणी होनेका जो पूज्य भाव उत्पन्न हो गया वह अबतक स्थिर है। कुछ लोग समस्त देवताओंमें शिवको मुख्य मानते थे, कुछ लोग विष्णु-को मुख्य मानते थे। जिस ईश्वरकी कल्पना ऋग्वेद-कालसे स्थापित हुई थी, अथवा जिस एक परब्रह्मका वर्णन उप-निषदोंने अत्यन्त उदात्त किया है, उस ईश्वर या परब्रह्ममें कुछ लोगोंने विष्णुकी स्थापना की, तो कुछने उसमें शिवकी स्थापना की। शिव और विष्णुके मतका विरोध महाभारत-कालमें खासा देख पड़ता है। पाठक देख ही चुके हैं कि इस विरोधका उद्गम उपनिषत्कालमें ही है। कठोपनिषद्में परब्रह्मके साथ विष्णुका तादात्म्य करके 'तद्विष्णोः परमं पदम्' कहा गया है। अर्थात् ब्राह्मण-कालकी ही भाँति दशोपनिषत्कालमें भी विष्णु समस्त देव-ताओंमें श्रेष्ठ माने जाते थे। इसके अनन्तर श्रीकृष्णकी भक्ति उत्पन्न हुई और यह भाव सहज ही उत्पन्न हो गया कि श्रीकृष्णजी, विष्णुके अवतार हैं। विष्णु-के चार हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म आयुध हैं। यह कल्पना महा-भारत-कालमें पूर्णतया प्रचलित थी और इसी तरह महाभारतमें वर्णन है। इस मतके अनुसार श्रीकृष्णके भी चार हाथ हैं और उनमें शंख, चक्र, गदा, पद्म आयुध दिये गये हैं। उस समय विष्णुकी मूर्तिका ऐसा ही स्वरूप बनाया गया। अब, इसके पश्चात्, श्वेताश्वतर उपनिषद्में शिवको प्राधान्य दिया हुआ पाया जाता है। इस उपनिषद्में वर्णन है कि परब्रह्म ही शिव है। तत्वज्ञानके विषयमें पहले यह विरोध उत्पन्न हुआ और यही शिव-विष्णुकी उपासनामें झगड़ेकी जड़ हो गया। महा-भारतसे यह बात देख पड़ती है। शिवके जिन स्वरूपोंकी कल्पना की गई है वे दो प्रकारके हैं। शिवका प्रधान स्वरूप योगी अथवा तपस्वी कल्पित है। उसका रङ्ग गोरा है, सिर पर जटाएँ हैं और व्याघ्रा-म्बरको ओढ़े हुए दिगम्बर है। जो दूसरा स्वरूप वर्णित है और जो महाभारतमें भी पाया जाता है वह लिङ्ग-स्वरूप है। महा-भारतमें बतलाया गया है कि शिवके अन्य स्वरूपोंकी पूजाकी अपेक्षा लिङ्ग-स्वरूपसे शिवकी पूजा करना अधिक महत्वका और विशेष फलवान् है। द्रोण-पर्वके २०२रे अध्यायमें यह लिखा है—

पूजयेत्विग्रहं यस्तु लिङ्गंचापि महात्मनः।
लिङ्गे पूजयिताचैव महतीं श्रियमश्नुते॥

महाभारतमें, सौप्तिक पर्वके १७वें अध्यायमें, इस विषयका आख्यान है कि

लिङ्ग-पूजाका आरम्भ किस तरह हुआ। एक बार ब्रह्मदेवने शङ्करका दर्शन करके उनसे कहा कि आप प्रजा उत्पन्न करें। परन्तु भूतमात्रको दोषोंसे परिपूर्ण देख शङ्कर पानीमें डुबकी लगाकर तप करने लगे। उस समय ब्रह्मदेवने दूसरे प्रजापति दक्ष इत्यादिको उत्पन्न करके सृष्टिका उपजाना आरम्भ कर दिया। शङ्करने जब पानीके ऊपर आकर सृष्टि देखी, तो उन्होंने क्रोधसे अपना लिङ्ग काट डाला। वह धरतीमें जम गया। इस प्रकार शङ्करके पृथ्वीमें पड़े हुए लिङ्गकी पूजा सब लोग करने लगे। ऐसा माननेके लिए गुंजाइश है कि लिङ्ग-पूजा बहुधा अनार्य लोगोंमें बहुत दिनसे प्रचलित थी, और आर्योंने उस पूजाका शङ्करके स्वरूपमें अपने धर्ममें समावेश कर लिया। तथापि, शङ्करका माहात्म्य और उनका भयङ्कर स्वरूप आदि समस्त कल्पनाएँ वैदिक हैं। दोनों कल्पनाओंका मेल एक स्थान पर उत्तम रीतिसे मिलाया गया है और आर्यों तथा अनार्योंका एकत्र मेल किया गया है। शिवकी लिङ्गपूजा महाभारत-कालके पहलेसे ही प्रचलित है और वेदान्तिक तत्वज्ञानकी भाँति शिव एवं विष्णुका परब्रह्मके साथ मेल मिला दिया गया है। भारती आर्योंके धर्मका यह उदात्त तत्व बहुत प्राचीन समयसे है कि 'सभी देवता एक परमेश्वरके स्वरूप हैं'; और तदनुसार शिव एवं विष्णु दोनोंका मिलाप परब्रह्मके साथ किया गया है।

शिव-विष्णु-भक्ति-विरोध-परिहार।

फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शिव और विष्णुकी भक्तिका विरोध बहुत प्राचीन कालसे है; और महाभारतने, स्थान स्थान पर, इस विरोधके परिहार करनेका स्तुत्य प्रयत्न किया है। यह बात पहले भी लिखी जा चुकी है। कहना चाहिए कि महाभारतका यह एक अत्यन्त प्रशस्त कार्य है और सब मतोंके बीच अविरोध स्थापित करनेका श्रेय महाभारतको ही है। महाभारतमें शिव और विष्णु दोनोंकी स्तुति एकसी की गई है। सौतिने विशेषतया इस युक्तिसे काम लिया है कि शङ्करकी स्तुति विष्णु अथवा श्रीकृष्णके मुखसे कराई है और विष्णुकी स्तुति शङ्करके मुखसे करा दी गई है। द्रोण-पर्वमें वर्णन है कि जब अश्वत्थामाने द्रोणवधके अनन्तर अग्न्यस्त्रका उपयोग किया, तब पांडवोंकी एक अक्षौहिणी सेना जल गई। परन्तु अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों ही अछूते और सुरक्षित बाहर निकल आये। उस समय अश्वत्थामाको अतीव आश्चर्य हुआ। इस विषयमें व्यासजीसे प्रश्न किया। तब, व्यासने शङ्करकी स्तुति करके कहा कि श्रीकृष्णने शङ्करकी आराधना करके ऐसा वरदान प्राप्त कर लिया है कि, 'हमारी मृत्यु किसी अस्त्रसे न हो।' इसी तरह द्रोणपर्वमें यह भी वर्णन है कि जिस दिन अर्जुनने जयद्रथका वध किया, उस दिन अर्जुनके आगे स्वयं शिव दौड़ते थे और अर्जुनके शत्रुओंका निपात कर रहे थे। यह बात व्यासजीने अर्जुनसे कही है। नारायणीय आख्यानमें तो नारायणने स्पष्ट कह दिया है कि शिव और विष्णु एक ही हैं, उन्हें जो भिन्नतासे देखे वह दोनोंमेंसे किसीका भक्त नहीं है। इससे प्रकट है कि शिव और विष्णुका झगड़ा बहुत पुराना है और उसे हटा देनेका प्रशंसनीय प्रयत्न महाभारत-कारने किया है।

रक्षा करनेवाली परमेश्वरकी शक्तिके अधिष्ठाता देव विष्णु हैं और शिव हैं परमेश्वरकी संहार-शक्तिके अधिष्ठाता

देख। यह कल्पना स्पष्ट देख पड़ती है कि महाभारतमें जहाँ जहाँ मनुष्योंका भयङ्कर संहार हुआ है, वहीं पर शिवका वर्णन आया है। उदाहरणार्थ;—अश्वत्थामाने रातको हमला करके जब हजारों प्राणियोंका संहार किया; उस समय शिविरमें घुसनेके पूर्व उसने, आराधना करके शङ्करको सन्तुष्ट कर लिया था। इसी प्रकार, जगत्‌की रक्षा करनेके लिए विष्णुकी पूजा होनेका उल्लेख पाया जाता है। महाभारतमें वर्णन है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवता जगत्‌के तीन कामों—उत्पत्ति, पालन और नाश—पर नियत हैं। इन तीनोंका एकीकरण परब्रह्ममें किया गया है।

यो सृजद्दक्षिणादङ्गात् ब्रह्माणं लोकसम्भवम्। वामाङ्गाच्च तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरम्॥ युगान्ते चैव सम्प्राप्ते रुद्रमीशोऽसृजत्प्रभुः॥

(अनुशासन अ० १४)

इस अध्यायमें श्रीकृष्णने उपमन्युका आख्यान कहते हुए उपमन्युके मुखसे शङ्करकी जो स्तुति कराई है उसमें उल्लिखित वर्णन आया है। यहाँ पर शङ्करको मुख्य देवता मान लिया है। इसमें परब्रह्मके तीन स्वरूपोंका वर्णन है। अर्थात् इसमें त्रिमूर्तिकी कल्पना यों की गई है कि मध्यभागमें शङ्कर, उनके दाहने ओर ब्रह्मा और बाएँ ओर विष्णु हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि यह कल्पना सदैव ऐसी ही की हुई होती है अथवा नहीं; परन्तु त्रिमूर्ति बहुधा शङ्करकी मूर्ति मानी जाती है और बीचमें शङ्कर होना चाहिए।

दत्तात्रेय।

इन तीनों देवताओंका समावेश एक देवतामें अर्थात् दत्तात्रेयमें होता है। इस देवताका वर्णन महाभारतमें दो स्थानों पर है। वनपर्वके ११५वें अध्यायमें कहा गया है कि सहस्रार्जुनको दत्तात्रेयके प्रसादसे एक विमान प्राप्त हुआ था।

दत्तात्रेय प्रसादेन विमानं काञ्चनं प्रथा। ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते॥

शान्तिपर्वके ४९ वें अध्यायमें यही कथा दुबारा कही गई है। इसके अतिरिक्त अनुशासन पर्वके ९१ वें अध्यायमें वर्णन किया गया है कि दत्तात्रेय अत्रिके पुत्र हैं। परन्तु महाभारतमें दत्तात्रेयके जन्मकी कथा नहीं है। दत्तात्रेय देवता वैदिक न हो तो भी ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन वैदिक देवताओंसे ही निर्मित है। तब उसे वैदिक देवता माननेमें कोई क्षति नहीं।

स्कन्द।

महाभारतमें स्कन्द देवताका बहुत कुछ वर्णन है। स्कन्द देवता भी वैदिक नहीं है। यह देवता शिवकी संहार-शक्तिका अधिष्ठाता है और देवताओंकी समूची सेनाका सेनानायक है। स्कन्द, शिवका पुत्र है। आजकलकी अपेक्षा महाभारतकालमें स्कन्दकी भक्ति विशेष देख पड़ती है। स्कन्दका वर्णन और उसकी उत्पत्ति महाभारतमें दो स्थानों पर—वनपर्वके २३२ वें अध्यायमें और अनुशासन पर्वके ८४-८५वें अध्यायमें है। स्कन्दकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कालिदासने 'कुमारसम्भव' महाकाव्य बनाया है। उसमें वैसा ही वर्णन है जैसा कि अनुशासन पर्वमें है। वनपर्वमें किया हुआ वर्णन बहुत कुछ भिन्न है। उसमें लिखा है कि स्कन्द शिव और पार्वतीका पुत्र नहीं, अग्निका पुत्र है। सप्त महर्षियोंकी पत्नियोंको देखकर अग्निको काम-वासना हुई। तब वह सब काम छोड़कर चिन्तामग्न हो गया। उस समय अग्निकी पत्नी स्वाहाने प्रत्येक ऋषिकी पत्नी—अर्थात् अरुन्धतीको छोड़कर छः पत्नियों के—अलग अलग रूप,

भिन्न भिन्न समयोंमें, धारण कर अग्निकी काम-शान्ति कर दी। इस कारण स्वाहाके यह पुत्र हुआ और उसका नाम 'षाण्मातुर'—छः माताओंवाला—हुआ। यह अग्निका पुत्र होने पर भी रुद्रका माना गया है, क्योंकि अग्निका अर्थ रुद्र ही है। स्वाहाने यह पुत्र, पालनके लिए, कृत्तिकाओंको सौंप दिया। कृत्तिकाओंने इसका पालन किया था, अतएव इसका नाम कार्त्तिकेय हो गया। इन्द्रने इसे अपनी सेनाका नायक बनाया और इसने इन्द्रके शत्रु तारकासुरका नाश किया। स्कन्दकी इस उत्पत्ति-कथाका स्वरूप वैदिक है और इसी कथाका रूपान्तर अनुशासन पर्ववाली कथामें हुआ है। स्कन्दकी सेनामें हजारों रोग भी थे। विशेषतया मातृ नामक उन देवताओंका अधिक महत्त्व है जो छोटे बच्चोंको १६ वर्षकी अवस्था होनेके पहले ही खा लेती हैं। इस कारण, स्कन्द और मातृदेवताओंकी पूजा करना प्रत्येक माताका साहजिक, महत्त्वपूर्ण और चिन्ताका कर्तव्य हो गया। भारतमें स्कन्दके नामोंकी तालिका है, और इन नामोंसे उसकी स्तुति करनेकी फलश्रुति भी बतलाई गई है। स्कन्दको प्रत्येक महीनेके शुक्ल पक्षकी पञ्चमी और षष्ठी तिथि अधिक प्रिय और पवित्र है; क्योंकि शुक्ल पक्षकी पञ्चमीको उसे देवताओंके सेनापतिका अधिकार मिला था। और शुक्ल पक्षकी षष्ठीको उसने असुरोंका पराभव किया था। स्कन्दकी भक्ति करना मानों भिन्न भिन्न भयप्रद देवताओंकी भक्ति करना है। क्योंकि स्कन्द सभी मारक शक्तियोंका अधिपति माना गया है। माता, ग्रह, परिषद् आदि शङ्करके भूतगण ही स्कन्दकी सेनामें हैं। महाभारतमें इन ग्रहोंके भिन्न भिन्न भयङ्कर रूप भी वर्णित हैं। विशेषतया यह समझा जाता है कि ये गण छोटे बच्चोंका संहार करते हैं; इस कारण स्कन्दकी पूजा नीची श्रेणीके लोगोंमें और अज्ञ स्त्री-पुरुषोंमें अधिक होती होगी।

दुर्गा।

महाभारतमें स्कन्दके पश्चात् पूज्य दुर्गा देवी है। यह भी मारक शक्ति ही है। शक्ति अथवा दुर्गाकी भक्ति महाभारतकालमें खूब की जाती थी। महाभारतमें दुर्गाकी भक्तिका समावेश करनेके लिए सौतिने, भारती युद्ध शुरू होनेके पहले, दुर्गाकी भक्तिका उल्लेख किया है। हम लिख चुके हैं कि वह उल्लेख ज़रा अप्रासङ्गिक है। यहाँ पर दुर्गाका स्मरण करके उसके स्तोत्रका पाठ करनेकी आज्ञा श्रीकृष्णने अर्जुनको दी है। तदनुसार दुर्गाका स्तोत्र (भीष्म० अ० २३) दिया गया है। दुर्गाका सम्बन्ध शङ्करसे है तथापि दुर्गा संहारकी स्वतन्त्र देवी है। इस स्तोत्रमें दुर्गाके पराक्रमका दिग्दर्शन बहुत कुछ कराया है, जैसा कि स्कन्द-पुराणमें वर्णित है। इसी प्रकार यहाँ पर विन्ध्यवासिनी देवीका भी उल्लेख है; और श्री तथा सरस्वतीका दुर्गाके साथ एकताका भाव दिखलाया गया है।

विराटपर्वके आरम्भमें भी दुर्गाका स्तोत्र है। उसमें दुर्गाको विन्ध्यवासिनी और महिषासुर-मर्दिनी भी कहा गया है। उसके लिए काली, महाकाली और सुरा-मांस-प्रिया भी सम्बोधन हैं। इसे यशोदाके पेटसे जन्म लेकर कंसको मारनेवाली और पत्थर पर पछाड़ते हुए कंसके हाथसे निकली हुई श्रीकृष्णकी बहन भी कहा गया है। अर्थात् हरिवंशकी कथा और अन्य पुराणोंमें वर्णित महिषासुर आदिकी कथाका यहाँ पर उल्लेख है। इससे स्पष्ट देख पड़ता है कि ये कथाएँ महाभारत-कालीन हैं।

यहाँतक जो विवेचन किया गया है, उसका सारांश यह है कि भारती युद्ध-कालमें भारती आर्योंका धर्म केवल वेद-विहित था, तो महाभारत-कालमें इस धर्ममें वैदिक देवताओंके सिवा और भी कुछ देवता समाविष्ट हो गये; और वैदिक देवताओंमें भी इन्द्र पीछे पड़ गये और शिव और विष्णुकी भक्ति पूर्णतया स्थापित हो गई। भारती-युद्धसे लेकर महाभारत-काल पर्यन्त जो ढाई तीन हजार वर्ष बीते, उतनी अवधिमें भारती-धर्मका रूपान्तर हो जाना अपरिहार्य था। वैदिक कालमें ईश-भक्तिकी विशेष क्रिया सन्ध्या और यज्ञ थे। वेदाध्ययन और यजन तीनों वर्णोंमें जीवित और जागृत थे, परन्तु भारती-कालमें आर्यों और अनार्योंके समाजमें एवं धर्ममें पूर्णतया मिश्रण होकर जो धर्म स्थिर हुआ उसमें यद्यपि ब्राह्मणोंमें वेदाध्ययन और अग्निहोत्र बने रहे थे तथापि अन्य वर्णोंमें शिव, विष्णु, स्कन्द और दुर्गाकी पूजा एवं भक्ति विशेष रूपसे प्रचलित हो गई। इसके अतिरिक्त, इसी समय इन देवताओंकी प्रतिमाएँ और इनके लिए मन्दिर बने। अज्ञ लोगोंमें निरे भूत-पिशाचोंकी ही भक्ति, स्कन्दके साथ अस्तित्वमें आ गई थी। और यह भी प्रकट है कि बौद्धोंके एडूकोंकी पूजा-का निषेध किया गया है। अब हम सनातन धर्मकी अन्य बातोंके सम्बन्धमें विचार करेंगे।

श्राद्ध।

सनातन धर्मकी एक महत्वपूर्ण बात श्राद्ध है। समस्त आर्य शाखाओंके इतिहासमें पितरोंकी पूजा पाई जाती है। प्राचीन कालमें यूनानियों और रोमन लोगोंमें भी पितरोंका श्राद्ध करनेकी रीति थी। भारती आर्योंकी श्राद्ध-विधिका उल्लेख महाभारतमें अनेक स्थलों पर हुआ है। विशेषतया अनुशासन पर्वमें श्राद्ध-विधिका वर्णन विस्तारके साथ है। इसमें वर्णन करनेकी मुख्य बात यह है कि श्राद्ध-में पितरोंके बदले जिन ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाय वे वेदमें विद्वान् हों, इस बात पर बहुत ज़ोर दिया गया है। वेद-विद्या-को स्थिर रखनेके लिए भारती आर्योंने जो नियम बनाये, उनमें यह नियम बहुत ही महत्व-पूर्ण है और इसका पालन लोग अबतक करते हैं। इससे वेद-विद्याको उत्तेजन मिला और निदान कुछ ब्राह्मणों-में वह अबतक स्थिर है। श्राद्धमें जो ब्राह्मण न्यौते जाते थे वे चाहे जैसे न होते थे। देवताओंकी पूजाके सम्बन्धमें चाहे जैसा ब्राह्मण न्यौता जा सकता था। परन्तु श्राद्धमें विद्वान् ब्राह्मणको, और उसमें भी शुद्ध आचरणवाले ब्राह्मणको, जाँच करके, न्योता देनेका नियम था। इस नियमका तात्पर्य यह देख पड़ता है कि भारती आर्योंको अपने पूर्वजोंका भली भाँति स्मरण था। भारती आर्योंके पूर्वज अथवा पितर वेद-विद्याके ज्ञाता थे और उनका आचरण शुद्ध था; इसलिए उनके स्थान पर अज्ञान, दुर्वृत्त अथवा बुरा पेशा या कार्य करनेवाले ब्राह्मणोंको भोजन कराना निन्द्य समझा जाता था। स्मृतियों-में एक सूची है कि श्राद्धमें ऐसे ऐसे ब्राह्मण वर्ज्य हैं। ऐसी ही सूची महाभारतमें भी है। वह सूची देखने लायक है। उसके दो-एक श्लोक ये हैं:—

राजपौरुषिके विप्रे घांटिके परिचारिके।
गोरक्षके वाणिजके तथा कारुकुशीलवे॥
मित्रद्रुह्यनधीयाने यश्च स्यात् वृषलीपतिः।
एतेषु दैवं पैत्र्यं वा न देयं स्यात्कदाचन॥
(अनुशासन पर्व १२६)

जो ब्राह्मण सरकारी नौकरी करते हैं, तीर्थोंके घाटों पर बैठते हैं, परि-

चर्याका काम करते हैं, गौएँ पालते हैं, बनियेकी दूकान रखते हैं या शिल्पका काम (बढ़ईगीरी) करते हैं, अथवा जो नाटकोंका पेशा करते हैं ऐसे ब्राह्मणोंको, अथवा मित्रका द्रोह करनेवालों, वेदोंका अभ्यास न करनेवालों तथा शूद्रा स्त्रीको गृहिणी बनानेवालोंको दैव अथवा पैत्र्य दोनों कार्योंमें ग्रहण न करना चाहिए। यहाँ पर ब्राह्मणोंके पेशोंका जैसा वर्णन किया गया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि बहुत कुछ आजकलकी भाँति ही महाभारत-कालमें भी ब्राह्मणोंने अपना मुख्य व्यवसाय छोड़कर दूसरे व्यवसाय कर लिये थे। महाभारत-कालमें श्राद्धकी और एक महत्त्वपूर्ण विधि थी वह इस जमानेमें बन्द हो गई। इस विषयमें तबकी और अबकी परिस्थितिमें जमीन-आसमानका अन्तर पड़ गया है। महाभारत-कालमें श्राद्धमें मांसान्नकी आवश्यकता थी। भिन्न भिन्न मांसोंके भिन्न भिन्न फल मिलनेका वर्णन महाभारतमें है। अन्यत्र यह बात लिखी जा चुकी है कि प्राचीन समयमें भारती आर्य लोग मांस खाते थे। मांस खानेकी रीति जबसे भारती आर्योंमें बन्द हुई, तभीसे श्राद्धमें मांसान्नकी आवश्यकता नहीं रही। फिर भी इस समय श्राद्ध-भोजनके लिए जो बड़े (उड़दकी दालके) बनाये जाते हैं, उनसे पता लगता है कि पहले जमानेमें श्राद्धमें मांसान्न परोसा जाता था। महाभारतकालमें मांस ही परोसा जाता था। उस समय श्राद्धमें, मांसके एवजमें बड़े नहीं बनाये जाते थे।

श्राद्धमें ब्राह्मणोंको भोजन देनेके सिवा, पितरोंके लिए पिण्डदान करनेकी विधि भी होती है। महाभारतमें इसका भी उल्लेख विस्तारसे है। यहाँ पर लिखने योग्य एक बात यह है कि अनुशासन पर्वके १२५ वें अध्यायमें एक रहस्य-धर्म अथवा गुप्त विधि बतलाई गई है कि पिताको दिया हुआ पहला पिण्ड पानीमें छोड़ना चाहिए, दूसरे पिण्डको श्राद्ध करनेवालेकी स्त्री खाय, और तीसरे पिण्डको अग्निमें जला देना चाहिए। आजकल इस विधिको प्रायः कोई नहीं करता। और तो क्या, लोगोंको यह विधि मालूम ही नहीं। इस विधिका रहस्य बहुधा यह होगा कि श्राद्ध करनेवालेकी स्त्री गर्भवती हो और उसके उदरसे दादा (प्रपिता) जन्म ग्रहण करे। यह तो प्रसिद्ध ही है कि दूसरा पिण्ड दादाके नामसे दिया जाता है। अमावस्याके दिन और भिन्न भिन्न तिथियों एवं नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेकी आज्ञा है।

आलोकदान और बलिदान।

इस समय, लोगोंको श्राद्धके सम्बन्धमें बहुतसी बातोंका ज्ञान है; और आजकल भी—क्या आर्य, क्या अनार्य, क्या त्रैवर्णिक और क्या शूद्र—सभीके यहाँ श्राद्ध किया जाता है। परन्तु महाभारत-कालमें आलोकदान और बलिदानकी जो चाल थी, उसकी कल्पना वर्त्तमान समाजमें बहुत थोड़े लोगोंको होगी। आजकल ये दोनों विधियाँ प्रायः बन्दसी हो गई हैं। प्रत्येक गृहस्थको रोज विशेष स्थानों पर दीप रखने पड़ते थे, विशेष स्थान पर भातके पिण्ड रखने पड़ते थे और विशेष स्थल पर फूलोंके हार रखने पड़ते थे। यह विधि देव, यक्ष और राक्षसोंके समाधानके लिए करनी पड़ती थी। उदाहरणार्थ;—पहाड़ अथवा जङ्गलमें धोखेके स्थान पर, इसी तरह मन्दिरोंमें और चौराहों पर, प्रति दिन आलोक या दीप जलाने पड़ते थे; और यक्ष, राक्षस तथा देवताओंके लिए बलि देने पड़ते थे। ये बलि भिन्न भिन्न पदार्थोंके होते थे। देवताओंके लिए दूध

और दहीका, यक्ष-राक्षसोंके लिए मांस और मद्यका, तथा भूतोंके लिए गुड़ और तिलका बलि देना पड़ता था। आजकल वैश्वदेवमें ब्राह्मण लोग जो बलि-हरण करते हैं वह इसीकी एकत्र की हुई एक विधि है*। परन्तु प्राचीन समयमें यह विधि विस्तृत थी और प्रत्येक घरमें, अपने घरके भिन्न भिन्न भागोंमें एवं घरके समीपवाले रास्तेमें जाकर बलि देने पड़ते थे। महाभारतमें ऐसा ही वर्णन है। मृच्छकटिकमें चारुदत्त, घरके भिन्न भिन्न भागोंमें बलि देनेके लिए जाता है और रास्तेमें तथा अन्य स्थानोंमें जलते हुए दीपक रखता है—इस बातकी उपपत्ति ऊपरवाले वर्णनसे पाठकोंकी समझमें आ जायगी। इस जमानेमें आलोक-दान और दीप-दान प्रायः बन्द हो गया है। परन्तु चारुदत्तके समय और महाभारतके समय यह विधि प्रत्येक गृहस्थके यहाँ प्रति दिन होती थी। किंबहुना, यह विधि किये बिना भोजन करना अधर्म माना जाता था।

दान।

'इज्याध्ययनदानानि तपः' ये जो धार्मिक आचरणके चार भाग हैं, इनमें अध्ययन और इज्याके सम्बन्धमें विस्तृत विचार हो चुका है। अब दान पर विचार करना है। महाभारतके समय धर्मशास्त्र-की इस बात पर कड़ी दृष्टि थी कि प्रत्येक दिन प्रत्येक मनुष्यको कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिए। अनुशासन पर्वमें भिन्न भिन्न दानोंका पुण्य-फल विस्तारके साथ वर्णित है। विशेषतया सुवर्ण, गाय, तिल और अन्न-दानोंकी स्तुतिसे अनुशासन पर्वके अध्यायके अध्याय भरे पड़े हैं। प्रत्येक दानकी स्तुतिका अन्य दानों-की अपेक्षा अधिक किया जाना स्वाभाविक ही है। तथापि गोदानकी स्तुति बहुत ही अधिक की गई है। क्या महाभारतके समय और क्या इस समय, गाय सदा एकसी उपयोगी देख पड़ती है। परन्तु आजकल गायको पालना बहुत कठिन हो जानेके कारण गायका देना और लेना भी बहुत कुछ कम हो गया है। और, गोप्रदानकी कीमत सिर्फ़ सवा रुपया मुकर्रर है; इसलिए, अब प्रत्यक्ष गोदान करनेके झगड़ेमें लोग बहुत कम पड़ते हैं। परन्तु महाभारत-कालमें गाय रखना बहुत सरल काम था। इसके अतिरिक्त, गायें अत्यधिक पवित्र मानी जाती थीं। गायको मारना या उसको पैरसे छूना पातक समझा जाता था। गायके गोबर और मूत्रमें भी अधिक आरोग्य-शक्ति है, इससे वह पवित्र माना जाता था। यही महाभारत-कालीन धारणा थी।

शकृन्मूत्रे निवस त्वं पुण्यमेतद्धि नः शुभे।
(अनुशासन पर्व ८२)

इससे गायका दान प्राचीन समयमें अत्यन्त प्रशस्त माना जाता था। राजाओं और यज्ञ-कर्ताओंने जो हजारों गायोंके दान किये थे उसकी प्रशंसाका वर्णन उपनिषदोंमें भी है। दुर्भाग्यसे इस समय भरतखण्डमें गायोंके सम्बन्धमें हमारा

---

* ऐसा प्रतीत होता है कि वैश्वदेवकी रीति महाभारत कालमें बहुत कुछ वैसी ही थी जैसी कि आजकल है। अनुशासन पर्वके ९७ वें अध्यायमें उसका वर्णन वैश्वदेव नामसे ही है। उसी देवताके उद्देशसे अग्निमें आहुति देना, घरके भिन्न भिन्न भागोंमें बलिहरण करना और दरवाजे पर

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद्भुवि।

कुत्ते आदिको बलि देना बतलाया गया है। यह वैश्वदेव सायं प्रातः दोनों समय और नित्य गृहस्थोंके द्वारा किया जाय। इस समय अतिथिको भोजन देनेके लिए भी कहा गया है। सार यह कि उस समय भिन्न भिन्न भागोंमें बलि देनेकी विधि ही अधिक थी और शेष वैश्वदेव-विधि आजकलकी भाँति ही थी।

कर्त्तव्य बहुत ही बिगड़ गया है। गाय रखना प्रायः बन्द हो गया है। गायके दूधमें बुद्धिमत्ताके जो गुण हैं, उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता: और गायके दूधके बदले भैंसके दूधका चलन बहुत अधिक हो गया है। अतएव बुद्धिमत्ताके सम्बन्धमें इस दूधके परिणाम बहुत ही बुरे और हानिकारक होते हैं। क्योंकि बुद्धिमत्ताके सम्बन्धमें इस दूधमें गायके दूधकी अपेक्षा बहुत ही थोड़े गुण हैं। गाय-बैलोंका पालना घट जानेसे, शुद्धताके सम्बन्धमें गोबर और गोमूत्रका बहुत कम उपयोग होने लगा है। इस विषयमें सुधार होनेकी आवश्यकता है। प्रत्यक्ष गोदानका जो गौरव महाभारत-कालमें प्रसिद्ध था, वह जिस दिन फिर भारती आर्योंके ध्यानमें आ जाय और भारतमें गायोंकी समृद्धि हो जाय, वही सुदिन है। महाभारत-कालमें तिल-दान भी बहुत प्रशस्त माना जाता था: क्योंकि तिल पौष्टिक अन्न है, और महाभारतके समय तिल खानेका चलन बहुत ही अधिक था। अब तो इसका चलन बहुत ही घट गया है; परन्तु महाभारतमें अनुशासन पर्वके कई अध्याय तिल और तिल-दानकी स्तुतिसे भरे पड़े हैं। तिल पितरोंको भी प्रिय हैं और श्राद्धकर्ममें पवित्र माने गये हैं। इस कारण भी इनके दानकी बड़ाई की जाती होगी। सुवर्ण-दान और अन्न-दान दोनोंकी जो प्रशंसा महाभारतमें है वह योग्य ही है। विस्तारके साथ उसको लिखनेकी आवश्यकता नहीं। इन दोनों दानोंकी आवश्यकता और महत्त्व इस समय भी कम नहीं। इसके अतिरिक्त जो भूमि-दान, कन्या-दान और वस्त्र-दान प्रभृति दान वर्णित हैं, उनका पुण्य अधिक है ही और वे सदा सर्वदा अबाधित हैं।

तप और उपवास।

अब तपका विचार करना है। तपके भिन्न भिन्न भेद वर्णित हैं। इन भेदोंमें उपवास मुख्य और श्रेष्ठ कहा गया है*। उपवास करना प्रायः सभी धर्मोंमें मान्य किया गया है। उपवास करनेकी प्रवृत्ति उपनिषत्कालसे है। बृहदारण्यमें परमेश्वरको जाननेका मार्ग यों वर्णन किया गया है—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिशन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।

अनाशकका अर्थ उपवास है। भारती-कालमें उपवासका मार्ग बहुत कुछ प्रचलित था: उसको जैनोंने खूब स्वीकार किया। अनुशासन पर्वके १०५—१०६ अध्यायमें भिन्न भिन्न प्रकारके उपवासोंका वर्णन है, और इन उपवासोंके करनेसे जो जो फल मिलते हैं, उनका भी वर्णन है। परन्तु सबका इत्यर्थ बहुधा यह देख पड़ता है कि उपवास करनेवालेको स्वर्ग-प्राप्ति होती है और वहाँ अप्सराओं एवं देव-कन्याओंके उपभोगका सुख मिलता है। स्वर्गमें इस प्रकारका निरा भौतिक सुख मिलनेका वर्णन महाभारतमें, अन्य स्थलों पर, कम पाया जाता है। उल्लिखित उपनिषद्वाक्यसे यह भी प्रकट होता है कि उपवास करनेसे परमेश्वरका ज्ञानतक प्राप्त होता है। तब, यह कहना कुछ अजीब सा जँचता है कि उपवास करनेसे केवल स्वर्गकी अप्सराओंका सुख मिलता है। उपवासकी जो विधि लिखी है, उसमें वर्णन है कि उपवास एक दिनका, दो दिनका, लगातार तीन दिनका, इस तरह बढ़ाते बढ़ाते वर्ष भर करना चाहिए। कहा गया

* नास्ति वेदात्परं शास्त्रं नास्ति मातृसमो गुरुः।
नास्ति धर्मात्परो लाभस्तपो नानशनात्परम्॥
(६२ अनु० अ० १०६)

है कि एक ही बार लगातार तीन दिनसे अधिकका उपवास न करना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय, तीन दिनका उपवास करें; और वैश्य तथा शूद्र एक दिनसे अधिक उपवास न करें। यह एक महत्त्व-की आज्ञा है, जिस पर ध्यान देना चाहिए, कि 'वैश्य और शूद्र तीन दिनका उपवास कभी न करें।' क्योंकि उनके पेशेके हिसाब-से अधिक उपवास करना उनके लिए सम्भव नहीं। एक दिनमें दो बार भोजन होता है और तीन दिनोंमें छः बार; इनमें-से एक, दो या तीन बारका भोजन छोड़ दिया जाय। यही उपवास-विधि है। दिनमें एक ही बार भोजन करनेको एक-भक्त* कहते हैं और यह भी उपवासमें माना गया है। तीन दिनका उपवास करके अर्थात् छः बारके भोजनोंको छोड़कर, सातवाँ भोजन करे; यह मुख्य उपवास-विधि है। परन्तु इसके आगे पक्ष भर (पन्द्रह दिन) तक उपवास करनेका वर्णन किया गया है। जो पुरुष वर्ष भर, एक पक्षतक तो उपास करता और दूसरे पक्ष-में भोजन करता है, उसका षण्मास अन-शन हो जाता है। यह अङ्गिरा ऋषिका मत बतलाया है। महीने भरका भी उपवास बतलाया है, इसका अचरज होता है। शूद्रों और वैश्योंको जो एक दिनकी अपेक्षा अधिक उपवास करनेकी मनाही है, वह उन्हें पसन्द न हुई होगी। जैनोंने अनेक उपवास करनेकी आज्ञा सभीके लिए दे दी; इस कारण, जैन धर्मका विस्तार निम्न श्रेणीके लोगोंमें होनेके लिए बहुत कुछ अवकाश मिल गया होगा। जैनोंने उप-वासोंका इतना अधिक महत्त्व बढ़ा दिया कि अन्तिम उपास उन्होंने ४२ दिनतकका बतलाया है। उपवासमें हर प्रकारका अन्न वर्ज्य है। यही नहीं, पानी पीनेतककी मनाही है, यह ध्यान देनेकी बात है।

महाभारतमें उपवासकी तिथियाँ निर्दिष्ट हैं। वे ये हैं—पञ्चमी, षष्ठी, और कृष्ण पक्षकी अष्टमी तथा चतुर्दशी। इन तिथियोंमें जो उपवास करता है, उसे कोई दुख-दर्द नहीं होता। भिन्न भिन्न महीनोंमें भी उपवास करनेका फल कहा गया है। उल्लिखित तिथियाँ आजकल बहुधा उप-वासकी नहीं हैं। किन्तु अचरजकी बात यह है कि आजकल जो एकादशी, द्वादशी उप-वासकी तिथियाँ हैं, वे महाभारतमें इस कामके लिए निर्दिष्ट नहीं हैं। ये तिथियाँ विष्णु और शिवकी उपासनाकी हैं; इस-लिए उनकी उपासनाओंके प्रसङ्ग पर इन-का उल्लेख हो सकता था। अनुशासन पर्व-के इस अध्यायमें समग्र उपवास-विधि वर्णित है और इसीसे, इसमें बतलाये हुए समग्र तिथि-वर्णनमें, उन तिथियोंका नाम नहीं आया। यह बात भी विशेष रूपसे लिखने योग्य है कि अनुशासन पर्वके १०९वें अध्यायमें एक ऐसा व्रत बतलाया गया है कि प्रत्येक महीनेकी द्वादशी तिथिको यदि भिन्न भिन्न नामोंसे विष्णुकी पूजा की जाय तो विशेष पुण्य मिलता है। वे नाम यहाँ लिखे जाते हैं। मार्गशीर्षसे प्रारम्भ कर प्रत्येक महीनेके लिए यों नाम लिखे हैं—१ केशव, २ नारा-यण, ३ माधव, ४ गोविन्द, ५ विष्णु, ६ मधुसूदन, ७ त्रिविक्रम, ८ वामन, ९ श्री-धर, १० हृषीकेश, ११ पद्मनाभ, १२ दामो-दर। अर्थात् सन्ध्योपासनके आरम्भमें विष्णुके जिन चौबीस नामोंका स्मरण किया जाता है, उनमेंसे पहले बारह नाम

* मूल शब्द एक-भक्त है, लोगोंमें कहीं कहीं एक-भुक्त बोला जाता है। परन्तु मूलमें एकभक्त शब्द है। इसकी कल्पना यह है कि दिनमें जो दो बार भोजन किया जाता है अर्थात् दो बार भक्त या भात खाया जाता है, सो उसके स्थानमें एक बार ही भोजन करे यानी एकभक्त हो। यह ध्यान देनेकी बात है।

वही हैं जो कि ऊपर लिखे गये हैं। इससे चौबीस नामों द्वारा विष्णुका स्मरण करनेकी पद्धति कमसे कम महाभारतके बराबर प्राचीन तो है। किंबहुना, इससे भी प्राचीन माननेमें कोई बाधा नहीं है। उपवासके जो भिन्न भिन्न भेद बतलाये गये हैं, वे ही स्मृतिशास्त्रोंमें वर्णित चान्द्रायण और सान्तपन आदिके हैं। परन्तु चान्द्रायण, कृच्छ्र, और सान्तपन आदि व्रतोंका नाम यद्यपि महाभारतमें प्रसङ्गानुसार आ गया है तथापि उनका वर्णन नहीं है। तपकी विधिमें व्रतोंके यही भेद पाये जाते हैं। अस्तु; उपवासके सिवा वायु-भक्षण आदि तपके और भी कठिन भेद महाभारतमें वर्णित हैं।

जप।

तपका एक प्रधान अङ्ग अथवा स्वरूप जप है। जपकी प्रशंसा भगवद्गीतामें की गई है। उसको यज्ञ बतलाया गया है। विभूति अध्यायमें भगवानने कहा है—"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि"। जपके सम्बन्धमें दो तीन अध्याय शान्तिपर्वमें भी हैं। उनका तात्पर्य यह ध्वनित होता है कि जप है तो महाफलका देनेवाला, परन्तु ज्ञानमार्गसे घटकर है। अधिक क्या कहा जाय, वेदान्तमें जप मान्य नहीं है: अथवा उसके करनेका विधान भी नहीं किया गया है। जप करना योगका मार्ग है। इसमें भी, किसी फलकी इच्छा न करके जप करना सबमें श्रेष्ठ है। किसी कामनासे जप करना 'अवर' अर्थात् निकृष्ट है।

अभिध्यापूर्वकं जप्यं कुरुते यश्च मोहितः।
यत्रास्य रागः पतति तत्र तत्रोपपद्यते॥
(शांति० अ० १९७)

योगासन लगाकर और ध्यानमग्न होकर जो प्रणवका जप करता है वह ब्रह्मदेवके शरीरमें प्रवेश करता है।

निरिच्छस्त्यजति प्राणान्
ब्राह्मीं स विशते तनुम्।

इस अध्यायमें संहिता जपका भी वर्णन है। किसी कामनासे जप करनेवाला उस लोक या कामनाको प्राप्त होता है; परन्तु जो फलकी रत्ती भर भी इच्छा न करके जप करता है, वह सब फलोंसे श्रेष्ठ ब्रह्मलोकको जाता है। जपके भिन्न भिन्न भेद आजकलकी भाँति महाभारत-कालमें रहे होंगे। और इसमें आश्चर्य नहीं कि कामनिक और निष्काम जपके फल कामनिक तथा निष्काम यज्ञोंकी भाँति—क्रमसे स्वर्ग और अपुनरावर्ति ब्रह्मलोक ही हैं।

अहिंसा।

भारती आर्य धर्मके अनेक उदात्त तत्त्वोंमें महत्वका एक तत्व अहिंसा है। महाभारत-कालीन लोक-समाजमें यह मत पूर्णतया स्थापित हो चुका था कि 'किसी प्रकारकी हिंसा करना पाप है।' अन्य स्थानमें इस पर विचार हो चुका है कि यह मत किस प्रकार उत्पन्न हुआ और क्योंकर बढ़ता गया। परन्तु यहाँ पर कहा जा सकेगा कि महाभारतके भिन्न भिन्न आख्यानोंमें इस सम्बन्धमें मतभेद देख पड़ता है; और जिस तरह हिंसाका प्रचार तथा मांसका भक्षण, महाभारत-कालमें धीरे धीरे बन्द हुआ, उसका आन्दोलन सामने देख पड़ता है। वनपर्वके धर्मव्याध-संवादमें यदि हिंसा और मांसान्नका समर्थन देख पड़ता है, तो शान्तिपर्वके २६४—६५वें अध्यायमें जो तुलाधार तथा जाजलिका सम्वाद है, उसमें हिंसा और मांसान्नकी निन्दा की गई देख पड़ती है। वनपर्वके २०८वें अध्यायमें कहा गया है कि प्राणियोंका वध करनेवाला मनुष्य तो निमित्त मात्र है: और अतिथियों तथा

पोष्यवर्गके भोजनमें और पितरोंकी पूजामें मांसका उपयोग होनेसे धर्म होता है। यह भी कहा गया है कि यज्ञमें ब्राह्मण लोग पशुओंका वध करते हैं और मन्त्रके योगसे वे पशु संस्कृत होकर स्वर्गमें पहुँच जाते हैं। ठीक इसके विपरीत, तुलाधार-जाजलि-संवादमें यही काम निन्द्य और अधार्मिक कहे गये हैं। और यह कहा गया है कि जिन वेद-वचनोंमें हिंसाप्रयुक्त यज्ञ अथवा मांसान्नकी विधि है, वे वचन किसी खाऊ आदमीने वेदमें मिला दिये हैं। इतिहासज्ञ लोग यज्ञ-कर्ममें अन्नोंका यज्ञ पसन्द करते हैं। कर्णपर्वमें एक स्थान पर श्रीकृष्णने अहिंसाको परमधर्म कहा है।

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान्मतो मम।
अनृतं वा वदेद्वाचं नच हिंस्यात्कथञ्चन॥
(कर्ण. अ. २३-६६)

कुछ लोगोंका मत है कि अहिंसा-धर्मका उपदेश पहलेपहल बौद्धों और जैनोंने किया है। परन्तु यह बात सच नहीं है। अहिंसा-मत भारतीय आर्य धर्मके मतोंमें ही है और वह बुद्धसे भी प्राचीन है। अहिंसा-तत्त्वका उपदेश उपनिषदोंमें भी है। जो ज्ञानमार्गी विद्वान् मनुष्य परमेश्वर-प्राप्तिके लिए भिन्न भिन्न मोक्ष-साधनोंका अवलम्ब करता है, उसे अहिंसा तत्त्व अवश्य मान्य करना चाहिए—इस तत्त्वका प्रतिपादन भारतीय आर्य तत्त्ववेत्ताओंने बहुत प्राचीन कालमें किया है। अनुभवसे सिद्ध किया गया है कि वेदान्त-मतसे और योग-मतसे भी परमार्थी पुरुषके लिए हिंसा एक भारी अड़चन है। और इस कारण, वनमें जाकर रहनेवाले निवृत्त ज्ञानमार्गी न तो हिंसा करते थे, और न मांसाहार करते थे। आद्य यूनानी इतिहासकार (सन् ईसवीसे ४५० वर्ष पूर्व) हिरोडोटस गवाही देता है कि हिन्दुस्थानके जङ्गलोंमें रहनेवाले योगी और तपस्वी लोग अहिंसा-धर्मको मानते हैं; वे कभी मांसाहार नहीं करते। इससे स्पष्ट देख पड़ता है कि बुद्धके पहलेसे ही हिन्दुस्थानमें अहिंसा-मतका चलन, विशेषतया ज्ञानमार्ग पर चलनेवाले निवृत्त लोगोंमें था। यह बात भारतीय आर्योंके दयायुक्त धर्मके लिए सचमुच भूषण-स्वरूप है कि उन्होंने अपनी दयाको पूर्ण स्वतन्त्र करके ज्ञानके लिए और आध्यात्मिक उन्नतके लिए हजारों वर्ष पहलेसे, सामाजिक एवं राजकीय हानिकी कुछ भी परवा न करके, अहिंसा मतको स्वीकार किया; और बहुतोंने मांस भक्षण करना त्याग दिया।

इसमें सन्देह नहीं कि वेद-विधिसे किये हुए यज्ञमें हिंसा होती थी। खासकर भारती युद्धके समय क्षत्रियोंमें विविध अश्वमेध और विश्वजित् आदि भारी यज्ञ किये जाते थे। इन यज्ञोंमें हिंसा बहुत होती थी। वैदिक धर्ममें इन यज्ञोंकी बेहद प्रशंसा है, इस कारण पुराने मतके ब्राह्मण और क्षत्रिय इन यज्ञोंको छोड़नेके लिए तैयार न थे। अतएव, यह बात निर्विवाद है कि महाभारत-कालमें हिंसाप्रयुक्त यज्ञ हुआ करते थे। और, महाभारतके पश्चात् जब जब आर्य धर्मकी विजय होकर बौद्ध और जैनधर्मका पराजय हुआ करता था, तब तब बड़े बड़े पराक्रमी क्षत्रिय राजा खासकर अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। इस प्रकार इतिहासमें शुङ्ग वंशके अग्निमित्र राजा अथवा गुप्त वंशके चन्द्रगुप्त राजाके अश्वमेध करनेका वर्णन है। यद्यपि यह बात है, तथापि हिंसाप्रयुक्त यज्ञोंके सम्बन्धमें समस्त जन-समुदायमें घृणा उत्पन्न हो गई थी। बहुतेरे वैदिकों और अन्य ब्राह्मणोंने यह नियम कर दिया था कि यदि यज्ञ करना हो तो

धान्यकी आहुतियोंसे ही करना चाहिए। शान्तिपर्वके २६६ वें अध्यायमें विचक्नुका आख्यान है। उसमें कहा गया है कि एक अवसर पर यज्ञमें छिन्न भिन्न किया हुआ वृषभका शरीर देखकर विचक्नुको बहुत बुरा मालूम हुआ। उसने कहा—"अबसे समस्त गायोंका कल्याण हो।" तभीसे गवालम्भ बन्द हो गया। धर्मात्मा मनुने कहा है कि किसी कर्ममें हिंसाका सम्पर्क न हो, और यज्ञमें अन्नकी ही आहुतियाँ दी जायँ। यज्ञ-स्तम्भके लिए मनुष्य जो माँस खाते हैं, उसे कुछ लोग अशास्त्र नहीं मानते; परन्तु यह धर्म प्रशस्त नहीं है। सुरा, मद्य, मत्स्य, और मांस भक्षण करनेकी रीति धूर्त लोगोंने चलाई है। वेदोंमें ऐसा करनेकी आज्ञा नहीं है। श्रीविष्णु ही जब कि सब यज्ञोंके अन्तर्गत हैं, तब पायस, पुष्प और वेदोंमें जो यज्ञीय वृक्ष कहे गये हैं, उनकी समिधाके द्वारा ही याग करना चाहिए।" सारांश यह कि समग्र जनसमूहमें, खासकर विष्णुकी भक्तिका अवलम्ब करनेवाले लोगोंमें, मांस भक्षण करनेका महाभारत-कालमें निषेध माना जाता था। यही नहीं, बल्कि यज्ञ-याग आदिमें भी हिंसाका त्याग करके केवल धान्य, समिधा और पायसकी आहुतियाँ दी जाती थीं।

आश्रम-धर्म।

भारती-धर्मके मुख्य अंगोंमें चार आश्रम और चार वर्ण प्राचीन कालसे चले आते हैं। इस विषयका विस्तृत वर्णन पहले हो चुका है। यहाँ आश्रमोंका उल्लेख कुछ अधिक किया जाता है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमोंका अवलम्बन प्रत्येक मनुष्यको, विशेषकर त्रैवर्णिकोंको अवश्य करना चाहिए। भारती-कालमें इसी प्रकारका नियम था। महाभारतमें भिन्न भिन्न आश्रमोंका कर्तव्य बतलाया गया है—अर्थात् बाल्यावस्थामें ब्रह्मचर्य, युवावस्थामें गार्हस्थ्य, बुढ़ापेमें वानप्रस्थ और अन्तमें संन्यास। ब्रह्मचर्यका मुख्य लक्षण यह था कि गुरु-गृहमें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन और विद्याध्ययन किया जाय। गार्हस्थ्यका लक्षण विवाह करना, अतिथिकी पूजा और अग्निकी सेवा करना तथा स्वयं उद्योगसे अपनी जीविका चलाना था। बुढ़ापा आने पर घरबार पुत्रको सौंपकर वन जानेके लिए वानप्रस्थ आश्रम था। इसमें जटा धारण कर, उपवास, तप और चान्द्रायण व्रत आदि करने पड़ते थे; और जङ्गलके कन्द-मूल-फल एकत्र कर अथवा उञ्छ-वृत्तिसे अर्थात् खेतमें पड़े हुए अन्नके दाने चुनकर उदर-निर्वाह करना पड़ता था। चौथे आश्रम अर्थात् संन्यासमें जटा और शिखाका त्याग करके, स्त्रीका त्याग करके, भिक्षा माँगकर उदर-निर्वाह करके आत्म-चिन्तन करते हुए इधर उधर भ्रमण करना पड़ता था। इस अवस्थामें देहावसानतक रहना होता था। इसका लक्षण त्रिदण्ड था। इसके सिवा, महाभारतके समयमें अत्याश्रमी अर्थात् संन्यासके भी आगेके, सब नियमोंसे रहित, परमहंस रूपमें रहनेकी चाल थी। धर्मका ऐसा अभिप्राय है कि इन सब आश्रमोंमें, सबका पोषक गृहस्थाश्रम ही प्रधान है।

अतिथि-पूजा।

अतिथिकी पूजा करने और अतिथिको भोजन देनेके सम्बन्धमें महाभारत-कालके सनातन धर्ममें, बड़ा जोर दिया गया है। धर्मकी यह आज्ञा है कि जो कोई अतिथि आवे, उसका सत्कार कर उसे भोजन देना प्रत्येक गृहस्थ और वान-

अन्नका भी कर्त्तव्य है; और यदि इसमें दाताको स्वयं उपवास भी करना पड़े तो कोई हानि नहीं है। वनपर्व अध्याय २६० में जो मुद्गल ऋषिका आख्यान दिया गया है उसका यही तात्पर्य है। यह ऋषि पन्द्रह दिनमें द्रोण भर भात कपोत-वृत्तिसे प्राप्तकर और दस पौर्णमास समाप्त कर देवता और अतिथिकी पूजा करता था और उससे जितना अन्न बच जाता था, उतनेसे ही अपना उदर-निर्वाह करता था। ऐसा लिखा है कि उसने इस रीतिसे दुर्वासा ऋषिका सत्कार बारंबार किया और आप उपासा रहा। इस कारण अन्तमें उसे स्वर्गमें ले जानेके लिए विमान आया। अतिथि-सत्कारके पीछे जो अन्न शेष रह जाता है, उसका नाम 'विघस' है; और यह नियम था कि यह विघस खाकर गृहस्थ-धर्मवाले स्त्री-पुरुषोंको उदर-निर्वाह करना चाहिए।

साधारण धर्म।

भारती सनातन धर्मके भिन्न भिन्न भाग बतानेके पश्चात् अब उन धर्मोंकी ओर चलना चाहिए जिनका पालन करना सभी मनुष्योंको सभी समय आवश्यक है। सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, अपने उपार्जित किये हुए द्रव्य-का अंश सबको देना, सुख-दुःखादि द्वन्द्व सहना, शान्ति, निर्मत्सरता, अहिंसा, शुचि और इन्द्रिय-निग्रह, ये सब धर्म सबके लिए एकसे कहे गये हैं, और ये अन्तमें मनुष्यको सद्गति देनेवाले हैं। तात्पर्य यह है कि सब धर्मोंके समान भारतीय सनातन धर्मका सम्बन्ध नीति-के साथ मिलाया गया है। नीतिके आच-रणके बिना धर्मकी पूर्त्ति कभी नहीं हो सकती। यह बात महाभारतके समयमें मान्य की जाती थी। स्पष्ट कहा गया है कि यदि संन्यासियों और योगियोंको भी अपने मोक्ष-मार्गमें सिद्धि प्राप्त करनी हो तो उन्हें भी इसी नीति-मार्गका अवलम्ब करना चाहिए। महाभारतमें प्रारम्भसे ले-कर इति पर्यन्त नीतिके आचरणकी अत्य-न्त उदात्त स्तुति की गई है। इसके अति-रिक्त, आचारको धर्मका एक प्रधान अङ्ग माना गया है। सदा जो यह कथन पाया जाता है कि आचार प्रथम धर्म है, सो ठीक ही है; क्योंकि मनुष्यके मनमें नीति-का चाहे कितना ही आदर क्यों न हो, परन्तु जबतक वह आचरणके द्वारा व्यक्त नहीं किया जाता, तबतक उस आदरका कुछ मूल्य नहीं। केवल आच-रण शब्दसे नीतिमत्ताके आचरणके सिवा कुछ और विधि-निषेधात्मक अन्य आच-रणोंके नियमोंका भी बोध होता है जो सनातन भारती धर्मके आचारमें समा-विष्ट है। यह समझा जाता था कि इस आचारसे मनुष्यको दीर्घायु प्राप्त होती है। अनुशासन पर्वके १०४ थे अध्यायमें आचारका विस्तृत वर्णन है। वह यहाँ संक्षेपमें लिखने योग्य है। "आचार ही धर्मका लक्षण है। साधु-सन्तोंको जो श्रेष्ठता प्राप्त होती है, उसका कारण उनका सदाचार ही है। मनुष्यको न कभी झूठ बोलना चाहिए और न किसी प्राणीकी हिंसा करनी चाहिए।" इस प्रकार नीतिके नियम बतलाकर आगे विशिष्ट आचारोंका जो वर्णन किया गया है, उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

आचार।

"मनुष्यको ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धर्मार्थका विचार करना चाहिए। प्रातः-कालीन मुख-मार्जन आदि करके, हाथ जोड़कर, पूर्वाभिमुख हो सन्ध्या-वन्दन करना चाहिए। प्रातःकाल और साय-

कालके समय, सूर्योदय अथवा सूर्यास्तके समय सूर्यका दर्शन करना चाहिए। यदि सूर्यमें ग्रहण लगा हो या वह मध्याह्नमें हो तो उस वक्त उस ओर न देखे। सन्ध्या समय फिर सन्ध्या-वन्दन करे। सन्ध्या-वन्दन करना कभी न भूले। नित्य सन्ध्या-वन्दन करनेके कारण ही ऋषियोंको दीर्घायु प्राप्त हुई। किसी वर्णके मनुष्य-को पर-स्त्री-गमन न करना चाहिए। पर-स्त्री-गमन करनेसे जिस प्रकार आयु घटती है वैसी और किसी कर्मसे नहीं घटती। पर-स्त्री-गमन करनेवाला हज़ारों-लाखों वर्षोंतक नरकमें रहता है। मल-मूत्रको ओर मनुष्य न देखे। बिना जान-पहचानके अथवा नीच कुलोत्पन्न मनुष्यके साथ कहीं आवे-जाय नहीं। ब्राह्मण, गाय, राजा, वृद्ध, सिर पर बोझ लादे हुए आदमी, गर्भिणी स्त्री और दुबले मनुष्य रास्तेमें मिलें, तो उन्हें पहले निकल जाने दे, अर्थात् रास्ता छोड़ दे। दूसरेके बर्ते हुए कपड़ों और जूतोंका उपयोग न करे। पौर्णिमा, अमावस्या, चतुर्दशी और दोनों पक्षोंकी अष्टमीको ब्रह्मचर्यका नित्य पालन करे। पराई निन्दा न करे। किसी-को भी वाग्बाण न मारे। मनुष्यके मन पर दुष्ट शब्दोंका घाव कुल्हाड़ीके घावसे भी बढ़कर लगता है। कुरूपको, जिसमें कोई व्यङ्ग हो उसको, दरिद्रको, अथवा जो किसी प्रकारकी विद्या न जानते हों उनको धिक्कार न दे। नास्तिकपनको स्वीकार न करे। वेदोंकी निन्दा न करे। देवताओंको धिक्कारे नहीं। मल-मूत्र त्यागने पर, रास्ता चलकर आने पर, विद्याका पाठ पढ़ते समय और भोजन करनेके पहले हाथ-पैर धो लेना चाहिए। अपने लिए मधुर पदार्थ न बनावे, देव-ताओंके लिए बनावे। सोकर उठने पर दुबारा न सो जाय। जब सुबह सोकर उठे, तब माता-पिता और आचार्यको नम-स्कार करे। अग्निकी सदैव पूजा करे। बिना ऋतुमती हुए स्त्रीसे सम्भोग न करे। उत्तर और पश्चिमकी ओर सिर करके न सोना चाहिए। नङ्गा होकर स्नान न करे। पैरसे आसन खींचकर उस पर न बैठे। पूर्वकी ओर मुँह करके भोजन न करे। भोजन करते समय बातचीत न करे। अन्नकी निन्दा न करे। भोजनका थोड़ासा अंश थालीमें पड़ा रहने दे। दूसरेका स्नानोदक या धोवन न ले। नीचे बैठकर भोजन करे। चलता-फिरता हुआ भोजन न करे। खड़ा होकर, भस्म पर, या गोशाला-में लघुशङ्का न करे। जूठी अथवा अशुद्ध अवस्थामें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोंकी ओर न देखे। ज्ञानसे अथवा अवस्थासे वृद्ध पुरुष आवें, तो उठकर उनको नमस्कार करे। सिर्फ एक-वस्त्र होकर भोजन न करे। नङ्गा होकर सोवे नहीं। बिना हाथ-मुँह धोये, जूठा ही न बैठे। दोनों हाथोंसे खोपड़ी न खुजलावे। सूर्य, अग्नि, गाय अथवा ब्राह्मणोंको ओर मुँह करके, या रास्ते पर, लघुशङ्का न करे। गुरुके साथ कभी हठ न करे। भोजनकी चीज़ोंको यदि कोई और देख रहा हो, तो बिना उसे अर्पण किये अन्न ग्रहण न करे। सुबहको और सन्ध्याको दो दफे भोजन करे, बीचमें न करे। दिनको मैथुन न करे। अविवाहित स्त्री, वेश्या और ऐसी स्त्री जिसे ऋतु प्राप्त न हुआ हो, इनके साथ भोग न करे। सन्ध्या-समय सोवे नहीं। रातको स्नान न करे। रातको भोजनमें आग्रह न करे। बिना सिरसे नहाये पैतृक कर्म न करे। जिस तरह पर-निन्दा निषिद्ध है उसी तरह आत्म-निन्दा भी है। स्त्रियोंसे स्पर्धा न करे। बाल बनवाकर स्नान न करनेसे आयुका नाश होता है। सन्ध्या-समय विद्या पढ़ना,

भोजन, स्नान अथवा पठन करना वर्जित है; उस समय भगवच्चिन्तनके सिवा और कुछ न करे। यथाशक्ति दान देकर यज्ञ-याग आदि करना चाहिए।" अस्तु; सदाचारके अनेक नियम इस अध्यायमें हैं। महाभारतके समय भारती आर्य-धर्मका कैसा स्वरूप रहा होगा, इसकी पूरी कल्पना करा देनेमें ये नियम बहुत उपयोगी होते हैं। इसके सिवा, महाभारतमें अनेक स्थलों पर जो सौगन्द खानेके वर्णन हैं, वे भी आचारोंके नियम समझने-में बहुत उपयोगी हैं। इनमेंसे, अनुशासन पर्वके ६३ वें अध्यायमें जो सप्तऋषियोंकी कथा है, वह बड़ी ही मनोरञ्जक है। एक बार सप्तर्षि अपने नौकर शूद्र और उसकी स्त्रीके साथ जङ्गलमें जा रहे थे; इतनेमें एक जगह खानेके लिए कमल और कमलोंके नाल एकत्र करके सरोवरमें उतर, स्नान करके तर्पण करने लगे। फिर किनारे पर आकर क्या देखा कि वे कमलोंके बोझ न जाने क्या हो गये। वहाँ और कोई तो था नहीं, इसलिए उन्हें एक दूसरे पर सन्देह हुआ। तब यह स्थिर हुआ कि हर एक सौगन्द खाय। उस समय अत्रिने कहा—"जिसने चोरी की होगी उसे वह पातक लगेगा जो गाय-को लात मारनेमें, सूर्यकी ओर मुँह करके लघुशङ्का करनेमें और अनध्यायके दिन वेद पढ़नेमें लगता है।" वसिष्ठने कहा—"जिसने चोरी की होगी उसे वह पातक लगेगा जो कुत्ता पालनेमें, संन्यासी होकर कामवासना धारण करनेमें अथवा शरणा-गतको मारनेमें या कन्या बेचकर पेट पालनेमें अथवा किसानोंसे द्रव्य प्राप्त करने-में लगता है।" कश्यप बोले—"जिसने चोरी की हो उसे वह पातक लगे जो, चाहे जहाँ और चाहे जो बोलनेमें, दूसरेकी धरो-हर 'नहीं है' कहनेमें और झूठी गवाही देनेमें लगता है। उसे वह पातक लगे जो बिना यज्ञ-यागके मांस भक्षण करनेमें, नट-नर्तकोंको दान देनेमें अथवा दिनको स्त्री-गमन करनेमें लगता है।" भारद्वाजने कहा—"जिसने चोरी की हो वह स्त्रियोंकी, गायोंकी और अपने नातेदारोंकी दुर्दशा करे; ब्राह्मणको युद्धमें जीतनेका पाप उसे लगे; आचार्यका अपमान करके ऋक् और यजुर्वेदके मन्त्र कहनेका पातक उसको लगे; अथवा घास जलाकर उस अग्निमें वह हवन करे।" जमदग्निने कहा—"जिसने चोरी की हो उसको वह पाप लगे जो पानीमें पाखाना फिरने या पेशाब करनेसे, गायका वध करनेसे और बिना ऋतु-कालके ही स्त्री-गमन करने-से लगता है; चोरी करनेवालेको वह पाप लगे जो स्त्रीकी कमाई खानेसे अथवा अदले-बदलेका आतिथ्य करनेसे लगता है।" गौतम बोले—"तीन अग्नि छोड़ देनेमें, सोमरस बेचनेमें अथवा जिस गाँवमें एक ही कूआँ हो उसमें शूद्र स्त्रीके पति होकर रहनेमें जो पातक लगता है वही पातक लगे।" विश्वामित्रने कहा—"वह पाप लगे जो स्वयं जीवित रहते हुए अपने माँ बाप और सेवकों-की उपजीविका दूसरोंसे करानेमें लगता है; अथवा अशुद्ध ब्राह्मणका, उन्मत्त धनिकका, या पर-द्रोही किसान-का पातक लगे; अथवा पेटके लिए दास्य करनेका यानी वार्षिक अन्न लेकर नौकरी करनेका, राजाकी पुरोहिताई करनेका या ऐसे आदमीके यज्ञ करनेका पातक लगे जिसे यज्ञ-याग करनेका अधिकार नहीं है।" अरुन्धती बोली—"वह पातक लगे जो सासका अपमान करनेसे, पतिको दुःख देनेसे, और अकेले अपने आप स्वादिष्ट पदार्थ खा लेनेसे लगता है; वह पातक लगे जो आप्तोंका अनादर करनेसे,

व्यभिचार करनेसे या डरपोक पुत्र उत्पन्न करनेसे माताको लगता है।" यहाँ अनुशासन पर्वके ६३वें अध्यायका ३२ वाँ श्लोक देखिए—"अभोग्यावीरसूरस्तु विसस्तैन्यं करोति या।" इस श्लोकार्द्धमें सौति, कूटार्थक **वीरसू** शब्दका प्रयोग करके, पाठकोंको क्षण भरके लिए स्तब्ध कर देता है: परन्तु यह प्रकट है कि **अवीरसू** पदच्छेद करना चाहिए। उनकी दासी बोली—"मुझे वह पातक लगे जो झूठ बोलनेमें, भाई-बन्दोंके साथ झगड़ा करनेमें, बेटी बेचनेमें, अथवा अकेले ही रसोई बनाकर खानेमें, या किसी भयङ्कर कामके द्वारा मृत्यु होनेमें लगता है।" चरवाहेने कहा—"चोर दासकुलमें बार बार पैदा हो, उसके सन्तान न हो, वह दरिद्र हो अथवा देवताओंकी पूजा न करे।" इस प्रकारकी सौगन्दें महाभारतमें कई एक हैं, और उनसे देख पड़ता है कि आचारके मुख्य मुख्य नियम कौन कौन थे।

स्वर्ग और नरककी कल्पना।

अब यह देखना चाहिए कि महाभारतमें स्वर्ग और नरक या निरयके सम्बन्धमें क्या क्या कल्पनाएँ थीं। यह कहना आवश्यक न होगा कि वेदमें स्वर्गका उल्लेख बारबार आता है। परन्तु उसमें नरक या निरय अथवा यमलोकके सम्बन्धमें विशेष वर्णन नहीं है। प्रत्येक मनुष्य-जातिमें स्वर्ग और निरयकी कल्पनाएँ हैं। स्वर्गका अर्थ वह स्थान है जहाँ पुण्यवान् लोग मरनेके बाद जाते हैं और वह स्थान निरय है जहाँ पापियोंकी आत्मा, मरनेके पश्चात् नाना प्रकारके दुःख भोगती है। स्वर्गारोहण पर्वमें व्यासजीने, समस्त महाकवियोंकी उत्कृष्ट पद्धतिकी ही भाँति, दोनों स्थानोंमें सदेह पहुँचकर प्रत्यक्ष स्थिति देखनेवाले मनुष्यके मुँहसे कहलाया है कि भारती-कालमें स्वर्ग और निरय दोनोंकी कल्पना कैसी और क्या थी। युधिष्ठिरका आचरण अत्यन्त धार्मिक था, इस कारण उन्हें सदेह स्वर्ग जानेका सम्मान मिला। देवदूतोंके साथ जिस समय उन्होंने स्वर्गमें प्रवेश किया, उस समय उनकी दृष्टि पहले दुर्योधन पर ही पड़ी। अपने अत्यन्त तेजसे देवताओंके समान तेजस्वी दुर्योधन एक ऊँचे सिंहासन पर बैठा था। उसे स्वर्गमें देखकर युधिष्ठिरको बड़ा आश्चर्य हुआ। जिसने अपनी महत्त्वाकांक्षाके लिए लाखों मनुष्योंका संहार कराया, जिसने पतियोंके आगे, गुरुजनोंके देखते, भरी सभामें द्रौपदीकी दुर्दशा नीचताके साथ की, उसे स्वर्गमें सिंहासन कैसे मिल गया? धर्मराजको जँचने लगा कि स्वर्गमें भी न्याय नहीं है। उन्हें अपने सदाचारी भाई भी स्वर्गमें न देख पड़े। तब, उन्होंने देवदूतसे कहा—"मुझे वह स्वर्ग भी न चाहिए, जहाँ ऐसे लोभी और पापी मनुष्यके साथ रहना पड़े! मुझे वहीं ले चलो जहाँ मेरे भाई हैं।" तब, वे देवदूत उन्हें एक अन्धकारयुक्त मार्गसे ले गये। उसमें अपवित्र पदार्थोंकी दुर्गन्धि आ रही थी। जहाँ तहाँ मुर्दे, हड्डियाँ और बाल बिखरे पड़े थे। अयोमुख कौवे और गीध आदि पक्षी वहाँ मौजूद थे और लोगोंको नोच रहे थे। ऐसे प्रदेशमें होकर जाने पर खौलते हुए पानीसे भरी हुई एक नदी उन्हें देख पड़ी और दूसरे पार एक ऐसा घना जङ्गल था जिसमें पेड़ोंके पत्ते तलवारकी तरह पैने थे। स्थान स्थान पर लाल लोहशिलाएँ थीं और तेलसे भरे लोहेके कड़ाह खौल रहे थे। वहाँ पर पापियोंको जो अनेक यातनाएँ हो रही थीं, उन्हें देखकर धर्मराज दुःखसे लौट

पड़े । उस समय कई एक दुःखी प्राणी चिल्ला उठे :—"हे पवित्र धर्मपुत्र, तुम खड़े रहो । तुम्हारे दर्शनसे हमारी वेदनाएँ घट रही हैं ।" तब युधिष्ठिरने पूछा—"तुम कौन हो ?" उन्होंने कहा—"हम नकुल, सहदेव, अर्जुन, कर्ण, धृष्टद्युम्न आदि हैं ।" यह सुनकर युधिष्ठिरको बहुत ही क्रोध हुआ । उन्होंने कहा—"इन लोगोंने ऐसे कौनसे पातक किये हैं जिससे ये ऐसी ऐसी दारुण यन्त्रणाएँ भोग रहे हैं ! ऐसे पुण्यात्मा तो भोगें दुःख और दुर्योधन आनन्दसे स्वर्गमें देदीप्यमान हो ? यह बड़ा ही अन्याय है !" तब, "मैं यहीं रहता हूँ" ऐसा धर्म कहने लगा । इतनेमें स्वर्गके देव वहाँ आये । उनके साथ ही वह समूचा दृश्य लुप्त हो गया । न वैतरणी नदी है, और न वे यम-यातनाएँ हैं । इतनेमें ही इन्द्रने कहा—"हे राजेन्द्र, पुण्यपुरुष, तुम्हारे लिए अक्षय्य लोक हैं । यहाँ आओ ; यह तो तुम्हें धोखा दिया गया था सो पूरा हो गया । अचरज मत करो । मनुष्यके दो सञ्चय होते हैं : एक पापका, दूसरा पुण्यका । पहलेका बदला नरक-प्राप्ति और दूसरेका बदला स्वर्गवास है । जिसके पाप बहुत हैं और पुण्य थोड़ा है उसे पहले स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है और इसके पश्चात् उसको पातक भोगनेके लिए नरकमें जाना पड़ता है । जिसके पाप थोड़े और पुण्य अधिक हैं उसे पहले निरय-गति मिलती है ; इससे तुम्हारी समझमें आ जायगा कि तुम्हारे भाइयोंको नरक-गति क्यों मिली । और, प्रत्येक राजाको नरक तो देखना ही पड़ता है । तुम्हें पहले नरकका कपटसे सिर्फ झूठा दर्शन कराया गया । द्रोणके वधके समय तुमने सन्दिग्ध भाषण किया था । उसी पातकके फल-स्वरूप तुम्हें कपटसे ही नरक दिखाया गया । अब तुम स्वर्गमें चलो ; वहाँ तुम्हारे भाई और भार्या देख पड़ेगी । वे उस स्वर्ग-सुखका अनुभव कर रहे हैं । इस आकाश-गङ्गामें स्नान करते ही तुम्हारी नर-देह नष्ट होकर दिव्य-देह प्राप्त हो जायगी । तुम्हारे शोक, दुःख और वैर भाव आदि नष्ट हो जायँगे ।" अस्तु ; उल्लिखित वर्णनसे मालूम होगा, कि भारती-कालमें स्वर्ग और नरककी कैसी कल्पनाएँ थीं ; यह भी मालूम होगा कि पाप-पुण्यका सम्बन्ध स्वर्ग और नरकके साथ कैसा जोड़ा गया था ; तथा पाप-पुण्यका फल किस क्रमसे मिलता है । भारती-कालमें उल्लिखित बातोंके सम्बन्धमें जैसी धारणा थी, उसका पता इससे लग जाता है ।

अन्य लोक ।

स्वर्ग-लोककी कल्पना बहुत प्राचीन है । वह वैदिक कालसे प्रचलित थी और इसी कारण धर्मराज आदिके स्वर्ग जानेका वर्णन है । परन्तु वैदिक कालके अनन्तर उपनिषद्-कालमें कर्म्म-मार्गका महत्व घट गया और ज्ञान-मार्गके विचार जैसे जैसे अधिक बढ़ते गये, तदनुसार ही स्वर्गकी कल्पना भी पीछे रह गई ; और यह सिद्धान्त सहज ही उत्पन्न हो गया कि, ज्ञानी लोगोंको कुछ न कुछ भिन्न शाश्वत गति प्राप्त होनी चाहिए । भिन्न भिन्न सिद्धान्त-वादियोंने नाना प्रकारसे निश्चित किया कि अमुक गति होनी चाहिए । ब्रह्मवादी लोग ब्रह्मलोककी कल्पना करके यह मानते हैं कि वहाँ मुक्त हुए पुरुषोंकी आत्मा परब्रह्मसे तादात्म्य प्राप्त करके शाश्वत गतिको पहुँचती है ; फिर वहाँसे पुनरावृत्ति नहीं होती । जिस तरह यज्ञ-याग आदि कर्म हलके दर्जेके निश्चित होकर इन्द्रका भी पद घट गया, उसी तरह उस कर्मके

प्राप्त होनेवाले इन्द्र-लोक अथवा स्वर्गका दर्जा कम हो गया। तब यह स्पष्ट है कि स्वर्गमें जो सुख मिलता है वह भी निम्न श्रेणीका यानी ऐहिक प्रकारका है; ब्रह्म-लोकमें प्राप्त होनेवाला सुख अवश्य उच्च कोटिका होना चाहिए। इस प्रकार उपनिषत्-कालमें ही स्वर्गका मूल्य घट गया था। भगवद्गीतामें भी स्वर्गकी इच्छाको हीन बतलाकर कहा गया है कि यह अल्प फलदायी है, और कामनिक यज्ञ करनेवालोंको मिलता है। 'कामात्मानः स्वर्गपराः' इत्यादि श्लोकोंसे प्रकट है कि स्वर्गकी इच्छा करना बिलकुल निम्न श्रेणीका माना गया था। इसी तरह 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति' इस श्लोकमें कहा गया है कि पुण्य चुक जाने पर प्राणी स्वर्गसे लौट आता है। सबसे श्रेष्ठ पद 'यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम' इसमें कहा गया है। यह पद ही ब्रह्मलोक है और गीतामें इसीको ब्रह्म-निर्वाण कहा गया है। सारांश यह कि परमेश्वरके साथ तादात्म्य होकर ब्रह्मरूप हो जाना ही सबसे उत्तम गति, तथा स्वर्ग-प्राप्ति कनिष्ठ गति निश्चित हुई। भारती कालमें इन दोनोंके दरमियान भिन्न भिन्न लोगोंकी कल्पना प्रचलित हो गई थी। महाभारत-कालमें इन दोनोंकी गतियोंके बीच कल्पित किये हुए वरुणलोक, विष्णुलोक और ब्रह्मलोक इत्यादि अनेक भिन्न भिन्न लोक थे। इसी तरह पातालमें भी अर्थात् पृथ्वीके नीचे अनेक लोकोंकी कल्पना की गई थी। सभापर्वमें वरुणसभा, कुबेरसभा और ब्रह्मसभा इन तीन सभाओंका भिन्न भिन्न वर्णन है; और उनमें भिन्न भिन्न ऋषियों तथा राजाओंके बैठे रहनेका भी वर्णन किया गया है। इसी तरह उद्योग पर्वमें वर्णन है कि पातालमें भी अनेक लोक हैं; और पातालमें सबसे अन्तका रसातल है। रसातलके विषयमें आजकल दूषित कल्पना है; परन्तु वह ठीक नहीं है। महाभारत-कालमें रसातल अत्यन्त सुखी लोक समझा जाता था।

न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे।
परिवासः सुखः तादृक् रसातलतले यथा॥

कल्पना यह है कि पृथ्वीके नीचे सात पाताल हैं और उनमें सबसे अन्तिम रसातल है। इसीसे आजकलकी रसातल-सम्बन्धिनी दूषित धारणा उपजी होगी। रसातलमें सुरभि धेनु है; उसके मधुर दुग्धसे क्षीर सागर उत्पन्न हो गया है; और उसके ऊपर आनेवाला फेन पीकर रहनेवाले फेनप नामक ऋषि वहाँ रहते हैं। यह निश्चित है कि इन भिन्न भिन्न लोकोंकी गति शाश्वत नहीं है, और जो लोग जिन देवताओंकी भक्ति करते हैं वे उन्हींके लोकको जाते हैं।

वर्णन किया गया है कि पाप करनेवाले लोग यमलोकको जाते हैं और वहाँ नानाप्रकारकी यातनाएँ भोगकर फिर भिन्न भिन्न पाप-योनियोंमें जनमते हैं। यह यमलोक दक्षिणमें माना गया है और स्वर्गके सम्बन्धमें यह कल्पना है कि वह उत्तरमें मेरुके शिखर पर है। भारती आर्य धर्मका एक महत्त्वका सिद्धान्त यह है कि भिन्न भिन्न योनियोंमें पापी मनुष्यका आत्मा जन्म लेता है। इसका वर्णन अन्यत्र विस्तारके साथ किया गया है। परन्तु यहाँ पर यह कहना है कि स्मृतिशास्त्रमें ऐसी कल्पनाएँ हैं कि कौनसा पाप करने पर यमलोकमें कितने समयतक यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, और कितने वर्ष पर्यन्त किस योनिमें जन्म लेकर रहना पड़ता है। वैसी ही बातें महाभारतके अनुशासन पर्वमें भी हैं। उनका विस्तार करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं। परन्तु जिस समय ये

कल्पनाएँ रूढ़ थीं, उस समय पाप-पुण्यका, आत्माका, और भावी सुख-दुःखका, सम्बन्ध लोगोंके मन पर पूर्णतया प्रतिबिम्बित था; इस कारण पापसे परावृत्त होनेके लिए लोगोंको अतिशय उत्तेजन मिलता रहा होगा। धर्मका, कर्मका और आत्माके संसारित्वका भारती आर्योंका सिद्धान्त, इस दृष्टिसे, विशेष आदरणीय है।

नीचेके अवतरणोंमें विस्तारके साथ देख पड़ेगा कि महाभारत-कालमें स्वर्गकी कैसी कल्पना थी और अन्य श्रेष्ठ लोकोंकी कैसी थी। वनपर्वके २६१ वें अध्यायमें स्वर्गके गुण-दोषोंका वर्णन एक स्वर्गीय देव-दूतने ही किया है। "स्वर्ग ऊर्ध्व-भागोंमें है और वह ब्रह्म-प्राप्तिका मार्ग है। वहाँ विमान उड़ा करते हैं। जिन्होंने तप अथवा महायज्ञ नहीं किये हैं, ऐसे असत्यवादी नास्तिक वहाँ नहीं जा सकते। सत्यनिष्ठ, शान्त, जितेन्द्रिय और संग्राममें काम आये हुए शूर ही वहाँ पहुँचते हैं। वहाँ पर विश्वदेव, महर्षि, गन्धर्व और अप्सराएँ रहती हैं। तेंतीस हज़ार योजन ऊँचे मेरु पर्वत पर नन्दन आदि पवित्र वन हैं। वहाँ क्षुधा, तृष्णा, ग्लानि, शीत, उष्ण और भीति नहीं हैं; बीभत्स अथवा अशुभ भी कुछ नहीं है। वहाँ सुगन्धित वायु और मनोहर शब्द हैं; शोक, जरा, आयास अथवा विलापका वहाँ भय नहीं है। लोगोंके शरीर वहाँ तेजोमय रहते हैं, माता-पितासे निर्मित नहीं होते। वहाँ पर पसीना अथवा मल-मूत्र नहीं है, वहाँ तो दिव्य गुण-सम्पन्न लोक एक पर एक हैं। ऋभु-नामक दूसरे देवता वहाँ हैं। उनका लोक स्वयं-प्रकाश है। वहाँ स्त्रियोंका ताप अथवा मत्सर नहीं है। आहुतियों पर उनकी उपजीविका अवलम्बित नहीं है, वे अमृत-पान भी नहीं करते (यह कल्पना है कि मृत्युलोकमें किये हुए यज्ञोंमें जो आहुतियाँ दी जाती हैं वे स्वर्गमें देवताओंको प्राप्त होती हैं और पीनेके लिए उन्हें अमृत मिलता है)। परन्तु यह ऋभुलोक उस स्वर्गसे भी ऊपर है। जो आत्माएँ अथवा मनुष्य स्वर्गमें गये हैं, उन्हें खाने-पीनेके लिए कुछ भी नहीं मिलता। उन्हें भूख-प्यास नहीं लगती। परन्तु यह भी ध्यान देनेकी बात है कि यदि वे अमृत पी लेंगे तो अमर हो जायँगे। फिर वे नीचे न गिरेंगे। कल्पान्तमें भी उनका परावर्तन नहीं होता।" (जान पड़ता है कि अन्य देवताओंका परावर्तन होता होगा।) देवता भी इन लोकोंकी अभिलाषा करते हैं। परन्तु वह अतिसिद्धिका फल है; विषय-सुखमें फँसे हुए लोगोंको वह मिलना असम्भव है। ऐसे तेंतीस देवता हैं जिनके लोकोंकी प्राप्ति दान देनेसे होती है। अब, स्वर्गमें दोष भी हैं। पहला यह कि वहाँ कर्मके फलोंका उपभोग होता है, दूसरे कर्म नहीं किये जा सकते। अर्थात्, पुण्यकी पूँजी चुकते ही पतन हो जाता है। दूसरा दोष यह है कि वहाँवालोंको असन्तोष—दूसरोंका उज्ज्वल ऐश्वर्य देखकर मत्सर—होता है। तीसरे जिस पुरुषका पतन होनेवाला होता है, उसका ज्ञान नष्ट होने लगता है, उससे मलका सम्पर्क होने लगता है और उसकी मालाएँ कुम्हलाने लगती हैं; उस समय उसे डर लगता है। ब्रह्मलोक तकके समग्र लोकोंमें ये दोष हैं। वहाँ पर केवल यही गुण है कि शुभ कर्मोंके संस्कारोंसे वहाँवालोंको पतन होने पर मनुष्य जन्म प्राप्त होता है और उन्हें वहाँ पर सुख मिलता है। यदि उन्हें फिर भी ज्ञान न हुआ तो फिर वे अवश्य अधोगतिमें जाते हैं।"

जब पूछा गया कि स्वर्गसे भी अधिक श्रेष्ठ कौनसा लोक है, तो देवदूत बोला—

"ब्रह्मलोकसे भी ऊर्ध्वभागमें सनातन, तेजोमय, विष्णुका उत्कृष्ट स्थान है। जिनके अन्तःकरण विषयोंमें जकड़ नहीं गये हैं वे ही वहाँ जाते हैं। जो लोग ममत्व-शून्य, अहङ्कार-विरहित, द्वन्द्व-रहित, जितेन्द्रिय और ध्याननिष्ठ हैं वही वहाँ जाते हैं।" अर्थात्, यह लोक ज्ञानियों और योगियोंका है। प्रकट है कि इस लोककी कल्पना स्वर्गसे बढ़कर है। परन्तु इन लोकोंकी कल्पना किस तरह की गई है, यह बात यहाँ नहीं देख पड़ती।

प्रायश्चित्त।

पुण्य करनेवाले स्वर्गको जाते हैं और पापी लोग नरकको जाते हैं, इस कल्पनाके साथ ही पाप-कर्मके लिए प्रायश्चित्तकी कल्पनाका उद्गम होना सहज है। महाभारत-कालमें यह बात सर्वतोमान्य थी कि पापके लिए प्रायश्चित्त है। पाप दो प्रकारके माने जाते थे। एक तो वे पातक जो अज्ञानसे किये जाते हैं और दूसरे वे जो जान-बूझकर किये जाते हैं। अज्ञान-कृत पातकके लिए थोड़ा प्रायश्चित्त रहता है। स्मृतिशास्त्रमें, महाभारत-कालके अनन्तर, जो प्रायश्चित्त-विधि बतलाई गई है, वैसी ही महाभारतमें थी। शान्ति पर्वके ३४ वें अध्यायमें विस्तारके साथ बतलाया गया है कि प्रायश्चित्तके योग्य कौन कौनसे कर्म हैं: और ३५ वें अध्यायमें भिन्न भिन्न पापोंके लिए भिन्न भिन्न प्रायश्चित्त लिखे गये हैं। कुछ कर्म **करनेसे** पाप होता है: और कुछ कर्म **न करनेसे** भी पाप लगता है। इस अध्यायमें पापके ३४ भेद गिनाये हैं। इनमें घर जला देनेवाला, वेद बेचनेवाला और मांस बेचनेवाला माना गया है। ऋतु-कालमें स्त्री गमन न करना भी पातक माना गया है। पहले लिखा जा चुका है कि महाभारत-कालमें भी पञ्चमहापातक माने जाते थे। वे पातक ब्रह्म-हत्या, सुरा-पान, गुरु-तल्प-गमन, हिरण्य-स्तेय और उनके करनेवालोंके साथ व्यवहार रखना है। इनका वर्णन उपनिषदोंमें भी है। कुछ अवसर ऐसे अपवादक होते हैं कि उन पर किया हुआ कर्म पातक नहीं समझा जाता। इन अपवादक प्रसङ्गोंका वर्णन इसी अध्यायमें है। वेद-पारङ्गत ब्राह्मण भी यदि शस्त्र लेकर, वध करनेकी इच्छासे आवे, तो युद्धमें उसका वध करनेवालेको ब्रह्महत्याका पातक नहीं लगता। मद्य-पानके सम्बन्धमें कहा गया है कि प्राणका ही नाश होता हो तो उसे बचानेके लिए और यदि अज्ञानसे मद्य-पान कर लिया हो तो धर्मनिष्ठ पुरुषोंकी आज्ञासे वह दुबारा संस्कार करने योग्य होता है। गुरुकी ही आज्ञासे यदि गुरु-स्त्री-गमन किया हो तो वह पाप नहीं है। यहाँ पर यह अद्भुत बात कही है कि उद्दालकने अपने शिष्यके द्वारा ही पुत्र उत्पन्न करा लिया था। परोपकारके लिए अन्न चुरानेवाला, परन्तु उसे स्वयं न खानेवाला, मनुष्य पातकी नहीं होता। अपने अथवा दूसरेके प्राण बचानेके लिए, गुरुके कामके लिए, और स्त्रियोंसे अथवा विवाहमें असत्य भाषण किया हो तो भी पातक नहीं लगता। व्यभिचारिणी स्त्रीको अन्न-वस्त्र देकर दूर रखना दोषकारक नहीं है। इस तपसे वह पवित्र हो जाती है। जो सेवक काम करनेमें समर्थ न हो उसे अलग कर दिया जाय तो दोष नहीं लगता। धेनुके बचानेके लिए जङ्गल जलानेका दोष नहीं बतलाया गया। ये अपवादक-प्रसङ्ग ध्यान देने योग्य हैं।

महाभारत-कालमें प्रायश्चित्तके वही भेद थे जो कि इस समय स्मृतिशास्त्रमें विद्यमान हैं। कुछ बातोंमें फ़र्क होगा,

परन्तु मुख्य बातें वही थीं। (कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि) तप, यज्ञ और दान यही तीन रीतियाँ प्रायश्चित्तकी वर्णित हैं। यही रीतियाँ इस समय भी हैं। ब्रह्महत्या आदि महापातकोंके लिए देहान्त प्रायश्चित्त बतलाया गया है, तथापि कुछ उनसे न्यून भी वर्णित हैं। ब्रह्महत्या करनेवालेको हाथमें खप्पर लेकर भिक्षा माँगनी चाहिए, दिनमें एक बार खाना चाहिए, भूमि पर सोना चाहिए और अपना कर्म प्रकट करते रहना चाहिए। ऐसा करनेसे वह बारह वर्षमें ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त होगा। ब्रह्महत्या करनेवाला ज्ञान-सम्पन्न शस्त्रधारी मनुष्यका निशाना बन जाय, या अग्निमें देह त्याग दे, अथवा वेदका जप करता हुआ सौ योजनकी तीर्थयात्राको जाय, या ब्राह्मणको सर्वस्व दान कर दे अथवा गो-ब्राह्मणोंकी रक्षा करे, छः वर्षतक कृच्छ्र-विधि करे अथवा अश्वमेध यज्ञ करे, तो वह पवित्र हो जायगा। दुर्योधनने हज़ारों, लाखों जीवोंकी हत्या कराई थी, इसलिए कहा गया है—"अश्वमेध-सहस्रेण-पावितुं न समुत्सहे।" युधिष्ठिरसे व्यासने इसीके लिए अश्वमेध करवाया था। कहा गया है कि विपुल दूध देनेवाली २५ हज़ार गौएँ देनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त होता है। यदि एक बार भी मद्य-पान कर ले, तो प्रायश्चित्त-स्वरूप खूब गरम किया हुआ मद्य पीनेके लिए कहा गया है। पर्वतकी चोटीसे कूद पड़ने अथवा अग्नि-प्रवेश करने या महा-प्रस्थान करनेसे, अथवा केदार क्षेत्रमें हिमालय पर आरोहण करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। अगर ब्राह्मणसे मद्य-पानका पातक हो जाय तो बृहस्पति-सव करनेके लिए कहा है। फिर वह सभामें जा सकता है। गुरु-पत्नीके साथ व्यभिचार करनेवालेको या तो तप्तलोहमय स्त्रीकी प्रतिमासे आलिङ्गन करना चाहिए अथवा जननेन्द्रिय काटकर दौड़ते रहकर शरीर त्याग देना चाहिए। इस प्रकार, महापातकोंके लिए बहुधा देहान्त प्रायश्चित्त बतलाये गये हैं। एक वर्षतक आहार-विहारका त्याग कर देनेसे स्त्रियाँ पाप-मुक्त हो जाती हैं। महाव्रतका आचरण करनेसे अर्थात् एक महीने भर पानीतक न पीकर रहनेसे अथवा गुरुके कामके लिए युद्धमें मारे जानेसे भी पाप-मुक्ति हो जाती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार ब्राह्मण सबमें श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार उनका पातक भी अधिक असम्य है, और उनको प्रायश्चित भी विकट करना पड़ता है। यह नियम बताया गया है कि ब्राह्मणोंका ¾ प्रायश्चित्त क्षत्रियोंके लिए, ½ वैश्योंके लिए और ¼ शूद्रोंके लिए है। पवित्र देशमें रहकर, मिताहार करके गायत्रीका जप करनेसे भी पापका नाश होता है। प्रायश्चित्तकी एक विधि यह भी है कि दिन भर खड़ा रहे, रातको मैदानमें सोये, दिन-रातमें तीन बार स्नान करे और स्त्रियों, शूद्रों तथा पतितोंके साथ भाषण न करे। बौधायन और गौतम आदिके जो धर्मशास्त्र थे अथवा इसी प्रकारके अन्य ग्रन्थ थे, उनसे उल्लिखित प्रायश्चित्त-विधियाँ ली गई हैं। इन विधियोंका मेल अनेक अंशोंमें स्मृतिशास्त्रवाले नियमोंसे मिलता है। अणी-मांडव्यकी कथामें यह नियम आया है कि चौदह वर्षकी अवस्थातक अपराध या पातक नहीं होता।

मर्यादां स्थापयाम्यद्य लोके धर्म फलोदयाम्।
आचतुर्दशकाद्वर्षान्न भविष्यति पातकम्॥

इस पर टीकाकार की राय यह है—

इति पौराणं मतं वस्तुतस्तूक्तहेतोः पुण्यपापविभागज्ञान पर्यन्तमेव पापानुत्पत्तिः। तेन पञ्चवर्षाभ्यन्तर एव दोषोनास्ति।

इण्डियन पेनल कोडके अनुसार ७ वर्षकी अवस्थातक कुछ भी अपराध नहीं है, फिर ७ से १४ तक बुद्धिकी पकता-के अनुसार, पाप-पुण्यकी पहचानके मान-से, अपराध अनपराध निश्चित होता है। अस्तु; प्रायश्चित्तकी कल्पनासे शरीरको क्लेश देनेकी बात क्यों कही गई? इसका थोड़ासा विचार करने पर असल कारण ज्ञात हो जायगा। प्रायश्चित्तका अर्थ केवल मनका प्रायश्चित्त नहीं है, किन्तु उसमें कुछ न कुछ देह-दण्ड रहना चाहिए। कई एक प्रायश्चित्तोंमें तो देहान्त पर्यन्त दण्ड है; तब ऐसे प्रायश्चित्तोंकी क्या आवश्यकता है? यह हेतु नहीं हो सकता कि दूसरों पर इसका असर पड़े—वे इतने डर जायँ कि पाप-मार्गसे परावृत्त हो जायँ। फिर प्रश्न होता है कि प्राय-श्चित्त करनेवालेको इससे क्या लाभ होता है? हमारी रायमें इसका कारण यह धारणा दिखाई देती है कि प्रायश्चित्तके द्वारा इसी देहसे और इसी लोकमें दण्ड भोग-कर पापोंका क्षालन हो जानेसे मनुष्य फिर उन यातनाओंसे बच जाता है जो कि पापोंके एवज़में यमलोकमें भोगनी पड़ती हैं। पापोंके लिए तो सज़ा होगी ही; वह स्वयं यदि इसी लोकमें भोग ली जाय तो मनुष्यको नरक नहीं भोगना पड़ेगा—वह अपने पुण्यसे स्वर्गको जायगा। यह कल्पना बहुत ठीक जँचती है। यमयात-नावाली अथवा प्रायश्चित्तवाली देहदण्ड-की विधिसे धर्मशास्त्रका यह हेतु प्रकट होता है कि मनुष्यको पापाचरणकी ओर-से भय बना रहे।

पाप-कर्मका विचार करते हुए जो अपवादक स्थान बतलाये गये हैं, उनका मर्म क्या है? यह अत्यन्त महत्त्वका प्रश्न है। बड़े बड़े तत्त्वज्ञानियोंतकको यह प्रश्न कठिन जँचता है। कई स्थलों पर यह आज्ञा पाई जाती है कि मनुष्यको अपने कर्तव्य-धर्मकी रक्षा प्राण देकर भी करनी चाहिए। भारत-सावित्रीमें कहा है—

न जातु मोहान्न भयान्न लोभात्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

फिर, अपने अथवा पराये प्राण बचानेके लिए ऊपर जो झूठ बोलनेको पातक नहीं माना है वह क्यों? प्रश्न अत्यन्त महत्त्वका है; इसका विचार अन्य स्थान पर होगा।

संस्कार।

यह कहीं नहीं कहा गया कि महा-भारत-कालमें भिन्न भिन्न कितने संस्कार थे; तथापि कई एक संस्कारोंका वर्णन स्थान स्थान पर आया है। उससे प्रकट है कि गृह्यसूक्तोक्त धर्ममें गृह्य-संस्कार हुआ करते थे। पहले, जन्मते ही जात कर्म-संस्कारका नाम विशेषतासे आता है। विवाह प्रौढ़ावस्थामें ही होते थे; और विवाहमें ही पति-पत्नि-समागम हुआ करता था; और उस जमानेमें उस विधिसे गर्भाधान संस्कारका होना ठीक ही है। जातकर्म संस्कारके पश्चात् चौल और उपनयन दोनों ही संस्कारोंका उल्लेख महाभारतमें है। परन्तु वहाँ इनका विशेष वर्णन नहीं है। उपनयन वास्तबमें गुरुके घर पहुँचा देनेकी विधि थी और स्पष्ट देख पड़ता है कि इस विधिका माहात्म्य उस समय केवल संस्कारके ही नाते न था। इसके बाद विवाह-संस्कारका लाभ है। इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है और हम उसका विवेचन भी अन्यत्र कर चुके हैं। विवाह-के बाद दो संस्कार और हैं, वानप्रस्थ और संन्यास। शान्तिपर्वमें इनका थोड़ा सा वर्णन है। और्ध्वदैहिक संस्कार अन्तिम

है। प्राचीन समयमें मन्त्रोंके द्वारा प्रेतको जलानेकी विधि इस संस्कारमें थी। मुख्यतः, प्रेतको समारंभके साथ ले जाने और मृतककी अग्निको आगे करके उसी अग्निसे उसको जलानेकी विधि थी। महाभारतके स्त्रीपर्वमें युद्धके पश्चात् रण-में काम आये हुए अनेक मुर्दोंके अग्नि-संस्कार होनेका वर्णन है। परन्तु यह सम्भव नहीं कि ऐसे रणाङ्गणमें कोसोंतक फैले हुए और अट्ठारह दिनकी लड़ाईमें मारे गये लोगोंकी लाशें पाई गई होंगी। महाभारतमें एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि युद्धमें काम आनेवालेके लिए प्रेत-संस्कारकी आवश्यकता नहीं। अस्तु; भीष्मके अग्नि-संस्कारका वर्णन करना यहाँ अनुचित न होगा—"युधि-ष्ठिर और विदुरने गाङ्गेयको चिता पर रखा; और रेशमी वस्त्रों तथा पुष्पमालाओं-से ढक दिया। फिर युयुत्सुने ऊपर छत्र लगाया। अर्जुन और भीम सफेद चौरी करने लगे। नकुल और सहदेवने मोरछल (उष्णीष) लिया। कौरव-स्त्रियाँ उन्हें ताड़के पंखे झलकर हवा करने लगीं। इसके पश्चात् यथाविधि पितृमेध हुआ। अग्निमें हवन हुआ। सामगायकोंने साम-गान किया। इसके पश्चात् चन्दन काठ और कालागरुसे देह छिपाकर युधिष्ठिर आदिने उसमें अग्नि लगा दी। फिर धृत-राष्ट्र आदि सब लोगोंने अपसव्य होकर उसकी प्रदक्षिणा की। तब, दहन हो चुकने पर, वे सब गङ्गा पर गये; वहाँ सबने उन्हें तिलाञ्जलियाँ दीं।" (अनुशासन प० अ० १६८)। इस वर्णनसे देख पड़ता है कि आजकल प्रायः जैसी विधि है वैसी ही महाभारत-कालमें भी थी। सिर्फ स्त्रियों-का मुर्देके आस-पास खड़े होकर हवा करना कुछ विचित्र जान पड़ता है। अन्य वीरोंकी क्रिया कर चुकने पर जब पाण्डव तिलाञ्जलि देनेके लिए गङ्गा पर गये, तब तिलाञ्जलि देनेके लिए वहाँ समस्त स्त्रियों-के भी जानेका वर्णन है।

प्राचीन समयमें अशौच अर्थात् मरने और उत्पन्न होनेके विषयमें सूतक मानने-की विधि भी थी। इसका प्रमाण यह वर्णन है कि जो लड़ाईमें मारे जायँ उनका सूतक न मानना चाहिए। यद्यपि अशौच-विष-यक विस्तृत विवेचन महाभारतमें नहीं है, तथापि एक स्थान पर दस दिनवाली मुख्य रीतिका उल्लेख है। शान्तिपर्वके ३५ वें अध्यायमें कहा है कि अशौच या वृद्धि-वालोंके अन्नको, और दस दिन पूरे होने-से पहले अशौच या वृद्धिवालोंके अन्य किसी पदार्थको भक्षण न करना चाहिए।* इससे प्रकट है कि आजकलकी अशौच-विधि बहुत कुछ महाभारतके समय प्रच-लित थी। शान्तिपर्वके आरम्भमें ही कहा है कि—"भारती-युद्धके पश्चात् धृत-राष्ट्रने और भरत-कुलकी सभी स्त्रियोंने अपने अपने इष्ट-मित्रोंकी उत्तरक्रिया की; और अनेक दोषोंसे मुक्त होनेके लिए पाण्डु-पुत्र एक महीनेतक नगरके बाहर रहे।" आमों और इष्टोंकी क्रिया कर चुकने पर धर्मराजसे मिलनेके लिए व्यास प्रभृति महर्षि आये थे। इससे कुछ दिन-तक अशौच माननेकी विधि देख पड़ती है। और्ध्वदेहिक-सम्बन्धसे भिन्न भिन्न दान और श्राद्ध करनेकी विधि थी, इसका भी उल्लेख महाभारतमें है।

जैसा कि पहले लिखा गया है कि युद्धमें मारे गये वीरोंका न तो सूतक मानना चाहिए और न उनके लिए उत्तर-क्रिया करनेकी आवश्यकता है, वैसा वचन महाभारत (शान्ति० अ० ९८–४५) में है। हिंस्र पशु-पक्षी मुर्दोंको खा जायँ,

* प्रेतान्नं सूतिकान्नं च यच्च किञ्चिदनिर्दशम्। २६।

यही उनकी गति और उत्तरक्रिया देख पड़ती है। इससे यह भी नहीं देख पड़ता कि तमाम मुर्दे जलाये ही जाते थे। यूनानी इतिहासकारोंने लिखा है कि पञ्जाबमें कुछ लोगोंमें एक प्रकारकी यह अन्त्यविधि है कि गृध्र आदिके खानेके लिए मुर्दा जङ्गलमें रख दिया जाता है। पहले यह बतलाया ही गया है कि पञ्जाबके कुछ लोगोंकी रीतियाँ आसुरी अर्थात् पारसी लोगोंकी ऐसी थीं। युद्धमें काम आये हुए वीरोंके मुर्दोंकी यही क्रिया है। चीनी परिव्राजक हुएनसांगने भी लिखा है कि हिन्दुस्थानियोंमें तीन प्रकारकी अन्त्य-विधि होती है। अग्नि-संस्कार, पानीमें डाल देना और मुर्देको जङ्गलमें रखकर हिंस्र पशु-पक्षियोंसे खिलवा देना। महाभारतमें इन तीनों भेदोंका उल्लेख है। योगी लोग जीवितावस्थामें ही नदीमें डूबकर या पर्वतकी चोटीसे कूदकर प्राण देते अथवा अग्निमें देहको जला देते थे। पहले लिखा ही जा चुका है कि प्रायश्चित्तके लिए भी इस रीतिसे देह त्याग करना कहा गया है। इस प्रकार यथा-विधि की हुई आत्महत्या भी निन्द्य नहीं, वह तो एक धार्मिक कर्म मानी जाती थी। योगी अथवा संन्यासी मर जायँ तो उनको समाधि देनेकी रीति आजकल है। नहीं कह सकते कि महाभारत-कालमें ऐसा होता था या नहीं। इस विषयका कुछ अधिक खुलासा कर देना आवश्यक है। आश्रमवासि पर्वमें वर्णन है कि जब युधिष्ठिरके समक्ष विदुरका देहान्त हुआ तब उसकी अन्तिम गतिकी व्यवस्था युधिष्ठिर करने लगे; परन्तु आकाशवाणीने उन्हें इस कामसे रोक दिया। अर्थात्, विदुरकी मृत देह जलाई नहीं गई; परन्तु देख पड़ता है कि वह गाड़ी भी नहीं गई। तब कहना चाहिए कि मुर्दा वहीं पड़ा रहा और जङ्गलके हिंस्र पशुओंने उसे खा लिया। तात्पर्य यह है कि संन्यासियोंकी प्रेतविधिका ठीक ठीक पता नहीं लगता। इस सम्बन्धके नीचे लिखे हुए श्लोक ध्यान देने योग्य हैं:—

धर्मराजश्च तत्रैनं संचस्कारयिषुस्तदा ॥
दग्धुकामोऽभवद्विद्वानथ वागभ्यभाषत ॥
भो भो राजन्न दग्धव्यमेतद्विदुरसंज्ञकम् ॥
कलेवरमिहैवं ते धर्म एष सनातनः ।
लोको वैकर्तनो नाम भविष्यत्यस्य भारत ॥
यतिधर्ममवाप्तोसौ नैष शोच्यः परंतप ॥

(आश्रमवासिकपर्व अ. २८, ३१-३३)

अस्तु; यहाँतक विस्तारके साथ इस बातका विवेचन किया गया है कि भारतीकालके आरम्भसे लेकर महाभारत-काल पर्यन्त भारती लोगोंकी धर्म-विषयक कल्पनाएँ क्या क्या थीं और आचार क्या क्या थे और उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन किस तरह हो गया। अब, धर्मसे संलग्न जो तत्वज्ञानका विषय है उस पर ध्यान देना चाहिए और सोचना चाहिए कि महाभारत-काल पर्यन्त भिन्न भिन्न मोक्ष-मार्ग भारतवर्षमें किस प्रकार स्थापित हुए थे।

सोलहवाँ प्रकरण।

तत्वज्ञान।

अन्य लोगोंकी अपेक्षा भारती आर्योंकी यदि कोई विशेषता है, तो वह उनका तत्वज्ञान है। सब लोगोंमें भारती आर्य तत्वज्ञानके विषयमें अग्रणी थे; और भारती आर्योंके सब तत्वज्ञानमें वेदान्त-ज्ञान अग्रणी था। महाभारतमें आर्योंके सब तत्वज्ञानका समावेश और उल्लेख किया गया है। महाभारतका सबसे बड़ा गुण यही है कि, वह तत्वज्ञानकी भिन्न भिन्न चर्चासे पाठकोंका मनोरञ्जन और ज्ञानवृद्धि किया करता है। यह चर्चा इस सम्पूर्ण बृहत् ग्रन्थ भरमें फैली हुई है। तत्वज्ञान विषयक अनेक प्रकरणोंमें भगवद्गीता सबकी शिरोमणि है, सो स्पष्ट ही है। भगवद्गीताका प्रामाण्य उपनिषदोंके समान माना जाता है। अनुगीता, शान्तिपर्वका मोक्षधर्म, उद्योगपर्वका सनत्सुजातीय, वन पर्वका युधिष्ठिर-व्याध-सम्वाद और इसी प्रकारके अन्य छोटे छोटे सम्वाद और आख्यान मिलकर भारतीय तत्वज्ञानका, प्राचीन कालका, बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण ग्रन्थ-समुदाय ही बन जाता है। रामायणमें तत्वज्ञान-विषयक चर्चा बहुत थोड़ी है। अर्थात्, उपनिषदोंके बाद तत्वज्ञानका सबसे प्राचीन ग्रन्थ महाभारत ही है। षड्शास्त्रोंके भिन्न भिन्न सूत्र, जो कि इस समय पाये जाते हैं, महाभारतके बादके हैं। प्राचीन कालसे महाभारतके समय-तक इन भिन्न भिन्न तत्वज्ञानोंके विचार कैसे कैसे बढ़ते गये, इस बातको ऐतिहासिक रीतिसे देखनेका साधन महाभारत ही है। जैन और बौद्ध शासनोंका विचार महाभारतमें प्रत्यक्ष नहीं आया है, तथापि अप्रत्यक्ष रीतिसे उनके भी मतोंका विचार उसमें पाया जाता है। अच्छा, अब हम महाभारतके तत्वज्ञान-विषयक भिन्न भिन्न आख्यानों परसे यहाँ यह विचार करते हैं कि, महाभारत-कालतक तत्वज्ञानकी उन्नति भरतखण्ड-में कैसी हुई थी।

यह बात सबको मालूम ही है कि, तत्वज्ञान-सम्बन्धी विचार भारतवर्षमें बहुत प्राचीन कालसे हो रहे हैं; और उनकी चर्चा ऋग्वेदमें भी है। जब मनुष्य प्राणि-जगत्के रहस्यका विचार करने लगता है, उस समय उसका मन अत्यन्त बुद्धि-मत्ताकी जो छलाँगें भर सकता है, और अपने बुद्धिबलसे जो भिन्न भिन्न सिद्धान्त बाँध सकता है, वे सारे सिद्धान्त ऋग्वेद-के कितने ही सूक्तोंमें हमें दिखाई दे रहे हैं। वेदके अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। उनमें मनुष्य और सृष्टिके सम्बन्धका जो अत्यन्त परिणत सिद्धान्त तत्वज्ञानके नामसे भारतवर्षमें प्रस्थापित हुआ, उसका विवेचन बहुत ही वक्तृत्वपूर्ण वाणीसे किया गया है। वेदमतसे मान्य होनेवाले इन तत्वज्ञान-सिद्धान्तोंके साथ ही दूसरे वेदबाह्य सिद्धान्त भी भारतवर्षमें अवश्य प्रचलित हुए होंगे। कारण यह है कि जब एक बार मनुष्यका मन, खोजके साथ, तत्वज्ञानका विचार करने लगता है, तब उसकी मर्यादा अन्ततक, अर्थात् यह भी कहनेतक कि ईश्वर नहीं है, पहुँच जाया करती है। इस प्रकारके विचार उपनिषत्कालमें प्रचलित थे अथवा नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इन मतोंके मुख्य प्रवर्तक कपिल और चार्वाक थे। उनका नाम उपनिषदोंमें, अर्थात् प्राचीन दस उपनिषदोंमें, बिलकुल ही नहीं आया है। तथापि, ये वेद-

बाह्य तत्वज्ञानके सिद्धान्त बहुत प्राचीन होंगे, क्योंकि महाभारतमें उनकी अत्यन्त प्राचीनताका उल्लेख किया गया है। महाभारतमें यह लिखा हुआ है कि, कपिल एक प्राचीन ऋषि थे; और चार्वाक नामक एक ब्राह्मण दुर्योधनका सखा था। उसने राज्यारोहणके अवसर पर युधिष्ठिरकी निन्दा की थी, इसलिए ब्राह्मणोंने उसे केवल हुंकारसे दग्ध कर डाला। इस वर्णनसे जान पड़ता है कि, चार्वाकका मत बहुत प्राचीन कालका है; और वह वेदबाह्य भी माना जाता था।

पंचमहाभूत।

इस प्रकार, भारती-कालके प्रारम्भमें तीन तत्वज्ञान, अर्थात् भिन्न भिन्न रीतिसे जगत्के रहस्यका उद्घाटन करनेवाले सिद्धान्त प्रचलित थे। वेदान्त मत और कपिल तथा चार्वाकके मत प्रारम्भके तत्वज्ञान थे। यह स्वाभाविक ही है कि, इन तत्वज्ञानोंका कुछ भाग समान होना चाहिए। कुछ कल्पना और कुछ बातें सब तत्वज्ञानोंके मूलमें एकही सी होनी चाहिएँ। पञ्चेन्द्रियों और पञ्चमहाभूतोंकी कल्पना स्वाभाविक ही भारतवर्षमें उसी समय निश्चित हुई होगी जब कि यहाँ तत्वज्ञानका विचार होने लगा था। यह भी कहा जा सकता है कि पञ्चेन्द्रिय और पञ्चमहाभूत भारतीय तत्वज्ञानोंके मूलाक्षर हैं। यहाँ यह बात बतलानी चाहिए कि, भारती आर्य पाँच महाभूत मानते हैं; परन्तु पश्चिमी तत्वज्ञानका विचार करनेवाले उन्हींके भाई ग्रीक लोग चार ही महाभूत मानते हैं। एक जर्मन ग्रन्थकारने कहा है—"इस सृष्टिके सब पदार्थ जिन चार भूतोंसे उत्पन्न हुए हैं, उन महाभूतोंका इतिहास बहुत पुराना है। अरिस्टाटलने सृष्टिरचनाका विचार करते हुए यही चार महाभूत माने हैं; और जब कि उसके नामका एक बार आधार मिल गया, तब उन चार महाभूतोंके विषयमें किसीने सन्देह नहीं किया। आज कितनी ही शताब्दियोंसे वे ज्योंके त्यों जारी हैं।" यहाँ पर यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि, आधुनिक पाश्चात्य तत्वज्ञानसे चार मूलभूतोंका तो सिद्धान्त उड़ गया; और इसीको ध्यानमें रखकर उपर्युक्त जर्मन पण्डितने ऐसा कहा है। आजकलके समयमें अनेक तत्व स्थापित हुए हैं। परन्तु जान पड़ता है कि ये भी स्थिर न रहेंगे; आगे चलकर इनका समावेश एकमें ही हो जायगा। जो हो; जगत्का विचार करने पर, अवश्य ही, सूक्ष्म रीतिसे थोड़ा निरीक्षण करनेवालेको चार मूलभूत दिखाई देने चाहिएँ। संसारके तीन प्रकारके पदार्थ हमारी दृष्टिमें आते हैं। पृथ्वीके समान दृढ़, पानीके समान द्रव और वायुके समान अदृश्य। इनके सिवा चौथा पदार्थ अग्नि भी ऐसा है जो मनुष्यकी कल्पनामें शीघ्र आ सकता है। क्योंकि इस बातका खुलासा करनेके लिए, कि ज्वलनकी क्रिया कैसे होती है, अग्निको एक भिन्न तत्व मानना पड़ता है। मतलब यह है कि, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि—ये दृश्य अथवा जड़ सृष्टिके चार मूलभूततत्व प्रत्येक विचारशील मनुष्यको सूझने योग्य हैं; और तदनुसार पाश्चात्य तत्ववेत्ताओंने चार ही महातत्व माने भी हैं। परन्तु यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि, भारती-आर्योंने पाँचवाँ महातत्व आकाश कहाँसे मान लिया। अधिक क्या कहा जाय, सचमुच यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि, प्राचीन भारती-आर्योंने केवल अपनी बुद्धिमत्तासे आकाश-तत्व ढूँढ़ निकाला। बड़े बड़े आधुनिक रसायन-शास्त्रवेत्ता भी अब यही

मानने लगे हैं कि, पाश्चात्योंने जिन अनेक मूलतत्वोंकी खोज की है, उन सबका लय एक आकाश-तत्वमें ही, अथवा ईथर नामके तत्वमें ही, होता है।

यह प्रायः सम्भव है कि जिस रीतिसे और जिस कारण आजकल पाश्चात्य तत्ववेत्ता एक तत्व मानने लगे हैं, उसी रीतिसे और उसी कारणसे भारती-आर्योंने भी विचार किया होगा, और इसी लिए उन्होंने यह पाँचवाँ आकाश-तत्व माना होगा। अर्वाचीन तत्ववेत्ताओंका जो यह सिद्धान्त है कि, सारी सृष्टि एक ईश्वरसे उत्क्रांति या विकासवादकी रीतिसे उत्पन्न हुई है, सो यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन कालमें भारती आर्योंने ढूँढ़ निकाला था। यह बात प्रत्यक्ष अनुभवकी भी है कि, दृढ़ पदार्थ उष्णतासे द्रव अर्थात् पतले बन जाते हैं; और पतले पदार्थ अधिक उष्णतासे वायुरूप बन जाते हैं—अर्थात् पृथ्वी तत्व जलरूप था और जल वायुरूप था। ऐसी दशामें वायु भी किसी न किसी दूसरे मूलतत्वसे निकला हुआ होना चाहिए। भारतवर्षके वेदान्ततत्वज्ञानी केवल अपनी बुद्धिमत्ताके वैभवसे उस जगह पहले ही पहुँचे थे, जहाँ कि वर्तमान पाश्चात्य रसायनतत्ववेत्ता आज पहुँच रहे हैं। और, उन्होंने यह सिद्धान्त बाँधा कि, सारी सृष्टि एक ही मूल-तत्वसे, अर्थात् आकाशसे, उत्पन्न हुई है। अन्तमें उन्होंने यह भी प्रतिपादन किया कि, यह आकाश तत्व भी परब्रह्मसे निकला है। उपनिषदोंमें यह स्पष्ट बतलाया गया है कि, परमात्मासे आकाश निकला; आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। उनका यह भी मत है कि इन तत्वोंका इसके विरुद्ध क्रमसे, लय होगा। मतलब यह है कि, भारती आर्योंने विकासवाद और प्रत्याहारवाद हज़ारों वर्ष पहले ढूँढ़ निकाला था; और यही सिद्धान्त महाभारतमें जगह जगह प्रतिपादित किया गया है।

पाँच इन्द्रियाँ प्रत्येक मनुष्यकी कल्पनामें आ सकती हैं। इन पाँच इन्द्रियोंसे भी पाँच महाभूतोंकी कल्पनाका उत्पन्न होना स्वाभाविक बात है; क्योंकि प्रत्येक महाभूतमें एक एक गुण ऐसा है कि, प्रत्येक भिन्न भिन्न इन्द्रिय उस गुण पर प्रभाव करती है। इससे अवश्य ही यह अनुमान निकलता है कि, पाँच इन्द्रियोंके अनुसार पाँच तत्व होंगे। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका, ये पाँच इन्द्रियाँ मनुष्यकी देहमें हैं; और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पाँच उनके गुण भी हैं। इन गुणोंके अनुसार ही प्रत्येक तत्वमें धर्म है। पृथ्वीका धर्म गन्ध; जलका धर्म रस, जो जिह्वासे चखा जाता है; अग्निका धर्म रूप, जो दृष्टिसे दिखाई देता है, और वायुका धर्म स्पर्श, जो त्वचासे ग्रहण होता है। अब, शब्द अथवा श्रोत्रसे ग्रहण होनेवाला विशिष्ट धर्म जिसका है, वह पाँचवाँ तत्व भी चाहिए। इसलिए उन्होंने निश्चित किया कि वह तत्व आकाश है। पाँच तत्व, पाँच इन्द्रियाँ और पाँच गुण—यह परम्परा तो ठीक लग गई। उसमें भी भारती आर्योंने यह एक विशेषता देखी कि, भिन्न भिन्न तत्वोंमें एककी अपेक्षा अधिक गुण बढ़ते हुए परिमाणसे हैं। अर्थात् पृथ्वी-तत्वमें पाँचों गुण हैं। यह अनुमानकी बात है कि पृथ्वीसे शब्द सुनाई देता है। पृथ्वीमें स्पर्श भी है, रूप भी है, और रस भी है; इससे उन्होंने यह सिद्धान्त बाँधा कि, जिस एक तत्वसे दूसरा तत्व निकला, उस तत्वके गुण दूसरे तत्वमें मौजूद हैं; और इसके सिवा उस तत्वका स्वतंत्र

गुण अधिक रहता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, इन क्रमशः चढ़ते हुए तत्वोंमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके विशिष्ट गुण हैं; और प्रत्येक तत्वमें पिछले तत्वके भी गुण रहते हैं। अर्थात् इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि, पृथ्वीमें पाँच, जलमें चार, अग्निमें तीन, वायुमें दो और आकाशमें एक गुण है। यह सिद्धान्त सब भारती तत्वज्ञानियोंको मान्य है। यह तो उनका आधार ही है। महाभारतमें जब किसी तत्वज्ञानका विचार शुरू होता है, तब पाँच महाभूतों, पंचेन्द्रियों और चढ़ते हुए परिमाणसे पाँच गुणोंका विवेचन अवश्य किया जाता है। हाँ, चार्वाकके नास्तिक मतमें अवश्य ही यह सिद्धान्तमान्य नहीं है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणवादी थे, अतएव उन्होंने चार ही तत्व स्वीकार किये हैं। ग्रीक लोगोंकी भाँति वे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन्हीं चार तत्वोंको मानते हैं। वे इन तत्वोंको स्वतंत्र भी मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि, परमेश्वर नहीं है। और जब कि परमेश्वरने सृष्टि उत्पन्न ही नहीं की, तब उनको यह भी माननेकी आवश्यकता नहीं कि, चारों भूत एक दूसरेसे निकले। सच पूछा जाय तो यही समझमें नहीं आता कि चार्वाक अथवा नास्तिक मतको तत्वज्ञान क्यों कहा जाय; क्योंकि इन लोगोंकी यह धारणा होती है कि, साधारणतः बुद्धि और इन्द्रियोंको जो ज्ञान होता है, अथवा उनके अनुभवमें जो आता है उसके आगे कुछ भी नहीं है। ऐसी दशामें यही समझमें नहीं आता कि, उसके मतको तत्वज्ञान, अथवा दर्शनशास्त्र क्यों कहा जाय। अवश्य ही वह मत बहुत पुराना है; और यही नहीं, बल्कि इसका अस्तित्व सदासे चला आता है। इसी लिए भगवद्गीताने, "अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम्" इत्यादि वचनोंसे इसका निषेध किया है।

जीव-कल्पना।

सम्पूर्ण जड़ सृष्टिका पृथक्करण निश्चित हो जाने पर पंचमहाभूतों और उनके भिन्न भिन्न पाँच गुणोंकी कल्पना करना स्वाभाविक और सहज है। तत्वज्ञानके विचारकी यही पहली सीढ़ी है। इस विषयमें पाश्चात्य और प्राच्य तत्वज्ञानोंमें—दर्शनोंमें—बहुत मत-भेद भी नहीं है। परन्तु इसके आगेकी सीढ़ी कठिन है। पंचमहाभूतों और पंचेन्द्रियोंके अतिरिक्त और भी इस संसारमें कुछ है या नहीं? इच्छा, बुद्धि, अहंकार, इत्यादि बातें जड़ हैं, अथवा जड़से भिन्न हैं? यह प्रश्न बहुत कठिन है कि जड़से भिन्न कोई पदार्थ है अथवा नहीं। और, इस प्रश्नके विषयमें सब काल और सब लोगोंमें मतभेद रहा है। पहलेपहल यह कल्पना होना स्वाभाविक है कि, जीव अथवा आत्मा जड़से भिन्न है। अत्यन्त जङ्गली लोगोंमें भी यह कल्पना दिखाई देती है। परन्तु कितने ही लोगोंने यहाँतक कहनेका साहस किया है कि, जीव अथवा आत्मा है ही नहीं। तत्वज्ञानके विषयमें दूसरा विचार यही है। नास्तिक लोगोंने ऐसा निश्चित किया है कि, जगत्का चेतन अनुभव किसी भिन्न जीवका परिणाम नहीं है; किन्तु जिस प्रणालीसे पंचमहाभूत शरीरमें एकत्र हुए हैं, उस प्रणालीका यह एक विशिष्ट गुण है। इस विषयमें नास्तिकोंके जो तर्क हैं, उनका स्वरूप शांति पर्वके २१ वें अध्यायमें, पंचशिख और जनकके सम्वादमें, स्पष्टतया दिखलाया गया है। नास्तिकोंका कोई प्राचीन ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं है। जैसा कि हम

पहले कह चुके हैं, नास्तिक अथवा सांख्य अथवा योग इत्यादि तत्वज्ञानोंका जो सबसे प्राचीन ग्रन्थ, इस समय उपलब्ध है, वह महाभारत ही है। इस कारण कहीं कहीं श्लोकोंका अर्थ समझनेमें कठिनाई पड़ती है। उपर्युक्त अध्यायमें ये श्लोक हैं:—

नान्यो जीवः शरीरस्य
नास्तिकानां मते स्थितः।
रेतो वटकणीकायां
घृतपाकाधिवासनम्॥
जातिः स्मृतिरयस्कान्तः
सूर्यकान्ताम्बुभक्षणम्।
प्रेत्यभूतात्ययश्चैव
देवताद्युपयाचनम्॥
मृते कर्मनिवृत्तिश्च
प्रमाणमिति निश्चयः।
अमूर्तस्यहि मूर्तेन
सामान्यं नोपपद्यते॥

इन श्लोकोंमें नास्तिकोंका मत-प्रदर्शन और उसका खण्डन भी है। नास्तिक कहते हैं—"जैसे वटके छोटे बीचमें बड़ा वटवृक्ष उत्पन्न करनेकी शक्ति है, उसी प्रकार रेतमें पुरुष निर्माण करनेकी शक्ति है। जैसे गौके द्वारा खाये जाने पर घास-से घी उत्पन्न होता है, अथवा भिन्न भिन्न परिमाणसे कुछ पदार्थ एकत्र करनेसे, उनसे अधिवासन अर्थात् सुवास अथवा मादकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार चार तत्व एक जगह होनेसे, उनसे मन, बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि बातें दिखाई देती हैं। जैसे अयस्कान्त अर्थात् लोहचुम्बक लोहेको खींच लेता है, अथवा सूर्यकान्त मणि उष्णता उत्पन्न करता है, उसी प्रकार चार महाभूतोंके संयोगसे विशिष्ट शक्ति उत्पन्न होती है।" (यहाँ चार महाभूतों-का उल्लेख होनेसे जान पड़ता है कि, नास्तिकोंके मतमें पञ्चमहाभूत नहीं हैं, किन्तु चार ही हैं।) इस पर पञ्चशिखने ऐसा जवाब दिया है—"जब कि मनुष्यके मरने पर किसी प्रकारका भी कर्म नहीं होता, तब यह निश्चयपूर्वक सिद्ध होता है कि, महाभूतोंसे कोई न कोई एक भिन्न पदार्थ देहमें अवश्य है। क्योंकि प्राणीके मरने पर पञ्चमहाभूत पहलेकी भाँति ही शरीरमें शेष रहते हैं। फिर श्वासोच्छ्वा-सादि बन्द कैसे हो जाते हैं? ऐच्छिक व्यापार बन्द क्यों हो जाते हैं? ऐसी दशामें चैतन्यका देहसे भिन्न होना अवश्य निश्चित है। इसके अतिरिक्त, यह चैतन्य अचेतन जड़से उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि जब कारणोंका स्वभाव जड़ है, तब कार्यमें भी वैसी ही जड़ता आनी चाहिए। अमूर्त और मूर्तका मेल हो नहीं सकता।" इसी बातको भिन्न शब्दों-में इस प्रकार कह सकते हैं कि, चाहे पचास अथवा हजार जड़ वस्तुएँ एकत्र की जायँ, परन्तु उनसे जो कुछ उत्पन्न होगा, वह जड़ ही वस्तु होगी। चेतन वस्तु उत्पन्न नहीं होगी, यह स्पष्ट है।

जो तत्वज्ञानी शरीरसे भिन्न चैतन्य-को मानते हैं, उनकी तर्कपरम्परा सदैव ऐसी ही होती है। ग्रीक देशका तत्ववेत्ता प्लोटीयस् नूतन-प्लेटो-मतवादी था। उसने इस बातको सिद्ध करते हुए कि आत्मा शरीरसे भिन्न है—वह शरीरका समवाय अथवा कार्य या व्यापार नहीं है—कहा है:—"चार महाभूतोंको एकत्र करनेसे जीव नहीं उत्पन्न हो सकता, क्योंकि किसी एक जड़ पदार्थमें जीव नहीं है। इसलिए ऐसे पदार्थोंके चाहे जितने समूह एकत्र किये जायँ, तथापि उनसे जीव नहीं उत्पन्न हो सकता। इसी भाँति, जो बुद्धिरहित हैं उनसे बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती। ऐसी दशामें, जीवका उत्पन्न करनेवाला कोई न कोई, जड़ वस्तुसे भिन्न और श्रेष्ठ अवश्य होना चाहिए।

यही क्यों, यदि चैतन्यकी शक्ति न होगी, तो देह ही उत्पन्न नहीं हो सकती।" भारतीय आर्य तत्ववेत्ताओंका यह मत, कि आत्मा शरीरसे भिन्न है, ग्रीक लोगों तक जा पहुँचा था। तथापि ग्रीक लोगोंमें भी यह कहनेवाले लोग थे कि आत्मा नहीं है। ऐसे लोग भारतवर्षमें ऋग्वेद-कालसे हैं; और भारतीय तत्ववेत्ताओंने उनको नास्तिक कहकर उनका निषेध किया है।

जीव अथवा आत्मा अमर है।

भारती आर्योंके तत्वज्ञानियोंने जब यह सिद्धान्त निश्चित कर लिया कि आत्मा भिन्न है, तब उन्हें एक और प्रश्नका विचार करना पड़ा। वह प्रश्न इस प्रकार है—शरीरकी तरह आत्मा नश्वर है अथवा अमर है? कितने ही तत्वज्ञानियोंका यह मत होना स्वाभाविक है कि, आत्मा शरीरके साथ ही मर जाता है। परन्तु यह अत्यन्त उच्च सिद्धान्त, कि आत्मा अमर है, भारती तत्वज्ञानियोंमें शीघ्र ही प्रस्थापित हो गया। भगवद्गीतामें, प्रारम्भमें ही, यह तत्व बड़ी वक्तृत्वपूर्ण रीतिसे प्रतिपादित किया गया है कि, आत्मा अमर है। इस प्रतिपादनमें भी अन्य मतोंका कुछ अनुवाद किया गया है। "अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।" इस श्लोकमें कहा गया है कि तेरा ऐसा मत होगा कि, आत्मा सदैव मरता और उत्पन्न होता है; परन्तु यहाँ अन्तमें इसी सिद्धान्तका स्वीकार किया है कि आत्मा अमर है। जैसे "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय" इत्यादि श्लोकमें अथवा 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इस श्लोकमें बतलाया गया है। उपनिषदोंमें आत्माके अमृतत्वके विषयमें जगह जगह बहुत ही उदात्त वर्णन दिये हुए हैं। महाभारतमें भी ऐसे ही वर्णन प्रत्येक तत्वविषयक उपाख्यानमें पाये जाते हैं। सच पूछिये तो आत्माका अमरत्व सिद्ध करनेके लिए बहुत दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। जिस तर्कसे हमें यह मालूम होता है कि आत्मा शरीरसे भिन्न है, उसी तर्कसे यह बात भी सिद्ध होती है कि आत्मा अमर है। मनुष्यके मरने पर देहमें कुछ भी गति नहीं रहती, इसीसे हम यह मानते हैं कि देहके अतिरिक्त चैतन्य है और अब वह शरीरसे बाहर चला गया, अर्थात्, यह बात निश्चयपूर्वक सिद्ध होती है कि मनुष्यके मरणके साथ आत्मा नहीं मरता। इससे यही मानना पड़ता है कि, वह देह छोड़कर कहीं अन्यत्र चला जाता है। इसके अतिरिक्त, जब कि हम यह मानते हैं कि, जड़ सृष्टि और जड़ पदार्थ, अर्थात् पञ्चमहाभूतोंका आत्यन्तिक नाश नहीं होता, तब फिर चैतन्य अथवा आत्माका ही नाश क्यों होना चाहिए? जान पड़ता है कि उपनिषत्कालमें इस प्रश्नके विषयमें वादविवाद हुआ होगा। कठोपनिषद्में यह वर्णन है कि नचिकेत जब यमके घर गया, तब उसने यमसे जो पहला प्रश्न किया, वह भी यही था। उसने पूछा कि 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चान्ये'—अर्थात् कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्यके मर जाने पर भी यह आत्मा बना रहता है; और कुछ लोग कहते हैं कि नहीं रहता, इसलिए आप बतलावें कि इसमें सच्ची बात कौनसी है। उस समय यमने कठोपनिषद्में आत्माकी अमरता प्रतिपादित की है। अस्तु; नास्तिकोंके अतिरिक्त भारती आर्योंके तत्वज्ञानियोंने यही स्वीकार किया है कि आत्मा है और वह अमर है। परन्तु आत्मा क्या पदार्थ है, इस विषयमें भिन्न

भिन्न तत्वज्ञानियोंमें मतभेद उत्पन्न हुआ और भिन्न भिन्न सिद्धान्त स्थापित हुए। यही कारण है कि सांख्य, योग, बौद्ध, जैन, वेदान्त इत्यादि अनेक मत उत्पन्न हुए, तथा भारती-कालमें उनके वाद-विवाद, विरोध, झगड़े और परस्पर एक दूसरेको खण्डन करनेके प्रयत्न प्रारम्भ हुए। जैसा कि हमने पहले कहा है, महाभारतने प्राचीन कालमें यही सबसे बड़ा काम किया कि, यह विरोध निकाल डाला और ये झगड़े मिटा दिये।

आत्मा एक है या अनेक।

सबसे प्राचीन मत कपिल ऋषिका यह था कि पुरुष और प्रकृति, ये दो वस्तुएँ, अर्थात् चेतन आत्मा और जड़ पंच-महाभूत या देह, ये दो अलग वस्तुएँ हैं। पुरुष स्वतंत्र, अवर्णनीय और अक्रिय है; वह प्रकृतिकी ओर सिर्फ देखता रहता है; और उसके देखनेसे प्रकृतिमें सारी क्रियाएँ, विकार, तथा भावना और विचार उत्पन्न होते हैं। गौतम और कणाद भारतवर्षके परमाणुवादके मुख्य स्थापनकर्ता हैं। इनके भी सिद्धान्त महाभारत-कालमें प्रचलित हो गये थे। इनके मतानुसार जीवात्मा देहसे भिन्न और अणुपरिमाण है। ये जीवात्मा असंख्य और अमर हैं। प्रत्येक जीवात्मा भिन्न है, जो एक शरीरसे दूसरे शरीरमें चला जाता है। अर्थात्, जीवमें संसारित्व है। जिस प्रकार हमारे देशमें गौतम और कणाद परमाणुवादी हैं, उसी प्रकार ग्रीस देशके तत्ववेत्ता ल्यूसिपस् और डिमाक्रिटस भी अणुवादी थे। उनका भी यही मत था कि, जिस प्रकार जड़-सृष्टिके असंख्य परमाणु हैं, उसी प्रकार आत्माके भी भिन्न भिन्न असंख्य परमाणु हैं, जो कि शरीरमें पैठते और बाहर निकलते हैं। बौद्धमतानुसार आत्मा कितनी ही वस्तुओंका संघात है, जो एक देहसे दूसरी देहमें भ्रमण करता रहता है। ऐतिहासिक रीतिसे तत्वज्ञानियोंकी परम्परामें कपिल, गौतम, बुद्ध और कणाद प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने अपने सिद्धान्त इसी क्रमसे प्रतिपादित किये हैं, परन्तु उनके मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। महाभारतमें कपिलके अतिरिक्त दूसरोंका नाम भी नहीं आया है। तथापि महाभारतसे यह मालूम हो जाता है कि उनके मत क्या थे; और यह बात परस्पर तुलनासे बतलाई गई है कि सनातनधर्मके तत्वज्ञानके सिद्धान्त क्या थे। सम्पूर्ण आस्तिकवादी तत्वज्ञानियोंका यह मत है कि, प्रत्येक शरीरमें जो आत्मा है वह कुछ भिन्न नहीं है, किन्तु सब जगह एक ही आत्मा व्यापक रूपसे भरा हुआ है। यही कारण है कि कणाद, गौतम अथवा बुद्धके मत नास्तिक मतके समान त्याज्य माने गये हैं। उपर्युक्त जनक-पंचशिख-संवादमें बौद्ध मतका प्रत्यक्ष तो नहीं, किन्तु अप्रत्यक्ष रीतिसे खंडन किया हुआ जान पड़ता है। "कुछ लोग यह मानते हैं कि आत्मा इन अठारह पदार्थोंका संघात है, यथा— अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन (देह), स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिवेदना, दुःख और दौर्मनस्य। यही संघात बार बार जन्म लेता रहता है।" परन्तु यह कल्पना भूलसे भरी हुई है; क्योंकि अविद्या एक क्षेत्र है और पहलेके किये हुए कर्म फिर उसमें बोनेके बीज हैं, इत्यादि बुद्धके मतका यहाँ खंडन किया गया है। यह सब यहाँ बतलानेकी आवश्यकता नहीं। बौद्धोंका मत उस समय भी पूर्णतया स्थापित नहीं हुआ था। और महाभारतके बाद तो बादरायणके वेदान्त-सूत्रोंमें बौद्ध मतका पूर्णतया खंडन किया

गया है। आस्तिक मतवादियोंका मुख्य स्वरूप परमेश्वर अथवा परमात्माकी कल्पना है। और यह स्पष्ट है कि उसी कल्पनाके अनुसार उनके जीवात्माकी कल्पनाको भिन्न स्वरूप प्राप्त हुआ है। बौद्ध और सांख्यमें भी परमात्माके विषयमें, जान पड़ता है, विचार नहीं किया गया; और मुख्यतः इसी कारण उनको नास्तिकताका स्वरूप प्राप्त हुआ है।

प्रमाणस्वरूप।

यहाँ इस विषयमें थोड़ासा विवेचन करना आवश्यक है कि, प्रमाण क्या वस्तु है। नास्तिक मतोंको वेदोंका प्रमाण स्वीकार नहीं है। यही उनका आस्तिक मतसे पहला बड़ा भेद है। वेदोंका प्रामाण्य न माननेके कारण ही विशेषतः इन मतोंको निन्द्यत्व प्राप्त हुआ है। वेदोंका प्रामाण्य भारतीय आर्योंमें प्राचीन कालमें ही स्वीकृत हो चुका था। तत्वज्ञानके विचारमें उपनिषदोंको प्रामाण्य प्राप्त हो चुका था और कर्मके विषयमें संहिता आदिको प्रामाण्य मिल चुका था। स्वतंत्र विचार करनेवाले बुद्धिमान् लोग इस विषयमें वाद उपस्थित कर रहे थे कि, वेदोंको प्रमाण क्यों माना जाय। महाभारतमें इस विषयका भी विचार है और वेदोंको प्रमाणोंमें अग्रस्थान दिया है। अनुशासन पर्व अ० १२० में व्यास अन्तमें पूछते हैं कि वेद झूठ क्यों कहेगा।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयश्च भिन्नाः नैको-मुनिर्यस्यमतं प्रमाणम्। धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

यह श्लोक महाभारतमें है (वनपर्व अध्याय ३१३)। परन्तु सम्पूर्णतया विचार करनेसे जान पड़ता है कि, महाभारत-कालमें वेदोंका प्रमाण पूर्ण माना गया था। जान पड़ता है, वेदोंके साथ साथ पुराण-इतिहास भी प्रमाण माने जाते थे। (शांति अ० ३४३) कई जगह वेदके अतिरिक्त आगमोंको भी प्रमाण माना गया है। तथापि जान पड़ता है कि, महाभारतके लिए शब्दप्रमाण अर्थात् वेदप्रमाण मुख्य है। दूसरा प्रमाण, अनुमान बतलाया गया है। अनुगीतामें कहा है कि "अनुमानाद्विजानीमः पुरुषम्"। वेदोंका उल्लेख 'आम्नाय' शब्दसे किया गया है; और यह स्वीकार किया गया है कि, आम्नायका अर्थ अनुमानसे लगाना चाहिए। अर्थात् प्रमाणके मुख्य दो संग्र हैं—अनुमान और आम्नाय (शां० प० अ० २०५)। इसके सिवा तीसरा प्रमाण प्रत्यक्ष ही माना गया है। 'प्रत्यक्षतः साधयामः' ऐसा भी अनुस्मृतिमें कहा है। यह स्पष्ट है कि दोनों प्रमाण जिस समय नहीं हैं, उस समय प्रत्यक्ष प्रमाणका महत्व स्वाभाविक ही माना जाना चाहिए। इन तीन प्रमाणोंके अतिरिक्त चौथे प्रमाण उपमानका भी उल्लेख महाभारतमें एक जगह आया है, वनपर्व अध्याय ३१ में द्रौपदीके भाषणके बाद युधिष्ठिरने कहा है कि, आर्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाणके अतिरिक्त तेरा जन्म एक उपमानका प्रमाण है। फिर भी वास्तवमें वेद, अनुमान और प्रत्यक्ष, इन्हीं प्रमाणों पर विशेष जोर है। इसके अतिरिक्त यह भी बतलाना चाहिए कि, वेदोंके प्रामाण्य पर यद्यपि महाभारतका जोर है, तथापि अनुमानके प्रमाणको दबा डालनेका महाभारतका कदापि आशय नहीं है। मतलब यह है कि, भारती आर्योंके तत्वज्ञानका स्रोत शब्दप्रमाण पर ही कदापि नहीं रुका। अर्थात् वादी और प्रतिवादी दोनोंके लिए अनुमान और प्रत्यक्ष, यही दो प्रमाण मुख्य रहते थे।

परमेश्वर।

अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाणसे जब

यह सिद्ध हो गया कि आत्मा शरीरसे भिन्न है, तब इसका विचार करते हुए कि यह आत्मा कैसा है, आत्माका अमरत्व दिखाई पड़ता है। अब, यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है कि, जड़ और चेतनसे भिन्न तीसरा कोई न कोई इन दोनोंको उत्पन्न करनेवाला परमात्मा अथवा परमेश्वर है या नहीं। आत्मा-सम्बन्धी कल्पना जैसे सब कालमें सब देशोंमें उत्पन्न हो चुकी है, उसी प्रकार ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना भी मनुष्यप्राणीके लिए स्वाभाविक ही है; और ईश्वरमें अनेक प्रकारके गुण, शक्ति और ऐश्वर्यकी कल्पना करना भी स्वाभाविक है। प्रारम्भमें ऐसी कल्पना होना स्वाभाविक है कि देवता अनेक हैं। पर्जन्य, विद्युत्, प्रभंजन, सूर्य, इत्यादि नैसर्गिक शक्तियोंमें देवताओंकी कल्पना साधारण बुद्धिमत्ताके मनुष्यके लिए स्वाभावतः ही सूझनेके योग्य है। प्राचीन आर्योंकी सब शाखाओंमें इस प्रकारके अनेक नैसर्गिक देवताओंकी कल्पना पाई जाती है। परन्तु आगे चलकर ज्यों ज्यों मनुष्यकी बुद्धिमत्ताका विकास होता गया, त्यों त्यों अनेक देवताओंमें सर्वशक्तिमान् एक देव या ईश्वरकी कल्पना प्रस्थापित होना अपरिहार्य है। पर्शियन लोगोंने प्राचीन कालमें एक ईश्वरकी कल्पना की थी; परन्तु आश्चर्यकी बात है कि ग्रीक लोगोंने वह कल्पना नहीं ग्रहण की। हाँ, सब देवोंका राजा समझकर उन्होंने ज्योव्ह देवताको अवश्य ही अग्रस्थान दिया था। ज्यू लोगोंने भी प्राचीन कालमें एक ही ईश्वरकी कल्पना की थी। परन्तु उस देवताके नीचे भिन्न भिन्न देवदूत माने गये थे। यह सच है कि, प्राचीन कालमें भारती आर्योंने इन्द्र, वरुण, सूर्य, सोम इत्यादि अनेक देवता माने थे। परन्तु एक ईश्वरकी कल्पना ऋग्वेदकालमें ही हो चुकी थी; और उन्होंने यह सिद्धान्त प्रदर्शित कर दिया था कि, अन्य सब देव उसीके स्वरुप हैं। उन्होंने यह कल्पना नहीं की कि, अन्य देवता उसके नीचे हैं। भारती आर्योंकी तत्वविवेचक बुद्धिकी चरम सीमा उपनिषत्कालमें हुई। वे इस सिद्धान्तके भी आगे गये कि, अन्य देवता एक परमेश्वरके स्वरूप हैं। परमेश्वर-सम्बन्धी कल्पना मनुष्य-बुद्धिकी एक अत्यन्त उच्च और उदात्त कल्पना है; परन्तु तत्वविवेचक दृष्टिके लिए ईश्वर सम्बन्धी कल्पना मानों एक बड़ा गूढ़ प्रश्न ही है। क्योंकि, परमेश्वरकी कल्पना सृष्टिके उत्पन्नकर्त्ता और पालनकर्त्ताके ही नातेसे हो सकती है; और सब देशों तथा सब लोगोंमें वह ऐसी ही पाई जाती है। परन्तु इस कल्पनाका मेल तात्विक अनुमानसे नहीं किया जा सकता। इसी कठिनाईके कारण कितने ही भारतीय तत्वज्ञानियोंने परमेश्वरकी कल्पना छोड़ दी है—अर्थात् वे यह मानते हैं कि ईश्वर नहीं है; अथवा वे इस विषयमें विचार ही नहीं करते कि ईश्वर है या नहीं। बुद्धसे जब एक बार किसी शिष्यने इस पर प्रश्न किया, तब उन्होंने उत्तर दिया—"क्या मैंने तुझसे कभी कहा है कि ईश्वर है? अथवा क्या कभी यही कहा है कि ईश्वर नहीं है?" तात्पर्य यह है कि बुद्धने ईश्वरके विषयमें मुग्धत्व स्वीकार किया था। कपिल भी निरीश्वरवादी थे, यही मानना पड़ता है। उनके सिद्धान्तमें पुरुष-सम्बन्धी कल्पना जगत्सृष्टिकर्त्ता परमेश्वरकी कल्पनासे भिन्न है। उनके मतसे प्रकृति जड़ जगत् है, जो पुरुषके सान्निध्यसे अपने स्वभावसे ही सृष्टि उत्पन्न करती है। ईश्वर-विषयक तत्व-विचार शुरू होने पर पहले

जो शंका उपस्थित होती है, वह यही है कि परमेश्वर जड़-सृष्टि और चेतन-आत्माको कैसे उत्पन्न कर सकता है? जड़-सृष्टि तो अविनाशी है; और चेतन आत्मा भी अविनाशी है, जो अविनाशी है वह अनुत्पन्न भी अवश्य होना चाहिए। जिसका नाश नहीं होता, उसकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। ऐसी दशामें यह सम्भव नहीं कि परमेश्वर जड़ और चेतनको उत्पन्न कर सके। और, यदि यह भी मान लिया जाय कि उसने उत्पन्न किया है, तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किससे उत्पन्न किया? इस पर कई लोग उत्तर देते हैं कि शून्यसे उत्पन्न किया। पर छान्दोग्य उपनिषद्में यह प्रश्न है कि "जो कुछ नहीं है उससे, जो कुछ है, वह कैसे उत्पन्न हो सकता है?" इसलिए यही सिद्ध होता है कि, कुछ न कुछ अव्यक्त अथवा अव्याकृत साधन, जड़-चेतनात्मक सृष्टिको उत्पन्न करनेके लिए होना चाहिए। इससे सृष्टिकी कल्पना नष्ट हो जाती है और केवल बनानेकी कल्पना शेष रह जाती है। यही मानना पड़ता है कि, जैसे कुम्हार मिट्टीका घट बनाता है, नवीन उत्पन्न नहीं करता, उसी प्रकार परमेश्वर, अनादि कालसे रहनेवाला कुछ न कुछ अव्यक्त लेकर उसकी सृष्टि करता है। अर्थात् यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि, ईश्वर और अव्यक्त, ये दो अमूर्त वस्तुएँ अनादिसे हैं; और उनमें समानताका सम्बन्ध है। परन्तु इससे परमेश्वर-सम्बन्धी कर्तुमन्यथाकर्तुं शक्तिकी कल्पनामें बाधा आ जाती है। प्लेटोनिज़म् अथवा प्लेटोके तत्वज्ञानमें जो मूल कठिनाई उत्पन्न हुई, वह यही है; क्योंकि एक ही वस्तुका स्थापित करना सब तत्वज्ञानोंका उद्देश्य रहता है। प्लेटोके तत्वज्ञानसे यह एकत्व सिद्ध न हो सका। सारी सृष्टिका विचार करते हुए और विवेक करते हुए दो वस्तुएँ शेष रहीं—मैटर अर्थात् अव्यक्त-जड़ और परमेश्वर। अव्यक्त चूँकि परमेश्वरसे भिन्न है, इसलिए परमेश्वर-सम्बन्धी कल्पनामें और शक्तिमें परिमाण (भौतिक) और बुद्धि (आध्यात्मिक) दोनों ओरसे न्यूनता आ जाती है। यही दोष कपिलकी प्रकृति और पुरुष, इन दो वस्तुओंके सिद्धान्तमें भी लगता है। ऊपर जो हमने यह विधान बतलाया है कि, सब तत्वज्ञानोंका उद्देश्य एकत्व सिद्ध करनेकी ओर रहता है, सो पाश्चात्य तत्वज्ञानियोंको भी स्वीकार है। आजकल रसायन शास्त्र, यह मानते हुए कि जगत्में अनेक अर्थात् सत्तरसे अधिक मूल तत्व हैं, यह सिद्ध करना चाहता है कि सारे जगत्में एक ही मूलतत्व भरा है। औपनिषदिक आर्य ऋषियोंने इस विषयमें जो कल्पना की है, वह मनुष्य-कल्पनाके अति उच्च शिखर पर जा पहुँची है; और जान पड़ता है कि यही कल्पना जगत्में अन्तमें स्वीकृत होगी। वेदान्त-कर्त्ता ऋषियोंने ऐसा माना है कि, परमेश्वर जो सृष्टि उत्पन्न करता है, वह अपनेसे ही उत्पन्न करता है। जैसे मकड़ी अपने शरीरसे जाला उत्पन्न करती है, उसी प्रकार परमेश्वर अपने शरीरसे ही जगत्को उत्पन्न करके, उसको प्रलयकालमें फिर अपनेमें ही विलीन करता है, उपनिषदोंमें और महाभारतमें भी बारम्बार यही बतलाया है कि यह जगत् परमेश्वरसे ही उत्पन्न होता है, परमेश्वरमें ही रहता है और उसीमें लयको प्राप्त होता है। इस सिद्धान्तको वेदान्तशास्त्रकर्त्ता अभिन्न निमित्तोपादान सिद्धान्त कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे घटका निमित्त कारण कुम्हार है और उपादान

कारण मिट्टी है, उस प्रकार जगत्‌का निमित्त कारण और उपादान कारण भिन्न नहीं है, किन्तु एक ही है । सृष्टि और स्रष्टा, जगत् और ईश्वर, प्रकृति और पुरुष, भिन्न भिन्न नहीं हैं: किन्तु एक ही हैं—अर्थात् जगत्‌में द्वैत नहीं है, अद्वैत है । यही उपनिषदोंका परम सिद्धान्त है । और, महाभारतमें भी यही प्रतिपादित किया गया है । यह पहले बतलाया ही जा चुका है कि जगत्‌का विकास किस क्रम-से होता है । शान्ति पर्व (अध्याय २७५) में, जैसा कि देवलने नारदसे बतलाया है, यह क्रमोत्पत्ति बतलाई गई है,* कि अक्षरसे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे ओषधि, ओषधियोंसे अन्न और अन्नसे जीव । यही क्रम उपनिषदों-में भी बतलाया गया है । इसके विरुद्ध क्रमसे सारी सृष्टिका लय होनेवाला है । अर्थात् वेदान्तका यह सिद्धान्त महा-भारतमें स्वीकार किया गया है कि सम्पूर्ण जगत्‌में एक ही तत्त्व भरा है, सारे जगत्-में एक परमेश्वर ही अन्दर-बाहर व्याप्त है: और जान पड़ता है कि यही सिद्धान्त प्रायः पाश्चात्य तत्त्वज्ञानियोंको भी स्वीकार होगा ।

सांख्योंके चौबीस तत्त्व ।

कपिलका सांख्य मत इस प्रकार द्वैती था: और आस्तिक अथवा वैदिक मतके तत्त्वज्ञानको मान्य न था । तथापि इस विषयके सांख्य-विचार अन्योंको स्वीकार होने योग्य थे कि सम्पूर्ण सृष्टि किस क्रमसे उत्पन्न हुई । किंबहुना, सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम पहले सांख्योंने ही निश्चित किया होगा: और उन पदार्थों-की संख्या उन्होंने ही नियत की होगी । इसी कारण उन्हें 'सांख्य' नाम प्राप्त हुआ है । कपिलका सांख्य मत यद्यपि इस प्रकार निरीश्वरवादी था और द्वैती भी था, तथापि सांख्य मतका आदर भारत-कालमें बहुत ही अधिक था । भगवद्गीता और महाभारतमें उनके मतका उल्लेख बारम्बार प्रशंसापूर्वक आता है । यह हमने पहले बतलाया ही है कि उनके मूल तत्त्व सिद्धान्त-रूपसे उनकी कारिका-में महाभारत कालके बाद ग्रथित हुए । महाभारत-काल और भगवद्गीताके समय-में भी सांख्य और योगके मत अस्पष्ट अथवा अस्थिर दशामें थे । यही कारण है कि महाभारतकार सांख्य और योग,

* शान्ति पर्व (अध्याय १८२) में भृगु-भारद्वाज-संवादमें सृष्टि-उत्पत्तिका क्रम भिन्न बतलाया है । उसके विषयमें यहां कुछ लिखना आवश्यक है । यह क्रम यद्यपि अन्य स्थानोंसे भिन्न है, तथापि जिस प्रकार भिन्न भिन्न उपनिषदोंके भिन्न भिन्न स्थानोंके भिन्न भिन्न क्रम एक ही व्यवस्थासे वेदान्त-सूत्रोंमें लगाये गये हैं, उसी प्रकार यहाँ-का भी क्रम पूर्वोक्त क्रमानुसार ही समझना चाहिए । भृगु कहते हैं, कि ब्रह्माजीने पहले जल उत्पन्न किया । "आप एव ससर्जादौ" ऐसा वचन भी अनेक जगह पाया जाता है । तुरन्त ही फिर आगे भृगु कहते हैं—"पहले आकाश उत्पन्न किया । उस समय सूर्य इत्यादि कुछ नहीं था । उस शून्य आकाशमें जैसे एक अन्धकारमें दूसरा अन्धकार उत्पन्न हो, उसी प्रकार जल उत्पन्न हुआ, और उस जलकी बाढ़में वायु उत्पन्न हुआ । जब घड़ा पानीसे भरने लगता है, उस समय जैसा शब्द होता है, उसी प्रकार आकाश जब पानीसे भरने लगा, तब वायु शब्द करने लगा । यह सशब्द उत्पन्न होनेवाला वायु ही अब भी आकाशमें संचार करता रहता है । वायु और जलके घर्षणसे अग्नि उत्पन्न हुआ: और आकाशमें अन्धकार नष्ट हो गया । वायुकी सहायतासे यह अग्नि आकाशमें जलको उड़ा देता है । वायुसे घनत्व पाया हुआ अग्निका भाग फिर पृथ्वी बनकर नीचे गिरा ।" यह उत्पत्ति कहाँसे ली गई है, सो बतलाया नहीं जा सकता । तथापि यह कल्पना सृष्टिके भिन्न भिन्न प्रत्यक्ष अनुभवको लेकर की गई है । अनेक सिद्धान्तोंमेंसे यह एक सिद्धान्त है । परन्तु अन्तमें यह एक ओर रह गया, और पूर्वोक्त तैत्तिरीय उपनिषद्का सृष्टि-उत्पत्ति-क्रम ही सर्वमान्य हो गया ।

दोनों तत्त्वज्ञानोंको रूपान्तर देकर आस्तिक मतमें उनका समावेश कर सके। यह समावेश महाभारतकारने कैसे किया, इसका विचार करना बहुत मनोरञ्जक होगा। सांख्योंका मुख्य कार्य सृष्टिके पच्चीस तत्त्व नियत करना था। ये पच्चीस तत्त्व कौनसे हैं, यह महाभारतमें जगह जगह बारम्बार बतलाया गया है। एक संवाद उदाहरणार्थ कराल संज्ञक जनकका और वसिष्ठका इस विषय पर दिया हुआ है, उसीको हम यहाँ लेते हैं। जनक राजवंशका नाम था, किसी एकही राजाका नाम न था। इसी लिए महाभारतमें जनकको कराल इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिये हैं। सुलभा-जनक-संवादमें जनकका नाम धर्मध्वज था। इस अध्यायमें यह स्पष्ट कहा है कि इसमें सांख्य-दर्शनका स्पष्टीकरण किया है। शान्ति पर्व अध्याय ३०६ से ३०८ तक यह विषय दिया हुआ है। सांख्योंके २५ तत्त्व इस प्रकार हैंः— १ प्रकृति, २ महत्, ३ अहङ्कार, ४-८ पंचसूक्ष्मभूत, ये आठ तत्त्व मूल प्रकृति हैं। इसके आगे पाँच स्थूलभूत, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व होते हैं; और सम्पूर्ण जगत्के प्रत्येक पदार्थमें, अथवा प्राणीमें—फिर चाहे वह देवता हो, मनुष्य हो, अथवा पशु या कीट हो—ये चौबीस तत्त्व होते हैं। पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष अथवा आत्मा है।

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः।
तस्मान्महत् समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम॥
अहंकारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम्।
पंचभूतान्यहंकारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः॥
एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश।
पंच चैव विशेषा वै तथापञ्चेन्द्रियाणि च॥
(शांति पर्व अ० ३०३)

अन्तिम श्लोकका अर्थ ठीक ठीक नहीं लगता। तथापि सम्पूर्ण श्लोकका तात्पर्य ऊपर दिया हुआ है। इन चौबीस तत्वोंके प्रतिपादनको ज्ञाता लोगोंने सांख्यशास्त्र नाम दिया है। सांख्यशास्त्रमें ये चौबीस तत्व किस कारणसे अथवा किस अनुमान-परम्परासे नियत किये गये हैं, सो बतलाना कठिन है। इस बातकी उपपत्ति हमें महाभारतमें नहीं मिलती कि मूल अव्यक्त प्रकृति और सूक्ष्म पंचमहाभूतोंके मध्य दो तत्व, अर्थात् महत् और अहंकार किन कारणोंसे रखे गये हैं। अथवा अनुमान परम्परासे उनकी कल्पना नहीं होती। तथापि उपनिषदोंसे यह भी मालूम होता है कि उपनिषद्कालमें भी एक महत् तत्व आत्मासे निकला हुआ माना गया है। इसी भाँति स्थूल पञ्चमहाभूत और सूक्ष्म पंचमहाभूतको भिन्न भिन्न माननेका प्रयोजन नहीं दिखाई देता, अथवा अनुमानसे ध्यानमें नहीं आता। जो सोलह विकृतियाँ नियत की गई हैं, वे स्पष्ट ही हैं। उनकी कल्पना करनेमें विशेष बुद्धिमत्ताकी आवश्यकता नहीं। पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय और पंचकर्मेन्द्रिय और मन, ये बातें परिगणित करनेमें विशेष तत्व-विवेचनकी आवश्यकता नहीं। सांख्योंका बड़ा सिद्धान्त प्रकृति-पुरुष-विवेक है। सांख्योंका मत महाभारत-कालमें इतना लोकमान्य हुआ था कि महाभारतने जगह जगह उसका और वेदान्त मतका एकीभाव दिखलानेका प्रयत्न किया है। प्रकृतिको क्षेत्र कहा है और पुरुषको प्रकृतिका जाननेवाला क्षेत्रज्ञ कहा है। लिखा है कि प्रकृतिमें पुरुष रहता है, अतएव उसकी पुरुष संज्ञा है। पुरु कहते हैं क्षेत्रको; ऐसी उसकी उपपत्ति लगाई है। जैसे क्षेत्र अव्यक्त है, वैसे ही ईश्वर भी अव्यक्त है। और, जिसका वस्तुतः तत्वमें अन्तर्भाव नहीं होता, और जिससे

श्रेष्ठतर और कुछ नहीं है, उस परमात्मा-को पचीसवाँ तत्व, प्रतिपादनके सुभीतेके लिए, मानते हैं। इस प्रकार सांख्य-शास्त्र-के मत हैं। सांख्य-वेत्ता प्रकृतिको जगत्-का कारण मानकर स्थूल, सूक्ष्मके क्रमसे खोज करते हुए सब प्रपञ्चका चिदात्मा-में लय करके साक्षात्कारका अनुभव प्राप्त करते हैं (शांति प० अ० २०६)। इस प्रकार सांख्य-शास्त्र और वेदान्त-शास्त्रकी परिणालिको एक करनेका प्रयत्न महा-भारतने किया है। यही नहीं, बल्कि कई जगह सांख्योंके महत् और योगके महान्-का ब्रह्मा अथवा विरञ्चि या हिरण्यगर्भसे मेल मिलाया गया है।

महानितिच्च योगेषु विरिंचिरिति चाप्यजः।
सांख्ये च पठ्यते योगे नामभिर्बहुधात्मकः॥
(शान्ति पर्व अ० ३०३)

जैसे वेदान्तमें परमात्मासे पुरुषका मेल मिलाया गया है, वैसे ही पुराणोंने उसका मेल शिव और विष्णुसे मिलाने-का प्रयत्न किया है।

यह नहीं मालूम होता कि सांख्योंके पचीस तत्व एक दम नियत हुए। यह माननेके लिए स्थान है कि वे धीरे धीरे नियत हुए। शांति पर्वके भीष्मस्तवराजमें परमेश्वरकी भिन्न भिन्न रीतिसे स्तुति की गई है। उसमें सांख्य-स्वरूपसे ईश्वर-स्तुति करते हुए जो परमेश्वर सत्रहवें तत्व स्वरूपमें है, उस परमेश्वरकी स्तुति की है। "जिस परमेश्वरके विषयमें ज्ञानी लोग यह समझते हैं कि वह स्वस्वरूपसे सर्वोदित रहते हुए भी जागृति, स्वप्न और सुषुप्त, तीनों अवस्थाओंमें आत्मा, पञ्चमहाभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ, इन सोलहोंसे युक्त होनेके कारण सत्रहवाँ है, उस सांख्य स्वरूपी परमात्माको नम-स्कार है।"

यं त्रिधात्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः॥

इस श्लोकमें यद्यपि यह स्पष्ट नहीं बतलाया है कि परमात्मा सत्रहवाँ कैसे है, तथापि सोलह गुण स्पष्टतया बतलाये गये हैं। अर्थात् जैसा कि टीकाकारने कहा है, ११ इन्द्रियाँ और ५ महाभूत लेने-से परमात्मा सत्रहवाँ होता है। ऐसा तर्क होता है कि, सांख्योंकी प्रकृतिमें सोलह गुण मूलके होंगे, और आगे उनमें ८ प्रकृति इत्यादि अविकृत और भी शामिल हो गये होंगे। परन्तु यह सांख्यों-की बाढ़ भारत-कालमें ही हुई थी, यह बात निर्विवाद है। भीष्मस्तवराज महा-भारतका पुराना भाग है। महाभारतमें सांख्योंके तत्व प्राचीन कालमें १७ थे, वे आगे चलकर २४ हुए। यह बात जैसे उपर्युक्त विवेचनसे मालूम होती है, उसी प्रकार यह भी मालूम होता है कि, इन चौबीस तत्वोंकी एक कल्पना भी प्राचीन कालमें निश्चित न थी। क्योंकि अन्यत्र ये चौबीस तत्व भिन्न भिन्न रीतिसे परि-गणित किये हुए हमारी दृष्टिमें आते हैं। वनपर्वके युधिष्ठिर-व्याध आख्यानमें ये तत्व इस प्रकार बतलाये हैं:—

महाभूतानि खं वायुरग्निरापश्च ताश्च भूः।
शब्दःस्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥
षष्ठश्च चेतना नाम मन इत्यभिधीमते।
सप्तमो तु भवेद्बुद्धिरहंकारस्ततः परम्॥
इन्द्रियाणि च पञ्चात्मा रजः सत्वं तमस्तथा।
इत्येव सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः॥
सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयोगुणः॥
(वन० अ० २१०)

इन श्लोकोंमें बतलाये हुए चौबीस तत्व ऊपर बतलाये हुए तत्वोंसे भिन्न हैं। परन्तु ये तत्व यहाँ सांख्योंके नहीं बत-लाये गये हैं। अन्य स्थानोंमें भी चौबीस

तत्वोंका ही उल्लेख आता है। यही नहीं, किन्तु पच्चीसवें तत्व पुरुषका जब उत्तम रीतिसे परमेश्वरसे मेल न खाने लगा, तब महाभारतकारने परमात्माको पुरुष-से आगे २६ वाँ तत्व भी मान लिया। इसका दिग्दर्शन हमको शांति० अ० ३१६ में ही मिलता है।

यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति।
तदा स सर्वविद् विद्वान् न पुनर्जन्म विंदते॥

इस श्लोकमें सांख्योंके पच्चीस तत्व पूर्णतया गृहीत किये गये हैं; और सांख्य तथा वेदान्तकी इस प्रकारकी एकवाक्यता करनेका प्रयत्न किया गया है कि, परमेश्वर इन पच्चीस तत्वोंके भी आगेका, अर्थात् २६ वाँ है। इस विषयमें भी कुछ गड़बड़ है कि, ये तत्व कौनसे हैं। पाँच गुण, छठवाँ मन अथवा चेतना, सातवीं बुद्धि, आठवाँ अहंकार, पाँच इन्द्रियाँ और जीव मिलकर १४ और सत्व, रज, तम मिलकर १७। इन सत्रह वस्तुओंके समुदायको अव्यक्त संज्ञा मिली है। इनमें पाँच महाभूतोंका समावेश नहीं है। उनका समावेश करके आगेके श्लोकके अनुसार २२ होते हैं। और व्यक्त अव्यक्त मिलकर २४ होते हैं; तिस पर भी महाभारतमें कुछ भिन्न सम्बन्ध दर्शाया है। सांख्योंकी सत्रह और चौबीस संख्या यहाँ व्याधने ली है। परन्तु पदार्थोंको तत्व नहीं कहा है, अथवा यह भी नहीं कहा है कि, यह सांख्योंका मत है।

पुरुषोत्तम।

जान पड़ता है कि सांख्योंकी सर्वमान्यता भगवद्गीताके कालमें भी पूर्णतया प्रस्थापित हो चुकी थी। भगवद्गीताने सांख्योंका पुरुष लेकर उसके भी आगे जानेकी अपनी इच्छा भिन्न रीतिसे व्यक्त की है। कहा है कि सांख्योंका पुरुष भी एक अव्यक्त है और प्रकृति भी एक अव्यक्त है; दोनों क्षराक्षर हैं; और दोनोंके भी आगे रहनेवाला एक भिन्न तत्व है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एवच।

इस श्लोकमें दोनोंको पुरुष कहकर

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

इस श्लोकके अनुसार परमेश्वरको पुरुषोत्तमकी संज्ञा दी है। इस संज्ञामें सांख्योंका पुरुष आधारभूत लेकर उससे परमात्माकी एकवाक्यता करनेका प्रयत्न करते हुए, परमेश्वरको उससे भी श्रेष्ठ पदवी दी है। परब्रह्म अथवा परमात्माकी एकवाक्यता सांख्योंके पुरुषसे वास्तविक रीतिसे नहीं हो सकती।

सृष्टि क्यों उत्पन्न हुई?

यह देखते हुए कि, तत्वज्ञानका विचार भारतवर्षमें कैसा बढ़ता गया, हम यहाँ पर आ पहुँचे। अद्वैत वेदान्ती मानते हैं कि, निष्क्रिय अनादि परब्रह्मसे जड़ चेतनात्मक सब सृष्टि उत्पन्न हुई, किन्तु कपिलके सांख्यानुसार पुरुषके सान्निध्यसे प्रकृतिसे जड़-चेतनात्मक सृष्टि उत्पन्न हुई। अब, इसके आगे ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि, जो परब्रह्म अक्रिय है, उसमें विकार उत्पन्न ही कैसे होते हैं? अथवा जब कि प्रकृति और पुरुषका सान्निध्य सदैव ही है, तब भी सृष्टि कैसे उत्पन्न होनी चाहिए? तत्वज्ञानके इतिहासमें यह प्रश्न अत्यन्त कठिन है। एक ग्रन्थकारके कथनानुसार, इस प्रश्नने सब तत्वज्ञानियोंको—सम्पूर्ण दार्शनिकोंको—कठिनाईमें डाल रखा है। जो लोग ज्ञानसम्पन्न चेतन परमेश्वरको मानते हैं, अथवा जो लोग केवल जड़ स्वभाव प्रकृतिको मानते हैं, उन दोनोंके लिए भी यह प्रश्न समान ही कठिन है। नियोप्लेटो-

निस्ट (नवीन प्लेटोमतवादी) यह उत्तर देते हैं कि—"यद्यपि परमेश्वर निष्क्रिय और निर्विकार है, तथापि उसके आसपास एक क्रियामंडल इस भाँति घूमता रहता है, जैसे प्रभामंडल सूर्यबिम्बके आसपास घूमता रहता है। सूर्य यद्यपि स्थिर है, तो भी उसके आसपास प्रभाका चक्र बराबर फिरता ही रहता है। सभी पूर्ण वस्तुओंसे इसी प्रकार प्रभामण्डलका प्रवाह बराबर बाहर निकलता रहता है।" इस प्रकार निष्क्रिय परमेश्वरसे सृष्टिका प्रवाह सदैव जारी रहेगा। ग्रीस देशके अणुसिद्धान्तवादी ल्युसिपस् और डिमाक्रिटस्का कथन है कि, जगत्का कारण परमाणु हैं। ये परमाणु कभी स्थिर नहीं रहते। गति उनका स्वाभाविक धर्म है; और वह अनादि तथा अनन्त हैं। उनके मतानुसार जगत् सदैव ऐसे ही उत्पन्न होता रहेगा और ऐसे ही नाश होता रहेगा। परमाणुओंकी गति चूँकि कभी नष्ट नहीं होती, अतएव यह उत्पत्ति-विनाशका क्रम कभी थम नहीं सकता। अच्छा, अब इन निरीश्वरवादियोंका मत छोड़कर हम इसका विचार करते हैं कि, ईश्वरका अस्तित्व माननेवाले भारतीय आर्य दार्शनिकोंने इस विषयमें क्या कहा है। उपनिषदोंमें ऐसा वर्णन आता है कि "आत्मैव इदमग्र आसीत् सोमन्यत बहुस्याम् प्रजायेति।" अर्थात् "पहले केवल परब्रह्म ही था। उसके मनमें आया कि मैं अनेक होऊँ—मैं प्रजा उत्पन्न करूँ।" अर्थात् निष्क्रिय परमात्माको पहले इच्छा उत्पन्न हुई; और उस इच्छाके कारण उसने जगत् उत्पन्न किया। वेदान्त तत्वज्ञानमें यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। वेदान्तसूत्रोंमें बादरायणने "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" यह एक सूत्र रखा है। जैसे लोगोंमें, कुछ काम न होने पर मनुष्य अपने मनोरञ्जनके लिए केवल खेल खेलता है, उसी प्रकार परमेश्वर लीलासे जगत्का खेल खेलता है।

यह सिद्धान्त भी अन्य सिद्धान्तोंकी भाँति ही सन्तोषजनक नहीं है। अर्थात् परमेश्वरकी इच्छाकी कल्पना सर्वथैव स्वीकार होने योग्य नहीं है। परमेश्वर यदि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और दयायुक्त है, तो लीला शब्द उसके लिए ठीक नहीं लगता। यह बात सयुक्तिक नहीं जान पड़ती कि, परमेश्वर साधारण मनुष्यकी तरह खेल खेलता है। इसके सिवा परमेश्वरकी करनीमें ऐसा क्रूरतायुक्त व्यवहार न होना चाहिए कि, एक बार खेल फैलाकर फिर उसे बिगाड़ डाले। महाभारतमें भिन्न भिन्न जगह ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि, प्रायः उत्पत्ति और संहारका क्रम किसी न किसी नियम और कालसे ही होता रहता है। भगवद्गीतामें यही बात एक अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्तसे वर्णित की गई है। उस रूपकमें हमको आजकलका विकासवादसा प्रतिबिम्बित हुआ दिखाई देता है। जगत्का उत्पत्ति-काल एक कल्पका माना गया है। वह ब्रह्माजीका एक दिन है; और जगत्का संहार-काल ब्रह्माजीकी एक रात है। ऐसा कहकर गीतामें कहा है कि,

> अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः
>
> प्रभवन्त्यहरागमे।
>
> रात्र्यागमे प्रलीयन्ते
>
> तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

जिस प्रकार, जब सुबह होनेका समय आता है उस समय, धीरे धीरे अन्धकारमें संसार प्रकाशमें आकर दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार सृष्टिके आरम्भमें अव्यक्तसे भिन्न भिन्न व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं; और सन्ध्याकालके बाद जब रात आने

लगती है, तब जिस प्रकार संसार धीरे धीरे अदृश्यसा होता जाता है, उसी प्रकार सृष्टिके संहारकालमें भिन्न भिन्न व्यक्तियाँ एक अव्यक्तमें लयको प्राप्त होती हैं। यहाँ हमको कहना पड़ता है कि, यह नियमसे और नियतकालसे होनेवाला खेल नहीं है। खेल तो चाहे जब भंग किया जा सकता है। अस्तु। इस प्रश्नका सन्तोष-जनक उत्तर देना असम्भव है; और इसी लिए श्रीमत् शङ्कराचार्यने वेदान्तसूत्रोंके भी आगे जाकर ऐसा कहा है कि, यह वचन इस कल्पनासे कहा गया है कि, संसार हमको दिखलाई देता है; परन्तु जगत्का उत्पन्न होना ही वास्तवमें आभास है। वास्तवमें जगत्का अस्तित्व ही नहीं है। संसार न उत्पन्न हुआ है और न लयको ही प्राप्त हुआ है। निष्क्रिय परमेश्वरका रूप जैसा है, वैसा ही है। परमेश्वरके तईं जगत्का आभाससा मालूम होता है। श्रीमत् शङ्कराचार्यका यह मायावाद महाभारतमें कहाँतक है, इसका विचार अन्यत्र किया जा सकेगा। हाँ, शङ्कराचार्यजीने इस कल्पनासे इस कठिन प्रश्नको बहुत अच्छी तरह हल किया है। उद्योग पर्वके सनत्सुजातीय आख्यानमें इस विषयमें सरल ही प्रश्न किया गया है—

कोसौ नियुंक्ते तमजं पुराणम।
सचेदिदं सर्वमनुक्रमेण॥
किं वास्य कार्यमथवा सुखं च
तन्मे विद्वान्ब्रूहि सर्वं यथावत्॥

"उस पुराण अजन्मा परब्रह्मको, उत्पत्ति करनेके लिए, कौन बाध्य करता है? यदि यह सब दृश्य क्रमशः वही हुआ है तो उसका कार्य क्या है, अथवा उसमें उसको क्या सुख होता है? आप विद्वान् हैं इसलिए यह मुझे यथातथ्य बतलाइए।" यह प्रश्न धृतराष्ट्रने सनत्सुजातसे किया है। सनत्सुजातने इस पर जो उत्तर दिया, यह अवश्य ही रहस्यमय है और ऐसा है, जो समझमें नहीं आता; क्योंकि यह प्रश्न ही ऐसा कठिन है। सनत्सुजातने कहा:—

दोषो महानत्र विभेदयोगे,
अनादियोगेन भवन्ति नित्याः।
तथास्य नाधिक्यमपैति किंचि-
दनादियोगेन भवन्ति पुंसः॥

इस श्लोकका अर्थ लगना कठिन है; और टीकाकारने इस जगह श्रीमत् शङ्कराचार्यजीका मायावाद लेकर ऐसा तात्पर्य निकाला है कि, यह विश्वास वास्तवमें स्वप्नवत् है।

य एतद्वाभगवान्स नित्यो
विकारयोगेन करोति विश्वम्।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते
तथार्थवेदे च भवन्ति वेदाः॥

जो सत्य और नित्य है, वह परब्रह्म है। वही विकार योगसे विश्व उत्पन्न करता है; और यह माननेके लिए वेदोंका ही आधार है कि, उसकी वैसी शक्ति है।

इस प्रश्नका निपटारा सांख्योंने बहुत ही भिन्न प्रकारसे किया है। उनका कथन यह है कि, प्रकृतिमें सत्व, रज और तम, ये तीन गुण हैं। परन्तु ये तीनों गुण सदैव न्यूनाधिक परिमाणमें रहते हैं। जिस समय ये तीनों गुण साम्यावस्थामें रहते हैं, उस समय यह दृश्य जगत् अथवा व्याकृत सृष्टि उत्पन्न नहीं होती। परन्तु जिस समय इन त्रिगुणोंके साम्यमें न्यूनाधिकता होकर गड़बड़ी पैदा होती है, उस समय सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। परन्तु इस कल्पनासे पूर्वोक्त प्रश्नका खुलासा नहीं होता। वह वैसा ही रह जाता है। पूछा जा सकता है कि त्रिगुणोंकी साम्यावस्था में ही अन्तर क्योंकर पड़ता है? यदि यह माना जाय कि, पुरुषके सान्निध्यके कारण यह अन्तर

होता है, तो कहना पड़ेगा कि पुरुषका साम्निध्य तो सदैव ही रहता है। ऐसी दशामें त्रिगुणोंकी साम्यावस्था कदापि नहीं होगी; और सृष्टिका लय कभी नहीं होगा। यह सिद्धान्त हमको आगे बिलकुल ही नहीं ले जाता, और न हमारे सामने रहनेवाले कूटकका हल होता है। महाभारतके सांख्यदर्शनके विवेचनमें इस सिद्धान्तका कहीं समावेश नहीं किया गया है। परन्तु इतनी बात अवश्य सच है कि सांख्योंके माने हुए प्रकृतिके तीन गुण अवश्य ही भारती आर्योंके सब तत्वज्ञानोंमें स्वीकार हुए हैं और गृहीत किये गये हैं। उपनिषत्कालमें सत्व, रज, तम, इन गुणोंके विषयमें उल्लेख नहीं है; और प्राचीन दशोपनिषत्कालमें, जैसा हमने कहा है, सांख्य तत्वज्ञानका उदय नहीं हुआ था; अतएव त्रिगुणोंका नाम दशोपनिषद्में नहीं आता। परन्तु इसके बादके सब तत्वज्ञानके विचारोंमें त्रिगुणोंका उल्लेख सदैव आता है। उपनिषदोंके इधर तो, त्रिगुणका विषय, तात्विक विचारोंके लिए एक आधारस्तम्भ ही हो जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में सांख्य और योग, इन्हीं तत्वज्ञानोंका उल्लेख नहीं है, किन्तु ब्रह्माके लिए त्रिगुणातीतका विशेषण भी लगाया है। महाभारतके बाद तो प्रत्येक तत्वज्ञान-विषयक चर्चामें त्रिगुणोंका उल्लेख आवश्यक हो गया है। सारांश यह है कि, महाभारतकालके तत्वज्ञानके लिए त्रिगुण एक निश्चित भाग है।

त्रिगुण

सांख्योंका प्रकृति-पुरुष विवेक जैसा एक महत्वपूर्ण आविष्कार है, उसी भाँति त्रिगुणोंकी कल्पना भी अत्यन्त महत्वकी है। भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे इस जगत्का विचार करते हुए, उसमें जो उच्च-नीच हजारों भाव देखनेमें आते हैं, उनका वर्गीकरण करना तत्वज्ञानका मुख्य कार्य है। यहाँ तत्वज्ञानका दूसरा अत्यन्त कठिन प्रश्न उपस्थित होता है। हम देखते ही हैं कि, जगत्में सुख-दुःख, सुरूप-कुरूप, सद्गुण-दुर्गुणके न्यूनाधिक परिमाणसे हजारों भाव भरे हुए हैं; तब फिर क्या जगत्की बुरी वस्तुएँ, घृणित पदार्थ, दुखी प्राणी परमेश्वरने ही पैदा किये हैं? ये परमेश्वरने क्यों उत्पन्न किये? परमेश्वर यदि सर्वशक्तिमान् और सब पर दया करनेवाला है, तो उसकी रची हुई सृष्टिमें अपूर्णता क्यों दिखलाई देती है? इस बातके लिए तत्वज्ञानियोंको बहुत सोचना पड़ता है कि, जगत्की भौतिक सृष्टिके असंख्य रोग और भिन्न भिन्न प्रकारके दुःख किन कारणोंसे उत्पन्न हुए। भिन्न भिन्न सिद्धान्ती इसका भिन्न ही भिन्न जवाब भी देते हैं। प्लेटोके नवीन मतवादियोंका सिद्धान्त बड़ा विचित्र है। उनका मत है कि—"जड़ अव्यक्तमें एक प्रकारकी प्रतिरोधशक्ति होती है; अतएव ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार अथवा इच्छाके अनुसार उस अव्यक्तका स्वरूप व्यक्त होनेमें विघ्न उत्पन्न होता है; और इस कारण सृष्टिमें दिखाई देनेवाले दोष अथवा अपूर्णता उत्पन्न होती है। अर्थात् प्रकृति, पुरुषकी आज्ञा पूर्णतया स्वीकार नहीं करती, सदैव झगड़ा करती है, इस कारण अधिकांश सृष्टिमें न्यूनता दिखाई पड़ती है। इसी भाँति आध्यात्मिक सृष्टिमें भी भौतिक इन्द्रियाँ आत्माकी आज्ञा पूर्णतया नहीं मानतीं। आत्मा यद्यपि परमात्माका अंश है, वह स्वयं सद्गुणपूर्ण है, तथापि जड़के सान्निध्यसे उस पर आवरण पड़ता है; और इस कारण, कुछ कालके लिए उसका देहविषयक स्वामित्व नष्ट हो जाता है। अतएव जगत्में दुर्गुणोंका प्रादुर्भाव

दिखाई पड़ता है।" पारसी लोगोंने इस विषयमें एक निराली ही कल्पना की है। उनके मतानुसार जगत्में दो तत्त्व सदैव ही प्रचलित रहते हैं। एक अच्छा और एक बुरा, एक सद्गुणी और एक दुर्गुणी। दोनों-के देवता भी स्वतन्त्र हैं; और सदैव उनका झगड़ा जारी रहता है। परमेश्वर अच्छेका अधिष्ठाता है; और उसे उन्होंने आहुर्मस्द् (इसीका रूपान्तर होर्मज्) नाम दिया है। बुरेका अधिष्ठाता अहरिमन् है, उसका आहुर्मस्द्से सदैव विवाद होता रहता है। अन्तमें आहुर्मस्द्की ही विजय होनेवाली है; तथापि, कमसे कम वर्तमान समयमें संसारमें जो दुर्गुण, दुःख, रोग, संकट, दुर्भिक्ष, इत्यादि दिखाई देते हैं, उन्हें अहरिमन् ही उत्पन्न करता है। परन्तु उनका नाश करके आहुर्मस्द् लोगोंको सुख भी देता है। पर्शियन लोगोंकी यही कल्पना ज्यू और क्रिश्चियन मतमें ईश्वर और शैतानके स्वरूपमें दिखाई पड़ती है। कपिलने ऐसा सिद्धान्त किया कि, दो-की जगह तीन तत्त्व जगत्में भरे हैं: अच्छा, मध्यम और बुरा। इन्हींको उन्होंने सत्त्व, रज और तम नाम दिया। मैटर अथवा अव्यक्त अथवा प्रकृतिके ही ये गुण हैं: और इन्हीं गुणोंके न्यूनाधिक मिश्रणसे देवता, दैत्य, मनुष्य, वृक्ष, शिला, इत्यादि सब ऊँचे-नीचे स्थावर-जङ्गम पदार्थ बने हैं। इन तीन गुणोंके न्यूनाधिक प्रभावसे ही सुख, दुःख, ज्ञान, मोह, नीति, अनीति, इत्यादि आध्यात्मिक भाव दिखाई देते हैं। कपिलकी यह कल्पना इतनी सुन्दर और सयुक्तिक है कि, भारती आर्योंके तत्त्वज्ञानमें वह पूर्णतया प्रस्थापित हो गई है। यह नहीं कि, त्रिगुणोंका अस्तित्व केवल सांख्यों-ने ही मान्य किया हो। किन्तु वेदान्त, योग, कर्म, इत्यादि सब सिद्धान्तवादियों-ने उसे माना है। भगवद्गीतामें त्रिगुणोंका विवेचन बहुत ही उत्तम रीतिसे किया गया है। वह भौतिक और आध्यात्मिक सारी सृष्टिके लिए लगाकर दिखलाया गया है। यहाँ पर यह बात बतलानी चाहिए कि भारती आर्योंके तत्वज्ञानमें यह सिद्धान्त कदापि स्वीकार नहीं हुआ है कि, बुरा परमेश्वरने उत्पन्न नहीं किया, किन्तु उसे परमेश्वरके मतके विरुद्ध, किसी न किसी दूसरेने जगत्में पैदा किया है। भगवद्गीतामें स्पष्टतया कहा है कि, तीनों गुण परमेश्वरने ही उत्पन्न किये हैं: और अच्छी वस्तुएँ तथा क्रियाएँ जैसे परमेश्वरसे उत्पन्न होती हैं, वैसे ही बुरी भी होती हैं। परन्तु परमेश्वर इन दोनोंमें नहीं रहता।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्ता-मसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

(भगवद्गीता)

हमारे मतसे भारतीय तत्त्वज्ञानकी यह विशेषता है कि, उन्होंने तत्त्वज्ञानमें आनेवाले दो कठिन प्रश्नोंका बहुत ही मार्मिक रीतिसे विवेचन किया है। इस प्रश्नका, कि जड़ और चेतन सृष्टि कहाँसे उत्पन्न हुई, उन्होंने यह जवाब दिया है कि, परमेश्वरसे परमेश्वरने ही उत्पन्न की। अर्थात् उसकी विशेषता यह है कि, जड़ चेतनका द्वैत उन्होंने निकाल डाला। अन्य तत्वज्ञानियोंकी भाँति—फिर चाहे वे प्राचीन हों, अथवा अर्वाचीन हों—यदि उन्होंने चेतन अर्थात् जीव या आत्माको परमेश्वर माना, तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। परन्तु उन्होंने चेतनके साथ ही साथ जड़को भी परमेश्वरस्वरूप माना। उनकी यह कल्पना बहुत ही उच्च है। यही नहीं, आधुनिक वैज्ञानिक आवि-ष्कारोंकी भाँति, वह सच भी होना चाहती है। हमारे तत्त्वज्ञानियोंके लिए जड़

और चेतनमें अनुल्लंघ्य भेद ही नहीं रहा। सब तत्त्वज्ञानका मूलभूत हेतु जो एकत्व सिद्ध करना है, उसे इन तत्त्वज्ञानियोंने अपनी बृहत् कल्पना-शक्तिकी सहायतासे पूर्ण करके यह सिद्धान्त स्थापित किया कि, जगत्में एक ही तत्त्व भरा हुआ है। तत्त्वज्ञानीको दूसरी कठिनाई संसारके सुख-दुःख, अच्छे-बुरे, नीति-अनीति इत्यादिके विषयमें पड़ती है। इस कठिनाईको हल करनेके लिए भी द्वैतको अलग कर उन्होंने ऐसा माना है कि, सब उच्च-नीच भाव परमेश्वरसे ही उत्पन्न हुए हैं: और परमेश्वरसे अलग कोई अहरिमन या शैतान नहीं है।

अस्तु: यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि, भारती आर्य तत्त्वज्ञानियोंकी भौतिक सृष्टिकी विचिकित्सा अपूर्ण है। यह ध्यानमें रखना चाहिए कि, अर्वाचीन तत्त्वज्ञानकी इस विषयमें बेकनके कालसे ही प्रगति हुई। जबसे बेकनके यह प्रतिपादित किया कि, प्रयोग और अनुभवका महत्त्व प्रत्येक शास्त्र और तत्त्वज्ञानमें है, तबसे पाश्चात्य भौतिक शास्त्रोंकी बहुत कुछ उन्नति हुई है। प्राचीन कालमें प्राच्य अथवा पाश्चात्य तत्त्वज्ञानमें केवल कल्पना और अनुमानोंका आधार लिया जाता था। इसके अतिरिक्त, आध्यात्मिक विचारोंमें प्रयोग अथवा अनुभवको स्थान ही नहीं है। ये विचार केवल तर्क अथवा अनुमान पर अवलम्बित हैं। मनुष्यकी बुद्धिमत्तासे जितना हो सकता है, उतना आध्यात्मिक विचार प्राचीन भारतीय आर्योंने किया है: और इस विचारमें भारतीय आर्य सब लोगोंमें अग्रणी हैं। ग्रीक लोग जिस प्रकार भौतिक विचार अथवा कला-कौशलमें अग्रणी थे, अथवा रोमन लोग जैसे कानूनके तत्त्वविचारमें अग्रणी थे, वैसे ही भारती आर्य आध्यात्मिक विचारमें अग्रणी थे; और अब भी हैं। उनके आध्यात्मिक विचार अब भी सारे संसारके लोगोंको आश्चर्यमें डाल रहे हैं। आत्मा क्या पदार्थ है, उसका स्वरूप क्या है, उसकी आगेकी गति क्या है, इत्यादि बातोंके विषयमें प्राचीन ऋषियोंने बहुत अधिक विचार किया है। उन्होंने अपने विचार वक्तृत्वपूर्ण वाणीसे उपनिषदोंमें लिख रखे हैं; और उन्हींका विस्तार महाभारतमें किया गया है। आत्माही सारे जगत्का चेतन करनेवाला मूलभूत पदार्थ है। वह सम्पूर्ण जगत्के भौतिक और बौद्धिक तत्त्वके मूलमें है। यह बात अरिस्टाटलने भी स्वीकार की है। पंचशिखका कथन है—"जब कि मरणके बाद चेतन क्रिया बन्द हो जाती है, तब अवश्य ही चेतन आत्मा जड़के भीतर रहनेवाला एक भिन्न है।" पाश्चात्य भौतिक शास्त्रियोंको—पाश्चात्य वैज्ञानिकोंको—अभीतक यह रहस्य नहीं मालूम हुआ कि जीव क्या पदार्थ है।

प्राण।

जीवका मुख्य लक्षण प्राण है: क्योंकि सम्पूर्ण जीवित वस्तुएँ श्वासोच्छ्वास करती हैं। अर्थात् प्राण कहते हैं जीवको, और जीव कहते हैं आत्माको। यह आत्मा ईश्वरस्वरूप है, परब्रह्मका अंश है। इस प्रकार प्राणका परब्रह्मसे सम्बन्ध है। प्राणका भारतीय तत्त्वज्ञानियोंने खूब अध्ययन किया: और अध्ययन तथा तर्कसे उन्होंने उसके विषयमें कितने ही सिद्धान्त बाँधे हैं। प्राणके मुख्य पाँच भाग उन्होंने कल्पित किये हैं: और पाँच इन्द्रियों तथा पाँच भूतोंकी भाँति ही उनके भिन्न भिन्न स्थान बतलाये हैं।

प्राणात्प्रणीयतेप्राणी व्यानात्व्यायच्छते तथा।
गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानोहृद्यवस्थितः॥

उदानादुच्छ्वसिति प्रतिभेदाश्च भाषते ।
इत्येवं वायवः पंच चेष्टयन्तीह देहिनम् ॥

प्राणवायुसे मनुष्य जीवित रहता है। व्यानसे मनुष्य बोझ उठाता है। अपानसे मलमूत्रोत्सर्ग करता है। समानसे हृदयकी क्रिया चलती है। उदानसे उच्छ्वास अथवा भाषण होता है। इस प्रकार ये भेद बतलाये हैं; और इन सबके समूहका नाम प्राण है। प्राणोंका निरोध करके प्राणायाम करनेकी, सिद्ध दशा प्राप्त करनेवाली युक्तिका भी विचार योगशास्त्रने खूब किया है। प्राणायामका मार्ग कहाँतक सफलतापूर्ण है, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। परब्रह्मस्वरूपसे प्राणकी प्रशंसा उपनिषदोंमें अनेक जगह आई है; और महाभारतमें भी बहुत आई है। भगवद्गीतामें प्राण और अपान, दोनोंका अर्थ "भीतर और बाहर जानेवाला श्वास" किया गया है; और योगसाधनमें यह बतलाया है कि, "प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।" अर्थात् नासिकाके दोनों पुटोंमें प्राण और अपानको समान ही चलाना चाहिए। इसी भाँति गीतामें यह भी कहा है:—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ॥

इससे जान पड़ता है प्राणका विचार बहुत प्राचीन कालमें हुआ था।

प्राणकी ही भाँति जीवका दूसरा लक्षण उष्णता अथवा अग्नि है। इसकी ओर भी भारतीय दार्शनिकोंका ध्यान गया था। सम्पूर्ण शरीरकी उष्णता और शिरकी उष्णताका विचार करते हुए उन्होंने यह प्रतिपादन किया कि, देह और शिरमें अग्नि रहता है। वनपर्वके अध्याय २१३ में, धर्मव्याध-संवादमें इस बातका मनोरंजक वर्णन किया गया है कि, शरीरमें अग्नि और वायु कहाँ रहते हैं। वायुका केन्द्रस्थान नाभिमें बतलाया गया है; और अग्निका केन्द्रस्थान शिरमें बतलाया है। शरीरमें तीसरा केन्द्रस्थान हृदय है। उससे चारों ओर, इधर-उधर, नीचे-ऊपर, नाड़ियाँ निकली हैं, जो कि सारे शरीरको अन्न-रस पहुँचाया करती हैं। और, यह पोषण दस प्राणोंके जोरसे होता रहता है।

प्रवृत्ताः हृदयात्सर्वास्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
वहन्त्यन्नरसान्नाड्यो दशप्राणप्रचोदिताः ॥
(वनपर्व अ० २१३)

जैसे पाँच इन्द्रियोंमें कर्मेन्द्रियोंके योगसे दस इन्द्रियाँ हुईं, उसी प्रकार मूल पाँच प्राणोंके दस प्राण हुए। ये नवीन पाँच प्राण टीकाकारने इस प्रकार बतलाये हैं—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। परन्तु यह नहीं बतलाया कि, इनके स्थान कौनसे हैं, और कार्य कौनसे हैं। उपर्युक्त वर्णनसे यह कहा जा सकता है कि, नाड़ियाँ और प्राण आजकलके नर्वस् सिस्टिमके स्थानमें हैं। शरीरके मुख्य जीवकी क्रियाओं और शक्तियोंके विषयमें, अर्थात् प्राण, अग्नि और हृदयसे निकलनेवाले नाड़ी-विस्तारके विषयमें, योगशास्त्रमें खूब विचार किया गया है; और प्राचीन काल तथा आजकलके योगी भी कितने ही चमत्कार करके दिखलाते हैं। हृदयकी क्रिया बन्द करना, श्वासोच्छ्वास बन्द करना, इत्यादि बातें महाभारतमें नहीं बतलाई गई हैं। परन्तु महाभारतके प्रत्येक तत्वज्ञानके विचारमें प्राण, नाड़ी और हृदयका वर्णन ज़रूर आता है।

इन्द्रियज्ञान ।

जीवके विषयमें देहकी जो मुख्य क्रियाएँ हैं, उनमें उपर्युक्त बातोंके अतिरिक्त, सुषुप्ति और स्वप्नकी क्रियाओं अथवा अवस्थाओंका विचार भी तत्वज्ञानमें उप-

स्थित होता है। उसे विस्तारके साथ यहाँ बतलानेकी आवश्यकता नहीं। इसी भाँति बुद्धिकी क्रियाका भी प्रश्न उपस्थित होता है। पहले, प्रारम्भमें ही तत्त्वज्ञानीको यह निश्चित करना आवश्यक होता है कि, इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान कैसे होता है। तत्त्वज्ञानियोंको यह प्रश्न सदैव रहस्यमय दिखलाई देता है कि इन्द्रियोंको ज्ञान होता कैसे है? इस प्रश्न पर मनुष्य स्वाभाविक ही तुरन्त यह उत्तर देता है कि, जो पदार्थ ज्ञात होता है, उसके संयोगसे। क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थों से त्वक् और जिह्वाका संयोग होनेसे स्पर्श और रसका बोध होता है; परन्तु उपर्युक्त रीतिसे जब इस प्रश्नको हल करने लगते हैं कि, गंध कैसे आता है, तब यही मानना पड़ता है कि, जिस पदार्थका गंध आता है, उस पदार्थके सूक्ष्म परमाणु नासिकामें प्रविष्ट होते हैं; और यह बात सच भी हो सकती है। परन्तु यह प्रश्न कठिन है कि, शब्द और रूपका कर्ण और नेत्रको कैसे बोध होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि, इस प्रश्नके विषयमें भारती आर्य तत्त्ववेत्ताओंका मत गलत है। किंबहुना उन्होंने जो यह निश्चित किया कि, शब्द सारे महाभूतोंके साधनसे एक जगहसे दूसरी जगह जाता है, सो यह उनके एक बड़े अनुभव और भारी बुद्धिमत्ताका लक्षण है। शब्द पृथ्वीसे और पानीसे भी सुनाई देता है; और हवासे भी सुनाई देता है। परन्तु यह कल्पना कि, आकाशसे भी शब्द सुनाई देता है, आजकलके रसायन-शास्त्रके आविष्कारके अनुसार मिथ्या ठहरती है*। आजकल यह अनुभवसे निश्चित हुआ है कि निर्वात प्रदेशमें शब्द नहीं जाता। परन्तु प्राचीन कालमें यह बात मालूम नहीं थी। क्योंकि उस समय निर्वात प्रदेश उत्पन्न करनेका प्रयोग करना सम्भव ही न था। जो हो; यह निश्चित करना सबसे कठिन है कि, दृष्टिकी इन्द्रिय कैसे कार्य करती है; और इस विषयमें प्राचीन कालमें भिन्न भिन्न तर्क किये गये थे। कुछ लोगोंका मत यह था कि, दृष्टिकी इन्द्रिय नेत्रोंसे निकलकर देखे हुए पदार्थसे संलग्न होती है; और इसलिए उसके आकार और रंगका ज्ञान होता है। ग्रीक लोगोंमें भी कितने ही दार्शनिकोंका यह मत था कि, प्रत्येक पदार्थसे जिस प्रकार परमाणु बाहर निकलते हैं, उसी प्रकार उसके आकार और रंगके मंडल अथवा पटल बराबर बाहर निकलते रहते हैं; और जब देखनेवालोंकी आँखोंसे संयोग होता है, तब उनको पदार्थके रङ्ग-रूपका ज्ञान होता है। भारतीय दार्शनिकोंके मतसे दृगिन्द्रिय और दृश्य पदार्थका संयोग, तेज अथवा प्रकाशके योगसे होता है। सभी इन्द्रियोंके पदार्थ-संयोगसे होनेवाले ज्ञानके लिए मनकी आवश्यकता है। मन शरीरमें है; और नाड़ी द्वारा सब इन्द्रियोंमें व्याप्त रहता है। इसी मनके द्वारा इन्द्रियों पर पदार्थका जो सन्निकर्ष होता है, वही बुद्धिमें पहुँचता है; और वहाँ ज्ञान उत्पन्न होता है। मनुष्यका मन यदि और कहीं होगा, तो इन्द्रिय और पदार्थका संयोग होने पर भी ज्ञान नहीं होगा। भारतीय दार्शनिकोंने चित्तकी एक और भी सीढ़ी इस विषयमें मानी है।

चित्तमिन्द्रियसंघातात्परं तस्मात्परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिः क्षेत्रज्ञो बुद्धितः परः॥

(शांतिपर्व अ० २७६)

अर्थात् देहमें इन्द्रियाँ, चित्त, मन, बुद्धि और आत्माकी परम्परा लगी है; और इसी परम्परासे ज्ञान होता है। आजकलके पाश्चात्य शारीर-शास्त्रानुसार

*इसमे भी संदेह है; क्योंकि शब्द आजकल टेलीफोन मे भी जाता है।

इन्द्रिय, नर्वस् सिस्टिम अथवा नाड़ीचक्र और ब्रेन अथवा मस्तिष्कके मार्गसे पदार्थ-का ज्ञान होता है। परन्तु यह बात पाश्चात्य शारीरशास्त्र भी नहीं बतला सकता कि मन क्या है। हाँ, यह व्याख्या की जा सकती है कि, हृदय, मस्तिष्क अथवा नाड़ीचक्र-का विशेष धर्म मन है।

आत्माका स्वरूप।

भारतीय तत्वज्ञानियोंने भी यह बात स्वीकार की है कि, चित्त, मन अथवा बुद्धि और पञ्चेन्द्रियाँ तथा पञ्चप्राण, ये सब बातें जड़ अथवा अव्यक्तके ही भाग हैं। इनमें अपनी निजकी किसी प्रकार-की चलनवलनात्मक शक्ति नहीं है। इनके पीछे यदि जीव हो, तभी इनमें चलनकी शक्ति होगी। जीव अथवा आत्मा यदि न हो, तो ये सब वस्तुएँ निरुप-योगी अथवा जड़ हैं। जबतक जीव है, तभीतक इनकी क्रियाएँ होती हैं: और जहाँ जीव चला गया कि फिर बस, आँखें रहते हुए भी दिखाई नहीं देता। ऐसी दशामें सबसे महत्वका प्रश्न यही है कि, यह जीव क्या वस्तु है? इसी प्रश्नके आस-पास सब देशों और सब समयोंके दार्श-निक अथवा तत्ववेत्ता चक्कर काट रहे हैं। परन्तु अभीतक इसका पूरा पता नहीं लगा। इस विषयमें तत्वज्ञानकी अत्यन्त उच्च और उदात्त कल्पनाएँ हैं। प्रायः सभीके मतसे, आत्मा है: यही नहीं, किन्तु वह ईश्वरीय अंश है। प्रत्येकका अहं विषयक अनुभव अर्थात् यह भावना कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ—यह बात निश्चित रूपसे सिद्ध करता है कि, पञ्चे-न्द्रिययुक्त देहका कोई न कोई अभिमानी देही अवश्य है। इन्द्रियोंको अपना निज-का ज्ञान कभी नहीं होता। परन्तु इन्द्रियों-के पीछे रहनेवाले जीवको इन्द्रियोंका ज्ञान होता है। आत्मा यदि प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, तथापि उसका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। महाभारतमें एक जगह आत्माका अस्तित्व बहुत ही सुन्दर रीतिसे स्थापित किया गया है—"यह बात नहीं है कि जो इन्द्रियोंके लिए अगोचर है, वह बिलकुल है ही नहीं; और यह भी नहीं कि जिसका ज्ञान नहीं होता, वह होता ही नहीं। आजतक हिमालयका दूसरा पहलू अथवा चन्द्रमण्डलका पृष्ठ भाग किसीने नहीं देखा; परन्तु इससे यह थोड़े ही कहा जा सकता है कि, वे हैं ही नहीं। किंबहुना हम निश्चयपूर्वक यही कहते हैं कि वे हैं। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म और ज्ञानस्वरूपी है। चन्द्रमण्डल पर हम कलङ्क देखते हैं, परन्तु यह हमारे ध्यानमें नहीं आता कि, वह पृथ्वीका प्रतिबिम्ब है। इसी प्रकार यह बात भी सहसा ध्यानमें नहीं आती कि, आत्मा ईश्वरका प्रतिबिम्ब है। देखना अथवा न देखना अस्तित्व अथवा अभावका लक्षण नहीं है। यह हम अपनी बुद्धिमत्तासे निश्चित कर सकते हैं, कि सूर्यमें गति है। इसी भाँति यह बात भी हम अपनी बुद्धि-से निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि सूर्य अस्तसे उदयतक कहीं न कहीं रहता है। जिस प्रकार हिरनकी सहायतासे हिरन, अथवा हाथीकी सहायतासे हाथी और पक्षियोंकी सहायतासे पक्षी, पकड़ते हैं, उसी प्रकार ज्ञेयकी सहायतासे ज्ञेयको जान सकते हैं। स्थूलदेह अथवा लिङ्ग-शरीरमें रहनेवाला अमूर्त आत्मतत्व ज्ञान-से ही जाना जा सकता है। शरीरसे जब आत्मा अलग हो जाता है, तब अमावस्या-के चन्द्रमाके समान वह अदृश्य होता है: और चन्द्र जिस प्रकार दूसरे स्थानमें जाकर फिर प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार आत्मा दूसरे शरीरमें जाने

पर फिर भासमान होने लगता है। चन्द्रमाके जन्म, वृद्धि और क्षयके धर्म देख पड़नेवाले चन्द्रबिम्बसे सम्बन्ध रखते हैं; परन्तु प्रत्यक्ष चन्द्र इनसे अलग है—उससे इन धर्मोंका कोई सम्बन्ध नहीं। बस, इसी प्रकार जन्म, मृत्यु, वृद्धि, जरा इत्यादि देहके धर्म हैं, आत्माके नहीं। जिस प्रकार ग्रहणके समय चन्द्रमा पर पड़नेवाली छाया और अँधेरा चन्द्रमाके पास आता हुआ दिखाई नहीं पड़ता, अथवा चन्द्रमासे छूटा हुआ भी दिखाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार जड़ शरीरमें आते हुए अथवा इससे जाते हुए आत्मा भी हमको दिखाई नहीं देता। अर्थात् राहु अथवा छायाका ज्ञान स्वतन्त्र नहीं हो सकता। वह जब चन्द्र अथवा सूर्यके मण्डलसे सम्बन्ध पाता है, तभी उसका ज्ञान होता है। इसी प्रकार शरीरान्तर्गत आत्माकी उपलब्धि हमें होती है, शरीरसे वियुक्त आत्माकी उपलब्धि नहीं होती।"

शान्तिपर्व अध्याय २०३में दिया हुआ उपर्युक्त वर्णन आत्माका अस्तित्व बहुत ही सुन्दर रीतिसे पाठकोंके मन पर जमा देता है। उसमें दिये हुए दृष्टान्त बहुत ही मार्मिक और कवित्वपूर्ण हैं। यह समझानेके लिए कि, शरीरमें ही रहते हुए आत्मा कैसा प्रतीत होता है और शरीरसे अलग होने पर प्रतीत नहीं होता, जो ग्रहणका दृष्टान्त दिया हुआ है, वह बहुत ही प्रभावशाली और कवित्वपूर्ण है। पृथ्वीकी छाया जो आकाशमें घूमती रहती है, हमको कभी दिखाई नहीं देती। परन्तु सूर्यकी विरुद्ध दिशासे पृथ्वीकी छाया जब चन्द्र पर आती है, तब वह दिखाई देने लगती है; और जबतक वह चन्द्र पर रहती है, तभीतक दिखाई देती है। परन्तु चन्द्रके पास आते हुए, अथवा चन्द्रसे छूटते समय दिखाई नहीं देती। यह दृष्टान्त भारती आर्योंके सूक्ष्म निरीक्षणका बहुत अच्छा प्रमाण है। इस दृष्टान्तसे हमें यह अच्छी तरह मालूम हो जाता है, कि अमूर्त आत्मा देहसे अलग क्यों दिखाई नहीं देता; और देहका सम्बन्ध होने पर कैसे दिखाई देने लगता है। इसी भाँति, जैसे पृथ्वीकी छाया चूँकि हमको दिखाई नहीं देती इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि वह है ही नहीं, वैसेही आत्मा भी चूँकि देहसे अलग दिखाई नहीं देता, इससे यह नहीं कह सकते कि आत्मा नहीं है। तीसरे, इस दृष्टान्तका सबसे बड़ा गुण यह है कि इससे आत्माका स्वरूप पूर्णतया हमारी समझमें आ जाता है। आत्मा मूर्त पदार्थ नहीं है: किन्तु वह छायाके समान अमूर्त है: और पृथ्वीकी छाया जैसे सूर्यसे पड़ती है, वैसे ही आत्मा परमात्माकी छाया है, किंबहुना वह परमात्माका प्रतिबिम्ब है; और इसलिए आत्मामें परमात्माका चित्-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप भी भरा हुआ है। तात्पर्य यह है कि, तत्ववेत्ताओंका यह सिद्धान्त हमारे अनुभवमें आता है कि आत्मा है। यही नहीं, बल्कि वह ईश्वरका अंश है।

जीवका दुःखित्व।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, आत्मा यदि परमेश्वरकी छाया है, और यदि वह चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप है तो मनुष्य अज्ञानी, दुःखी, कुमार्गगामी क्यों होता है? ग्रीक दार्शनिकोंने इसका उत्तर यह दिया है, कि जैसे स्वच्छ पानीमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देता है, वैसे ही जिस समय इन्द्रियाँ और अन्तःकरण सब शुद्ध होते हैं, उस समय उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब अर्थात् आत्मा शुद्ध और आनन्दयुक्त होता है; परन्तु जिस समय इन्द्रियाँ गँदली होती हैं, उस समय

आत्माका स्वरूप भी मलिन होता है; मन पर अज्ञानका प्रभाव जम जाता है; और फिर दुष्ट मनका इन्द्रियों पर प्रभाव होता है, जिससे इन्द्रियाँ विषयमें आसक्त हो जाती हैं। पापसे हजारों इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं; और मन सदैव विषयवासनामें मग्न रहता है, तथा भीतर रहनेवाले ईशांशस्वरूपी आत्माकी ओर अपनी पीठ कर लेता है। मतलब यह है कि, जब इन्द्रियाँ अन्य ही मार्गकी ओर चलकर विषयमें स्वच्छन्द संचार करने लगती हैं, उस समय मनुष्य दुःखी होता है। परन्तु वह जब उनको अपने वशमें रखता है, तब सुखी होता है। जो इन्द्रियोंके सारे व्यापार बन्द कर देता है, उसे अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।

वासनानिरोध और योगसाधन।

इस प्रकार दुःखका परिहार होनेकी एक ही युक्ति अर्थात् इच्छाओंका नाश करना है। जैसा कि एक अँग्रेजी ग्रन्थकारने कहा है कि, इच्छाकी डोरी तोड़ डालने पर आत्माका विमान आकाशमें चढ़ेगा। इच्छारूपी रज्जुओंने आत्माको पृथ्वीसे जकड़ रखा है। उनको तोड़नेसे आत्मा स्वाभाविक ही ऊर्ध्व दिशाको जायगा। योग सिद्धान्तकी मुख्य बात यही है। मन सदैव इच्छाओंके चक्करमें आ जाता है; और अन्तरात्माको और ही मार्गमें ले जाता है, तथा मनुष्यको नाना प्रकारके कर्म करनेके लिए बाध्य करता है; और विषयोपभोगमें फँसाता है। अतएव मन यदि अपनी इच्छाओंसे पूरा तृप्त होगा, अर्थात् वह यदि शान्तिसे बैठेगा, तो आत्मा अपने सम्पूर्ण तेजसे प्रकाशित होगा। पतञ्जलिके योगसूत्रोंका पहला सूत्र यही है कि, मनको शान्तिके साथ बैठाना ही योग है। मनको शान्तिके साथ बैठाना अत्यन्त दुःसाध्य कर्म है; और योगतत्त्वज्ञानका प्रयत्न यही है कि, भिन्न भिन्न यम, नियम और आसन इत्यादि बतलाकर मनको स्वस्थ बैठानेकी क्रिया सिद्ध कराई जाय। ये सब बातें विस्तारके साथ यहाँ नहीं बतलाई जा सकतीं। तथापि योग साधनेमें पञ्चप्राण, मन और इन्द्रियोंके निरोधकी ओर ध्यान रहता है। महाभारतमें अनेक स्थलों पर इस योगका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। एक स्थानका वर्णन संक्षेपमें यहाँ दिया जाता है:—"मनके सब विकल्पोंको बन्द करके और उसको सत्वमें स्थिर रखकर और शास्त्रोंमें बतलाये हुए यमनियमोंका पालन करके योगीको किसी वृक्षके ठूँठकी तरह निश्चल हो ऐसी जगह बैठना चाहिए कि जहाँ मन व्यग्र न हो; और फिर इन्द्रियोंको भीतर लेकर, अर्थात् उनको अन्तर्मुख करके, मनकी स्थिरताको सिद्ध करना चाहिए। कानसे सुनना न चाहिए, आँखोंसे देखना न चाहिए, नाकसे सूँघना न चाहिए, और न त्वचासे स्पर्शका ज्ञान करना चाहिए। सब इन्द्रियोंका मनमें लय करके योगीको मन स्थिर करना चाहिए। यद्यपि मनका धर्म भ्रमण करके इन्द्रिय द्वारा बाहर भटकनेका है, अथवा किसी आधारके न रहते हुए यद्यपि मन नाच सकता है, तथापि उसको एक जगह बैठाना चाहिए। जिस समय पाँचों इन्द्रियों और मनका निरोध हो जाता है, उस समय भीतर एकदम ऐसा प्रकाश आ जाता है, जैसे मेघोंमें एक दम बिजलीका प्रकाश छा जाय। जिस प्रकार पत्ते पर पानीका बिन्दु कुछ कालतक स्थिर रहता है, उसी प्रकार ध्यानमें पहले योगीका मन कुछ कालतक स्थिर रहता है। परन्तु वायुकी सहायतासे बहुत जल्द योगीको

झोंका देकर मन बाहर निकलता है। तथापि योगीको चाहिए कि वह निराश न होते हुए, अश्रान्त परिश्रम करके, निद्रा और मत्सरका त्याग करके, मनको फिर पूर्व स्थानमें लाकर स्थिर करे। मन भिन्न भिन्न विचार, विवेक, वितर्क उत्पन्न करेगा। इस प्रकार मन चाहे बार बार कष्ट दिया करे, तथापि मुनिको धैर्य न छोड़ना चाहिए: और अपना कल्याण साधनेका मार्ग स्थिर रखना चाहिए। इस मार्गसे योगीको धीरे धीरे ध्यानकी रुचि लगेगी, और उसे मोक्ष प्राप्त होगा।"

ईश्वरका ध्यान करनेके विषयमें भारती आर्य तत्वज्ञानियोंका पूर्ण आग्रह है: और ऐसा ही ग्रीक देशके नूतन प्लेटो-मतवादियोंका भी है। अनुमान है कि उन्होंने अपने ये मत शायद महाभारतसे अथवा भारती तत्वज्ञाताओंसे ही ग्रहण किये हों, क्योंकि उनके ये मत सिकन्दरकी चढ़ाईके बादके हैं। वे कहते हैं:—"दृश्य जगत्को पीछे छोड़कर मनुष्यको अपना मन ऊँचे ले जाकर परमेश्वरसे तादात्म्य करना चाहिए। यही उसका इति-कर्तव्य है। ईश्वरकी भूमि ध्यान है।" इस ध्यानके भीतर तो हम प्रवेश न कर सकें: और यह कहें कि ध्यान अथवा समाधिमें ईश्वरसे तादात्म्य पाकर आनन्दकी परमावधि अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कारका अनुभव हो जाय, तो ये बातें कहनेकी नहीं हैं। सारे दार्शनिक— फिर चाहे वे योगी हों, वेदान्ती हों, प्लेटोके अनुयायी हों, अथवा पायथागोरसके हों— साक्षात्कारके विषयमें और वहाँके परम सुखके विषयमें स्वानुभवसे और विश्वाससे बतलाते हैं। मनकी इस प्रकारकी स्थितितक जा पहुँचनेका प्रत्येकका मार्ग भिन्न होगा: परन्तु सब मार्ग एक ही स्थानको जाते हैं। महाभारतमें भी कहा है कि, सारी निष्ठाएँ नारायणके प्रति हैं। इन भिन्न भिन्न मार्गोंसे मनुष्य जब अपने अन्तर्याममें जाता है, तब उसे वहाँ परमात्माका साक्षात् दर्शन हो सकता है। इसके विषयमें दो तीन बातें यहाँ बतला देना आवश्यक है। पहली बात यह है कि अन्य तत्वज्ञानोंकी भाँति योगमें भी यही कहा है कि जिस मनुष्यको मनका निरोध करके समाधिमें ईश्वर-साक्षात्कार करनेकी इच्छा हो, उसको नीतिका आचरण खूब दृढ़तासे और शुद्ध करना चाहिए। व्यवहारमें नीतिके जो नियम सर्वमान्य हैं, उन सबका उसे अच्छी तरह पालन करना चाहिए: अर्थात् परद्रव्य, परस्त्री, परनिन्दा इत्यादिसे उसे अलिप्त रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त योगीको अहिंसाका नियम पूर्णतया पालन करना चाहिए। मांसका भोजन अवश्य ही योगीके लिए वर्ज्य है; यही नहीं, किन्तु योगीको कीटकादि क्षुद्र जन्तुओंकी भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। प्लेटोके नवीन मतवादी ग्रीक तत्वज्ञानियोंका भी यही मत था। उनके बड़े तत्ववेत्ता प्लोटिनस्ने मांस-भक्षण वर्ज्य किया था। इसके सिवा, योगीको निद्रा, जहाँतक हो सके, कम करनी चाहिए। लिखा है कि प्लोटिनस्ने भी अपनी निद्रा अत्यन्त कम कर दी थी। इस वर्णनसे यह उपर्युक्त अनुमान दृढ़ होता है कि, योगशास्त्रके सिद्धान्त भारतवर्षसे ही पाश्चात्य ग्रीस देशमें गये। भारतीय आर्य लोगोंके योगी प्रायः सारा दिन और रात नींदके बिना काटते हैं। योगके जो तत्व और लक्षण ऊपर दिये हैं, उनका एक छोटेसे सुन्दर श्लोकमें, भीष्मस्तवराजमें, महाभारतने समावेश किया है:—

यं विनिद्रा जितश्वासाः
सत्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।

ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानाः
तस्मै योगात्मने नमः ॥

निद्राका त्याग करनेवाले, प्राणका जय करनेवाले, सत्व गुणका अवलम्बन करनेवाले, इन्द्रियोंको जीतकर वशमें रखनेवाले और योगमें युक्त रहनेवाले योगी ज्योतिस्वरूप जिस परमेश्वरको देखते हैं, उस योगस्वरूपी परमात्माको नमस्कार है। उपर्युक्त श्लोकमें योगके मूलभूत सिद्धान्त और क्रियाएँ संक्षेपमें सुन्दर रीतिसे दी हुई हैं।

कर्मसिद्धान्त।

योगके तत्व-ज्ञानने इसकी मीमांसा करके, कि इस जगत्में आत्माको दुःख क्यों होता है, यह निश्चित किया कि इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर जीवको बार बार खींचती हैं, इसलिए दुःख होता है; अर्थात् दुःखके नाश करनेका साधन यह है कि इन्द्रियोंको मन सहित रोका जाय; और समाधिमें जीवात्माका परमात्मासे एकीकरण किया जाय। परन्तु यह बात अत्यन्त कठिन है। साधारणतया मनुष्य प्राणी संसारमें मग्न रहता है; और इन्द्रियोंका निरोध करना अथवा मनको स्वस्थ बैठाना, ये दोनों बातें एक समान ही कठिन हैं। इस कारण जीवको जन्ममरणके चक्करमें पड़कर कर्मानुरोधसे संसारकी अनेक योनियोंमें घूमना पड़ता है। जिस प्रकार यह महत्वका सिद्धान्त, कि जीवका संसरण कर्मानुसार होता है, भारती आर्य तत्वज्ञानमें प्रस्थापित हुआ, उसी प्रकार उपनिषदोंमें भी कर्म और जीवके संसारित्वका मेल मिलाया हुआ हमारी दृष्टिमें आता है। जीव भिन्न भिन्न योनियोंमें कैसे जाता है, अथवा एक ही योनिके भिन्न भिन्न जीवोंको सुख दुःख न्यूनाधिक क्यों होता है—इस विचारका सम्बन्ध कर्मसे है। यह एक अत्यन्त महत्वका सिद्धान्त भारती आर्य तत्वज्ञानमें है। अन्य किसी देशमें इस सिद्धान्तका उद्गम नहीं दिखाई पड़ता। पाश्चात्य तत्वज्ञानमें इसका कारण कहीं नहीं बतलाया गया है कि मनुष्योंको जन्मतः भिन्न भिन्न परिस्थिति क्यों प्राप्त होती है। ईश्वरकी इच्छा अथवा दैव, अथवा यदृच्छाके अतिरिक्त अन्य कोई कारण वे नहीं दिखला सकते। कर्मके सिद्धान्तसे, एक प्रकारसे नीतिका बन्धन उत्पन्न होता है। यही नहीं, किन्तु कर्म-सिद्धान्तसे यह बात निश्चित होती है कि इस जगत्की भौतिक क्रान्तियाँ जिस प्रकार नियमबद्ध हैं, उसी प्रकार व्यावहारिक क्रान्तियाँ भी एक अबाधित नियमसे बँधी हुई हैं; वे यदृच्छाधीन नहीं हैं। इसके सिवा, यह बतलानेकी आवश्यकता ही नहीं है कि कर्म-सिद्धान्तका मेल पुनर्जन्मके सिद्धान्तसे है। कर्म अनादि माना गया है; क्योंकि यह प्रश्न रह ही जाता है कि बिलकुल प्रारम्भमें ही जीवने भिन्न भिन्न कर्म क्यों किये। इसलिए ऐसा सिद्धान्त है कि जैसे संसार अनादि है, और उसका आदि और अन्त कहीं नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्म अनादि हैं; और ईश्वर प्रत्येक प्राणीको उसके कर्मानुसार, भले बुरे कार्यके लिए पारितोषिक अथवा दण्ड देता है। कर्मका अन्त और संसारका अन्त एक ही युक्तिसे हो सकता है। वह यह कि योग अथवा ज्ञानसे जब कि जीवात्माका परमात्मासे तादात्म्य हो जाता है, तब जीवात्माका अनुपभुक्त कर्म सम्पूर्ण जल जाता है; और प्रारब्ध-कर्मका भोग होनेपर आत्माको पुनर्जन्मसे मुक्ति मिलती है। अर्थात् उससे कर्म और संसृतिका एक दम नाश होता है। इस प्रकार कर्म और संसृत

अनादि और सान्त वस्तुएँ हैं । यही संक्षेपमें कर्म, पुनर्जन्म और मोक्षका सिद्धान्त है। भारती आर्योंके आस्तिक और नास्तिक दोनों मतवादियोंको यह सिद्धान्त स्वीकार है। वेदान्त, सांख्य, योग, कर्मवाद इन आस्तिक मतोंको कर्म, पुनर्जन्म और मोक्षका सिद्धान्त स्वीकार है; तथा नास्तिक, न्याय, बौद्ध, जैन, इनको भी वह मान्य है। यद्यपि वे ईश्वरको नहीं मानते हैं, तथापि यह उनको स्वीकार है कि आत्माका संसरण कर्मानुरूप होता है; और पुनर्जन्मसे छुटकारा पाना मनुष्यका परम धर्म है। अर्थात् यह सिद्धान्त सभीका है कि, मोक्ष अथवा निर्वाण ही परम पुरुषार्थ है। हाँ, मोक्ष-प्राप्तिका मार्ग अवश्य ही भिन्न भिन्न तत्वज्ञानोंमें भिन्न भिन्न बतलाया है। कहीं आत्माका स्वरूप भी भिन्न माना है । परन्तु आत्माको मान लेने पर, फिर ये आगेकी सीढ़ियाँ उन सबको एक ही सी मान्य हैं—अर्थात् आत्माको हज़ारों जन्म-मृत्यु प्राप्त होते हैं, जीवन दुःखमय है; और इस जन्म-मरणके भवचक्रसे छूटना ही सारे तत्वज्ञानोंका परम उद्देश्य है । ये तीन बातें सब सिद्धान्तोंको समान ही स्वीकार हैं। (हाँ, चार्वाक मतवादी इन तीनोंके विरुद्ध हैं। उनके मतानुसार देह ही आत्मा है; और संसारमें जन्मना ही सुख है; तथा मृत्यु ही मोक्ष है।)

आत्माका आवागमन ।

अच्छा, अब हम इस बातका थोड़ा विचार करेंगे कि, भारतीय आर्योंने आत्माकी संसृतिका सिद्धान्त कैसे स्थिर किया। यह सिद्धन्त **पायथागोरस** नामक ग्रीक तत्ववेत्ताको स्वीकार हुआ था; और प्लेटोके अनुयायियोंके भी पसन्द आया था। परन्तु उसका विशेष प्रचार पाश्चात्य देशोंमें नहीं हुआ । जो लोग यह मानते हैं कि, शरीरसे आत्मा भिन्न है, उनको दो और प्रश्नोंका हल करना आवश्यक होता है। आत्मा शरीरमें क्यों और कब प्रवेश करता है; तथा जब वह शरीर छोड़ता है, तब कहाँ जाता है? जो लोग आत्माका अस्तित्व मानकर उसका संसारित्व नहीं मानते, उनको इन प्रश्नोंका हल करना कठिन होता है। ग्रीक तत्ववेत्ता प्लोटिनस्, जान पड़ता है, पुनर्जन्मवादी न था। उसने इसका यह उत्तर दिया है कि, "सृष्टि (अथवा स्वभाव) देह उत्पन्न करती है। और आत्माके रहनेके लिए उसे तैयार करती है। उस समय आत्मा उस देहमें रहनेके लिए आप ही आप आता है। उसे किसीकी ज़बरदस्तीकी आवश्यकता नहीं रहती। उस पर किसीकी सत्ता नहीं रहती; और उसे कोई भेजता भी नहीं। किन्तु स्वाभाविक ही आकर्षणसे आत्मा देहमें आता है । क्योंकि देहको आत्माकी चिन्ताकी आवश्यकता रहती है। आत्मा चूँकि शरीरमें आता है, अतएव दोनोंकी परिपूर्णता हो जाती है।" इस कथनमें कोई विशेष अर्थ नहीं, और यह सयुक्तिक भी नहीं जान पड़ता। क्योंकि पहले तो यही अच्छी तरह समझमें नहीं आता कि, आत्मा परमात्मामें रहना छोड़कर इस भौतिक शरीरमें आकर रहनेकी दुःखद स्थिति स्वीकार क्यों करेगा? आत्मा तो ईशांश है, यह उसे स्वीकार है; फिर यदि ईश्वरकी इच्छा उसे नीचे नहीं ढकेलती, तो हम नहीं समझते कि, आत्मा पृथ्वी पर क्यों आवे। ग्रीस देशके दूसरे तत्ववेत्ता, जो यह नहीं मानते कि आत्मा परमेश्वरका अंश है, वे इस विषयमें ऐसा मत देते हैं । ये लोग निरीश्वरवादी हैं, इसलिए उनके मार्गमें ईश्वरकी बाधा बिलकुल नहीं है। उनके मतसे, आत्मा

परमाणुरूप हैं, और वह गोल चिकना तथा अत्यन्त चंचल स्वरूपका है। वह इस जड़सृष्टिमें चारों ओर भरा हुआ है। आत्माके असंख्य परमाणु इधरसे उधर दौड़ते रहते हैं, और वे प्राणवायुके साथ शरीरमें घुस जाते हैं। प्राणवायुकी श्वासोच्छ्वास-क्रियाके साथ ये बाहर भी निकल सकेंगे। परन्तु श्वास भीतर लेनेकी क्रियासे वे सदैव भीतर आते हैं। इस प्रकार जबतक श्वास भीतर लेनेकी क्रिया जारी है, तबतक मनुष्य जीवित रहता है; और आत्मा शरीरमें वास करता है। मनुष्य जब मरता है, तब स्वाभाविक ही अन्तिम उच्छ्वासके साथ आत्मा निकल जाता है।

इसी प्रकारके अनेक मत अनेक तत्त्वज्ञानोंमें माने गये हैं; परन्तु यह बात आपको मालूम हो जायगी कि भारती आर्योंका कर्म-सिद्धान्त उन सबसे अधिक सयुक्तिक है। शरीरमें ईश-अंश आत्मा क्यों आता है—इसका कारण, जीवके कर्मकी उपपत्तिके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। ईश्वरकी इच्छा अथवा आत्माकी स्वाभाविक प्रवृत्तिकी अपेक्षा कर्मके बन्धनका नियम अत्यन्त उच्च और इस तत्त्वके अनुकूल है कि, सारी सृष्टि नियमबद्ध है। प्रत्येकके कर्मानुसार आत्मा भिन्न भिन्न देहोंमें प्रवेश करता है; और उसका यह संसारित्व उसके कर्मानुसार जारी रहता है। जबतक परमेश्वरके उचित ज्ञानसे उसके कर्मका नाश नहीं होता, तबतक उसको संसारकी इन भिन्न भिन्न योनियोंमें फिरना पड़ता है। शान्ति पर्व अध्याय २२१ में भीष्मने युधिष्ठिरको यह बतलाया है कि, कर्म और भोगके नियमानुसार आत्माको इस अनन्त भवचक्रमें एक देहसे दूसरे देहमें किस भाँति घूमना पड़ता है। इस पुनर्जन्मकी संसृतिमें आत्माको भिन्न भिन्न पशुपक्षी आदिकोंके शरीरमें जाना पड़ता है। यही नहीं, किन्तु स्थावर, परन्तु सजीव, वृक्षों और तृणोंके शरीरमें भी प्रवेश करना पड़ता है। जिस प्रकार एक ही सूत्र सुवर्ण, मोती, मूँगे अथवा पत्थरके मनकेसे जाता है, उसी प्रकार बैल, घोड़ा, मनुष्य, हाथी, मृग, कीट, पतंग इत्यादि देहोंमें, स्वकर्मसे बिगड़ा हुआ और संसारमें फँसा हुआ आत्मा जाता है।

तद्वेव च यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः।
मुक्तास्वथ प्रवालेषु मृण्मये राजते यथा॥
तद्वद्गोऽश्वमनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु।
तद्वत्कीटपतङ्गेषु प्रसक्तात्मा स्वकर्मभिः॥
(शान्ति पर्व अ० २०६)

वासनाके योगसे कर्म होता है; और कर्मके योगसे वासनाकी उत्पत्ति होती है। इसी भाँति यह अनादि और अनन्त चक्र जारी रहता है; परन्तु बीज अग्निसे दग्ध हो जाने पर जैसे उसमें अङ्कुर नहीं फूटता, उसी प्रकार अविद्यादि क्लेश ज्ञानरूपी अग्निसे दग्ध हो जाने पर पुनर्जन्मकी प्राप्ति नहीं होती। यह शान्ति पर्व अध्याय २११ में कहा है।

कितने ही पुनर्जन्मवादी लोगोंको यह बात स्वीकार नहीं है कि पुनर्जन्मके फेरेमें आत्माको वृक्षादिकोंका भी जन्म प्राप्त होता है। उनके मतानुसार जहाँ एक बार आत्माकी उन्नति होने लगी कि, फिर उसकी अधोगति कभी नहीं होती—अर्थात् मनुष्यकी आत्मा पशुयोनिमें कभी नहीं जाती। इसी भाँति पशुओंकी आत्मा वृक्षयोनिमें नहीं जाती। परन्तु महाभारतका मत ऐसा नहीं जान पड़ता। उपनिषदोंके मतसे भी आत्माको वृक्षयोनिमें जाना पड़ता है। बल्कि महाभारत-कालमें यह बात मालूम थी और स्वीकार भी थी कि, वृक्षोंमें जीव अथवा चैतन्य है।

सुखदुःखयोश्च ग्रहणात्
छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणाम्
अचैतन्यं न विद्यते ॥

यह शान्ति पर्व अध्याय ८५ में कहा है। वृक्षोंको चूँकि सुख-दुःख होता है और वे काटनेसे फिर बढ़ते भी हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि वृक्षोंमें जीव है। यही नहीं, किन्तु प्राचीन तत्त्वज्ञानियोंने यह भी निश्चित किया है कि, वृक्षोंमें पंचेन्द्रिय भी हैं। शान्ति पर्व अध्याय १८४ में भृगुने भरद्वाजको यह बात बतलाई है—"वृक्षोंमें शब्दज्ञान है, क्योंकि शब्दोंके योगसे वृक्षोंके पुष्प और फल गिर पड़ते हैं। वृक्षोंमें स्पर्श है, क्योंकि उष्णताके योगसे वृक्षोंका वर्ण म्लान होता है। वृक्षोंमें दृष्टि है, क्योंकि बेलोंकी बाढ़ और गमन इष्ट दिशासे होता रहता है। वृक्षोंमें गन्ध है, क्योंकि भिन्न भिन्न धूपोंके योगसे वृक्ष निरोगी होते हैं" इत्यादि। बङ्गालके रसायन-शास्त्रज्ञ डाक्टर वसुने यह सिद्ध किया है कि, उपर्युक्त कल्पनाएँ आजकलके वैज्ञानिक प्रयोगसे भी सिद्ध होती हैं। इससे प्राचीन भारती आर्योंकी विलक्षण बुद्धिमत्ताका हमको अच्छा परिचय मिलता है।

लिङ्गदेह।

भारती आर्योंने यह कल्पना की है कि, एक देहसे दूसरे देहमें संसरण करते हुए आत्माके आसपास सूक्ष्म पञ्चमहाभूतोंका एक कोश रहता है: और यह भी माना है कि, इन सूक्ष्म भूतोंके साथ ही सूक्ष्म पंचेन्द्रियाँ भी होती हैं। कहते हैं कि, इन सबका मिलकर एक लिङ्गदेह होता है। ऐसा खयाल है कि लिंगदेह सहित आत्मा हृदयके भीतरके आकाशमें रहता है। यह हृदयका आकाश अंगुष्ठप्रमाण है। इसलिए ऐसी कल्पना की है कि, लिंगदेह भी अंगुष्ठप्रमाण है। यह निर्विवाद है कि, यह अंगुष्ठप्रमाण मनुष्यके हृदयकी कल्पनासे स्थिर किया हुआ और काल्पनिक है। उपनिषदोंमें भी कहा है कि "अंगुष्ठमात्रो हृदयाभिक्रमः"। अर्थात् हृदयमें वेष्ठित जीव अंगुष्ठमात्र है। परन्तु यह केवल कल्पना है, सच नहीं। क्योंकि लिंगदेह-सहित आत्मा जब शरीरसे निकलता है, उस समय वह दिखाई नहीं देता। महाभारतमें लिखा है कि, वह आकाशके समान सूक्ष्म (अर्थात् परिमाणरहित) है: और मनुष्यदृष्टिके लिए अदृश्य है। इसके अतिरिक्त यह भी लिखा है कि केवल योगियोंको, उनकी दिव्यशक्तिसे, शरीरसे बाहर निकला हुआ आत्मा दिखाई दे सकता है। जिस समय धृष्टद्युम्नने तलवारसे, योगावस्थामें द्रोणाचार्यका गला काटा, उस समय द्रोणका आत्मा ब्रह्मलोकको गया। संजयने कहा है कि, वह पाँच मनुष्योंको ही दिखाई दिया। "मुझको, तथा अर्जुन, अश्वत्थामा, श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरको ही वह महात्मा, योगबलसे देहसे मुक्त होकर परमगतिको जाते समय, प्रत्यक्ष दिखाई दिया। (द्रोणपर्व अध्याय १२२) शांतिपर्व अध्याय २५४ में यह बात स्पष्ट बतलाई गई है कि, शरीरसे जाते समय आत्माको देखनेकी शक्ति सिर्फ योगियोंमें ही होती है।

शरीराद्विप्रमुक्तं हि सूक्ष्मभूतं शरीरिणम्।
कर्मभिः परिपश्यंति शास्त्रोक्तैः शास्त्रवेदिनः॥

इसका तात्पर्य यह है कि, शास्त्र जाननेवाले अर्थात् योगशास्त्र जाननेवाले लोग, उस शास्त्रमें बतलाये हुए कर्मोंसे अर्थात् साधनोंसे, शरीरसे बाहर जानेवाले सूक्ष्मभूत जीवको देख सकते हैं। अर्थात् प्राचीनोंका यह सिद्धान्त है कि, जीव, शरीरसे बाहर निकलते समय

अदृश्य रहता है; और उसके साथ रहनेवाला उसका लिंगशरीर, चूँकि सूक्ष्म होता है, अतः वह भी किसीको दिखाई नहीं पड़ता।

यहाँ एक बतलाने योग्य बात है। हमने पहले यह प्रश्न किया है कि, सांख्यों के सूक्ष्म पंचमहाभूत अथवा तन्मात्राओं की जो कल्पना की गई है, सो किस लिए? इसका थोड़ा बहुत उत्तर लिंगदेह की कल्पनामें दिखाई देता है। यदि हम यह मान लें कि आत्माके साथ कुछ न कुछ जड़ कोश जाता है, तो यह स्पष्ट है कि वह सूक्ष्म भूतोंका ही होना चाहिए। जिस प्रकार मन और पंचेन्द्रियाँ जड़ होकर भी सूक्ष्म होती हैं, उसी प्रकार पंचमहाभूत भी सूक्ष्म कल्पित करके यहाँ यह माना गया है कि, वे आत्माके साथ जाते हैं।

जान पड़ता है कि, लिंगदेहकी कल्पना ग्रीक दार्शनिकोंमें भी थी। यह बात उन्होंने भी मानी थी कि, आत्माके आसपास कोई न कोई भौतिक आवरण होना चाहिए। प्लेटिनसका मत यह था कि, आत्मा जिस समय पृथ्वीसे स्वर्गकी ओर जाता है, उस समय जब कि वह तारोंके समीप पहुँचता है, तब वहाँ उसका भौतिक आवरण गिर पड़ता है; और उसको स्वर्गीय आवरण अथवा देह प्राप्त होता है। परन्तु मार्फिरी नामक ग्रीक तत्ववेत्ताका मत प्लेटिनसके आगे गया था। वह कहता है—"तारोंके समीप भी आत्माका लिंगदेह नीचे नहीं गिरता। मानवी आत्माके अस्तित्वके लिए एक भौतिक लिंगदेह आत्माके पास होना चाहिए; और ऐसे ही लिंगदेहसे युक्त आत्मा मनुष्यके शरीरमें प्रवेश करता है; और इसी कारण वह अन्य शरीरमें प्रवेश नहीं कर सकता, अथवा उसे करनेकी इच्छा भी नहीं होती"। जैसा कि पहले कहा है, मार्फिरीका मत था कि, मनुष्यका आत्मा कभी पशुके शरीरमें प्रवेश नहीं करता। किन्तु वह सदैव मनुष्यके ही शरीरमें जाता है। प्लेटोके अनुयायियोंका, नवीन और प्राचीन दोनोंका, मत इससे भिन्न था। उनके मतानुसार आत्मा भिन्न भिन्न योनियोंमें प्रवेश करता है। पुनर्जन्मके फेरेमें कोई ऐसा विषय नहीं रहता कि अमुक ही योनिमें जन्म लेना चाहिए। भारती आर्य तत्वज्ञानके मतसे मनुष्य, देव, इत्यादि ऊँचे प्राणी और पशु, कीट, वृक्ष इत्यादि नीच जीवित प्राणी—इन सभीमें आत्माको कर्मानुसार फिरना पड़ता है। उसका मत है कि पशुओं और वृक्षोंमें भी आत्मा है। इस मतसे पूर्वोक्त पहले प्रश्नका बहुत ही उत्तम रीतिसे खुलासा हो जाता है। इस विषयमें कि आत्मा शरीरमें कैसे और कब प्रवेश करता है, थोड़ेमें और सरलतापूर्वक यह कहा जा सकता है कि आत्मा भोजनमें वनस्पतिके द्वारा जाता है; और उस भोजनके द्वारा जब उसे प्राणीके शरीरमें प्रवेश मिल जाता है, तब फिर वह वहाँसे रेतके द्वारा किसी न किसी योनिमें कर्मानुसार जाता है, और वहाँ उसे शरीर मिलता है। यह कल्पना बिलकुल अशास्त्रीय नहीं है। पाश्चात्य शारीर-शास्त्रवेत्ताओंका यह मत है कि पुरुषके (मनुष्य अथवा पशुके) रेतमें असंख्य स्पर्म होते हैं; और स्त्रीके रजसे उनका संसर्ग होता है। परन्तु उनमेंसे प्रत्येकमें प्राण-धारण अथवा बीज-धारणकी शक्ति नहीं होती। हजारों स्पर्मोंमें किसी एक-आध स्पर्ममें बीज अथवा जीव धारण करनेकी शक्ति होती है; और स्त्रीके शुक्रसे उसका संयोग होकर गर्भधारण होता है। इस बातका उपर्युक्त सिद्धान्तसे बहुत अच्छा मेल

मिलता है। हम यह मान सकते हैं कि अन्न द्वारा आत्मा पुरुषके शरीरमें प्रवेश करता है; और वहाँसे रेतके किसी रूपमें-में वह समाविष्ट होता है।

अच्छा, अब हम इस प्रश्नकी ओर आते हैं कि आत्मा जब शरीरसे निकल जाता है, तब वह कहाँ और कैसे जाता है। यह पहले ही बतलाया गया है कि वह दिखाई नहीं देता, अर्थात् बाहर निकलते समय उसे मानवी दृष्टिसे नहीं देख सकते। कहते हैं कि मरनेवाले प्राणीको चाहे काँचके सन्दूकमें ही क्यों न रखो, तथापि निकल जानेवाला आत्मा दिखाई नहीं देगा—इस प्रकार वह शरीरके भिन्न भिन्न अवयवोंसे बाहर निकलता है। शान्ति पर्वके ३१७ वें अध्यायमें यह बतलाया गया है, कि योगीका आत्मा भिन्न भिन्न अवयवोंसे निकलकर कहाँ कहाँ जाता है। वह पैरोंसे निकलकर विष्णुलोकको जाता है, जङ्घासे निकला हुआ वसुलोकको जाता है, इत्यादि वर्णन है। अर्थात् यह कहा है कि जिस अवयवसे वह निकलता है, उसी अवयवके देवताके लोकमें वह जाता है। सिरसे जब वह निकलता है, तब उसे ब्रह्मलोकका स्थान प्राप्त होता है। यह कल्पना उपनिषदोंमें भी पाई जाती है; और लोग ऐसा समझते हैं कि योगी और वेदान्तीका प्राणोत्क्रमण ब्रह्मरन्ध्रसे अर्थात् सिरकी खोपड़ीसे होता है।

देवयान और पितृयाण।

परन्तु यह देवलोककी गति सभी प्राणियोंको नहीं मिलती। कहते हैं कि साधारणतया आत्मा शरीरसे निकलकर चन्द्रलोकको जाता है। महाभारतमें इस विषयका विस्तारपूर्वक वर्णन कहीं दिखाई नहीं देता कि आत्मा चन्द्रलोकको जाता है, और वहाँसे लौटता है। तथापि जब कि उपनिषदोंमें यह गति बतलाई गई है, तब फिर वह महाभारतकारको अवश्य स्वीकार होनी चाहिए। भगवद्गीतामें "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्" इत्यादि श्लोकमें उत्तरगति बतलाई गई है। अग्नि, ज्योतिः (प्रकाश), दिवस, शुक्लपक्ष, उत्तरायणके मार्गसे योगीका आत्मा सूर्यलोकको जाकर, वहाँसे फिर ब्रह्मलोकको जाता है। परन्तु अन्य पुण्यवान् प्राणियोंका आत्मा,

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥

धूम रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायनके मार्गसे चन्द्रतक जाकर, फिर वहाँसे पुनरावृत्ति पाता है—अर्थात् मुक्त नहीं होता। इन सबको देवता माना है। उपनिषदोंमें यह भी कहा है कि चन्द्रलोकमें आत्मा कुछ दिनतक निवास करता है। तत्त्वज्ञानियोंका यह ख्याल है कि चन्द्रलोक पितरोंका लोक है। पाश्चात्य भौतिक शास्त्र-वेत्ता भी कहते हैं कि चन्द्रलोक मृत है—अर्थात् ज्योतिर्विदोंका मत है कि चन्द्र पर कोई जीवित वस्तु नहीं है। चन्द्रलोकसे लौटते हुए आकाश, वहाँसे वायु, वायुसे पृथ्वी, वहाँसे अन्न और अन्न द्वारा पुरुषके पेटमें आहुतिरूपसे उसका प्रवेश होता है।

अभी ऊपर आत्माके जानेके जिस मार्गका वर्णन किया गया, उसे पितृयाण-पथ कहते हैं। जो पुण्यवान् प्राणी यज्ञादि सकाम कर्म करते हैं, अथवा कूआँ, तालाब इत्यादि बँधवाकर परोपकारके कार्य करते हैं, उनके आत्मा इस मार्गसे जाते हैं। इसके भी पहले जो मार्ग बतलाया है, वह देवयान पथके नामसे प्रसिद्ध है। वह सूर्यलोकके द्वारा ब्रह्मलोकको जाता है; और वहाँसे फिर उसकी पुनरा-

वृत्ति नहीं होती। इस मार्गसे योगी, वेदान्ती और जो अत्यन्त पुण्यवान् प्राणी उत्तरायण शुक्ल पक्षमें मरते हैं, वे जाते हैं। सूर्यलोकमें जाने पर विद्युत्की सहायतासे वे भिन्न भिन्न स्थानोंमें भी जाते हैं; और वहाँसे, अथवा सीधे, ब्रह्मलोकको जाते हैं। कुछ कुछ इसी प्रकारकी कल्पना ग्रीक तत्ववेत्ता प्लोटिनसकी भी है। वह कहता है—"जो लोग इस पृथ्वी पर उत्तम नीतिपूर्ण आचरण करते हैं, वे मरने पर सूर्यतक जाते हैं: पर वहाँसे फिर वे लौटते हैं, और पुण्याचरण करके फिर ऊपर जाते हैं: इस प्रकार अनेक जन्मोंके बाद उनको अन्तिम मोक्ष, अर्थात् जड़देहसे मुक्ति मिलती है।" साधारण भारती आस्तिक मतवादियोंके मतानुसार ब्रह्मलोक ही अन्तिम गति है। वहाँसे फिर आत्मा नहीं लौटता, और अन्य लोक उससे कम दर्जेके हैं, जहाँसे आत्मा लौट आता है। विष्णुलोक अथवा वैकुण्ठ, शङ्करलोक अथवा कैलास इत्यादि अनेक लोक हैं। ऐसा ख्याल है कि इन सब लोकोंमें पुण्य भोगनेके बाद आत्मा लौट आता है। यद्यपि कहा गया है कि—

तारारूपाणि सर्वाणि यत्रैतत् चन्द्रमंडलम्
यत्र विभ्राजते लोके स्वभासा सूर्यमंडलम्॥
स्थानान्येतानि जानीहि जनानां पुण्यकर्मणाम्
कर्मक्षयाच्च ते सर्वे च्यवन्ते वै पुनः पुनः॥

तथापि शिव अथवा विष्णुके उपासक अपने अपने लोकोंको अन्तका ही लोक मानते हैं; परन्तु इन्द्रलोक अथवा स्वर्ग सबसे नीचेका लोक है: और यह सभीका मत है कि यहाँसे पुण्य क्षय हो जाने पर प्राणी नीचे पृथ्वी पर उतर आता है। क्योंकि इन्द्रदेवता यद्यपि वैदिककालीन है, तथापि बादके कालमें नीचेके दर्जेकी मानी गई।

अधोगति।

देवयान और पितृयाणके अतिरिक्त एक और तीसरा मार्ग पापी लोगोंके आत्माका होता है। ये आत्मा ऊर्ध्वगतिको जाते ही नहीं, किन्तु देहसे निकलते ही किसी न किसी तिर्यक् योनिमें जाते हैं: मशक, कीटक इत्यादि क्षुद्र प्राणियोंके जन्ममें जाकर बार बार मरणको प्राप्त होकर फिर फिर वही जन्म लेते हैं, अथवा कुत्ते, गीदड़ इत्यादिकी दुष्ट पशुयोनियोंमें जाते हैं। आत्माके संसरण और पुण्यपापाचरणका इस प्रकार मेल मिलाकर भारती आर्य तत्ववेत्ताओंने नीतिके आचरणको श्रेष्ठ परिस्थितितक पहुँचा दिया। महाभारतमें अनेक जगह इस बातका खूब विस्तृत विवेचन किया गया है कि कौनसा पाप करनेसे कौनसी गति, अर्थात् पापयोनि मिलती है। उसे यहाँ बतलानेकी आवश्यकता नहीं। परन्तु आस्तिक और श्रद्धासे चलनेवाले साधारण जनसमूहको पापाचरणसे निवृत्त करनेकी यह बहुत ही अच्छी व्यवस्था है।

संसृतिसे मुक्ति।

सभी भारती तत्वज्ञानी यह मानते हैं कि संसृतिके इस सतत चलनेवाले जन्ममरणके फेरेसे मुक्त होना ही मानवी जीवनके इति कर्तव्यका उच्चतम हेतु है। क्योंकि जैसा हमने पहले बतलाया है, पुनर्जन्मका फेरा सब मतवादियोंको स्वीकार है। सब तत्वज्ञानोंका अन्तिम साध्य मोक्ष है। प्रत्येक तत्वज्ञानका कर्तव्यक्षेत्र अथवा उपदेश-कार्य यही है कि ऐसा उपाय वह बतलावे, जिससे मनुष्यको इस भवचक्रसे मुक्ति मिले। सबका अन्तिम साध्य एक ही है। हाँ, भिन्न भिन्न मतोंके मार्ग भिन्न भिन्न हैं। कपिल मतानुयायी सांख्य यह मानते हैं कि

मनुष्यको जब पचीस तत्वोंका ज्ञान हो जाता है, तब वह मोक्ष पाता है। उनका सिर्फ संख्यान ही मोक्षका कारण है। (अनुगीता अनुशासन प० अध्याय ४६।) पुरुष-प्रकृति-विवेक भी सांख्योंने बतलाया है। सब बातें प्रकृति करती है। जिस समय मनुष्यको यह पूर्ण अनुभव होता है कि मैं प्रकृतिसे भिन्न होकर अकर्ता हूँ, उस समय जन्म-मरणके फेरेसे वह मुक्त होता है। योगियोंका मत यह है कि आत्माको मन इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें फँसाता है, अतएव इन्द्रियोंका अवरोध करके मनको स्वस्थ बैठाकर आत्माको विषयोपभोगसे परावृत्त करने पर मोक्ष मिलता है। और वेदान्तियोंका मत यह है कि आत्मा परब्रह्मका अंश है, परन्तु अज्ञानवश वह यह बात भूल जाता है; और इस जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ जाता है। अज्ञान नष्ट होने पर आत्माको यह यथार्थ ज्ञान हो जाता है कि मैं परब्रह्म-स्वरूपी हूँ, तब मनुष्य मुक्त होता है। अन्य तत्वज्ञानियोंके क्या मत हैं, उनका आगे विचार करेंगे।

परब्रह्म-स्वरूप।

यहाँ वेदान्तके आस्तिक मतमें बतलाये हुए परब्रह्मका हमको विशेष विचार करना चाहिए। परब्रह्मकी कल्पना भारती आर्योंकी ईश्वर-विषयक कल्पनाओंका अत्युच्च स्वरूप है। ईश्वरकी कल्पना सब लोगोंमें बहुधा व्यक्त स्वरूपकी, अर्थात् मनुष्यके समान ही रहती है। परन्तु मनुष्यत्वको छोड़कर केवल सर्वशक्तिमान् निर्गुण ईश्वरकी कल्पना करना बहुत कठिन काम है। उपनिषदोंमें परब्रह्मका बहुत ही वक्तृत्व-पूर्ण और उच्च वर्णन है, जिसका मनुष्यसे अथवा सगुण स्वरूपसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। भारती आर्योंकी तत्व-विवेचक बुद्धिके अकलुषित उच्च विकासका वह एक अप्रतिम फल है; और इस कारण वह अत्यन्त तेजस्वी तथा प्रभावशाली है। महाभारत-कालमें निर्गुण उपासना बहुत पीछे हट गई थी; और सगुण उपासना बढ़ गई थी। इसके अतिरिक्त भारती तत्वज्ञानका विकास कितनी ही शताब्दियोंतक भिन्न भिन्न दिशाओंसे हुआ था, और परस्पर विरोधी अनेक तत्वज्ञानोंके सिद्धान्त प्रचलित हो गये थे। इस भाँति अन्ध श्रद्धाके भिन्न भिन्न भोले-भाले सिद्धान्त भी उपस्थित हो गये थे। इस कारण महाभारतमें तत्वज्ञानकी चर्चा करनेवाले जो भाग हैं, वे एक प्रकारसे क्लिष्ट और गूढ़ कल्पनाओं और विरोधी वचनोंसे भरे हुए हैं, तथा भिन्न भिन्न मतोंके विरोधको हटा देनेके प्रयत्नसे बहुत ही मिश्रित हो गये हैं। इस कारण, उपनिषदोंकी तरह, एक ही मतसे और एक ही दिशासे बहती जानेवाली बुद्धिमत्ताकी भारी बाढ़से पाठकगण तल्लीन नहीं हो पाते। उपनिषदोंकी भाँति परब्रह्मके उच्च वर्णन भी महाभारतमें नहीं हैं। ब्रह्मैक्य होने पर जो अवर्णनीय ब्रह्मानन्द होता है, उसके वर्णन भी महाभारतमें नहीं हैं। अथवा मुक्तावस्थामें केवल ब्रह्मस्वरूपका ध्यान करके, सब वैषयिक वासनाओंका त्याग करके, ब्रह्मानन्दमें मग्न होनेवाले मुनियोंकी दशाके वर्णन भी महाभारतमें नहीं हैं। फिर भी उपनिषदोंका ही प्रकाश महाभारत पर पड़ा है। भगवद्गीता भी उपनिषद्-तुल्य ही है; और उच्च कल्पनाओंसे भरी हुई है। सनत्सुजातीय आख्यानमें भी कोई कोई वर्णन वक्तृत्वपूर्ण है। उससे ब्रह्मका वर्णन और ब्रह्मसे ऐक्य पानेवाली स्थितिके सुखका वर्णन हम यहाँ पर उदाहरणार्थ लेते हैं। "परब्रह्म जगत्का

परम आदि कारण है; और अत्यन्त तेजःस्वरूप तथा प्रकाशक है। उसीको योगी अपने अन्तर्यामसे देखते हैं। उसीसे सूर्यको तेज मिला है; और इन्द्रियोंको भी शक्ति उसी परब्रह्मसे मिली है। उस सनातन भगवान्का दर्शन ज्ञान-योगियोंको ही होता है। उसी परब्रह्मसे यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है; और उसीकी सत्तासे यह जगत् चल रहा है। उसीके तेजसे ब्रह्माण्डकी सारी ज्योतियाँ प्रकाशमान हैं। वह सनातन ब्रह्मयोगियोंको ही दिखाई पड़ता है। जल, जलसे उत्पन्न होता है; सूक्ष्म महाभूतोंसे स्थूल महाभूत उत्पन्न होते हैं; यह सारी जड़ और चेतन सृष्टि, देव, मनुष्य इत्यादि उत्पन्न होकर सम्पूर्ण पृथ्वी भर जाती है; और तीसरा आत्मा अश्रान्त और तेजोयुक्त सारी सृष्टिको, पृथ्वीको और स्वर्गको धारण कर रहा है। उस आत्मरूपी परब्रह्मको और सनातन भगवान्को योगी लोग देखते हैं। इसी आदि कारणने ऊँची-नीची सब जीवसृष्टि और पृथ्वी, आकाश तथा अन्तरिक्षको धारण किया है। सारी दिशाएँ भी उसीसे निकली हैं, और सब नदी और अपरम्पार समुद्र भी उसीसे निकले हैं। उस भगवान्को योगी देखते हैं। उस सनातन परमात्माकी और जीवात्मा नश्वर देहरूपी रथमें इन्द्रियरूपी घोड़े जोतकर दौड़ता है। उस परब्रह्मकी कोई मूर्ति अथवा प्रतिकृति नहीं हो सकती। अथवा आँखोंसे उसे देख भी नहीं सकते। परन्तु जो लोग उसका अस्तित्व अपने तर्क, बुद्धि और हृदयसे ग्रहण करते हैं, वे अमर होते हैं। यह जीव-नदी बारह प्रवाहोंसे बनी है। इसका पानी पीकर और उस पानीके माधुर्यसे मोहित होकर असंख्य जीवात्मा इसी आदि कारणके भयङ्कर चक्रमें फिरते रहते हैं; ऐसे उस सनातन भगवान्को ज्ञानयोगी ही जानते हैं। यह सर्वत्र संसरण करनेवाला जीव अपना आधा सुकृत चन्द्रलोक पर भोगकर बाकी आधा पृथ्वी पर भोगता है। जीवात्मारूपी पक्षी पंखरहित है और सुवर्णमय पक्षोंसे भरे हुए अश्वत्थ वृक्ष पर आकर बैठते हैं; फिर उनके पंख फूटते हैं, जिनसे वे अपनी इच्छाके अनुसार चारों ओर उड़ने लगते हैं। इस पूर्ण ब्रह्मसे ही पूर्ण उत्पन्न हुआ है; उसीसे दूसरे पूर्ण उत्पन्न हुए हैं; और उन पूर्णोंसे चाहे इस पूर्णको निकाल डालें, तो भी पूर्ण ही शेष रहता है। इस प्रकारके उस सनातन भगवान्को योगी लोग ही देखते हैं। उसीसे वायु उत्पन्न होते हैं; और उसीकी ओर लौट जाते हैं। अग्नि, चन्द्र उसीसे उत्पन्न हुए हैं। जीव भी वहींसे उत्पन्न हुआ है। संसारकी सब वस्तुएँ उसीसे उत्पन्न हुई हैं। पानी पर तैरनेवाला यह हंस अपना एक पैर ऊँचा नहीं करता; परन्तु यदि वह करेगा, तो मृत्यु और अमरत्व दोनोंका सम्बन्ध टूट जायगा (परमात्मा हंसरूपी है। वह संसाररूपी उदयसे एक पाद कभी ऊपर नहीं निकालता; परन्तु यदि वह निकाले तो फिर संसार भी नहीं है; और मोक्ष भी नहीं है।) मनुष्यको केवल हृदयसे ही परमेश्वरका ज्ञान होता है। जिसे उसकी इच्छा हो, उसको अपने मनका नियमन करके और दुःखका त्याग करके अरण्यमें जाना चाहिए। और यह भावना रखकर कि मुझे किसीका भी मान न चाहिए, मुझे मृत्यु भी नहीं और जन्म भी नहीं, उसे सुख प्राप्तिसे आनन्दित न होना चाहिए, और दुःखप्राप्तिसे दुःखी भी न होना चाहिए, किन्तु परमेश्वरके प्रति स्थिर रहना चाहिए। इस प्रकार जो मनुष्य यत्न करता है, वह इस बातसे दुःखित

नहीं होता कि अन्य प्राणी अन्य बातोंमें रत हैं। हृदयमें रहनेवाला अंगुष्ठप्रमाण आत्मा यद्यपि अदृश्य है, तथापि वही आदि परमेश्वर है। ऐसे सनातन भगवान्को योगी अपनेमें ही देखते हैं।"

महाभारतका उपर्युक्त परब्रह्म-वर्णन बहुत ही वक्तृत्वपूर्ण है; परन्तु कुछ गूढ़ भी है। उसमें अवर्णनीय परब्रह्मके वर्णनका प्रयत्न किया गया है। वह यद्यपि उपनिषदोंके वर्णनकी भाँति हृदयङ्गम नहीं है, तथापि सरस और मन पर छाप बैठानेवाला है। पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओंने भी परमेश्वरका स्वरूप परमात्मा कहकर ही वर्णन किया है। परमात्मा और जीवात्मा, ये दो आत्मा प्लेटोके तत्त्वज्ञानको स्वीकार हैं। परन्तु उपर्युक्त वर्णनमें इससे भी आगे कदम बढ़ाया गया है। परमेश्वर सृष्टिका आदि कारण है। वही सृष्टिका उपादान भी है। वह अविनाशी और सर्वशक्तिमान् है। वह इस संसारका भी कारण है। उसीसे सब जीवात्मा उत्पन्न हुए हैं। पक्षी कामरूपी पंखके सहारेसे सुवर्णके ही समान चमकनेवाले संसारमें फिरते हैं। मनुष्योंको इन कामोंका निरोध करके, वनमें जाकर, नियमयुक्त रहकर, अपनी बुद्धिसे जगत्के उत्पन्नकर्त्ताका ध्यान करना चाहिए, इससे उनको अक्षय सुख प्राप्त होगा। मनुष्यका आत्मा और परमात्मा एक हैं। इस एकत्वका जब मनुष्यको अनुभव होता है, तब वह नित्य सुखका अनुभव करता है। यही संक्षेपमें इसका तात्पर्य है। इसमें परमेश्वरकी तीन विभूतियोंका वर्णन किया गया है। जिस समय केवल परमात्मा अविकृत होता है, उस समयका एक स्वरूप, जिस समय वह सृष्टिरूप होता है, उस समयका दूसरा स्वरूप, और जिस समय वह मनुष्यके हृदयमें जीवात्माके रूपसे रहता है, वह तीसरा स्वरूप है। इस प्रकारके, परमात्माके, भिन्न भिन्न सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले, तीन स्वरूप ग्रीक तत्त्ववेत्ताओंने भी माने हैं। प्लेटो-मतवादियोंने ईश्वरी त्रैमूर्तिकी कल्पना की है; और प्लेटोके नवीन मतानुयायियोंका भी ऐसा ही मत था। उन्होंने उसके जो नाम दिये हैं, वे इस प्रकार हैं:—अद्वितीय, बुद्धि और जीवात्मा। उनका मत इस प्रकार है—"जिस समय परमात्मा अपनी ही ओर झुका, उस समय अपने ही प्रति विचार उत्पन्न हुआ। यही उसकी बुद्धि है। परमेश्वर कहते हैं सर्वशक्तिमत्त्वको। इस प्रकार उससे मानों बुद्धिका विभाग हुआ। उस बुद्धिने उस सर्वशक्तिमत्त्वका चिन्तन किया। इस रीतिसे बुद्धिमें अहंभावना उत्पन्न हुई; बुद्धिमें हजारों कल्पनाएँ उत्पन्न हुईं; जीवात्मामें हजारों रूपोंका प्रतिबिम्ब पड़ा; अव्यक्त पर उनका प्रभाव हुआ और सृष्टिका भारी प्रवाह प्रारम्भ हुआ।" सांख्योंके मतानुसार भी प्रकृति यानी जगत्के आदि कारण और स्थूल सृष्टिके मध्य दो सीढ़ियाँ इसी प्रकार हैं। पहली सीढ़ी महत् है; अर्थात् प्रकृति अथवा अव्यक्त जो स्वस्थ था, उसमें हलचल उत्पन्न हुई। अहङ्कार दूसरी सीढ़ी है; अर्थात् प्रकृतिमें स्वशक्तिकी अहंभावना जागृत हुई। उसके होते ही पंचमहाभूत उत्पन्न हुए; और सृष्टिक्रम शुरू हुआ। वेदान्तियोंके मतसे भी इसी प्रकारकी, आत्माकी, सीढ़ियाँ लगी हुई हैं; और उन्होंने भी महान् आत्मा अथवा बुद्धि और अहङ्कारकी कल्पना की है। तात्पर्य यह है कि, इस ऊँची-नीची सृष्टि और अज, अनादि, पूर्ण, निष्क्रिय, निरिच्छ, निर्विकार आत्माका सम्बन्ध जोड़ते हुए बीचमें ईश्वरी शक्तिकी दो तीन सीढ़ियाँ माननी पड़ती हैं, यह स्पष्ट है।

मोक्ष-प्राप्ति ।

ईश्वरसे जीवात्माका पूर्ण तादात्म्य करना ही भारतीय आर्य तत्वज्ञानका अन्तिम ध्येय है: और इसीका नाम मोक्ष है। इस मोक्षका साधन सनत्सुजातीय आख्यानमें यही निश्चित किया गया है कि, संसार छोड़कर, अरण्यमें जाकर, निष्क्रिय बनकर, परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिए। वेदान्त, सांख्य और योग-का मोक्षमार्ग प्रायः यही है। ऐसी दशा-में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, जो मनुष्य संसार छोड़कर अरण्यमें नहीं जाता, किन्तु संसारमें रहकर धर्माचरण करके जीवन व्यतीत करता है, उस मनुष्यके लिए मोक्ष है या नहीं? जो मनुष्य मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, उसे क्या जंगलमें अवश्य जाना चाहिए? अथवा जगत्के सब कर्मोंका त्याग करके क्या जगत्का और अपना सम्बन्ध उसे अवश्य तोड़ना चाहिए? महाभारतमें इस प्रश्नकी चर्चा अनेक स्थानोंमें की गई है, और इस प्रश्नका फैसला कभी इस तरफ तो कभी उस तरफ़ दिया गया है। शांतिपर्वमें उल्लेख है कि—

कस्यैषा वाग्भवेत्सत्या नास्ति मोक्षो गृहादिति। (शां० अ० २६६-१०)

"यह किसका कथन सत्य होगा कि, घरमें रहनेसे मोक्ष नहीं मिलेगा?" तात्पर्य इस विषयमें भिन्न मतोंका विचार करते हुए महाभारत-कालमें यही मत विशेष ग्राह्य किया गया है कि, घरमें रहनेसे मोक्ष नहीं मिलता।

वैराग्य और संसार-त्याग।

यह सचमुच ही एक बड़ी विचित्र बात है कि, चार्वाकके अतिरिक्त, और सब भिन्न भिन्न मतोंके भारतीय आर्य तत्वज्ञानी यही मानते हैं कि संसारमें दुःख भरा है; और इसी कारण वे संसार-को छोड़ देने या किसी न किसी प्रकारसे अलिप्त रहनेका उपदेश करते हैं। सांख्य-मतवादी हों अथवा योगी हों, वेदान्ती हों अथवा नैय्यायिक हों, बौद्ध हों अथवा जैन हों, उन सभीके मतमें यही विचार पाया जाता है कि, इस संसारके सुख मिथ्या हैं और इसका वैभव क्षणिक है। बुद्धकी तीव्र बुद्धिमें, एक रोगी मनुष्य, एक बुड्ढा मनुष्य, एक मरा हुआ मनुष्य देखते ही वैराग्य उत्पन्न हो गया। उनके मनमें भरे हुए संसारकी सम्पूर्ण वस्तुओंके द्वेषको भड़कानेके लिए, इतनी ही चिनगारी काफी हुई: और उनकी तीव्र भावना हो गई कि यह जगत्, जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि-के दुःखसे भरा हुआ है। बस, वे घर छोड़कर निकल गये। मोक्षधर्मके शान्तिपर्वमें, पहले अध्यायमें, जगत्की नश्वरताका पूर्ण विवेचन किया गया है, और पाठकोंके मनमें जगत्के विषयमें विराग उत्पन्न करनेका अच्छा प्रयत्न किया गया है। हमारे सब तत्वज्ञानों-का यह मत है कि, जिसे मोक्ष पानेकी इच्छा हो, उसे पहले वैराग्य ही चाहिए। हमने पहले इस बातका विचार किया ही है कि योगियोंका मत यहाँतक दूर पहुँच गया था कि, इन्द्रियों-के द्वारा आत्माका विषयोंसे संसर्ग होना ही बन्धका कारण है; और इस प्रकारका संसर्ग बन्द होकर जब मन स्थिर होगा, तभी इस बन्धनसे मोक्ष मिलेगा। सांख्यों-का मत तो ऐसा ही है कि, सुख और दुःख आत्माके धर्म नहीं हैं, किन्तु वे प्रकृतिके धर्म हैं: और मोक्षका अर्थ यही है कि, यह बात आत्माके निदर्शनमें आनी चाहिए: सुख-दुःखसे उसका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। प्रकृति-पुरुष-विवेक यही है। यही एक प्रकारसे संसारका

त्याग है। बौद्धों और जैनोंका तो संसार-त्यागके लिए पूर्ण आग्रह था। इसी लिए उन्होंने भिक्षुसङ्घकी संस्था स्थापित की; तथा बौद्ध और जैन भिक्षुके नातेसे इसी कारण प्रसिद्ध हुए। इस बातका एक प्रकारसे आश्चर्य ही मालूम होता है कि भारतीय आर्योंके अधिकांश तत्त्वज्ञानोंका साधारणतया संसारत्यागके लिए आग्रह है। क्योंकि जिस देशमें वे रहते थे, उसमें सब प्रकारके भौतिक सुखसाधन पूर्णतया भरे हुए थे। अर्थात् संसारसे उद्विग्नता आनेके लिए भारतवर्षमें कोई परिस्थिति अनुकूल न थी। कदाचित् यह भी हो सकेगा कि, भारती आर्योंका स्वभाव प्रारम्भसे ही वैराग्ययुक्त हो; और सम्पूर्ण देशकी राज्यव्यवस्था भी धीरे धीरे उनके मनकी पूर्व-प्रवृत्तिमें दृढ़ता लानेके लिए साधनीभूत हो गई हो। जिस समाजमें भिन्न भिन्न व्यक्ति समाजके कल्याणके विषयमें, सबका सम्बन्ध न रहनेके कारण विचार नहीं करते, उस समाजमें समष्टि-रूपसे सजीवताका अहंभाव उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने निजके सुख-दुःखके ही विचारसे ग्रस जाती है। सम्पूर्ण समष्टि-रूपके समाजके सुख-दुःख उसके मनके सामने खड़े नहीं होते। अथवा उनकी चिन्ता वह नहीं करता। राज्यरूपी समाज चूँकि दीर्घायु होता है, अतएव राज्य-विषयक कल्पनाओंसे प्रत्येक मनुष्यके मनमें जागृति होती है, उसके क्षणिक सुख-दुःखका उसे विस्मरण हो जाता है और उसके मनमें यह भावना उत्पन्न नहीं होती कि संसार केवल दुःखमय है। इस बातका हमने पहले ही विचार किया है कि, भारतवर्षके राज्य धीरे धीरे भारत-कालमें एकतन्त्री राजसत्तात्मक हो गये थे। अर्थात् क्षत्रियोंके अतिरिक्त अन्य वर्णोंका, अर्थात् ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रोंका, राजनैतिक विषयोंसे प्रायः सम्बन्ध नहीं रहा था। इस कारण राज्य-सम्बन्धी व्यवहारके विषयमें उनको चिन्ता नहीं रही। राष्ट्रीय जीवनकी अहं-भावना उनके अन्दरसे नष्ट हो गई; और जिसे देखिए, वही अपने सुख-दुःखोंसे व्याप्त हो गया, और शायद इसीसे साधारण लोगोंमें और ब्राह्मण वर्णमें भी ऐसी कल्पना फैल गई कि, वास्तवमें संसार दुःखमय है। अस्तु; इस बातका कारण कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय प्राचीन आर्य तत्त्वज्ञानोंका झुकाव यही माननेकी ओर है कि, संसार दुःख-मय है। ऐसी दशामें अवश्य ही उनका यह मत होना स्वाभाविक है कि, संसारके पुनर्जन्मके फेरेसे छूटनेका सरल और एकमात्र उपाय संसार-त्याग ही है।

कर्मयोग।

सभी तत्त्वज्ञानी इस प्रकार डरपोक और संसारसे डरकर भाग जानेवाले नहीं थे। कुछ ऐसे ढीठ, जोरदार और बुद्धिमान लोगोंका उत्पन्न होना आर्योंके इतिहासमें आश्चर्यकारक नहीं कि, जिन्होंने साधारण लोकमत-प्रवाहके विरुद्ध यह प्रतिपादन किया कि, संसारमें रहकर धर्म तथा नीतिका आचरण करना ही मोक्षका कारण है। ऐसे थोड़े तत्त्वज्ञानियोंमें एक श्रीकृष्ण अग्रणी थे। उन्होंने अपना यह स्वतन्त्र मत भगवद्गीतामें प्रतिपादित किया है। श्रीकृष्णके मतका विस्तारपूर्वक विचार हम अन्य अवसर पर करेंगे। परन्तु यहाँ उनके उपदेशका सारांश थोड़ेमें बतलाना आवश्यक है। वह यह है कि, मोक्षप्राप्तिके लिए निष्क्रियत्व अथवा संन्यास जितना निश्चित और विश्वासपूर्ण मार्ग है, उतना ही स्वधर्मसे, न्यायसे, निष्काम बुद्धिसे, अर्थात् फलत्याग बुद्धिसे, कर्म करना भी

मोक्षका निश्चित और विश्वासपूर्ण मार्ग है। धर्मयुक्त निष्काम कर्माचरणका मार्ग सिर्फ भगवद्गीतामें ही नहीं बतलाया गया है; किन्तु सम्पूर्ण महाभारतमें, अथसे लेकर इतितक, इसका उपदेश मौजूद है। महाभारत और रामायण यह दो आर्ष-काव्य इसी उपदेशके लिए अवतीर्ण हुए हैं। संन्यास अथवा योगकी भाँति धर्माचरण भी मुक्तिप्रद है, यही बात मन पर जमा देनेके लिए इन राष्ट्रीय ग्रन्थोंका जन्म है। किसी विपत्तिमें भी अथवा संसारके किसी प्रलोभनसे मनुष्यको धर्माचरणका मार्ग न छोड़ना चाहिए, यही उच्च तत्त्व सिखलानेके लिए वाल्मीकि और व्यासके सारे परिश्रम हैं। इन राष्ट्रीय महाकाव्योंने राम, युधिष्ठिर, दशरथ, भीष्म, इत्यादिके चरित्र, कर्मयोगका अमर सिद्धान्त पाठकोंके चित्त पर अंकित करनेके लिए, अपनी उच्च वाणीसे, अत्यन्त उत्तम चित्रोंसे रँगे हैं; और उन चरित्रोंके द्वारा उन्होंने यह उपदेश दिया है कि, इसी उच्च तत्त्वके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यको परमपद प्राप्त होगा। हमारे मतसे, महाभारतका पोथा चाहे जितना बढ़ गया हो और उसमें भिन्न भिन्न अनेक विषयोंकी चर्चा चाहे जितनी की गई हो, तथापि उसका परमोच्च नीति धर्मतत्त्वोंका यह सिद्धान्त कहीं लुप्त नहीं हुआ है; और वह पाठकोंकी दृष्टिके सामने स्पष्ट अक्षरोंमें सदैव लिखा हुआ दिखाई देता है।

यह बात निर्विवाद स्वीकार करनी चाहिए कि, नीतिकी कल्पना और सिद्धान्त भारतवर्षमें धर्मकी कल्पना और सिद्धान्तसे मिला हुआ है। पाश्चात्य तत्वज्ञानियोंकी भाँति भारतीय आर्य तत्वज्ञानियोंकी बुद्धिमें नीति और धर्मका भेद आरूढ़ नहीं होता। तथापि किसी किसी जगह महाभारतमें ऐसा भेद किया गया है। धर्म शब्दमें वास्तवमें सम्पूर्ण आचरणका समावेश होता है; परन्तु महाभारतमें यह बात बतलाई गई है कि, धर्मके दो भाग, एक अधिक श्रेष्ठ और दूसरा कम श्रेष्ठ, हो सकते हैं। वनपर्वमें धर्म आठ प्रकारका बतलाया गया है। यज्ञ, वेदाध्ययन, दान और तपका एक वर्ग किया गया है; और सत्य, क्षमा, इन्द्रियदमन, और निर्लोभता इन चारका दूसरा भाग है।

> इज्याध्ययनदानानि
> तपः सत्यं क्षमा दमः।
> अलोभइति मार्गोयं
> धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥

इनमेंसे पहले चार पितृयाण-संज्ञक मार्गकी प्राप्तिके कारण हैं: और दूसरे चार देवयान-संज्ञक मार्गकी प्राप्तिके कारण हैं। सज्जन निरन्तर उनका अवलम्बन करते हैं। (वनपर्व अध्याय २:—तत्रपूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयाणपथे स्थितः उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा)। इन दो भेदोंसे धर्मके, कर्ममार्ग और नीतिमार्ग, ये दो भाग किये गये हैं, जिनमेंसे पहला भाग कम दर्जेका है और दूसरा श्रेष्ठ दर्जेका है। यज्ञ, अध्ययन, दान और तप, ये धर्मकार्योंके, आजकलके भी प्रसिद्ध स्वरूप हैं। परन्तु यहाँ पर यह सूचित किया गया है कि, धर्मकार्य करनेवाले लोग पितृयाणसे, जैसा कि पहले बतलाया है, चन्द्रलोकको जाकर अथवा स्वर्गको जाकर फिर वहाँसे पुनरावृत्ति पावेंगे। सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह और निर्लोभता, ये धर्मके दूसरे भाग आजकलकी दृष्टिसे नीतिके भाग हैं; और इनका आचरण करनेवाले लोग, जैसा कि हमने पहले बतलाया है, देवयानसे ब्रह्मलोकको जाकर फिर वहाँसे नहीं लौटेंगे। अर्थात् महाभारतकारका यह सिद्धान्त स्पष्टतया दिखाई पड़ता है कि, नीतिका आचरण

करनेवाला पुरुष भी वेदान्तीकी भाँति अथवा योगीकी भाँति मोक्षको प्राप्त होगा। यहाँ पर जो यह बतलाया गया है कि, इस मार्गका आचरण सज्जन लोग करते हैं, उसका मार्मिक खुलासा उद्योगपर्वमें एक जगह किया गया है।

अत्रपूर्वश्चतुर्वर्गो दंभार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति॥

यह बात संसारके अनुभवकी है कि यज्ञ, वेदपठन, दान, तप, इत्यादि बातें अधार्मिक मनुष्य भी दम्भके लिए कर सकता है। परन्तु दूसरा मार्ग अर्थात् नीतिका मार्ग सत्य, क्षमा, दम और निर्लोभता ढोंगसे नहीं आ सकते। जो सचमुच ही नीतिमान् महात्मा हैं, उन्हींसे इन सद्गुणोंका आचरण होता है। यही चतुर्विध धर्म मनुस्मृतिमें बढ़ाकर दशविध धर्म बतलाया गया है। उसे प्रत्येक मनुष्यको—फिर वह चाहे किसी वर्ण अथवा आश्रमका हो—अवश्य पालना चाहिए। भगवद्गीतामें इस विषयका विचार अप्रतिम रीतिसे किया गया है; और यह बतलाया है कि, सज्जनोंके सद्गुण कौनसे होते हैं। इन सद्गुणोंको दैवी सम्पत्का नाम दिया गया है। वे सद्गुण ये हैं:—निर्भयता, चित्तशुद्धि, ज्ञानयोगमें एकनिष्ठता, दातृत्व, बाह्य इन्द्रियोंका संयम, यज्ञ और अध्याय, सरलता, अहिंसा, सत्यभाषण, अक्रोध, त्याग, शांति, चुगली न करना, प्राणिमात्र पर दया करना, विषय-लम्पट न होना, नम्रता, अनलज्जा, स्थिरता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, दूसरेसे डाह न करना और मानीपनका अभाव, ये दैवी सम्पत्तिके गुण हैं; और दम्भ, दर्प (गर्व), मानीपन, क्रोध, मर्मवेधक भाषण, अज्ञान, ये आसुरी सम्पत्तिके लक्षण हैं—"दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।" दैवी सम्पत्तिसे मोक्ष प्राप्त होगा; और आसुरी सम्पत्तिसे बन्धन मिलेगा। इस वचनसे जान पड़ता है कि, गीताका यह स्पष्ट मत है कि, नीतिका आचरण मोक्षका ही कारण है। समग्र महाभारतका भी मत देवयानपथके वर्णनसे वैसा ही है, सो ऊपर बतलाया ही है।

धर्माचरण मोक्षप्रद है।

यह माननेमें कोई आश्चर्य नहीं कि, वेदान्त-ज्ञान और योगसाधनसे जिस प्रकार मोक्षप्राप्ति है, उसी प्रकार संसारके नैतिक आचरणसे भी मोक्षप्राप्ति है। क्योंकि कितने ही लोगोंकी यह धारणा होती है कि, नीतिका आचरण वेदान्तज्ञानके समान कठिन नहीं है; परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। संसारमें नीतिसे चलनेका काम, जङ्गलमें जाकर योगसे मन निश्चल करनेके समान ही, किंबहुना उससे भी अधिक कठिन है। ऐसा आचरण करनेवाले लोग युधिष्ठिर और रामके समान अथवा भीष्म और दशरथके समान, प्रत्येक समय, हाथकी उँगलियों पर गिनने योग्य ही मिलते हैं। इस संसारमें मनुष्य पर सदैव ऐसे अवसर आते हैं कि बड़ा धैर्यशाली और दृढ़ मनुष्य भी नीतिका मार्ग छोड़ देनेको उद्यत हो जाता है। ऐसा मनुष्य भी स्वार्थके चक्करमें पड़ जाता है। विद्वान् भी ऐसे संशयमें पड़ जाते हैं कि, नीतिके आचरणसे वास्तवमें कुछ लाभ है या नहीं; और फिर वे सत्य, क्षमा और दयाका मार्ग छोड़ देते हैं। साधारण मौकों पर भी बड़े बड़े प्रतिष्ठित मनुष्य, थोड़े स्वार्थके लिए, सत्यका सहारा छोड़ देनेके लिए तैयार हो जाते हैं; फिर साधारण जनोंका क्या कहना है? यह बात हम संसारमें पग पग पर देखते ही रहते हैं। फिर इसमें क्या सन्देह है कि, नीतिका

आचरण योगके आचरणसे भी कठिन है। इस विषयमें महाभारतकारने वन-पर्वमें युधिष्ठिर और द्रौपदीका सम्वाद बहुत ही सुन्दर दिया है। द्रौपदी कहती है—"तुम 'धर्म ही धर्म' लिए बैठे हो और यहाँ जङ्गलमें कष्ट भोग रहे हो; उधर अधर्मी कौरव आनन्दपूर्वक हस्तिनापुरमें राज्य कर रहे हैं। तुम शक्तिमान् हो, अतएव अपनी बनवासकी प्रतिज्ञा छोड़कर बलसे अपना राज्य प्राप्त करनेका यदि प्रयत्न करोगे, तो तुम्हें वह सहज ही मिल जायगा। जिस धर्मसे दुःख उत्पन्न होता है, उसे धर्म ही कैसे कहें ?" "दुर्योधनके समान दुष्टको ऐश्वर्य देना और तुम्हारे समान धर्मनिष्ठको विपत्तिमें डालना, इस दुष्कर्मसे सचमुच ही परमेश्वर निर्दय जान पड़ता है।" इस पर युधिष्ठिरने जो उत्तर दिया है, वह सुवर्णाक्षरोंमें लिख रखने योग्य है।

> धर्मं चरामि सुश्रोणि
>
> न धर्मफलकारणात्।
>
> धर्मवाणिज्यको हीनो
>
> जघन्यो धर्मवादिनाम्॥

"हे सुन्दरि, मैं जो धर्मका आचरण करता हूँ, सो धर्मफल पर अर्थात् उससे होनेवाले सुखकी प्राप्ति पर ध्यान देकर नहीं करता; किन्तु इस दृढ़ निश्चयके साथ करता हूँ कि धर्म, चूँकि धर्म है, इस लिए वह सेवन करने योग्य है। जो मनुष्य धर्मको एक व्यापार समझता है, वह हीन है। धर्म माननेवाले लोगोंमें वह बिलकुल नीचे दर्जेका है।" मनुष्यकी जो भूल होती है, सो यही है। कुछ देरतक हमको ऐसा दिखाई देता है कि, अधार्मिक मनुष्यको लाभ हो रहा है, अथवा वह उत्तम दशामें है; परन्तु नीतिके आचरणका उत्तम फल तत्काल चाहे न दिखाई देता हो, परन्तु कभी न कभी वह होता ही है; और अधर्मका फल भी आगे चलकर अवश्य ही मिलता है। इसी लिए, धर्म और नीतिका चाहे कुछ दिन अपक्रम होता रहे, और नीतिका आचरण करनेवाले पर दुःख आते रहें, तथापि धर्म-विषयक अपनी श्रद्धा कभी कम न होने देनी चाहिए। धर्माचरणमें यही करना कठिन है। मनुष्यकी चञ्चल बुद्धि बार बार मोहमें पड़ जाती है और वह नीतिपथसे च्युत हो जाता है। उसको मालूम होता है कि, बिना किसी कष्टके थोड़ीसी चालाकीसे, बहुतसा लाभ होता है। इसी प्रकारके दृश्य बारबार उसके सामने आकर उसको प्रलोभित किया करते हैं; और इसी कारण उसका मन अनीतिके वश हो जाता है। ऐसी दशामें अत्यन्त भारी सङ्कटों और भयङ्कर अवसरोंके समय यदि सैंकड़ों मनुष्योंके मन धर्मकी कसौटी पर ठीक न उतरें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इस कारण संसारमें सच्चे धार्मिक मनुष्य बहुत थोड़े दिखाई देते हैं। जो मनोनिग्रह संन्यासी अथवा योगीके लिए आवश्यक है, वही और उतना ही मनोनिग्रह संसारके ऐसे अवसरोंके प्रलोभनोंसे बचनेके लिए भी आवश्यक है। इस प्रकारके मनोनिग्रहसे जब धार्मिक मनुष्यका चित्त बलवान् हो जाता है, तब उसका आत्मा सचमुच ही ऊर्ध्वगतिको जानेके योग्य बन जाता है; और अजरामर परब्रह्ममें तादात्म्य पाने योग्य हो जाता है। इस विचारशैलीसे देखते हुए यही कहना पड़ता है कि, महाभारतमें जो यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि, संन्यास अथवा योगके मार्गकी भाँति ही संसारमें नीतिका आचरण करनेवाला मनुष्य मोक्षको जा पहुँचता है, सो बिलकुल ठीक है।

किसी किसी विशिष्ट अवसर पर

यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन होता है कि, धर्मका आचरण कौनसा है और अधर्मका आचरण कौनसा है; और इस विषयमें शंका उपस्थित होती है कि, ऐसे अवसर पर मनुष्यको क्या करना चाहिए। महाभारतमें ऐसे स्थल कितने ही हैं; और दूसरी जगह हम इस बातका विचार करेंगे कि, इस विषयमें महाभारतकारकी बतलाई हुई नीति कहाँतक ठीक है। यहाँ इतना ही बतलाना यथेष्ट होगा कि, हमारे जीवनमें ऐसे अपवादक अवसर बहुत ही थोड़े उपस्थित होते हैं, जिस समय हम इस शंकामें पड़ जाते हैं कि, अब क्या करना चाहिए। परन्तु हजारों अन्य अवसर ऐसे होते हैं कि, जिस समय हमें यह मालूम रहता है कि नीतिका आचरण कौनसा है; और तिस पर भी स्वार्थके प्रलोभनमें पड़कर, अथवा अन्य अनेक कारणोंसे, हम न्यायका आचरण छोड़ देते हैं। ऐसे अवसर पर हमें अपने ऊपर पूर्ण अधिकार रखना चाहिए; और भय अथवा लोभके वशीकरणसे हमें अपने आपको बचाना चाहिए। जैसा कि भगवद्गीतामें कहा है, सद्गुणोंकी दैवी सम्पत्ति प्रत्येक मनुष्यके भागमें आई हुई है। मनोनिग्रह और शुद्ध आचरणसे उस सम्पत्तिकी वृद्धि ही करते रहना चाहिए। उसका नाश न होने देना चाहिए। एक लाख श्लोकोंका वृहत् महाभारत ग्रन्थ पग पग पर कह रहा है कि "धर्मका आचरण करो। धर्म कभी मत छोड़ो।" प्रारम्भमें भी यही कहा है कि "धर्ममतिर्भवतुवः सततोत्थितानाम्" "तुम सतत उद्योग करते हुए अपनी श्रद्धा धर्ममें रहने दो।" इसी भाँति अन्तमें भी भारतसावित्रीमें यही उपदेश किया है कि—

न जातुकामान्न भयान्नलोभात् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापिहेतोः। धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यस्तस्य हेतुस्त्वनित्यः॥

अर्थात् "भय अथवा काम अथवा लोभमें फँसकर धर्मको मत छोड़ो। जीवनकी भी परवा मत करो। धर्म नित्य है; और सुखदुःख अनित्य हैं। जीवात्मा नित्य है; और उसका हेतु जो संसार है, सो अनित्य है।" **व्यवहार-निपुण** व्यास दोनों भुजाएँ उठाकर उच्च स्वरसे संसारको महाभारतमें यही उपदेश कर रहे हैं।

धर्मकी व्याख्या।

महाभारतमें धर्मकी व्याख्या तत्त्वज्ञानके लिए उचित ही दी गई है। भारती आर्योंके विचार इस विषयमें भी अत्यन्त उदात्त हैं। धर्मकी व्याख्या यों की गई है।

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः सधर्म इति निश्चयः॥
धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः सधर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
श्रुतिर्धर्म इतिह्येके नेत्याहुरपरे जनाः।
न च तत्प्रत्यसूयामो नहि सर्वं विधीयते॥

उत्कर्ष लोगोंकी धारणा (स्थिति) और लोगोंकी अहिंसा (अनाश) यही धर्मके हेतु हैं। ये जहाँ सिद्ध नहीं होते, वह धर्म नहीं है। श्रुत्युक्त धर्ममें भी इसका विचार करना योग्य है, क्योंकि श्रुति भी हर एक कर्मको करनेकी आज्ञा नहीं देती।

धर्मके विषयमें केवल तर्कयुक्त कल्पना देनेका भी महाभारतने प्रयत्न किया है। वह यहाँ अन्तमें देने योग्य है। शान्ति पर्वके २५९वें अध्यायमें युधिष्ठिरने जब यह प्रश्न किया कि—"कोयं धर्मः कुतो धर्मः" तब भीष्मने पहले सदैवकी भाँति यह कहाः—

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्म लक्षणम् ॥

परन्तु आगे चलकर यह कहा कि धर्म लोगोंके ही कल्याणके लिए बतलाया जाता है; और धर्मसे इहलोक तथा परलोक दोनोंमें सुख होता है। सामान्य धर्मकी जो उपपत्ति तर्कसे इस अध्यायमें दिखलाई है, वह माननीय हैः—

लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ॥
यथा धर्मं समाविष्टो धनं गृह्णाति तस्करः।
यदास्य तद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥
सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम्।
अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक्।
ते चेन्मिथोऽधृतिं कुर्युर्विनश्येयुरसंशयम्।
न हर्त्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः ॥
मन्यन्ते बलवन्तस्तं दुर्बलैः सम्प्रवर्तितम्।
दातव्यमित्ययं धर्म उक्तो भूतहिते रतैः।
तं मन्यन्ते धनयुताः कृपणैः सम्प्रवर्तितम् ॥
यदा नियतिदौर्बल्यमथैषामेव रोचते।
न ह्यत्यन्तं बलवन्तो भवन्ति सुखिनोपि वा ॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥२१
योऽन्यस्य स्यादुपपतिः स कं किं वक्तुमर्हति।
जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोन्यं प्रघातयेत्॥२२
सर्वं प्रियाभ्युपयुतं धर्ममाहुर्मनीषिणः।
पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर ॥२५॥

धर्माधर्मका निश्चय केवल "बाबावाक्यं प्रमाणम्" के न्यायसे न करते हुए, बुद्धिवादके स्वरूपसे, जैसा कि ऊपर दिखलाया है, बहुत ही मार्मिक रीतिसे तथा दृष्टान्तसे किया गया है। पाश्चात्य तत्त्वज्ञान अभीतक इससे अधिक आगे नहीं बढ़ा है।

सत्रहवाँ प्रकरण।

भिन्न मतोंका इतिहास।

समष्टि-रूपसे इस विषयका विवेचन हो गया, कि परमेश्वरकी प्राप्तिके भिन्न भिन्न मार्ग किस प्रकार उत्पन्न हुए। अब प्रश्न यह है कि प्रत्येक मार्गकी उन्नति या वृद्धि किस प्रकार हुई। इसका जो विचार ऐतिहासिक रीतिसे महाभारतके आधार पर किया जा सकता है सो अब हम करेंगे। उपनिषद्-कालसे सूत्र-कालतकके हजार या दो हजार वर्षोंकी ऐतिहासिक बातें जिस ग्रन्थसे हमें मालूम हो सकती हैं, वह महाभारत ही है। इस समयके तत्व-ज्ञानके छोटे छोटे ग्रन्थ इस एक ही वृहत् ग्रन्थमें समाविष्ट और लुप्त हो गये हैं। इसलिए उक्त विचार करनेके लिए इस समय हमारे पास महाभारतका ही साधन उपलब्ध है। इसी साधनकी सहायतासे हम यह ऐतिहासिक विचार यहाँ करेंगे। शान्ति पर्वके ३४६वें अध्यायमें कहा है—

सांख्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥

तात्पर्य यह है कि सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेदान्त और पाशुपत, ये सनातन-धर्मके पाँच भिन्न मत महाभारतके समयमें प्रसिद्ध थे। अब यह देखना है कि इन भिन्न भिन्न मतोंका इतिहास महाभारतसे हमें किस प्रकार मिलता है। हम पहले देख चुके हैं कि महाभारतके कुछ भाग बहुत पुराने हैं और कुछ सौतिके कालतकके हैं। साधारणतः यह माननेमें कोई हर्ज नहीं कि भगवद्गीता पुरानी है। सनत्सुजातीय और भीष्मस्तवराज गीताके बादके हैं और अनुस्मृति तथा शान्ति पर्वका मुख्य भाग सौतिके समयका है। इस अनुमानका उपयोग कर हम पहले सांख्य-मतका ऐतिहासिक विचार करेंगे।

(१) सांख्य मत।

सब मतोंमें सांख्य मत बहुत प्राचीन है। किसी मतका निर्देष करते समय सांख्यका नाम महाभारतमें पहले आता है; परन्तु यह मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं कि सांख्यकी प्रसिद्धि दशोपनिषत्-कालके बाद हुई है। कारण यह है कि सांख्यका उल्लेख उसमें नहीं है। यह बात निर्विवाद प्रतीत होती है कि सांख्य-मतका प्रवर्त्तक कोई भिन्न ऋषि था। शान्ति पर्वके उपर्युक्त श्लोकके आगे चलकर जो मत बतलाये गये हैं उनमें कपिलको सांख्यका प्रवर्त्तक कहा गया है और अन्य मतोंके प्रवर्त्तक भिन्न भिन्न देव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश बतलाये गये हैं। अर्थात् यह मान लिया जा सकता है कि उन मतोंके प्रवर्त्तक कोई विशिष्ट पुरुष न थे; वे मत धीरे धीरे बढ़ते गये और वे वैदिक मतोंसे ही निकले हैं। महाभारतमें यही उल्लिखित है कि कपिलका मत सबसे पुराना है। कपिलका उल्लेख भगवद्गीतामें आया है। परन्तु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि वहाँ उसे ऋषि नहीं माना है। वहाँ **"सिद्धानां कपिलो मुनिः"**, **"गंधर्वाणाम् चित्ररथः"** यह उल्लेख है। महाभारतमें सिद्ध, गन्धर्व आदि लोगोंका उल्लेख हमेशा आता है। सिद्धसे तात्पर्य उन्हीं लोगोंका है जिन्होंने केवल तत्व-ज्ञानके बल पर परमेश्वरकी प्राप्ति की हो। इससे सिद्ध होता है कि भगवद्गीताके मतानुसार तत्व-ज्ञान द्वारा सिद्ध-पद प्राप्त करनेवाले पहले पुरुष

कपिल मुनि थे । अर्थात् सब मानवी तत्व-ज्ञानोंमें कपिलका मत प्राचीन है। महाभारतका कदम इससे भी आगे है। उसमें (शान्ति पर्व अ० ३५० में) स्पष्ट ही कहा है कि कपिलका तत्व-ज्ञान सबसे पुराना है; इतना ही नहीं, किन्तु उसमें कपिलको विष्णु या ईश अथवा ब्रह्माका ही अवतार एवं विभूति माना है। इससे यह स्पष्ट है कि महाभारत-कालमें कपिलके प्रति अत्यन्त पूज्य-बुद्धि थी । इसका कारण यह है, कि हर जगह सांख्य और योगका आस्तिक तत्व-ज्ञानके विचारमें समावेश किया गया है। कहीं कपिलके विरुद्ध मत नहीं दिया गया । केवल एक स्थान पर उसका उल्लेख विरुद्ध मतकी दृष्टिसे किया गया है । शान्ति पर्वके २६८ वें अध्यायमें गाय और कपिलका संवाद कल्पित है । प्राचीन वेदविहित-यज्ञोंमें गवालम्भ होता था; उस समय उस ब्रह्मनिष्ठा सम्पादित करनेवाले तथा सत्य-युक्त बुद्धिका लाभ प्राप्त करनेवाले कपिलने रुष्ट होकर कहा—"वाहरे वेद !" और अपना स्पष्ट मत दिया कि हिंसायुक्त धर्मके लिए कहीं प्रमाण नहीं है। अर्थात् यह स्पष्ट दिखाई देता है कि पहलेसे ही किसी न किसी बातमें कपिलका मत वेदके विरुद्ध था। वास्तवमें यह बात आश्चर्यजनक है, कि कपिलका मत वेदके विरुद्ध होते हुए भी, महाभारत-कालमें उसके मतका इतना आदर था। इससे यह निर्विवाद है कि भारती-कालमें तत्व-ज्ञानके विषयमें समतोल दृष्टि थी।

यह कहना कठिन है कि कपिलका मूलतः सांख्य मत क्या था। महाभारतमें सैकड़ों जगह उसके सांख्य-शास्त्रका उल्लेख है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि कपिलके मतका 'सांख्य' नाम था। इस समय सांख्यके जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे सब महाभारतके पीछेके हैं। सांख्यका पुराना ग्रन्थ महाभारत ही है। उसमें पुराना भाग भगवद्गीता है; अर्थात् भगवद्गीता ही सांख्योंका मूल सिद्धान्त देखनेके लिये साधन है। गीतामें सांख्य ही नाम है, अतः यह स्पष्ट है कि यह नाम प्राचीन कालसे चला आता है। विदित होता है कि सांख्यका नाम संख्या शब्दसे पड़ा है। उपनिषद् सिद्धान्तोंमें एक तत्वका प्रतिपादन किया गया है; परन्तु कपिलने दोका किया है। इस प्रकार सांख्य और वेदान्तका आरम्भसे ही विरोध पैदा हुआ। उसका पहला और मुख्य मत यह था कि जगत्में प्रकृति और पुरुष दो पदार्थ हैं। सांख्योंका स्पष्ट मत है कि प्रकृति और पुरुष एक नहीं हो सकते। शान्ति पर्वके ३१८वें अध्यायमें स्पष्ट कहा है कि जानकार लोग ऐसा कभी न समझें कि प्रकृति और आत्मा एक ही हैं । अर्थात्, सांख्योंकी द्वैतकी यह पहली सीढ़ी है। सांख्योंने यह बतलाया कि पुरुष प्रकृतिसे भिन्न है, वह केवल द्रष्टा है, प्रकृतिकी प्रत्येक क्रिया या गुणसे वह परे है। परन्तु उन्होंने यह निश्चित नहीं किया कि सांख्य-मतके अनुसार यह पुरुष ईश्वर है । सांख्य निरीश्वरवादी हैं; परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है, कि क्या वे प्रारम्भसे ही निरीश्वरवादी हैं? महाभारतके कई वचनोंसे यह विदित होता है कि सांख्य प्रारम्भसे ही निरीश्वरवादी होंगे । शान्ति पर्वके ३००वें अध्यायके प्रारम्भमें योग और सांख्यका मतभेद बतलाते समय कहा है कि—"योग*मतवादी अपने पक्षके

* यहां मूलभूत श्लोक ये हैं:—
सांख्याः सांख्य प्रशंसन्ति योगा योगं द्विजातयः ।
अनीश्वरः कथमुच्येदित्येव शत्रुकर्शन ॥

सम्बन्धमें यह कारण उपस्थित करते हैं, कि संसारमें ईश्वरका होना आवश्यक है; उसके बिना जीवको मुक्ति कैसे मिलेगी? सांख्य-मतवादियोंमेंसे पूर्ण विचार करनेवाले ब्राह्मण अपने मतकी पुष्टिके लिए कहते हैं कि यदि जीवमें विषयोंके सम्बन्धसे वैराग्य स्थिर हो जाय, तो देह-त्यागके अनन्तर उसे मुक्ति आप ही मिलेगी: उसके लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है ।" इस प्रकार यहाँ पर दोनों पक्षोंका मतभेद बताया है । अर्थात् महाभारत-कालमें भी यह बात सिद्ध थी कि सांख्य निरीश्वरवादी हैं । विदित होता है कि कपिलने पुरुषके सिवा दूसरा ईश्वर नहीं माना । भगवद्गीतासे विदित होता है कि आत्माका अमरत्व और निष्क्रियत्व कपिलके मतका तीसरा अङ्ग था ।

गीताके प्रारम्भमें ही कहा है— "एषा ते विहिता सांख्ये" अर्थात सांख्य मतकी तीसरी बात यह है कि आत्मा अमर और निष्क्रिय है । इसमें सांख्यों और वेदान्तियोंका एक ही मत है; परन्तु उसे सांख्य मत कहनेका कारण यह दिखाई देता है कि भगवद्गीतामें सांख्य और वेदान्तका प्रायः अधिकांशमें भेद नहीं माना गया है । गीतामें सांख्य-मतकी चौथी बात ज्ञान है । जब पुरुषको यह ज्ञान हो जायगा कि पुरुष प्रकृतिसे भिन्न है, सब क्रिया और सुख-दुःख प्रकृतिमें हैं, तब वह मुक्त हो जायगा । सांख्योंका यह सिद्धान्त भगवद्गीतामें स्पष्ट बतलाया है । भगवद्गीतामें सांख्योंका "ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम्" यह उल्लेख है । उसी तरह १३वें अध्यायमें "अन्ये सांख्येन योगेन" कहकर आत्मानुभवकी रीति भी बतलाई है । अर्थात् यहाँ पुनः ज्ञानकी रीतिका वर्णन किया है । केवल ज्ञानका प्रकार भिन्न है, अर्थात् एकमें द्वैत-ज्ञान है, तो दूसरेमें अद्वैत है । बहुत प्राचीन कालसे सांख्योंका पाँचवाँ मत त्रिगुण सम्बन्धी है । ये गुण प्रकृतिके हैं और पुरुष प्रकृतिमें रहकर प्रकृतिके इन गुणोंका उपभोग करता है । यह बात गीताके तेरहवें अध्यायमें कही है ।

भगवद्गीताके समयका सांख्य-मत वर्तमान सांख्य-मतसे साधारणतः यदि भिन्न न होगा तो भी उस समयकी विचार-प्रणाली या उस समयके सांख्य-शास्त्रके विषय किसी और ही रीतिसे समझाये हुए होने चाहिएँ ।

भगवद्गीतामें यह व्याख्या की गई है:—

कार्य कारण कर्तृत्वे
हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानाम्
भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

परन्तु इस प्रकारकी व्याख्या इस ओरके सांख्य शास्त्रोंमें नहीं पाई जाती । इससे यह मानना पड़ता है कि पहले सांख्य ग्रन्थ कुछ भिन्न होंगे । भगवद्गीतामें सांख्योंका "सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्" यह एक और महत्वपूर्ण उल्लेख आया है । इसमें सांख्यका बहुत वर्णन किया है, क्योंकि यहाँ उसके लिए कृतान्त विशेषण लगाया है । जिसमें सब बातोंका निश्चय किया गया हो उसे कृतान्त कहते हैं । इससे यह विदित होता है कि सांख्य शास्त्रके बहुत व्यापक होनेके कारण उसके सिद्धान्त निश्चित और मान्य थे ।

वदंति कारणंश्रेष्ठय योगाः सम्यङ्मनीषिणः ।
वदंति कारणं चेदं सांख्याः सम्यक् द्विजातयः ॥४॥
विज्ञायेह गतीः सर्वाविरक्तो विषयेषुयः ।
ऊर्ध्वं स देहात्सुव्यक्तं विमुच्येदिति नान्यथा ॥५॥

परन्तु वहाँ कहे हुए **"अधिष्ठानं तथा कर्त्ता"** आदि श्लोकोंमें वर्णित सिद्धान्त वर्तमान सांख्यशास्त्रमें नहीं हैं। इससे भी यही निश्चय होता है कि भगवद्गीताके समयमें सांख्यशास्त्रका कोई भिन्न ग्रन्थ होगा। गीता के **'प्रोच्यते गुण संख्याने'** श्लोकमें यह बात स्पष्टतयाव्यक्त की गई है कि त्रिगुणोंके सम्बन्धमें सांख्यशास्त्रका मोटा और नया सिद्धान्त प्रारम्भसे ही है।

हम यह कह चुके हैं कि सांख्योंका चौबीस तत्वोंका सिद्धान्त पहलेसे ही नहीं है; मूलतः उनके सत्रह तत्व थे। पहले यह माना गया होगा कि प्रकृतिसे पहले बुद्धि निकली। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि सांख्य-सिद्धान्तोंमें बुद्धिके स्थानमें महत्तत्व पीछेसे कायम किया गया होगा। भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें जो वर्णन है वह अत्यन्त महत्वका है। इस अध्यायमें सांख्य और वेदान्त मतका एक जगह मेल मिलाकर अथवा भिन्न भिन्न मतोंका मेल मिलाकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष तथा ज्ञान और ज्ञेयका विचार किया गया है।

हम पहले बता चुके हैं कि **"ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः"** इस वाक्यमें बादरायणके ब्रह्मसूत्रका उल्लेख नहीं है। यहाँ हम इसका एक और भी प्रमाण देते हैं। ब्रह्मसूत्र अर्थात् बादरायणके ब्रह्मसूत्रमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञोंका विचार बिलकुल नहीं किया गया है। यहाँ उसका उल्लेख केवल गर्भित पाया जाता है; इतना ही नहीं, परन्तु इसी श्लोकमें आगे जो क्षेत्रका वर्णन किया गया है, वह बादरायण सूत्रमें नहीं है। यह एक महत्वका प्रश्न है कि, यह वर्णन कहाँसे लिया गया है? जैसा कि पाणिनिसे भी विदित होता है, कदाचित् प्राचीन कालमें अनेक सूत्र थे; वे इस समय नष्ट हो गये हैं, उनमें एक आध ब्रह्मसूत्र होगा और उसमें भगवद्गीतामें वर्णित किया हुआ विषय होगा। इस श्लोकमें क्षेत्रका जो वर्णन है वह न तो केवल सांख्योंका ही है और न केवल वेदान्तियोंका ही।

> महाभूतान्यहंकारो
> बुद्धिरव्यक्तमेव च।
> इन्द्रियाणि दशैकं च
> पञ्चेन्द्रियगोचराः॥

इसमें सन्देह नहीं कि उक्त श्लोकमें तत्वोंका जोड़ चौबीस है; परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि इनमें **"इच्छा-द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः"** यह सात तत्व और शामिल हैं, जिससे कुल जोड़ ३१ होता है। इसके अतिरिक्त यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो इनमें सूक्ष्म महाभूत सर्वथा बताये ही नहीं गये हैं। महत्के लिए बुद्धि और प्रकृतिके लिए अव्यक्त शब्दका प्रयोग किया गया है। इसमें इन्द्रियगोचर अर्थात् शब्द, रूप, स्पर्श, रस और गन्ध विषयका वर्णन किया गया है। अर्थात् यह स्पष्ट है कि सांख्योंके २४ तत्वोंकी ही यहाँ परिगणना नहीं है। कणादने इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृतिको आत्माके धर्म माने हैं। वे यहाँ क्षेत्रके धर्म बतलाये गये हैं। यह बात श्रीमच्छङ्कराचार्यने इस श्लोककी टीकामें कही है। परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि कणादका मत भगवद्गीताके पहले प्रचलित था। महाभारतमें तो कणादका उल्लेख ही नहीं है। हाँ, हरिवंशमें है। इससे सिद्ध है कि वह भगवद्गीताके पूर्व न होगा। हमारा मत है कि भगवद्गीताने यह मत किसी पहलेके ऐसे ब्रह्मसूत्रमेंसे लिया है, जो अब नष्ट हो गया है। हमने यही कहा होता कि

इस मतका प्रथम प्रतिपादन स्वयं भगवद्गीताने किया; परन्तु जब इस श्लोकके पहले ही कहा गया है कि 'यह विचार पहले ऋषियोंने ब्रह्मसूत्रमें किया है' तब ऐसा नहीं कह सकते। यदि ब्रह्मसूत्रका अर्थ उपनिषद् लिया जाय तो उसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार गर्भित है। वर्णन स्पष्ट नहीं है और वहाँ इस श्लोकमें बताये हुए तत्व भी नहीं हैं। इस श्लोकमें न तो इन्हें तत्व ही कहा गया है, और न यही कहा गया है कि यह विचार सांख्योंका है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है। यदि यह सांख्य मत होता, तो भगवद्गीतामें उसका वैसा ही उल्लेख किया गया होता। यह नहीं माना जा सकता कि संघात पदार्थ या तत्व मनका ही धर्म है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख तथा धृति मनमें अन्तर्भूत होंगी परन्तु संघात और चेतना बहुधा नहीं होंगी। तात्पर्य, यहाँ यह बात बतला देने योग्य है कि सांख्योंके मूल १७ तत्वोंसे भी अधिक विचार भगवद्गीतामें हुआ है; और, इस विचार-प्रणालीसे कदाचित् सांख्योंके मूल १७ तत्वोंके पीछेसे चौबीस तत्व हुए होंगे।

सांख्योंके सत्रह तत्व कौनसे थे, पुनः बताना ठीक होगा। भीष्मस्तवमें—

यं त्रिधात्मानमात्मस्थं
वृतं षोडशभिर्गुणैः।
प्राहुः सप्तदशं सांख्या-
स्तस्मै सांख्यात्मने नमः॥

यह श्लोक है। इसमें पंचमहाभूत, दशेन्द्रिय और मन, यही स्पष्ट षोड़श गुण हैं। ये सब मिलकर प्रकृति होती है। प्रकृति हमें जड़ और चेतन दिखाई देती है और इनका पुनः पृथक्करण किया जाय तो जड़के पंचमहाभूत और चेतनकी ग्यारह इन्द्रियाँ यह सहज विभाग होता है। यही सांख्योंके तत्वज्ञानकी पहली सीढ़ी होगी। प्रथम विवेक, प्रकृति और पुरुष होनेके कारण सांख्योंने जड़, चेतन आदि सम्पूर्ण सृष्टि पृथ्वीमें शामिल की और पुरुषको सुख-दुःखसे भिन्न और अलिप्त माना। जब सांख्य पुरुषको भिन्न मानकर प्रकृतिका विशेष विचार करने लगे, तब उन्हें सृष्टिका क्रम अधिकाधिक मानना पड़ा। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि विचारकी यह वृद्धि भिन्न भिन्न सांख्य तत्वज्ञानियोंने धीरे धीरे की और महाभारतके समयमें चौबीस तत्वोंमें पूर्ण हुई। परन्तु आश्चर्य यह है कि उन्होंने इस विभागमें प्रकृतिका अन्तर्भाव कैसा किया! क्योंकि प्रकृति कोई निराला तत्व नहीं रह जाता, वह उसीका आगेका एक विभाग है। यही बात महत् और अहंकारके विषयमें कही जा सकती है; इतना ही नहीं, पंच सूक्ष्म भूतोंकी भी कही जा सकती है। अन्तमें यही मानना होगा कि ये तत्व केवल सीढ़ियाँ हैं।

सांख्यके सिद्धान्तकी वृद्धिके साथ ही, विदित होता है कि, तत्वोंके सम्बन्धमें आरम्भमें बड़ा ही मतभेद होगा। शान्तिपर्वके ३१८ वें अध्यायमें सांख्य मतके आचार्य जैगीषव्य, असित, देवल, पराशर, वार्षगण्य, गार्ग्य, आसुरी, सनत्कुमार आदिका वर्णन है। अन्यत्र ऐसा वर्णन है कि कपिल इनमें सबसे प्राचीन है; और आसुरी उसका शिष्य तथा पंचशिख प्रशिष्य अर्थात् आसुरीका शिष्य था। महाभारत-कालमें सांख्य तत्ववेत्ताकी दृष्टिसे पंचशिखका नाम बहुत प्रसिद्ध था। वर्त्तमानमें भी सांख्यज्ञानमें पंचशिखको आचार्य मानते हैं। शान्तिपर्वके अध्याय २७५ में असित और देवलका संवाद दिया है, और उसमें बहुत थोड़े तत्व और वे भी भिन्न भिन्न बताये गये

हैं। उसमें कहा गया है कि, इस सृष्टिके काल, धी, वासना तथा पाँच महाभूत ये आठ कारण हैं। यदि कोई कहे कि इनके अतिरिक्त कोई चेतन ईश्वर या अचेतन प्रधान कारण है तो उसका कथन असत्य है, फिर चाहे वह श्रुतिके आधार पर बोलता हो या तर्कके बल पर"। इसका मूल श्लोक यह है—

महाभूतानि पञ्चैते तान्याहुर्भूतचिन्तकाः।
तेभ्यः सृजति भूतानि काल आत्मप्रचोदितः।
एतेभ्यो यः परं ब्रूयादसद्ब्रूयादसंशयम्॥
(शां० ५—२७५)

उसके मतसे ये तत्व अनाद्यनन्त, शाश्वत तथा स्वयंभू हैं। इससे यह विदित होता है कि उसके मतमें प्रकृति या प्रधान भिन्न नहीं हैं। तथापि महाभारत-कालमें सांख्यके २४ तत्व अधिकांशमें सर्वमान्य हुए थे और यह भी माना गया था कि पुरुष अतत्व है तो भी परिगणनामें वह पच्चीसवाँ है। ये चौबीस तत्व और पच्चीसवाँ पुरुष महाभारतके कई स्थानोंमें वर्णित है। प्रकृति, महत्, अहङ्कार, और पाँच सूक्ष्म महाभूत ये आठ मूलतत्व, तथा मन सहित दस इन्द्रियाँ, और पाँच स्थूल महाभूत ये सोलह विकार, कुल मिलाकर चौबीस होते हैं। इनका और पुरुषका अथवा पच्चीसवें तत्वका महाभारतमें बार बार उल्लेख किया गया है।

(शा० अ० ३०३)

भगवद्गीतामें '**सविकारमुदाहृतं**' यह उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि इसमें विकारशब्द संख्याओंकी परिभाषासे लिया गया है। परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस शब्दका प्रयोग इच्छा, द्वेष आदिके लिए किया गया है, अथवा और शब्दोंके लिए है। तथापि महाभारत-कालमें यह कल्पना पक्की रूढ़ हो गई थी कि कुछ तत्व मुख्य हैं और कुछ विकार हैं: साथ ही यह सिद्धान्त भी पूर्णतया निश्चित हो गया था कि कुल तत्व पच्चीस हैं। सांख्यका तथा ईश्वरवादी वेदान्तका अथवा योगका मेल मिलानेके लिये महाभारतमें कहीं कहीं यह कहनेका प्रयत्न किया गया है कि छब्बीसवाँ तत्व परमात्मा है। कुछ लोगोंने पच्चीसके बदले इकतीस तत्व करनेका प्रयत्न किया है। परन्तु वह सांख्यका नहीं है। जनक और सुलभाके संवादमें सुलभाने यह प्रयत्न किया है और वह जनकके मतका खण्डन करनेके हेतुसे ही किया गया है। धर्मध्वज जनक पंचशिखका अर्थात् सांख्याचार्यका शिष्य था और उसीके सिद्धान्तको काटनेके लिए यह प्रयत्न किया गया है। इसमें ये तत्व बताये हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन और एक बुद्धि कुल मिलाकर बारह गुण: फिर तेरहवाँ सत्व, १४ वाँ अहङ्कार, १५ वीं वासना (यही वासना अहङ्कारके बीच सोलह कलाओंसे उत्पन्न हुए और श्रुतिमें वर्णित किये हुए जगत्को पैदा करती है), १६वाँ अविद्यागुण, १७ वीं प्रकृति, १८ वीं माया, १९ वाँ सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंका गुण, २० वाँ काल, २१ से २५ तक पंचमहाभूत २६ वाँ सद्भाव, २७ वाँ असद्भाव, २८ वीं विधि, २९ वाँ शुक्र ३० वाँ बल, और ३१ वाँ पुरुष अथवा आत्मा।

भगवद्गीतामें प्रकृति और पुरुष दोनों शब्द यद्यपि सांख्य मतसे लिये गये हैं, तथापि यह बात ध्यान देने योग्य है कि (ग्रन्थकर्त्ताने) उनके अर्थ अपने भिन्न मतके अनुसार कैसे बदल दिये हैं। गीतामें ज्ञानका निरूपण करते समय पहले यह कहा है कि—

भूमिरापो नलोवायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अर्थात् निर्जीव जड़ प्रकृति मेरी ही है तथा जीव-स्वरूपी अपरा प्रकृति भी मेरी ही है। इससे यह जान पड़ता है कि जड़ और जीव दोनोंको ही प्रकृतिके नामसे सम्बोधन किया गया है। अर्थात् सांख्यका प्रकृति शब्दका अर्थ यहाँ छोड़ दिया गया है। इसके विपरीत आगेके पन्द्रहवें अध्यायमें कहा गया है कि—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते॥

अर्थात् जड़ और जीव दोनोंको पुरुषकी ही संज्ञा दी गई है और कहा गया है कि जड़ जीव पुरुषसे उत्तम, और उसके परे रहनेवाला परमात्मा पुरुषोत्तम है। प्रकृति और पुरुष दोनों संख्याएं सांख्यकी हैं, तथापि भगवद्गीतामें उन दोनोंका दो स्थानोंमें भिन्न अर्थसे उपयोग किया गया है। इससे यह माना जा सकता है कि भगवद्गीताके समयमें भिन्न सांख्य मतका अधिक प्रचार नहीं था, वरन् वह नया ही निकला था। अथवा यह कह सकते हैं कि सांख्य मतका विरोध अधिकतर मान्य नहीं हुआ था और तत्वज्ञानमें उसके लिए बड़ा ही आदर था।

यहाँतक तो हमने यह देखा कि सांख्य मतकी वृद्धि कैसे हुई। उनका पहला मत यह है कि प्रकृति और पुरुष भिन्न हैं। दूसरा यह कि प्रकृति-पुरुषकी भिन्नताके ज्ञानसे मोक्ष मिलता है। तीसरा यह कि प्रकृतिसे सब जड़ सृष्टि पैदा हुई। चौथा मत यह कि कुल तत्व चौबीस हैं। पाँचवाँ मत यह कि सृष्टिमें जो अनेक प्रकारकी भिन्नता दिखाई देती है उसका कारण त्रिगुण हैं। इस प्रकार महाभारतके कालतक सांख्य मतका विस्तार हुआ दिखाई देता है। प्रश्न यह है कि प्रत्येक शरीरकी आत्मा एक है अथवा भिन्न भिन्न? इसका उत्तर सांख्य मतके अनुसार यही हो सकता था कि वास्तविक पुरुष जब एक है, तब आत्मा भिन्न नहीं होना चाहिए। परन्तु महाभारतके समय ऐसा निश्चय हुआ दिखाई नहीं देता। शान्ति पर्वके अध्याय ३५० में यह कहा गया है कि—सांख्य और योगशास्त्रके मतानुसार आत्मा अनेक हैं, परन्तु व्यासके मतमें पुरुष सब जगह एक भरा हुआ है। अर्थात् यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि वेदान्तका मत सांख्यसे भिन्न था। सांख्य और योगके मतोंमें प्रारम्भमें ही कुछ बातें समान थीं, उन्हींमेंकी एक यह भी है। इसके बाद सांख्योंके जो जो सिद्धान्त निकले उनका वेदान्तियोंने हमेशा खण्डन ही किया है। महाभारतके पश्चात् सांख्योंको भारतीय आर्योंके आस्तिक तत्वज्ञानमें स्थान नहीं मिला। उनका मत निरीश्वरवादी था, इसी लिए यह स्वाभाविक परिणाम हुआ। यह बात प्रसिद्ध है कि इस दोषको मिटानेके लिए अर्वाचीन समयमें सांख्य सूत्र बनाये गये और उनमें सांख्योंको ईश्वरवादी अर्थात् आस्तिक बनाया गया है। महाभारतके समय सांख्य मत आस्तिक मतोंमें गिना जाता था और उसकी वृद्धिका इतिहास उपर्युक्त प्रकारका दिखाई देता है।

आगे चलनेके पूर्व यह देखना है कि सांख्य और संन्यासका कुछ सम्बन्ध है या नहीं? भगवद्गीतामें यह सम्बन्ध कुछ कुछ देख पड़ता है। '**यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव**' इसमें सांख्य और संन्यासका मत बतलाया गया है। परन्तु सांख्यका अर्थ

चतुर्थाश्रम संन्यास नहीं होता। सांख्य तत्वज्ञानमें निष्क्रियत्व या नैष्कर्म्य अवश्य होना चाहिए; क्योंकि पुरुष और प्रकृतिका भेद जानने पर पुरुष निष्क्रिय ही होगा। परन्तु संन्यास-मार्गी लोग वेदान्ती रहते थे। सुलभा और जनकके संवादसे यह कल्पना होती है कि धर्मशास्त्रके अनुसार संन्यास लेनेवाले सांख्यवादी नहीं थे। धर्मध्वज जनक पंचशिखका चेला था। उसने संन्यास नहीं लिया था, वह राज्य करता था। उसने कहा है कि राज्य करते समय भी मेरा नैष्कर्म्य कायम है। उसके शब्द यह हैं:—

त्रिदण्डादिषु यद्यास्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित्। छत्रादिषु कथं न स्यात्तुल्य-हेतौ परिग्रहे॥

(शा० अ० ३२०—४२)

परन्तु इसका खण्डन करते हुए सुलभाने कहा है कि संसारका त्याग किये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता और संन्यास लिये बिना मनकी व्यग्रताका बन्द होना सम्भव नहीं। वह स्वयं यति-धर्मसे चलती थी। इससे यदि यह मान लिया जाय कि भगवद्गीताके समयमें सांख्य वैदिकमार्गी संन्यासी थे, तो भी महाभारत-कालमें सांख्य मत संन्यास अथवा वेदान्तसे भिन्न ही था। तात्पर्य यह कि आगे चलकर धीरे धीरे उनमें पूर्ण विरोध आ पहुँचा और बादरायणके वेदान्त सूत्रके समयमें वेदान्तियोंको सांख्योंका खण्डन करना ही पड़ा।

(२) योग।

अब हम योगका इतिहास देखेंगे। योग-तत्वज्ञान बहुत पुराना है। वह सांख्योंसे भी प्राचीन होगा। निदान, चित्तवृत्ति-निरोधका योग उपनिषद्के समयसे है। इन्द्रियोंको और मनको स्थिर करके शान्त बैठनेकी स्थितिका आनन्द आर्य ऋषियोंको बहुत प्राचीन समयमें मालूम हुआ होगा*। इस रीति-से ऋषियोंने संसारसे तप्त हुए मनको शान्त करनेका पता लगाते लगाते योग-की प्राणायामादि अनेक क्रियाएं ढूँढ़ निकालीं और उनका अनुभव किया। इनसे उन्हें मुख्यतः शान्ति, दीर्घायु और आरोग्यका लाभ हुआ होगा। यह भी उन्हें अनुभव हुआ कि योगसे ईश्वर-भजन अथवा चिन्तनमें भी लाभ होता है। इससे तत्वज्ञानमें योगकी अलग गिनती होने लगी। योग प्रारम्भमें न तो सांख्योंके सदृश निरीश्वरवादी था, और न वेद-बाह्य था। अर्थात् प्राचीन कालसे सांख्य और योगका मेल भी था और विरोध भी था। महाभारतमें कहा गया है कि योग शास्त्रका कर्त्ता हिरण्य-गर्भ है। अर्थात् पहले किसी एक ही ऋषिने इस शास्त्रका प्रतिपादन नहीं किया है। लोगोंमें सांख्य और योग दोनों वेदविद्याके तुल्य ही माने जाते थे और भगवद्गीताके समयमें वे लोगोंमें प्रचलित भी थे और इसीसे वे भगवद्गीतामें समा-

* कठोपनिषदमें कहा गया है कि—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

अर्थात् मनकी और इन्द्रियोंकी धारणाका यह योग उपनिषद्के कालसे प्रसिद्ध है। कठके कुछ शब्दोंसे चाहे कोई यह समझ ले कि उपनिषद्कालसे सांख्य ज्ञान भी होगा, परन्तु हम यह नहीं कह सकते।

इन्द्रियेभ्यः परं मनः मनसः सत्वमुत्तमम्।
सत्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥

इसमें महान् और सत्व शब्द आये हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि वे सांख्य-मतके नहीं हैं। इसमें महान् आत्माके लिए है और सांख्योंका महत् पुरुष अथवा आत्मासे भिन्न है। इसी प्रकार यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ 'सत्व' अकेला आया है, गुणके अर्थमें नहीं। सारांश, यह सिद्धान्त स्थिर करना चाहिए कि दशोपनिषदोंमें सांख्योंका उल्लेख नहीं है।

सिद्ध किये गये। लोकमतके अनुसार सांख्य और योगमें जो विरोध माना जाता था, वह वस्तुतः और तत्वतः विरोध नहीं है। इस बातको पहले गीताने ही प्रतिपादित किया है। यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि वह विरोध कौनसा था? गीताके "**सांख्य योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः**" इस वचनका उच्चार हमें सारे महाभारतमें दिखाई देता है और हर जगह यह बतानेका प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है कि वास्तविक विरोध यह नहीं है। इसमें गीताका ही भाव प्रकट होता है। हम पहले देखेंगे कि महाभारतके समय योगका स्वरूप क्या था? शान्तिपर्वके ३१६ वें अध्यायमें योगका विस्तृत वर्णन दिया है। "इन्द्रियाँ और पंचप्राण (रुद्र) योगके मुख्य साधन हैं। इनका दमन करके योगी दशों दिशाओंमें चाहे जहाँ जा सकता है। जड़ देहका नाश होने पर भी योगी अणिमादि अष्ट सिद्धियोंसे युक्त सूक्ष्म देहसे सब प्रकारके सुखोंका अनुभव करता हुआ सारे जगत्में घूमता रहता है। ज्ञानियोंने वेदमें कहा है कि योग अष्टगुणात्मक है। वैसे ही अष्टगुणात्मक सूक्ष्मयोग है। शास्त्रमें दिये हुए मतके अनुसार योग-कृत्य दो प्रकारके बताये हैं। प्राणायाम-युक्त मनकी एकाग्रता एक मार्ग है; दूसरा मार्ग है ध्याता, ध्येय और ध्यानका भेद भूलकर इन्द्रियदमनपूर्वक मनकी एकाग्रता। पहला सगुण है दूसरा निर्गुण।" योगशास्त्रके जो लक्षण पतंजलिने बताये हैं, अधिकांशमें वे ही लक्षण उपर्युक्त वर्णनमें आये हैं। परन्तु पतंजलिमें सगुण और निर्गुण शब्द नहीं हैं; उसमें यम, नियम आदि आठ साधन तथा प्राणायामादि समाधितककी क्रियाका वर्णन है। यहाँ यह भी सिद्धान्त आया है कि योगीको अष्ट-सिद्धिकी प्राप्ति होती है। योगीकी भिन्न भिन्न सिद्धियोंकी कल्पना जैसी महाभारत-कालमें पूर्णताको पहुँची थी; वैसी भगवद्गीतामें नहीं दिखाई देती। भगवद्गीतामें इतना ही वर्णन है कि योगीको समाधिमें आनन्द मिलता है। शेष क्रियाएं भगवद्गीताके छठे अध्यायमें मिलती हैं। भगवद्गीतामें योग स्थितिका मुख्य लक्षण यही बतलाया गया है कि मन अतिशय दुःखसे चञ्चल न होकर निर्वात प्रदेशके दीपके तुल्य स्थिर रहे। यह अध्याय बतलाता है कि महाभारतकालमें योगमतकी क्या स्थिति थी, और इसीसे वह महत्वका भी है। जो योगसिद्धियाँ इसमें बताई गई हैं उनका वर्णन भगवद्गीतामें नहीं है, इससे यह नहीं माना जा सकता कि उस समय ये मानी ही नहीं जाती थीं। परन्तु हमारा अनुमान यह है कि यह कल्पना पीछेसे बढ़ी होगी। सांख्य और योगका ध्येय एक ही है; परन्तु उनकी क्रियाएँ भिन्न हैं। दोनोंका ध्येय मोक्ष है; किन्तु सांख्यकी क्रिया केवल ज्ञान है और योगकी क्रिया समाधिकी साधना है। तथापि तत्वज्ञानके विषयमें सांख्य और योग दोनोंका अधिकांशमें मेल था। विशेषतः योग और सांख्यका इसमें मतैक्य था कि हर एक पुरुषका आत्मा भिन्न है और आत्मा अनेक हैं। ऊपर हम कह ही चुके हैं कि यह मत वेदान्तके मतसे भिन्न था।

शान्ति पर्वके भिन्न भिन्न अध्यायोंसे ज्ञात होता है कि महाभारतके समय योग शब्दका अर्थ ध्यानधारणात्मक योग था। जो योगशास्त्र आगे चलकर पतञ्जलिने बनाया, प्रायः वैसा ही योगशास्त्र सौतिके सामने था, यह बात दिखाई नहीं देती; कुछ बातोंमें भेद विदित होता है।

ऊपर जो सगुण और निर्गुण योग शब्द आये हैं, उनके बदलेमें आगे हठयोग और राजयोग शब्द प्रचलित हुए दिखाई देते हैं। पतञ्जलिमें न सगुण और न निर्गुण शब्द हैं और न हठयोग और राजयोग शब्द आये हैं। राजयोग शब्दका अर्थ राजविद्या या राजगुह्य शब्दके समान समझना चाहिए। अथवा यों कहिये कि योगानां राजा राजयोगः अर्थात् योगोंमें श्रेष्ठ योग, यह अर्थ करना चाहिए। इससे यह विदित होता है कि सगुण और निर्गुणके भेदके कारण योग भिन्न भिन्न प्रकारके थे। शारीरिक और मानसिक क्रियाके द्वारा परमेश्वरसे तादात्म्य पाना, यही योग शब्दका अर्थ अभिप्रेत होगा। जिस योगमें शारीरिक क्रियाको ही प्रधानता दी जाती है वह सगुण योग है।

ऊपर हम कह आये हैं कि महाभारत-कालमें यह कल्पना प्रचलित थी कि योगसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ मिलती हैं; अर्थात् अन्य सब मतवादियोंके मतके समान वह सारे जन-समूहमें प्रचलित थी। बौद्ध, जैन, संन्यासी आदि सब लोग मानते थे कि सिद्धोंको विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त होती है, और कहा जा सकता है कि योगी भी यही मानते थे। परन्तु हमारी रायमें यह कल्पना प्रथम योगमतसे ही निकली, तत्पश्चात् दूसरे मतमें घुसी। भगवद्गीतामें योगीकी सिद्धिकी कहीं सूचना नहीं है; अतएव यह कल्पना भगवद्गीताके बादकी और सौतिके महाभारतके कालके पूर्वकी होनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि योगकी कल्पना कैसे बढ़ती गई। महाभारतमें यह बतलाया गया है कि सिद्धिके ही पीछे लग जानेसे योगीको अन्तिम कैवल्य-प्राप्ति न होगी और योगैश्वर्य-

मतिक्रान्तो यो निष्क्रामति मुच्यते (शां० प० अ० २३६-४०) के अनुसार यह माना गया है कि जो योगी नाना प्रकारकी शक्तियोंको त्यागता हुआ आगे जाता है वह मुक्त होता है।

इस अध्याय (शां० प० अ० २३६) में विस्तारपूर्वक बतलाया गया है कि योग कितने प्रकारका है, और पञ्चभूतों पर जय प्राप्त करनेसे कैसी सिद्धियाँ मिलती हैं। पतञ्जलिके योगशास्त्रमें भी इनका कुछ निर्देश भिन्न रीतिसे किया गया है। इनमेंकी कुछ बातें वर्णन करने योग्य हैं। "जो स्त्रीके समागमसे मुक्त हुआ है वही योग करे। योगसाधन १२ हैं। देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षु, आहार, मन और दर्शन ये योगके १२ उपकरण हैं।" ये पतञ्जलिसे कुछ भिन्न हैं। योगी कर्मकाण्डका त्याग करता है, परन्तु वह कर्मत्यागका दोषी नहीं बनता (शब्द ब्रह्मातिवर्त्तते)। यहाँ उपनिषद्की नाई योगके विषयमें रथका एक सुन्दर रूपक बाँधा गया है।

धर्मोपस्थो ह्रीवरूथो उपायापायकूबरः।
अपानाक्षः प्राणयुगः प्रज्ञायुर्जीवबन्धनः॥

अर्थात् धर्म उपस्थ है यानी रथीके बैठनेकी जगह है; दुष्कर्मकी लज्जावरूथ है यानी रथका आच्छादन है; उपाय और अपाय दोनों कूबर अर्थात् डंडियाँ हैं; अपान धुरा है; प्राण जूआ है; और बुद्धि, आयु तथा जीव (जूएको) बाँधनेकी रस्सियाँ हैं—**चेतनाबन्धुरश्चारुआचारग्रहनेमिवान्**। चेतना सारथिके बैठनेकी पटिया है; आचार पहियेका घेरा है; दर्शन, स्पर्श, घ्राण और श्रवण ये चार घोड़े हैं। इस रथमें बैठकर जीवको चाहिए कि वह परमेश्वरकी ओर दौड़े। धारणा उसके रास्ते हैं।

सप्त या धारणाः कृत्स्ना वाग्यतः प्रतिपद्यते।
पृष्ठतः पार्श्वतश्चान्यास्तावत्यस्ताः प्रधारणाः॥

इस प्रकार टीकाकारने इसमेंकी सात धारणा और प्रधारणा अलग अलग बताई हैं; परन्तु मूलमें वह नहीं हैं। प्रधारणा शब्द पतञ्जलिमें नहीं है। यहाँ भ्रूमध्य, नासाग्र, कण्ठकूपादि धारणा अभिप्रेत होंगी, साथ ही पृष्ठतः तथा पार्श्वतः भी बताई गई हैं।

क्रमशः पार्थिवं यच्च वायव्यं खं तथा पयः।
ज्योतिषो यत्तदैश्वर्यमहंकारस्य बुद्धितः।
अव्यक्तस्य तथैश्वर्यं क्रमशः प्रतिपद्यते॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार तथा अव्यक्त ये सात अन्तर्धारणाएँ हैं। इनमें धारणा स्थिर करनेसे योगीको इनका सामर्थ्य प्राप्त होता है। "**विक्रमा-श्चापि यस्यैते**" इसमेंका विक्रम शब्द पतञ्जलिमें नहीं है। "**निर्मुच्यमानः सूक्ष्मत्वाद्रूपाणीमानि पश्यति**" कहकर श्वेताश्वतरमें कहे हुए "**नीहार धूमार्कानलानिलानाम्**" इत्यादि रूपोंका वर्णन दिया गया है; जैसे शिशिर ऋतुकी ओसकी धारणा करनेसे ओस, उससे आगे जलकी धारणा करनेसे जल, अग्निकी धारणा करनेसे अग्नि, पीत शस्त्रकी धारणा करनेसे पीत शस्त्र, और आकाशकी धारणा करनेसे अशुक्ल अथवा नीलवर्ण छिद्ररूपी आकाश दिखाई देने लगता है। इससे यह विदित होता है कि योग-कल्पनाके भिन्न भिन्न अङ्ग किस तरह बढ़ते गये। भीष्मस्तवके "**ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानाः**" के अनुसार यह समझा जाता था कि धारणामें योगियोंको ज्योति दिखाई देती है। उस ज्योतिमें दिखाई देनेवाले पदार्थोंका अधिक सूक्ष्म वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि अन्तमें नील बिन्दु दिखाई देता है। इसका उल्लेख पातञ्जल-सूत्रमें नहीं मिलता। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल कल्पना है।

जब योगीको सिद्धिकी प्राप्ति होती है तब उसमें सामर्थ्य आता है। "पृथ्वीका ऐश्वर्य अर्थात् प्रभुत्व मिलने पर वह सृष्टि बना सकता है। वायुका सामर्थ्य आने पर वह केवल उँगलीसे पृथ्वीको हिला सकता है। आकाशरूपी बननेसे वह अन्तर्धान पा सकता है। जलको जीत लेने पर अगस्त्यके समान कूप, तालाब और समुद्रको पी जा सकता है। अहङ्कारको जीत लेने पर पंचमहाभूत उसके अधीन होते हैं और बुद्धिका जय होने पर संशयरहित ज्ञान प्राप्त होता है।" ये सिद्धियाँ अणिमादि सिद्धियोंसे भी बढ़कर हैं। अनुशासन पर्वके चौदहवें अध्यायमें अणिमा, महिमा, प्राप्ति, सत्ता, तेज, अविनाशिता ये छः योगकी सिद्धियाँ वर्णित हैं। महाभारतमें योग-सामर्थ्यका या तपः सामर्थ्यका जो वर्णन है वह कदाचित् अत्युक्ति होगी; या वह वर्णन अधिकाधिक बढ़ता गया होगा; तथापि इसमें सन्देह नहीं कि योगीमें कुछ विशेष सामर्थ्यके आनेकी कल्पना प्रारम्भसे ही है और इसीसे बौद्ध, जैन आदि मतोंने भी योगका अवलम्ब किया है।

महाभारतके अनुसार योग और सांख्य एक ही हैं इसी लिए उसमें कहा है कि योगमें सांख्यके ही पचीस तत्व हैं।

पञ्चविंशतितत्वानि तुल्यान्युभयतः समम्।
(शां० २३६-२६)

परन्तु पातञ्जलि-सूत्रमें इसका उल्लेख नहीं है। यह सिद्धान्त होनेका कारण ऐसा जान पड़ता है, और पहले हमने इसका उल्लेख भी कर दिया है, कि सब तत्व-ज्ञानोंका समन्वय करनेका प्रयत्न महाभारतमें

किया गया है। यह ध्यानमें रखना चाहिए कि परमात्माको अलग माननेसे योगके छब्बीस तत्व होते हैं। योगका निरूपण २४० वें अध्यायमें आया है। इसमें प्रथम काम, क्रोध, लोभ, भय और निद्रा ये योगके दोष बताये हैं और उन पर विजय प्राप्त करनेका मार्ग बताया है। (पतञ्जलिने पाँच क्लेश बताये हैं और उन्हें हेय कहा है। ये दोष अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हैं।) निद्रा दोष योगके प्रारम्भसे माना गया होगा। भीष्मस्तवमें योगियोंका लक्षण विनिद्रः बताया गया है। हृदय और वाणीका निरोध करनेके लिए उसमें यज्ञादि क्रियाओंका भी अनुष्ठान बताया गया है। उसमें कहा है—"दिव्य गन्धादि वस्तुओंकी अथवा दिव्य स्त्रियोंकी प्राप्ति, और आकाशमें लुप्त हो वायुके वेगसे जानेकी या सब शास्त्रोंके आपसे आप ज्ञान होनेकी सिद्धियाँ योगीके मार्गमें बाधा डालती हैं। उनकी परवा न करके बुद्धिमें उनका लय करना चाहिए: यह बात बुद्धि-कल्पित है। नियमशील योगी प्रातःकालमें, पूर्व रात्रिमें और उत्तर रात्रिमें, तीन बार योगाभ्यास करे। गाली देनेवाले और अभिनन्दन करनेवाले दोनों पर वह समदृष्टि रखे और द्रव्योपार्जनादि मार्गसे वह दूर रहे।" इसमें कहा है कि योगीको छः महीनेमें योग-सिद्धि होती थी। ये सब बातें पहलेकी अपेक्षा भी अधिक हैं।

इस अध्यायमें कहा है कि हीनवर्णके पुरुषोंको या धर्मकी अभिलाषा करनेवाली स्त्रियोंको भी इस मार्गसे सद्गति मिलती है। मालूम होता है कि ये लेख भगवद्गीतासे या उपनिषद्से लिये गये हैं। कर्म-मार्ग केवल आर्यों तथा पुरुषोंके लिए खुला था। अतएव नवीन मतके प्रत्येक प्रतिपादकने भगवद्गीताके समान व्यापक दृष्टिसे अपना नवीन मार्ग स्त्रियोवैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यांति परां गतिं। वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ आदि सबके लिए खोल दिया है। इसी प्रकार कहा है कि योग-मार्ग भी सबको मोक्ष देनेवाला है।

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी। तावप्यनेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम्॥ (शां० अ० २४०, ३४)

"षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते"

इस वाक्यमें शब्द-ब्रह्मका अर्थ टीकाकारने प्रणव किया है। पतञ्जलिसे भी जान पड़ता है कि इस योग-मार्गमें प्रणवके जपका महत्त्व है। यद्यपि जप और योग-मार्गका नित्य सम्बन्ध न हो, तौभी योगके ध्यानमें प्रणवका जप एक अङ्ग है। महाभारतके शान्तिपर्व (२०० वें अध्याय) में कहा है कि योगी और जप करनेवाले एक ही गतिको पहुँचते हैं।

तज्ज्योतिः स्तूयमानं स्म ब्रह्माणं प्राविशत् तदा।
ततः स्वागमित्याह तत्तेजः प्रपितामहः।
अङ्गुष्ठमात्रपुरुषं प्रत्युद्गम्य विशांपते॥

ब्रह्मदेवके मुखमें यह ज्योति प्रविष्ट हुई। यही गति जापकोंकी तथा योगियोंकी है। टीकाकारका तर्क है कि ये पाठ्यकालमें ब्रह्माके साथ मुक्त होंगे। यह सीढ़ी वेदान्तकी दृष्टिसे बनाई गई होगी। ऐसा ही तर्क और एक श्लोकके आधार पर टीकाकारने किया है। वह यहाँ देने योग्य है:—

इदं महर्षेर्वचनं महात्मनो यथावदुक्तं मनसानुगृह्य। अवेक्ष्य चेमां परमेष्ठिसाम्यतां प्रयाति चाभूतगतिं मनीषिणः॥
(शां० अ० २४०)

इस श्लोकके 'अभूत-गति' पदसे

टीकाकारने उक्त अर्थ निकाला है। यह स्पष्ट है कि इसका अर्थ कुछ गूढ़ है। हम पहले देख चुके हैं कि योगमतका प्रथम उपदेशक ब्रह्मा था। इससे ब्रह्माके साथ तादात्म्य या साम्य होनेके सिद्धान्त-का निकलना सम्भव है। यह प्रकट है कि योग और सांख्यके मतमें मोक्षके बदले कैवल्य शब्दका उपयोग करते हैं। महा-भारत-कालमें दिखाई पड़ता है कि कैवल्य शब्द सांख्यमतमें भी लिया गया है।

सांख्यदर्शनमेतत्ते परिसंख्यानमुत्तमम्।
एवं हि परिसंख्याय सांख्यकेवलतां गतः॥
(शां० अ० ३१५-१६)

ठीक यही वर्णन पाया जाता है कि ब्रह्मगति ही सांख्यकी गति है। परन्तु यह सांख्य और वेदान्तकी एकवाक्यता करनेसे पाया जाता है। योगके वर्णनमें केवल शब्द महाभारतमें भी आया है।

यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति।
तदा स सर्वविद्विद्वान् न पुनर्जन्म विन्दते॥
(शां० प० ३१६)

इसमें जो केवली शब्दका उपयोग किया गया है, वह योगमतके २६ वें तत्वकी दृष्टिसे मोक्ष पानेवालेके सम्बन्धमें लाया गया है।

एवं हि परिसंख्याय ततो ध्यायति केवलं।
तस्थुषं पुरुषं नित्यमभेद्यमजरामरम्॥
(शां० अ० ३१६—१७)

एतेन केवलं याति त्यक्त्वा देहमसाक्षिकम्
कालेन महता राजन् श्रुतिरेषां सनातनी॥
(शां० अ० ३१६—२६)

इस श्लोकमें केवल यानी परम पुरुष या परमात्माके योगका भाव है। परन्तु सांख्यका भाव समझमें नहीं आता।

शान्तिपर्वके अनेक अध्यायोंमें सांख्य और योगको विस्तृत रूपसे बतलाया है। ३०७ वें अध्यायके अन्तमें कहा है कि पचीसवें पुरुषके आगे सांख्य कुछ भी नहीं मानता। योगशास्त्रमें २५ तत्वोंके परे २६ वाँ परमेश्वरको मानते हैं। इसके सिवा योगमें व्यक्तका भी एक लक्षण अधिक बतलाया गया है: वह यहाँ देने योग्य है।

प्रोक्तं तद्व्यक्तमित्येव जायते वर्धते च यत्
जीर्यते म्रियते चैव चतुर्भिर्लक्षणैर्युतम्॥
विपरीतमतो यत्तु तदव्यक्तमुदाहृतम् ३०॥
(शां० अ० २३३)

योगमें परमेश्वर बोधस्वरूप है, और वह अज्ञानका आश्रय लेकर जीवदशामें आता है। योगशास्त्रकी भाषामें दो पदार्थ होते हैं, बुद्ध और बुध्यमान या परमात्मा तथा जीवात्मा।

बुद्धमप्रतिबुद्धत्वाद् बुध्यमानं च तत्त्वतः।
बुध्यमानं च बुद्धं च प्राहुर्योगनिदर्शनम्॥
(शां० अ० ३०८—४८)

पंचविंशात्परं तत्वं पठ्यते न नराधिप।
सांख्यानां तु परं तत्वं यथावदनुवर्णितम्॥

इस प्रकार सांख्य मत बताकर योग-का भेद बतलाया गया है। सांख्योंका अन्तिम पदार्थ पुरुष है। योगने जीव और जीवात्मा दो माने और यह भी माना कि वे **बुद्ध और बुध्यमान** हैं। जब बुध्यमान जीव कैवल्यको पहुँचता है तब वह बुद्ध होता है। ये बुध्यमान और बुद्ध शब्द पतञ्जलिमें नहीं दिखाई देते। बुद्ध शब्द गौतमने योगशास्त्रसे ही लिया होगा। भगवद्गीताकी पद्धतिके अनुसार महाभारतमें योगकी भी परम्परा दी गई है। प्रथम यह योग हिरण्यगर्भने वसिष्ठ-को सिखाया, वसिष्ठने नारदको और नारदने भीष्मको सिखाया। शां० अ० ३०८ में भगवद्गीताके समान कहा है कि यह ज्ञान अव्रत तथा गुणहीनको नहीं देना चाहिए। मालूम होता है कि शां० अ० २५४ के अन्तमें शांडिल्य भी योगका आचार्य माना गया है।

शान्ति पर्वके ३०० वें अध्यायमें योगीके अन्नका वर्णन किया है। वह जुआरके कणोंकी लप्सी या दलिया घी मिलाये बिना खाय। कुछ मास या सालतक यदि योगी पानी मिलाया हुआ दूध पीये तो उसे योगबलकी प्राप्ति होगी। सब विकारोंको जीतकर, स्त्रीसंगके अभावमें उत्पन्न होनेवाली तृष्णा, आलस्य और निद्राको त्यागकर "ध्यानाध्ययनसम्पदा" (ध्यान और अध्ययन जिसकी सम्पत्ति है ऐसा) योगी आत्माको उद्दीपित करता है। अर्थात् उपर्युक्त अन्न मनोविकारों पर जय मिलनेके लिए ही बतलाया गया है। भगवद्गीताके "युक्ताहारविहारस्य" वचनोंसे इसका कुछ विरोध है, तथापि वह योगीके तपकी आगेकी सोढ़ी है।

योगग्रन्थोंमें (नाना शास्त्रोंमें) बताये हुए रास्तेसे जानेवाला ब्राह्मण इच्छानुसार ब्रह्मा, विष्णु, शंकर आदि देवोंके या पितर, उरग, यक्ष, गन्धर्व, पुरुष या स्त्रियोंके रूपमें प्रवेश कर सकता है और उसके बाहर निकल सकता है और उसमें नारायणके समान संकल्पसे सृष्टि उत्पन्न करनेका सामर्थ्य आता है।

जान पड़ता है कि महाभारत-कालमें योगके ग्रन्थ थे। उनमेंसे सौतिने ज्ञान लेकर अपने महाभारतमें रख दिया है और सांख्य तथा वेदान्तके साथ योगशास्त्रका समन्वय किया है। एक ओर उसने योगमें सांख्यके तत्व शामिल किये हैं और दूसरी ओर यह बतलाया है कि योगियोंकी भी ध्येय वस्तु परब्रह्म ही है। सौतिने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि सांख्य और योग दोनोंके जाननेवाले वेदान्तीके उपदेशानुसार ब्रह्मगतिको ही पहुँचते हैं। महाभारतके कालतक योगशास्त्रका इतिहास इस प्रकार दिखाई देता है। अब हम वेदान्तके इतिहासकी ओर झुकेंगे।

(३) वेदान्त।

उपनिषदोंमें वेदान्तके तत्वज्ञानका प्रतिपादन विस्तृत रीतिसे किया है और यह स्पष्ट है कि उसके वैदिक होनेसे वह सारे सनातन जनसमाजको मान्य ही है। इस तत्वज्ञानके मुख्य मुख्य अंग उपनिषदोंमें बतलाये गये हैं, इसीसे इसे वेदान्त नाम मिला है। यह नाम भगवद्गीताके "वेदान्तकृत" वाक्यमें आया है। महाभारतमें वेदान्तका अर्थ उपनिषत् या आरण्यक भी होता है। हमारी रायमें वेदवाद शब्दसे कर्मवादका अर्थात् संहिताके भागोंमें वर्णित यज्ञादि भागका बोध होता है, और वेदान्त शब्दका अर्थ उपनिषत्-तत्वज्ञान है। "जपविधि वेदान्तविचारोंमेंसे है या योगमेंसे है या कर्मकाण्डोंमेंसे है" इस वाक्यमें यह अर्थ स्पष्ट है। भीष्मके उत्तरमें वेदान्त शब्दका यही अर्थ है। भीष्मका उत्तर यह है कि वेदान्तमें जपके सम्बन्धका मुख्य विधान यह है कि 'त्याग करो'। जप कर्म है: वेदान्तकी दृष्टिमें वह त्याज्य है। सारे वेदवचनोंका सार ब्रह्म है।" और विवेचनोंमें भी वेदान्त शब्द इसी अर्थमें आया है।

संन्यास एव वेदान्ते वर्त्तते जपनं प्रति।
वेदवादाश्च निर्वृत्ताः शान्ताब्रह्मण्यवस्थिताः॥

इसमें वेदवाद शब्द वेदवचनके अर्थमें आया है परन्तु वह मूलतः कर्मकाण्डके सम्बन्धका ही है। भगवद्गीताके "वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः" वाक्यमें वेदवादका अर्थ कर्मवाद है। वेदमें अर्थात् संहिताओंमें (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदमें) मुख्यतः कर्मका ही प्रतिपादन है और कहीं कहीं ब्रह्मका भी है। परन्तु उपनिषद्में ब्रह्मका भी है,

और वैदिक कर्म भी ब्रह्मके लिए ही बतलाया गया है। बृहदारण्यके "**विविदिषति यज्ञेन दानेन**" आदि वचन प्रसिद्ध हैं। यद्यपि वेदका अर्थ संहिता और वेदान्तका उपनिषत् होता है, तथापि जान पड़ता है कि महाभारत-कालमें वेद-वादका अर्थ कर्मवाद और वेदान्तका अर्थ औपनिषत् तत्वज्ञान निश्चित हो गया था।

इस तत्वज्ञानका आचार्य अपान्तर-तमा या प्राचीनगर्भ है, जैसा

अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥

इस वाक्यमें कहा है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है (शां० अ० ३४६)। तत्वज्ञानके विषयमें इस ऋषिका उल्लेख है इसलिए यहाँ वेद शब्दका अर्थ वेदान्त ही है। और,

सांख्य योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥

यह श्लोक उपर्युक्त श्लोकके बाद ही है। इसमें भी वेद शब्द वेदान्तवाचक है। तथापि आगेकी बात ध्यानमें रखनेसे शङ्का उपस्थित होती है। अपान्तरतमाकी कथा इसी अध्यायमें है। वह यह है:— "नारायणने भोः कहकर पुकारा। उसे सुनकर सरस्वतीसे पैदा हुआ अपान्तर नामका पुत्र सम्मुख आ खड़ा हुआ। नारायणने उसे वेदकी व्याख्या करनेको कहा। आज्ञाके अनुसार उसने स्वायंभुव मन्वन्तरमें वेदोंके भाग किये। तब भगवान् हरिने उसे वर प्रदान किया कि वैवस्वत मन्वन्तरमें भी वेदका प्रवर्तक तू ही होगा। तेरे वंशमें कौरव पैदा होंगे, उनकी आपसमें फूट होगी और वे संहारके लिए उद्युक्त होंगे, तब तू अपने तपोबल-से वेदोंके विभाग करेगा। वशिष्ठके कुल-में पराशर ऋषिसे तेरा जन्म होगा।" इससे यह भी दिखाई देता है कि मुख्यतः इस ऋषिने वेदोंके खण्ड किये। तथापि यह माननेमें कुछ हर्ज नहीं कि इस अपान्तरतमाने दोनों बातें कीं। और यह मानना चाहिए कि वेदान्तशास्त्रका आद्य-प्रवर्तक ऋषि यही है; फिर वह उपनिषदोंका कर्त्ता या वक्ता माना जाय अथवा वेदान्तशास्त्र पर इसका पहले कोई सूत्र रहा हो। कदाचित् भगवद्गीता-में बताया हुआ ब्रह्मसूत्र इसीका होगा।

वेदान्तका मुख्य रहस्य ऊपर आ चुका है। वेदवादमें प्रधान माने गये कर्म-काण्डको पीछे छोड़ तथा इन्द्रादि देवताओं और स्वर्गको तुच्छ समझकर परा-विद्या अर्थात् ब्रह्मज्ञान विद्या उपनिषदोंमें आगे बढ़ी। उससे सारा जगत् पैदा होता है, उसीमें रहता है और उसीमें वह लीन हो जाता है। अर्थात् सब जगत् वही है। "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" यह उपनिषद्वाक्य इसी सिद्धान्तका प्रसिद्ध प्रतिपादक है। हमें यह देखना है कि इस सिद्धान्तका प्रवाह उपनिषद्से शुरू होकर भारती-कालतक कैसा बहता गया। पहले उसका प्रवाह भगवद्गीतामें बहता हुआ दिखाई देता है। उपनिषत्-तत्वज्ञान भगवद्गीताको मान्य है और उसमें इसीके सिद्धान्तका प्रतिपादन विशेष रीतिसे किया गया है। तथापि कुछ बातोंमें भगवद्गीता उपनिषदोंसे बढ़ गई है। ये बातें कौनसी हैं उन पर विचार करना है।

वेदान्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, अधिदैव, तथा अधिभूत शब्द आते हैं। गीतामें इनकी व्याख्या दी गई है। वह बहुधा उपनिषद्के विवेचनके अनुसार है। परन्तु कुछ बातें ऐसी हैं जो उपनिषद्में नहीं हैं और कुछ ऐसी हैं जो आगे बढ़ गई हैं। गीताके ८ वें अध्यायमें यह विषय है जिसका हम सूक्ष्म विचार करेंगे।

पहले ब्रह्मकी व्याख्या अक्षर की है जो उपनिषद्की ही है। "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ तिष्ठतः" आदि बृहदारण्यकमें जो याज्ञवल्क्यकी उक्ति है सो हमारे सन्मुख उपस्थित होती है। केवल "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते" का उद्गम दशोपनिषद्में नहीं दिखाई देता तथा "भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः" का भी सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। कदाचित् छान्दोग्यमें बताये हुए "पंचम्यामाहुता वापः पुरुषवचसो भवन्ति" आदि प्रकरणोंसे कर्मकी व्याख्या की गई होगी। "अधिभूतं क्षरो भावः" ठीक है। परन्तु पुरुषश्चाधिदैवतम्" का भी उद्गम वेदान्तमें अर्थात् उपनिषदोंमें नहीं दिखाई देता। अध्यात्म तथा अधिदैवत शब्द उपनिषदोंमें बारम्बार आते हैं। पहला शब्द इन्द्रियोंके सम्बन्धमें और दूसरा आदित्यादि देवताओंके सम्बन्धमें आता है। ये व्याख्यायें सूत्रमय हैं और यह मानना चाहिए कि वे पहले गीतामें ही दी गई हैं क्योंकि भगवद्गीता ही उपनिषदोंके अनन्तरकी है। हम पहले ही कह चुके हैं कि सम्भावना है कि बीचमें एकाध सूत्र बना हो। परन्तु वह उपलब्ध नहीं है। अधियज्ञ शब्द उपनिषदोंमें नहीं है परन्तु यह उपनिषन्मान्य बात है कि देहमें जो परमेश्वर है वही अधियज्ञ है। इसके अनन्तर यह उपनिषद्-सिद्धान्त यहाँ बतलाया गया है कि अन्तकालके समय मेरा ही स्मरण करके जो परब्रह्मका ध्यान करेगा वही परमगतिको पहुँचेगा। उपनिषद्ने—"यथाक्रतुरस्मिन् लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति" प्रतिपादित किया है। अर्थात् उपनिषदोंका मत है कि अन्तमें परमेश्वरका स्मरण होनेसे ही परमेश्वरकी गति मिलती है। इसलिए "असकृदावृत्ति" करके 'अहं ब्रह्मास्मि" का भाव चित्त पर पक्का जमाना चाहिए; क्योंकि उपनिषदोंका मत है कि अन्तकालमें उसीका स्मरण हो। वही सिद्धान्त इस अध्यायमें बतलाया गया है। "यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरं" आदि वचनोंसे यही बतलाया गया है। परन्तु भगवद्गीताने इस पर थोड़ी सी अपनी छाप रखी है। "कविं पुराणं, अणोरणीयांसं, सर्वस्य धातारं, अक्षरं" प्राप्त कर लेनेका मार्ग यह है कि उपनिषद्के अनुसार अन्तकालके समय मनुष्य ओंकार शब्दरूपी ब्रह्मका ध्यान करे। (प्रायेणान्तमोंकारमभिध्यायीत्क-तमं वा वसतेन लोकं जयति-प्रश्नोपनिषत्) यह बताते हुए, 'ओं इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्' कहकर 'मामनुस्मरन्' भी कहा है। उपनिषद् और योगका मेल "आस्थितो योगधारणाम्" शब्दोंसे करके भगवानने अपने स्मरणका भी रहस्य बता दिया है। यह भी उपनिषदोंका मत है कि सब लोक पुनरावर्ति हैं; परन्तु ब्रह्मका ध्यान करते करते देहको छोड़नेवाला ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मगतिको जाने पर पुनः लौटकर नहीं आता। यह बात यहाँ विस्तारपूर्वक बताई गई है। भगवानने कहा है कि—"यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" अव्यक्त अक्षर ही मेरा धाम है।

प्रयाणकालके सम्बन्धमें भी "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्" आदि उपनिषदोंका मत यहाँ बतलाया गया है। उत्तरायणमें देहको छोड़नेवाला प्राणिमात्र ऐसी परमगतिको जायगा जहाँसे पुनरावर्त्तन नहीं है। यह मत गीताने स्वीकृत किया है; परन्तु उस पर अपनी मुहर-छाप लगा दी है। गीतामें कहा है कि योगी यदि देवयान तथा पितृयानके भिन्न भिन्न मार्गोंको जानता हो, तो मोहमें नहीं फँसता। अर्थात् यह अर्थ सम्भव है कि योगी उस गतिकी परवा नहीं करता। अथवा यह अर्थ भी सम्भव है कि इस ज्ञानके बल पर योगी दक्षिणायनमें देह छोड़नेके मोहमें नहीं फँसता। इस अध्यायमें उपनिषद्के मतके अनुसार ही वेदान्तकी रचना कर गीताने उस सिद्धान्तको थोड़ा बढ़ाकर भगवद्भक्तिमें मिला लिया है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-ज्ञान भी उपनिषद्का एक प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु उपनिषद्में उसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यह विषय भगवद्गीताके १३ वें अध्यायमें है और वहाँ स्पष्ट बतलाया गया है कि यह विषय उपनिषदों और वेदोंका है। ऐसा जान पड़ता है कि भगवद्गीताने अपनी क्षेत्रकी व्याख्यामें उपनिषद्के आगे कदम रखा है; बल्कि यह माननेमें कोई हानि नहीं कि उस ज्ञानकी परिपूर्णता की है। **इच्छा-द्वेषः सुखं दुःखं संघातः चेतना धृतिः** इतने विषय उसने क्षेत्रमें और बढ़ा दिये हैं। इसी प्रकार ज्ञान यानी ज्ञानका साधन जो यहाँ बताया गया है वह उपनिषद्में किसी एक स्थानमें नहीं है। "**अमानित्वमदंभित्वं**" आदि श्लोकसे "**अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम्**" श्लोकतक भगवद्गीतामें उसकी जो व्याख्या की गई है और जो '**एतत्ज्ञानमितिप्रोक्तं**' कहकर पूरी की गई है वह बहुत ही सुन्दर है। उससे भगवद्गीताकी विशिष्ट कार्यक्षमता प्रकट होती है। यहाँ उपनिषद्का भावार्थ भगवद्गीताने इतनी सुन्दर रीतिसे ग्रथित किया है कि हर एक मुमुक्षुको चाहिए कि वह इसका अध्ययन करे। इसमें भी भगवानने "**मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**" भगवद्भक्तिका बीज बो दिया है। इसके आगे जो ज्ञेयका वर्णन है वह उपनिषद्में दिये हुए ब्रह्मके वर्णनके समान ही है। जगह जगह पर (**सर्वतः पाणिपादं तत्** आदि स्थानोंमें) उपनिषद्के वाक्योंका स्मरण होगा। इसमें '**निर्गुणं गुण भोक्तृ च**' अधिक रखा गया है। हम पहले ही दिखा चुके हैं कि उपनिषदोंमें गुणोंकी बिलकुल कल्पना नहीं है। सांख्यमतकी मुख्य बातोंमेंसे त्रिगुण भी एक है। भगवानने उसे यहाँ मान्य कर वेदान्तके ज्ञानमें उसे शामिल किया है। वेदान्तमें निर्गुण परिभाषा भगवद्गीतासे शुरू हुई। यह तत्व, कि ब्रह्म ज्ञेय तथा निर्गुण है और वह जगत्सृष्टिके गुणोंका भी भोक्तृ है, उदात्त है और उपनिषत्तत्वोंमें उसका योग्य समावेश हुआ है। इसलिए इस अध्यायमें ज्ञेयकी व्याख्या करते समय भगवानने सांख्यज्ञानके ग्राह्य भागकी ओर दृष्टि की है। गीतामें जो प्रकृति पुरुषकी व्याख्या दी है सो स्वतन्त्र रूपसे गीताकी है, सांख्यकी नहीं। यद्यपि ऐसा है तौभी पुरुषके हृदयमें निवास करनेवाला आत्मा और परमेश्वर या परमात्मा एक है और उसके सम्बन्धमें सांख्यमत भूलसे भरा और अग्राह्य है, यह दिखलानेके लिए कहा है कि:—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन् पुरुषः परः॥

उपनिषदोंके अनुसार ज्ञेयका, जो परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा आदि शब्दोंसे ज्ञात हो सकता है, वर्णन कर और उसमें गुणोंका समावेश कर इस अध्यायमें फिर क्षेत्रक्षेत्रज्ञके मुख्य विषयकी ओर भगवान् झुके हैं और उन्होंने यहाँ उपनिषदोंका परम मत बतलाया है कि सब जगह ईश्वर एक सा भरा हुआ है:—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥

यह कहकर, उपनिषन्मतके अनुसार उन्होंने यह भी बतलाया है कि यह देही क्षेत्रज्ञ परमात्मा सर्वत्रावस्थित होकर अनुलिप्त है और सूर्यके समान क्षेत्रको प्रकाशित करता है।

सांख्यके त्रिगुणोंके तत्वको मान्य करके उसे वेदान्तके विज्ञानमें ले लिया, इससे उनके विस्तारपूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता हुई, और इसी कारण भगवद्गीतामें इसके आगेके अध्यायमें प्रथम थोड़ेमें ही सांख्योंका महत् ब्रह्ममें मिलाकर आगे त्रिगुणोंका बड़ा ही मार्मिक विस्तार किया है। हमारी रायमें ऐसा विस्तार सांख्यमतमें भी नहीं मिलेगा। यह विस्तार प्रथम भगवद्गीताने ही किया है। जब मुमुक्षु इन गुणोंके परे होकर यह जानेगा कि गुण ही कर्त्ता है और मैं इनसे अलग हूँ, तब वह "**जन्ममृत्युजराव्याधिविमुक्तोऽमृतमश्नुते**" स्थितिमें पहुँचेगा। त्रिगुणोंके सिद्धान्तका वेदान्तके साथ मेल पहले गीताने ही मिलाया है। परमेश्वर अथवा परमात्मा निर्गुण है। गीताने प्रतिपादन किया है कि जब जीवात्मा भी त्रिगुणातीत हो जायगा तब वह परमात्मासे तादात्म्य प्राप्त करेगा। यहाँ त्रिगुणातीतकी व्याख्या दी है, और वह मुनिके उपनिषद्युक्त व्याख्याके अनुसार है। अन्तमें यह कहा है कि—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

इसका हम आगे कुछ अधिक विचार करेंगे।

पन्द्रहवें अध्यायमें भी उपनिषद्वाक्यसे ही प्रारम्भ करके उपनिषद्में बतलाया हुआ संसारका पीपलके वृक्षका रूपक पहले रखा है, और "**अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः**" श्लोकसे उसका विस्तार भी किया है। यह कहा है कि सब भूतोंमें मैं ही व्याप्त हूँ तथा जीवकी भिन्न भिन्न चेतन क्रिया भी मैं ही हूँ। क्षराक्षर विभाग भगवानने फिर बतलाया है। इस अध्यायमें भगवानने इसके और आगे चलकर कहा है कि मैं अक्षरके भी परे हूँ: उससे मैं उत्तम हूँ, इससे मैं **पुरुषोत्तम** हूँ। अर्थात् विषय उपनिषदोंके कुछ आगे बढ़ गया है, परन्तु मूलभूत विषय उपनिषद्का है और उसीका आगे विस्तार किया है।

यहाँतक हमने यह देखा कि गीतामें उपनिषद्के तत्वोंका कैसा अवलम्ब किया है और उनका विस्तार कैसे किया है। इससे मालूम हो जायगा कि उपनिषदोंके तुल्य भगवद्गीताका आदर क्यों है। उपनिषद्में दिये हुए सिद्धान्तका गीताने जो विस्तार किया उसमें मुख्यतः निर्गुण परब्रह्मका और श्रीकृष्णकी भक्तिका एक जगह मेल करके सगुण ब्रह्मकी कल्पना भगवद्गीताने पहले स्थापित की। भगवद्गीतामें यह स्पष्ट प्रश्न किया है कि किसका ध्यान—निर्गुण ब्रह्मका या अव्यक्तका—अधिक फलदायक है। यह भी पूछा गया है कि श्रीकृष्णका सगुण ध्यान करना

दायक है या भगवान्‌का। गीताके बारहवें अध्यायमें यह कहा है कि अव्यक्तकी उपासना अधिक क्लेशदायक है। इसमें श्रीकृष्णने जो सगुण उपासनाका बीज बतलाया है वह आगे कैसे बढ़ा, इसका विस्तारपूर्वक विचार हमें पांचरात्र मतमें करना है। परन्तु यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि श्रीकृष्णने यहाँ कुछ विशिष्ट मत प्रस्थापित नहीं किया। उपनिषदोंमें भी ब्रह्मके ध्यानके लिए ओंकार या सूर्य या गायत्री मन्त्र आदि प्रतीक लेनेका नियम बतलाया है; उसीके समान या उससे कुछ अधिक यानी भिन्न भिन्न विभूतियाँ, विभूति अध्यायमें, बतलाई गई हैं। उनमें यह कहा है कि **वृष्णीनाम् वासुदेवोऽस्मि** एक विभूति है और **रुद्राणां शंकरश्चास्मि** दूसरी विभूति है। अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि भगवद्गीतामें 'मैं' शब्दसे सगुण ब्रह्मकी एक कल्पना की है। इसीसे भगवद्गीता भी सर्व सामान्य उपासकोंके लिए समान पूजनीय हुई है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान, त्रिगुणोंका सिद्धान्त, सगुण ब्रह्मकी कल्पना और तदनुरूप भक्तियोगका चौथा (सांख्य, योग और वेदान्तके अतिरिक्त) मोक्षमार्ग उपनिषदोंकी अपेक्षा भगवद्गीतामें तो विशेष है ही, परन्तु उपनिषदोंकी अपेक्षा उसमें कर्मयोगके सिद्धान्तकी भी विशेषता है। ऐसा नहीं है कि यह मार्ग उपनिषदोंमें न हो। यह सच है कि उपनिषदोंका ज़ोर संन्यास पर है; तथापि हम समझते हैं कि उसमें भी **निष्काम कर्मपक्ष** है, और इसी लिए भगवद्गीताने उपनिषद्‌के प्रथमतः मुख्य दिखाई देनेवाले मार्गका विरोध किया है। "**पुत्रैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति**" पक्ष यद्यपि विशेष कहा गया है, तथापि "**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" आदि पक्ष उपनिषद्में हैं। हमारी राय है कि भगवद्गीतामें इसी मार्गके अधिष्ठानको कर्मयोग द्वारा मज़बूत करनेके लिए मुख्यतः कहा गया है। यह कहते कहते इस अलौकिक तत्वज्ञानके ग्रन्थमें सांख्य, योग और वेदान्तका भी समावेश किया गया है। इसमें पहले-पहल उपदेशित भक्तिमार्गका और अन्य विषयोंका भी समावेश है, परन्तु वे मुख्य वर्ण्य विषय नहीं हैं। इस कर्मयोगके सम्बन्धमें यहाँ अधिक न लिखकर आगे भगवद्गीता-प्रकरणमें विस्तारपूर्वक लिखेंगे। लोकमान्य तिलकने उसका सम्पूर्ण विचार किया ही है। यद्यपि हमें उनके सभी मत मान्य नहीं हैं, तथापि यहाँ इतना कहना अलं होगा कि उनका यह मत सर्वथैव मान्य है कि भगवद्गीताका मुख्य विषय कर्मयोग ही है। वही श्रीकृष्णका मुख्य उपदेश है और उसीकी परम्परा

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

आदि श्लोकोंमें बताई गई है। यह परम्परा उसी विषयकी है।

अब यह देखना आवश्यक है कि भीष्मस्तवमें वेदान्तकी स्तुति कौनसे शब्दोंमें की है। जैसे भीष्मस्तवसे योग और सांख्यकी प्राचीन कल्पना हमारे सन्मुख उपस्थित होती है, वैसे ही उससे वेदान्त तत्वकी प्राचीन कल्पना भी हमारे सन्मुख निस्सन्देह उपस्थित हो जायगी। भीष्मस्तवमें वेदान्त या उपनिषत् शब्द नहीं है। परन्तु मालूम होता है कि योगस्वरूपके पश्चात्‌के ही श्लोकमें वेदान्तके

तत्वज्ञानका उल्लेख होगा। "पुण्य तथा अपुण्य दोनोंकी ही निवृत्ति होने पर जिन शान्तियुक्त संन्यासियोंका पुनर्जन्म-का भय नष्ट हो गया है, वे जिस स्थानमें प्रविष्ट होते हैं, उस मोक्षस्वरूपी पर-मात्माको नमस्कार है।"

अपुण्यपुण्योपरमे
यं पुनर्भवनिर्भयाः।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति
तस्मै मोक्षात्मने नमः॥

इस वाक्यमें उपनिषन्मतका ही उल्लेख है। यह उपनिषद्का तत्व है कि पाप और पुण्यके नष्ट हुए बिना मोक्ष नहीं मिलता। वह भगवद्गीतामें भी आया है: परन्तु मुख्य रूपसे नहीं। इस वाक्यमें मुख्य बातें तीन हैं। पुण्य और अपुण्यकी निवृत्ति, शान्ति और संन्यास। मालूम होता है कि यहीं वेदान्तका मुख्य आधार है। इससे संन्यास-मतका कुछ प्रभाव भगवद्गीतामेंसे भीष्मस्तवमें आया हुआ दिखाई देता है। इसके पहलेका भी एक श्लोक वेदान्त-मतका दिखाई देता है। "अज्ञानरूपी घोर अन्धकारके उस पार रहनेवाले जगद्व्यापक जिस परमेश्वर-का ज्ञान होने पर मोक्ष मिलता है, उस ज्ञेय-स्वरूपी परमेश्वरको नमस्कार है"। स्पष्ट है कि यही ज्ञेय ब्रह्म है। इसके सिवा ब्रह्मका तथा परब्रह्मका भी उल्लेख पूर्वके स्तुति-विषयक श्लोकोंमें वेदान्त-मतके अनुसार ही आया है। यह कल्पना नई है कि उससे सारे जगत्का विस्तार होता है, इसीसे उसे ब्रह्म कहते हैं।

पुराणे पुरुषं प्रोक्तं ब्रह्मप्रोक्तं युगादिषु।
क्षये संकर्षणं प्रोक्तं तमुपास्यमुपास्महे॥

यह कल्पना उपनिषद्में नहीं है और इसमें कहा है कि पुरुष संज्ञा पूर्व कल्पोंके सम्बन्धकी है। इससे हम कह सकते हैं कि भीष्मस्तवराजमें भगवद्गीता-की अपेक्षा संन्यासपक्ष पर कुछ अधिक ज़ोर दिया हुआ दिखाई देता है। अब हम महाभारत-कालकी ओर झुकनेके पूर्व सनत्सुजातका, जो पुराना आख्यान है, विचार करेंगे।

इसमें वेदान्त-तत्व प्रतिपादित है। यह सिद्धान्त, कि ज्ञानसे ही मोक्ष मिलता है, उपनिषद्का ही है। यह भी सिद्धान्त वहींका है कि जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न हैं। प्रमादके कारण मृत्यु होती है, यानी अपने परमात्म स्वरूपको भूलने-से आत्माकी मृत्यु होती है; यह एक नवीन तत्व है। परमात्मा भिन्न भिन्न आत्माका क्यों निर्माण करता है? और सृष्टि उत्पन्न करके दुःख क्यों भोगता है? इन प्रश्नोंका यह उत्तर दिया गया है कि परमेश्वर अपनी मायासे जगत्का निर्माण करता है। इस मायाका उद्गम वेदमें ही है, जो "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इस वचनमें है। तथापि, उप-निषद्में उसका विशेष विस्तार नहीं है। भगवद्गीतामें यह कहा है कि माया पर-मेश्वरकी एक शक्ति है। संभवाम्या-त्ममायया" वाक्यका ही उल्लेख इस आख्यानमें है। कर्मके तीन प्रकार कहे हैं। आत्मनिष्ठ साक्षात्कारीको शुभाशुभ कर्मोंसे बाधा नहीं होती। निष्काम कर्म करनेवालेका पाप शुभ कर्मसे नष्ट होता है और काम्य कर्म करनेवालेको शुभाशुभ कर्मोंके शुभाशुभ फल भोगने पड़ते हैं। मौन यानी परमात्माकी एक कल्पना विशेष्य है। पर वह उपनिषदोंसे ही निकली है। उपनिषद्में "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" कहा है। "मौन संज्ञा पर-मात्माकी है; क्योंकि वेद भी मनसे वहाँ प्रवेश नहीं कर सकते।" ब्रह्मके चिंतनके लिए जो मौन धारण करता है उसे मुनि

कहते हैं और जिसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है वही श्रेष्ठ मुनि और वही ब्राह्मण है। गुरुगृहमें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए और गुरुके अन्तःकरणमें घुसकर ब्रह्मविद्या प्राप्त करनी चाहिए। विद्या चतुष्पदी है; उसका एक पाद गुरुसे मिलता है, दूसरा पाद शिष्य अपनी बुद्धिके बलसे प्राप्त करता है, तीसरा पाद बुद्धिके परिपक्व होने पर कालगतिसे मिलता है और चौथा पाद सहाध्यायीके साथ तत्वविचारोंकी चर्चा करनेसे मिलता है। यह बात महत्वकी है और इसका विचार हमें आगे करना है। ब्रह्म-का जो वर्णन सनत्सुजातके अन्तमें विस्तारपूर्वक दिया है वह उपनिषद्के अनुसार ही है। परन्तु यह कल्पना यहाँ नवीन दिखाई देती है कि ब्रह्मसे हिरण्य-गर्भकी उत्पत्ति हुई और उसने सृष्टिका निर्माण किया। इस कल्पनाने साधारण पौराणिक धारणाके साथ वेदान्तका मेल मिलानेका प्रयत्न किया है।

महाभारतमें वेदान्त-मतका विस्तार किस प्रकार किया हुआ मिलता है, इसके बतलानेमें पहले इस बातका स्वीकार करना होगा कि, महाभारतके समयमें सांख्य तथा योगका इतना आदर था कि उनकी छाया महाभारतके शान्ति पर्व और अन्य पर्वोंके तत्वज्ञानके विवेचन पर पूर्णतया पड़ी हुई दिखाई देती है। किसी विषय या अध्यायको लीजिये, वहाँ सांख्य और योगका नाम अवश्य आता है। इसके सिवा सांख्य और वेदान्तमें ज्ञान-का ही महत्व होनेसे सौतिने कई जगह उनका अभेद माना है। पाठकोंको जान पड़ता है कि सौतिके मनमें यह कभी न आया होगा कि वेदान्तके कुछ विशिष्ट मत हैं। महाभारत-कालके बादकी स्थिति इसके विरुद्ध है। बादरायणके वेदान्त-सूत्रमें मुख्यतः सांख्योंके योगका भी खण्डन है। यह स्पष्ट है कि वे सूत्र सना-तनधर्मकी जय होनेके पश्चात्के हैं। अर्थात् अनुमानतः वे पुष्पमित्रके कालके अनन्तरके हैं। अब वेदोंका पूर्ण अभिमान स्थापित हुआ, तब स्वभावतः वेदोंके मुख्य भाग जो उपनिषद् थे उन्हींके मतका पूर्ण आदर हुआ और इसीसे उपनिषद्बाह्य सांख्यादि मत त्याज्य माने गये। महा-भारत-कालमें यह स्थिति न थी, और महाभारतसे मालूम होता है कि सांख्य और योग सनातन-मतके साथ ही साथ समान पूज्य माने जाते थे; तथापि यह स्पष्ट है कि महाभारत-कालमें वेदान्त-मत ही मुख्य था और उसीके साथ अन्य-मतोंका समन्वय किया जाता था। अर्थात् सबसे अधिक महत्व वेदान्तका था। हमें यह देखना है कि महाभारत-कालमें यह मत किस रीतिसे फैला या सङ्कुचित हुआ।

शान्ति पर्वके कुछ आख्यानोंमें इस तत्वज्ञानकी चर्चा है। परन्तु उसमें प्रायः गूढ़ अर्थके श्लोक अधिक हैं, इसलिए टीकाकारको अपने ज्ञानके बल उनका अर्थ करना पड़ता है। इससे निश्चयके साथ नहीं बतलाया जा सकता कि महा-भारतकारको सचमुच वह अर्थ अभीष्ट था या नहीं। भाषान्तरमें जो अर्थ दिया है सो टीकाके आधार पर है, इससे यह नहीं मालूम होता कि टीकाका विषय कौनसा है और मूलग्रन्थका अर्थ कौनसा है। इसलिए ऐतिहासिक विचार करते समय केवल भाषान्तरके भरोसे रहना ठीक नहीं। इन अड़चनोंको दूर रखकर देखें कि हम क्या कह सकते हैं। शान्ति पर्वमें पहले वैराग्यका बहुत ही वर्णन है। वेदान्त ज्ञानको वैराग्यकी आवश्य-कता है। तदनन्तर भृगु और भारद्वाजके

संवादमें जीवका अस्तित्व सिद्ध किया है, और मनु और बृहस्पतिके संवादमें मोक्षका वर्णन है। यहाँ पर सबका स्पष्ट सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि—

सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः।
परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तञ्च ते शोचन्ति पंडिताः॥
(अ० २०५)

सुख-दुःख, पुण्य-अपुण्य दोनों जब छूटेंगे तब मोक्ष मिलेगा। मालूम होता है कि वेदान्त-तत्वका यह मत महाभारत-कालमें निश्चित हो गया था।

इसके सम्बन्धमें शुक और व्यासका संवाद महत्वका है। उसके अनेक विषय (विचारके लिये) लेने योग्य हैं। परन्तु हम विस्तारके भयसे नहीं ले सकते।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द ब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥
(शां० अ० २३२)

नीलकण्ठका कहना है कि इसमें शब्द-ब्रह्मके लिए प्रणव ओंकार लेना चाहिए। उपनिषदोंमें भी कहा है कि प्रणव ब्रह्म-स्वरूप है। और, उपनिषोंका ही यह मत है कि प्रणवकी उपासना करनेसे परब्रह्म-की प्राप्ति होती है।* इस श्लोकमें दिया हुआ कर्म-सिद्धान्त भी गूढ़ार्थी है (शां० अ० २३८)। महाभारतके समयमें यह दिखाई देता है कि कर्म त्यागकर संन्यासाश्रम लेनेसे अथवा कर्म करके गृहस्थाश्रममें रहकर ही मोक्ष मिलनेका प्रश्न वादग्रस्त और अनिश्चित था।

शुकने प्रश्न किया है:—

यदिदं वेदवचनं लोकवादे विरुध्यते।
प्रमाणे वाप्रमाणे च विरुद्धे शास्त्रतः कुतः॥
(शां० अ० २४३)

तब व्यासजीने उत्तर दिया है कि:—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम्॥
चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येता प्रतिष्ठिता॥

इसमें यह दिखलाया गया है कि किसी आश्रमका विधिवत् पालन करनेसे परमगति मिलती है। ब्रह्मको पहुँचनेकी चार सीढ़ियोंकी यह निसेनी है। हर एक सीढ़ी पर चढ़कर जाना सरल है; परन्तु निष्कर्ष यह दिखाई देता है कि एक ही सीढ़ी पर मजबूत और पूरा पैर जमाकर वहाँसे उछलकर परब्रह्मको जाना सम्भव है। तदनन्तर यहाँ चारों आश्रमोंका सुन्दर वर्णन है। कहा है कि आयुका चौथा हिस्सा जब शेष रह जाय, तब मनुष्य वानप्रस्थके द्वारा

सद्यस्कारां निरूप्येष्टिं
सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य
त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहान्॥
केशलोमनखान् वाप्य
वानप्रस्थो मुनिस्ततः॥

(उक्त प्रकारसे) चतुर्थाश्रमका ग्रहण करे। संन्यासका आचार भी बतलाया गया है। कहा है कि—

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद्भि सुलक्षणम्॥

और, अन्तमें ब्रह्म जाननेवाले ब्राह्मण-का भिन्न भिन्न श्लोकोंमें वर्णन है।

---

* यह महत्वका श्लोक यहाँ आया है:—

आलंभयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्रास्तु तपोयज्ञा द्विजातयः॥

यह श्लोक गूढ़ार्थी है:—

आकाशस्य तदा घोषं तं विद्वान् कुरुतेऽऽत्मनि।
तदव्यक्तं परं ब्रह्म तत् शाश्वतमनुत्तमम्॥

और भी देखिये:—

पौरुषं कारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमेके प्रशंसन्ति स्वभावमपरे जनाः॥
पौरुषं कर्म दैवन्तु कालवृत्ति-स्वभावतः।
त्रयमेतत् पृथग्भूतमविवेकं तु केचन॥
एतदेव च नैवं च न चोभे नानुभे तथा।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्वस्थाः समदर्शिनः॥

कपिल और स्यूमरश्मिके संवादमें यही विषय फिर आया है, और उसका निर्णय भी ऐसा ही अनिश्चित हुआ है। स्यूमरश्मिने गृहस्थाश्रमका पक्ष लेकर कहा है कि—

कस्यैषा वाग्भवेत्सत्या
नास्ति मोक्षो गृहादिति। १०
(शां० अ० २६६)

और भी कहा है कि—

यद्येतदेवं कृत्वापि
न विमोक्षोऽस्ति कस्यचित्।
धिक्कर्तारं च कार्यं च
श्रमश्चायं निरर्थकः ॥६६

कपिलने पहले यह स्वीकार किया कि—

वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ॥
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

और फिर अन्तमें उसने यह भी मान्य किया है कि "**चतुर्थोपनिषद्धर्मः साधारण इति स्मृतिः।**" उसने यह बात भी स्वीकृत की कि स्मृतिमें यह कथन है कि उपनिषदोंमें बताये हुए चतुर्थ अथवा तुरीय पदवाच्य ब्रह्म-पदकी प्राप्ति कर लेनेकी स्वतन्त्रता चारों आश्रमों और चारों वर्णोंको है। हमारी रायमें यहाँ स्मृति शब्दसे भगवद्गीताके "**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यांति परां गतिम्**" वचनका ही उल्लेख किया हुआ दिखाई देता है। परन्तु आगे चलकर यह कहा है कि—

संसिद्धैः साध्यते नित्यं ब्राह्मणैर्नियतात्मभिः।
संतोषमूलस्त्यागात्मा ध्यानाधिष्ठानमुच्यते॥
अपवर्गमतिर्नित्यो यतिधर्मः सनातनः॥
(शां० अ० २७०-३०, ३१)

(चित्त-शुद्धि करके) संसिद्ध तथा नियतेन्द्रिय ब्राह्मणोंको ही इस स्वतन्त्रताका उपयोग होता है, और वे ही तुरीय ब्रह्मको पहुँचते हैं। सन्तोष जिसका मूल है और त्याग जिसका आत्मा है, ऐसा यतिधर्म सनातन है, और मोक्ष ही उसका ध्येय होनेसे वही ध्यानका अधिष्ठान होने योग्य है। इससे महाभारत-कालमें यह मत प्रतिपादित होने लगा था कि वर्णोंमेंसे ब्राह्मण और ब्राह्मणोंमेंसे चतुर्थाश्रमी संन्यासी ही मोक्षकी प्राप्ति करते हैं। परन्तु यह बात अवश्य मानी जाती थी कि शास्त्रने सब वर्णों और आश्रमोंको स्वतन्त्रता दी है। उपनिषद्में जानश्रुति शूद्रको मोक्ष-मार्गका उपदेश किया है और श्वेतकेतु ब्रह्मचारीको तत्व-प्राप्तिका उपदेश किया है। भगवद्गीताके "**स्त्रियो वैश्याः**" आदि वचनोंसे यही स्वतन्त्रता दी गई है। यद्यपि महाभारत-कालमें यह बात मानी जाती थी, तथापि यथार्थमें लोग समझने लगे कि ब्राह्मण और विशेषतः चतुर्थाश्रमी ही मोक्ष-मार्गका स्वीकार करते हैं और मोक्षपदको पहुँचते हैं। बहुत क्या कहा जाय, शांति पर्वके २४६वें अध्यायमें वेदान्त-ज्ञानकी स्तुति करते समय इस प्रकार—

दशेदं ऋक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमुद्धृतम्।
स्नातकानामिदं वाच्यं शास्त्रं पुत्रानुशासनम्॥
इदं प्रियाय पुत्राय शिष्यायानुमताय च।
रहस्यधर्मं वक्तव्यं नान्यस्मै तु कदाचन।
यद्यप्यस्य महीं दद्याद्रत्नपूर्णामिमां नरः॥

उपनिषन्मतका ही वर्णन करके व्यासजीने सूचित किया है, कि यह रहस्य-धर्म स्नातकोंको ही देने योग्य है; अर्थात् स्त्रियाँ इसके लिए अधिकारी नहीं हैं। इस प्रकार वेदान्त-ज्ञान और संन्यासका सम्बन्ध भगवद्गीताकी अपेक्षा महाभारतके कालमें अधिक दृढ़ हुआ। परन्तु यह अपरिहार्य न था। इस कालके पश्चात् बादरायणके सूत्रमें यह सम्बन्ध पक्का और निश्चयका हो गया। शूद्र शब्द-

की भिन्न व्युत्पत्ति करनेवाले सूत्रोंसे दिखाई देता है कि यही प्रतिपादित हुआ था कि ब्राह्मणको ही और विशेषतः संन्याश्रमीको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है।

शान्ति पर्वके २७८वें अध्यायमें हारीतोक्त मोक्ष-ज्ञान बतलाया गया है। उसमें संन्यास-धर्मका विस्तारपूर्वक वर्णन करके अन्तमें यह कहा है कि—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा यः प्रव्रजेद्गृहात्।
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथानंत्याय कल्पते॥

महाभारत-कालमें प्रव्रज्या ही मोक्षकी प्रणाली मान्य हुई दिखाई देता है। क्योंकि बौद्धों तथा जैनोंने भी अपने मोक्ष-मार्गके लिए इसी प्रव्रज्याके मार्गको मान्य किया है। महाभारत-कालमें प्रव्रज्याका महत्व बहुत बढ़ा हुआ दिखाई देता है। विस्तारपूर्वक अन्यत्र कहा ही गया है कि सनातनधर्मियोंकी प्रव्रज्या बहुत प्रखर थी। बौद्धों तथा जैनोंने प्रव्रज्याको बहुत हीन कर डाला और वह पेट भरनेका धन्धा हो गया। एक समय युधिष्ठिरको संन्यासकी अत्यन्त लालसा हुई और उसने पूछा—"कदा वयं करिष्यामः संन्यासं दुःखसंज्ञकं। कदा वयं गमिष्यामो राज्यं हित्वा परंतप॥" इस प्रश्न पर भीष्मने सनत्सुजात और वृत्रका संवाद सुनाया। यह कहते कहते, कि जीव संसारमें करोड़ों वर्षतक कैसे परिभ्रमण करता है, उन्होंने यह भी बतलाया कि जीवके छः वर्ण होते हैं—कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र और शुक्ल (शां० अ० २८०-३३)। वर्णकी यह कल्पना विचित्र है। हर एक वर्णकी चौदह लाख योनियाँ बतलाई गई हैं (शतं सहस्राणि चतुर्दशेह परागतिर्जीवगुणस्य दैत्य—३६)। भिन्न भिन्न रङ्गोंमेंसे पुनः पुनः ऊपर नीचे भी संसरण होता है। नरकमें पड़े रहनेतक कृष्ण-वर्ण होता है। वहाँसे हरित (धूम्र)। इसके अनन्तर सत्व-गुणसे युक्त होने पर नीलमेंसे निकलकर लाल रङ्ग होता है और जीव मनुष्य-लोकको आता है। पीला रङ्ग मिलने पर देवत्व मिलता है। फिर जब सत्वाधिक्य होता है तब उसे शुक्लवर्ण मिलता है (नहीं तो वह नीचे गिरता हुआ कृष्ण रङ्गतक जाता है)। शुक्ल गतिमेंसे यदि वह पीछे न गिरा और योग्य मार्गसे चला गया तो गत श्लोकमें कहा है कि—"ततोऽव्ययं स्थानमनंतमेति देवस्य विष्णोरथ ब्रह्मणश्च।" "संहारकाले परिदग्धकाया ब्रह्माणमायान्ति सदा प्रजा हि" सर्व संहारके समय ऐसा दिखाई देता है, कि उसका ब्रह्मसे तादात्म्य होता है।*

उपर्युक्त वर्णनसे यह भी देख पड़ता है कि महाभारत-कालमें परमगतिकी कल्पना कुछ भिन्न थी। उपनिषद्में भी

* यहाँ युधिष्ठिरने दो विचित्र प्रश्न किये हैं। उनके उत्तर भी विचित्र हैं। **पहला प्रश्न**—"जिस महादेवका सनत्कुमारने वर्णन किया है, क्या यह वही हमारा श्रीकृष्ण है?" **उत्तर**—यह वह नहीं है। "**तुरीयार्द्धेन-तस्येमं विद्धि केशवमच्युतं**" इसके विषयमें आगे उल्लेख करेंगे। **दूसरा प्रश्न**—हम इस समय रक्त वर्णमें हैं; परन्तु आगे हमारी क्या गति होगी, नील या कृष्ण या अच्छी? भीष्मने उत्तर दिया—तुम पाण्डव देवलोकको जाओगे और फिर "विहृत्य देवलोकेषु पुनर्मानुषमेष्यथ। प्रजाविसर्गं च सुखेन काले प्रत्येत्य देवेषु सुखानि भुक्त्वा। सुखेन संयास्यथ सिद्धसंख्यां मा वो भयं भूद्विमलाःस्थ सर्वे" ॥७७ (शां० अ० २८०)। अर्थात् "तुम फिर मनुष्य लोकको आओगे और मनुष्य लोकमें पूर्ण सुख भोगकर फिर देव योनिको जाओगे और वहाँसे सिद्ध-मण्डलीमें जाओगे।" इस वाक्यसे यह जाननेकी इच्छा होती है, कि महाभारत-कालके इतिहासमें पाण्डवोंका फिर कौनसा अवतार माना जाता था? क्या वत्सराज उदयनसे तो तात्पर्य नहीं है?

कहा है कि भिन्न भिन्न देवताओंके लोक हैं। छान्दोग्यमें लिखा है कि—"**एतासामेव देवतानां सलोकतां सार्ष्टिताम् सायुज्यं गच्छति।**" परन्तु यह माना जाता था कि ब्रह्मलोक अपुनरावर्ति है। याज्ञवल्क्यने कहा है कि—"गार्गि ब्रह्मलोकके आगेका हाल मत पूछ"—"**अनातप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि**" (बृ० अ० ५ ब्रा० ६)। बृहदारण्यकमें तो (अ० ८ ब्रा० २) यह कहा है कि—"**वैद्युतान् पुरुष मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति न तेषां पुनरावृत्तिः**"। उपनिषद्‌में प्रजापति-लोक और ब्रह्मलोक अलग अलग माने गये थे। भगवद्गीता और महाभारतमें यह एक स्वरसे माना गया है कि ब्रह्मलोक पुनरावर्त्ति है। **आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोर्जुन**" इस मतके अनुसार यह निश्चय हुआ था कि ब्रह्मलोककी गति शाश्वत नहीं है। योगी और जापक वहीं जाते हैं। परन्तु ऊपरके श्लोकमें इतनी कल्पना अधिक है कि ब्रह्मलोकके लोग संहारके समय मुक्त होते हैं। यह स्पष्ट है कि वेदान्तका अन्तिम ध्येय मोक्ष है। परन्तु वेदान्त मतसे मोक्षका अर्थ है ब्रह्मभाव। मोक्ष और विमोक्ष शब्द गीतामें तथा उपनिषदोंमें भी हैं। परन्तु ब्रह्मनिर्वाण, ब्रह्मभूय आदि शब्द गीतामें अधिक हैं। "**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**" में ब्रह्म शब्द ब्रह्मलोक-वाच्य है। सभापर्वकी ब्रह्मसभासे यह स्पष्ट है कि ब्रह्मसभा अन्तिम गति नहीं है। वनपर्वके २६१ वें अध्यायमें ब्रह्मलोकके ऊपर ऋभुलोक बतलाये हैं जो कल्पमें भी परिवर्तन नहीं पाते। ऐसा वर्णन है कि "**न कल्पपरिवर्तेषु परिवर्तन्ति ते तथा" देवानामपि मौद्गल्य कांक्षिता सा गतिः परा।**" परन्तु कहा है कि इसके आगे विष्णुका स्थान है—"**ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदं। शुद्धं सनातनम् ज्योतिः परब्रह्मेति यद्विदुः।**" उपनिषद्‌में परब्रह्मवाची शब्द आत्मा है, और आत्मा और परमात्माका भेद उपनिषदोंको मालूम नहीं। "**य आत्मापहतपाप्मा**" आदि वर्णन देखिये। योगमें दो आत्मा माने गये, इसी लिए पहले यह भेद उत्पन्न हुआ। भगवद्गीता और महाभारतमें इसी लिए परमात्मा शब्द सदैव परब्रह्मके अर्थमें आया है। इस प्रकार ब्रह्म भी दो प्रकारका (शब्दब्रह्म और परब्रह्म) हो जानेसे परब्रह्म शब्द बहुत बार उपयोगमें आया है। उपनिषद्‌में पुरुष शब्द परमात्मवाची है। वैसा ही महाभारतमें भी है। परन्तु कहीं कहीं परम पुरुष शब्द आता है। महद्भूत शब्द भी उपनिषदोंमें है। वह महाभारतमें भी कहीं कहीं आया है। भगवद्गीतामें पुरुषोत्तम और भूतात्मा शब्द आये हैं। "**शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः**" बृहदारण्यकमें वर्णित है। परन्तु उसमें और परमात्मामें भेद नहीं है। भूतात्मा, महानात्मा आदि शब्द महाभारतमें पाये जाते हैं। पंचेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, पंचमहाभूत और उनके रूप रसादि गुण, तथा सत्वरजस्तम त्रिगुण, उनके भेद आदि अनेक विषय महाभारतमें, उद्योगपर्वके सनत्सुजातीयमें और अन्यत्र वर्णित हैं। इनमेंसे शान्तिपर्वके मोक्षधर्म पर्वमें इनका बहुत ही विस्तार है। उसका विशेष उल्लेख करना प्रायः कठिन

है। तथापि उपनिषदोंमें जिन वेदान्त तत्वोंका उपदेश किया गया है, उनका विस्तार भगवद्गीतामें ही किया है और महाभारतमें सुन्दर संवाद और आख्यान रखे गये हैं जिनमेंसे "देवा अपि मार्गे मुह्यंति अपदस्य पदैषिणः" आदि कुछ श्लोक वेदान्तमें बार बार आते हैं। अन्तका व्यास शुकाख्यान बहुत ही मनोहर है और उसके आरम्भका "पावकाध्ययन" नामका ३२१ वाँ अध्याय पढ़ने योग्य है।

(४) पांचरात्र।

अब हम पांचरात्रके मतकी ओर झुकेंगे। वेदान्तके बाद पांचरात्र ही एक महत्वका ज्ञान महाभारतके समयमें था। हम पहले ही बता चुके हैं कि जब ईश्वरकी सगुण-उपासना करनेकी परिपाटी शुरू हुई, तब शिव और विष्णुकी अधिक उपासना प्रचलित हुई। वैदिक कालमें ही यह बात मान्य हो गई थी कि सब वैदिक देवताओंमें विष्णु श्रेष्ठ हैं। उस वैष्णव धर्मका मार्ग धीरे धीरे बढ़ता गया और महाभारतके कालमें उसे पांचरात्र नाम मिला। इस मतकी असली नींव भगवद्गीताने ही डाली थी और यह बात सर्वमान्य हुई थी कि श्रीकृष्ण श्रीविष्णुका अवतार है। इससे पांचरात्रमतकी मुख्य नीति श्रीकृष्णकी भक्ति ही है। हम पहले ही कह चुके हैं कि भक्तिमार्गकी नींव भगवद्गीताने ही डाली है। परमेश्वरकी भावनासे श्रीकृष्णकी भक्ति करनेवाले लोग श्रीकृष्णके समयमें भी थे, जिनमें गोपियाँ मुख्य थीं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत लोग थे। यह अनुभवसिद्ध है कि सगुण रूपकी भक्ति करनेवालेको भगवद्भजनसे कुछ और ही आनन्द होता है। इसका महत्व भगवद्गीतामें बतलाया गया है। भक्ति-मार्ग बहुत पुराना तो है, परन्तु पांचरात्र-मार्गसे कुछ भिन्न और प्राचीन है। पांचरात्र-तत्वज्ञानके मत कुछ भिन्न हैं और रहस्यके समान हैं। महाभारतके नारायणीय उपाख्यानसे दिखाई पड़ता है कि महाभारतके समय ये मत कौन से थे। भगवद्भक्ति करनेवाले भागवत कहलाते थे और उनका एक सामान्य वर्ग था। इस वर्गमें विष्णु और श्रीकृष्ण देवताओंकी परमेश्वर-स्वरूप मानकर उनकी भक्ति होती थी। परन्तु पांचरात्र इससे थोड़ा भिन्न है; और हम नारायणीय आख्यानके आधार पर देखेंगे कि यह मत कैसा था। यह नारायणीय आख्यान शान्तिपर्वके ३३४ वें अध्यायसे ३५१ वें अध्यायके अन्त तक है; इसके अनन्तर अन्तका उंच्छवृत्युपाख्यान शान्ति पर्वमें है। अर्थात् नारायणीयाख्यान बहुधा अन्तिम आख्यान है और यह शान्ति पर्वका अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है। वह वेदान्त आदि मतोंसे भिन्न और अन्तिम ही माना गया है। इस आख्यानका प्रारम्भ ऐसे हुआ है:—युधिष्ठिरने प्रश्न किया कि किसी आश्रमके मनुष्यको यदि मोक्ष-सिद्धि प्राप्त करना हो तो किस देवताके पूजनसे वह उसे मिलेगी? अर्थात् इसमें यह दिखाई देता है कि इसके द्वारा सगुण भक्तिका माहात्म्य बताया है।

इस मतके मूल आधार नारायण हैं। स्वायंभुव मन्वन्तरमें "सनातन विश्वात्मा नारायणसे नर, नारायण, हरि और कृष्ण चार मूर्तियाँ उत्पन्न हुईं।" नरनारायण ऋषियोंने बदरिकाश्रममें तप किया। नारदने वहाँ आकर उनसे प्रश्न किया। उस पर उन्होंने उसे यह पांचरात्र धर्म सुनाया है। इस धर्मका पालनेवाला पहला पुरुष उपरिचर राजा वसु था। पहले

इसीने पांचरात्र विधिसे नारायणकी पूजा की। चित्रशिखण्डी नामके सप्त ऋषियों-ने वेदोंका निष्कर्ष निकालकर पांचरात्र नामका शास्त्र तैयार किया। ये सप्तर्षि स्वायंभुव मन्वन्तरके मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ हैं। इस शास्त्रमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारोंका विवेचन है। यह ग्रन्थ एक लाख श्लोकोंका है। "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अङ्गिरा ऋषिके अथर्ववेद-के आधार पर इस ग्रन्थमें प्रवृत्ति और निवृत्तिके दोनों मार्ग हैं और उनका यह आधारस्तम्भ है।" नारायणने कहा कि हरि-भक्त वसु उपरिचर राजा इस ग्रन्थ-को बृहस्पतिसे सीखेगा और उसके अनु-सार चलेगा, परन्तु उसके पश्चात् यह ग्रन्थ नष्ट हो जायगा।" अर्थात् चित्र-शिखण्डीका यह ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं है। तथापि भगवद्गीता इस मतके लिए मुख्य आधार नहीं मानी गई; अत-एव हमें यह स्वीकृत करना पड़ता है कि यह पांचरात्र-मत भगवद्गीताके पश्चात् हुआ और उससे कुछ भिन्न है।

इस भागमें पहली कथा यह है कि क्षीरसमुद्रके उत्तरकी ओर श्वेत द्वीप है जहाँ नारायणकी पांचरात्र-धर्मसे पूजा करनेवाले श्वेतचन्द्रकान्तिके "अतीन्द्रिय, निराहारी और अनिमेष" लोग हैं। वे एकनिष्ठासे भक्ति करते हैं और उन्हें नारायणका दर्शन होता है। इस श्वेत-द्वीपके लोगोंकी अनन्य भक्तिसे नारायण प्रकट होते हैं और ये लोग पांचरात्र विधिसे उनका पूजन करते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह मत गीतासे अधिक है। दूसरी बात यह है कि अहिंसा मत भी इस तत्वज्ञानके द्वारा सांख्य-योगादि अन्य मतोंके समान ही प्रधान माना गया है। वसु राजाने जो यज्ञ किया था उसमें पशु-वध नहीं हुआ। वसु राजाके शापकी जो बात आगे दी है, केवल वह इसके विरुद्ध है। ऋषियोंके और देवोंके झगड़ेमें छागहिंसाके यज्ञके सम्बन्धमें जब वसुसे प्रश्न किया गया, तब उसने देवोंके मतके अनुकूल कहा कि छागबलि देना चाहिए। इससे ऋषियोंका उसे शाप हुआ और वह भूविवरमें घुसा। वहाँ उसने अनन्य भक्तिपूर्वक नारायणकी सेवा की जिससे वह मुक्त हुआ और नारायणकी कृपासे "ब्रह्मलोकको पहुँचा"। वसु राजाके नामसे यज्ञमें घीकी धारा अग्निमें छोड़नी पड़ती है। कहा है कि देवोंने प्राशन करनेके लिए उसे वह दिलाई, और यह भी कहा है कि उसे "वसोर्धारा" कहते हैं। यही कथा अश्वमेध पर्वके नकुलाख्यानमें आई है और वहाँ उसका यही स्वरूप है। फिर आश्चर्य तो यही होता है कि पांच-रात्रमतका वसु राजा ही प्रथम कैसे होता है। वर्णन तो ऐसा है कि उसने स्वतः जो यज्ञ किया वह पशुका नहीं था। अस्तु। हिंसाको यज्ञविहित बतलानेके विषयमें गीता और महाभारत दोनोंका स्पष्ट आशय नहीं है। अर्थात् यह भग-वद्गीताके आगेकी सीढ़ी है।

इसके आगेके अध्यायोंमें यह वर्णन है कि नारद नारायणका दर्शन करनेके लिए श्वेतद्वीपमें गये और वहाँ उन्होंने भगवान्के गुह्य नामोंसे उनकी स्तुति की। ये नाम विष्णु-सहस्र-नामोंसे भिन्न हैं। पांचरात्र-मतमें भी नारदकृत स्तुति विशेष महत्वकी होगी। नारायण प्रसन्न हुए और उन्होंने नारदको विश्वरूप दिखाया। इस रूपका वर्णन यहाँ देने योग्य है। "प्रभुके स्वरूपमें भिन्न भिन्न रङ्गोंकी छटा थी। नेत्रहस्तपादादि सहस्र थे। वह विराट-स्वरूपका परमात्मा

ओंकारयुक्त सावित्रिका जप करता था। उस जितेन्द्रिय हरिके अन्य मुखोंमेंसे चारों वेद, वेदाङ्ग और आरण्यकोंका घोष हो रहा था। उस यज्ञरूपी देवके हाथमें वेदि, कमण्डलु, शुभ्रमणि, उपानह, कुश, अजिन, दण्डकाष्ठ और ज्वलित अग्नि थे।" इस वर्णनसे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि पांचरात्र-मत वेदों और यज्ञोंको पूरा पूरा मानता था। अस्तु। भगवद्गीताका विश्वरूप और यह विश्वरूप दोनों भिन्न हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रसङ्ग भी भिन्न हैं। तथापि निष्कर्ष यह निकलता है कि यह आख्यान भगवद्गीताके बादका है। यहाँ पर नारायणने नारदको जो तत्वज्ञानका उपदेश दिया है उसमें पांचरात्रके विशिष्ट मत आये हैं। वे ये हैं—"जो नित्य, अजन्मा और शाश्वत है, जिसे त्रिगुणोंका स्पर्श नहीं, जो आत्मा प्राणिमात्रमें साक्षिरूपसे रहता है, जो चौबीस तत्वोंके परे पच्चीसवाँ पुरुष है, जो निष्क्रिय होकर ज्ञानसे ही जाना जा सकता है, उस सनातन परमेश्वरको वासुदेव कहते हैं। यही सर्वव्यापक है। प्रलय कालमें पृथ्वी जलमें लीन होती है, जल अग्निमें, तेज वायुमें, वायु आकाशमें, और आकाश अव्यक्त प्रकृतिमें और अव्यक्त प्रकृति पुरुषमें लीन होती है। फिर उस वासुदेवके सिवा कुछ भी नहीं रहता। पञ्चमहाभूतोंका शरीर बनता है और उसमें अदृश्य वासुदेव सूक्ष्म रूपसे तुरन्त प्रवेश करता है। यह देहवर्त्ति जीव महा-समर्थ है और शेष और संकर्षण उसके नाम हैं। इस संकर्षणसे जो मन उत्पन्न होकर "सनत्कुमारत्व" यानी जीवन-मुक्तता पा सकता है और प्रलय कालमें जिसमें सब भूतोंका लय होता है उस मनको प्रद्युम्न कहते हैं। इस मनसे कर्त्ता, कारण और कार्यकी उत्पत्ति है तथा इससे चराचर जगत्का निर्माण होता है, इसीको अनिरुद्ध कहते हैं। इसीको ईशान भी कहते हैं। सर्व कर्मोंमें व्यक्त होनेवाला अहंकार यही है। निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान् वासुदेव जीवरूपमें जो अवतार लेता है, वह संकर्षण है; संकर्षणसे जो मन रूपमें अवतार होता है वह प्रद्युम्न है और प्रद्युम्नसे जो उत्पन्न होता है वह अनिरुद्ध है और वही अहंकार और ईश्वर है।"

पांचरात्र-मतका यही सबसे विशिष्ट सिद्धान्त है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धका श्रीकृष्णके चरित्रसे अति घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिए श्रीकृष्णके भक्तोंमें उनके लिए पूज्य-भक्तिका होना स्वाभाविक है। इसी कारणसे पांचरात्र मतमें उन नामोंका समावेश हुआ होगा। जब श्रीकृष्णका वासुदेव नाम परमेश्वरके स्वरूपसे पूजनीय हुआ, तब आश्चर्य नहीं कि प्रद्युम्न और अनिरुद्धके नाम परमेश्वरसे उत्पन्न होनेवाले मन और अहंकारके तत्वोंमें सहज ही एकत्र हो गये। क्योंकि श्रीकृष्णका पुत्र प्रद्युम्न है और उसका पुत्र अनिरुद्ध है। परन्तु संकर्षण नाम बलरामका यानी श्रीकृष्णके बड़े भाईका है। बलरामके लिए मान लिया कि पूज्य भाव था: तथापि उसका नाम जीवको कैसे दिया गया? उसका और श्रीकृष्णका सम्बन्ध बड़े और छोटे भाईका था; वैसा सम्बन्ध जीव और परमेश्वरका नहीं है। अस्तु। इस सम्बन्धके विचारसे ये नाम नहीं रखे गये। श्रीकृष्णके सम्बन्धसे ये नाम प्रिय हुए थे, इसीसे इनका उपयोग किया गया; ऐसा नहीं दिखाई देता कि श्रीकृष्णके पूर्व वासुदेव नाम परमेश्वरवाची था। भगवद्गीतामें भी वह नाम श्रीकृष्णके सम्बन्धमें परमेश्वरके अर्थमें आया है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

यह श्लोक गीतामें आया है और श्रीकृष्णने अपनेको लक्ष्य कर कहा है। माना कि श्रीकृष्णका वासुदेव नाम ही परमेश्वरवाची हुआ, तोभी ऐसा दिखाई देता है कि भगवद्गीताके समयमें यह चतुर्व्यूह सिद्धान्त नहीं निकला था, क्योंकि गीतामें इसका वर्णन कहीं नहीं है। परन्तु महाभारतसे हम यह दिखा सकेंगे कि धीरे धीरे यह सिद्धान्त बढ़ता गया। यह सच है कि भीष्मस्तवमें इस मतका उल्लेख है, परन्तु उसमें संकर्षण नाम परमेश्वरके ही लिए आया है और उसका अर्थ भिन्न ही किया है:—"मैं उस परमात्माकी उपासना करता हूँ जिसे संकर्षण कहते हैं, क्योंकि संहार-कालमें वह जगत्को आकर्षित कर लेता है।" अर्थात् परमेश्वरका संकर्षण नाम यहाँ अन्य कारणोंसे दिया गया है। एक व्यूहसे दो व्यूह, दोसे तीन और तीनसे चार व्यूहकी कल्पना बढ़ती गई जिसका हाल महाभारतमें दिया है। अर्थात् पूर्व कालमें यानी गीताके कालमें एक ही वासुदेवरूपी व्यूहका होना दिखाई देता है। वासुदेवकी सरल व्याख्या वसुदेवका पुत्र वासुदेव है; परन्तु पांचरात्र-मतमें उसकी व्याख्या और ही हुई, जो आगे बतलाई गई है। ऐसी ही व्याख्या संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धकी भी निकल सकना संभव है। शान्तिपर्वके २८०वें अ० में कहा है कि श्रीकृष्णने मूर्त स्वरूप लिया: तथापि वह उपाधि वर्गोंसे निरुद्ध या बद्ध नहीं था, इसीसे उसे अनिरुद्ध कहते हैं। सहज ही उसी अर्थमें यानी जीव, मन और अहंकारके अर्थमें वे शब्द माने गये। चतुर्व्यूहकी यह कल्पना वेदान्त, सांख्य या योग मतोंसे भिन्न है और पांचरात्र मतकी स्वतंत्र है।

यह मान लेनेमें कोई हर्ज नहीं कि यह मत पहले सात्वत लोगोंमें उत्पन्न हुआ। सात्वत लोग श्रीकृष्णके वंशके लोग हैं। इसीसे इस मतको सात्वत कहते हैं। सात्वत वंशके लोगोंमें यह मत पहले निकला, अतएव यह स्वाभाविक है कि उस वंशकी पूज्य विभूतियाँ इस मतमें अधिकतर आईं। श्रीकृष्णके साथ बलदेवकी भक्ति उत्पन्न हुई और वह अभीतक हिन्दुस्थानमें प्रचलित है। महाभारतमें तो एक जगह कहा है कि बलदेव और श्रीकृष्ण श्रीविष्णुके समान ही अवतार हैं (आदि प० अ० १६७)। बलदेवके मन्दिर अभीतक हिन्दुस्थानके कुछ स्थानोंमें हैं। जैन तथा बौद्ध ग्रन्थोंमें वासुदेव और बलदेव दोनों नाम ईश-स्वरूपी धर्मप्रवर्त्तकके अर्थमें आये हैं। अर्थात् उनके समय ये ही दो व्यक्ति सामान्यतः लोगोंमें मान्य थे। केवल प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नाम सात्वत या पांचरात्र मतमें ही हैं और वंश-परम्परासे सात्वतोंके मतमें उनकी भक्तिका रहना भी स्वाभाविक है। भीष्मस्तवमें इन सात्वत गुह्य नामोंका ऐसा उल्लेख किया है:—

चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्वस्थं सात्वतां पतिम्।
यं दिव्यैर्देवमर्चंति गुह्यैः परमनामभिः॥

शान्तिपर्वके ३३९ वें अध्यायमें नारायण नारदसे आगे कहते हैं—"जिसका ज्ञान निरुक्तसे होता है वह हिरण्यगर्भ जगज्जनक चतुर्वक्त्र ब्रह्मदेव मेरी आज्ञासे सब काम करता है और मेरे ही कोपसे रुद्र हुआ है। पहले जब मैंने ब्रह्मदेवको पैदा किया तब उसे ऐसा वर दिया कि—"जब तू सृष्टि उत्पन्न करेगा, तब तुझे पर्यायवाची अहंकार नाम मिलेगा, और जो कोई वर-प्राप्तिके लिए तपश्चर्या करेंगे उन्हें तुझसे ही वर-प्राप्ति होगी। देवकार्यके लिए मैं हमेशा अवतार लूँगा, तब तू

मुझे पिताके तुल्य आज्ञा कर। मैं ही संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध अवतार लेता हूँ, और अनिरुद्धके नाभिकमलसे ब्रह्मदेवका अवतार होता है।" यह कहकर इसके आगे इस अध्यायमें दशावतारोंके संक्षिप्त चरित्रका जो कथन किया है वह बहुत ही महत्वका है। इन दस अवतारोंकी कल्पना बहुत प्राचीन नहीं है। उसका आरम्भ नारायणीय आख्यानसे है। अवतारकी कल्पनाका बीज भगवद्गीतामें ही है। भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि—"भक्तोंका उद्धार करनेके लिए और धर्मकी उन्नतिके लिए मैं बार बार अवतार लेता हूँ।" परन्तु यहाँ यह नहीं बतलाया कि श्रीविष्णुके दस अवतार हैं। यह निर्विवाद है कि यह दशावतारकी कल्पना बौद्ध धर्मकी जय या पराजय होनेके पूर्वकी है; अर्थात् सचमुच महाभारतके कालकी है, क्योंकि इन दस अवतारोंमें बुद्धका अन्तर्भाव नहीं है।

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा* द्विजोत्तम।
वराहो नारसिंहश्च वामनो राम एव च॥
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतो काल्किरेव च॥

इस समय लोगोंमें जो अवतार प्रसिद्ध हैं वे बहुधा ये हो हैं: परन्तु प्रारम्भमें जो हंस है, केवल वह भिन्न है और उसके बदले नवाँ अवतार बुद्ध आया है। हंस अवतारकी कथा इसमें नहीं है परन्तु वाराहकी है और वहींसे वर्णन शुरू होता है,—"जो पृथ्वी समुद्रमें डूबकर नष्ट हो गई उसे मैं वाराह-रूप धारण कर ऊपर लाऊँगा। हिरण्याक्षका वध मैं करूँगा। नृसिंह रूप धारण कर मैं हिरण्यकशिपुको मारूँगा। बलि राजा बलवान होगा, तो मैं वामन होकर उसे पातालमें डालूँगा। त्रेतायुगमें संपत्ति और सामर्थ्यसे क्षत्रिय मत्त होंगे, तो भृगुकुलमें परशुराम होकर मैं उनका नाश करूँगा। प्रजापतिके दो पुत्र-ऋषि, एकत और द्वित, त्रित ऋषिका घात करेंगे जिसके प्रायश्चित्तके लिए उन्हें बन्दरकी योनिमें जन्म लेना पड़ेगा। उनके वंशमें जो महाबलिष्ठ बन्दर पैदा होंगे वे देवोंको छुड़ानेके लिए मेरी सहायता करेंगे और मैं पुलस्त्यके कुलके भयंकर राक्षस रावण और उसके अनुयायियोंका नाश करूँगा। (वानरोंकी यह उत्पत्ति बहुत ही भिन्न और विचित्र है जो रामायणमें भी नहीं है।) द्वापरके अन्तमें और कलियुगारम्भके पूर्व मैं मथुरामें कंसको मारूँगा। द्वारका स्थापित करके अदिति माताका अपमान करनेवाले नरकासुरको मारूँगा। फिर प्राग्ज्योतिषाधिपतिको मारकर वहाँकी सम्पत्ति द्वारकामें लाऊँगा। तदनन्तर बली-पुत्र बाणासुरको मारूँगा, फिर सौभनिवासियोंका नाश करूँगा। फिर काल-यवनका वध करूँगा, जरासन्धको मारूँगा और युधिष्ठिरके राजसूयके समय शिशुपालका वध करूँगा।" लोग मानते हैं कि भारती-युद्ध-कालमें नर-नारायण कृष्णार्जुनके रूपसे क्षत्रियोंका संहार करनेके लिए उद्युक्त हुए हैं। "अन्तमें द्वारकाका तथा यादवोंका भी घोर प्रलय मैं ही कराऊँगा। इस प्रकार अपार कर्म करनेपर मैं उस प्रदेशको वापस जाऊँगा जो ब्राह्मणोंको पूज्य है और जिसे मैंने पहले निर्माण किया।"

ऊपरके विस्तृत अवतरणमें नारायणीय-आख्यानसे दशावतारकी प्रचलित कल्पना ली गई है और श्रीविष्णु या नारायणने भिन्न भिन्न असुरोंको मारनेके लिए जो जो अवतार धारण किये हैं उनका वर्णन किया गया है। इस वर्णनमें

* यह ध्यानमें रखने योग्य है कि महाभारतमें अवतार शब्द नहीं आया है—प्रादुर्भाव आया है। (शा० अ० ३३९)

यह बात गर्भित है कि ये असुर ब्रह्मदेवके वरसे ही पैदा होते थे और अन्तमें उन्हें मरवानेके लिए ब्रह्मदेव नारायणके पास जाकर उनसे प्रार्थना करते थे। श्वेत द्वीपमें नारदको भगवानके दर्शन होनेका और दोनोंके भाषणका उपर्युक्त वर्णन जिसमें किया है उसका नाम है महोपनिषत्। और इस मतमें यह माना गया है कि वह नारदका बनाया हुआ पांचरात्र है। यह भी कहा है कि जो इस कथाका श्रवण और पठन करेगा वह चन्द्रके समान कान्तिमान् होकर श्वेतद्वीपको जायगा। यहाँ यह भेद किया हुआ दिखाई देता है कि भगवद्गीता उपनिषत् है और यह आख्यान महोपनिषत् है। अर्थात् यह आख्यान भगवद्गीताके बादका है।

भगवद्गीताके ढङ्ग पर इस महोपनिषद्की उपदेश-परम्परा भी बतलाई गई है। पहले नारदने इसे ब्रह्मदेवके सदनमें ऋषियोंको सुनाया: उनसे इस पांचरात्र उपनिषत्को सूर्यने सुना। सूर्यसे देवोंने इसे मेरु पर्वत पर सुना। देवोंसे असित ऋषिने, असितसे शान्तनुने, शान्तनुसे भीष्मने और भीष्मसे धर्मने सुना। भगवद्गीताके समान, यह भी कहा गया है कि—"जो वासुदेवका भक्त न हो, उसे तू इस मतका रहस्य मत बतला।" इस प्रमाणसे अधिक विश्वास होता है कि नारायणीय उपाख्यान भगवद्गीताके बाद बना है।

इसके आगेके ३४०वें अध्यायमें यह बतलाया गया है कि नारायण यज्ञका भोक्ता और कर्त्ता कैसे है? सांख्य और वेदान्तके तत्व-ज्ञानोंका मेल करके सृष्टिकी उत्पत्तिका जो वर्णन किया गया है उससे मालूम होता है कि परमात्माको, उसके कर्मके कारण ही, महापुरुष कहते हैं। उसीसे प्रकृति उत्पन्न हुई जिसका नाम प्रधान है। प्रकृतिसे व्यक्तका निर्माण हुआ जिसको अनिरुद्ध या अहङ्कार कहते हैं और वही लोगोंमें (वेदान्तमें) महान् आत्माके नामसे प्रसिद्ध है। उससे ब्रह्मदेव पैदा हुआ और ब्रह्मदेवने मरीचादि सात ऋषि और स्वयंभु मनु उत्पन्न किये। इनके पूर्व ब्रह्मदेवने पंच-महाभूत तथा उनके पाँच शब्दादि गुण उत्पन्न किये। सात ऋषि और मनुको मिलाकर अष्टप्रकृति होती है, जिससे सारी सृष्टि हुई। यह सब पांचरात्र मत है। इन्होंने देव उत्पन्न किये और जब तपश्चर्या की तब यज्ञकी उत्पत्ति हुई और ब्रह्मदेवके इन मानस-पुत्र ऋषियोंने प्रवृत्ति-धर्मका आश्रय लिया। इनके मार्गको अनिरुद्ध कहते हैं। सन, सनत्सुजात, सनक, सनंद, सनत्कुमार, कपिल और सनातन ब्रह्मदेवके दूसरे मानस-पुत्र हैं। इन्होंने निवृत्ति मार्ग स्वीकृत किया। मोक्ष धर्मका मार्ग इन्होंने ही दिखाया। इस अध्यायमें वह वर्णन है कि प्रवृत्ति-मार्गियोंकी पुनरावृत्ति नहीं टलती। इससे पांचरात्रका मत यह दिखाई देता है कि यज्ञमार्ग नारायणने ही दिखाया, यज्ञके हविर्भागका भोक्ता वही है, वही निवृत्ति मार्गका दर्शक है और वही उसका पालन भी करता है। यह भी दिखाई देता है कि वे यह भी मानते हैं कि प्रवृत्ति हीन है और निवृत्ति श्रेष्ठ है। अथवा सम्भव है कि सौतिने यह वर्णन सब मतोंके भेद मिटानेके लिए किया हो।

३४१वें और ३४२वें अध्यायोंमें नारायणके नामोंकी उपपत्ति लिखी है जो बहुत ही महत्वकी है। यह संवाद प्रत्यक्ष अर्जुन और श्रीकृष्णके बीच हुआ है और श्रीकृष्णने स्वयं अपने नामकी व्युत्पत्ति बताई है। सौतिने अपनी हमेशाकी रीतिके अनुसार पहले श्रीकृष्णके मुखसे वर्णन

कराया है कि शिव और विष्णुमें कोई भेद नहीं। "रुद्र नारायण स्वरूपी है। अखिल विश्वका आत्मा मैं हूँ और मेरा आत्मा रुद्र है। मैं पहले रुद्रकी पूजा करता हूँ।" इत्यादि विस्तृत विवेचन प्रारम्भमें किया गया है। "आप अर्थात् शरीरको ही 'नारा' कहते हैं, सब प्राणियों-का शरीर मेरा अयन अर्थात् निवास-स्थान है इसलिये मुझे नारायण कहते हैं। सारे विश्वको मैं व्याप लेता हूँ और सारा विश्व मुझमें स्थित है इसीसे मुझे वासुदेव कहते हैं। मैंने सारा विश्व व्याप लिया है अतएव मुझे विष्णु कहते हैं। पृथ्वी और स्वर्ग भी मैं हूँ और अन्तरिक्ष भी मैं हूँ इसीसे मुझे दामोदर कहते हैं। चंद्र, सूर्य, अग्निकी किरणें मेरे बाल हैं इसलिए मुझे केशव कहते हैं। गो यानी पृथ्वीको मैं ऊपर ले आया, इसीसे मुझे गोविंद कहते हैं। यज्ञका हविर्भाग मैं हरण करता हूँ इसीसे मुझे हरि कहते हैं। सत्वगुणी लोगोंमें मेरी गणना होती है, इसीसे मुझे सात्वत कहते हैं।" "लोहेका काला स्याह (कुसिया) हलका फार होकर मैं जमीन जोतता हूँ और मेरा वर्ण कृष्ण है इससे मुझे कृष्ण कहते हैं।" इससे मालूम हो जायगा कि कृष्णके चरित्रसे इन व्युत्पत्तियोंके द्वारा भिन्न भिन्न अर्थके नाम उत्पन्न हुए और वेदान्तिक या पांचरात्रिक मत-के अनुसार उन नामोंका कैसा भिन्न अर्थ किया गया है। हर एक मतके शब्दों-में कुछ गुह्य अर्थ रहता है और यह स्पष्ट है कि उसीके अनुसार ये अर्थ हैं।

पांचरात्र-मतमें दशावतारोंको छोड़ हयशिरा नामका और एक विष्णुका अवतार माना गया है जिसका थोड़ा सा वृत्तान्त देना आवश्यक है। दशावतार बहुधा सर्वमान्य हुए हैं। परन्तु हयग्रीव या हयशिरा अवतार पांचरात्र मतमें ही है। इसका सम्बन्ध वेदसे है। ब्रह्मदेवने कमलमें बैठकर वेदोंका निर्माण किया। उन्हें मधु और कैटभ दैत्य ले गये। उस समय ब्रह्मदेवने शेषशायी नारायणकी प्रार्थना की। तब नारायणने ईशान्य समुद्रमें हयशिरा रूप धारण कर ऊँची आवाजसे वेदका उच्चारण करना प्रारम्भ किया। तब वे दानव दूसरी ओर चले गये और हयशिरने ब्रह्मदेवको वेद वापस ला दिये। आगे मधु-कैटभने नारायण पर चढ़ाई की, तब नारायणने उनको मारा। इस प्रकार यह कथा है। इस रूपका तात्पर्य ध्यानमें नहीं आता। यदि इतना ध्यानमें रखा जाय कि पांचरात्र मत वैदिक है और वेदसे इस स्वरूपका निकट सम्बन्ध है, तो मालूम हो जायगा कि वैदिक मतके समान ही इस मतका आदर क्यों है? पांचरात्रका मत है कि ब्रह्मदेव अनिरुद्धकी नाभिसे पैदा हुआ: परन्तु यहाँ यह बतलाने योग्य है कि अन्यत्र महाभारतसे और पौराणिक कल्पनासे लोगोंकी यह धारणा भी है कि नारायणके ही नाभिकमलसे ब्रह्मदेव पैदा हुआ।

श्वेत द्वीपसे लौट आने पर नर-नारायण और नारदका जो संवाद हुआ है वह ३४२वें तथा ३४३वें अध्यायमें दिया है। उसकी दो बातें यहाँ अवश्य बत-लानी चाहिएँ। नारायणने श्वेत द्वीपसे श्रेष्ठ तेजसंज्ञक स्थान उत्पन्न किया है। वह वहाँ हमेशा तपस्या करता है। उसके तपका ऐसा वर्णन है कि—"वह एक पैर पर खड़ा होकर हाथ ऊपर उठाकर और मुँह उत्तरकी ओर करके सांगवेदका उच्चारण करता है।" "वेदमें इस स्थान-को सद्भूतोत्पादक कहते हैं।" दूसरी बात, मोक्षगामी पुरुष पहले परमाणु-रूप-से सूर्यमें मिल जाते हैं; वहाँसे निकल-कर वे अनिरुद्धके रूपमें प्रवेश करते हैं,

इसके अनन्तर वे सब गुणोंको छोड़ मन-के रूपसे प्रद्युम्नमें प्रवेश करते हैं; वहाँसे निकलकर जीव या संकर्षणमें जाते हैं। तत्पश्चात् उन द्विजश्रेष्ठोंकी सत्व, रज और तम तीन गुणोंसे मुक्ति होकर वे क्षेत्रज्ञ परमात्मा वासुदेवके स्वरूपमें मिल जाते हैं। पांचरात्रके मतके अनुसार मोक्षको जानेवाले आत्माकी गतिका वर्णन ऊपर दिया है। वेदान्तके मतसे यह भिन्न है। परन्तु यह भी दिखाई देता है कि वह भगवद्गीताके वर्णित ब्रह्मपदसे भी भिन्न है। अस्तु। पूर्वाध्यायमें यह बतलाया गया है कि वैकुण्ठ वासुदेव या परमात्माका नाम है। आश्चर्य इस बातका होता है कि यहाँ नारायणके अलग लोक होनेका वर्णन नहीं है। यह सच है कि वैकुण्ठकी गति नारायणके लोककी ही गति है, परन्तु वह यहाँ बतलाई नहीं गई। यहाँ इस बातका भी उल्लेख करना आवश्यक है कि वर्तमान वैष्णव-मतमें मोक्षकी कल्पना भी भिन्न है।

पांचरात्र-मतमें वेदको पूरा पूरा महत्त्व तो दिया ही गया है परन्तु साथ ही वैदिक यज्ञ आदि क्रियाएँ भी उसी तरह मान्य की गई हैं। हाँ, हम पहले बतला चुके हैं कि यज्ञका अर्थ अहिंसा-युक्त वैष्णव यज्ञ है। आगेके ३४५ वें अध्यायमें यह वर्णन है कि श्राद्ध-क्रिया भी यज्ञके समान ही नारायणसे निकली है, और श्राद्धमें जो तीन पिण्ड दिये जाते हैं वे ये ही हैं जो पहलेपहल नारायणने वराह अवतारमें अपने दाँतोंमें लगे हुए मिट्टीके पिण्ड निकालकर स्वतःको पितररूप समझकर दिये थे। इसका तात्पर्य यह है कि पिण्ड ही पितर हैं, और पितरोंको दिये हुए पिण्ड श्रीविष्णु-को ही मिलते हैं।

इस प्रकार नारायणीय धर्मका स्वरूप है और स्पष्ट दिखाई देता है कि वह भगवद्गीताके धर्मके स्वरूपके अनन्तरका है। इसमें भगवद्गीताका हरिगीताके नाम-से स्पष्ट उल्लेख है और उसमें यह धर्म पहले संक्षेपतः बतलाया गया है जिसका वर्णन ३४६ वें अध्यायमें है। पहले बताई हुई हयग्रीवकी कथा ३४७ वें अध्यायमें है और अन्तमें यह कहा है कि—"नारायण ही वेदोंका भण्डार है, वही सांख्य, वही ब्रह्म और वही यज्ञ है; तप भी वही है और तपका फल भी नारायणकी प्राप्ति है। मोक्षरूपी निवृत्ति लक्षणका धर्म भी वही है और प्रवृत्ति लक्षणका धर्म भी वही है।" इसके बाद पांचरात्र-मतका एक विशिष्ट सिद्धान्त यह बताया हुआ दिखाई देता है कि सृष्टिकी सब वस्तुएँ पाँच कारणोंसे उत्पन्न होती हैं। पुरुष, प्रकृति, स्वभाव, कर्म और दैव ये पाँच कारण अन्यत्र कहीं नहीं बतलाये हैं। भगवद्गीतामें भी नहीं हैं। ३४८ वें अध्याय-में सात्वत धर्मका और हाल बतलाया है। कहा है कि यह निष्काम भक्तिका पन्थ है। इसीसे उसे एकान्तिक भी कहते हैं। ३४९ वें अध्यायमें भगवद्गीता-का जो श्लोक निराले ढंगसे लिखा है वह यह है:—

> चतुर्विधा मम जना
> भक्ता एव हि मे श्रुतम्।
> तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा
> ये चैवानन्यदेवताः ॥३३॥

'ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, इस भगवद्गीताके बदले इस श्लोकमें कहा गया है कि अनन्यदेव एकान्ती मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। अर्थात् यह वाक्य बादका है। इस बातका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है कि नारायणने यह धर्म ब्रह्मदेव-को भिन्न भिन्न सात जन्मोंमें बतलाया तथा अन्य कई लोगोंको बतलाया। सात

बार ब्रह्माकी उत्पत्तिकी कल्पना नई ही है। वास्तवमें ब्रह्मकी एक ही उत्पत्ति होनी चाहिए। यदि ऐसा मान लिया जाय कि कल्प ब्रह्माका एक दिन है और इसी हिसाबसे ब्रह्माके सौ वर्ष माने जायँ तो अनेक ब्रह्मा हुए! सारांश, अनादि कालमें अनेक या अनन्त ब्रह्मा होते हैं। इसलिए यह ध्यानमें नहीं आता कि ब्रह्माके वर्तमान सातवें जन्मकी कल्पना किस बात पर अधिष्ठित है।

ब्रह्माके इस सातवें जन्ममें भगवान-के बतलाये हुए इस धर्मकी परम्परा भगवद्गीतासे भिन्न है। "नारायणने यह धर्म ब्रह्माको दिया। ब्रह्माने युगके आरम्भ-में दक्षको दिया। दक्षने आदित्यको, आदित्यने विवस्वानको, और विवस्वानने त्रेताके आरम्भमें मनुको दिया। मनुने इक्ष्वाकुको दिया और इक्ष्वाकुने उसे लोगोंमें फैलाया। युगका क्षय होने पर वह फिर नारायणके पास वापस जायगा।" जैसे भगवद्गीतामें कहा है वैसे यह इक्ष्वाकुके बाद नष्ट नहीं हुआ। यहाँ यह भी बतलाया है कि—"मैंने तुझे हरि-गीतामें पहले यतिका धर्म बतलाया है।" यहाँ वैशम्पायनने भगवद्गीताका स्पष्ट उल्लेख किया है और कहा है कि उसमें यतिका धर्म बतलाया हैं। अर्थात् महा-भारत-कालमें भगवद्गीताका और ही कुछ तात्पर्यार्थ लिया जाता होगा। इस पांच-रात्र-धर्मको नारद मुनिने भी नारायणसे रहस्य और संग्रह सहित प्राप्त किया है। इस अहिंसायुक्त धर्मसे हरि सन्तुष्ट होता है।

एकव्यूहविभागो वा कचिद्द्विव्यूहसंज्ञितः।
त्रिव्यूहश्चापि संख्यातश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते॥

"यह धर्म नारदने व्यासको बतलाया और व्यासने उसे ऋषियोंके सन्निध तथा श्रीकृष्ण और भीमके समक्ष धर्म-राजको बतलाया। यह एकान्त धर्म मैंने तुझे बतलाया है।"

देवं परमकं ब्रह्मश्वेतं चन्द्राभमच्युतम्।
यत्र चैकान्तिनो यांति नारायणपरायणाः॥

एकान्ती इस प्रकार श्वेतगतिको जाते हैं। यह धर्म गृहस्थ तथा यति दोनोंके ही लिए है।

श्वेतानां यतिनां चाह
एकान्तगतिमव्ययाम्॥८५॥
(अ० ३४८)

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च।
परस्परांगान्येतानि पांचरात्रं च कथ्यते॥

इस श्लोकमें सांख्य, योग और वेदान्त तत्वज्ञानका और पांचरात्रका अभेद बत-लाया गया है, अर्थात् ये ज्ञान बहुत पुराने हैं और पांचरात्र इनके बादका है।

३४९ वें अध्यायमें अपान्तरतमाके पूर्व कालका वृत्तान्त बतलाया है। इसका नाम वैदिक साहित्यमें नहीं है। यह पूर्व कल्पमें व्यासके स्थानका अधिकारी है। कदाचित् इसका नाम पांचरात्र-मतमें उत्पन्न हुआ होगा। इस अध्यायके अन्त-में सांख्य, योग, वेद, पांचरात्र तथा पाशु-पत इन पाँच तत्वज्ञानोंका वर्णन कर यह कहा है कि अपान्तरतमा वेद या वेदान्तका आचार्य है। सबका इसमें ऐसा समन्वय किया गया है कि पाँचों मतोंका अन्तिम ध्येय नारायण ही है। कहा है कि पांचरात्र मतसे चलनेवाले निष्काम भक्तिके बलसे श्रीहरिको ही पहुँचते हैं। इसमें पांचरात्रको अलग कहा है।

अन्तके ३५० वें तथा ३५१ वें अध्याय भी महत्वके हैं। सांख्य और योग इस बातको मानते हैं कि प्रति पुरुषमें आत्मा भिन्न है। इसके सम्बन्धमें पांचरात्र-मत-का जो सिद्धान्त है वह इस अध्यायमें बतलाया गया है; परन्तु वह निश्चयात्मक

नहीं दिखाई देता। आरम्भमें ही हमने व्यासका यह मत बतला दिया है कि सब जगह आत्मा एक है और कपिल मतसे भिन्न है। बहुधा इसी मतके आधार पर पांचरात्र मत होगा, पर हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। कहा गया है कि "जीवकी उत्क्रान्ति, गति और अगति भी किसीको नहीं मालूम होती" और "व्यवहारतः पृथक् दिखाई देनेवाले अनेक पुरुष एक ही स्थानको जाते हैं।" पुनः चारों मतोंकी एकता करके कहा है कि—"जो जीव शान्त वृत्तिसे अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेवके अधिदैव-चतुष्टयका अथवा विराट्, सूत्रात्मा, अन्तर्यामी और शुद्धब्रह्मके अध्यात्म-चतुष्टयका अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयके अवस्था चतुष्टयका क्रमशः स्थूलसे सूक्ष्ममें लय करता है, वह कल्याण पुरुषको पहुँचता है। योगमार्गी उसे परमात्मा कहते हैं, सांख्यवाले उसे एकात्मा कहते हैं और ज्ञानमार्गी उसे केवल आत्मा कहते हैं।"

एवं हि परमात्मानं केचिदिच्छंति पंडिताः।
एकात्मानं तथात्मानमपरे ज्ञानचिंतकाः।
स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः॥
(अ० ३५१)

"यही निर्गुण है। यही नारायण सर्वात्मा है। एक ही कर्मात्मा या जीव कर्मके भेदसे अनेक पुरुष बनता है।"

नारायणीय आख्यानका सार हमने यहाँ जानबूझकर क्रमशः दिया है। यह महाभारतका अन्तिम भाग है और इसमें तत्कालीन पांचरात्र-मतका उद्घाटन किया गया है। इससे पाठकोंको मालूम हो जायगा कि यह भाग अन्तिम यानी महाभारतके कालका है और भगवद्गीता इसके बहुत पूर्वकी है। भगवद्गीता पांचरात्र-मतके मान्य ग्रन्थोंकी परम्परामें नहीं है। भगवद्गीतामें वासुदेव परमेश्वरके अर्थमें है और अवतार-कल्पना भी उसमें है; परन्तु पांचरात्र-मतमें वह भिन्न रीतिसे बढ़ाई गई है। महाभारतमें अन्यत्र इस पांचरात्र-मतका जो उल्लेख आया है वह भी महाभारत-कालीन है। भीष्मपर्वके ६५ वें तथा ६६ वें आध्यायोंमें भीष्मने दुर्योधनको यह समझाया है कि पाण्डवोंका पराजय नहीं होगा क्योंकि श्रीकृष्ण नारायणका अवतार है। उसमें पिछले ब्रह्माकी कथा दी गई है। ब्रह्माने देवाधिदेवकी स्तुति करके अन्तमें कहा है—"तेरे सम्बन्धका गुह्यसे गुह्य ज्ञान मैं जानता हूँ। हे कृष्ण, तूने पहले अपनेसे संकर्षण देव उत्पन्न किया। तदनन्तर प्रद्युम्न और प्रद्युम्नसे अव्यय विष्णुरूपी अनिरुद्ध उत्पन्न किया। अनिरुद्धने मुझ लोक-धारण-कर्त्ता ब्रह्माको उत्पन्न किया। अब तू अपने विभाग करके मनुष्यरूप ले और मर्त्यलोकमें असुरोंका वध कर।" इसमें और पूर्वोक्त मतमें थोड़ासा अन्तर है जिसका विचार हम आगे करेंगे। ६६ वें अध्यायके अन्तमें कहा है कि, द्वापरके अन्तमें और कलिके आरम्भमें जिसका नारद-पांचरात्रके आगमकी पद्धतिसे* संकर्षणने गायन किया है, वह यही वासुदेव प्रति युगमें देवलोक और द्वारकापुरीका निर्माण करता है। इसमें भी पांचरात्रका मुख्य ग्रन्थ नारदका ही माना गया है। इसके आगेके दो अध्यायोंमें वासुदेव ही महद्भूत है। उसीने सारा जगत् बनाया है। सब भूतोंके अग्रज संकर्षणका भी इसीने निर्माण किया है। सब लोगोंकी उत्पत्तिका हेतुभूत कमल इसीकी नाभिसे उत्पन्न हुआ है। सब

* मूलमें ये शब्द हैं— 'सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन वै।'

पृथ्वीको मस्तक पर धारण करनेवाला विश्वरूपी दिव्य शेष इसीने उत्पन्न किया है। इसके कानकी मैलसे मधु दैत्य पैदा हुआ। जब वह ब्रह्माको नष्ट करने लगा तब इसीने उसे मारा, अतएव इसको मधुसूदन नाम मिला। यह ध्यानमें रखना चाहिए कि यहाँ भी उपर्युक्त नारायणीय आख्यानसे थोड़ा सा अन्तर है। सारांश यह कि नारायणीय आख्यान और ये अध्याय बहुत कुछ मिलते हैं। और, हमारे मतमें वे भगवद्गीताके बादके हैं।

पांचरात्र-मत यद्यपि पीछेसे उत्पन्न हुआ तथापि पाणिनिसे भी यह दिखाई देता है कि श्रीकृष्ण और अर्जुनकी भक्ति बहुत प्राचीन है। इन दोनोंको नर-नारायण कहनेका सम्प्रदाय बहुत पुराना होगा। नारायण या वासुदेवार्जुनोंकी भक्ति पांचरात्र-मतके पूर्व भी होगी। नारायणके आदिदेव होनेकी कल्पना बहुत पुरानी होगी और इसी लिए वह आरम्भके नमनके श्लोकमें आई है। भारती-युद्धके बाद वह शीघ्र ही उत्पन्न हुई होगी, क्योंकि भारती-युद्धमें इन्हींका मुख्य पराक्रम और कर्त्तृत्व प्रकट होता है। श्रीविष्णुका या आदि देवका नारायण नाम बहुत पुराना है। यहाँ एक बात बतलाने योग्य यह है कि प्रत्येक वैदिक कर्मके आरम्भमें या संध्याके आरम्भमें जो भगवान्के चौबीस नाम कहनेका नियम है, वह सम्भवतः नारायणीय मतके बादका है; क्योंकि उसमें संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नाम आये हैं। इसमें वासुदेवके पूर्व संकर्षणका नाम कैसे आया है, यह नहीं कहा जा सकता। इसमें भी नारायणका नाम बिलकुल पहले यानी चार नामोंसे अलग आया है। अनुशासन पर्वके अध्याय १०६ से दिखाई देता है कि केशव, नारायण क्रम महाभारतके कालमें निश्चित हो गया था। इस अध्यायमें विष्णुके बारह भिन्न भिन्न नामोंसे हर एक महीनेकी द्वादशीको उपवास करनेका वर्णन किया गया है। अतएव हम मान सकते हैं कि नारायण नाम पांचरात्र मतके पूर्वका है। भीष्म पर्वके वर्णनमें जो लिखा है कि श्रीकृष्ण अपने विभाग करके यादव-कुलमें अवतार ले, उसके सम्बन्धमें कुछ आश्चर्य मालूम होता है। भारती-युद्धकालमें जो श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुआ, वह पूर्ण अवतार है और यही नारायणीय आख्यानमें देख पड़ता है। शान्तिपर्वके २८० वें अध्यायमें लिखा है कि—"मूलदेव निर्विकार चिदात्मा है और उसे महादेव कहते हैं। जब वह मायासे संवलित होता है तब चिदचिदात्मा भगवान् कारणात्मा होता है। तीसरी श्रेणी तैजस आत्मा और चौथी वर्तमान श्रीकृष्ण है जो मूल महादेवका अष्टमांश है।"

मूलस्थायी महादेवो भगवान् स्वेन तेजसा। तत्स्थः सृजति तान् भावान् नानारूपान् महामनाः॥ तुरीयार्धेन तस्येमं विद्धि केशवमच्युतम् ॥६२॥

(शां० २८०)

इसमें जो मत वर्णित है वह अद्भुत दिखाई देता है। यह नारायणीय आख्यानके पांचरात्र-मतसे भिन्न और बहुधा प्राचीन होगा। केवल यह कल्पना पांचरात्रकी दिखाई देती है कि नर और नारायण ऋषि बदरिकाश्रममें तप करते हैं। परन्तु इस बातसे भी आश्चर्य मालूम होता है कि आदि देव नारायण भी घोर तप कर रहे हैं, जैसा कि उपर्युक्त अध्यायमें एक जगह कहा गया है। इस कठिन तपके विषयमें कहा गया है कि नारायण एक पैरसे खड़े होकर हाथ ऊपर उठाकर सांग वेद कहते हैं। भगव-

गीताके "देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौच-मार्जवम्" इत्यादि श्लोकोंमें तपकी जो अति उदात्त कल्पना वर्णित है, उससे यह बिलकुल भिन्न है। नारायणका तप, उसके चार व्यूह अथवा मूर्ति, श्वेत द्वीपके लोग और आत्माकी चार स्वरूपोंमें क्रममुक्ति आदि कल्पनाएँ पांचरात्रमें भिन्न हैं। उसकी एकान्तिक वासुदेव-भक्ति भी भगवद्गीतामें वर्णित भक्तिसे विशेष है। यह (गीताका) सामान्य भक्ति मार्ग पांचरात्र मतसे भिन्न दिखाई देता है। पांचरात्रकी गुह्य पूजाविधियोंका वर्णन सौतिने नारायणीय आख्यानमें नहीं किया है। इस मतको आगम भी कहा है। अर्थात आगमोक्त कुछ भिन्न पूजा-प्रकार हैं जो सम्भवतः गुह्य होंगे। महाभारतके आधार पर पांचरात्र-मतका इससे अधिक वर्णन हम नहीं कर सकते।

मेगास्थिनीजके कथनसे भी यह बात दिखाई देती है कि महाभारत-कालमें श्रीकृष्णकी भक्ति मुख्यतः सात्वत लोगोंमें प्रचलित थी। यहाँ पर यह कह देना उचित होगा कि उसने लिख रखा है कि मथुरामें शौरसेनी लोग हरि या हिर्रॉक्लीज (ग्रीकरूप) की भक्ति करते हैं।

(५) पाशुपत मत।

अब हम पाँचवें तत्वज्ञानका कुछ विचार करेंगे। सगुण ईश्वरकी कल्पना पहले श्रीकृष्ण-भक्तिसे निकली। परन्तु हम पहले कह चुके हैं कि साथ ही साथ शंकरकी सगुण भक्ति भी मान्य हुई होगी। शंकरकी भक्तिका उद्गम दशोपनिषदोंसे नहीं है, कदाचित् बादका है। वेद और उपनिषदोंमें विष्णु और रुद्र दोनों देवता हैं। परन्तु उपनिषत्कालमें अर्थात् दशोपनिषत्कालमें परब्रह्मसे विष्णुका तादात्म्य हुआ था। श्वेताश्वतरमें यह तादात्म्य शंकरसे किया हुआ पाया जाता है। यह बात "**एकोहि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः**" "**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**" इन वचनोंसे स्पष्ट है। भगवद्गीतामें भी "**रुद्राणां शंकरश्चास्मि**" वचन है। अर्थात् यह निर्विवाद है कि उपनिषत्कालके अनन्तर भारती-कालमें शंकरकी परमेश्वरके रूपसे उपासना शुरू हुई, और इस स्वरूपकी एकता विशेषतः वैदिक देवता रुद्रके साथ हो गई। यजुर्वेदमें रुद्रकी विशेष स्तुति है। यजुर्वेद यज्ञ-सम्बन्धी वेद है और यह मान्य हुआ है कि वह क्षत्रियोंका विशेष वेद है। धनुर्वेद भी यजुर्वेदका उपांग है, और श्वेताश्वतर उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदका है। अर्थात् यह स्वाभाविक है कि क्षत्रियोंमें और यजुर्वेदमें शंकरकी विशेष उपासना शुरू हुई होगी। इसके सिवा यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि क्षत्रिय युद्धादि क्रूर कर्म किया करते थे जिससे सम्भव है कि उन्हें क्रूर देवता ही अधिक प्रिय हुए हों। कुछ आश्चर्य नहीं कि इसी कारण शंकरकी भक्ति रूढ़ हो गई और महाभारत-कालमें तत्वज्ञानमें भी पांचरात्रके समान पाशुपत-मत प्रचलित हो गया। अब हम महाभारतके आधार पर देखेंगे कि यह पाशुपत मत कैसा था।

पाशुपत-तत्वज्ञान शान्तिपर्वके ३४९वें अध्यायकी सूचीमें है और कहा है कि उसका उत्पन्नकर्त्ता शंकर अर्थात् उमापति श्रीकृष्ण ब्रह्मदेव-पुत्र ही है। हमने पहले ही बतलाया है कि सौतिकी व्यवस्था यह है कि विष्णुकी स्तुतिके बाद शीघ्र ही बहुधा शंकरकी स्तुति उसने रखी है। इस नियमके अनुसार नारायणीय उपाख्यानके समान पाशुपत-

मतका सविस्तर वर्णन, महाभारतमें शान्तिपर्वके २८० वें अध्यायमें विष्णु-स्तुतिके बीचमें इन्द्र और वृत्रका प्रसङ्गो-पात हाल कहने पर, २८४ वें अध्यायमें दक्ष द्वारा की हुई शंकरकी स्तुतिमें किया गया है। दक्षके यज्ञमें शंकर-को हविर्भाग न मिलनेसे पार्वती और शंकरको क्रोध आया। शंकरने अपने क्रोधसे वीरभद्र नामक गणको उत्पन्न किया और उसके हाथसे दक्ष-यज्ञका विध्वंस कराया। तब अग्निमेंसे शंकर प्रकट हुए और दक्षने उनकी १००८ नामोंसे स्तुति की। ऐसी यहाँ कथा है। आगे अनुशासन पर्वमें उपमन्युने जो सहस्र नाम बतलाये हैं उनसे ये नाम भिन्न दिखलाई देते हैं। इस समय शंकरने दक्षको 'पाशुपत' व्रत बतलाया है। "वह गूढ़ और अपूर्व है। वह सब वर्णोंके लिए और आश्रमोंके लिए खुला है और तिस पर वह मोक्षदायी भी है। वर्णाश्रम विहित धर्मोंसे वह कुछ मिलता भी है और कुछ नहीं भी मिलता। जो न्याय और नियम करनेमें प्रवीण हैं, उन्हें यह मान्य होने योग्य है और जो लोग चारों आश्रमोंके परे हो गये हैं यह उनके भी लायक है।"

अपूर्वं सर्वतोभद्रं सर्वतोमुखमव्ययम्।
अब्दैर्दशाहसंयुक्तं गूढमप्राज्ञनिंदितम्॥९३॥
वर्णाश्रमकृतैर्धर्मैर्विपरीतं क्वचित्समम्।
गतान्तैरध्यवसितमत्याश्रममिदं व्रतम्॥९४॥

ध्यानमें रखना चाहिए कि इसमें 'अब्दैर्दशाहसंयुक्तम्' पद कठिन और कूटार्थ है। सब देवोंमें जैसे शिव श्रेष्ठ है वैसे ही स्तवोंमें यह दक्षस्तव वरिष्ठ है।

इस वर्णनसे पाशुपत-मतकी कुछ कल्पना होगी। यह मत शंकरने सिख-लाया है। इस मतमें पशुपति सब देवोंमें मुख्य है। वही सारी सृष्टिका उत्पन्नकर्ता है। इस मतमें पशुका अर्थ है, सारी सृष्टि। पशु यानी ब्रह्मासे स्थावरतक सब पदार्थ। इसकी सगुण भक्तिके लिये कार्तिक स्वामी, पार्वती और नंदि देव भी शामिल किये जाते हैं और उनकी पूजा करनेको कहा गया है। शंकर अष्टमूर्ति हैं। वे ये हैं—पंचमहाभूत, सूर्य, चंद्र और पुरुष। परन्तु इन मूर्तियों-के नाम टीकाकारने दिये हैं। अनुशासन पर्वमें उपमन्युके आख्यानमें इस मतका और थोड़ासा विकास किया गया है। परन्तु इसमें हमेशाकी महाभारतकी पद्धति, यानी सब मतोंको एकत्र करनेकी प्रक्रिया दिखाई देती है। उदाहरणार्थ,—"शंकरने ही पहले पांचभौतिक ब्रह्मांड पैदा करके जगदुत्पादक विधाताकी स्थापना की. पंचमहाभूत, बुद्धि, मन और महत्तत्त्व महादेवने ही पैदा किये; पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और उनके शब्दादि विषय भी उसीने उत्पन्न किये। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रको उसी महादेवसे शक्ति मिली है। भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महा-लोक, लोकालोक, मेरुपर्वत और अन्यत्र सब स्थानोंमें शंकर ही व्याप्त है। यह देव दिगंबर, ऊर्ध्वरेता, मदनको जीतने-वाला और स्मशानमें क्रीड़ा करनेवाला है। उसके अर्धांगमें उसकी कांता है। उसीसे विद्या और अविद्या निकलीं और धर्म तथा अधर्म भी निकले। शंकरके भग-लिंगसे निर्गुण चैतन्य और माया कैसे होती है और इनके संयोगसे सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है इसका अनुमान भी हो सकता है। महादेव सारे जगतका आदि कारण है। सारा चराचर जगत् उमा और शंकरके दोनों देहोंसे व्याप्त है।" (अनु० अ० १४)

शंकरके स्वरूपका उपमन्युको ऐसा दर्शन हुआः— "शुभ्र कैलासाकार नंदि-

पर शुभ्र देहके देदीप्यमान महादेव बैठे हैं; उनके गलेमें जनेऊ है; उनकी अठारह भुजाएँ और तीन नेत्र हैं; हाथमें पिनाक धनुष्य और पाशुपत अस्त्र है तथा त्रिशूल है; त्रिशूलमें लिपटा हुआ साँप है; एक हाथमें परशुरामका दिया हुआ परशु है। दाहिनी ओर हंस पर विराजमान ब्रह्माजी हैं और बाईं ओर गरुड़ पर शंखचक्र-गदाधारी नारायण विराजे हैं। सामने मयूर पर हाथमें शक्ति और घंटी लिये स्कंद बैठे हैं।" इस प्रकार शंकरका सगुण रूप-वर्णन यहाँ दिया है। ऐसा वर्णन है कि इन्द्रने शतरुद्रिय कहकर उसका स्तवन किया है। शंकरके अवतारोंका महाभारतमें कहीं वर्णन नहीं है। शंकरने जो त्रिपुरदाह किया उसका वर्णन बारबार आता है। "हे महादेव, तेरे सात तत्त्व (महत्, अहंकार और पंचतन्मात्रा) और छः अंगोंको यथार्थ जानकर तथा यह जानकर कि परमात्माका अभिन्न स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, जो तेरा ध्यान करता है वह तुझमें प्रविष्ट होकर सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है।" पाशुपत-तत्वज्ञानका इससे अधिक ज्ञान महाभारतमें नहीं मिलता। यही मानना पड़ता है कि बहुधा महाभारतकार सौतिने नारायणीयके समान पाशुपत-मतके सम्बन्धमें, उस समय स्वतंत्र आख्यान या ग्रन्थके उपलब्ध न होनेके कारण, महाभारतमें इससे अधिक वर्णन नहीं दिया।

कुछ लोगोंने शंकरका स्थान कैलास और विष्णुका वैकुंठ कहा है; परन्तु ये नाम मूलमें नहीं हैं, टीकासे लिये गये हैं। मूल श्लोक यहाँ देनेके योग्य है।

ततोऽव्ययं स्थानमनन्तमेति देवस्य विष्णोरथ ब्रह्मणश्च। शेषस्य चैवाथ नरस्य चैव देवस्य विष्णोः परमस्य चापि ॥ ६० ॥

शान्ति पर्वके २८० वें अध्यायमें ये स्थान अव्यय और अनन्त बतलाये गये हैं। अर्थात् वे अन्तिम हैं। इसमें प्रथम देवस्यका शंकर अर्थ लेना ठीक होगा। और विष्णोः दो बार आया है; इसलिये प्रथम पांचरात्र-मतका स्थान समझना चाहिए। ब्रह्मणस्य यानी ब्रह्म देवका और शेष यानी नाग लोक समझना चाहिए। टीकाकारका कहना है कि नरस्यका अर्थ जीवस्य है और उसका अभिप्राय है कि यह मत सांख्यका है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि सांख्य मतके अनुसार कोई अलग लोक ही नहीं है। परमस्य विष्णोः पदसे ब्रह्म-स्वरूपी परमात्मा विष्णुका अर्थ लेना चाहिए और यह स्थान गीता-वचन 'तद्धाम परमं मम' में बतलाया हुआ वेदान्तियोंका है। यह श्लोक कूटके सदृश है। यदि उसे एक तरफ रखें तो भी पाशुपतके परमस्थानका उल्लेख यहाँ या अन्यत्र नहीं है। महाभारतमें इस बातका वर्णन नहीं पाया जाता कि पाशुपत-मतके अनुसार मुक्त जीव कौनसी गतिको कैसे जाता है। कुछ उल्लेखोंसे हम यह मान सकेंगे कि कदाचित् वह कैलासमें शंकरका गण होता है और वहाँसे कल्पांतमें शंकरके साथ मुक्त होता है। पहले अवतरणसे देख पड़ेगा कि पाशुपत मतमें संन्याससे एक सीढ़ी बढ़कर अत्याश्रमी मान लिये गये हैं। आजकल सब मतोंमें अत्याश्रमी माने जाते हैं; परन्तु दक्षके पाशुपत व्रतमें उनका जैसा उल्लेख है, वैसा पहले रुद्रप्रधान श्वेताश्वतर उपनिषद्में आता है।

तपः प्रभावाद्देव प्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥

पाशुपत-मत सब वर्णोंको समान मोक्ष देनेवाला है, इससे बहुधा नीचेके वर्णमें इस मतके अधिक अनुयायी होंगे। हमारा अनुमान है कि पाशुपत मत केवल क्षत्रियों

का ही मोक्ष होना मानता है। उसका यह मत दिखाई देता है कि भिन्न भिन्न जन्मोंके अन्तमें द्विजका जन्म मिलता है और नारायणके प्रसादसे उसे मोक्ष या परम गति प्राप्त होती है।

पाशुपत मतमें तपका विशेष महत्व है। इस मतका थोड़ासा तपस्या सम्बन्धी वर्णन देना आवश्यक है:—"कुछ लोग वायु भक्षण करते थे। कुछ लोग जलपर ही निर्वाह करते थे। कुछ लोग जपमें निमग्न रहते थे। कोई योगाभ्याससे भगवच्चिंतन करते थे। कोई कोई केवल धूम्रपान करते थे। कोई उष्णताका सेवन करते थे। कोई कोई दूध पीकर रहते थे। कोई कोई हाथोंका उपयोग न करके केवल गायोंके समान खाते पीते थे। कोई कोई पत्थर पर अनाज कूटकर अपनी जीविका चलाते थे। कोई चन्द्रकी किरणों पर, कोई जलके फेन पर और कोई पीपलके फलों पर अपना निर्वाह करते थे। कोई पानीमें पड़े रहते थे।" एक पैर पर खड़े होकर, हाथ ऊपर उठाकर वेद कहना भी एक विकट तप था। कहा गया है कि श्रीकृष्णने ऐसा तप छः महीनेतक किया था। इस उपमन्यु आख्यानमें लिखा है कि शंकर भी तप करते हैं।

शंकरकी दक्षकृत स्तुतिमें दो नाम ध्यानमें रखने योग्य हैं। उन्हें यहाँ देना आवश्यक है। चराचर जीवोंसे तू गोटोंकी नाईं खेलता है इससे तुझे '**चरुचेली**' कहते हैं। तू कारणका भी कारण है इससे तुझे '**मिलीमिली**' कहते हैं। मूल श्लोक यह है—

घंटोऽघंटोघटीघंटी चरुचेली मिलीमिली।
ब्रह्म कायिकमग्नीनाम् दंडीमुंडस्त्रिदंडधृक्॥
(शा० अ० २८४-५५)

चरुचेली और मिलीमिली शब्द संस्कृत न होकर द्रविड भाषाके मालूम पड़ते हैं। इससे हमने जो कहा है कि महादेवके दो स्वरूप हैं, एक आर्य और दूसरा अनार्य, उसे कितना आधार मिलता है, इस बातको पाठक अवश्य देखें। भगवद्गीताके ढंग पर हर एक मतकी परम्पराका होना आवश्यक है। तदनुसार पाशुपत मतकी परम्परा आगेके लेखसे दिखाई देती है। अनुशासन पर्व अ० १७ के अन्तमें यह कहा है—"ब्रह्मदेवने यह गुह्य पहले शक्रको बतलाया, शक्रने मृत्युको, मृत्युने रुद्रको, रुद्रने तण्डीको, तण्डीने शुक्रको, शुक्रने गौतमको, गौतमने वैवस्वत मनुको, मनुने यमको, यमने नाचिकेतको, नाचिकेतने मार्कण्डेयको, और मार्कण्डेयने मुझ उपमन्युको बतलाया।" यह परम्परा सहस्र-नाम-स्तवनकी है; तथापि हम मान सकते हैं कि वह पाशुपत मतकी होगी।

नहीं कह सकते कि पाशुपत संन्यास-मार्गी हैं। उसीमें कहा है कि यह सम्पूर्ण वैदिक-मार्गी मत नहीं है। महादेवके गण भूत पिशाचादि हैं और इस मतमें उनकी भी पूजा कही गई है। तथापि महाभारत-कालमें उनकी भक्ति अधिक फैली हुई नहीं दिखाई देती। पाशुपत तत्वज्ञानमें जगत्में पाँच पदार्थ माने गये हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःख, जिन्हें आचार्योंने सूत्रभाष्यमें बतलाया है। परन्तु महाभारतमें उनका उल्लेख नहीं है। जब पाशुपत तत्वज्ञान माना गया है तब उसके कुछ विशिष्ट मत अवश्य होंगे। इन सब भिन्न भिन्न तत्वज्ञानोंमें तीन चार बातें समान दिखाई देती हैं जिनका अन्तमें उल्लेख करना आवश्यक है। पहली बात यह है कि हर एक तत्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए गुरुकी आवश्यकता है। यह सिद्धान्त

उपनिषदोंमें भी है कि बिना गुरुके तत्व-ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं" मुण्डकका यह वाक्य प्रसिद्ध ही है। तथा छान्दोग्यमें कहा है—"आचार्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति"। यही सिद्धान्त भगवद्गीतामें है। "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः" अर्थात् वेदान्तके ज्ञानके लिए गुरुकी आवश्यकता है। केवल भगवद्गीताका यह मत नहीं है कि यह ज्ञान स्वयंसिद्ध नहीं हो सकता। उसमें यह भी बतलाया है कि—"तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति।" योगज्ञानके सम्बन्धमें महाभारतमें "गुरूपदिष्ट मार्गसे ज्ञान प्राप्त करके" ये वचन पाये जाते हैं। पांचरात्रका भी यही स्पष्ट मत दिखाई देता है। सिर्फ सांख्य और पाशुपत मतोंमें यह उल्लेख स्पष्ट रीतिसे आया हुआ नहीं मिलता। तथापि इसके सम्बन्धमें उनका भी वही मत होगा। उदाहरणार्थ २३६ वें अध्यायमें कहा है—"गुरुकी बताई हुई युक्तिसे योगी जीवको स्थूल देहसे मुक्त कर सकता है।" अर्थात् इससे स्पष्ट है कि योगमार्गमें भी गुरुके उपदेशकी आवश्यकता है। तत्वज्ञानके गुरु उपनयनके गुरुओंसे भिन्न हैं। दिखाई देता है कि इनके पास भी ब्रह्मचर्यका पालन करना पड़ता है। ब्रह्मचर्य यानी ब्रह्म-प्राप्तिके लिए गुरुकी सेवा—फिर वह एक दिनके लिए हो या कई वर्षोंके लिए हो। छान्दोग्योपनिषद्में कहा है कि इन्द्रने प्रजापतिके पास १०१ वर्ष ब्रह्मचर्यकी सेवा की। "एकशतं हि वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास" तब उसने अन्तिम उपदेश किया। प्रश्नोपनिषद्में कहा है कि—"भूतएव तपसा श्रद्धया ब्रह्मचर्येण संवत्सरं वत्स्यथ।" यह स्पष्ट है कि बुद्धि शुद्ध और योग्य होनेके लिए ही ब्रह्मचर्यका उद्देश है। दूसरी बात, इसमें ब्रह्मचर्यके सब नियम मानने पड़ते हैं। पहला नियम यह है कि स्त्री-सङ्ग त्याग देना चाहिए। इसका जो सामान्य अर्थ लिया गया है सो ठीक है। यह बात सब तत्वज्ञानोंमें मान्य की हुई दिखाई देती है कि मोक्षके लिए ऐसे ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है। स्पष्ट कहा है कि कमसे कम योगीके लिए वह आवश्यक है। तीसरी बात, ब्रह्मचर्यके साथ अहिंसाका नियम सब तत्वज्ञानोंको मान्य हुआ दिखाई देता है। यह निश्चित है कि मांसान्नके भक्षणसे योगी या वेदान्तीका काम कभी न होगा। यह पहले बतलाया गया है कि पांचरात्र मतमें और साधारणतः भागवत मतमें हिंसा और मांसान्न वर्ज्य हैं। और इसी लिए कहा है कि हिंसावर्ज्य यज्ञ ही वैष्णव यज्ञ है। (केवल पाशुपत मतमें यह नहीं दिखाई देता।)

यह स्पष्ट है कि आवश्यकता केवल ज्ञान या विशेष गुह्य मार्ग बतला देनेके लिए ही है। इसी लिए सनत्सुजातमें कहा है कि विद्यामें गुरुका चौथा भाग होता है। अर्थात् शेष तीन पाद शिष्यको स्वयं ही प्राप्त करने पड़ते हैं। उपनयन द्वारा वेदाध्ययन करनेके समय जो गुरु होता है उसके अतिरिक्त और तत्वज्ञान बतानेवाले गुरुके अतिरिक्त किसी अन्य धर्मगुरुका उल्लेख महाभारतमें नहीं है। धर्मगुरुकी कल्पना तब निकली जब भिन्न

भिन्न धर्म हुए। कह सकते हैं कि महाभारतके कालमें एक ही धर्म था। तत्वज्ञानके लिए किसी ब्रह्मनिष्ठके पास जा सकते थे। किसी विशिष्ट गुरुके पास जानेकी आवश्यकताका होना नहीं दिखाई देता।

चौथी बात—अन्तमें यह बतलाना ज़रूरी है कि सब तत्वज्ञानोंमें धार्मिक तथा नीतिके आचरणकी आवश्यकता है।

नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ (कठ)

वेदान्त तत्वज्ञानके समान यह तत्व सबके लिए उपयुक्त है। कहा है कि सब तत्वज्ञानोंमें मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको सद्वर्तन, सदाचार, नीति और शान्तिकी आवश्यकता है और ये ही उसके मोक्षके लिए सहायक होते हैं। अर्थात् यह स्पष्ट है कि नीति या दशविध धर्मोंका उपदेश सब मतोंमें अन्तर्भूत है, और इसीसे हम इस बातको स्वीकृत नहीं कर सकते कि तत्वज्ञानीके मनमाने बर्ताव करनेमें कोई हर्ज नहीं। बहुत क्या कहा जाय, निश्चय तो यही होता है कि सच्चा तत्वज्ञानी उत्तम आचरण ही करेगा।

अठारहवाँ प्रकरण।

भगवद्गीता-विचार।

समस्त प्राचीन संस्कृत साहित्यमें जिस प्रकार महाभारत अत्यन्त श्रेष्ठ है, उसी प्रकार महाभारतके सब आख्यानों और उपाख्यानोंमें भगवद्गीता श्रेष्ठ है। महाभारतमें ही जगह जगह पर भगवद्गीताकी प्रशंसा है। भगवद्गीता उपनिषद्-तुल्य मानी जाती है और सब प्राचीन तथा अर्वाचीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य तत्व-ज्ञानी उसका आदर करते हैं। इसलिए महाभारतकी मीमांसामें भगवद्गीताके विषयमें स्वतन्त्र और विस्तृत रीतिसे विचार किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। निस्सन्देह इस विचारके अभावमें यह ग्रन्थ अधूरा रह जायगा। अतएव इस प्रकरणमें भिन्न भिन्न दृष्टिसे भगवद्गीता-सम्बन्धी विचार करनेका हमने निश्चय किया है। भगवद्गीताके सम्बन्धमें जो अनेक शंकाएँ आजतक लोगोंने की हैं उनका भी समाधान यथा-शक्ति यहाँ किया जायगा।

भगवद्गीता सौति-कृत नहीं है।

भगवद्गीताके सम्बन्धमें पहला प्रश्न यह है, कि क्या यह ग्रन्थ एक ही कर्त्ताका है या महाभारतके समान इसमें भी दो तीन कर्त्ताओंकी रचना देख पड़ती है? हमारे मतसे भगवद्गीता ग्रन्थ आरम्भसे अन्ततक, एक ही दिव्य-कल्पना-शक्तिसे निर्मित किया गया है और वह सब प्रकारसे सर्वांग सुन्दर तथा सुबद्ध है। हमने महाभारतके तीन कर्त्ता निश्चित किये हैं:—व्यास, वैशम्पायन और सौति। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि भगवद्गीता-ग्रन्थ सौतिका बनाया हुआ नहीं है। यहाँ यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि, सौतिने स्वयं अपने विस्तृत महाभारतमें भगवद्गीताके कौनसे वचन बार बार उद्धृत किये हैं। ये वचन पाठकोंके ध्यानमें तुरन्त ही आ जायँगे। महाभारतकारके मनमें भगवद्गीताके विषयमें जो आदर था वह उन वचनोंसे देख पड़ता है। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि महाभारतका निर्माण करते समय सौतिके सामने वर्तमान समयकी सम्पूर्ण भगवद्गीता थी। इस बातके एक या दो अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। हम पहले लिख चुके हैं, कि सौतिने मूल भारतके कई उत्तम भागोंका अनुकरण कर विस्तृत महाभारत बना डाला है। भगवद्गीताका ही अनुकरण कर उसने अश्वमेध-पर्वमें एक गीताको स्थान दे दिया है और उसका नाम भी 'अनुगीता' रखा है। अर्थात् वह **भगवद्गीताके अनुकरण पर पीछेसे** बनाई गई है। सारांश, भगवद्गीता सौतिके सामने न केवल अति उत्तम नमूनेके सदृश थी, किन्तु उसने भगवद्गीताकी स्तुति श्रीकृष्णके मुखसे ही इस अनुगीताके प्रसङ्गमें कराई है। जब युद्धके बाद अर्जुनने श्रीकृष्णसे यह कहा कि—"युद्धके आरम्भमें जो दिव्य-ज्ञान मुझे आपने बतलाया था सो फिर बताइये, क्योंकि वह (मेरा ज्ञान) नष्ट हो गया है," तब श्रीकृष्णने यह उत्तर दिया कि:—

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन चेतसा।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः परिवेदने।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे संभविष्यति॥
(अश्व० अ० १६)

"मैं उस भगवद्गीताको फिरसे न कह सकूँगा।" श्रीकृष्णके इस वाक्यमें न आने

भगवद्गीताकी कितनी स्तुति है !!! सौति स्वयं अपने ही कामकी बड़ाई कभी न करेगा। यह बात स्पष्ट देख पड़ती है कि दूसरेका रचा हुआ भगवद्गीता-ग्रन्थ सौतिके सामने था और उसका उसके मनमें अत्यन्त आदर भी था। हम कह सकते हैं कि भगवद्गीताका अनुकरण कर उसने अनुगीता-उपाख्यानको महाभारतमें स्थान दिया है।

इसके सिवा अनुकरणका और भी एक प्रमाण हमें देख पड़ता है। महाकविके अत्युदात्त कौशल्यके अनुरूप व्यास अथवा वैशम्पायनने विश्वरूप-दर्शनका चमत्कार भगवद्गीताके मध्य भागमें ग्रथित किया है। यह चमत्कार इस स्थान पर बहुत ही मार्मिक रीतिसे आया है और उसका यहाँ उपयोग भी हुआ है। अर्जुनके मन पर श्रीकृष्णके दिव्य-उपदेशका तत्व पूर्णतया प्रस्थापित करनेका उसका उपयोग था: और वह हुआ भी। धर्म-संस्थापकके लिए चमत्कारका अस्तित्व सब धर्मोंमें माना गया है। इसीके अनुसार हमारे महाकविने इस चमत्कारकी योजना भगवद्गीतामें उचित स्थान पर और योग्य कारणसे की है। परन्तु सौतिने इसी चमत्कारका अवलम्बन अनुकरणसे अन्य स्थान पर किया है। वह अयोग्य स्थान पर हुआ है और उसका कुछ उपयोग भी नहीं हुआ। उद्योग पर्वके १३१वें अध्यायमें यह वर्णन है कि जब श्रीकृष्ण कौरवोंकी सभामें दूत या मध्यस्थका काम करने गये थे, उस समय उन्होंने अपना विश्वरूप धृतराष्ट्रको दिखलाया था। वह सचमुच भगवद्गीतामें दिये हुए विश्वरूप-दर्शनका अनुकरण है। इतना ही नहीं, किन्तु कहा गया है कि जिस प्रकार अर्जुनको श्रीकृष्णने विश्वरूप देखनेके लिए दिव्य-दृष्टि दी थी, उसी प्रकार यहाँ धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णने दिव्य-दृष्टि दी। सारांश, पढ़नेवालोंको यह मालूम हुए बिना नहीं रहता, कि भगवद्गीतामें दिया हुआ विश्वरूप-दर्शन असल है और उद्योग पर्वमें दिया हुआ सिर्फ नकल है और वह भी अयोग्य स्थानमें है। अर्थात् हमारा यही अनुमान दृढ़ होता है, कि इस समय भगवद्गीता जैसी है वैसी ही वह सौतिके सामने उपस्थित थी और उसके आदरके कारण अनुकरण द्वारा यह भाग उद्योग पर्वमें प्रविष्ट किया गया है।

यहाँ यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि सौतिके सन्मुख जैसी भगवद्गीता थी वैसी ही उसने महाभारतमें शामिल कर दी है या उसमें उसने कुछ और भी मिला दिया है। कई लोगोंका मत यह है, कि विश्वरूप-दर्शनके अनन्तरके कुछ अध्याय सौति द्वारा जोड़ दिये गये हैं। हापकिन्सका मत भी यही देख पड़ता है कि भगवद्गीताके बीचके अध्याय पीछेसे जोड़े गये हैं और आरम्भ तथा अन्तके अध्याय मूलभूत हैं। राजाराम शास्त्री भागवतने भी यह प्रतिपादन किया था, कि आरम्भके दो अध्याय पीछेसे मिला दिये गये हैं। उन्होंने यह कारण दिखलाया था कि विभूति-अध्यायके और १५वें अध्यायके कुछ वचनोंका पूर्वापर संदर्भ या मेल नहीं मिलता। परन्तु हमारे मतमें यह तर्क गलत है। हम पिछले प्रकरणमें बता चुके हैं कि विश्वरूप-दर्शनके अनन्तरके अध्यायोंमें जो सांख्य और वेदान्त-ज्ञान बतलाया गया है, वह महाभारत-कालके पूर्वका है। क्षेत्रकी व्याख्यामें भगवद्गीतामें "इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः" इन सब बातोंको शामिल किया है, परन्तु इनका उल्लेख महाभारतमें नहीं मिलता। सांख्य तत्व-ज्ञानका

उद्घाटन सौतिने बार बार शान्ति-पर्वमें किया है, परन्तु उसमें इसका पता नहीं। और, वेदान्त-ज्ञानका जो विस्तृत वर्णन शान्ति-पर्वमें बार बार किया गया है, उसमें भी कुछ उल्लेख नहीं है। पन्द्रहवें अध्यायका पुरुषोत्तम योग भी फिर वर्णित नहीं है। दैवासुर संपद्विभाग भी फिर कहीं देख नहीं पड़ता। सत्व, रज, तम आदि त्रिगुणोंका वर्णन बार बार आया है, परन्तु इस दैवासुर संपद्विभाग-का पुनः उल्लेख नहीं है। ये सब भाग (गीतामें) इतनी सुन्दर और अलौकिक रीतिसे और भाषामें वर्णित हैं:—उदाहरणार्थ ज्ञानका वर्णन, त्रिगुणोंका वर्णन, या "ईश्वरोहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी" इत्यादि आसुर स्वभावका वर्णन इतना मनोहर है कि हम नहीं मान सकते कि वह सौतिके द्वारा किया गया होगा। श्रीयुत भगवतकी कल्पना तो बिलकुल गलत है। भागवद्गीतामें कहीं विरोध नहीं है: इतना ही नहीं, वरन विभूति-वर्णनका अध्याय भी अत्यन्त सुन्दर कल्पनाओंमेंसे एक भाग है और उसीका अनुकरण प्रत्येक आगामी भिन्न भिन्न गीताओंने किया है। पन्द्रहवाँ अध्याय भी अतिशय मनोहर है और वही गीताके सब अध्यायोंमें श्रेष्ठ माना जाता है। इन्हीं दो अध्यायोंमें श्रीयुत भागवतने विरोधी वचन बतलाये थे। परन्तु हमारी आलोचनासे ज्ञात होगा कि यह कल्पना सम्भवनीय नहीं कि बीचके अध्यायोंको सौतिने पीछेसे मिला दिया होगा। उन अध्यायोंके सब विषय सौतिके समय-के ज्ञानसे भिन्न हैं। उनकी भाषा और विचार-शैली भी अत्यन्त रमणीय और दिव्य है। सारांश, उनकी रचना, विचार-शैली और भाषा गीताके अन्य भागोंके असदृश बिलकुल नहीं है। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि वे भाग भगवद्गीतामें मौलिक हैं और जिस विश्व-रूप-दर्शनके भागका सौतिने अनुकरण किया है वह भी उन्हींमें है। ऐसी दशामें यही मानना पड़ता है कि ये सब भाग सौतिके सामने थे, और उसने इन भागों-को गीतामें शामिल नहीं किया है।

भगवद्गीताका कर्त्ता एक है।

हमारा मत* है कि भगवद्गीतामें किसी प्रकारकी विसदृश मिलावट नहीं है। भाषाकी दृष्टिसे, कवित्वकी दृष्टि-से, विषयोंके दिव्य प्रतिपादनकी दृष्टिसे

* भगवद्गीतामें ७०० श्लोक हैं जिनमेंसे तेरहवें अध्याय-के आरम्भका एक श्लोक माना नहीं जाता। वह श्लोक इस प्रकार है:—"प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥" गीताकी सब प्रतियोंमें यही सात सौ श्लोक पाये जाते हैं। परन्तु यह एक बड़ा कठिन प्रश्न है कि महाभारतमें गीताके अनन्तर-के श्लोकोंमें जो संख्या गिनाई गई है वह गलत क्योंकर है? वे श्लोक इस प्रकार हैं:—"षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः। अर्जुनः सप्तपंचाशत् सप्त षष्टिं तु संजयः। धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते॥" नीलकण्ठका यह कथन बहुत ठीक है कि गौड़ इन श्लोकोंको नहीं मानते। यद्यपि दाक्षिणात्योंकी पोथियोंमें ७०० श्लोकोंकी ही गीता है, तथापि आश्चर्यकी बात है कि धृतराष्ट्रका एक श्लोक, अर्जुनके ५७, संजयके ६७ और श्रीकृष्णके ६२० सब मिलाकर ७४५ श्लोकोंकी संख्या बत-लानेवाला श्लोक कहाँसे आया? न केवल कुल श्लोकोंकी संख्या गलत है वरन् प्रत्येककी संख्यामें भी भूल है। गीताकी सब प्रतियोंमें श्लोकोंकी गिनती इस प्रकार है:—धृतराष्ट्रका १ श्लोक, संजयके ४१, अर्जुनके ८५ और श्रीकृष्णके ५७३। इस प्रकार जान पड़ता है कि सब गड़बड़का कारण यह प्रक्षिप्त श्लोक है जिसे किसी विक्षिप्तने यहाँ शामिल कर दिया है। यदि यह श्लोक सौतिका ही हो, तो कहना पड़ता है कि उसके अत्यन्त गूढ संख्या विषयक कूट श्लोकोंमेंसे यह भी एक है। वर्तमान ७०० श्लोकोंकी गीतामें कहीं भङ्ग या विसदृशता नहीं देख पड़ती, इसलिए उक्त श्लोकको प्रक्षिप्त समझकर अलग ही कर देना चाहिए। हमारा मत है कि इस श्लोकके आधार पर कुछ भी अनुमान करना उचित न होगा।

या उत्तम छन्द-रचनाकी दृष्टिसे यही अनुमान करना पड़ता है कि भगवद्गीताको एक ही अत्यन्त उदात्त कवित्व-शक्तिके पुरुषने बनाया है। भगवद्गीताकी भाषा बहुत जोरदार, सरल और सादी है। हम पहले लिख चुके हैं कि जिस समय संस्कृत भाषा प्रत्यक्ष व्यवहारमें बोली जाती थी उस समयकी अर्थात् वर्तमान महाभारतके पहलेकी यह भगवद्गीता है। पाणिनिके व्याकरणके नियमोंके अनुसार उस भाषाकी गलतियाँ बतलाना, मानो तुलसीकृत रामायणकी हिन्दीमें 'भाषाभास्कर' के नियमानुसार गलतियाँ बतलाना है। भाषाके मृत हो जाने पर उसके आप्त व्याकरणकी दृष्टिसे किसी ग्रन्थमें गलतियाँ बतलाई जा सकती हैं। परन्तु पाणिनीके पूर्वकी भगवद्गीताकी बोल-चालकी संस्कृत भाषाकी गलतियाँ बतलाना निरर्थक है। भगवद्गीताके अनुष्टुप् श्लोकोंका माधुर्य बहुत ही श्रेष्ठ दर्जेका है। यह बात हाप्किनने अनेक श्लोकोंके ह्रस्व-दीर्घ-अनुक्रमका विचार कर महाभारतके अन्यान्य भागोंके अनुष्टुभोंकी तुलनासे दिखा दी है। भगवद्गीतामें यह बात कहीं देख नहीं पड़ती कि उसके किसी एक अध्यायमें भाषाकी सुन्दरता अथवा छन्दोंकी मधुरता न्यूनाधिक हो। इसी प्रकार विषयके प्रतिपादनमें कहीं विरोध भी देख नहीं पड़ता। अधिक क्या कहा जाय, सभी विषय एकसी ही दिव्य कल्पना शक्तिसे वर्णित हैं और उसमें महातत्वज्ञानात्मक गम्भीर विचार प्रगल्भ और प्रसादयुक्त वाणीसे किया गया है। अतएव सिद्ध है कि भगवद्गीताका सम्पूर्ण ग्रन्थ एक ही बुद्धिमान कविके प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्ककी सृष्टि है; और वह ताजमहलकी अनुपम इमारतके समान सुन्दर, सुबद्ध तथा विशाल कल्पनासे परिपूर्ण हमारे सन्मुख उपस्थित है। उसमें न तो कहीं मिलावट है, न कहीं जोड़ है और न पीछेसे शामिल किया हुआ कोई भाग देख पड़ता है। उसकी सम्पूर्ण भव्य आकृति अथवा छोटे छोटे मनोहर भाग एक ही प्रतिभासे उत्पन्न हुए हैं।

"न योत्स्ये इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह" यह उसकी नींव है; विश्वरूपदर्शन उसका मध्य भाग है और "करिष्ये वचनं तव" उसका शिखर है। सांख्य, योग, वेदान्त और भक्ति उसकी चार भुजाएँ हैं और चारों कोनोंके चार मीनार हैं। कर्मयोग उसके बीचका प्रधान मीनार है। भिन्न भिन्न चार तत्त्वज्ञानोंके अक्षर संगमर्मरकी चारों दीवारों पर रंगीन संगमर्मरके पत्थरोंसे ही खुदे हुए हैं और इनके चारों दरवाज़ोंके अन्दर मध्य स्थानमें परब्रह्म स्थित है।"

इस प्रकार इस दिव्यतत्वज्ञानात्मक ग्रन्थकी अलौकिक सुन्दरता हम सब लोगोंको चकित कर देती है। सारांश, इस सर्वश्रेष्ठ गीतामें कहीं भी विसदृश मिलावट नहीं देख पड़ती। उसमें एक भी ऐसा विचार नहीं है जो उसकी उदात्त कल्पनाको शोभा न दे अथवा उससे मेल न खाय। यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी एक स्थानमें भाषा या कल्पना कुछ कम रमणीय अथवा गम्भीर है। अन्तमें बिना यह कहे नहीं रहा जाता कि यह अलौकिक ग्रन्थ एक ही महा बुद्धिमान् कर्त्ताकी कृति है।

भगवद्गीता मूल भारतकी ही है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि भगवद्गीताका सम्पूर्ण ग्रन्थ तत्वज्ञान-विषयक है, इसलिए आरम्भमें महाभारतकी कथाके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध न होगा; और इसी लिए यह क्यों न मान लिया जाय कि उसको एक उत्तम ग्रन्थ समझकर सौतिने अपने महाभारतमें अन्य आख्यानोंके समान शामिल कर लिया होगा। कुछ लोगोंकी तो यह कल्पना है कि भगवद्गीता मूल भारती इतिहाससे सम्बद्ध नहीं थी और न उसको श्रीकृष्णने कहा ही है। उसको भगवान् नामक गुरुने कहा है और सौतिने अपने महाभारतमें शामिल कर लिया है। तत्वज्ञानके सब ग्रन्थों अथवा आख्यानोंको एकत्र कर लेनेका सौतिका उद्देश था ही। तब इस उद्देशके अनुसार यह क्यों न कहा जाय कि सौतिने भगवद्गीताको महाभारतमें शामिल कर लिया है? सारांश, यह भी तो कैसे माना जा सकता है कि भगवद्गीता मूल भारतका एक भाग था? हमारे मतसे यह कल्पना क्षण भर भी स्थिर नहीं रह सकती। यथार्थमें भगवद्गीताकी कल्पना श्रीकृष्ण और अर्जुनके अतिरिक्त हो ही नहीं सकती। भगवद्गीताके उपदेशका आरम्भ जिस उत्तम श्लोकसे होता है वह श्लोक यदि भगवद्गीतामें न हो तो उसे गीता कहेगा ही कौन?

अशोच्यानन्वशोचस्त्वंप्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

इस उदात्त श्लोकसे ही उपदेशका आरम्भ उचित रीतिसे हुआ है और इसका सम्बन्ध भारतीय युद्धके ही साथ है। भगवद्गीतामें बार बार यही चर्चा भी की गई है कि युद्ध किया जाय या नहीं। और "युद्धयस्व विगतज्वरः", "मामनुस्मर युद्धय च" इत्यादि उपदेश भी बार बार दिया गया है। विश्वरूप-दर्शनमें भी समस्त भारतीय युद्धकी ही कल्पना पाई जाती है और वहाँ यह दृश्य दिखाया गया है कि विश्वरूपके भयानक जबड़ेमें भीष्म, द्रोण आदि असंख्य वीर कुचले जा रहे हैं। अर्थात् यह बात स्पष्ट है कि जिस भगवद्गीतामें विश्वरूप-दर्शन है उसका सम्बन्ध भारतीय युद्धके साथ अवश्य होना चाहिए। वह सौतिके महाभारतका भाग नहीं है; अर्थात् हमने निश्चित किया है कि सौतिने भगवद्गीताको वर्तमान रूप नहीं दिया है, किन्तु यह रूप उसके सामने पहलेसे ही पूर्णतया उपस्थित था। तब ऐसी कल्पना करनेसे क्या लाभ है, कि भारतीय युद्ध-कथाके साथ सम्बद्ध रूप किसी दूसरे व्यक्तिने पहले ही दे दिया होगा? संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि गीता व्यास अथवा वैशंपायनके मूल भारतका ही भाग है। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं कि भगवद्गीतामें श्रीकृष्णके ही मतोंका उद्घाटन है। यह आवश्यक और स्वाभाविक भी है कि जिस भारत-ग्रन्थमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका प्रधान रूपसे इतिहास दिया गया है, उसी भारत-ग्रन्थमें श्रीकृष्णके तत्वज्ञानकी भी कुछ चर्चा हो। इस दृष्टिसे देखने पर आश्चर्य नहीं होता कि श्रीकृष्णके तत्वोपदेशका विवेचन करनेवाली भगवद्गीताको भारतका ही एक भाग होना चाहिए। जिस ग्रन्थमें नर और नारायणकी विजयका वर्णन है उस मूल भारत ग्रन्थमें ही नर-नारायणके सम्वाद रूपसे श्रीकृष्णके तत्वज्ञानका उद्घाटन होना चाहिए। अधिक क्या कहा जाय, यह बात तो महाकविकी अत्यन्त उदात्त काव्य-कलाके अनुरूप ही

है। साधारण रीतिसे यही सम्भव है कि भारत-आर्षमहाकाव्यका ही एक भाग भगवद्गीता है; इतना नहीं, किन्तु भगवद्गीताका किसी दूसरे रूपमें होना असम्भव है। यदि हम यह मान लें कि भगवद्गीतामें वर्णित तत्व पहले किसी समय अन्य शब्दोंमें या अन्य रूपमें उपस्थित थे, और यदि यह भी मान लें कि उस तत्वज्ञानको व्यास अथवा वैशंपायनने अपने शब्दोंमें वर्तमान रूपसे भारत ग्रन्थमें ले लिया है, तो इस कथनमें कुछ भी स्वारस्य नहीं है। इसका कारण यह है कि भगवद्गीताका जो वर्तमान रूप है और उसके जो वर्तमान शब्द हैं वही अत्यन्त महत्वके हैं। इस बातको कोई अस्वीकार न करेगा। तब तो ऐसी कल्पनामें कुछ भी अर्थ नहीं देख पड़ता कि भगवद्गीता पहले किसी समय बिलकुल भिन्न मूल स्वरूपमें होगी।

रणभूमि पर गीताका कहा जाना असम्भव नहीं।

कभी कभी कुछ लोग यह प्रश्न भी किया करते हैं कि, क्या इस प्रकार लम्बा-चौड़ा संभाषण ठीक युद्धके समय कहीं हो सकता है? हमारा मत है कि प्राचीन भारतीय आर्योंकी परिस्थितिका विचार करनेसे इस प्रकारका सम्वाद असम्भव नहीं जान पड़ता। अधिक क्या कहा जाय, प्रत्यक्ष वस्तुस्थितिका इसी प्रकार होना सम्भव है। भारतीय युद्धमें दोनों ओरकी एकत्र और आमने-सामने खड़ी हुई सेनाओंके विषयमें यदि उचित कल्पना मनमें की जाय तो यह बात किसी प्रकार असम्भव नहीं जान पड़ती कि दोनों सेनाओंके मध्य भागमें श्रीकृष्ण और अर्जुन रथ पर बैठे हुए विचार कर रहे थे कि युद्ध करना उचित होगा या अनुचित। यह बात बतला दी गई है कि दोनों सेनाओंमें कमसे कम ५२ लाख मनुष्य थे। ये सेनाएँ लम्बाईमें युद्ध-भूमि पर कई कोसोंतक फैली हुई होंगी। दोनों सेनाएँ एक दूसरेसे आध कोस या पाव कोसके अनन्तर पर खड़ी होंगी। उस समय धर्म-युद्धकी नीति प्रचलित थी, अतएव सम्भव नहीं कि कोई किसी पर असावधानीकी अवस्थामें शस्त्र चला सके। यदि अर्जुनका रथ कुछ आगे बढ़कर मध्य भागमें ऐसे स्थान पर खड़ा हो गया कि जहाँसे दोनों सेनाएँ दिखाई दे सकें तो इस बातमें किसीके आश्चर्य करने योग्य कुछ नहीं था। श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्भाषण एक घन्टे या सवा घन्टेसे अधिक समयतक नहीं हुआ होगा। यह बात इस अनुभवसे सिद्ध है कि जो लोग वर्तमान समयमें गीताका पूरा पाठ प्रतिदिन किया करते हैं उन्हें इससे अधिक समय नहीं लगता। यह भी माननेकी आवश्यकता नहीं कि दोनों दलोंके सेनापति अर्जुन और श्रीकृष्णके सम्भाषणकी समाप्तिकी बाट जोहते रहे होंगे; क्योंकि इतने बड़े दलकी रचना कर लेना कुछ एक दो मिनटका काम नहीं है। इसके सिवा, ऐतिहासिक लड़ाइयोंके वर्णनसे यह भी ज्ञात होता है कि दलोंके सेनापति अपने अपने दलकी रचना करते समय एक दूसरेके दलका बहुत ही सूक्ष्म निरीक्षण करनेमें कई घण्टे लगा दिया करते हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुनकी बातचीत दूसरे योद्धाओंको नहीं सुनाई देती थी। अर्थात् कहना चाहिए कि उन लोगोंका ध्यान उनकी ओर न था। यह भी मान लिया जाना स्वाभाविक है कि वे अपने दलकी रचनाका निरीक्षण कर रहे हों। सारांश, युद्ध-भूमिका विस्तार, अपने अपने दलोंकी रचना, उनका निरीक्षण और धर्म-युद्धके नियम इत्यादि बातोंका

विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि भारती-युद्धके पहले दिन, युद्धके पहले ही, श्रीकृष्ण और अर्जुनने तत्वज्ञान-विषयक चर्चामें घण्टा या सवा घण्टा व्यतीत कर दिया, तो कोई असम्भव बात नहीं।

भगवद्गीता अप्रासंगिक नहीं है।

अच्छा: मान लिया जाय कि इतने बड़े सम्भाषणका युद्ध भूमि पर होना सम्भव था; तथापि कुछ लोगोंका कथन है कि वह अप्रासंगिक है। कुछ लोगोंकी कल्पना-तरङ्गें तो यहाँतक पहुँची हैं कि, भगवद्गीता महाभारतमें प्रक्षिप्त है। परन्तु यह आक्षेप भी निरर्थक है। भगवद्गीताका प्रक्षिप्त होना किसी प्रकार दिखाई नहीं पड़ता। यह बात भी देख नहीं पड़ती कि इस ग्रन्थमें आगे या पीछे कहीं किसी प्रकारसे कोई सम्बन्ध खण्डित हो गया हो। भगवद्गीताके पूर्व महाभारतका अन्तिम श्लोक यह है:—

उभयोः सेनयो राजन्
महान्व्यतिकरोऽभवत्।
अन्योन्यं वीक्षमाणानां
योधानां भरतर्षभ॥

और गीताके बादके अध्यायका पहला श्लोक यह है:—

ततो धनंजयं दृष्ट्वा बाणगांडीवधारिणम्।
पुनरेव महानादं व्यसृजंत महारथाः॥

भगवद्गीताके पहले ही अध्यायमें कहा है कि, श्रीकृष्ण और अर्जुन रथमें बैठकर सेनाओंके बीचके मैदानके मध्य भागमें जा खड़े हुए। इसके बाद, जब सम्भाषण पूरा हो गया और वे पाण्डवोंकी सेनामें लौट आये, तब सारी फौजने सिंहनाद किया, (यह वर्णन गीताके बादके अध्याय-के उपर्युक्त श्लोकसे पाया जाता है)। ऐसी दशामें यहाँ तो कुछ भी असम्बद्धता नहीं देख पड़ती। कुछ लोगोंका कथन है कि भगवद्गीता यहाँसे अलग कर दी जाय तो भी कुछ हानि नहीं। परन्तु यह कथन तो प्रत्येक उपाख्यानके लिए भी चरितार्थ हो सकता है। सारांश, इस आक्षेपमें कुछ भी स्वारस्य नहीं है। हाँ, यह प्रश्न महत्व-का और विचारणीय है कि, भगवद्गीता अर्थात् उसमें प्रतिपादित वाद-विवाद प्रासङ्गिक है या नहीं? हमारा मत है कि व्यासजीने इस तत्वज्ञानको बड़ी ही चतु-राईसे युद्धके प्रारम्भमें ही स्थान दिया है। जहाँ लाखों आदमी मरने और मारनेके लिए तैयार हुए हों, वहाँ सम्भव है कि धार्मिक हृदयके मनुष्यको सचमुच एक प्रकारका मोह हो जाय। आश्चर्य नहीं कि उसे सन्देह हो जाय कि—'मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह उचित है या अनुचित'। हमारी रायमें भगवद्गीताके प्रारम्भमें गीताको अर्जुन-विषाद-योगका जो सिंहासन दिया गया है वह सचमुच बड़ा ही मार्मिक है। क्या इस छोटेसे राज्य-सम्बन्धी आपसके तुच्छ झगड़ेका फ़ैसला करनेके लिए भीष्म और द्रोणके सदृश अपने पूज्य पितामह और गुरुको तथा शल्य आदिके समान दूसरे सन्मान्य बन्धुओंको जानसे मार डालें—क्या अपने ही पुत्र-पौत्रोंको मरवा डालें? यह प्रश्न जिस प्रकार बन्धु-प्रेमका है, उसी प्रकार राज्य-सम्बन्धी महत्त्वका भी है। यह बात निश्चित है कि अँग्रेजीमें जिसे 'सिव्हिल वॉर' कहते हैं वह आपस-में एक दूसरेका गला काटनेका ही युद्ध होता है। ऐसे युद्धमें स्वजनोंका ही नाश होता है। इसलिए, जिस अर्जुनको 'धर्म-शील' कहा गया है उसके मनमें इन विचारोंसे मोहका हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है कि, यदि लोभी और हठी दुर्योधनके ध्यानमें यह बात नहीं आती तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु हमें चाहिए कि हम

इसे भली भाँति समझ लें क्योंकि हम धर्मशील हैं। यह प्रश्न अकेले अर्जुनका ही नहीं है; किन्तु समस्त भारती-युद्धकी ही धार्मिकताके सम्बन्धमें एक वादग्रस्त प्रश्न उपस्थित हो जाता है। और, यह निर्विवाद है कि, ऐसे ही अवसर पर तत्वज्ञान विषयकी चर्चाका महत्व भी है। इस बातको सभी स्वीकार करेंगे कि मनुष्यके जीवनकी इति-कर्त्तव्यताके गूढ़ सिद्धान्तका विवेचन करने योग्य स्थान यही है। इसमें सन्देह नहीं कि कर्तव्य और अकर्तव्य, नीतियुक्त और अनीतियुक्त आचरण, पाप और पुण्य इत्यादि विषयोंके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेके लिए यही अवसर और यही स्थान उचित है। हम समझते हैं कि व्यासजीने जिस प्रसङ्गके लिए भगवद्गीताका वर्णन किया है वह उस उदात्त ग्रन्थके तत्वज्ञानके अनुरूप उदात्त ही है।

सम्पूर्ण भारत ग्रन्थमें जो कुछ प्रतिपादन किया गया है उसका समर्थन करनेका मुख्य स्थान इस भयङ्कर युद्धका आरम्भ ही है, और यही सोचकर व्यासजीने ठीक युद्धारम्भमें इस परमोच्च तत्वज्ञानको स्थान दिया है। उच्च ध्येयके सामने मनुष्यके शरीरका महत्व ही क्या है? शरीरके नष्ट हो जाने पर वह फिर भी बारम्बार मिलने वाला ही है; परन्तु आत्मा अमर है तथा धर्म नित्य है। जहाँ इस उच्च धर्मतत्वका प्रश्न उपस्थित होता है, वहाँ प्राणहानिका प्रश्न तुच्छ है। **"धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यस्तस्य हेतुस्त्वनित्यः"** इस वाक्यमें व्यासजीने बतलाया है कि धर्मके तत्व स्थिर और नित्य हैं। इन धर्मतत्वोंके लिए सुख-दुःखका विचार करना ही उचित नहीं; क्योंकि जीव अथवा आत्मा नित्य तथा अमर है और उसका हेतु जो कर्मकृत शरीर है, वह अनित्य तथा तुच्छ है। सारांश, मनुष्यको चाहिए कि वह संसारमें परमोच्च धर्म और नीतितत्वोंकी ओर ध्यान दे—उसका ध्यान मनुष्य-हानि या प्राणहानिकी ओर न रहे। सब कर्म परमेश्वरको अर्पण कर धर्मतत्वोंकी रक्षा करनी चाहिए। इससे **"हत्वापि स इमान् लोकान् न हंति न निहन्यते"** यह लाभ होगा कि मारना या मरना दोनों क्रियाएँ समान होंगी। उच्च धर्म-तत्वोंके सामने जीते या मरोंका शोक व्यर्थ है। ऐसे महातत्वज्ञानका उपदेश करनेका प्रसङ्ग भारती युद्धारम्भ ही है। तब कौन कह सकेगा कि इस अलौकिक एवं अजरामर तत्वज्ञानोपदेशक ग्रन्थको व्यासने अयोग्य स्थान दिया है। व्यासजीने भगवद्गीताख्यानको जो यहीं स्थान दिया है, उससे महाकविकी योग्य उदात्त कलाका दिग्दर्शन होता है। इतना ही नहीं, किन्तु महाकविने इस आख्यानको अपने भारत ग्रन्थका सर्वस्व समझकर इसमें तत्वज्ञानके सब विषय थोड़ेसे और गम्भीर शब्दोंमें एकत्र कर दिये हैं। और, उसमें यह भी सुझा दिया है कि यह ग्रन्थ अत्यन्त धार्मिक ग्रन्थोंमेंसे अध्ययन करने योग्य एक भाग है। अन्तमें श्रीकृष्णके ही मुखसे यह कहलाया गया है कि—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

सारांश, इस सम्वादरूपी ग्रन्थका अध्ययन करना बहुत लाभदायक है। जिस प्रकार इसमें वर्णित विषय सांसारिक बुद्धिके परे है, उसी प्रकार इसके पठनका फल भी सांसारिक नहीं है, परन्तु कहना चाहिए कि वह पारमार्थिक ज्ञान-यज्ञका फल है। इस भागको व्यास या वैशम्पा-

यतने स्वतन्त्र तथा अत्यन्त पवित्र समझ-कर यहाँ रखा है।

व्यासजी श्रीकृष्णमतका प्रति-पादन करते हैं।

हम कह सकते हैं कि भगवद्गीता-पर्व एक अत्यन्त पूज्य तत्वज्ञान विषयक भाग है, उसे व्यास या वैशंपायनने अपने भारत-ग्रन्थमें स्थान दिया है और उसमें श्रीकृष्ण-के विशिष्ट मतोंका या व्यास-मतोंका आविष्कार किया गया है। स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ पूज्य है और आरम्भसे यही माना गया है कि मोक्षेच्छु या भगवद्भक्तोंके पठन करने योग्य है। यह भी निर्विवाद है कि इसमें श्रीकृष्णकी भक्ति पूर्णतया प्रतिपादित है और उनका ईश्वरांशत्व पूरा दिखलाया गया है। इसके वाक्य यदि प्रत्यक्ष श्रीकृष्णके मुखके न हों तथापि वे व्यासके मुखके हैं। यह कोई नहीं कह सकता कि रण-क्षेत्रमें प्रत्यक्ष श्रीकृष्णने किन शब्दोंका उपयोग किया था। महा-कविके सम्प्रदायके अनुरूप व्यासजीने संजयको रण-भूमि पर अपना एक सम्वाद-दाता (वार करेस्पांडेंट) बना लिया है और उसीसे युद्धका सब हाल इस युक्तिसे कहलाया है कि मानो प्रत्यक्ष देखा ही हो। यद्यपि वह काल्पनिक माना जाय, तोभी यह मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं कि श्रीकृष्णके मत भगवद्गीतामें बतलाये हुए मतोंके सदृश थे। यह निश्चय-पूर्वक मानने-के लिए क्या आधार है, कि बाइबिलमें दिये हुए ईसाके वाक्य प्रत्यक्ष उसीके मुखसे निकले थे? उसके शिष्य भी इस बातका वर्णन नहीं करते; किन्तु उसके प्रशिष्य सेंट् जान, सेंट ल्यूक, सेंट मार्क आदि उसके वचनोंको कहते हैं। और जिस प्रकार यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं होती कि उनके ये वचन ईसाके ही कहे हुए वचन थे, उसी प्रकार यह भी माना जा सकता है कि श्रीकृष्ण और अर्जुनके भाषण या सम्वादको जिस रूपमें व्यासने संजयके मुखसे प्रकट किया है, उसी रूपमें श्रीकृष्ण-का भाषण अथवा वाक्य था। हमारी राय-में यह प्रश्न अनुचित है कि भगवद्गीतामें प्रत्यक्ष श्रीकृष्णके ही शब्द हैं या नहीं। ये शब्द श्रीकृष्णके न हों, तथापि निस्सन्देह ये व्यासके हैं। श्रीकृष्णके मतका तात्पर्य यद्यपि व्यासके शब्दोंसे वर्णित हुआ है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री-कृष्णके मतके अनुकूल ही यह सब विषय यहाँ प्रतिपादित किया गया है। यह विषय सब कालमें पठन और मनन करने योग्य हो, इसलिए यदि व्यासने उसे रम्य स्वरूप दे दिया, तो आपत्ति किस बातकी है? सारांश, मानना होगा कि इस दृष्टिसे बाइबिल और भगवद्गीताकी परिस्थिति समान है। दोनों ग्रन्थ धार्मिक दृष्टिसे ही तैयार किये गये हैं। ईसाके ईश्वरत्वके सम्बन्धमें जिनका विश्वास है, ऐसे लोगों-के लिए उसके उपदेशका सार, भिन्न भिन्न प्रसंगोंके उसके भाषणों सहित, उसके मतानुयायियोंने कई वर्षोंके बाद उसके पश्चात् ग्रथित किया है और अपने धर्म-ग्रन्थको तैयार किया है (सेंट ल्यूकका प्रारम्भ देखिए)। इसी प्रकार, श्रीकृष्णके ईश्वरत्वके विषयमें उनके जिन भक्तोंको कुछ भी सन्देह न था उन्होंने, अर्थात् व्यास, वैशंपायन महर्षियोंने, अपनी दिव्य वाणी-से यह धार्मिक ग्रन्थ तैयार किया है; और श्रीकृष्णके पश्चात् कई वर्षोंके बाद जब भारत-ग्रन्थ तैयार हुआ तब उन्होंने उसके मध्य भागमें भगवद्गीताके रूपमें उसे स्थान दिया और उसमें कर्म-अकर्म सम्बन्धी अत्यन्त महत्वके प्रश्न पर, सब प्रचलित तत्वज्ञानोंका आश्रय लेकर, श्रीकृष्णके मुखसे ही विचार कराया है।

आजतक संसारमें धर्मके चार परम विख्यात उपदेशक हो गये हैं—अर्थात् श्रीकृष्ण, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद। इन्होंने जो मत प्रतिपादित किये, उन्हें अबतक लाखों और करोड़ों लोग मानते हैं। इन प्रसिद्ध धर्म-संस्थापकोंमेंसे केवल मुहम्मदने ही अपने हाथसे अपना धर्मग्रन्थ अपने अनुयायियोंको दिया था। यह प्रसिद्ध है कि शेष तीनोंके चरित्र और सम्भाषणको उनके प्रत्यक्ष शिष्योंने नहीं, वरन् शिष्योंके अनुयायियोंने कई वर्षोंके बाद एकत्र कर उनका धर्म-ग्रन्थ तैयार किया है। बुद्धके पश्चात् सौ वर्षके बाद बौद्ध ग्रन्थ तैयार हुए; और ईसाके पश्चात् बाइबिलका 'नवीन करार' भी लगभग इतने ही वर्षोंके बाद तैयार हुआ। ऐसी दशामें निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनमें दिये हुए बुद्ध या ईसाके शब्द उनके ही हैं; तथापि यह मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं कि उनके उपदेशका सार यही था। इसी प्रकार जिस भगवद्गीताको श्रीकृष्णके उपदेशका सार समझकर व्यासने अपने ग्रन्थके मध्य भागमें स्थान दिया है, उसे भी व्यास-मुखसे ही पूज्यत्व देनेमें कोई आपत्ति नहीं। किंबहुना, यह भी समझ लेना कुछ युक्तिबाह्य न होगा कि इसमें दिये हुए विषयका प्रतिपादन श्रीकृष्णके मुखसे ही किया गया है।

एक श्रीकृष्ण, तीन नहीं।

कुछ लोगोंने यह प्रश्न भी उपस्थित कर दिया है कि भगवद्गीतामें जिस श्रीकृष्णका मत प्रतिपादित है वह श्रीकृष्ण भिन्न है; और भारती-युद्धमें पाण्डवोंके पक्षमें लड़नेवाला श्रीकृष्ण भिन्न है। कुछ लोग तो श्रीकृष्ण नामके तीन व्यक्ति मानते हैं: जैसे गोकुलमें बाललीला करनेवाला श्रीकृष्ण, भारतीय युद्धमें शामिल होनेवाला द्वारकाधीश श्रीकृष्ण, और भगवद्गीताका दिव्य उपदेश देनेवाला भगवान् श्रीकृष्ण—ये तीनों भिन्न भिन्न हैं। गोकुलके श्रीकृष्णकी जो लीलाएँ वर्णित हैं वे ईसाकी बाललीलाके सदृश हैं, अतः इन लोगोंका कथन है कि आभीर जातिके गोप और गोपियोंके द्वारा यह धर्म ईसवी सनके बाद हिन्दुस्थानमें बाहरसे लाया गया था और आगे चलकर इनके लाये हुए कृष्णका तथा भारतमें वर्णित कृष्णका एकीकरण हो गया। यह भी मत है कि भगवद्गीतामें जिस अत्यन्त उदात्त तत्वज्ञान और नीतिके आचरणका उपदेश किया गया है, वह भारती-युद्धके श्रीकृष्णके आचरणसे विपरीत है; इतना ही नहीं, वरन् वह उपदेश कृष्णके उस अश्लील आचरणसे भी बहुत असम्बद्ध है जो उसने गोपियोंके साथ किया था। अतएव श्रीकृष्ण नामके तीन व्यक्ति माने जानेका जो सिद्धान्त कुछ लोगोंने किया है, उसका हम यहाँ संक्षेपमें विचार करेंगे।

हमारी रायमें एक श्रीकृष्णके तीन श्रीकृष्ण कर देनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। हम आगे विस्तारपूर्वक और स्वतन्त्र रीतिसे दिखा देंगे कि गोकुलमें तथा महाभारतमें श्रीकृष्णका जो चरित्र है वह यथार्थमें अति उदात्त है और वह भगवद्गीताके दिव्य उपदेशसे किसी प्रकार विपरीत नहीं है। यहाँ सिर्फ़ इतना ही कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टिसे उक्त कल्पना असम्भव है। भगवद्गीतामें श्रीकृष्णको भगवान् कहा है, इसका कारण यही है कि हर एक तत्वज्ञानके उपदेशकके लिए भगवान् संज्ञाका उपयोग किया जाता है। अर्जुनने जब यह कहा कि "**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**" तब सचमुच श्रीकृष्णके लिए तत्वज्ञानोपदेशकके नातेसे

भगवान् पदवी अत्यन्त योग्य है। स्थान स्थान पर अर्जुनने श्रीकृष्णको जनार्दन, गोविन्द आदि नामोंसे ही सम्बोधित किया है। अर्थात् भगवद्गीतामें स्पष्ट दिखलाया गया है कि भगवान् और श्रीकृष्ण एक हैं। अधिक क्या कहा जाय, जिस समय श्रीकृष्णने अपने **ऐश्वरी योग** सामर्थ्यसे अर्जुनको विश्वरूप दिखाया था, उस समय भी अर्जुनने यही कहा है कि हे देव, मैंने आपको "**हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा**" कहकर आपका अपमान किया है, सो क्षमा कीजिए। अर्थात् भगवद्गीतामें यही दिखलाया गया है कि विश्वरूप दिखानेवाला **भगवान्** श्रीकृष्ण ही यादव अर्जुन-सखा श्रीकृष्ण है। यद्यपि भगवद्गीता सौति-कृत मान ली जाय, तथापि महाभारत-कालमें यानी **ईसवी सन्के ३०० वर्ष पूर्व** यह किसीकी धारणा न थी कि भगवद्गीताका उपदेशक श्रीकृष्ण और भारती-युद्धमें अर्जुनका सारथ्य करनेवाला श्रीकृष्ण दोनों भिन्न भिन्न हैं। भगवद्गीतामें 'भगवानुवाच' शब्दका प्रयोग है और इसका कारण भी ऊपर बताया जा चुका है। उपनिषदोंमें भी इसी प्रकार भगवान् शब्दका उपयोग बार बार किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रश्नोपनिषद्के प्रारम्भमें ही यह निर्देश है—"**भगवन्तम् पिप्पलादमुपससाद**" "**भगवन्, कुतो वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते।**" छान्दोग्य उपनिषद्में भी "**श्रुतं ह्येवं मे भगवद्दृशेभ्यः,**" "**भगव इति ह प्रतिशुश्राव**"—इत्यादि प्रयोग हैं। और अश्वपतिके आख्यानमें, जब ब्राह्मण शिष्य बनकर वैश्वानर-विद्या सीखनेके लिए अश्वपतिके पास गये, तब औपमन्यव आदिने "**भगवो राजन्**" शब्दोंसे अश्वपतिको संबोधित किया है। इन सब उदाहरणोंसे यही संप्रदाय देख पड़ता है कि भगवान् शब्दका उपयोग केवल तत्त्वोपदेशक आचार्योंके लिए किया जाता है। इसी लिए उसका उपयोग श्रीकृष्णके लिए भी किया गया है। अतः यह कल्पना करना ही भूल है कि भगवान श्रीकृष्ण अलग है और यादव श्रीकृष्ण अलग है।

इसी प्रकार यह कल्पना भी अशुद्ध है कि गोकुलका श्रीकृष्ण महाभारतके श्रीकृष्णसे भिन्न है। गोकुलके श्रीकृष्णने जो चमत्कार किये उनका वर्णन हरिवंशमें है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह कल्पना गलत है कि श्रीकृष्णके चमत्कार ईसाके चमत्कारोंसे मिलते हैं, आभीर जातिकी गोपियोंका व्यवहार अच्छा नहीं था और उनके द्वारा यह बालदेव ईसाई सनके पश्चात् हिन्दुस्थानमें लाया गया। हमारी ऐसी धारणा है कि गोपियोंके साथ श्रीकृष्णका व्यवहार यथार्थमें बुरा नहीं था। इसका विवेचन हम आगे चलकर करेंगे। परन्तु महाभारतसे यह दिखलाया जा सकता है कि, श्रीकृष्णने पहले मथुरामें जन्म लिया, फिर कंसके डरसे वह गोकुलमें पला, और गोकुलकी गोपियाँ उसको ईश-भावनासे अत्यन्त प्यार करती थीं, इत्यादि कथाएँ ईसाई सनके पश्चात् पैदा नहीं हुईं; किन्तु महाभारत-कालमें भी वे प्रचलित थीं। हरिवंशके कालका यद्यपि हमें संदेह हो, तथापि यह निश्चयपूर्वक सिद्ध है कि महाभारत—सौतिका महाभारत—ईसाई सन्के २५० वर्ष पहलेके लगभग था। यह कथन गलत है कि इस महाभारतमें गोपियोंका वर्णन या गोकुलके श्रीकृष्णने जो पराक्रम किये उनका वर्णन नहीं है। द्रौपदीने वस्त्रहरणके समय जो

पुकार की थी उसमें "कृष्ण गोपी जनप्रिय" स्पष्ट संबोधन है। इसी प्रकार आगे सभापर्वमें भी शिशुपालने अपने बधके समय—

गोपं संस्तोतुमिच्छसि।

यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ॥

इत्यादि श्लोकोंमें (अ० ४१) श्रीकृष्णकी गोपस्थितिकी उन बाललीलाओंका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है जो उन्होंने गोकुलमें की थीं। अर्थात् यह बात निर्विवाद है कि महाभारत-कालमें, यानी ईसाई सनके ३०० वर्ष पूर्वके लगभग, गोकुलके श्रीकृष्णचरित्रकी सब कथाएँ भरतखंडमें प्रचलित थीं। फिर यह कथन कैसे सत्य हो सकता है, कि ईसाके बाद आभीर लोग ईसाके धर्ममेंसे इन कथाओंको इधर लाये? नारायणीय उपाख्यानमें भी यह बात स्पष्ट रीतिसे आ गई है कि, गोकुलसे मथुरामें आकर कंसको मारनेवाला श्रीकृष्ण और पांडवोंकी सहायता करके जरासंध तथा दुर्योधनको मरवानेवाला श्रीकृष्ण एक ही है। शान्ति पर्वके ३३६ वें अध्यायमें दशावतारोंका वर्णन है। वहाँ श्रीकृष्णावतारके विशिष्ट कृत्योंका विस्तारपूर्वक कथन किया गया है। और, पहले कहा गया है कि "मथुरामें मैं ही कंसको मारूँगा।" इसके बाद द्वारकाकी स्थापना, जरासंधका बध इत्यादि अवतार-कार्योंका वर्णन किया गया है।

द्वापरस्य कलेश्चैव संधौ पर्यावसानिके।
प्रादुर्भावः कंसहेतोर्मथुरायां भविष्यति॥८९
तत्राहं दानवान् हत्वा सुबहून् देवकण्टकान्।
कुशस्थलीं करिष्यामि निवेशं द्वारकां पुरीम्॥९०॥

इससे यह निश्चयपूर्वक दिखाई देता है कि महाभारत-कालमें यानी ईसवी सन्‌के ३०० वर्ष पूर्व भरतखण्डमें लोग इस बातको अच्छी तरह जानते थे कि गोकुल और मथुराका श्रीकृष्ण तथा द्वारकाका श्रीकृष्ण एक ही है। सारांश ऐतिहासिक दृष्टिसे भी यह कल्पना गलत है कि मूलतः तीन श्रीकृष्ण थे और ईसवी सन्‌के पश्चात् उनका एकीकरण हो गया। हम आगे यह बतलानेवाले हैं कि कुल तत्वज्ञान या नीतिकी दृष्टिसे भी तीन श्रीकृष्ण माननेकी आवश्यकता नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि भगवद्गीतामें जिस श्रीकृष्णके मत प्रतिपादित हैं वही श्रीकृष्ण भारत और हरिवंशमें वर्णित है और वही मथुरा तथा द्वारकाका श्रीकृष्ण है। और, इसी श्रीकृष्णके मत भगवद्गीतामें व्यासजीकी आर्ष दिव्य एवं बलवती वाणीसे प्रतिपादित किये गये हैं।

हमारे अबतकके विवेचनसे यह बात पाई गई कि भगवद्गीता आरम्भसे इतितक एक सम्बद्ध ग्रन्थ है, वह किसी एक अलौकिक बुद्धिमान् कविका अर्थात् व्यास या वैशंपायनका बनाया है, वह प्रारंभसे ही भारत ग्रन्थका भाग जानकर तैयार किया गया था और जब सौतिने अपने महाभारतकी रचना की, उस समय वह ज्योंका त्यों उसके सामने उपस्थित था। इसी प्रकार उसमें, श्रीकृष्णके उदात्त तत्वज्ञानका प्रतिपादन प्रचलित तत्वज्ञान सहित किया गया है। श्रीकृष्णके पश्चात् उसके ईश्वरत्वको पूर्णतया माननेवालोंने पूज्य धर्म-ग्रन्थके नामसे इस ग्रन्थको तैयार किया है। इस ग्रन्थका पठन और श्रवण ज्ञानेच्छु पुरुषोंके लिए बहुत ही लाभदायक है और इसी दृष्टिसे उसकी रचना की गई है। व्यासजीने इस ग्रन्थको संसारके सन्मुख रखते हुए यह इशारा भी दे दिया है कि—"इदं ते नातपस्काय

नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥"

अर्थात्, यह ग्रन्थ किस उद्देशसे और किस प्रसंगसे तैयार किया गया है, इत्यादि बातोंका यहाँतक दिग्दर्शन हो चुका। अब हमें इस प्रश्नकी ओर ध्यान देना चाहिए कि भगवद्गीता-ग्रन्थ किस समयका है। अन्तः प्रमाणोंसे ज्ञात हो चुका है कि यह ग्रन्थ सौतिका नहीं है। तथापि, यही निश्चय अन्य अन्तः प्रमाणों-से होता है या नहीं, और इस ग्रन्थका निश्चित काल हम जान सकते हैं या नहीं, इत्यादि बातोंका पता लगाना महत्वका और मनोरञ्जक काम है। स्पष्ट है कि यह विषय केवल अन्तःप्रमाणोंसे ही सिद्ध होने योग्य है; क्योंकि इसके सम्बन्धमें बाह्य प्रमाणोंका मिलना प्रायः असम्भव है।

भगवद्गीता दशोपनिषदोंके अनन्तर और वेदांगके पूर्वकी है।

यह बात निर्विवाद है कि भगवद्-गीता-ग्रन्थ महाभारतके अन्तिम संस्करणके पहलेका है। हाप्किन आदि पाश्चात्य विद्वानोंकी भी यही धारणा है कि वह महाभारतका सबसे पुराना भाग है। तब यह स्पष्ट है कि यदि वह ग्रन्थ महा-भारतके समयका ही मान लिया जाय, तो भी उसका काल ईसवी सन्के पूर्व तीन सौ वर्षके इस ओर नहीं आ सकता। यह उसके इस ओरके समयकी मर्यादा है। अब, पूर्व मर्यादाको सोचनेसे एक बात निश्चित दिखाई देती है। भगवद्-गीता ग्रन्थ दशोपनिषदोंके पश्चात् हुआ है और सांख्य तथा योग दोनों तत्वज्ञानों-के अनन्तरका है; क्योंकि इन तीनों तत्व-ज्ञानोंका उल्लेख प्रधान रीतिसे भगवद्-गीतामें किया गया है। यह प्रश्न अत्यन्त अनिश्चित है कि सांख्य, योग और वेदान्त तत्वज्ञानोंकी उत्पत्ति कब हुई। अनेक उपनिषदोंके विषयमें तो यह भी कहा जा सकता है कि वे ग्रन्थ महाभारतके भी बादके हैं। इस दृष्टिसे हमें कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। हम कह सकते हैं कि भारतीय युद्धके पश्चात् भगवद्गीता तैयार हुई; परन्तु भारतीय युद्धका काल भी तो ठीक निश्चित नहीं है। हमारी रायमें वह काल ईसवी सन्-के पूर्व तीन हजार एक सौ एक (३१०१) वर्ष है, पर और लोगोंकी रायमें वह ईसवी सन्के पूर्व १४०० या १२०० वर्षके लग-भग है। अर्थात्, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भगवद्गीता ईसवी सन्के पूर्व १००० से ३०० वर्षके बीचके किसी समयकी है। परन्तु इससे पूर्व मर्यादाके सम्बन्धमें समाधान नहीं हो सकता। इससे भी अधिक निश्चित प्रमाण ढूँढ़ना चाहिए। हम समझते हैं कि इस बातका सूक्ष्म रीतिसे विचार करने पर हमें यह अनुमान करनेके लिए कुछ प्रमाण मिलते हैं कि भगवद्गीता वेदाङ्गोंके पूर्वकी है। अब उन्हीं प्रमाणोंका यहाँ विचार करेंगे।

पहली बात यह है कि—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रियुगसहस्रान्ताम् तेऽहोरात्रविदो जनाः

यह श्लोक भगवद्गीतामें है। यह कल्पना आगे भारतीय ज्योतिषमें सर्वत्र फैली हुई है। यदि यह देखा जाय कि यह कहाँ कहाँ पाई जाती है तो अन्य ग्रन्थोंके देखनेसे ज्ञात होता है कि यह कल्पना यास्कके निरुक्तमें है और ऐसा देख पड़ता है कि यह श्लोक वहाँ दूसरे-का अवतरण मानकर रख लिया गया है। इससे यह अनुमान निकल सकता है कि यह कल्पना यास्कके निरुक्तमें भगवद्गीतासे ली गई होगी। भगवद्-गीतामें यह श्लोक स्वतन्त्र रीतिसे आया

है और ऐसा नहीं दिखाई देता कि वह और कहींसे लिया गया हो। उपनिषदोंमें तो वह नहीं है। हाँ, यह भी कहा जा सकता है कि कल्पकी यह कल्पना, सम्पूर्ण वैदिक साहित्यमें नहीं है। संपूर्ण वैदिक साहित्यकी छान बीन करनेकी न तो आवश्यकता ही है और न शक्यता ही। "वैदिक इन्डेक्स" नामक अनमोल ग्रन्थमें वैदिक साहित्यकी चर्चा की गई है। उसमें कल्प शब्द ज्योतिषके अर्थमें प्रयुक्त नहीं किया गया। "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" वाक्यसे यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिक कालमें सृष्टिकी पुनर्रचनाकी कल्पना न होगी। परन्तु सृष्टिरचनाके कालकी, कल्पकी अथवा एक हजार युगकी कल्पना ज्योतिष-विषयक अभ्यासमें कुछ समयके पश्चात् निकली होगी। मुख्यतः युगकी ही कल्पना पूर्णतया वैदिक नहीं है। वैदिक कालमें चार युग थे: यह स्पष्ट है कि यह कल्पना पञ्चवर्षयुगसे बड़े युगकी थी: परन्तु ऐसा नहीं जान पड़ता कि वैदिक कालमें कलि आदि युगोंकी अवधिका ठीक निश्चय हुआ हो। यह कालगणना किसी समय उपनिषत्-कालमें निश्चित हुई है और ऐसा दिखाई देता है कि वहाँसे पहलेपहल भगवद्गीतामें ज्योंकी त्यों रख ली गई है। हमारा अनुमान है कि जब इसका उल्लेख और कहीं नहीं पाया जाता, तब निरुक्तके अवतरणका श्लोक भगवद्गीतासे लिया गया है। हाँ, यह बात अवश्य है कि यह अवतरण निरुक्तके १२ वें अध्यायमें है और अन्तके १३ वें और १४ वें दोनों अध्याय निरुक्तके परिशिष्टके अन्तर्गत माने गये हैं। यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं कि यह परिशिष्ट यास्कका ही है: क्योंकि वैदिक लोग निरुक्तके साथ इस परिशिष्टका भी पठन करते हैं। यदि यह बात ध्यानमें रखी जाय कि वैदिक ब्राह्मण जो वेदाङ्ग पढ़ते हैं, उनमें निरुक्तके ये दोनों अध्याय भी पढ़ते हैं, तो यही अनुमान निकलता है कि ये दोनों अध्याय वेदाङ्गोंके कर्त्ता यास्कके ही हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भगवद्गीता यास्कके पहलेकी है।

कालके सम्बन्धमें दूसरा एक और महत्वका श्लोक भगवद्गीतामें है। वह यह है :—

> महर्षयः सप्त पूर्वे
> चत्वारो मनवस्तथा।
> मद्भावा मानसा जाता
> येषां लोक इमाः प्रजाः॥

इस श्लोकका पूर्वार्ध बहुत कुछ कठिन हो गया है: क्योंकि कुल मनु चौदह माने गये हैं और ज्योतिष तथा सब पुराणोंका यह मत है कि भारती-युद्धतक सात मनु हुए। तब सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ चार मनु कैसे कहे गये। या तो चौदह कहने चाहिए थे या सात। इस कठिन समस्याके कारण कई लोग इस पदके तीन खण्ड करते हैं :— 'महर्षयः सप्त', 'पूर्वे चत्वारः', और 'मनवस्तथा'। इनका कहना ऐसा दिखाई देता है कि इससे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार व्यूह लेने चाहिएँ, परन्तु स्वयं वासुदेव यह कैसे कहेगा कि ये चार व्यूह मुझसे पैदा हुए। पहिला व्यूह वासुदेव अज, अनादि परब्रह्म-स्वरूप माना गया है; तो फिर वही वासुदेवसे कैसे पैदा हो सकता है? यदि यहाँ व्यूहोंके कहनेका अभिप्राय होता तो तीन व्यूह बतलाने चाहिए थे। इसके सिवा यह भी हम आगे देखेंगे कि 'सप्त ऋषयः' पद भी ठीक नहीं है। अर्थात् इस श्लोकका अर्थ ठीक नहीं जमता।

परन्तु इस अर्थके न जमनेका कारण

हमारी रायमें यह है कि हम आजकलकी धारणासे इसका अर्थ करना चाहते हैं। हम इस ओर ध्यान दिलावेंगे कि आज-कलकी धारणा क्या है। यह हम देख चुके हैं कि पहले कल्प अर्थात् सहस्र युगकी कल्पना भगवद्गीता तथा यास्कके निरुक्त-में है। ऐसा मान लिया गया था कि सृष्टिकी उत्पत्तिसे लयतक ब्रह्माका एक दिन होता है और उसकी मर्यादा हजार चतुर्युगकी है। मनुस्मृतिमें यह कल्पना है कि इन हजार युगोंमें १४ मन्वन्तर होते हैं। चौदह मनुकी कल्पना महाभारतमें भी स्पष्ट रीतिसे नहीं दी गई है। परन्तु महाभारतके पश्चात् तुरन्त बनी हुई मनु-स्मृतिमें वह पाई जाती है। मनुस्मृतिमें होनेसे उसका धार्मिकत्व मान्य हो गया और भारतीय आर्य-ज्योतिषकारोंने उसका स्वीकार कर लिया। सिर्फ आर्यभट्टने उसका स्वीकार नहीं किया। उसके युगों-की मनुकी और कल्पकी कल्पना मनु-स्मृतिसे भिन्न होनेके कारण अन्य सब आर्य ज्योतिषकारोंने उसे दोष दिया है, और एक मत हो यह ठहरा दिया है कि उसका ग्रन्थ धर्म-विरुद्ध है (शङ्करादि-भारती ज्यो० पृ० १९३)। अर्थात् यह चौदह मनु-की कल्पना धार्मिक है। इसलिए भार-तीय-ज्योतिषको उसका स्वीकार करना पड़ा। वास्तविक कल्प या युगकी कल्पनाके सदृश उसमें गणितकी सुग-मता नहीं है। क्योंकि चौदह मन्वन्तर माननेसे १००० युगोंमें बराबर भाग नहीं लगता और ६ युग (चतुर्युग) शेष रहते हैं। तथापि यह भी मान सकते हैं कि इस कल्पनाको गणितका ही आधार होगा, क्योंकि दो युगोंके बीचमें जैसे संधि और संध्यंश मान लिये हैं वैसे ही मन्वन्तरोंके बीचमें संध्यंश मानना उचित है। ऐसा मानकर यदि गणितके द्वारा संध्यंश लेकर मनुकी संख्या बैठावें तो चौदहके सिवा दूसरा अङ्क जमता ही नहीं। यह उदाहरण द्वारा प्रत्यक्ष देख सकते हैं। हमें इस बातका निर्णय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि चौदह मनुकी कल्पना गणितके कारण प्रकट हुई या वह धार्मिक कल्पनाका ही फल है। हाँ, इस सम्बन्धमें यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि चौदह मनुकी यह कल्पना मनुस्मृतिके पहले कहीं नहीं मिलती।

परन्तु, यह कल्पना बहुत प्राचीन है कि एक कल्पमें या वर्तमान सृष्टिमें एक-से अधिक मनु हैं। उसकी प्राचीनता ऋग्वेद-कालीन है। ऋग्वेदमें तीन मनुके नाम आये हैं। ये नाम वैवस्वत, साव-रणि और सावर्ण्य हैं। पहले दो नाम ऋग्वेदके आठवें मण्डलके ५१, ५२ सूक्त-में लगातार आये हैं। वे बालखिल्यमें हैं और उनके कर्त्ता काण्व ऋषि श्रुष्टिगु और आयु ये दो हैं। पहले सूक्तकी पहली ऋचा यह है—

यथा मनौ सावरणौ सोममिंद्रापिबः सुतम्। नीपातिथौ मघवन् मेध्यातिथौ पुष्टिगौ श्रुष्टिगौ तथा॥

इसमें जो कुछ कहा गया है वह सावरणि मनुके समयका है। आगामी सूक्तमें आरम्भमें ही पहली ऋचामें—

यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम्। यथा त्रितेछन् इन्द्रजुजोषस्यायौ मादयसे सचा॥

इस प्रकार विवस्वानके पुत्र मनुका उल्लेख है। ऋग्वेदके दसवें मण्डलके ६२ वें सूक्तकी एक ऋचामें तीसरे मनु-का नाम सावर्ण्य आया है और दूसरी ऋचामें सावर्णि आया है। ये दोनों नाम एक ही के हैं। "वैदिक इन्डेक्स" में मनु शब्दके नीचे उपर्युक्त पादटीका दी गई है और इस पर मेकडानलका मत है कि

सावरणि तथा सावर्ण्य ऐतिहासिक दिखाई देते हैं पर वैवस्वत काल्पनिक दिखाई देता है। संवरण नामक राजाका उल्लेख चान्द्रवंशमें है। परन्तु यहाँ उसका उल्लेख नहीं है। यह मनु काल्पनिक हो या न हो, परन्तु यह स्पष्ट है कि एकसे अधिक मनुकी कल्पना ऋग्वेद-कालीन है। ऐसी कल्पना हर एक बुद्धिमान् जातिमें पैदा होनी ही चाहिए। यह कल्पना कि सृष्टिकी उत्पत्ति होने पर उसका नाश होगा, जितनी स्वाभाविक है, उससे कहीं स्वाभाविक यह कल्पना है कि एकसे अधिक मनु हैं; क्योंकि सांसारिक अनुभवसे हमें मालूम है कि कई वंश वृद्धि होनेके बाद मिट जाते हैं: उसी प्रकार हमें देख पड़ता है कि एक ही समयमें मनुष्यकी मुख्य मुख्य जातियाँ भिन्न भिन्न रहती हैं। अर्थात् भिन्न भिन्न मनुकी कल्पनाका अति प्राचीन-कालीन होना असम्भव नहीं है।

परन्तु यह नहीं कह सकते कि ऋग्वेद कालमें कितने मनुकी कल्पना थी। यह निर्विवाद है कि महाभारतके पश्चात् बनी हुई मनुस्मृतिमें चौदह मनुकी कल्पना है और वही सब पुराणों तथा ज्योतिषियोंने ली है। इस कल्पनाके साथ और भी दो कल्पनाएँ की गई हैं। हर एक मनुके समयके सप्तर्षि भिन्न हैं और हर एक मनुके दस पुत्र वंश-कर्ता होते हैं और वे वंश-कर्ता सप्तर्षिसे भिन्न होते हैं। इस प्रकार चौदह मनुके समयके भिन्न भिन्न सप्तर्षि ९८ होते हैं तथा चौदहके दस दस वंश-कर्त्ता मिलकर १४० वंश-कर्त्ता होते हैं। इन सबके अलग अलग नाम पुराणोंमें दिये हैं। विवस्वत् वर्तमान मनु है। वह सातवाँ है। इसके आगे और सात मनु आवेंगे। इस प्रकार पुराणोंकी यह विस्तृत कल्पना है और वहाँ भिन्न भिन्न ऋषि तथा वंश-कर्त्ता दिये गये हैं, जिनके नाम बतलानेकी यहाँ आवश्यकता नहीं। यहाँ केवल मत्स्य-पुराणमें बतलाये हुए मनुके नाम दिये जाते हैं। १ स्वायंभुव, २ स्वारोचिष, ३ औत्तमि, ४ तामस, ५ रैवत, ६ चाक्षुष, ७ वैवस्वत। ये अभीतक हो चुके हैं और अब आगे आनेवाले मनु ये हैं:—८ सावर्ण्य, ९ रौच्य, १० भौत्य, ११ मेरुसावर्णि, १२ ऋत, १३ ऋतधाम और १४ विष्वक्सेन। अन्य पुराणोंमें आगामी मनुके नाम भिन्न हैं और उनमें "सावर्णि" शब्दसे बने हुए जैसे "दक्षसावर्णि, रुद्रसावर्णि" आदि बहुतसे नाम आये हैं। यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि ऋग्वेदमें जिस सावर्णि मनुका उल्लेख है वह इस सूचीमें बिलकुल नहीं आया है। हाँ, यह स्पष्ट बतला दिया है कि सावर्ण्य मनु आगे होगा। ऋग्वेदके उल्लेखसे यह ज्ञात होता है कि यह मनु पीछे कभी हो चुका है और इसका सम्बन्ध यदुतुर्वशसे दिखाई देता है। इस विवेचनसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि ऋग्वेदमें की हुई अनेक मनुकी कल्पना आगे बराबर जारी रही; परन्तु वहाँ दिये हुए उनके नाम प्रायः पीछे रह गये।

हमारी रायमें भगवद्गीताका **'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा'** श्लोक वैदिक-कालकी कल्पनासे मिलता है और वह मन्वादि ग्रन्थके चौदह मनुकी कल्पनाके पूर्वका है। ऋग्वेदमें तीन मनुका उल्लेख है तथा यास्कके निरुक्तके (३-१-५) 'मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' वाक्यमें चौथे मनुका नाम आया है। अर्थात् हमारी रायमें जिन स्वायम्भुव, सावरणि, सावर्ण्य और वैवस्वत चार मनुका उल्लेख भगवद्गीतामें आया है, वह वैदिक साहित्यके आधार पर ही अव-

लम्बित है। यह कल्पना कि विवस्वानका पुत्र ही वर्तमान मनु है, ऋग्वेद परसे अस्पष्ट दिखाई देता है और वही भगवद्गीतामें है, जहाँ ऐसा वर्णन है कि 'मैंने यह कर्मयोग विवस्वानको बतलाया, उसने मनुको बतलाया और मनुने इक्ष्वाकुको बतलाया। अर्थात् उस समय यह बात मान्य दिखाई देती है कि वर्तमान मनु वैवस्वत् है।

चौदह मनुकी, हर एक मनुके भिन्न भिन्न सप्तर्षियोंकी और वंश-कर्त्ताओंकी कल्पना भगवद्गीताके समयमें न थी। यह उपर्युक्त अनुमान केवल 'चार मनु' शब्दोंसे ही नहीं निकलता। किन्तु 'सात महर्षि' शब्दोंसे भी निकलता है। क्योंकि यदि सप्त मनुकी और उनके भिन्न भिन्न सप्तर्षियोंकी कल्पना प्रचलित रहती, तो यहाँ सप्त-सप्त महर्षि कहा होता (श्लोकमें महर्षयः सप्त-सप्त ये शब्द चाहिए थे)। हमारा मत है कि भगवद्गीताके अभिप्रेत महर्षि वैदिक-कालके हैं। ये सप्तर्षि वसिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम, भरद्वाज और अत्रि हैं। इनका उल्लेख बृहदारण्यकमें है। दूसरे ब्राह्मणमें ऋग्वेदकी ऋचा '**तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे**' की व्याख्या करते समय '**प्राणावा ऋषयः। प्राणानेतदाह। इमावेव गौतमभरद्वाजौ॥' "इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी। इमावेव वसिष्ठकश्यपौ। वागेवात्रिः॥**" कहा है। ऋग्वेदके सूक्तोंके कर्त्ता प्रायः ये ही हैं। ये ही वैदिक सप्तर्षि हैं और महाभारतमें भी यही वर्णन है कि उत्तरकी ओर ध्रुवकी परिक्रमा करनेवाले सप्तर्षि ये ही हैं। पुराणोंमें वर्तमान मन्वंतरके सप्तर्षि ये ही बतलाये गये हैं। अर्थात ऐतिहासिक सप्तर्षि ये ही हैं। अब भिन्न भिन्न मनुके भिन्न भिन्न सप्तर्षि माने गये, तब पहले स्वायम्भुव मनुके साथके सप्तर्षि महाभारतके शान्ति पर्वके ३३५वें अध्यायमें इस प्रकार बतलाये गये हैं:—

मरीचिरङ्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठश्च महातेजास्तेहि चित्रशिखण्डिनः॥

हम समझते हैं कि इस श्लोकमें उनका उल्लेख नहीं है, क्योंकि ये प्रायः काल्पनिक हैं। 'वैदिक इण्डेक्स' पुस्तक देखनेसे मालूम होता है कि पुलस्त्य, पुलह और क्रतुका उल्लेख वैदिक साहित्यमें नहीं है। वसिष्ठ, कश्यप, भरद्वाज, गौतम, विश्वामित्र और अत्रिका उल्लेख ऋग्वेद-सूक्तमें आया है और ये सब ऋग्वेद-सूक्तोंके कर्त्ता हैं। वसिष्ठ, विश्वामित्र और भरद्वाजके पूर्ण मण्डल हैं। अत्रि और आत्रेयका भी मण्डल है। सूक्तोंके कर्त्ता कश्यप और जमदग्न्य भी अन्य मण्डलमें हैं। कण्वका एक स्वतन्त्र मण्डल है, पर उनका नाम महर्षियोंमें नहीं है। परन्तु महाभारत और हरिवंशसे दिखाई देता है कि कण्व महर्षि मनुके वंशका चान्द्रवंशी है। सारांश, सबके उत्पत्ति-कर्त्ता "पूर्वे" महर्षि सात हैं। 'महर्षयः सप्त पूर्वे' में पूर्वे शब्द इसी अर्थका है। और महर्षि भी होंगे, पर वे 'पूर्वे' यानी सबके पूर्वके उत्पत्ति-कर्त्ता नहीं हैं। अस्तु। भगवद्गीताके वाक्यमें दिये हुए सप्तर्षि ऐतिहासिक प्रसिद्ध सप्तर्षि ही हैं। 'येषां लोक इमाः प्रजाः' में सूचित किया है कि ये और चार मनु आजतक पैदा होनेवाली प्रजाके उत्पादक हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे हमारा यह मत है कि भगवद्गीताके समयमें सात महर्षि और चार मनु हो गए थे, और वैदिक साहित्यसे मिलती जुलती यह कल्पना

तब प्रचलित भी होगी। इस कालके अनन्तर कल्पमें चौदह मनु और हर एक मनुके साथ भिन्न भिन्न सप्तर्षिकी कल्पना प्रचलित हुई और यह माना गया कि आधुनिक कालतक सात मनु हुए। यह सिद्धान्त मनुस्मृति और पुराणोंमें स्पष्ट रीतिसे दिखाया गया है और वही ज्योतिषियोंने ले लिया है। महाभारतमें—यानी सौतिके महाभारतमें—चौदह मनुकी कल्पनाका उल्लेख स्पष्ट रीतिसे नहीं है, तथापि ऐसा दिखाई देता है कि उस समय वह प्रचलित हुई होगी। शांति पर्वके ३४१ वें अध्यायमें भगवद्गीताकी यही कल्पना पहले स्वायम्भुव मनु पर लगाई गई और वहाँ ऐसा वर्णन किया गया है कि सप्तर्षि और मनुसे प्रजा उत्पन्न होती है।

मरीचिरंगिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठश्च महात्मा वै मनुः स्वायंभुवस्तथा॥
ज्ञेयाः प्रकृतयोऽष्टौ ता यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः
अष्टाभ्यः प्रकृतिभ्यश्च जातं विश्वमिदं जगत्॥

इससे कदाचित् महाभारत-कालमें ही यह मान लिया गया होगा कि हर एक मन्वंतरमें प्रजा कैसे उत्पन्न होती है और भिन्न भिन्न महर्षि और वंश-कर्त्ता कैसे होते हैं। यहाँ यह अनुमान होता है कि भगवद्गीता-काल और महाभारत-कालमें बड़ा ही अन्तर होगा, और यह भी मालूम होता है कि भगवद्गीता-काल वैदिक कालके निकट ही कहीं होगा। इस अनुमान परसे यद्यपि निश्चयात्मक-कालका अनुमान नहीं निकलता, तथापि यह दिखाई देता है कि वह बहुत प्राचीन अवश्य है।

अभीतक हम यह देख चुके हैं कि भगवद्गीता-कालके सम्बन्धमें 'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा' श्लोकार्ध बहुत महत्वका है और उपर्युक्त कल्पनासे उसका अर्थ भी ठीक जमता है। ऐसे ही महत्वका एक और तीसरा ज्योतिर्विषयक उल्लेख भगवद्गीतामें है। वह यह है—"**मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।**" यह श्लोकार्ध देखनेमें सरल है; पर उसमें बड़ा ऐतिहासिक ज्ञान और गूढ़ रहस्य भरा है। प्रश्न यह है कि श्रीकृष्णने महीनोंमें मार्गशीर्षको और ऋतुओंमें कुसुमाकरको अग्रस्थान क्यों दिया? यदि यह कहा जाय कि श्रीकृष्णको ये दोनों प्रिय थे, तो आगे बोलनेके लिए कोई गुंजाइश ही नहीं। पर बात ऐसी न होगी। यह स्पष्ट है कि महीनोंके आरम्भमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्तकी गणना की जाती थी, इससे उन्हें अग्रस्थान दिया गया है। इसके सिवा यह भी कह सकते हैं कि यदि मार्गशीर्ष मास अच्छा मालूम हुआ था तो हेमन्त ऋतु रखनी चाहिए थी, पर ऐसा नहीं हुआ। इससे हम जो कहते हैं वही बात होगी। वर्तमान महीनोंमें चैत महीना पहला है और ऋतुओंमें वसन्त है और लोगोंकी गिनतीमें दोनोंका ऐक्य भी है। यथार्थमें वसन्त-ऋतु आजकल फागुनके भी पहले आती है; तथापि जब चैत, बैसाखसे वसन्त-ऋतुकी गिनती शुरू हुई, तबसे दोनोंका ऐक्य निश्चित हुआ और वे अपने अपने वर्गमें अग्रस्थानमें हैं। यह प्रसिद्ध है कि यह गणना ईसवी सन्के प्रारम्भके लगभग भारती अर्वाचीन सिद्धान्तादि ज्योतिषने शुरू की। अब हमें यह देखना चाहिए कि महीनोंकी गणनामें मार्गशीर्षको और ऋतुओंकी गणनामें वसन्तको पहले माननेकी बात भरतखण्डमें कबसे शुरू हुई, और यदि यह निश्चयपूर्वक मालूम हो गया तो भगवद्गीताका काल हम शीघ्र जान सकेंगे।

इस प्रश्नका विचार दीक्षितके प्रसिद्ध ग्रन्थकी सहायतासे, ऐतिहासिक रीतिसे किया जायगा। वैदिक साहित्यमें ऋतुओं-का निर्देश सदा वसन्तसे होता है। ये ऋतुएँ ६ थीं। कहीं कहीं पाँच ऋतुओंका भी निर्देश है। शतपथ-ब्राह्मणमें इसका कारण स्पष्ट बताया है कि अन्तिम दो ऋतुएँ शिशिर और हेमन्त एक मान ली गई हैं। रोमन लोगोंके पूर्व इतिहाससे भी ज्ञात होता है कि जब आर्य लोग हिमालयके उत्तरमें रहते थे, तब वे वर्षके दस ही मास मानते थे; क्योंकि दो मासतक सूर्य-का पता बिलकुल नहीं मिलता था। ऐसा दिखाई देता है कि प्राचीन वैदिक-कालमें उत्तरायण वसन्तके सम्पातसे ही माना जाता होगा; क्योंकि जब सूर्य क्षितिजके ऊपर आता था, तभी सृष्टिमें गति होती थी और मनुष्योंको आनन्द होना था। अर्थात्, दो मासतक सूर्यके बिलकुल अस्त हो जानेके अनन्तर और अत्यन्त शीतके समाप्त होने पर आर्योंको प्रफुल्लता तथा जीवनी-शक्ति प्राप्त होती थी। इससे स्वभावतः वैदिक कालमें यही मानते होंगे कि वर्षका प्रारम्भ वसन्त-ऋतुसे होता है। यह काल हिमालयके उस पारकी बहुत प्राचीन बस्तीका होगा। परन्तु जब आर्य लोग हिन्दुस्थानमें आ बसे और ज्योतिष शास्त्रका अभ्यास भी बढ़ा, तब यह परिस्थिति बदल गई। सूर्य वर्ष भर क्षितिज पर ही रहने लगा और उसका उदय स्थान उत्तरसे दक्षिणकी ओर तथा दक्षिणसे उत्तरकी ओर बदलने लगा। उस समय वसन्तके सम्पातसे उत्तरायण-का आरम्भ न मानकर ज्योतिषियोंने उत्तरायणकी गणना तब शुरू की जब सूर्य दक्षिणसे उत्तरकी ओर घूमने लगता था। यह काल वेदाङ्ग ज्योतिषमें दिखाया गया है।

परन्तु वैदिक-काल और वेदाङ्ग-काल-में एक और बड़ा फ़र्क यह है कि वैदिक-कालमें चैत्र, वैशाख आदि महीनोंके नामों-का अस्तित्व ही न था। ये नाम वेदाङ्ग-कालमें अस्तित्वमें आये दिखाई देते हैं। वैदिक कालमें मधु, माधव, शुक्र, शुचि नाम वसन्तके क्रमसे प्रचलित थे। मासों-के पर्याय-वाची ये नाम तो अभीतक संस्कृत ग्रन्थोंमें हैं, पर वे नाम अधिकतर नहीं पाये जाते। चैत, बैसाख आदि नाम मुख्यतः वैदिक कालके इस ओरके साहित्य-में पाये जाते हैं। दीक्षितकी ज्योतिर्विष-यक गणनासे मालूम होता है कि ये नाम ईसवी सन्के पूर्व २००० वर्षके लगभग प्रचलित हुए। वैदिक ग्रन्थोंके प्रमाणसे भी यही बात पाई जाती है। वेदाङ्ग-ज्योतिष, पाणिनि-कल्पसूत्र आदि ग्रन्थोंमें ये ही नाम दिये गये हैं। दीक्षितकी गिनती-से वेदाङ्ग ज्योतिषका काल ई० स०से १४०० वर्ष पूर्व निश्चित होता है। अब शतपथ-ब्राह्मणके उत्तर-काण्डमें बैसाखका नाम एक बार आया है (दी० ज्योतिष-शास्त्रका इतिहास पृ० १३०) ११वें काण्डसे आगेके ये उत्तरकाण्ड पीछे बने हैं। पहले दस काण्डोंमें ये नाम बिलकुल नहीं पाये जाते; मधु, माधव नाम ही पाये जाते हैं; और शतपथके इस वचनसे कि 'कृत्तिका ठीक पूर्वमें निकलती है' दीक्षित-ने शतपथका काल ई० स० ३००० वर्ष पूर्व बेधड़क निश्चित कर दिया है। अर्थात् गणितसे निकाला हुआ उनका यह सिद्धान्त ठीक है कि ई० स० ३००० वर्ष पूर्व शतपथ-काल और १४०० वर्ष पूर्व वेदाङ्ग-ज्योतिष-कालके बीचमें मार्ग शीर्ष, पौष आदि नाम प्रचलित थे।

'मासानां मार्गशीर्षोऽहं' वाक्यसे यह सिद्धान्त निकालनेमें कोई आपत्ति नहीं कि भगवद्गीता ब्राह्मण-ग्रन्थोंके

पश्चात्की है। अर्थात् यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं कि दशोपनिषद् ब्राह्मणोंके भाग हैं। यह मान सकते हैं कि भगवद्गीता उनके पश्चात्की या लगभग उसी समयकी है। परन्तु इस वाक्यसे कि 'मार्गशीर्ष पहला महीना और वसन्त पहली ऋतु' यह दिखाई देता है कि भगवद्गीता वेदाङ्ग ज्योतिषके पहलेकी है। पहले यह बतलाया जा चुका है कि वेदाङ्गमें उत्तरायण वसन्तके सम्पातसे न मानकर मकर-संक्रमणसे मानने लगे। वेदाङ्ग-कालमें यह उत्तरायण माघ महीनेमें होता था और इससे ज्योतिषियोंके मतके अनुसार वर्षका प्रारम्भ माघसे होता था। पाँच वर्षका युग मानकर दो अधिक मास इस हिसाबसे सम्मिलित किये गये कि एक मास माघके प्रारम्भमें और एक ढाई वर्षके बाद श्रावणके पहले माना जाय। अर्थात् यह स्पष्ट है कि यदि वर्षका आदि माघ माना जाय, तो ऋतुओंका आदि शिशिर मानना होगा। इस प्रकारकी गणना भारती-कालमें किसी समय थी। यह बात महाभारतके अश्वमेध पर्वके इस श्लोकसे दिखाई पड़ती है—

> अहः पूर्वं ततो रात्रि-
> मासाः शुक्लादयः स्मृताः।
> श्रवणादीनि ऋक्षाणि
> ऋतवः शिशिरादयः॥
> (२ अ० ४४)

इसमें कहा है कि ऋतुओंका प्रारम्भ शिशिरसे होता है। यह श्लोक अनुगीताका है और इसमें दिखाया है कि ऋतुओं तथा महीनोंका प्रारम्भ भिन्न रीतिसे होता है। यहाँ माना गया है कि नक्षत्रोंका प्रारम्भ श्रवणसे होता है। अस्तु। दीक्षितने बतलाया है कि यह काल ईसासे लगभग ४५० वर्ष पूर्वका है। यहाँ यह बतलाता देना समयोचित है कि महाभारतमें अन्य स्थानोंमें महीनोंकी गणना मार्गशीर्षसे आरम्भ की गई है। अनुशासन-पर्वके १०६ वें अध्यायमें यह वर्णन है कि विष्णुके बारह नामोंसे बारह मासतक उपवास करनेका फल क्या होता है। वहाँ भी महीने मार्गशीर्षसे ही आरम्भ किये गये हैं। उसमें यह भी बताया है कि हर महीनेमें एक-भुक्त उपवास करनेसे क्या फल मिलता है। इससे कहना पड़ता है कि सामान्यतः महाभारत-कालतक महीनोंका प्रारम्भ मार्गशीर्षसे होता था। पाराशर गृह्यसूत्रमें कहा है कि मार्गशीर्षकी पूर्णिमाके दिन वर्षकी इष्टि करनी चाहिए। पर वहाँ हेमन्त ऋतुको ही प्रधानता दी गई है; क्योंकि वर्णन ऐसा है कि हेमन्त ऋतुको ही हविर्भाग देना चाहिए। अर्थात् यह स्पष्ट है कि मार्गशीर्ष मासके साथ हेमन्तको आदि ऋतु मानना चाहिए। परन्तु यह एक बड़ा ही आश्चर्य है कि भगवद्गीतामें 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं' कहकर 'ऋतूनां कुसुमाकरः' क्यों कहा? इससे यह अनुमान निकल सकता है कि यह श्लोक ब्राह्मणोंके पश्चात् ही लिखा गया होगा। यह कहना होगा कि यह श्लोक नये महीनोंके प्रचलित होनेके पश्चात् अस्तित्वमें आया और उस समय वैदिक कालकी ऋतुएँ ही प्रचलित थीं। निश्चय यह होता है जब यह श्लोक लिखा गया तब या तो वेदाङ्ग ज्योतिषके माघादि महीने प्रचलित न थे या शिशिरादि ऋतुओंकी गणना ही नहीं की जाती थी।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि वैदिक कालकी ऋतुगणना-प्रचारके समय जब महीनोंके नये नाम प्रचलित हुए, तब चैत्रादि ही प्रचलित क्यों नहीं किये गये? यह सच है कि वैदिक कालमें ऋतुकी गणना वसन्तसे होती थी; परन्तु जिस समय आर्यलोग यमुनाको पारकर दक्षिणमें

सौराष्ट्र प्रान्तमें समुद्रतक बसने लगे, उस समय इस गरम मुल्कमें जाड़ेके दिन विशेष दुखदायी जान पड़े होंगे और मार्गशीर्षसे ही महीनोंका गिनना प्रारम्भ हुआ होगा। निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह परिपाटी बहुत पुरानी है। यह परिपाटी भगवद्गीता, महाभारत, पारस्कर गृह्यसूत्र आदि सभी कहीं पाई जाती है; और तो और, देखने योग्य है, कि वह अमरकोशमें भी दी गई है। अमरकोशमें जो महीनोंके नाम हैं वे मार्गशीर्ष महीनेसे दिये गये हैं। 'मार्गशीर्षः सहामार्ग' आदि श्लोक प्रसिद्ध हैं। साथ ही साथ ऋतुओंके नाम हेमन्तसे ही दिये गये हैं। उसमें 'बाहुलोर्जौ कार्तिकिको' कहकर 'हेमन्तः शिशिरोऽस्त्रियाम्' कहा है, और अन्तमें 'षडमी ऋतवः पुंसि मार्गादीनां युगैः क्रमात्' लिखा है। 'अमर' प्रायः ईसवी सन्‌के पश्चात् हुआ है: पर वह भी चैत्रादि मास नहीं लिखता: इससे मालूम होगा कि जब कोई नई गणना शुरू हो जाती है तब वही बहुत दिनोंतक किस प्रकार जारी रहती है। अलबेरूनीने लिखा है कि उसके समयमें सिन्ध आदि प्रान्तोंमें महीने मार्गशीर्षादि थे। तात्पर्य यह है कि महीनोंके नाम सबसे पहले मार्गशीर्ष आदि पड़े और वे शौरसेनी, सौराष्ट्र आदि प्रदेशोंमें शुरू हुए। यह अवश्य है कि आरम्भमें वैदिक-कालकी ही वसन्तादि ऋतुओंका प्रचार रहा होगा। इस सम्बन्धका भगवद्गीताका वाक्य ई० सन्‌के २००० पूर्वसे ई० सन्‌के १४७० वर्ष पूर्वके बीचका है। इसके अनन्तर वेदाङ्ग ज्योतिषमें माघादि महीने निश्चित हुए और धनिष्ठादि नक्षत्र थे, क्योंकि धनिष्ठामें उदगयन था। इस प्रकार गणितके आधार पर यह काल ई० सन्‌से १४०० वर्ष पूर्वके लगभग निश्चित होता है। अनन्तर एक नक्षत्र पीछे हटकर उदगयन श्रवण पर होने लगा। वह काल गणितसे ई० सन्‌से लगभग ४५० वर्ष पूर्वका निकलता है। उस समयका अनुगीताका 'श्रवणादीनि नक्षत्राणि ऋतवः शिशिरादयः' वाक्य है। अर्थात् उस समय माघादि महीने और शिशिरादि ऋतुएँ थीं। उसके बाद महाभारतके अन्तिम संस्करणका समय है; परन्तु इस समस्त कालमें, भगवद्गीताने जो मार्गशीर्षादि गणना प्रचलित कर दी थी वह भी जारी रही। और साथ ही साथ, ऋतुएँ हेमन्तादि थीं, जैसा कि पारस्कर गृह्यसूत्र तथा अमरकोशमें बताया गया है। इन सब भिन्न भिन्न ग्रन्थोंकी प्रणालीसे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि भगवद्गीताका काल ई० सन्‌से २००० वर्ष पूर्व और १४०० वर्ष पूर्वके मध्यका होगा: अर्थात् वह उपनिषत्-कालके अनन्तर और वेदाङ्ग-ज्योतिषके पूर्वका होगा*।

---

* "मधु आदि महीनोंके नाम ऋतुओंसे सम्बद्ध हैं, पर नक्षत्रोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है," (भारतीय ज्योतिषशास्त्र पृ० ३७)—यह अंश ध्यानमें रखना चाहिए। वैदिक कालमें यद्यपि 'मधुश्च माधवश्च वसन्तः' कहा जाता था, तथापि उस समय इसका मेल चैत्र, वैशाख आदि नाक्षत्र महीनोंसे नहीं था। यह मेल ईसवी सन्‌के प्रारम्भमें उस समयसे हुआ जब कि महीनोंकी गणना चैत्रादि और नक्षत्रोंकी अश्विन्यादि की जाने लगी। उसी समयसे मधुका पर्यायवाची चैत्र निर्दिष्ट हुआ। वैदिक कालमें मधु आदि नाम कृत्तिकादि नक्षत्रोंके साथ प्रचलित थे। अब यह मालूम करना चाहिए कि उस समय वसन्तका नाक्षत्र महीना कौनसा था। यह स्पष्ट है कि वह चैत्रके आगेका होगा। आजकल वसन्त चैत्रके पहले आ गया है। मध्वादि नाम ई० सन्‌से लगभग ५००० वर्ष पूर्वके हैं। और चैत्रादि नाम ई० सन्‌से २००० वर्ष पूर्वके हैं (उपर्युक्त ग्रन्थ, पृष्ठ १४६)। स्पष्ट है कि उस समय मार्गशीर्षमें वसन्त नहीं था; किन्तु वसन्तारम्भ बहुधा वैशाखमें होता होगा। यह भी तर्क हो सकता है कि उस समय मार्गशीर्षादि मासगणना आग्रहायणी पूर्णिमाके मृगशीर्ष नक्षत्रमें हुई होगी, परन्तु इस विषयकी अधिक चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार भगवद्गीताका काल ई० सन्से २००० वर्ष और १५०० वर्ष पूर्वके बीचका निश्चित होता है। यह कदाचित् किसीको असम्भव प्रतीत होगा, पर ऐसा समझनेका कोई कारण नहीं है। यदि शतपथ-ब्राह्मणका काल ई० सन्से ३००० वर्ष और भारती-युद्धका काल ई० सन्से ३१०१ वर्ष पूर्वका है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि भगवद्गीताका वही काल निश्चित है जो ऊपर दिखाया गया है। यदि यह मान लें कि भारती-युद्धके बाद ही व्यासने अपने भारत ग्रन्थकी रचना की और यह भी मान लें कि भगवद्गीता मूल भारत ग्रन्थमें थी, तोभी उसका काल बहुत प्राचीन होना चाहिए *। अब हम यह देखेंगे कि इस निश्चित कालमें अन्य वचनोंसे कौनसी बाधा होती है। भगवद्गीतामें कुछ व्याकरण-विषयक वचन हैं, जैसे "अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च" इस वाक्यमें व्याकरण-विषयक उल्लेख है। इसलिए यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि भगवद्गीता पाणिनिके अनन्तरकी है। पाणिनि कुछ आद्य व्याकरण-कर्त्ता नहीं था। यथार्थमें व्याकरणका अभ्यास तो वेद-कालसे ही जारी था। छान्दोग्य-उपनिषद्में स्वरोंके भेद बतलाये हैं और यह बतलाया है कि उच्चारण कैसे करना चाहिए। "सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्वे ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानः" आदि वर्णन छान्दोग्य प्रपा० २ ख० २२ में है। अर्थात् व्याकरणका अभ्यास और नाम बहुत पुराने हैं। तब इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि भगवद्गीतामें व्याकरणके पारिभाषिक कुछ शब्द जैसे अकार, द्वन्द्व और सामासिक पाये जाते हैं। यह मान्य है कि भगवद्गीता छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंके बादकी है। पर यदि इन उपनिषदों और उनके ब्राह्मणोंका काल बहुत पीछे ठहरता है, तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि ऊपर कहे अनुसार ही भगवद्गीताका काल निश्चित होता है। पहले हम कह चुके हैं कि वैदिक-कालकी मर्यादाको ही बहुत पीछे हटना चाहिए। उसको पीछे न ले जाकर इस ओर खींचनेकी जो प्रवृत्ति पाश्चात्य लोगोंकी है, वह सर्वथा भ्रमपूर्ण है। यदि वेदाङ्ग-ज्योतिष और शतपथका काल सुनिश्चित ज्योतिर्विषयक उल्लेखों और प्रमाणोंसे ही ई० सन्से १४०० और ३००० वर्ष पूर्वके बीच निश्चित होता है, तो यह स्पष्ट है कि उसी प्रकार भगवद्गीताका काल भी पीछे मानना चाहिए। अस्तु; यदि भिन्न भिन्न ग्रन्थोंका काल वादग्रस्त भी मान लिया जाय, तो भी *नीचे बतलाई हुई ग्रन्थोंकी परम्परामें, न तो हमें ही रत्ती भर* कोई संशय है और जहाँतक हम समझते हैं वहाँतक दूसरे किसीको भी संशय न

* यहाँ कुछ और स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। ऐतिहासिक प्रमाणोंका विचार करनेसे भारती-युद्धका काल ईसवी सन् ३१०१ वर्ष पूर्व निश्चित होता है। 'मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः' वाक्यसे भगवद्गीता ईसासे २००० वर्ष पूर्वके समयसे लेकर ईसासे १४०० वर्ष पूर्वके मध्यकालकी निश्चित होती है। यहाँ प्रश्न यह उठता है—यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवद्गीता भारती-युद्ध-कालके व्यासकी ही है? इसी लिए हम भगवद्गीताको व्यासकी अथवा वैशम्पायनकी कहते हैं। हमारी रायमें भारती-युद्धका काल बदला नहीं जा सकता। भारती-युद्धसे और ऋग्वेद रचना या व्यवस्थासे व्यासको अलग भी नहीं कर सकते। तब तो यही मानना चाहिए कि वैशम्पायन व्यासका प्रत्यक्ष शिष्य नहीं था, किन्तु व्यासके कई शतकोंके बाद हुआ होगा। सौति कहता है कि मैंने वैशम्पायनको महाभारत पठन करते सुना; परन्तु हम यह देख चुके हैं कि सौति वैशम्पायनके कई शतकोंके बाद हुआ है। इसी न्यायसे यह मानना पड़ेगा कि वैशम्पायन भी व्यासके कई शतकोंके पश्चात् हुआ होगा। यहाँ *यह कहना भी ठीक है कि हमें व्यासका भारत या उनके* प्रत्यक्ष शब्द वैशम्पायनके मुखसे ही सुनाई देते हैं।

होगा । हमारा अनुमान है कि इसमें प्रायः सभी हमसे सहमत होंगे । वह परम्परा यह है:—सबसे पहले ऋग्वेद-संहिताकी रचना, तत्पश्चात् भारती-युद्ध, तदनन्तर शतपथ-ब्राह्मणके पहले दस खण्ड, इसके उपरान्त बृहदारण्य आदि दशोपनिषद्, फिर भगवद्गीता, तदनन्तर वेदाङ्ग-ज्योतिष, व्यासका निरुक्त और पाणिनिका व्याकरण; इसके बाद वर्तमान महाभारत, फिर पतञ्जलिका योग-सूत्र तथा बादरायणका वेदान्त-सूत्र । इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थोंकी परम्परा स्थिर होती है । इन ग्रन्थोंके भिन्न भिन्न स्थलोंके विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें यह शीघ्र आ जायगा कि आधुनिक उपलब्ध साधनोंकी परिस्थितिमें यह परम्परा ठीक जँचती है । पतञ्जलिके महाभाष्यसे पतञ्जलिका काल ई० सन्से लगभग १५० वर्ष पूर्वका निश्चित होता है, और इसी हिसाबसे शेष ग्रन्थोंका काल पूर्वातिपूर्व मानना चाहिए ।

भगवद्गीताकी भाषा ।

भगवद्गीताके सम्बन्धमें अभीतक हमने ग्रन्थ, कर्त्ता और कालके विषयमें विवेचन किया है । अब हम भगवद्गीताकी भाषाके सम्बन्धमें कुछ अधिक विचार करेंगे । हम अन्यत्र कह चुके हैं कि महाभारतकी भाषासे भगवद्गीताकी भाषा अधिक सरल, जोरदार और गम्भीर है । जिस प्रकार कालकी दृष्टिसे भगवद्गीता उपनिषदोंके अनन्तरकी और समीपकी ही है, उसी प्रकार भाषाकी दृष्टिसे यह भी दिखाई देता है कि भगवद्गीता उपनिषदोंके पश्चात्की और उपनिषदोंके समीपकी ही है । इस भाषामें क्रियाओंके पूर्ण प्रयोग हमेशा आते हैं और उसमें धातु-साधनका उपयोग नहीं दिखाई देता । समासमें पद बहुत ही थोड़े और छोटे हैं । समस्त विवेचन बोलनेकी भाषाके सदृश सरल भाषामें तथा गूढ़ार्थ रहित है । महाभारतके अनेक स्थलोंमें गूढ़ार्थ श्लोक हैं, इतना ही नहीं किन्तु कई स्थानोंमें गूढ़ार्थ शब्द भी प्रयुक्त किये गये हैं । यह स्पष्ट है कि बोलनेकी भाषामें इस प्रकारके शब्दोंका उपयोग कभी नहीं किया जाता । महाभारतके और किसी तत्वज्ञान विषयक उपाख्यानमें ऐसी सरल और प्रसाद-गुणयुक्त भाषा नहीं है । शान्ति पर्वके अनेक तत्व-ज्ञान-विषयक सम्भाषणों, आख्यानों और सनत्सुजात अथवा धर्मव्याध-संवादको पढ़ते समय विषय और भाषा दोनोंकी क्लिष्टता अनुभव होती है । परन्तु भगवद्गीतामें ऐसा बिलकुल नहीं होता । भगवद्गीतामें यह भी प्रवृत्ति कहीं नहीं देख पड़ती कि विषयको सूक्ष्मतया छानकर उसके भिन्न भिन्न अंश, भेद और बिलकुल कच्चे विभाग कर दिये गये हों । बुद्धिमान् पाठकके ध्यानमें यह बात अवश्य आवेगी कि हर एक विषयका प्रतिपादन गीतामें उपनिषद्के तुल्य ही किया गया है; हर एक विषयका कथन व्यापक-दृष्टिसे मुख्य सिद्धान्त पर ध्यान देकर किया गया है, न कि निरर्थक लम्बा चौड़ा विस्तार करके या सूत्रमय रूपसे थोड़ेमें ही । सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि जिस प्रकार उपनिषदोंमें वक्तृता-पूर्ण भाषाकी छाया हमारे मन पर पड़ती है, उसी प्रकार भगवद्गीतामें भी भाषाकी वक्तृता नजर आती है । यह ध्यानमें रखना चाहिए कि मृत भाषामें वक्तृता कभी नहीं रह सकती । यह बात अति स्वाभाविक है कि मस्तिष्कमें जब विषय भरा रहता है, तब सहज-स्फूर्तिका प्रवाह जीती भाषाके द्वारा ही

अच्छा दौड़ सकता है। अतएव हमारा यह मत है कि जिस समय संस्कृत भाषा जीती थी उसी समय भगवद्गीता बनी होगी। इसके सम्बन्धमें थोड़ासा विचार यहाँ और करना चाहिए।

यह निर्विवाद है कि जब महाभारत-ग्रन्थ बना उस समय संस्कृत भाषा मृत थी। इतिहास पर दृष्टि-पात करनेसे हम कह सकते हैं कि बुद्धके कालमें यानी ई० सन्से लगभग ५०० वर्ष पूर्व अथवा इस समयके कुछ और पूर्व सामान्य जनसमूह-की बोल-चालकी भाषा संस्कृत न थी। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह कितने वर्ष पूर्व मृत हो गई थी। पाणिनि ई० सनसे लगभग ८००-९०० वर्ष पूर्व हुआ। उस समय सभी लोग संस्कृत भाषा बोलते थे। पाणिनिके समय 'संस्कृत' तथा 'प्राकृत' शब्द ही न थे। उसने तो 'संस्कृत' के लिए 'भाषा' शब्द-का उपयोग किया है। अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि पाणिनिके समयमें संस्कृत भाषा जिन्दा थी। हमने यह निश्चित किया है कि भगवद्गीता पाणिनिके हजार या आठ सौ वर्ष पूर्व लिखी गई है। अर्थात् ऐसा न मानना चाहिए कि पाणिनिके व्याकरणकी दृष्टि-से भगवद्गीतामें जो थोड़ेसे अप-प्रयोग हैं वे गलत हैं। उन्हें गलत कहना ठीक वैसा ही होगा जैसे कोई भाषा-भास्करके आधार पर पृथ्वीराज रासोकी गल-तियाँ निकालनेकी चेष्टा करे। वैसे तो पाणिनिके आधार पर दशोपनिषदोंमें भी गलतियाँ दिखाई जा सकती हैं। कठोप-निषद्का ही पहला अध्याय लीजिए। पाणिनिके अनुसार उसके 'प्रते ब्रवीमि', 'तदुमे निबोध' पदोंमें 'प्र' व्यर्थ कहा जायगा। ऐसे ही यह कहा जायगा कि 'प्रवृह्य धर्ममणुमेत माप्य' में 'आप्य' का प्रयोग, या 'नाचिकेतं शकेमहि' में 'शके-महि' का प्रयोग, या 'गूढोत्मा न प्रका-शते' में 'गूढोत्मा' सन्धि गलत है। सारांश, भगवद्गीता पाणिनिके बहुत समय पूर्वकी है, इसलिए उसकी भाषा-को केवल पाणिनीय-व्याकरणकी दृष्टिसे देखना ठीक नहीं। हमारी समझमें जैसी दशोपनिषदोंकी भाषा है, वैसी ही स्वतन्त्र तथा अधिक सरल भगवद्गीताकी भी भाषा है।

भाषा-शास्त्रके जाननेवालोंका कथन है कि दो सौ या चार सौ वर्षके बाद भाषामें फर्क पड़ता ही है। और, यह बात मराठी तथा हिन्दी भाषाओंके इति-हाससे हमें दिखाई पड़ती है। यहाँ भाषा-शास्त्रज्ञ यह प्रश्न उपस्थित करेंगे कि जब ऐसा है तब महाभारत और भगवद्गीताकी भाषामें इतना फर्क क्यों नहीं दिखाई देता? निस्सन्देह यह विचारणीय है। पाश्चात्य पण्डित समस्त वैदिक साहित्य-को जिन कारणोंसे निकट भूतकालका बतलाते हैं उनमेंसे एक कारण यह भी है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उन लोगोंकी कल्पना बिलकुल गलत है, तथापि हमें दो तीन बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि जब भाषा मृत हो जाती है तब उसका स्वरूप बिलकुल नहीं बदलता। वह भाषा केवल पण्डितोंके बोलने और लिखनेकी भाषा बन जाती है और उस भाषामें जो आप्त व्याकरण होता है उसी व्याकरणके अनु-सार सब वाग्व्यवहार होता है। यह स्पष्ट है कि यदि उस भाषाका कोई आप्त व्याकरण न हो, तो वह भाषा मृत होने पर पुनः लिखी भी न जायगी। जो भाषाएँ संस्कृत होकर इतनी उन्नत अवस्थाको पहुँच जाती हैं कि जिनसे उनका व्याकरण बन सकता है, वे ही मृत दशामें भी

पण्डितोंके लेखोंमें जिन्दा रहती हैं। परंतु यह स्पष्ट है कि ऐसे पण्डितोंको लिखते लिखते हजारों वर्ष बीत जायँ, तोभी लेख-प्रणालीमें कोई अन्तर नहीं होता। उदाहरणार्थ, लैटिन भाषामें ग्रन्थ-रचना न केवल मिल्टन और बेकनके ही समयतक होती रही किन्तु अभीतक होती है। अर्थात् लैटिन भाषाके मर जाने पर भी १२००-१६०० वर्षतक वह लिखी जा रही है। इतना ही नहीं, उसमें ग्रन्थ-रचनाके कारण मिल्टनकी ऐसी तारीफ की जाती है कि वह लैटिन भाषाके प्रसिद्ध कवि वर्जिलके सदृश भाषा लिखता था। यही हाल संस्कृत भाषाका भी है। लोगोंकी बोलचालसे संस्कृतका लोप हो जानेके बाद सौतिने महाभारत बनाया है, इसलिए उसकी भाषामें और भगवद्गीताकी भाषामें बहुत अन्तर नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थकार जितना विद्वान् होगा, उसकी भाषा भी उतनी ही पूर्वकालीन ग्रन्थोंके सदृश होगी। इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध है कि पाणिनिके व्याकरणके अनन्तर तथा बुद्धके अनन्तर जितना संस्कृत-साहित्य बना है, और जो अच्छा होनेके कारण आजतक स्थित है, वह अधिकांशमें पाणिनिकी भाषाके अनुसार ही है। इसी कारण संस्कृत साहित्यकी भाषामें विशेष भेद हमें नहीं दिखाई देता, और उसमें भाषाकी वृद्धिका सिद्धान्त अधिकांशमें प्रयुक्त नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि जिस भाषाका व्याकरण नहीं बना है, वह भाषा बहुत शीघ्र बदलती है; और जो भाषा प्रौढ़ हो जाती है तथा जिसका व्याकरण बन जाता है, विशेषतः जिसका कोश भी बन जाता है, उसमें शनैः शनैः अन्तर होता है, एकदम नहीं। भाषाके बढ़ने और घटनेके और भी अनेक कारण हैं जिनका उल्लेख, विस्तार-भयसे, यहाँ नहीं किया जा सकता। इन्हीं सब बातोंकी दृष्टिसे संस्कृत भाषाको देखना चाहिए। ऋग्वेद-कालकी भाषा ब्राह्मण-कालकी भाषासे भिन्न है और तभी अधिकांशमें वह दुर्बोध हो गई थी। यहाँतक कि ब्राह्मणोंमें जगह जगह पर ऋग्वेदकी ऋचाओंका अर्थ बतानेका प्रयत्न किया गया है। ब्राह्मणोंकी भाषामें और दशोपनिषदोंकी भाषामें अन्तर देख पड़ता है, परन्तु बहुत अधिक नहीं; क्योंकि ब्राह्मणकालमें व्याकरण और कोशका अभ्यास शुरू हो गया था। व्याकरणके बहुतेरे नियम ढूँढ़े गये थे और तैयार भी हो गये थे। उपनिषदोंकी और भगवद्गीताकी भाषामें जो थोड़ा अन्तर है उसका कारण भी यही है; तथा भगवद्गीता और पाणिनीय भाषामें भी थोड़ा फरक है। इस बातका कोई इतिहास नहीं पाया जाता कि इस अवधिमें भरतखण्ड पर किसी विदेशीकी चढ़ाई हुई या किसी अन्य भाषाकी प्रभुता हुई। अर्थात् भाषामें प्रारम्भमें शीघ्रतासे बहुत अधिक फरक नहीं हुआ। इस दृष्टिसे देखने पर मालूम होता है कि पाश्चात्य भाषा-शास्त्रकार भाषामें फरक पड़नेकी अवधि जो दो दो सौ वर्षकी बताते हैं वह कदापि ठीक नहीं। यह काल और भी अधिक होना चाहिए। वेदाङ्ग ज्योतिषमें और पाणिनीय भाषामें यद्यपि बहुत अधिक फरक नहीं है, तथापि यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनमें छः सौ वर्षका अन्तर है। इसी दृष्टिसे भगवद्गीताकी भाषामें और पाणिनीय भाषामें आठ सौ वर्षका अन्तर मानना असम्भव नहीं।

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते॥

छान्दोग्य उपनिषद्के इस श्लोकको

पढ़कर बहुतेरे लोग समझते हैं कि यह तो संस्कृत भाषाका बिलकुल ठीक श्लोक है, फिर इतना पुराना कैसे हो सकता है? परन्तु उन्हें चाहिए कि वे उक्त सब बातोंकी ओर ध्यान दें। एक बात तो यह है कि ई० स०से ६०० वर्षके पूर्व संस्कृत भाषाका बोलनेमें प्रचार सामान्यतः बन्द हो गया, और पाणिनिके प्रसिद्ध तथा वैदिक मान्य व्याकरणसे उसे जो स्वरूप मिला है वह ढाई हजार वर्षसे आजतक स्थिर है। इसके पहले वेदांग-कालमें फरक नहीं हुआ; क्योंकि भाषामें अनेक व्याकरण उत्पन्न हुए जिनसे उसका अधिकांश स्वरूप स्थायी हो गया था। तोभी ऐसा दिखाई पड़ता है कि दशोपनिषदोंकी भाषामें और वेदाङ्ग कालीन भाषामें थोड़ा फरक है, और यह फरक हजार या आठ सौ वर्षोंका भी हो सकता है। भगवद्गीता इसी मध्य कालकी है और उसका स्वरूप पूर्णतया बोलनेकी भाषाका है। समस्त महाभारतकी भाषाके समान कृत्रिम स्वरूप नहीं दिखाई देता। भगवद्गीतामें विषयके प्रतिपादनकी रीति तथा भाषाका वक्तृत्व बोलनेकी जिन्दा भाषाका है और वह विशेषतः छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदोंके समान है। भाषाकी दृष्टिसे भी हमने भगवद्गीताको उपनिषदोंके अनन्तर और वेदाङ्गों या यास्क अथवा पाणिनिके पूर्वका माना है। यह कहनेमें कुछ हर्ज नहीं कि हमारा ऐसा मानना अनुचित नहीं है।

भगवद्गीताके समयकी परिस्थिति।

अब हम इस विचारके अन्तिम प्रश्नकी ओर ध्यान देंगे। हमें इन प्रश्नोंका विचार करना जरूरी है कि भगवद्गीतामें श्रीकृष्णके कौनसे विशिष्ट मत हमें दिखाई देते हैं। श्रीकृष्णके चरित्रमें और भगवद्गीतामें दिये हुए उनके विचारोंमें मेल है या नहीं। तथा श्रीकृष्णका चरित्र और भगवद्गीताका परम तत्व दोनों कैसे उच्चतम और कैसे उदात्त हैं। भगवद्गीतामें मुख्यतः किस विषयका प्रतिपादन किया गया है। इसके लिए हमें श्रीकृष्णके समयकी और भगवद्गीताके समयकी परिस्थितिका थोड़ासा पूर्व स्वरूप ध्यानमें लाना चाहिए। श्रीकृष्णके अवतारके समय भारतीय आर्य हिन्दुस्थानके पञ्जाब, मध्यदेश, अयोध्या, सौराष्ट्र आदि प्रान्तोंमें बस चुके थे; उनकी उत्तम धार्मिक व्यवस्थाके कारण सब प्रकारकी उन्नति हुई थी; देशमें क्षत्रियोंकी संख्या बहुत ही बढ़ गई थी। जहाँ-तहाँ सुराज्य स्थापित हो गया था तथा रहन-सहन सुव्यवस्थित हो गया था, जिससे सम्पूर्ण देश प्रजावृद्धिसे भरपूर था। दक्षिण और पूर्वके द्रविड़ देशोंमें द्राविड़ोंकी संख्या पूरी पूरी बढ़ी थी। वहाँ अधिक बढ़नेके लिए स्थान नहीं था। लोगोंकी नीतिमत्ता उत्तम होनेके कारण आपसमें वैरभाव अथवा रोगोंकी उत्पत्ति कम थी। अर्थात् जिस प्रकार अभी महायुद्धके पहले यूरोपके देशोंकी स्थिति हुई थी उसी प्रकार थोड़ी अधिक स्थिति श्रीकृष्णके जन्मके समय हुई थी। जो यह वर्णन दिया है कि ब्रह्माको चिन्ता हुई कि पृथ्वीका भार कैसे कम होगा, वह कुछ असत्य नहीं है। हम विस्तारपूर्वक बतावेंगे कि ऐसे समयमें श्रीकृष्णके अवतारकी तथा उनके दिव्य उपदेशकी कितनी अधिक आवश्यकता थी।

राष्ट्रोंकी उच्च और नीच गति।

कोई देश कभी उन्नतिके परमोच्च पद पर सदैव नहीं रह सकता। उच्च शिखर पर पहुँचनेके बाद, घूमते हुए चक्रका नीचेकी ओर आना जैसे अपरिहार्य है;

वैसे ही उच्च-नीच गतिका प्रकार, इस जगत्में, हमेशाके लिए बना रहेगा। जिस प्रकार अभी हालमें सुधारके शिखर पर पहुँचे हुए यूरोप महाद्वीपमें एक मनुष्यके दुराग्रहसे भयङ्कर रणसंग्राम मचा था, वैसे ही नीति, शौर्य, विद्या आदिमें सुसंस्कृत हो परमोच्च पदको पहुँचे हुए प्राचीन भारतवर्षमें, श्रीकृष्णके समयमें भी, एक मनुष्यके हठसे भयङ्कर युद्धका प्रसङ्ग आ पड़ा और उस युद्धसे भारतवर्षकी अवनतिका आरम्भ हुआ। हमारी यह धारणा है कि भारती-युद्धसे कलियुगका आरम्भ हुआ और युद्धमें ही कलियुगका बीज है। हजारों नहीं, लाखों मनुष्य अपनी शूरता तथा विद्याके कारण उस युद्धमें मृत्युको प्राप्त हुए और देशकी मनुष्य-संख्या घट गई। यद्यपि एक दृष्टिसे यह बात कुछ लाभदायक हुई, तथापि अन्य दृष्टिसे दुर्बलता तथा उसकी अनुगामिनी अनीतिका वर्चस्व देशमें शनैः शनैः फैलने लगा। भारतीय आर्यगण जिस परमोच्च पद पर पहुँचे थे उसके लोपकी कुछ अधिक मीमांसा करनी चाहिए; क्योंकि इसीमें श्रीकृष्णके दिव्य चरित्र तथा उपदेशका रहस्य छिपा हुआ है।

प्रवृत्ति और निवृत्तिका उचित उपयोग।

इस बातको अधिक बढ़ाकर कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि किसी देशकी सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक उन्नति सब प्रकारसे होनेके लिए उस देशके लोगोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंका उपयोग योग्य रीतिसे होना चाहिए। यदि इन वृत्तियोंके यथायोग्य स्वीकार करनेमें कुछ अन्तर पड़ जाय तो समाज हीनावस्थाकी ओर झुक जाता है। जब कोई समाज केवल प्रवृत्ति-परायण बन जाता है, या उसमें निवृत्तिका ही बड़ा आडम्बर होता है, या जो शुष्क निवृत्तिके चक्करमें पड़ जाता है तब वह समाज अधोगामी होने लगता है। जो समाज या व्यक्ति भौतिक सुखमें लिप्त हो जाता है उसकी अवनति अवश्यम्भावी होती है। इसके विपरीत इच्छारहित या आशारहित अवस्थामें रहना समाज या व्यक्तिके लिए सम्भव नहीं। सारांश, मनुष्यको चाहिए कि वह अपनी उन्नतिके लिए आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों गुणोंका उचित उपयोग करे। भारतीय आर्योंमें उस समय उत्साह, तेज, उद्योग, साहस आदि आधिभौतिक अथवा प्रवृत्तिके सद्गुण तथा धर्म, नीति, तप, अनासक्तता आदि आध्यात्मिक अथवा निवृत्तिके सद्गुण एक समान थे। और, इसीसे वे उस समय उन्नतिके परमोच्च शिखर पर पहुँचे थे। परन्तु भारती-युद्धके समय इन गुणोंकी समानतामें कुछ फरक पड़ गया। एक ओर प्रवृत्तिकी प्रबलता हुई तो दूसरी ओर निवृत्तिका आडम्बर होने लगा। प्रवृत्तिकी प्रबलताका पहला परिणाम लोभ है। ऐसे समय मनुष्यमें यह इच्छा पैदा होती है कि जगतकी हर एक वस्तु मुझे मिलनी चाहिए। वह मानने लगता है कि जगतमें जितना धन है, जितनी भूमि है और जितने रत्न हैं वे सब मेरे हो जायँ।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

इस प्रसिद्ध श्लोकमें मर्मज्ञ व्यासने जो उपदेश दिया है उसके अनुसार, यदि जगतके सब उपभोग्य पदार्थ एकको ही मिल जायँ तो भी वे पूरे न पड़ेंगे; इसलिए यह बात जानकर मनुष्यको उचित है कि वह शमप्रधान वृत्तिसे रहे। परन्तु

यह विचार लोगोंके हृदयसे, विशेषतः राजा लोगोंके हृदयसे, निकल जाता है और उन्हें यह लालसा लगी रहती है कि सब प्रकारकी उपभोग्य वस्तुओंकी जननी भूमि हमारी हो जाय। इस लालसाके बाद धीरे धीरे अन्य दुष्ट विचारोंका प्रचार समाजमें होने लगता है। महत्वाकांक्षा, कपट, जुल्म आदि राक्षसी दुर्गुणोंका साम्राज्य शुरू हो जाता है और अन्तमें वैर पैदा होने पर समाज अथवा राष्ट्रका नाश हो जाता है।

भारती-युद्धकालीन परिस्थिति।

पृथ्वीका भार कम करनेके लिए और तदनुसार भारती-आर्योंका नाश करनेके लिए, विधाताने आर्यभूमिमें लोभका बीज बो दिया और तीन जगहोंमें नाशके केन्द्र-स्थान बना दिये। कंस, जरासन्ध और दुर्योधन ये तीन लोभी और महत्वाकांक्षी व्यक्ति उत्पन्न कर उसने अपना इष्ट कार्य सिद्ध किया। लोभ और महत्वाकांक्षाके चक्करमें आकर, कंसने, औरङ्गज़ेबके समान, बापको कैद किया और राज्य छीन लिया। इस दुष्ट कार्यके मण्डनके लिए उसने अपने पिताके पक्षके लोगों पर अत्याचार किये। सैंकड़ों क्षत्रियोंको कैदमें डालकर जरासन्धने परम ऐश्वर्य प्राप्त करनेके हेतु उनका पुरुषमेध करनेका विचार किया। दुर्योधनने पाण्डवोंकी संपत्ति और राज्य द्यूतमें छीन लिया, और प्रणके अनुसार जब लौटा देनेका समय आया तब साफ कह दिया कि सूईकी नोकसे जितनी मिट्टी निकले उतनी मिट्टी भी मैं देनेको तैयार नहीं हूँ। अर्थात् भयंकर रण-संग्राम मच गया और लाखों मनुष्योंकी हानि हुई। लोभको जब बल और संपत्तिकी सहायता मिलती है, तब रण बड़े ही भयानक हो जाते हैं। साथ ही साथ यदि दोनों पक्षोंकी तैयारी ऊँचे दर्जेकी हो, तथा शौर्यादि गुण समान हों, तो ये युद्ध कितने हानिकर होते हैं, इसका अनुभव संसारको प्राचीन कालसे लेकर आधुनिक यूरोपीय महा-युद्धतक हो रहा है। अँग्रेज़ीमें यह एक कहावत है कि, When greek fights greek, then the tug of war is terrible. इसी कारण भारती-युद्धमें १८ अक्षौहिणी सेनाओंमेंसे दस ही आदमी जिंदा बचे। तात्पर्य यह कि ब्रह्माने या निसर्गने लोभरूपी विषका बीज बोकर, भारतीय आर्योंके नाशका प्रारंभ किया। स्मरण रखना चाहिए कि इस विलक्षण प्रसंगमें श्रीकृष्णका अवतार हुआ था। प्रवृत्तिके अधीन हो, लोभ और महत्वा-कांक्षाके पंजेमें फँस, आपसमें रणसंग्राम होनेके समय, निर्लोभताका उदात्त आदर्श दिखानेके लिए तथा बुद्धि, पराक्रम और क्षिप्र-कारित्वसे सत्यका पक्ष सँभालनेके लिए, श्रीकृष्ण उस समय संसारमें उपस्थित हुए थे। निर्लोभ-वृत्तिके ऐसे उदाहरण इतिहासमें बहुत थोड़े मिलेंगे। निर्लोभताका जो काम वाशिंगटनने अमेरिकामें स्वतंत्रताके युद्धके समय किया था, या आगे युनाइटेडस्टेट्सके दक्षिण और उत्तर भागमें दासत्व नष्ट करनेके लिए आपसमें जो संग्राम हुए और उस समय सत्पक्षनिष्ठ और निश्चयी अब्रहाम लिंकनने जो कार्य किया था, उसी प्रकारका, नहीं नहीं, उससे कहीं उदात्त कार्य श्रीकृष्णको राजनैतिक हलचलमें करना पड़ा था। इसपर लक्ष्य करनेसे श्रीकृष्णके राजनैतिक कार्यका महत्व शीघ्र मालूम हो जायगा।

निवृत्तिका निरोध।

एक ओर जिस प्रकार राजनैतिक विषयमें श्रीकृष्णको प्रवृत्ति-परायण लोगों-

के समाजको निवृत्तिका पाठ सिखलानेका महत्वपूर्ण कार्य करना पड़ा, उसी प्रकार उन्हें दूसरी ओर उलटी दिशामें बहती हुई निवृत्तिकी बाढ़को भी बाँधना पड़ा। उस समय निवृत्तिमें कोरा आडम्बर कैसा दिखाई देता था तथा समस्त धार्मिक बातोंमें लोगोंकी कैसी कमसमझी थी, यह बात यहाँ विस्तारपूर्वक दिखाई जाती है। श्रीकृष्णका समय औपनिषद्-विचारोंका समय है। अतः श्रीकृष्ण द्वारा उपदेश की हुई दिव्य भगवद्गीताका ठीक रहस्य समझनेके लिये, यह देखना चाहिए कि उस समय कौनसी धार्मिक कल्पनाएँ प्रचलित थीं। उस समय मुख्यतः वेद, वेदान्त, सांख्य तथा योग मत प्रचलित थे: और हर एक मत सभी बातोंको अपनी ओर खींच रहा था। यद्यपि इन मतोंके वर्तमान सूत्र-ग्रन्थ अभीतक निर्माण नहीं हुए थे तथापि ये मत उनके मुख्य सिद्धान्तोंके साथ प्रस्थापित हुए थे और वे एक दूसरेका निषेध करके अपनी बात सिद्ध करते थे। कुछ लोग कहते थे कि मनुष्यको चाहिए, कि वह वेदमें बतलाये हुए यज्ञयागादि कर्म ही करे और स्वर्ग प्राप्त करे। कुछ लोग कहते थे कि कर्म बिलकुल नहीं करना चाहिए: परन्तु बृहदारण्यकके "पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" इन वचनोंके अनुसार संसार छोड़कर मनुष्य जङ्गलमें चला जाय। जब इस प्रकारका वाद पढ़े-लिखे लोगोंमें हो रहा था, तब बहुजन समाजको विशेषतः मिश्र समाजको तथा शूद्रोंको किसीका आधार न रह गया। उनके लिए न तो वैदिक कर्म करना ही सम्भव था और न औपनिषदिक संन्यास-मार्ग ही खुला था। ऐसी परिस्थितिमें श्रीकृष्णने भगवद्गीताका दिव्य उपदेश देकर एक ओर कर्मका आडम्बर तोड़ा और दूसरी ओर निवृत्तिका, अर्थात् भ्रान्त निवृत्तिका आडम्बर तोड़ा और **सब लोगोंके लिए सुगम** नवीन भक्ति-मार्ग पतिपादित किया। समाजकी इस परिस्थितिका स्वरूप पाठकोंके ध्यानमें ठीक ठीक लानेके लिए इस सिद्धान्तका हम कुछ और ऐतिहासिक विवेचन करेंगे।

वैदिक आर्योंका स्वभाव।

ऋग्वेदकी अनेक ऋचाओंसे स्पष्ट दिखाई देता है कि प्राचीन भारती आर्योंकी मानसिक स्थिति उस समय कैसी थी जब कि वे पहलेपहल हिन्दुस्थानमें आये थे। ऋग्वेद-कालीन आर्योंमें नई शक्ति और नया जोश था। वे प्रसन्नमन, शूरवीर तथा संसारकी उपभोग्य वस्तुओंका उचित उपयोग करनेवाले थे। वे इन्द्र, वरुण आदि देवताओंसे सुन्दर स्त्रियाँ, वीर पुत्र और ताकतवर घोड़े माँगते थे। वे स्वयं सोमरस पीते और अपने प्रिय देवताओंको भी सोमरस पीनेके लिए आह्वान करते थे। वे स्वयं मांस खाते और यज्ञमें पशुको मारकर देवताओंको मांस अर्पण करते थे। उनका अन्तिम उद्देश स्वर्ग था। और, वह स्वर्ग भी सुख एवं ऐश्वर्य भोगनेका स्थान था। सारांश, पहलेपहलके आर्य प्रवृत्तिके भोक्ता थे, तथापि उनमें निवृत्तिके बीजका बिलकुल ही अभाव न था। हमें यह इसलिए मालूम होता है कि कई एक वैदिक ऋचाओंमें उनकी निवृत्ति-प्रधान प्रार्थनाएँ हमारे सामने उपस्थित हैं। हिन्दुस्थानमें भारतीय आर्योंके आने पर गंगा और सरस्वतीके बीचकी ब्रह्म-भूमिमें इसी निवृत्तिके बीजसे विशाल वृक्ष उत्पन्न हुआ, जिसमें औपनिषदिक विचार-रूपी अत्यन्त मनोहर और रसपूर्ण फल लगे।

उन्हें यह देख पड़ा कि समस्त विश्व नश्वर है। अधिक तो क्या, स्वर्ग भी नश्वर है। इससे उनका प्रेम तप और आरण्य-वाससे आ लगा। यज्ञका मार्ग उन्होंने त्यागा नहीं; पर यज्ञके साथ ही साथ तपको भी उन्होंने महत्व दिया। वे स्वर्गकी अपेक्षा मोक्षको ही परम पुरुषार्थका स्थान मानने लगे। पहले वे कहते थे कि सारी सृष्टि यज्ञ कर रही है तथा प्रजापति भी यज्ञ कर रहा है। अब उनकी भावना ऐसी हुई कि सारी सृष्टि, प्रजापति तथा इन्द्र सभी तप करते हैं। उन्हें दिखाई देने लगा कि समस्त उपभोग्य वस्तुओंका त्याग और सब कर्मोंका संन्यास ही मोक्षका उपाय है। वे कहने लगे कि किसी वस्तुकी इच्छा करना दरिद्रता स्वीकृत करना है तथा किसीकी इच्छा न करना ऐश्वर्यकी परमावधि है। सारांश, वेदान्ती तत्ववेत्ता मानने लगे कि संसारको छोड़ जंगलमें जाकर शम-प्रधान बुद्धिसे अकाम-स्थितिमें रहना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। उनका निश्चय हो गया कि आशिष्ठ, द्रढ़िष्ठ तथा बलिष्ठ सार्वभौम राजाको जो सुख मिलता है उससे हज़ार गुना अधिक सुख अकामहत श्रोत्रियको मिलता है। यह कल्पना वेदान्तियोंकी ही न थी, वरन् स्वतन्त्र रीतिसे जगत्की उत्पत्तिका विचार करनेवाले कपिलादि द्वैतमत-वादियोंकी भी यही कल्पना थी। संक्षेपमें कहना होगा कि मन्त्र-कालमें कर्म-वादियों-की प्रवृत्ति-परायणता परमावधिको पहुँच चुकी थी, तो उपनिषद्-कालमें निवृत्ति-वादियोंकी निवृत्ति-परायणताका शिखर ऊँचा होने लगा।

संसारमें प्रवृत्ति तथा निवृत्तिका आन्दोलन।

संसारके इतिहासकी ओर देखनेसे ज्ञान हो जायगा कि मनुष्य-समाज इसी प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्तिके बीचमें झकोरे खाता हुआ चला आता है। घड़ीके लंगर कन (पैण्डुलम) के समान वह एक बार प्रवृत्तिके परम शिखर पर पहुँच जाता है और वहाँसे लौटकर आन्दोलित हो निवृत्ति-की ओर झुकता है; तब निवृत्तिके पर-मोच्च बिन्दुको पहुँचकर वह फिर आन्दो-लित हो प्रवृत्तिकी ओर घूमता है। आजतक यही अनुभव इतिहासमें सब कहीं दिखाई देता है। ग्रीक लोगोंमें होमरके समय प्रवृत्तिकी पूर्ण प्रबलता थी। वह धीरे धीरे घटती गई और पायथागोरसके समयमें लोग निवृत्ति-की ओर झुके। पायथागोरसके अनु-यायिओंने मद्यमांस ही नहीं छोड़ा, बल्कि वे विवाह करना भी श्रेयस्कर नहीं मानते थे। इस वृत्तिकी यहाँतक परमावधि हुई कि डायोजेनिसने सर्वसंग-परित्याग कर जन्म भर एकान्तवास किया। एपि-क्यूरसने मनुष्यकी स्वभावोचित रीतिसे उसकी उलटी दिशामें जानेका प्रारंभ किया। उसका मत था कि निसर्गसे प्राप्त होनेवाले सुखोंको सदाचरणके साथ भोग-कर मनुष्यको चाहिए कि वह आनन्दसे अपने दिन व्यतीत करे। धीरे धीरे यह मत भी इतना प्रबल हो गया कि लोग प्रवृत्तिके दूसरे छोरको पहुँचे और सुखोप-भोगको ही जीवनका इतिकर्त्तव्य मानने लगे। इस प्रकार ग्रीक लोग और उनके अनुगामी रोमन लोग ऐशो-आराममें चूर हो गये। उनकी विषयलोलुपताके कारण हो ईसाके धर्मको फैलनेका मौका मिल गया। उस समय ईसाई-धर्ममें निवृत्तिका आडंबर घुस पड़ा था। ईसाई लोग विवाह न करना प्रशंसनीय मानने लगे थे। उनका यह प्रबन्ध था कि निदान मनुष्य मृत्यु पर्यन्त एक ही स्त्री करे और

उसका त्याग न करे। इसी प्रकार उनमें आजन्म अविवाहित रहनेवाले और शारीरिक तप करके आध्यात्मिक सामर्थ्य-को बढ़ानेवाले संन्यासी अथवा मांक (monk) होने लगे थे। इन्द्रियों पर जय प्राप्त करनेवाले तपस्वीका मनोनिग्रह इंद्रियाधीनों पर हमेशा जय लाभ करता है। अर्थात् निवृत्ति-प्रधान ईसाई धर्मकी प्रभुता, सब प्रकारकी अनीतिसे बिगड़े हुए ग्रीक और रोमन लोगों पर, सहज ही प्रस्थापित हो गई और उनमें ईसाई धर्म बहुत शीघ्र फैल गया।

यह निवृत्ति-प्रधान वृत्ति मूलतः ईसाई धर्ममें नहीं थी। ईसाका मत ज्यू लोगोंके निवृत्तिपूर्ण आचारोंके विरुद्ध था। ये लोग उपवास कर अपने देवताओंको संतुष्ट करते थे। वे मानते थे कि मद्यमांस-का त्याग कर और अविवाहित रहकर देवताकी भक्ति करना ही मुक्ति-मार्ग है। ईसा उनके विरुद्ध था।

> कर्षयन्तः शरीरस्थं
> भूतग्राममचेतसः।
> मां चैवान्तः शरीरस्थं
> तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

ईसाका मत गीताके उक्त वचनके समान ही था, परन्तु धीरे धीरे ईसाई धर्ममें भी निवृत्तिका आडम्बर बढ़ने लगा और मठ-संस्थाएँ स्थापित होने लगीं। ईसा-इयोंमें यह बन्धन तुरन्त ही कर दिया गया कि ईसाई धर्मोपदेशक विवाह न करे; इतना ही नहीं, किन्तु सैंकड़ों और हजारों पुरुष तथा स्त्रियाँ संसारको त्याग मांक्स और नन्स (Monks and Nuns) यानी जोगी और जोगिन होने लगीं! कुछ समय-के बाद निवृत्तिका यह स्वरूप सत्वहीन हो गया। सच्ची विषय-पराङ्मुखता नष्ट हुई और केवल ढोंग रह गया। अनेक प्रकारके अनाचार फैल गये। आखिर इस कोरी निवृत्तिके स्वरूपकी परमावधि हो गई। फिर ल्यूथरके समयसे ईसाई धर्म प्रवृत्तिकी ओर झुका। उस समय यह प्रस्थापित हुआ कि योग्य रीतिसे प्रवृत्तिका स्वीकार करना अधर्म नहीं है। तब प्राटेस्टेंट मत फैलने लगा। यह कहने-में कोई हर्ज नहीं कि आजकल यह मत दूसरी ओर यानी प्रवृत्तिके परमोच्च बिंदु-की ओर जाना चाहता है। पाश्चात्य लोगोंकी आधुनिक भौतिक उन्नति और आधिभौतिक सुखोंकी लालसाका ध्यान करनेसे यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य समाजका लंगर (पैण्डुलम) प्रवृत्तिके पर-मोच्च बिंदुकी ओर जा रहा है।

भरतखंडका वही इतिहास।

पाश्चात्य लोगोंके उपर्युक्त अति संक्षिप्त इतिहाससे पाठकगण कल्पना कर सकते हैं कि मनुष्य-समाज प्रवृत्ति और निवृत्ति-के बीच कैसा आन्दोलित होता है और दोनों वृत्तियोंको समतोल रखकर उनका उचित रीतिसे सदैव उपयोग करना मनुष्य-समाजके लिए कितना कठिन है। इतिहासकी समालोचनासे मालूम हो जायगा कि हमारे देशका जन-समाज भी पहले ऐसे ही झकोरे खाता रहा है। प्राचीन कालके आर्योंके परम पूज्य ऋषियोंकी आश्रम-व्यवस्थासे स्पष्ट दिखाई देता है कि वे इन दोनों वृत्तियोंका योग्य आश्रय लेकर रहते थे। दो आश्रम प्रवृत्ति-के थे और दो निवृत्तिके। उनका रहन-सहन "यौवने विषयैषी" तथा "वार्धके मुनिवृत्ति" था। परन्तु ऋग्वेदकालके अन्तमें प्रवृत्तिकी प्रबलता हुई। यज्ञयागादि क्रियाएँ अति परिश्रम-साध्य तथा अधिक व्ययसाध्य हुईं। ब्राह्मणों और क्षत्रियों-ने बड़े ठाठबाटसे यज्ञ करके स्वर्ग-सुख प्राप्त कर लेनेको ही अपनी इतिकर्तव्यता

मानी। वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध और पुरुषमेधकी धूम मची। ऐसे समयमें उपनिषदोंके उदात्त विचार शुरू हुए। वेदांती लोग संसार-सुखकी अपेक्षा आध्यात्मिक सुखका महत्व अधिक मानने लगे। विचारवान् लोगोंने निश्चय किया कि निष्काम-वृत्तिसे जगत्में रहकर तप करने तथा ब्रह्मका निदिध्यास करनेमें ही मनुष्य-जन्मकी सफलता है। शनैः शनैः निवृत्तिकी यह वृत्ति भी शिखरको जा पहुँची। जिसके मनमें आया, वह उठा और चला जङ्गलमें तपस्या करनेके लिए। एक समय ऐसा आया कि जिसके दिलमें आया वही, चाहे वह जिस अवस्थामें क्यों न हो, संन्यास लेकर ब्रह्मज्ञानका मार्ग पकड़ने लगा। उस समय श्रीकृष्णने अपनी दिव्य भगवद्गीताका उपदेश देकर जन-समाजको ठीक रास्ते पर यानी प्रवृत्ति तथा निवृत्तिके मध्यवर्ती बिन्दु पर लानेका प्रयत्न किया। उनका यह मत न था कि तप न करना चाहिए या संन्यास न लेना चाहिए। तपकी योग्यता श्रीकृष्ण खूब जानते थे। तपशील मनुष्य ही सुखकी सच्ची योग्यता जानता है। शारीरिक सामर्थ्य और आध्यात्मिक तेज तपसे ही बढ़ता है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि तपको ही अपना अन्तिम ध्येय बनाकर शरीरको व्यर्थ कष्ट देना कदापि उचित नहीं। क्षणिक वैराग्यसे या मनकी दुर्बलताके कारण ही संन्यास न लेना चाहिए, वरन् पूर्ण वैराग्य प्राप्त होने पर तथा जगतके नश्वरत्वका पूर्ण ज्ञान चित्तमें स्थिर हो जाने पर ही लेना उचित है। यदि ऐसा न हो तो हर कोई क्षणिक वैराग्यसे संन्यास लेकर अरण्यवास करने लगेगा, शहरोंकी भीड़ जङ्गलमें जा बढ़ेगी। इतना ही नहीं, बल्कि समाजका नुकसान होगा और उसमें अनीति फैलेगी। ऐसी स्थिति आगे बौद्धोंकी उन्नतिके कालमें सचमुच हुई। जङ्गलोंके विहार-स्थान शहरोंके समान बन गये और वे दुराचारी भिक्षुओं तथा संन्यासिनियोंसे भर गये। उपनिषदोंके निवृत्ति मार्गका आडम्बर जब बढ़ने लगा तब श्रीकृष्णने अपने दिव्य उपदेशसे उसे तोड़ा। वेदान्त, सांख्य और योगकी भ्रान्त कल्पनाओंसे जो लोग मानने लगे थे कि संसार-त्याग ही जीवनका इतिकर्तव्य है, उन्हें श्रीकृष्णने मर्यादित किया। घर-बार छोड़कर जङ्गलमें जा बसनेसे संसार नहीं छूटता। इसके विपरीत संसारमें लोलुप होनेसे भी मनुष्यको सच्चा सुख नहीं मिलता। हर एक बातका मध्यबिन्दु रहता है, जिस पर स्थित होनेसे मनुष्यको परम गति मिल सकती है। एक ओर शारीरिक त्याग करना असम्भव है, तो दूसरी ओर शारीरिक सुखमें अत्यन्त निमग्न होना भी बहुत हानिकर है। वही योगी परम गतिको प्राप्त होगा जो युक्ताहारी तथा युक्तविहारी रहेगा या संन्यासी मनसे कर्मफलका त्याग कर कर्म करता रहेगा। सारांश यह कि श्रीकृष्णने एकान्तिक निवृत्ति तथा एकान्तिक प्रवृत्तिका निषेध किया और लोगोंको मध्यवर्ती बिन्दु पर लानेका प्रयत्न किया। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि श्रीकृष्णके दिव्य उपदेशका भी कालक्रमसे विपर्यास हो गया। सैंकड़ों वर्ष पश्चात् श्रीकृष्णके दिव्य उपदेशका भी कालक्रमसे विपर्यास हो गया। सैकड़ों वर्षके पश्चात् श्रीकृष्णके उपदेशका अर्थ कुछ तो भी समझ लिया गया और प्रवृत्तिकी ओर झुका हुआ समाज, घड़ीके लंगरके समान, प्रवृत्तिके अन्तिम छोर पर आ पहुँचा। उसका इस प्रकार जाना अपरिहार्य ही था। श्रीकृष्णके पश्चात् हज़ार या

दो हज़ार वर्षतक जनसमाजमें प्रवृत्तिकी प्रबलता इतनी बढ़ी कि लोग यह मानने लगे कि कृष्ण-भक्ति अथवा भागवत-मत सुखोपभोगका साधन है। लोग मानने लगे कि जगतमें भौतिक सुख-भोग ही मनुष्यका सर्वोच्च ध्येय है। तब समाज निवृत्तिकी ओर फिर झुका और बुद्ध, महावीर आदि धर्मोपदेशक पैदा हुए। उन लगोंने निवृत्ति-प्रधान मतका प्रचार किया; पर धीरे धीरे काल-गतिसे जन-समाज निवृतिके उच्च शिखर पर जा पहुँचा और हज़ारों बौद्ध तथा जैन भिक्षु और भिक्षुकिणियोंसे शहरके समान ठसाठस भरे हुए विहार कुनीतिके जन्म-स्थान बन बैठे। स्वभावतः समाज चक्कर खाकर फिर प्रवृत्तिकी ओर झुका। वह फिर इतना झुका कि जहाँ जैनों और बौद्धोंने वेदको फेंक अरण्यवास और संन्यासको गद्दी पर बैठाया था, वहाँ मंडन मिश्र आदि नवीन लोगोंने वेदोंको फिर गद्दी पर बैठाया, मद्यमांसका सेवन जारी किया और संन्यासको पदच्युत करके उसे बहिष्कृत कर दिया। झूठे संन्यासियोंने उस समय संन्यासको इतनी नीच दशामें पहुँचाया था कि संन्यासका नाम लेते ही मंडन मिश्रकी क्रोधाग्निकी सीमा न रहती थी। इस प्रकार प्रवृत्तिकी ओर, कर्मकी ओर, सुखोपभोगकी ओर झुककर जब समाज दूसरी दिशामें जाने लगा, तब श्रीमत् शंकराचार्यने शीघ्र ही निवृत्तिको जागृत कर तथा संन्यासको योग्य स्थान पर बैठाकर समाजको मध्य बिंदुपर स्थिर किया। परन्तु निवृत्तिका जोर फिर बढ़ा। रामानुज, मध्व आदि प्रवृत्याभिमानी धर्मोपदेशक पैदा हुए, जिन्होंने फिर समाजको प्रवृत्तिकी ओर झुकाया। परिणाम यह हुआ कि कुछ समयके बाद वल्लभाचार्यका मत उत्पन्न हुआ; पर अन्ध और मूढ़ लोगोंने उसका ध्येय कुछका कुछ बना डाला। इतिहासकी समालोचनासे इस बातका दिग्दर्शन हो जायगा कि हमारे देशमें आजतक प्रवृत्ति और निवृत्तिके बीचमें लोक-समाज कैसा आन्दोलित होता रहा है।

कर्मयोगका उपदेश।

श्रीकृष्णके दिव्य उपदेशका ऐतिहासिक महत्व अच्छी तरह समझनेके लिए उपर्युक्त समालोचनाकी आवश्यकता थी। श्रीकृष्णके समयमें कुछ लोग वैदिक कर्म करना ही मनुष्यकी इतिकर्त्तव्यता समझते थे और समाजको एक ओर खींचते थे। दूसरे लोग यह मानते थे कि संसारको छोड़ जङ्गलमें जाकर औपनिषद्-पुरुषका निदिध्यास करना ही परम पुरुषार्थ है और ऐसे लोग समाजको दूसरी ओर खींचते थे। दुर्योधन या पुरुषमेधकी इच्छा करनेवाला जरासन्ध पहले मतका निदर्शक था, सामने आये हुए युद्धके अवसरपर कर्मको त्याग संन्यासकी इच्छा करनेवाला अर्जुन दूसरे मतका निदर्शक था। एकको श्रीकृष्णने बलसे रास्ते पर किया और दूसरेको भगवद्गीताके दिव्य उपदेशसे। पूर्वाचार्योंके उपदेश किये हुए सिद्धान्त, सब धर्मोपदेशोंके समान, श्रीकृष्णने भी अमान्य नहीं किये। वैदिक कर्माभिमानियोंकी कर्मनिष्ठा, सांख्योंकी ज्ञाननिष्ठा, योगाभिमानियोंका चित्त-निरोध और वेदान्तियोंके संन्यासका उन्होंने आदर किया है। परन्तु हर एक मतने जो यह प्रतिपादित किया था कि हमारी इतनी ही इतिकर्त्तव्यता है, उसका उन्होंने निषेध किया है। हर एक मतको उचित महत्व देकर, उन सबोंका समन्वय करके, श्रीकृष्णने

उनका उपयोग अपने नये कर्त्तव्य-सिद्धांत-के लिए अर्थात् निरपेक्ष और फलेच्छा रहित कर्मके लिए कहा है। उन्होंने भगवद्गीता-में मुख्यतः इस बातका प्रतिपादन किया है कि मनुष्य अपना कर्त्तव्य किस प्रकार करे। शास्त्रका काम है कि वह कर्त्तव्यका निश्चय करे; परन्तु यह निश्चय होनेके बाद वह क्यों किया जाय और कैसा किया जाय, इसका पूर्ण विवेचन बहुत उत्तम रीतिसे किया है। श्रीकृष्णने अर्जुन-को अच्छी तरह समझाया है कि आप-त्तियोंसे डरकर या मोहपाशमें फँसकर कर्त्तव्य-पराङ्मुख होना और जङ्गलमें जाकर संन्यास लेना सच्चे मोक्ष-मार्गपर चलना नहीं है। सारांश, यह है कि श्री-कृष्णने भगवद्गीतामें अर्जुनको यह बत-लाया है कि वेद, वेदान्त, सांख्य और योगका सत्कार करना उचित है। साथ ही यह भी बताया है कि इन सबमें जो अपनी अपनी शेखी मारी गई है वह सब व्यर्थ है। उन्होंने यह भी समझा दिया कि प्रवृत्तिको निवृत्तिरूप और निवृत्तिकोप्रवृत्ति रूप कैसे देना चाहिए तथा अपना कर्त्तव्य कैसे करना चाहिए। एक दृष्टिसे देखा जाय तो भगवद्गीता सबसे पुराना सांख्य-शास्त्र है, तथा वेदान्त-शास्त्र और योग-शास्त्र भी है। इन सब शास्त्रोंके मान्य सिद्धान्त यदि कहीं सङ्कलित किये गये हैं और ओजस्वी वाणीसे बतलाये गये हैं तो बस भगवद्गीतामें। इसीसे भग-वद्गीताके लिए उपनिषद्, ब्रह्म-विद्या और योग-शास्त्र आदि विशेषण यथार्थ ही होते हैं।

नवीन भक्ति-मार्ग।

प्राचीन आचार्योंके उपदेश किये हुए वेद और वेदान्त, सांख्य और योग सभी-के मान्य और उत्तम अंश श्रीकृष्णने अपनी अमोघ और दिव्य वाणीसे अर्जुन-को भली भाँति समझा दिये। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने उस समय अपना नवीन उपदेशित भक्ति-मार्ग भी अर्जुनको समझा दिया। हमारा मत है कि भक्ति-मार्ग अथवा भागवत-धर्मके पहले उप-देशक श्रीकृष्णसे ही इस मतको भागवत संज्ञा मिली है। इसीका एक विशिष्ट स्वरूप पांचरात्र मत है। यह ज्ञान श्री-कृष्णने राज-विद्या, राजगुह्य नामसे भग-वद्गीतामें बतलाया है और वही, फिरसे अन्तमें अठारहवें अध्यायके "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" श्लोकार्धमें अर्जुनको फिर बतलाया है। अनन्य भावसे एक परमेश्वरकी प्रेमपूर्वक भक्ति करके उसकी शरणमें लीन होनेका मोक्ष-मार्ग सबके लिए खुला और सुलभ है। संन्यास, योग या यज्ञादि साधन सबके लिए सुलभ और खुले नहीं हैं। यज्ञयाग हजारों रुपयोंके खर्चके बिना नहीं हो सकते या शास्त्रोंके सूक्ष्म ज्ञानके बिना नहीं हो सकते। इसी प्रकार बुद्धिमानों और निग्रहवानोंके सिवा संन्यास और योग दूसरे किसी-को प्राप्त नहीं हो सकते। तब मनुष्य-के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि द्रव्यहीन, बुद्धिहीन और संसारमें फँसे हुए जीवोंके लिए कुछ तरणोपाय है या नहीं? परन्तु उस समय तो यह प्रश्न विशेष रीतिसे उपस्थित था। भारती आर्य जब हिन्दुस्थानमें आये तब उनके तीन वर्ण थे। हिन्दुस्थानमें जब आर्योंकी, विशेषतः चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी बस्ती सब जगह फैली, तब चौथा शूद्र वर्ण उनमें आकर मिला। उस समय अनेक मिश्र वर्ण उत्पन्न हुए। बहुतेरे वैश्य खेती करने लगे और धीरे धीरे वेद और शिक्षासे पराङ्मुख हो गये। स्त्रियाँ सब वर्णोंकी होने

सर्की, इससे वे भी बहुतसी अपढ़ ही रहीं। ऐसे बड़े जनसमूहके लिए यज्ञ, संन्यास या योग-मार्ग बन्द हो गये। उस समय यह प्रश्न बड़े जोरके साथ सामने आया कि इस स्थितिमें अज्ञानी लोगोंके लिए परम-पदकी प्राप्ति सम्भव है या नहीं ? ब्राह्मण तथा क्षत्रियोंका तो यह मत था कि ये लोग मोक्षके लायक नहीं हैं । सामान्य जनसमूह पर श्रीकृष्णका अत्यन्त प्रेम था। यह कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि धर्म-दृष्टिसे उन्हींका उद्धार रखनेके लिए श्री-कृष्णका अवतार हुआ था। उनका बच-पन स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रोंमें ही व्यतीत हुआ था। उन्होंने अपनी आँखोंसे देखा था कि ये लोग अपने इष्टदेवपर कैसा निःसीम और निष्काम प्रेम रखते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसी स्थितिमें उन्होंने इस उदात्त मतका प्रतिपादन किया कि परमेश्वरका या उसकी किसी दिव्य विभूतिका निरतिशय प्रेम करने-से और उसकी भक्ति करनेसे ये लोग मोक्ष प्राप्त करेंगे । भक्ति-मार्गका रहस्य अर्जुनको समझाते हुए उन्होंने भगवद्गीतामें स्पष्ट कहा है कि भक्ति-मार्गसे स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र बल्कि चांडाल भी परमगतिको जायँगे । उस समय समाजमें दो कोटियाँ नजर आती थीं—पुण्यवान् ब्राह्मण तथा भक्त राजर्षि। एक संन्यास और तपके अभिमानी थे, तो दूसरे बड़े बड़े अश्वमेध आदि यज्ञोंके अभिमानी थे। उनकी यह धारणा थी कि हम ही मोक्ष प्राप्त करेंगे, दूसरे नहीं। पहलेसे ही पुण्य-मार्गमें लगे हुए ये लोग ईश्वरकी भक्ति कर परमगतिको प्राप्त होंगे ही, परन्तु श्रीकृष्णने छाती ठोककर कहा कि स्त्री, वैश्य, शूद्र, चांडाल आदि वे अज्ञानी लोग भी जो मोक्षके मार्गसे दूर किये गये थे, भक्तिसे परम-गति प्राप्ति करेंगे। स्वभावतः श्रीकृष्णका यह भक्ति-मार्ग धीरे धीरे और मार्गोंको पीछे हटाता हुआ भरतखण्डमें आगे बढ़ा और उसकी श्रेष्ठता आज सारे भरत-खण्डमें दिखाई देती है। 'रामः शस्त्रभृता-महं' और 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'में बताई हुई दो विभूतियोंकी भक्ति आज हिन्दुस्थानमें सर्वत्र प्रचलित है । यही नहीं, किन्तु उसने यज्ञ, तप, संन्यास आदि मार्गोंको भी पीछे हटा दिया है। इससे यह सहज ही ध्यानमें आ सकता है कि हिन्दुस्थानके लोग श्रीकृष्णको क्यों इतना पूज्य मानते हैं। वेदान्त सूत्र अब-तक यही कहता है कि केवल ब्राह्मण और वे भी संन्यास लेने पर—मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे । मुसलमानोंके धर्मोपदेशक कहते हैं कि मोक्ष प्राप्त करना मुसल-मानोंके ही भाग्यमें है औरोंके नहीं, और ईसाई धर्मोपदेशक कहते हैं कि ईसा ईसाइयोंका ही उद्धार करेगा, दूसरोंका नहीं। परन्तु श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें इस उदात्त तत्वका प्रतिपादन किया है कि मनुष्य चाहे किसी जाति अथवा मतका क्यों न हो, वह परमेश्वरकी किसी विभू-तिकी भक्ति करनेसे मोक्षपदको प्राप्त कर सकता है। यह कहनेमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं कि भक्ति-मार्गका अथवा 'रिलिजन आफ डिवोशन' (Religion of Devotion) का उदात्त स्वरूप जैसा श्रीकृष्णके भक्ति-मार्गमें दिखाई देता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता। इस स्वरूपकी पराकाष्ठा तुकाराम, तुलसीदास आदि संतोंने की है । 'सततं कीर्त्तयन्तो मां नित्ययुक्ता उपासते' की मनोहर साक्षी अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन या पंढरपुरको छोड़ अन्यत्र कहीं न मिलेगी। श्रीकृष्णने अपने उदात्त तत्वोंके इस भक्ति-मार्गका उपदेश जबसे अर्जुनको पहलेपहल दिया है तबसे

उसका उत्कर्ष 'यद्गत्वा न निवर्तते' रीतिसे हिन्दुस्थान भरमें हो गया है। इसी भक्ति-मार्गके कारण श्रीकृष्णके अवतारके मुख्य धार्मिक कार्योंकी छाप भारतभूमिके लोगोंके हृदयपटल पर सदाके लिए अंकित है।

कर्मयोगका सिद्धान्त।

श्रीकृष्णने इससे भी बढ़कर महत्वका एक काम तत्वज्ञानके सम्बन्धमें किया है। परन्तु उसकी छाप हिन्दुस्थानके हृदयपटल पर सदाके लिए उठी हुई नहीं दिखाई देती। इसका कारण हम पहले बता चुके हैं। तत्ववेत्ताओंके सन्मुख यह अति विकट और महत्वका प्रश्न सदा उपस्थित होता है कि इस जगत्में मनुष्यकी इतिकर्त्तव्यता क्या है। जैसा कि शेक्सपीयरने कहा है—'To be or not to be, that is the question.' इस जगत्में जिन्दा रहनेमें कोई सार्थकता है या मनुष्यका जीवन निरर्थक है। मनुष्य अपनी परिस्थितिके अनुरूप कर्म करे या अकर्म स्वीकृत कर जीवनकी निरर्थकता व्यक्त कर दिखावे ? कर्म और अकर्मके सम्बन्धका वाद अनादि है। यह विचारवानोंके सामने सदासे उपस्थित है। श्रीकृष्णने गीताके समस्त विवेचनका उपसंहार करते समय अठारहवें अध्यायमें अपनी दिव्य और अमोघ वाणीसे इसी प्रश्नकी चर्चा की है और अपना सिद्धान्त अर्जुनको समझाया है। मनुष्य मोक्ष मार्गकी प्राप्तिके लिए वेदका यज्ञ-याग, वेदान्तका संन्यास, अथवा सांख्य मार्गका ज्ञान, योगका चित्तवृत्ति-निरोध, भक्ति-मार्गका भजन जो चाहे सो स्वीकार करे, परन्तु उसे कर्म करना ही पड़ेगा। वह कभी टल नहीं सकता। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सदा घूमते हैं; समुद्र सदा लहराता है। फर्क केवल इतना ही है कि कभी धीरे तो कभी जोरसे। मनुष्यका सांस किसी दशामें बन्द नहीं होता; मरने पर ही बन्द होता है। गीली मिट्टी एक ही स्थितिमें सदैव नहीं रहती। सारांश यह कि इस जगत्में क्रिया सतत जारी है और सदा रहेगी। यह लोक कर्मसे बँधा है। नियत या प्राप्त कर्म छोड़ देना सम्भव नहीं। जो पागलपनसे उसको त्याग देते हैं वे तामसी त्यागी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ऐच्छिक कर्म करना या न करना अपने ही हाथमें है; परन्तु इसमें भी स्वभावसे प्राप्त कर्म नहीं छूटता। यहाँ सदोष सम्बन्धी विचार करना भी व्यर्थ है। जिस प्रकार अग्नि सदा धूमसे व्याप्त रहती है, उसी प्रकार कर्मका आरंभ दोषसे व्याप्त है। इसलिये यदि कर्म-स्वभाव सिद्ध या सहज है, पर सदोष है, तो करना श्रेयस्कर ही है। तात्पर्य्य यह कि श्रीकृष्णका यह सिद्धान्त है कि कर्मका छूटना या छोड़ना असम्भव है। यह सिद्धान्त पाश्चात्य तत्वज्ञानियोंको भी मान्य होना चाहिए। उनका भी यही मत है कि कर्म करनेमें ही मनुष्यत्वका गौरव है। परन्तु श्रीकृष्णके कर्मयोगमें एक और विशेषता यह है जो कदाचित् पाश्चात्य पण्डितोंको मान्य न हो। मनुष्यको चाहिए कि वह कर्म करे। नियत या सहज कर्म तो टल ही नहीं सकता, और ऐच्छिक कर्म यदि कर्तव्य है तो करना ही चाहिए। मनुष्यका जो कुछ कर्तव्य हो उसे शास्त्रके आधारसे निश्चित करना चाहिए या अपनी सदसद्विवेक बुद्धिसे निश्चित करना चाहिए। मनुष्यकी शुद्ध और सात्विक बुद्धि उसे उसका कर्तव्य बताती है। "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" कहकर श्रीकृष्णने यह भी बताया है कि मनुष्यकी सात्विक बुद्धि

"कार्याकार्य, भयाभय" जानती है। तात्पर्य यह कि अपना कर्तव्य निश्चित करनेके लिए यदि शास्त्रकी आवश्यकता न हो तो उसे अपनी सदसद्विवेक बुद्धिसे निश्चित करना चाहिए। इसके सम्बन्धमें पाश्चात्य परिडत कदाचित् सहमत होंगे। श्रीकृष्णके कर्मयोगमें एक और विशेषता यह है कि मनुष्यको चाहिए कि वह कर्तव्य कर्म करे; परन्तु इस बातका घमंड न करे कि उसके कर्मकी सिद्धि होनी ही चाहिए। श्रीकृष्णका कर्म-सिद्धान्त है कि मनुष्य इस भावनासे कर्म करे कि मैं अपना कर्तव्य करता हूँ, वह सिद्ध हो या न हो। उसमें कर्मयोगकी आरम्भमें ही व्याख्या की गई है कि "सिद्ध्यसिद्ध्यौ समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।" मनुष्यको चाहिए कि वह सिद्धि और असिद्धि समान मानकर अर्थात् फल पर लक्ष्य न देते हुए अपना कर्तव्य करे। श्रीकृष्णका उपदेश है कि—"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।" यहाँ कदाचित् श्रीकृष्ण और पाश्चात्य परिडतोंका मतभेद होना सम्भव है।

फलकी लालसाका त्याग।

यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि यदि बात ऐसी है, तो कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय करनेवाले धर्मका अधिष्ठान क्या है? यदि शुद्ध भावनासे विहित कर्म करने पर भी मनुष्यको उसकी सिद्धि न मिलेगी तो विहित आचरणसे लाभ ही क्या? अतएव यह कहनेमें तनिक भी असमंजस नहीं कि यहाँ पर धर्मका मुख्य आधार ही नष्ट हो जाता है। यह प्रश्न भी अनादि है। जगतमें यह बड़ा भारी गूढ़ रहस्य है कि धार्मिक वृत्तिके लोग जगत्में दुखी रहते हैं और अधार्मिक और दुष्ट लोग बराबर उन्नतिको पहुँचे हुए दिखाई देते हैं। कोई इसका इस प्रकार समाधान करते हैं कि इस लोकमें नहीं तो अन्य लोकमें, इस जन्ममें नहीं तो अन्य जन्ममें, धर्मका फल सुख और अधर्मका फल दुःख मिले बिना नहीं रहेगा; किन्तु यह समाधान अदृष्टके आधार पर रचा गया है, इससे यह कोरा जान पड़ता है। विहित कर्म करने पर यदि वह सिद्ध नहीं होता तो उसका विहितत्व ही कहाँ रहा? यह सिद्धान्त सच्चा है कि मनुष्य धर्म पर निष्काम प्रेम करके कर्म करे, आगामी सुखरूपी आशाके लिए न करे; पर यह सिद्धान्त युक्तिसे नहीं मिलता। एक प्रसङ्गमें द्रौपदीने यही प्रश्न किया था; तब धर्मराजने उत्तर दिया—"सुन्दरी* मैं जो धर्मका आचरण करता हूँ वह धर्मके फलकी ओर दृष्टि देकर नहीं करता। धर्मका व्यापार करनेकी इच्छा करनेवाला हीन मनुष्य धार्मिकोंके बीचमें आखिरी दर्जेका मनुष्य समझा जाना चाहिए।" यह उत्तर ठीक है। पर इस उत्तरसे तार्किकोंका समाधान नहीं होता। श्रीकृष्णने इस प्रश्नका बड़ा ही मार्मिक उत्तर दिया है। कर्मका फल त्रिविध है—इष्ट, अनिष्ट या मिश्र। परन्तु यह किसके लिए है? जिसकी नजर फल पर है, यह उसीके लिए है। जिसने फलका त्याग किया, उसे चाहे जो फल मिले सब समान ही हैं। इसके सिवा मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उसके फलके लिए पाँच कारणोंकी आवश्यकता होती है। अधिष्ठान, कर्त्ता, कारण, विविध चेष्टा और दैव अथवा ईश्वर-इच्छा। इससे जान पड़ता है कि कर्मके फलको देनेवाली कुछ ऐसी बातें हैं जो अपने अधीन नहीं रहतीं। अर्थात् कर्मका फल अपने ही कर्त्तृत्व पर अव-

* धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात्।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम्॥

लम्बित नहीं है पर अन्य बातों पर भी अवलम्बित है। इसलिए जो कर्म कर्त्तव्य समझकर किया जाता है वही ठीक है। उसका इच्छित फल हमेशा नहीं मिलता। मनुष्यको चाहिए कि वह कर्त्तापनका अहङ्कार कभी न रखे, क्योंकि फलकी सिद्धिके लिए पाँच बातोंकी आवश्यकता है, जिनमेंसे कर्त्ता अकेला एक है। सारांश यह है कि युक्तिकी दृष्टिसे भी शास्त्रका यहीं दृष्टान्त ठीक दिखाई देता है कि मनुष्यको चाहिए कि वह कर्त्तव्यको कर्त्तव्य समझकर ही करे, और उसके फलकी ओर दृष्टि न रखे।

ईश्वराज्ञा तथा ईश्वरार्पण बुद्धि।

यहाँ एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ऐसा निश्चय नहीं है कि कर्त्तव्यकी सिद्धि हमेशा होगी ही, तो फिर कर्त्तव्य-का गौरव ही क्या रहा? ऐसी दशामें तो कर्त्तव्यका महत्व कुछ भी नहीं रहता। कर्त्तव्यमें और कर्त्तव्यतामें कुछ भी फर्क न होगा। परन्तु थोड़ा विचार करनेसे इस शङ्काका समाधान हो जायगा। शास्त्रका काम है कि वह कर्त्तव्यका निश्चय करे। शास्त्रसे यहाँ तात्पर्य है उन प्राचीन बुद्धि-मान लोगोंसे जिन्होंने अपने अनुभवसे नियम बनाये हैं। अर्थात् कर्त्तव्यमें एक प्रकारका ज्ञानयुक्त हेतु है। शास्त्रकी सम्मतिके लिए भी यदि सात्विक बुद्धिसे कर्त्तव्यका निश्चय किया जाय तो भी उसमें एक प्रकारका महत्व और पवि-त्रता है। मनुष्यकी अकलुषित सात्विक बुद्धि जो कुछ उसे करनेको कहती है, वह युक्त और मान्य करने योग्य है। किन्तु यह ईश्वरी प्रेरणा ही है। ऐसा समझने-में कोई हर्ज नहीं कि वह ईश्वरकी आज्ञा ही है। सारांश यह है कि कर्त्तव्यको कर्त्त-व्यता इसीसे प्राप्त होती है। इसी दृष्टिसे मनुष्य फलकी ओर ध्यान न देकर कर्त्तव्य कर सकेगा। अपने कर्मयोगकी यही तीसरी विशेषता श्रीकृष्णने बतलाई है। मनुष्यको चाहिए कि वह अपना कर्म परमेश्वरको अर्पण करते हुए करे। पर-मेश्वरके आज्ञानुसार जो अपना कर्त्तव्य करेगा, वही फलेच्छा-रहित कर्त्तव्य कर सकेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस उच्च भावनासे कर्म करनेवाला मनुष्य उत्साह तथा प्रेमके साथ अपना कर्त्तव्य पूरा करेगा। यदि कर्त्ताके मनमें यह शङ्का हुई कि कर्त्तव्य सिद्ध होगा या नहीं, तो उसमें धैर्य तथा उत्साह रहना असम्भव है। यह आक्षेप हो सकता है कि यदि कर्त्तव्यके फलकी ओर दृष्टि न रखी जाय, तो मनुष्य निरुत्साही हो जायगा। पर वही कर्त्तव्य जब मनुष्य इस भावनासे करेगा कि मैं ईश्वरकी आज्ञासे करता हूँ और उसीको अर्पण करता हूँ, तो उसका उत्साह और धैर्य नहीं घटेगा। सारांश यह है कि, श्रीकृष्णके कर्म-योगकी यह तीसरी उच्चतम विशेषता है। उसका सिद्धान्त है कि 'चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्परः' रीतिसे मनुष्य अपना कर्त्तव्य कर्म करे।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते॥

इस छोटेसे लक्षणमें श्रीकृष्णके कर्त्तव्य-सिद्धान्तका उच्च रहस्य सम्पूर्णतया भरा हुआ है। कदाचित् कोई यह शङ्का करे कि क्या इस प्रकारका कर्त्ता कहीं प्रत्यक्ष होगा? पर यह निर्विवाद है कि ऐसे महात्मा कर्त्ता संसारमें बराबर देखनेमें आते हैं। इसका एक छोटा सा उदाहरण देखनेके लिए किसी शान्त और ज्ञानी स्त्रीको लीजिए जो अपने मरणासन्न पुत्र-के मरने या स्वस्थ हो जानेका फल परमे-श्वर पर छोड़कर धैर्य और उत्साहके

साथ उसकी शुश्रूषा करनेमें लगी रहती है। ऐसा उदाहरण देखकर हमें विश्वास होता है कि संसारमें कैसे कैसे सात्विक कर्त्ता रहते हैं।

अहिंसा मत।

इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना कर्मयोग अच्छी तरह समझाकर उसकी वह पराङ्मुखता दूर कर दी थी जो उसने धर्म तथा प्राप्त युद्धके समय दिखाई थी। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीकृष्ण हिंसाके अनुकूल थे। वे अहिंसा-मतके अभिमानी थे और उन्होंने उसी मतका जोरोंसे उपदेश दिया है। बहुत लोगोंकी धारणा है कि अहिंसा-मतके प्रथम उपदेशक बुद्ध और जैन हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। अहिंसा-मत उपनिषद्में है। छान्दोग्यका आदेश है कि—"अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः।" भगवद्गीतामें भी अहिंसा ज्ञानके लक्षणों-में बतलाई गई है। इसके सिवा यह भी कहा है कि अहिंसा शारीरिक तप है। अन्य देशोंके इतिहाससे भी दिखाई देता है कि अहिंसातत्व हिन्दू धर्ममें पहले-से ही है। ऐसा माना गया है कि पाय-थागोरसका अहिंसा-मत था और उसे वह हिन्दुस्थानसे प्राप्त हुआ था। हिरा-डोटसके इतिहासमें स्पष्ट उल्लेख है कि उस समय भी अहिंसा मतवादी लोग हिन्दुस्थानमें थे। सारांश यह है कि अहिंसा-मत बुद्धके पूर्वका है। ऐसा जान पड़ता है कि उसका उद्गम श्रीकृष्णके उपदेशसे ही हुआ। श्रीकृष्णका काल ऋग्वेदोत्तर उपनिषत्काल है। उस समय यज्ञयागका पूर्ण प्राबल्य था। यदि कोई यह कहे कि उन्होंने ऐसे समय यज्ञमें होनेवाली हिंसा बन्द करनेका उपदेश कहीं नहीं दिया, तो ध्यानमें रखना चाहिए कि उनके ऐसा न करनेमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। यद्यपि उन्होंने पाण्डवोंको राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करनेसे नहीं रोका, तथापि ध्यानमें रखना चाहिए कि उन्होंने बचपनमें ही गोपालोंको उपदेश दिया था कि इन्द्र-यज्ञके बदले गिरि-यज्ञ करो। भगवद्गीता-में भी स्वर्गकी इच्छासे अनेक प्रकारके काम्य यज्ञ करनेके विरुद्ध श्रीकृष्णका पूरा पूरा कटाक्ष दिखाई देता है। श्रीकृष्ण-के कालके अनन्तर ऐसा दिखाई देता है कि हिंसायुक्त यज्ञके विरुद्ध धीरे धीरे लोकमत बढ़ने लगा। यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं कि हिन्दुस्थानके सब लोगों-ने तो गवालम्भ श्रीकृष्णकी ही भक्तिसे बन्द कर दिया था।

श्रीकृष्णका अपने उपदेशके अनुरूप आचरण।

भक्तिमार्ग, कर्त्तव्यनिष्ठा, अहिंसा आदि नवीन उच्च तत्व श्रीकृष्णके दिव्य उपदेशके कारण हिन्दूधर्ममें समाविष्ट हुए थे। इन बातोंसे पाठकोंके ध्यानमें यह आवेगा कि धर्मके सम्बन्धमें श्रीकृष्णने जो काम किया उसका महत्व कितना है। यह बात सबको मान्य होगी कि श्रीकृष्ण-का उदार चरित्र उनके उदात्त उपदेशके अनुकूल ही होना चाहिए। तुकारामके इन वचनोंके अनुसार ही—'बोले तैसा चाले, त्याची वंदावी पाउलें' श्रीकृष्ण वन्दनीय थे: उन्हें जो हम पुण्यश्लोक कहते हैं सो कोई विरोधी लक्षणसे नहीं। धर्म-संस्थापनके लिए ही श्रीकृष्णका अवतार था। ये सब बातें बहुत स्पष्ट हैं, तो भी उनके चरित्रमें दो कलङ्क मढ़े जाते हैं। आश्चर्य तो यह है कि वे लोगों-में मान्य भी हो गये हैं। यद्यपि वे कलङ्क चन्द्रमाके कलङ्कके सदृश रम्य नहीं हैं, तथापि निःसन्देह वे झूठे और काल्प-

मिक हैं। यह दुर्दैवकी बात है कि शृङ्गार-प्रिय कवियों तथा हास्यप्रिय कथक्कड़ोंने उन्हें खूब बढ़ाया है और उन पर सत्यका आभास ला दिया। परन्तु यह कभी सम्भव नहीं कि,

> त्रिविधं नरकस्येदं
> द्वारं नाशनमात्मनः।
> कामः क्रोधस्तथा लोभ-
> स्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

इस प्रकार उदात्त उपदेश देनेवाला श्रीकृष्ण, बचपनमें ही क्यों न हो, निन्द्य कामाचारमें फँसे अथवा युवावस्थामें लोभके अधीन हो। यद्यपि ये कलङ्क निर्मूल हैं तथापि लोगोंकी कल्पनासे श्रीकृष्णके चरित्रमें लगाये जाते हैं। ये दोनों दोष निराधार हैं, समझकी कमीके कारण पीछेसे गढ़े गये हैं। हम संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन यहाँ करेंगे।

गोपियोंकी केवल-भक्ति।

श्रीकृष्णके समयमें यह दोष उन पर कभी नहीं लगाया गया था कि उन्होंने गोपियोंसे अश्लाघ्य व्यवहार किया हो; गोपियाँ श्रीकृष्णसे जो प्रेम करती थीं वह निर्व्याज, विषयातीत और ईशभावनासे युक्त था। यही कल्पना महाभारतमें दिखाई देती है। महाभारतको वर्तमान स्वरूप ई० सन्से लगभग २५० वर्ष पूर्व मिला। उस समयतक यही कल्पना थी। वस्त्र-हरणके समय द्रौपदीने श्रीकृष्णकी जो पुकार की थी उसमें उसने उन्हें 'गोपी-जन प्रिय' नामसे सम्बोधित किया था। स्पष्ट है कि इस नामका अभिप्राय यही है कि वह दीन अबलाओंका दुःखहर्त्ता है। उस नाममें यदि निन्द्य अर्थ होता तो सती द्रौपदीको पातिव्रत्यकी परीक्षाके समय उसका स्मरण नहीं होता; यदि होता भी तो वह उसे मुखसे कदापि न निकालती; और यदि निकालती भी तो वह उसके लिए उपयोगी ही न होता। अतएव यह निर्विवाद है कि इस नाममें गोपियोंका विषयातीत भगवत्प्रेम ही गर्भित है। दूसरे, राजसूय-यज्ञमें अर्घ्य लेनेके प्रसङ्गमें शिशुपालने श्रीकृष्णकी खूब ही निन्दा की; परन्तु वहाँ उसने यह आक्षेप कभी नहीं किया। तीसरे, यह प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण बचपनसे ही मल्लविद्याके शौकीन थे। कुश्ती लड़नेके लिए कंसने उन्हें मथुरामें बुलाया था। यह अकाट्य सिद्धान्त है कि ऐसे बालमल्लको कामका व्यसन कभी नहीं हो सकता। ईश्वरकी कल्पना रखने पर चाहे जो सम्भावना हो सकती है; परन्तु श्रीकृष्णने अपने अवतारमें मानवी कृत्य ही कर दिखाये हैं। उन्होंने ईश्वरी सामर्थ्यका उपयोग नहीं किया और यदि कहीं किया हो तो निन्द्य काममें तो निःसन्देह कहीं नहीं किया। सारांश यह है कि सभी दृष्टियोंसे विचार करने पर यही कहना होगा कि यह दोष सच्चा नहीं है। वर्तमान महाभारतके समयतक यही धारणा थी कि गोपियाँ श्रीकृष्णका केवल निर्विषय प्रेम करनेवाली परम भक्ता थीं। परन्तु धीरे धीरे भक्तिमार्गमें जब भक्तिकी मीमांसा होती गई तब सम्भव है कि भक्तिको उस प्रेमकी उपमा दी गई हो जो असतीका जारसे रहता है; और जैसा कि भवभूतिने कहा है—"यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः" जैसी स्त्रियोंके सम्बन्धमें यह कल्पना प्रचलित हुई होगी; और जगत्में भ्रमपूर्ण विचार उत्पन्न होनेसे हमेशा ऐसा हुआ ही करता है। श्रीकृष्णका मत प्रवृत्तिके अनुकूल है, इससे इस प्रवादको पुष्टि मिली होगी और रासलीलाके वर्णनसे वह और भी बढ़ा होगा। इस प्रकार यह प्रवाद पीछेसे उत्पन्न होकर

कालगतिसे इतना बढ़ा कि ई० सन्की ६ वीं शताब्दीमें जो भागवत ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ उससे यह प्रसङ्ग निकाल बाहर करना असम्भव हो गया। इस अद्वितीय वेदान्त प्रन्थने उसे एक तरहसे अपने रम्य कवित्वसे तो अजरामर कर दिया है; परन्तु दूसरी तरहसे उसे वेदान्तमें लपेटकर इतना पवित्र कर रखा है कि हम श्रीकृष्ण और गोपियोंकी लीलाके हजारों गीत सुनते हैं तो भी हमारे मनमें श्रीकृष्णके प्रति निन्द्य भावना लेशमात्र भी पैदा नहीं होती। जब भगवान्ने इस प्रवादको आश्रय देकर उसे पवित्र कर छोड़ा तब नवीन शृङ्गारप्रिय कवियोंने विशेषतः जयदेवने अपने गीतगोविन्दमें तथा अन्य कवियोंने व्रजभाषाके सहस्रों सुन्दर पद्योंमें उसे चहुँ ओर फैलाकर लोकप्रिय किया। इस विषयमें अधिक क्या कहें, इससे प्राकृत शृङ्गारमें एक प्रशस्त मर्यादा उत्पन्न हो गई सी दिखाई देती है। उसके कारण ऐसा प्रशस्त कवि-सम्प्रदाय दिखाई पड़ता है कि यदि शृङ्गार ही गाना है तो गोपीकृष्णका गाया जाय। अस्तु। यद्यपि भागवतने इस आक्षेपका निन्द्यत्व निकाल डाला है, तथापि ऐतिहासिक दृष्टिसे उसकी सत्यासत्यताका विचार करना आवश्यक था और, इस विचारसे यही कहना पड़ेगा कि यह प्रवाद निराधार है।

श्रीकृष्णका कपटपूर्ण आचरण।

अब हम 'कपट' विषयक दूसरे आक्षेप-पर विचार करेंगे। यह सच है कि इस आक्षेपका उद्गम महाभारतमें है। परन्तु यह कल्पना 'भारत' में नहीं है, वह भारती-कथाकी भ्रमपूर्ण धारणाके कारण पीछेसे निकली है। भारतमें वर्णन है कि श्रीकृष्णने भीष्म, द्रोण आदि लोगोंको पांडवोंके हाथ-से कूट युद्धके द्वारा मरवाया। पाठकोंके मनमें यह आक्षेप इसलिए पैदा होता है कि, उनके ध्यानमें इस प्रसंगका अपवादक आता ही नहीं। साधारण कवियोंकी अत्युक्तिके कारण लोग श्रीकृष्णकी नीति-को ऊपर ही ऊपर विचार करनेवाले पाश्चात्य देशके प्रसिद्ध मेकियावेलीकी ही नीति समझते हैं। परन्तु उनका ऐसा समझना बिलकुल गलत है। श्रीकृष्णको नीति और धर्मका पूरा अभिमान था। उन्होंने अधर्म या कुनीतिका उपदेश कभी नहीं दिया और न कभी इनका आचरण स्वयं ही किया। हाँ, विशेष अपवादक प्रसंगोंमें धर्मकी भ्रांत कल्पना-से उत्पन्न हुई भूलका उन्होंने निषेध किया है। ऐसे मौके पर धर्माधर्मका निश्चय करना बुद्धिमानोंको भी कठिन जान पड़ता है। ऐसे अपवादक प्रसंग श्रीकृष्णके चरित्रमें कई हैं। उस समय उन्होंने अपने आचरण और उपदेशसे दिखाया है कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य कैसा आचरण करे। इस बातका अधिक स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे।

सामान्य नीतिके अपवादक प्रसङ्ग।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि नीति तथा धर्मके परम तत्व सब लोगोंको एक समान मान्य हैं। क्या हिन्दू धर्ममें, क्या ईसाई धर्ममें, क्या बौद्ध धर्ममें, क्या मुसलमानी धर्ममें सब कहीं यही आज्ञाएँ प्रमाण हैं। ये ही आदेश जगत्के सब विद्वानोंने नियत कर रखे हैं। परन्तु इन सर्वमान्य तत्वोंके कुछ अपवादक प्रसंग हैं या नहीं? उदाहरणार्थ, यदि कोई आततायी अधर्मसे हमें मारने आवे तो क्या हम उसे मारें या उसके हाथसे हम मरें? अहिंसा-मतकी अत्युक्ति करनेवाला तो यही कहेगा कि हमें ही मरना चाहिए; हम मरें या वह

मारा जाय, हिंसा तो होगी ही। बेहतर है कि आततायीको ही मारो; क्योंकि, आततायीके हाथसे मरनेमें हिंसा तो होती ही है और अधर्मको उत्तेजन भी मिलता है। इसलिए धर्मशास्त्रने अहिंसा धर्मके लिए अपवाद रखा है कि 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'। इण्डियन पिनल कोड (हिन्दुस्थानके दण्ड संग्रह) में खूनके लिए जो अपवाद रखे हैं, वे सब धर्मशास्त्रके अनुसार ही हैं। सारांश यह है कि अहिंसा, सत्यवचन, अस्तेय आदि धर्मोंके कुछ अपवाद-प्रसंग हैं और उन प्रसंगोंमें इन धर्मोंका त्यागना निंद्य नहीं। द्रोणके वधके प्रसंगका ही उदाहरण लीजिये। जो अस्त्र नहीं जानते थे उन्हें द्रोण अधर्मसे अस्त्र द्वारा जानसे मारते थे। अधर्मके कारण पांचाल-सेनाकी सफाई हो रही थी। इस प्रसंगमें श्रीकृष्णने सलाह दी कि द्रोणको कपटसे मारना चाहिए और अश्वत्थामाके मरनेकी झूठी गप्प फैलाकर बुड्ढेका हाथ बंद करवाया। इस मौके पर श्रीकृष्णने धर्मराजसे कहा कि पाँच प्रसंगोंमें झूठ बोलना न पाप है न पुण्य। इसमें संदेह नहीं कि किसी नीति या धर्मका विचार करनेवाला उपर्युक्त बातको अवश्य मान्य करेगा।

एक ऐतिहासिक उदाहरण।

यहाँ तुलनाके लिए द्रोणवधके समान एक और मनोरंजक वृत्तान्त हम इतिहाससे लेते हैं। अठारहवीं सदीमें जब अँग्रेजों और फ्रेंचोंका युद्ध शुरू हुआ, तब ब्रिटिश शूर सेनापति जनरल वुल्फने क्वेबेककी लड़ाई जीतकर कनेडाका प्रान्त अपने कब्जेमें कर लिया। इस युद्धके समय क्वेबेक फ्रेंच लोगोंके अधीन था, और उस शहरके बाहर उनकी सेना लड़ती थी। उनके और ब्रिटिश सेनाके बीच एक बड़ी नदी बहती थी, इससे ब्रिटिश सेना फ्रेंचों पर धावा नहीं कर सकती थी। उस समय जनरल वुल्फने एक उपाय किया। उसने अपनी सेनाके दो विभाग किये और एक विभाग फ्रेंचोंके सामने ही रखा और दूसरा विभाग रातको अँधेरेमें नावों द्वारा नदी पार करके दूसरी ओर भेज दिया। वहाँ नदीका किनारा कम चट्टानोंका था इसलिए फ्रेंचोंको डर था कि कदाचित शत्रु इस मार्गसे धावा करे, इसलिए उनकी एक पल्टन वहाँ गई भी थी। ज्योंही ब्रिटिश सिपाही चट्टानपर चढ़कर ऊपर आये, त्योंही आगेके सिपाहीसे फरासीसी चौकीदारने पूछा कौन है? वह सिपाही एक होशियार हाइलैंडर था। उसने तुरन्त ही जवाब दिया—'ला फ्रान्स' फ्रेञ्चोंका सिपाही। चौकीदारने फिर पूछा, किस रेजिमेंटके हो?' हाइलैंण्डर अच्छा वाक्‌चतुर और निडर आदमी था। उसने निधड़क जवाब दिया—"डीलारीन"—'रीन रेजिमेन्ट'। उसका ऐसा बेधड़क जवाब सुनकर चौकीदार चुप रहा। फिर अँग्रेजोंके दस पाँच सिपाही बिना अड़चन और भयके ऊपर चढ़ आये। चढ़ते ही उन्होंने पहले उस चौकीदारको और फिर उसके साथवाले सिपाहियोंको कतल किया। जनरल वुल्फकी सब फौज सहजमें ही कुशलपूर्वक ऊपर चढ़कर नदीके दूसरे पार आ गई और उसने क्वेबेकके पासकी फ्रेंच सेनाके पिछले भाग पर चढ़ाई करके उसे हराया। इस लड़ाईमें जनरल वुल्फ मारा गया; परन्तु लड़ाईकी विजय-वार्त्ता सुननेतक उसने प्राण नहीं छोड़े। यहाँ यह विचारणीय है कि उस हाइलैंडरने झूठ बोलकर जो चौकीदारकी जान ली सो उसका कृत्य निंद्य है या प्रशंसनीय है? Every thing is faier in war न्यायसे वह प्रशंसनीय ही है।

हनिबालने बैलोंके सींगोंमें मशालें बाँधकर रोमन लोगोंको धोखा दिया। यूरोपीय महायुद्धके इतिहासमें भी ऐसे सैंकड़ों उदाहरण मिलेंगे जिनमें इस प्रकार शत्रु-सेनाको धोखा देकर जय प्राप्त की गई है। परन्तु इससे भी विशिष्ट न्याय इस बात पर लागू होता है। यदि वह हाईलेंडर सच बोलता, तो जनरल वुल्फकी समस्त सेना नष्ट हो जाती। इस दृष्टिसे उसका झूठ बोलना क्षम्य है। जनरल वुल्फके समान उस समय पांडव चढ़ाई करने नहीं जा रहे थे; या फ्रेंच ब्रिटिशोंके साथ अधर्मसे नहीं लड़ते थे। इसके विरुद्ध, द्रोण पांडवों पर चढ़ाई करके अधर्मसे उनका संपूर्ण नाश करता था। अतएव यहाँ नीतिशास्त्र-वेत्ताओंको यही इन्साफ करना पड़ेगा कि उस समय श्रीकृष्णने धर्मराजको झूठ बोलनेकी जो सम्मति दी वह सर्वथा क्षम्य है।

सद्गुणोंका अतिरेक दोषयुक्त है।

इस विषयका विचार एक और दृष्टिसे किया जा सकता है। किसी बातका अतिरेक करना दोषयुक्त होता है; फिर वह अतिरेक चाहे सद्गुणोंका ही क्यों न हो। पाश्चात्योंकी एक कहावत है—True virtue lies in the mean between two extremes। बड़ा दानीपन दिखाकर अपने बाल-बच्चोंको भूखों मारना नीतिकी दृष्टिसे दुर्गुण ही है। इस प्रकारके अतिरेकका दुर्गुण महाभारतके कर्त्ताने तदन्तर्गत उदात्त व्यक्तियोंमें युक्तिसे दिखाया है। किसी राजाके बुलाने पर इनकार न करके द्यूत खेलने जाना धर्मराजका दुर्गुण ही है। यह उदात्त कल्पना है सही कि स्त्रीके ऊपर शस्त्र नहीं चलाना चाहिए; परन्तु आततायी और सब जगत्‌को संताप देनेवाली स्त्रीको मारनेके सिवा यदि कोई गति नहीं, तो उस पर शस्त्र चलाना ही चाहिए। इसी न्यायसे श्री रामचन्द्रने ताटकाको मारा था। भीष्मकी प्रतिज्ञा थी कि मैं शिखण्डी पर शस्त्र नहीं चलाऊँगा। यह अतिरेक ही है। इस पागलपनसे यदि प्रतिपक्षने कोई फायदा उठा लिया हो तो अनुचित नहीं। द्वन्द्व युद्धमें ही यह नियम चल सकता है कि एक मनुष्यके ऊपर अनेक लोग धावा न करें; परन्तु अन्य प्रसङ्गोंमें यह नियम नहीं चलेगा। यदि ऐसा न होगा तो संख्याके बलके कारण शत्रुको मारना कभी न्याय्य न होगा। कौरवोंकी ओर ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ थीं तो पाण्डवोंकी तरफ केवल सात अक्षौहिणी। क्या इसे अधर्म नहीं मानना होगा? सारांश यह है कि, भीष्मके वधके प्रसङ्गमें अधर्मका भास होता है; तथापि कहना पड़ेगा कि वस्तुतः वह अधर्म नहीं था। सब तरहके सूक्ष्म विचार करनेसे ज्ञात होगा कि जहाँ जहाँ श्रीकृष्णने पाण्डवोंसे कूट युद्ध करवाया वहाँ वहाँ युद्धकी रीतिकी दृष्टिसे कुछ भी अनुचित न था। उच्च नीतिकी दृष्टिसे कहीं अधर्मका केवल भास था तो कहीं ऐसा दिखाई देगा कि अपवादक प्रसङ्गमें सर्वस्व-घात आदि कारणोंके लिए जो अधर्मका अवलम्ब किया गया सो क्षम्य था। परन्तु यह ध्यानमें रखना चाहिए कि युद्ध तथा सर्वस्वघातादि कारणोंको छोड़ अन्य प्रसङ्गोंमें अधर्मका अवलम्बन करना कभी न्याय्य न होगा। इस मर्यादाका खयाल न रहनेसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भ्रम होता है और ऐसा जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण एक कपटी व्यक्ति था। परन्तु वास्तविक रूपसे विचार करने पर मालूम हो जायगा कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि परम धर्मके धर्मशास्त्रने तथा मन्वादि स्मृतियोंने भी अपवाद माने हैं, और ऐसे अपवादक

प्रसङ्गमें ही श्रीकृष्णने कूट-युद्धका अवलम्बन करनेकी सलाह दी। ध्यानमें रखना चाहिए कि उन्होंने ऐसी सम्मति अन्यत्र कहीं नहीं दी।

श्रीकृष्णका दिव्य उपदेश।

सूक्ष्म विचारकी भट्टीमें समझकी भूलसे किये गये इन सब आक्षेपोंके भस्म होने पर श्रीकृष्णका रम्य चरित्र तप्त सुवर्णके समान तेजस्वी और उज्वल दिखाई पड़ता है, परन्तु अत्युक्ति या भूलके कारण उनके चरित्रकी कुछ बातोंका कितना ही विपर्यास हो जाय, तथापि उसके उदात्त विचारोंका निधान दिव्य भगवद्गीता जबतक संसारमें है तबतक श्रीकृष्णका चरित्र चमके बिना कभी न रहेगा। इस परम तत्वज्ञानके ग्रन्थमें श्रीकृष्णने जिस कर्मयोगका उपदेश दिया है, वह *सर्व कालमें तथा सब देशोंमें सब लोगों*के आदरकी वस्तु रहेगा। कर्मकी सिद्धि हो या न हो, इस विचारसे मनको चंचल न होने देकर अपना कर्तव्य कर्म इस भावनासे करना चाहिए कि मैं परमेश्वर पर भरोसा रख कर परमेश्वरकी इच्छासे उसे करता हूँ और उसे परमेश्वरको ही अर्पण करता हूँ। यह सिद्धान्त अत्यन्त उदात्त है और इतना उदात्त कर्तव्य-सिद्धान्त आजतक किसी तत्ववेत्ताने नहीं सिखाया। यह सिद्धान्त जिसके चित्तमें पक्का ठन गया वह निःसंशय दुःख सागरसे पार हुए बिना न रहेगा। श्रीकृष्णने यह बात दुनियाकी दृष्टिमें अच्छी तरह ला दी कि कर्मको त्याग देना अशक्य है, उन्होंने अपना स्पष्ट मत दे दिया है कि धर्म और नीतिके अनुसार जगतके भौतिक सुखोंका नियम-युक्त उपयोग अर्थात् सदाचरण-युक्त गार्हस्थ्य संन्यासके समान ही पुण्यप्रद है। यही दैवी संपत्ति है। और, दैवी संपत्ति मोक्षकी ही प्राप्ति करा देनेवाली है। महाभारतमें व्यासने एक जगह कहा है कि—"इन्द्रियोंको बिलकुल रोकना मृत्युसे भी अधिक दुखदायी है; पर दूसरे पक्षमें इन्द्रियोंको स्वतंत्र छोड़ देनेसे देवताओंका भी अधःपात हो जायगा।" संक्षेपमें, श्रीकृष्णने उपदेश दिया है कि मनुष्यको चाहिए कि वह नीतिशास्त्रके अनुसार युक्त आहार तथा विहारसे रहकर, उत्साह और उत्थानका अवलम्बन कर, अपना कर्तव्य कर्म करे। धर्मके सम्बन्धमें भी श्रीकृष्णने ऐसा उपदेश किया है कि मनुष्य अतिरेकको छोड़ न्याय और उचित मध्य विन्दुमें रहे। संसारको छोड़कर जंगलमें जा रहना संन्यास नहीं हैं; परन्तु काम्य कर्मोंका न्यास ही सच्चा संन्यास है। कर्मको बिलकुल छोड़ देना *त्याग नहीं कहलाता*; परन्तु कर्मके फलकी आसक्तिको त्यागना ही सच्चा त्याग है। शरीरके भूतग्रामोंका हठसे कर्षण कर आत्माको सब प्रकारसे कष्ट देना ही तप नहीं होता; परन्तु उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि योग्य नियमोंसे युक्त गुरु-शुश्रूषादि शारीरिक, सत्य भाषणादि वाचिक तथा प्रसाद, शान्ति आदि मानसिक तप ही तप है। ईश्वर-सिद्धान्तके यानी ब्रह्मज्ञानके सम्बन्धमें उन्होंने सनातन तथा अव्यक्त ब्रह्मके विरोधमें, सुष्टोंके दुःखहर्त्ता और दुष्टोंके दण्ड-दाता ईश्वरी अवतार अथवा सगुण ब्रह्मका प्रतिपादन किया है। परमेश्वर केवल भक्तिसे ही साध्य है। भक्ति-मार्गका द्वार सबके लिए खुला हुआ है और वह सुलभ है; यहाँतक कि चांडाल और ब्राह्मण, स्त्री और पुरुष ईश-भक्तिसे समान मोक्षको प्राप्त कर सकेंगे। श्रीकृष्णने ऐसा उदार और

उदास मत बेधड़क जगत्के सामने रखा है। तत्व-ज्ञानके विषयमें उन्होंने सांख्य और योग, कर्म और वेदान्तका विरोध मिटाकर अपने नये भक्ति-मार्गसे उन सबोंका समन्वय किया है और सबोंको अपने उच्च तत्वका अनुयायी बनाया है। राजनैतिक विषयमें उन्होंने निरपेक्ष स्वार्थ-त्यागका उदाहरण जगत्को दिखा दिया है। उन्होंने कंस और जरासन्धका नाश अपने स्वार्थके लिए नहीं किया; और न उन्होंने उससे अपना किंचित् भी लाभ उठाया। भारती-युद्धमें भी उन्होंने पाण्डवोंका पक्ष सत्य जानकर ही उन्हें सहायता दी। दुर्योधन पाण्डवोंको अधर्मके कारण राज्यपद नहीं देता था: इसी लिए उन्होंने हीनबल होनेपर भी पाण्डवोंका पक्ष लेकर अर्जुनका सारथी बनना स्वीकार किया। सबसे मुख्य बात तो यह है कि श्रीकृष्णने आर्य और अनार्य दोनोंको समान प्रेमसे रखकर सबको ईश्वर-भक्तिका खुला और सुलभ मार्ग दिखा दिया। यद्यपि आज हिन्दुस्थानमें भिन्न भिन्न वर्ण अपने अपने आचार-विचारके कारण विभक्त दिखाई देते हैं, तथापि श्रीकृष्णकी भक्ति करनेमें और उनके मधुर 'गोविन्द' नामसे उनका कीर्तन करनेमें सब जातिके और सब मतके आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुष हिन्दू लोग आपसका भेद-भाव भूलकर एक सीढ़ी पर खड़े हो भगवद्भजनमें तल्लीन हो जाते हैं। और विश्वास करते हैं कि हम सब— जातिनिरपेक्ष—मोक्षपद प्राप्त करेंगे। स्वभावतः हजारों वर्षोंसे आजतक कनिष्ठ तथा उच्च, अज्ञ तथा सुज्ञ सभी हिन्दू लोग श्रीकृष्णकी समान भक्ति और प्रेमसे पूजन करते आये हैं और इसके अनन्तर भी भगवद्गीताके दिव्य उपदेशसे मोहित हो उसकी ऐसी ही पूजा करते रहेंगे।

विषय-सूची ।

—:*:—